प्रकाशकीय

'ब्रह्मविज्ञान' का द्वितीय सस्करण प्रस्तुत करते हुए मुझे अपार हर्ष होता है। वेदविद्या वाचस्पति प० मधुसूदन ओझा का यह एकमात्र ग्रन्थ है जो उन्होने बोल-बोल कर हिन्दी मे लिखवाया था। प्रथम बार ओझा जी महाराज के सुपुत्र प० प्रद्युम्न कुमार ओझा ने वि. सवत् २००० मे इसे सपादित कर प्रकाशित किया था। इसके बाद ग्रन्थ अप्राप्य हो गया। विद्यावाचस्पतिजी के ग्रन्थो की खोजबीन के दौरान जब मैं उनकी पौत्री श्रीमती शान्ता देवी और पौत्र श्री पद्मलोचन से मिला तो मुझे उन्होने बताया कि हिन्दी मे लिखा हुआ उनके पूज्य दादाजी का एक ग्रन्थ "ब्रह्मविज्ञान" रतनगढ के राजकीय पुस्तकालय मे उपलब्ध है। उन्होने सुझाव दिया कि इस ग्रन्थ का नियमित प्रकाशन हिन्दी पाठको के लिए किया जाय। मुझे यह सुझाव शिक्षाप्रद मालूम हुआ। इस बीच श्री किशोर कल्पनाकान्त को पत्र लिख कर रतनगढ़ के पुस्तकालय से यह ग्रन्थ मगवाया और फोटोस्टेट कापी कर के वापिस लौटा दिया।

ग्रन्थ उपलब्ध होते ही पहला कदम तो यह उठाया कि 'राजस्थान पत्रिका' ने इसे धारावाहिक रूप मे 'विज्ञान वार्ता' स्तम्भ मे प्रकाशित करना शुरू कर दिया। बाद मे समूचे ग्रन्थ का दूसरा सस्करण भी प्रकाशित करने का निर्णय किया गया। 'मानवाश्रम' मे ही अन्यान्य ग्रन्थो के साथ इसे भी छपने के लिए दे दिया गया। प्रूफ देखने का काम श्री कैलाश चतुर्वेदी ने सभाला। प्रूफ देखने मे सबसे बडा काम यह था कि बोली हुई भाषा का स्वरूप यथावत् रखा जाय। निश्चय ही ओझा जी की बोली हुई भाषा उनकी लिखित भाषा से सर्वथा भिन्न है। हमने उसके "श्रुति" रूप को यथेष्ट महत्त्व दिया है। ग्रन्थ मुद्रण की देख-भाल का दायित्व श्री प्रद्युम्न कुमार शर्मा ने लिया।

"ब्रह्मविज्ञान" वेद शास्त्र की कुन्जी है। इसको पढ कर विश्व की रचना का स्वरूप अवश्य ही समझ मे आयेगा और यह भी समझ मे आ जायेगा कि वेद का वास्तविक स्वरूप क्या है। मुझे आशा ही नही, अपितु पूर्ण विश्वास है कि पाठक अवश्य ही इस ग्रन्थ को पढ कर लाभान्वित होगे। जो लोग वेद को सीधे नही पढ सकते उनके लिए तो यह वरदान ही सिद्ध होगा।

मकर संक्रान्ति, सम्वत् २०४४ वि. — कर्पूर चन्द्र कुलिश

वक्तव्य

पूज्य पिताजी के स्वर्गवास के अनन्तर उनके रचित जो ग्रन्थ है उनके प्रकाशन के लिये समिति आदि कई व्यवस्थायें हुई परन्तु कार्य मे परिणत होने की निकट भविष्य मे मुझे कोई सम्भावना प्रतीत न हुई। इसका मुख्य कारण यह प्रत्यक्ष है कि प्रथमत ये वैज्ञानिक विषय उपन्यास आदि की तरह रोचक नही हैं, दूसरी बात यह है कि वेदो के अन्तर्गत जो फिलासॉफी आदि कूट-कूट कर भरी हुई हैं उन गम्भीर विषयो को ही प्रकाश मे लाया गया है जो बहुत से तो क्रोड़—पत्रो (रफ कापियो) से मूल ग्रन्थ तैयार किये गये और उनमे से कुछ प्रेस कापिया भी तैयार हुई शेप ज्यो के त्यो क्रोड-पत्र ही रहे। उक्त मूल तथा प्रेस कापिया विभिन्न लेखको ने लिखी जिससे उनमे बहुत सी गलतिया रह गई साथ ही जहा-जहा प्रमाण के लिये श्लोक अथवा ऋचाये दी गई हैं उनमे कही ग्रन्थो का नम्बरो के रूप मे सङ्केत दिया गया है और कही यह कार्य शेष ही रह गया है तात्पर्य यह कि इन सब बातो को यथावत् ठीक तरीके से सम्पादन करना भी आसान बात नही। इन ग्रन्थो के लिये मुख्यतया ऐसे विद्वान की आवश्यकता है जो ग्रन्थो की रचना शैलियो से भी पूर्ण अभिज्ञ हो, यह एक कठिन समस्या उपस्थित हुई। इनके अतिरिक्त आर्थिक सस्था का भी होना परमावश्यक तथा मुख्य बात है। अतः इन्ही परामर्शो मे समय व्यतीत होते देखकर मैंने यही उचित समझा कि जब तक यह सब कुछ तय नही पाता है तब तक कम से कम, मैं इस कार्य को शीघ्र प्रारम्भ कर दू। यही सोचकर मै इस महान् कार्य मे यथाशक्य सलग्न हो गया और आज करीब ४ वर्ष होते आये, इस सम्पादन तथा प्रकाशन के कार्य को उसी प्रगति से बराबर करता चला आ रहा हू। इस अवसर मे १२ ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुके हैं और ५ ग्रन्थ विभिन्न प्रेसो मे प्रका—शनार्थ दिये जा चुके हैं शेष का सम्पादन आदि कार्य हो रहा है। अभी तक करीब-करीब यह सपूर्ण कार्य भार मेरे ही ऊपर है, यह स्पष्ट है कि उपरोक्त कार्य को एक व्यक्ति का सम्पन्न कर लेना सर्वथा असम्भव है परन्तु मैंने यही विचार रखा है कि मुझसे जितना हो सके वह तो मैं यावज्जीवन करता रहकर अपने कर्तव्य का पालन करता रहू जो शेष रह जायगा उसके लिये परमेश्वर किसी न किसी को अवश्य प्रेरणा करेंगे, यह पूर्ण विश्वास भी है।

इसके व्यय के विषय मे मैने तो अपना सर्वस्व अर्पण कर देना निश्चित कर ही रखा है परन्तु श्रीमान् अलवरेन्द्र का भी पूर्ण साहर्य रहा है। मुझे श्रीमान् जयपुर नरेश तथा श्रीमान् मिथिलाधीश से भी पूर्ण भरोसा है कि वे भी अवश्य इस कार्य मे अपनी उदारता दिखायेगें, इनके अतिरिक्त कतिपय विद्यानुरागी रईस आदि भी इसे अपनावेंगे ऐसी आशा होती है।

यह जो ब्रह्मविज्ञान नामक हिन्दी भाषा का ग्रन्थ है इसका श्रेय पुरोहित गोपीनाथजी जोशी भूत-पूर्व हैडमास्टर चादपोल हाईस्कूल तथा पर्सनल ऐसिस्टेन्ट शिक्षाविभागाध्यक्ष जयपुर को ही है। उन्होने वरसो पूज्य पिताजी की सेवा मे उपस्थित होकर जब जितना सा समय पाते उनसे आग्रह पुरस्सर निवेदन

करके जो वे कहते जाते वह जोशी जी अक्षरशः लिखते जाते। जोशीजी के इस ब्रह्मविज्ञान के असली कापी में जिस दिन जितना लिखा गया उसके अन्त में तिथि लिखी हुई है यह तिथिया कभी कुछ पक्तियो के वाद ही है तो कभी एक दो पृष्ठ के वाद लगी हुई हैं इस प्रकार यह वि० स० १९७७ के कार्तिक शु० ७ से प्रारम्भ करके वि० स० १९८१ कार्तिक शु० ११ को ४ वर्षो मे बड़े परिश्रम से जोशीजी ने इसको पूर्ण किया है। उन्होने कही-कही सस्कृत श्लोको का अनुवाद हिन्दी पद्य मे कर दिया है।

जोशीजी का इस वृद्धावस्था मे इतना विद्यानुराग साथ ही इतने परिश्रम की क्षमता,-यह साधारण वात नही वल्कि आपको एक आदर्श विद्या प्रेमी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

पूज्य पिताजी ने इस ब्रह्म के विपय पर कई ग्रन्थ लिखे हैं किन्तु वे संस्कृत मे ही हैं परन्तु यह हिन्दी भापा मे होने से आशा है कि हिन्दी भाषा के प्रेमी विद्वज्जन भी इससे लाभ उठावेंगे।

जो भी ग्रन्थ प्रकाशित किये जा रहे है यथाशक्ति शुद्ध छपने का पूरा ध्यान रखा जाता है फिर भी वहुत सी अशुद्धिया रह ही जाती हैं जिसके लिये पाठकवृन्द से क्षमा चाहता हू।

अन्त मे विद्याप्रेमी ससार से मेरा यही एक मात्र, निवेदन है कि मुझे इस कार्य में सफलता हो, ऐसी परमेश्वर से प्रार्थना करें।

पं. प्रद्युम्न शर्म्मा ओझा

विद्याधर का रास्ता
जयपुर सिटी
ता० १—५—४३

पूज्यपाद विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदनजी महाराज (श्रीगुरुचरणाः)

॥ श्रीः ॥

समीक्षा चक्रवर्ती पं. मधुसूदन ओझा संक्षिप्त परिचय

लेखक–म० म० पं० श्रीगिरिधरजी शर्मा चतुर्वेदी, प्रधानाध्यक्ष,
महाराजा संस्कृत कॉलेज, जयपुर।
१ जून, सन् १९४२ ई०

यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ (गीता)

इस भगवदुक्ति के अनुसार जब जब वैदिक सत्यविद्या अज्ञान धूम से आवृत होने लगती है और मोह वश जनता का विश्वास हटने लगता है, तब परमेश्वर की प्रेरणा से कोई शक्ति प्रकट होकर सत्य-विद्या व सत्य-धर्म को राहुग्रास से मुक्तकर अज्ञान का नाश कर देती है। वेद एक सत्य-विद्या है और वैदिक धर्म सत्य-धर्म है, अतएव इनकी रक्षा का आयोजन ईश्वर की ओर से समय समय पर सदा होता रहता है, जिसकी साक्षी इतिहास दे रहे हैं। वर्तमान समय मे वेद विद्या और वैदिक धर्म्म के लिए एक प्रचंड आपत्ति का समय है। पुराने इतिहास की खोज के लिए चाहे आज नाम मात्र को वेद का गौरव माना जाता हो, किन्तु वेद सत्यविद्या का निधान है, सब प्रकार के विज्ञानो का मूल स्रोत है, या भारतीय विज्ञान सूर्य्य के प्रकाश का पूर्ण विवरणात्मक इतिहास है, इस अटल सत्य को मानने के लिए आज की शिक्षित जनता तैय्यार नही। वैदिक धर्म्म एक वैज्ञानिक धर्म्म है, त्रिकालावाध्य एक रस है, यह विश्वास आज पाश्चात्य क्रम से शिक्षित जनता के अन्त:करण मे स्थान नही पाता। पावे कहा से? आज सत्य-विद्या या सत्य-धर्म की तौल होती है वस्तु-विज्ञान (Science) की तराजू पर? वस्तुविज्ञान ही इस युग की मुख्य विद्या है। वस्तु विज्ञान को वर्त्तमान शैली के अनुकूल प्रस्फुटित करने वाला कोई वेद का भाष्य आजतक उपलब्ध नही। वैदिक धर्म्म का वस्तु–विज्ञानो से सम्वन्ध वताने के साधन काल समुद्र की तरगो मे लीन हो चुके हैं, फिर विज्ञान राशि कहकर वेद का गौरव इस युग मे किस आधार पर टिक सके! बस, नाममात्र की श्रद्धा वेद की बच गई है। "इलहामी पुस्तक" कहकर कुछ आस्तिक लोग "कुरान" आदि की तरह उस पर भी श्रद्धा कर लेते हैं, किन्तु श्रद्धा का आधार अंधकारमय है। यह निराधार श्रद्धा कितने दिन चल सकती है? इस बीसवी शताब्दी मे अंधविश्वास का कहा ठिकाना? भारत के कई योग्य आधुनिक विद्वानो ने वेद गौरव शिक्षा के लिये वस्तु विज्ञान से वेद का सम्बन्ध दिखाने का प्रयत्न किया, किन्तु भारतीय शास्त्रो की नियत परिभाषा के अनुसार क्रम-वद्ध विज्ञान का मूल वेद मे न वताया जा सका और विना उसके वैज्ञानिकों का विश्वास उस विवरण पर नहीं जम सकता था। वे इधर उधर की ले उडी बातें कह कर ऐसे प्रयत्नो को उपहास का ही स्थान मानते रहे।

जब तक क्रम बद्ध रूप मे वैज्ञानिको को स्पष्ट न बता दिया जाय कि वेद मे वस्तु विज्ञान की इतनी ऊँची परिभाषाए हैं कि जहा तक का बीसवी शताब्दी के वैज्ञानिको को स्वप्न भी नही आया। जब तक यह सिद्ध न कर दिया जाए कि आधुनिक वस्तु विज्ञान की बहुत सी उलझनें वैदिक–विज्ञान की शरण मे आने से अनायास सुलझ सकती हैं तब तक वैज्ञानिक जगत् वेद का यथोचित गौरव नही मान सकता। किन्तु जगन्नियन्ता जगदीश्वर को यह कब सह्य हो सकता था कि सत्यविद्या का गौरव विज्ञान के मध्याह्न काल मे छिपा रह जाय ? उसने एक ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति को ससार क्षेत्र मे उतार दिया, जिसने उसी जगन्नियन्ता की प्रेरणा से अपनी सब आयु वैदिक-विज्ञान और वैदिक-इतिहास के अन्वेषण मे लगाकर उक्त महत्व पूर्ण विज्ञान और इतिहास का एक क्रमबद्ध सूत्र तैय्यार कर ही डाला, जिसके अतुल परिश्रम और अलौकिक प्रतिभा के प्रकाश से अनेक शताब्दियो से अमूल्य विज्ञान रत्नो को अपने उदर मे छिपा रखने वाली गुहा का द्वार आज देखने में आ गया और उसमे प्रवेश करने वालो को परम सौकर्य्य मिल गया। वही व्यक्ति हमारे (चरित नायक) गुरुवर जयपुर राज्य के प्रधान राजपंडित समीक्षाचक्रवर्ती स्वर्गीय प० श्री मधुसूदनजी ओझा विद्यावाचस्पति महामहोपदेशक हुए। आपका वैदिक अन्वेषण सम्बन्धी कार्य जब पूर्ण रूप से प्रकाश मे आवेगा तब विद्वज्जन हमारी इन पक्तियो की सत्यता का अनुभव करेंगे, यह हमे पूर्ण विश्वास है।

अस्तु ऐसे महापुरुषो का पवित्र परिचय जाति की एक सम्पत्ति होती है, कार्य-क्षेत्र मे उतरने वालो के लिये योग्यतम आदर्श होता है, और विद्या रसिको के लिये कौतूहलवर्द्धक होता है। इस विचार से श्री पडितजी महाराज का संक्षिप्त परिचय पाठको के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।

बिहार प्रान्त मे मिथिला के मुजफ्फरपुर जिले के गाढ़ा नामक ग्राम मे जो कि रेलवें स्टेशन सीतामढी से दक्षिण की ओर दश मील की दूरी पर है पडित श्री वैद्यनाथ ओझाजी के घर वि० स० १९२३ मे श्रीकृष्ण जन्माष्टमी (भा० कृ० ८) की रात्रि को १० १/२ बजे मृगशिरानक्षत्र मे आपका जन्म हुआ।

आपकी जन्म-कुण्डली इस प्रकार है।
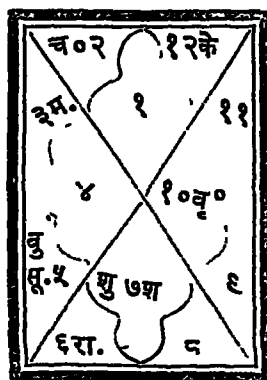
आपका कुल एक प्रसिद्ध विद्वान् और प्रतिष्ठित पुरुपो की परम्परा का है। आपका बाल्यकाल स्वदेश में पिता के पास ही लालन-पालन व प्रारम्भिक शिक्षा मे व्यतीत हुआ। आपके पिता के बडे भाई

पं० राजीवलोचनजी ओझा जिनने जयपुर महाराज स्व० रामसिंह जी से अतुल सम्मान और पूर्ण-जीविका प्राप्त की थी, उनके कोई सन्तान न थी इससे वे अपने छोटे भ्राता वैद्यनाथ झा के पुत्र श्री मधुसूदनझा जी को अपना दत्तक पुत्र बनाकर यज्ञोपवीत सस्कार के अनन्तर वि० स० १९३२ मे अपने साथ जयपुर ले आये और जयपुर मे ही उच्च कक्षा के विद्वानो के पास आपके पठन पाठन का प्रवन्ध किया गया। प० श्री राजीवलोचनजी अपने साथ महाराजा साहिब के पास भी उक्त पडितजी को ले जाया करते थे पण्डितजी बचपन से ही वडे कुशाग्र बुद्धि थे अत. कभी-कभी महाराज के प्रेम पूर्वक किसी प्रश्न का वडी मधुरता और बुद्धिमत्ता से उत्तर देते, जिससे महाराज इनको वात्सल्य पूर्ण प्रेम दृष्टि से देखते और पण्डित राजीवलोचन जी से यह कहा करते कि यह लडका वडा होनहार मालूम होता है।

पाच छः वर्ष व्यतीत हुये थे, उक्त पण्डितजी सिद्धान्तकौमुदी ही पढ रहे थे कि इस अवसर मे आपके पितृव्य प० राजीवलोचन ओझा जी का स्वर्गवास हो गया। इसके एक या डेढ वर्ष वाद ही महाराज रामसिंहजी का स्वर्गवास हो गया। अत इन घटनाओ से आपके जीवन क्रम का एकदम परिवर्तित हो जाना एक स्वाभाविक बात थी किन्तु चरित्र नायक को स्वाभाविक विद्या का व्यसन था, आपको विद्याध्ययन के अतिरिक्त और कुछ अच्छा नही लगता था। अब जयपुर मे विद्या प्राप्ति का सुयोग न देखकर इन्हे अपनी पितृव्य पत्नी के साथ स० १९३९ वि० मे अपनी जन्म भूमि को प्रस्थान करना पडा, किन्तु वहा भी अध्ययन क्रम आपकी रुचि के अनुकूल न हो सका और आपकी विद्यापिपासा अति प्रवल थी, इस कारण आप अपने कुटुम्बियो को समझा बुझा कर अध्ययनार्थ काशी चले गये, वहा दरभगा पाठशाला मे स्वनाम धन्य म० म० स्वर्गीय श्री शिवकुमार मिश्र जी के समीप विद्याध्ययन करने लगे और लगातार ८ वर्ष तक वहा ही पढते रहे। अपने उत्कट परिश्रम तथा अद्भुत बुद्धि के कारण व्याकरण, न्याय, साहित्य, मीमासा, वेदान्त आदि के ग्रन्थो का आपने गुरु मुख से न केवल अध्ययन ही कर लिया प्रत्युत उन पर पूर्ण अधिकार भी प्राप्त कर लिया। आपने काशी मे विद्याध्ययन के अतिरिक्त भगवान् कामेश्वर शंकर की उपासना भी वडे मनोयोग से की जिससे आपको विद्योन्नति मे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

आपका विवाह १७ वर्ष की अवस्था मे अलवर के राजगुरु प० श्री चचल ओझाजी मन्त्र शास्त्री की कन्या से वि० स० १९४० मे हुआ। इस समय चचल झा के सुपुत्र प० रामभद्र ओझाजी राज्य के लब्धप्रतिष्ठ रिटायर्ड जुडीशियल मिनिस्टर हैं। काशी मे विद्याध्ययन पूर्णकर पण्डितजी बूंदी, कोटा, झालरापाटन, रतलाम आदि के नरेशो से मिले और पूर्ण सम्मानित हुए। अन्त मे जयपुर राज्य से विशेष अनुरोध होने पर वि० स० १९४६ मे जयपुर चले आये।

जयपुर मे आते ही पण्डितजी महाराजाज कॉलेज मे सस्कृत प्रोफेसर नियुक्त हुए। बीच मे आपने कुछ समय सस्कृत कालेज मे वेदान्त के प्रधान अध्यापक का कार्य भी किया था। इस अरसे मे कई घटना ऐसी हुई जिनसे आपके प्रखर पाण्डित्य की महिमा भूतपूर्व जयपुर नरेश स्व० महाराज माधवसिंहजी के के कानो तक पहुची और गुणग्राहक महाराज ने इन्हे अपने आत्मिक परिजनो मे नियुक्त कर वि० स० १९५१ मे निजी पुस्तकशाला का प्रवन्ध इनके अधीन कर दिया व मौजमन्दिर (धर्मशाला) का सभापति बना दिया और राज्य के सर्वप्रधान पण्डित मान कर परम आदर पूर्वक अपने पास रखा। श्रीमान्

प्रायः नित्य ही कुछ समय इनसे शास्त्रीय वार्तालाप किया करते थे जिसका महाराज पर इतना प्रभाव पडा कि वह पण्डितजी की अनुमति बिना कोई भी धार्मिक-कार्य नही करते थे।

पडितजी महाराज न केवल शास्त्रो ही मे नैपुण्य रखते थे अपितु शासन नीति मे भी आप पूर्ण प्रवीण थे, अत समय-समय पर महाराज के नैतिक विषयो मे भी आप से वार्तालाप होता रहता था इस प्रकार पण्डित जी स्व० जयपुर नरेन्द्र के उच्चकोटि के कृपापात्रो मे से बन गये और महाराज के नवरत्नो मे आपकी गणना थी। जयपुर राज्य के उच्च सामन्तो के समान आप आदरणीय थे, और आपका प्रभाव राज्य वर्ग मे तथा प्रजाजनो मे बहुत विशेष था। आपको महाराज ने आजीविका भी पूर्ण दे रक्खी थी, इसलिये रईसो के समान ही आपका जीवन बीता।

सन् १९०२ ई० मे भारत सम्राट एडवर्ड सप्तम के राज्याभिषेक के समय जो ऐतिहासिक विलायत यात्रा हुई थी, उसका सब धार्मिक आयोजन पण्डितजी के सत्परामर्शानुसार ही हुआ था और महाराजाधिराज इन्हे भी अपने साथ ले गये थे। वहा सस्कृत के यूरोपियन विद्वान् जब आप से मिले तो बड़े प्रभावान्वित हुए और शीघ्र ही वहा आपकी कीर्ति फैल गई। वहा के आक्सफोर्ड के प्रसिद्ध विद्वान् मैकडोनैल्ड, कैम्ब्रिज के विद्वद्वर बैडाल और इण्डिया आफिस के पुस्तकालयाध्यक्ष टामस पडितजी से मिलकर इनकी वैज्ञानिक विवेचनाओ पर मुग्ध हो गये और आपका बडा सम्मान सत्कार उनने किया। आपका वहा वेद धर्म पर एक बडा जोरदार व्याख्यान भी हुआ (जो जयपुर के सस्कृत रत्नाकर मासिकपत्र मे कई वर्ष पहले छप चुका है) इससे वहा के सभी विद्वज्जन आश्चर्यान्वित हुये और आप के कारण वैदिक धर्म का डंका विलायत मे गूज उठा।

उक्त कथन की सत्यता प्रमाणित करने को विलायत से प्रकाशित होने वाले समाचार पत्रो के कुछ अश नीचे दिये जाते हैं।

The Westminister Gazette—26.70.2

A Hindoo savant in London

In the back-ground of the group of Personages, who have come to London for the Coronation, the Presence has remained unnoticed of a Hindoo savant, a great celebrity in India, a human store-house of Vedic wisdom and philosophy. This is a Pundit Madhusudan Ojha a profound Sanskrit scholar. The Pundit's conversation in fluent Sanskrit greatly interested the Cambridge Orientalist in his Eastern visitor.

The Sun—23.7.02

The Pundit visited Professor Macdonald of Oxford who was greatly pleased to cultivate his acquaintance Last Sunday the Pundit was invited to Cambridge by Professor C. Bendall who with his wife gave him a warm reception. what interested the Cambridge Orientalist most was the conversation of the Pundit in

fluent Sanskrit which is a rare treat now even in India while he was deeply impressed by the deep learning of his Eastern visitor

सम्राट के राज्याभिषेक के अवसर पर पण्डितजी महाराज ने कुछ पद्य बनाकर इङ्गलिश अनुवाद सहित छपाकर सम्राट को समर्पित किये थे, जिनकी सादर स्वीकृति के साथ सम्राट ने आपको मैडिल, तथा एक लिखित धन्यवादपत्र सम्मानित किया था।

पडितजी महाराज सदा वैदिकविज्ञान की खोज मे ही लगे रहते थे। आपका सपूर्ण समय वेद-रहस्य के उद्घाटन के प्रयत्न मे ही बीतता था। आप अस्वस्थ हो जाने की दशा मे भी अपना कार्य करते ही रहते थे। अपने शरीर, स्वास्थ्य, आराम व अर्थोपार्जन आदि सब बातो की उपेक्षाकर यह महान् कार्य आपने आजीवन किया। आपके लगभग ५० वर्ष घोर तपस्या के रूप मे बीते, जिस तपस्या के फल-स्वरूप आपके लिखे हुए १२५ से भी अधिक ग्रन्थ विद्यमान हैं, जो सस्कृत विद्या, सनातनधर्म और भारत-वर्ष का वैज्ञानिक युग मे मस्तक ऊँचा करने के लिए पर्याप्त साधन हैं। आपने अपने हाथो से इन सब ग्रन्थो की पाण्डुलिपि, साथ ही प्रतिलिपि लिखी है। इनमे दो चार ग्रन्थो के अतिरिक्त प्रत्येक ग्रन्थ २०० से ५०० पृष्ठ तक के है और कोई कोई तो इससे भी अधिक हैं। इतनी मौलिक रचना कर लेना कोई मामूली बात नही है। आपका लेख भी बडा सुन्दर छापे के सदृश होता था और आप चित्रकला मे भी कुशल थे।

राजकार्य और ग्रन्थ लेखन व्यसन के कारण विशेष देश भ्रमण का अवसर पण्डितजी को नही मिला इसीलिये आपके असाधारण पांडित्य व अलौकिक वैदिक रहस्योद्घाटन शैली और विषयो के प्रवचन की चतुरता का भा तीयो को विशेष परिचय प्राप्त न हो सका, किन्तु जब कभी भी ऐसा अवसर प्राप्त हुआ, तब श्रोतागणो को चित्रिद् होता हुआ ही देखा और धीरे-धीरे देश मे आपकी ख्याति बढती ही गई।

सन् १९०६ ई० मे काशी मे कांग्रेस सभा के अवसर पर और प्रयाग के सम्वत् १९६२ वि. कुम्भ के अवसर पर जो भारतधर्म महामण्डल के महाधिवेशन हुए थे, जिनमे सभी भारतीय नरेशो को सानुरोध निमन्त्रण भेजा गया था, वहा जयपुर राज्य की ओर से पण्डितजी महाराज गये थे। उस समय भूतपूर्व दरभगा नरेश के सभापतित्व मे आपका भाषण सुनकर न केवल विद्वन्मण्डली ही, किन्तु अग्रेजी के बडे बड़े विद्वान् और साधारण जनता भी मुग्ध तथा गद्गद हो गये थे। बहुत दिनो तक यह आपकी ख्याति कई समाचार पत्रो मे प्रकाशित होती रही थी उसी अवसर पर भारतधर्म–महामण्डल की ओर से आपको विद्यावाचस्पति तथा महामहोपदेशक इन दो पदवियो से विभूषित किया गया था। इसके अतिरिक्त आप-के अभिभाषण लाहौर, काशी, कलकत्ता आदि मे बडे जोरदार हुये थे, जिनसे उपस्थित जनता बहुत प्रभावान्वित हुई और आपको बडे सम्मानपूर्वक अभिनन्दन पत्र समर्पित किये गये। आप वैदिक गहन विषयो के उद्घाटनार्थ शास्त्रो का अवलोकन तथा लेखन कार्य तो करते ही रहते थे साथ ही जिज्ञासु वर्गो को प्रायः नित्य ही कुछ समय अनेक विषयो को समझाया भी करते थे। आपकी प्रवचन शैली बहुत ही उच्चकोटि की थी आप श्रोताओ के हृदय मे वस्तुज्ञान पूर्ण रूपेण जमा देते है श्रोतालोग अद्भुत

विषयो को सुनकर चकित तथा मुग्ध हो जाते। कोई भी विषय जब तक जिज्ञासुओ की समझ मे पूरे तौर से न आजाता तब तक वह अनेक प्रकार से घण्टो तक उस वस्तु की मीमांसा करते ही रहते थे। इस कार्य मे उनका मस्तिष्क कभी नही थकता था। उनमे यह एक खास बात थी कि गूढतम तत्वो के विचार मे इतना प्रबल परिश्रम अहर्निश करते रहने पर भी उनका मस्तिष्क अश्रान्त ही दीख पड़ता था इस अत्यधिक परिश्रम के कारण पाचन शक्ति की कमी से उनका स्वास्थ्य तो ठीक नही रहता था और शरीर बडा कृश था, किन्तु लिखने या बोलने में वे कभी नही रुकते थे। वे बहुत ही स्वल्पाहारी थे, कभी-कभी तो वे अपनी इस धुन मे भोजन करना तक भूल जाते थे, दो चार बार ताकीद करने पर भोजन के लिये जाना तो नित्य नियम सा ही था।

पण्डितजी महाराज के समीप जिज्ञासुओ के आने जाने की सख्या ही क्या हो सकती थी, देश विदेश से भी लोग नई-नई शकाओ को सुलझाने के लिये उपस्थित हुआ करते थे। वर्तमान जयपुर नरेश महाराज श्री १०८ श्री मानसिंहजी को महाराजकुमार अवस्था मे हिन्दी, सस्कृत की प्रथम शिक्षा का आरम्भ पण्डितजी महाराज ने ही कराया था। स्वर्गीय भूतपूर्व महाराज माधवसिंह जी के अनुसार वर्तमान जयपुर नरेन्द्र भी धार्म्मिक विषयो मे सभी परामर्श पण्डितजी से ही लिया करते थे, ये पण्डितजी को बडी श्रद्धा तथा मान की दृष्टि से देखते थे और उनके पाडित्य से बहुत प्रभावान्वित रहते थे।

अन्यान्य कई राजा महाराजा भी आपको बडी सम्मान की दृष्टि से देखते थे। स्वर्गीय तथा वर्तमान श्रीमान् दरभगा महाराज का आप पर बडा ही प्रेम प्रसाद था, साथ ही आपकी इस अद्वितीय विद्वता को वे अपना निजी गौरव समझते थे। वर्तमान अलवर नरेश ने तो अपने यज्ञोपवीत के अवसर पर आप से ही दीक्षा ग्रहण की थी और आपको अपना सर्वश्रेष्ठ गुरु मानकर ये आपका बहुत ही सम्मान करते थे। स्व० महाराज किशनगढ, स्व० भूतपूर्व काशी नरेश तथा शाहपुराधीश भी आपके बडे भक्त थे।

इतने पर भी एक विशेषता यह थी कि पण्डितजी ने राजा महाराजा, बडे-बडे सेठ आदि किसी से भी कभी कोई याचना नही की। आप स्वतन्त्र प्रकृति और निरपेक्ष व्यक्ति थे। साथ ही आपकी प्रकृति अतिशान्त और नितान्त सरल थी। आपका रहन सहन बहुत ही सादगी का था। ससार मे रहकर भी ससार से अलग थे यह आप मे एक अलौकिक गुण था। आपको किसी प्रकार का कोई शौक या वाछा कभी नही हुई। यदि थी तो सर्वोपरि वही एक मात्र वैदिक विज्ञान के आविष्कार का पराकाष्ठा का व्यसन, और इसी मे मनसा वाचा कर्मणा अन्तश्वास तक वे तल्लीन भी रहे बल्कि प्राण वियोग के समय तक इसी का मनन रहा।

यो तो पडितजी महाराज के शिष्यो की सख्या बहुत है, परन्तु जिनने नियमपूर्वक पुस्तक खोलकर आपसे विद्याध्ययन किया ऐसे भी कम नही है। इन पक्तियो के लेखक ने प्रायः ४० वर्ष किसी रूप मे उनके चरणो मे बैठकर अध्ययन किया है। मृत्यु से ३ दिन पूर्व भी मेरा पाठ हुआ था और भी बहुत से प्रतिष्ठित विद्वान् उनके शिष्य है जिनमे से कुछ विद्वानो के नाम निम्नलिखित है:—

१—राजगुरु पं. चन्द्रदत्तजी चौधरी, रिटा. प्र व्याकरणाध्यापक, महाराजाज सस्कृत कालेज, जयपुर।
२—प. सूर्यनारायणजी आचार्य, प्र. सस्कृताध्यापक, महाराजाज कालेज, जयपुर।
३—प. कन्हैयालालजी न्यायाचार्य, प्र. न्यायाध्यापक, महाराजाज सस्कृत कालेज, जयपुर।

४–प. मदनलालजी व्याकरणाचार्य, रिटा. धर्मशास्त्राध्यापक, " "
५–पं. मथुरानाथजी भट्ट साहित्याचार्य, प्र. साहित्याध्यापक, " "
६–प. मोतीलालजी शास्त्री, शतपथ सपादक, बालचन्द्र यन्त्रालयाध्यक्ष, "
७–स्वामी सुरजनदासजी वेदान्त, व्याकरणाचार्य, दादूविद्यालय, "
८–प. केदारनाथजी साहित्यभूषण, राजकीय ज्योतिषयन्त्रालाध्यक्ष, जयपुर ।
९–पुरोहित गोपीनाथजी जोशी, भूतपूर्व हैडमास्टर चादपोल हाईस्कूल, तथा पर्सनल एसिस्टेंट, शिक्षा विभागाध्यक्ष, जयपुर ।
१०–प. आद्यादत्तजी, ठाकुर एम्. ए. सस्कृत प्रोफेसर लखनऊ यूनिवर्सिटी ।
११–प. देवराजजी शास्त्री (पजाब)
१२–प. पुरुषोत्तमजी साहित्याचार्य, धर्मशिक्षक, मेयो कालेज, अजमेर ।
१३–प. अशेश्वर झा (मिथला)

वि. स. १९९३ मे अखिल भारतवर्षीय सस्कृत-साहित्य सम्मेलन की ओर से जयपुर के गण्यमान्य सरदारो, विद्वानो और सेठ साहूकारो की स्वागत समिति के तत्वावधान मे पडितजी महाराज के ७० वें वर्ष के उपलक्ष मे आचार्य प्रवर गोस्वामी श्री १००८ श्री गोकुलनाथजी महाराज शुद्धाद्वैत सप्रदायाचार्य बम्बई के सभापतित्व मे रामनिवास बाग के अलवर्ट हाल मे हीरकजयन्ती (Diamond Jubilee) मनाई गई थी जिसमे बाहर के अनेक प्रसिद्ध विद्वान् म.म. हाथी भाई शास्त्रीजी राजपण्डित जामनगर (काठियावाड) म. म. प मथुराप्रसादजी दीक्षित राजपडित सोलन (पंजाब) विद्यामार्त्तण्ड प. सीताराम शास्त्री भिवानी, पं. विद्याधर शास्त्रीजी एम. ए. प्रोफेसर, डूगर कालेज बीकानेर आदि भी सम्मिलित हुए थे। सस्कृतरत्नाकर मासिकपत्र का (वेदाङ्क) नाम का विशेपाङ्क और अभिनन्दनपत्र पडितजी महाराज को समर्पित किया गया था। और इस अङ्क मे सस्कृत तथा हिन्दी मे पडितजी महाराज का जीवन चरित्र भी प्रकाशित हुआ है इसके अतिरिक्त आपका जीवन चरित्र 'सुधा' मे छपा है। पूर्णरूपेण आपका विस्तृत जीवन चरित्र पुस्तकाकार मे प्रकाशित करने का भी विचार है ।

वि. स. १९९६ भाद्रपद शुक्ला १५ को केवल दो तीन दिन ही अस्वस्थ रहकर गुरुवर पडितजी का अचानक स्वर्गवास हो गया। स्थानीय सिविल सर्जन का कथन था कि यह दिमागी उत्कट परिश्रम का आघात हृदय पर हुआ।

पडितजी के परिवार मे आपके सहोदर भाई भतीजे कोई भी न थे, आपकी धर्मपत्नी का स्वर्गवास वि स. १९६२ मे ही हो चुका था और फिर आपने विवाह नही किया। केवल एक मात्र पुत्र पडित प्रद्युम्नजी उन दिनो अलवर नरेश के पास थे जिन्हे आपके अस्वस्थ होते ही तार द्वारा बुला लिया गया था। पंडितजी ने अपने अन्तिम समय मे स्वरचित ग्रन्थो के प्रकाशित करने की एक मात्र इच्छा अपने पुत्र से प्रकट की जिसके लिए आपके सुपुत्र ने दृढ प्रतिज्ञा की।

उस दिन सम्पूर्ण नगर मे शोक छाया हुआ था। राजकीय उच्च कर्मचारियो व राज के लवाजमे के साथ आपका शवविमान श्मशान पहुचाया गया, वहाँ शव को स्नान कराकर विभूति तिलक धारण

कर जो सूर्याभिमुख बैठाया गया तो मुख पर विज्ञानज्योति का ऐसा अद्भुत दर्शन हुआ कि सब लोग आश्चर्य चकित हो प्रणाम करने लगे। यह वैदिक विज्ञान का प्रत्यक्ष चमत्कार था। आपकी उत्तरक्रिया श्राद्धादिक शास्त्रीय विधि विधान तथा राज्य के सम्मान के अनुसार आप के सुपुत्र ने बड़ी श्रद्धा से किया। मासिक क्षयाह मे ब्राह्मण भोजनादिक होते रह कर वार्षिक श्राद्ध के अनन्तर ही पितृपक्ष मे पं. प्रद्युम्नजी ने गयाश्राद्ध भी सविधि सम्पन्न कर डाला।

पडितजी के स्वर्गारोहण के अवसर पर समाचार पत्रो मे "वैदिकविज्ञान का सूर्य अस्त" यह हैडिङ्ग निकला था। अलवर, दरभगा आदि कई नरेशो तथा महामना प मदनमोहनजी मालवीय, प्रयाग के वाइस चांसलर डा० गङ्गानाथ झा आदि अनेक गण्यमान्य व्यक्तियो के समवेदना सूचक बहुत से तार व पत्र आये थे और बहुत स्थानो मे शोक सभाएं हुई। जयपुर मे भी रायबहादुर प. अमरनाथजी अटल एम. ए, फाइनेन्स मिनिस्टर के सभापतित्व मे महाराजाज सस्कृत कॉलेज मे बडे-बड़े सरदारो, उच्च कर्मचारियो, विद्वानो तथा गणमान्य पुरवासियो की उपस्थिति मे एक विराट् शोक-सभा की गई।

पडितजी महाराज के पुत्र पण्डित प्रद्युम्नजी ओझा का बाल्यकाल से अपने पूज्य पिताजी के पास ही अधिकाश रहन सहन व पठन पाठन का प्रबन्ध रहा था, यह अपने पिता के इकलौते पुत्र थे अतः इनका लालन पालन भी अत्यधिक प्यार से होता था। आपकी शिक्षा सस्कृत हिन्दी तथा अग्रेजी मे हुई। यह भी अपने पिता के साथ स्वर्गीय जयपुर नरेश महाराज माधवसिंहजी के समीप जाया करते थे और महाराज भी इनको छोटे पण्डितजी के नाम से सम्बोधित कर बडा वात्सल्य प्रकट किया करते थे। ये बाल्यकाल से ही बडे बुद्धिमान् और चचल प्रकृति के हैं। इनकी बुद्धिमता से प्रसन्न होकर महाराजाधिराज ने इन्हे अपने पास आने जाने के लिए स्वतन्त्र आज्ञा प्रदान कर रखी थी और इनके लिये भी अपने खासा अस्तबल से सवारी के लिये घोडा अलग नियुक्त कर दिया था। साथ ही जहा कही भी महाराज विदेश पधारते वहा आपके पूज्य पिताजी तो साथ होते ही थे, ये भी महाराज की आज्ञानुसार बहुत सी यात्राओ मे साथ रहा करते थे। जब यह कुछ बडे हुए तो पडितजी के स्वदेश आदि जाने पर या अस्वस्थ होने पर महाराज इन्ही को पुस्तकशाला, मौजमन्दिर (धर्मसभा) आदि कार्यो पर पडितजी के स्थानापन्न नियुक्त कर कार्य लिया करते थे और उस समय के प्रधानमत्री स्व० बाबू ससारचन्द्रसेनजी, सी० आई० ई० तथा स्व० नवाब मुस्ताजुद्दौला सर फैयाजअलीखाजी, के० सी० आई० ई० एम० बी० ओ० और राय बहादुर पुरोहित स्व० सर गोपीनाथजी, सी० आई० ई० इनके कार्य से परम सतुष्ट तथा प्रसन्न रहते थे इस प्रकार इन्होने पूर्ण नीतिकुशलता और सभाचातुरी प्राप्त करली और महाराज के कृपापात्र बन गये।

जब स्वर्गीय दरभगा नरेश श्रीमान् श्री १०८ रमेश्वरसिंहजी जयपुर पधारे थे तो भूतपूर्व जयपुर नरेश ने इन्ही प० प्रद्युम्नजी ओझा को उनके आतिथ्य सत्कार पर प्रमुख नियुक्त किया था उस समय दरभगा नरेश इनके प्रबन्ध से बहुत प्रसन्न हुए थे और तब से वह इनको विशेष प्रेम और कृपा की दृष्टि से देखने लगे। वर्तमान दरभगा नरेश श्रीमान् महाराजाधिराज श्री १०८ श्री कामेश्वरसिंह भी इन पर उसी प्रकार पूर्ण कृपा रखते है और इस ग्रथ प्रकाशन कार्य मे उनकी भी सहानुभूति रहती है।

कुछ समय प० प्रद्युम्नजी को अपनी सपत्ति के प्रबन्ध के लिये स्वदेश जाकर भी रहना पड़ा था वहा उच्च यूरोपियन आई० सी० एस० आफिसर ने इनकी नीति निपुणता देखकर एक इलाके का इन्हें

प्रेसीडेन्ट नियुक्त कर दिया जिसमे दीवानी तथा फौजदारी विभाग का कार्य इन्होने कई वर्ष तक बड़े न्याय निपुणता से किया जिससे पब्लिक वडी परितुष्ट रही और उस अरसे मे जो जो यूरोपियन आफिसर वदल कर आये वे सभी इनके कार्य से परम सतुष्ट रहे और इसके लिये उन्होने लिखित प्रमाण पत्र भी इन्हे दिये हैं साथ ही जव वहा वहुत से लाईसेस वापस लिये जाकर कमी की जा रही थी उस समय इनको सम्पूर्ण भारतवर्ष के लिये दुनाली अग्रेज वन्दूक का लाईसेस देकर विहार गवर्नमेन्ट ने इन्हें राजभक्त रूप से सम्मानित किया था।

पं० प्रद्युम्नजी अपने पिता के समक्ष वर्तमान श्रीमान् अलवर महाराज श्री १०८ श्री तेजसिंहजी के राज्य सिंहासनारोहण के अवसर से ही उनके वडे कृपापात्र तथा पूर्ण विश्वास पात्र होकर उनके आत्मीय परिजनो मे सम्मानित हुए और उनके पास ही रहा करते थे। वे धार्मिक सभी कार्य इनके परामर्शानुसार करते और समय समय पर अन्य विषयो पर भी परामर्श लिया करते थे, साथ ही शस्त्र तथा अश्व के कार्य मे भी सुयोग्य होने के कारण इन्हे महाराज ने अपना ए० डी० सी० नियुक्त कर आखेट (शिकार) आदि मे भी अपने साथ रखते थे।

पिता के अस्वस्थ होते ही प० प्रद्युम्नजी को जयपुर आ जाना पडा। वर्तमान श्रीमान् महाराजा जयपुर ने इनके पिताजी की जीविका इनको यथावत् प्रदान कर दी। श्रीमान् महाराज अलवर की प० जी में पूर्णभक्ति और उनके पुत्र पं० प्रद्युम्नजी पर पूर्ववत् अतुल कृपा है और श्रीमान् पण्डितजी की इन महान् कृतियो से पूर्ण परिचित है अत श्रीमान् का इस ग्रथ प्रकाशन कार्य मे पूर्ण सहयोग है।

प० प्रद्युम्नजी ने अपने पिता के अन्तिम इच्छा ग्रथ प्रकाशन की उनके समक्ष प्रतिज्ञा कर उन्हें परितुष्ट किया था उस प्रतिज्ञा के अनुसार इस कार्य में प्राणपण से जुटे हुए हैं। इन तीन वर्षो मे आपने ६–७ ग्रन्थ प्रकाशित कर डाले है और कई विभिन्न प्रेसो मे मुद्रणार्थ दिये जा चुके हैं, साथ ही आगे कार्यक्रम जारी कर रखा है।

जो कुछ सम्पत्ति पूज्य पण्डितजी ने छोडी है उसे ये एकमात्र ग्रन्थ प्रकाशन मे ही लगा रहे है, और तो क्या आपका यहा तक संकल्प है कि यदि द्रव्य का अभाव होगा तो मकान आदि वेच कर इस कार्य को यथा सम्भव सम्पन्न करेंगे। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या देश मे गुणग्राहकता का इतना अभाव हो गया है कि वह ऐसा होने देगा? इसका उत्तर भविष्य देगा।

वेदज्ञमाविष्कृतदिव्यशक्तिं लोकेषु गीतार्जुनकीर्तिमर्च्यम्।
प्रद्युम्नतातं समदर्शिनं च गुरुं भजे श्रीमधुसूदनार्यम्॥

(प० ब्रह्मदत्त शर्मा शास्त्री आयुर्वेदाचार्य सम्पदित, सस्कृतरत्नाकर के वेदाङ्क से उद्धृत)

॥ इति ॥

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ

विषय | पृष्ठ

विषय | पृष्ठ

विषय | पृष्ठ

विषय	पृष्ठ

विषय	पृष्ठ

इति शुभम्

❀ श्रीः ❀

ब्रह्मविज्ञान

सिद्धान्तवाद-व्याख्यान

* मङ्गलाचरण *

निषु सीद गणपते गणेषु
त्वामाहुर्विप्रतम कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे
महामर्क मघवन् चित्रमर्च ॥(१)
(ऋ० १०/११२/६)

(२)

जगृम्भा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तं
वसूयवो वसुपते वसूनाम् ।
विद्मा हि त्वा गोपतिं शूरगोना-
मस्मभ्य चित्र वृषण रयिं दाः ॥ (२)
(ऋ० १०/४७/१)

१—सरलार्थ—हे (गणपते) हे समूह के पति ! (गणेषु) आप अपने समूह मे (निषुसीद) विराजें। (त्वा) आपको सभी (कवीना) विद्वानो के (विप्रतम) अग्रगण्य (आहु॰) कहते हैं। (त्वदृऋते) आपके बिना (किञ्चनारे) कोई भी काम कही भी (न क्रियते) नही किया जाता है। (मघवन्) हे पूजनीय प्रभो ! (चित्रं) नाना प्रकार के (महामर्क) बडे प्रकाश अर्थात् दिव्य ज्ञान को (अर्चं) प्रकाशित कीजिये ॥१॥

(वैज्ञानिक–विवेचना)

ससार मे प्रत्येक मनुष्य की आत्मा प्रज्ञा और प्राण से बनी हुई है । शरीर मे प्रज्ञा के द्वारा ज्ञान का और प्राण के द्वारा क्रिया का संचार निरंतर होता रहता है। यदि सम्पूर्ण जगत् की भूत

भविष्यत् और वर्तमान सभी आत्माओ को एक दृष्टि से देखा जाय तो, सर्वजगद्-व्यापक समस्त प्रज्ञा और प्राणो का घनस्वरूप वह एक ही आत्मा होगी। इसी को 'इन्द्र' कहते है। इस इन्द्र के कुछ कुछ भाग से प्रत्येक मनुष्य की आत्मा वनी है। यही इन्द्र यहां गणपति शब्द से व्यवहृत किया गया है। भारतवर्ष मे जो प्रत्येक कर्म के आरम्भ मे गणपति का पूजन किया जाता है, वह इसी जगद्व्यापक आत्मा वाले इन्द्र की अर्चना है। यह इन्द्र मरुद्गण के साथ रहता है, इसी कारण इसे गणपति कहते हैं। तथा मरुतो की उत्पत्ति रुद्र से हुई है अतः इन्हे रुद्रपुत्र (महादेवजी के लडके) भी कहते है। इस इन्द्र आत्मा को प्रज्ञा और प्राण का घन वता चुके है, अतः सभी विद्वानो का सव प्रकार का ज्ञान इसी आत्मा से आरम्भ होता है। मन्त्र में भी इसीलिए कहा गया है कि गणपति विद्वानो मे अग्रगण्य हैं। इनके प्राण के घन होने के कारण यह कहना भी सत्य है कि गणपति के विना कही भी कोई क्रिया (कार्य) नही की जा सकती। इसी से उस व्यापक आत्मा से प्रार्थना की जाती है कि आपका जितना भाग मुझ छोटी सी आत्मा मे है, उसमे अधिक प्रकाश डालिये, जिससे मेरी इस आत्मा मे प्रज्ञा और प्राण का अर्थात् ज्ञान और क्रिया का अधिक प्रकाश हो जिसके द्वारा वहुत से दिव्य, अलौकिक वैज्ञानिक विपयो का यथार्थज्ञान मेरे मे हो और अधिक क्रिया करने में समर्थ हो सकू ॥१॥

२—सरलार्थ—हे इन्द्र प्रभो! हमने आपका दाहिना हाथ पकड़ा है। हे धन के स्वामी! हम धन की आशा रखते है। हे शूरवीर! आपको हम गायो का स्वामी जानते हैं। आप हमे वढती हुई सम्पदा दीजिये।

(वैज्ञानिक–विवेचना)

प्रत्येक मनुष्य की आत्मा से जो शक्तियां निकलती है वे सूर्य की दक्षिण गति के कारण शरीर के दाहिने भाग मे कुछ अधिक रूप मे और वांये भाग मे कुछ- कम होती हैं। इसलिये दाहिने हाथ से तात्पर्य, अधिक शक्ति की ओर सकेत करना है। यद्यपि यह इन्द्र प्राण की घनरूप एक ही आत्मा है और उसके हाथ–पांव आदि कोई भी खास अङ्ग नही है तथापि उसकी अधिक शक्ति शरीर मे दाहिनी ओर जाया करती है। उसी शक्ति का हम आश्रय लेते हैं। दाहिना हाथ पकड़ने का यही तात्पर्य है। हम धन की आशा रखते हैं और वह धन का स्वामी है। हम गौ के सदृश अर्थात् पशु–तुल्य अल्पज्ञ हैं और वह आत्मा पशुरूप छोटी-छोटी आत्माओ का सर्वप्रभु है। इसलिए हमारे दुःखो को दूर करने का अधिकारी उस परमात्मा इन्द्र को समझ कर प्रार्थना की जाती है कि वह हमारी माग को पूरी करें।

प्रतिज्ञा

जहां तहां जो कुछ दृष्टिगोचर होता है, इन सव की जड़ क्या है, प्रारम्भ कव से है, संस्था अर्थात् स्वरूप-विन्यास किस प्रकार है और गति किस प्रकार की है अर्थात् जो जैसा दृष्टि मे आ रहा

है वह पीछे किस रूप मे दिखाई देगा और कहा जायेगा—इत्यादि वातो की जिज्ञासा प्रत्येक मनुष्य के दिल मे स्वत उत्पन्न हुआ करती है। इन सब वातो को यथार्थ रूप से जानने के लिए प्राचीन समय अर्थात् देवयुग मे आप्तवाक्य ऋषि, महर्षियो ने जो कि अत्यन्त विचारशील और असाधारण धारणा के अग्रगण्य विद्वान् हुए थे उन्होने अपने विचारानुसार अथवा परामर्शपूर्वक जो भी कुछ सिद्धान्त निर्धारित किये, उन्ही सिद्धान्तो का कुछ दिग्दर्शन कराने का यहा यत्न किया जाता है।

वैदिक वाक्यों से इस विषय में दस प्रकार के वाद सुनने में आते है—

१ सदसद्वाद, २ रजोवाद, ३ व्योमवाद, ४ अपरवाद, ५ आवरणवाद, ६ अम्भोवाद, ७ अमृतमृत्युवाद, ८ अहोरात्र, ९ दैववादवाद, १० संशयवाद। इस प्रकार मुख्य ये दश है। इनमे कितने ही अवान्तरवाद भी और हैं। उन सब को इस ग्रन्थ मे पृथक् करके प्रदर्शित करते है।

विकल्प निर्देश—सदसद्वादविकल्प

(त्रिपक्षीसूत्र)

प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण मे बदलती रहती है। बदलती हुई भी प्रायः सभी वस्तुएँ दीर्घकाल तक ठहरी हुई रहती हैं। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु मे दो भाव पाये जाते है—एक प्रतिक्षण नष्ट होता हुआ और दूसरा स्थायीरूप। इन दोनो मे मुख्य कौन है—इस विचार के सम्बन्ध मे तीन मतभेद है—सत्, असत् और सदसद्।

यहाँ नष्ट होने वाले भाव को असत् शब्द से, और अविनाशी भाव को सत् शब्द से व्यवहार किया जाता है। असत् भाव एक क्षण से दूसरे क्षण तक भी एक रूप मे नही रहता, किन्तु दूसरा सत् भाव वर्षों तक एक रूप मे स्थायी रहता है।

किसी का मत है कि इन दोनो भावो मे असत् भाव ही प्रधान है पहले असत् ही था उसी से पश्चात् मे सद्भाव उत्पन्न हुआ है। हम देखते हैं कि जो घडा या कपडा पहले उपयुक्त नही है वही पीछे बनाने पर उपयोगी होता है। इसी प्रकार यह विश्व भी कहा जा सकता है कि किसी दिन नहीं था जो पश्चात् उत्पन्न हुआ उसको किसी ने उत्पन्न नही किया क्योकि जब कुछ था ही नही तब किसी का किसी चीज से किसी प्रकार किसी वस्तु की उत्पत्ति करने का प्रयत्न कैसे सभव हो सकता है, मानना पड़ेगा कि जो न था उसने अपने आप अपने को बना लिया इसीलिये विश्व को स्वकृत कहते हुए आचार्यो ने सुकृत नाम दे दिया यह मत तैत्तिरीय लोगो का है (उपर्युक्त असद्वाद है)।

दूसरो का यह मत है कि असत् से सत् कभी हो ही नही सकता। असभव विषय मान लेना समझ से बाहर है। हम कह सकते है कि इन दोनो भावो मे सत् भाव ही प्रधान है। सत् मे ही असद्

भी हो जाया करता है। जो घडा या कपड़ा आज सद्रूप मे मौजूद है, वही नष्ट कर देने पर सदा के लिये असद् रूप मे आ जाते हैं अथवा यो समझें कि इस जगत् मे जो असद् भाव दीखता है वह भ्रम है क्योकि जिसको असत् समझते हो उसकी भी सत्ता तुम मानते हो जैसाकि जो घट पहले सत् था नष्ट कर देने पर अब वह असत् है इसका यही अर्थ हुआ कि उस वस्तु के दो रूप हैं–एक स्थिति और दूसरा नाश। जबकि यह सब सत् है और सत् से ही सत् उत्पन्न होता है। यह ससार पहले भी सत् था, अभी सत् है और भविष्य मे भी सदा के लिये इसी रूप से सत् ही रहेगा। यह सद्वाद का मत आरुणी वंश वालो का है, (यह सद्वाद है)।

पहले सत् था अब असत् है, अर्थात् शून्य रूप है तो इस असत् शून्यरूप के साथ भी "है" को लगाते हुए तुम सत्तावाला कह रहे हो, जब उसकी सत्ता है तो अवश्य ही वह सत् माना जा सकता है फिर खयाल मे आने वाली कोई भी चीज को असत् कह कर कैसे माना जा सकता है।

अब तीसरी राय यह है कि पहले सत् ही था पीछे असत् हुआ अथवा यो कहना कि पहले असत् ही था पीछे सत् पैदा हुआ ये दोनो राये ही भूल है क्योकि जब हम दोनो भाव बराबर देखते है तो उसमे आगा-पीछा कायम करना भूल है। सत्य तो यह है कि जो सत् है वही असत् हैं। सत्, असत् दो वस्तु नही, जब ये दो नही हैं तो इनमे अग्र, पश्चात् कहना नही बन सकता। किसी रूप से यह सब जगत् सत् है तो वही किसी रूप से असत् कहलाता है और यह दोनों ही खयाल सत्य है। यह तीसरा सदसद्वाद याज्ञवल्क्य आदि महर्षियो का है।

इस प्रकार सदसद्वाद मे तीन मतभेद होने से त्रिपक्षी कहलाता है।

सप्त विकल्पपुत्र।

यह जो तीन पक्ष (मत) सदसद्वाद कहा गया है, उसके सत्, असत् इन दोनो पदो के भिन्न-भिन्न अर्थ लेकर पूर्वाचार्यों में जो सात मतभेद हो गये थे वे ये है—१–प्रत्ययाद्वैतवाद, २–प्रकृत्यद्वैतवाद, ३–तादात्म्यवाद, ४–अभिकार्यवाद, ५–गुणवाद, ६–सामञ्जस्यवाद, ७–अक्षरवाद। इन सातो मतो मे उपर्युक्त रीति के अनुसार प्रत्येक के सत्, असत् और सदसत् ये ३ पक्ष होने के कारण २१ मत हो जाते है। इन्ही २१ मतो का वर्णन इस प्रथम सदसद्वाद मे किया गया है।

यद्यपि उपर्युक्त मतो का विस्तृत वर्णन आगे स्वतन्त्ररूप से किया जायेगा, तथापि यहाँ सक्षेप में उनका दिग्दर्शन कराया जाता है।

(१) प्रत्ययाद्वैतवाद।

जब हम किसी तरफ दृष्टि डालते हैं, तो हमे जो भी कुछ दृष्टिगोचर होता है और हम उसे देखते हैं इसी देखने मे दो खण्ड प्रतीत होते हैं—द्रष्टा और दृश्य। इनमे द्रष्टा सत् और दृश्य असत्

है। ये दोनो ही भिन्न–भिन्न प्रतीत होते है। द्रष्टा देखने वाला और दृश्य जो दृष्टिगोचर होता है, उसे कहते है। मैं कुछ देखता हूँ इसी खयाल को देखना कहते हैं। इस देखने मे 'मैं' का भाग द्रष्टा है, जो सभी की दृष्टि मे एक ही रहता है इसी को सत् कहते हैं, और 'कुछ' का भाग दृश्य है, जो प्रत्येक की दृष्टि से भिन्न–भिन्न होता है, एकरूप नही रहता, इसीसे उसको असत् कहते हैं। इन दोनो के मिलने से जो एक प्रकार का ज्ञान होता है, जिस ज्ञान के ये दो टुकड़े हैं, उसी ज्ञान को 'प्रत्यय' कहते हैं, यह एक है।

इस प्रत्यय से जो उपर्युक्त दो खण्ड दीखते हैं, उन पर यदि हम सूक्ष्म विचार करें तो, कह सकते है कि उन दोनो मे द्रष्टा ही मुख्य है। इसी की ज्योति से दृश्य के रूप बनाये जाते हैं। इस लिए कोई भी दृश्य द्रष्टा से भिन्न नही माने जा सकते। बस, द्रष्टा और दृश्य दोनो एक द्रष्टा ही है और उसी को प्रत्यय कहते है। यह सत् पक्ष का मत हुआ।

दूसरा मत यह है कि प्रत्यय के दो खण्डो मे 'दृश्य' खण्ड ही मुख्य है। दृश्य के अतिरिक्त द्रष्टा कोई वस्तु नही हो सकता। क्योकि वह द्रष्टा तुमको दृश्य है या नही, यदि नही है तो तुम उसका वर्णन नही कर सकते। क्योकि तुमको दिखा ही नही, और यदि यह कहो कि वह द्रष्टा भी मुझको दिखाई देता है तो अवश्य वह दृश्य हो गया, फिर दृश्य से वह भिन्न खण्ड कैसे हो सकता है। कितने ही लोग यह भेद करते है कि दृश्य छोटा–२ खण्ड मात्र परिच्छिन्न पदार्थ है। किन्तु द्रष्टा व्यापक है। इस प्रकार भेद मानना भी सर्वथा मिथ्या है, क्योकि कितने ही द्रष्टा अधिक विचारशील होने से अधिक देखते है और कितने ही मन्दबुद्धि अल्पज्ञ होते है इस प्रकार जब आत्मा छोटी–बडी होती है और कितनी ही परिच्छिन्न ओपधियो के योग से मूर्च्छित होती है तो उस आत्मा को व्यापक कैसे कह सकते हैं। इसलिये जैसे द्रष्टा और दृश्य सभी परिच्छिन्न पदार्थ हैं उसी प्रकार यह आत्मा भी एक परिच्छिन्न वस्तु है और दृश्य है। यह असत् पक्ष का अद्वैतवाद हुआ।

तीसरा मत यह है कि द्रष्टा और दृश्य ये दोनो भिन्न–भिन्न पदार्थ हैं। द्रष्टा वह है, जहा से ज्ञान शुरू होता है और दृश्य वह है जहा से ज्ञानसूत्र पहुचता है। इनमे जब आदि और अन्त का भेद पाया जाता है तो ये दोनो खण्ड एक नही हो सकते। हाँ यह मान सकते हैं कि जिसका आदि और अन्त हुआ और आखिर हुआ वह शुरू से आखिर तक एक ही वस्तु है। उसी वस्तु को हम 'प्रत्यय' कहते है। वह प्रत्यय एक अवश्य है, किन्तु उसके टुकडे भी अवश्य ही दो हैं वह सदसत् पक्ष का अद्वैतवाद हुआ। इन तीनो पक्षो का प्रत्ययाद्वैतवाद प्रथम विकल्प है।

(२) प्रकृत्यद्वैतवाद

कर्म को असत् कहते है, कर्म वह वस्तु है, जो पहले न रहकर पीछे उत्पन्न होता है और क्षणमात्र रह कर पीछे नष्ट हो जाता है। जो क्षणमात्र रहने वाला, पूर्व पश्चात्, अनन्त काल तक

नही रहता है, वह असत्, कहलाता है। क्योकि यदि वह सत् होता तो नष्ट कभी नही होता; इसलिये जो उसकी क्षणमात्र की सत्ता प्रतीत होती है वह भी एक भ्रममात्र है, अब यदि हम जगत् की ओर दृष्टि डालते हैं तो सर्वत्र क्रिया ही क्रिया प्रतीत होती है। कोई भी वस्तु एक क्षण के लिये भी ठहरी हुई नही है। जिसे हम ठहरी हुई देखते हैं वह भी हमारा भ्रम है। क्योकि उसका नयी से पुरानी हो जाना हम कालान्तर मे अनुभव करते हैं, वह सर्वथा पुरानी नही होती, किन्तु उसमे प्रतिक्षण कुछ न कुछ परिवर्तन होता ही रहता है। प्रत्येक परमाणु बदलता रहता है। यही परिवर्तनशील क्रिया जो प्रत्येक वस्तु मे सूक्ष्मरूप से पाई जाती है, जिससे किसी वस्तु का ठहरना असभव प्रतीत होता है। जबकि सब क्रिया ही क्रिया है तो इस क्रिया के असत् होने से हम मानते है कि यह सम्पूर्ण जगत् असत् रूप है। यह असत् पक्ष वाला प्रकृत्यद्वैत का मत है।

ब्रह्म अर्थात् ज्ञान को सत् कहते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् ज्ञानरूप है। क्योकि किसी वस्तु का होना या न होना विचार के अधीन है। जिस वस्तु का जैसा ख्याल होता है वैसी ही वह वस्तु मानी जाती है। होना या न होना, छोटा या बड़ा होना काला या पीला इत्यादि जैसी भी हम वस्तु कहते या मानते हैं, सब हमारा खयाल ही खयाल है। जिस वस्तु का खयाल नही होता उसको नही कह सकते है। इसलिये यह सम्पूर्ण खयाल के अतिरिक्त कुछ भी नही है। जो लोग इस जगत् को कर्मरूप मानते हैं वे भूल करते हैं, क्योकि कर्म को असत् कहते हैं। असत् का अर्थ है न होना। असत् वही है जो न कभी था, न है और न रहेगा। किन्तु यह जगत् पहले भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा। फिर उसको असत् कहना सर्वथा अनुचित है। जो वस्तु है, उसे नही कह देना साहस नही है तो क्या है? वास्तव मे यह जगत् ज्ञानरूप है। ज्ञान क्रियारूप नही होता, इसलिये यह सम्पूर्ण जगत् सदा रहने वाला जगत् सत् रूप है। यह सत् पक्ष वाला प्रकृत्यद्वैतवाद का मत है।

कर्म को असत् और ब्रह्म या ज्ञान को सत् कहते है। जगत् को जब हम देखते है तो प्रत्येक वस्तु मे ये दोनो पाये जाते है। जिस आदमी को जन्म से अतकाल तक देखा है, उसके शरीर मे प्रतिक्षण परिवर्तन होने से कभी बच्चा, कभी जवान और कभी वृद्ध इत्यादि कई दशाओ का हम भिन्न-भिन्न अनुभव करते हुए भेद व्यवहार करते हैं। किन्तु साथ ही फिर उसको एक ही व्यक्ति समझते और मानते हैं। भिन्न को एक समझना या एक को भिन्न समझना अनुचित है, किन्तु जगत् मे अक्सर ऐसा व्यवहार होने से दोनो व्यवहार का कारण दोनो तत्व मानना आवश्यक हुआ है। जिस के कारण एकता प्रतीत होती है, वह ज्ञान रूप सत् है और जिसके द्वारा भिन्न २ अवस्थाएँ प्रतीत होती है वह क्रिया रूप असत् हैं इस प्रकार सत् और असत् से प्रत्येक वस्तु बनी हुई है। सब सद-मत् रूप है। यह दोनो (सत् असत्) पक्ष वाला तीसरा प्रकृत्यद्वैतवाद हुआ है। यहाँ दूसरा विकल्प समाप्त हुआ।

(३) तादात्म्यवाद

यह तीसरा तादात्म्यवाद है। तादात्म्य का शब्दार्थ है, उसीसे अपना अस्तित्व रखना। जैसे धर्म और धर्मी का तादात्म्य होता है अर्थात् जैसे आग और गरमी ये दोनो परस्पर अविनाभाव हैं, न गरमी विना आग का और न आग विना गरमी का अस्तित्व कायम रह सकता है इसी प्रकार असत् और सत् का भी परस्पर तादात्म्य है। एक के विना दूसरा नही रह सकता। असत् का अर्थ कर्म और सत् का अर्थ ज्ञान है। इतना अवश्य है कि इसमे कर्म जो असत् है वही प्रधान है या विशेष्य (धर्मी) है और ज्ञान उसका गुण है। अर्थात् विशेषण धर्म है, इसी से हम कह सकते है, यह ज्ञान कर्म से भिन्न वस्तु नही। कर्म के ही आधार से ज्ञान का अस्तित्व है। यह असत् पक्ष वाला तादात्म्यवाद है।

अथवा अब यो समझिये कि ज्ञान ही इन दोनो मे प्रधान है अथवा विशेष्य है और कर्म उसका गुणभूत विशेषधर्म है। ज्ञान के ही आधार से कर्म का अस्तित्व है और ज्ञान से कर्म भिन्न नही है। अर्थात् ज्ञान का ही कर्म एक स्वरूपविशेष है। यह सत् पक्ष वाला तादात्म्यवाद हुआ।

तीसरा पक्ष यह है कि जगत् की वस्तुओ मे जब सत् और असत् अर्थात् ज्ञान और क्रिया दोनो ही अविनाभूत होकर दीखते है तो उसमे किसी को प्रधान और किसी को गौण मानने के लिए कोई विशेष युक्ति नही है। एक से एक बधे हुए अथवा घिरे हुए है। दोनो मिलकर एक चीज ही जगत् की प्रत्येक वस्तु हैं और दोनो ही दोनों की आत्मा हैं। यह उभयपक्ष वाला तादात्म्यवाद हुआ। यहा तीसरा तादात्म्यवाद का विकल्प समाप्त हुआ।

(४) अभिकार्यवाद

चौथा अभिकार्यवाद है। तात्पर्य यह है कि इस मत मे सत् और असत् शब्दो से कार्य की ओर लक्ष्य है। ऊपर के तीनो मतो मे उन दोनो शब्दो से कारण का खयाल बाधा जाता है किन्तु इसमे कारण का खयाल न करके केवल कार्य का सत् या असत् होना वर्णन किया जाता है। इसीसे इमे अभिकार्यवाद कहते हैं। यद्यपि इस जगत् मे ब्रह्म और कर्म दोनो पाये जाते है। किन्तु उनमे ब्रह्म सदा ही सत् है, वह कभी असत् नही है। इसलिए उसमे दो पक्ष हो ही नही सकते। इसलिए उसको छोडते हैं। परन्तु दूसरा कर्म सत् और असत् दोनो रूप मे दीखता है। पूर्व मे तथा पश्चात् भी नही रहेगा। इसलिए असत् है। किन्तु मध्य मे कुछ काल के लिए विद्यमान है। इसलिए सत् है। इस प्रकार जब उसके दो रूप है तो उसमे यह शका अवश्य हो जाती है कि वह असल मे सत् है या असत् है। इनमे एक मत यह है कि यह कर्म वास्तव मे असत् ही है। वह असत् ही सत् होकर प्रतीत हो जाता है। इसका सत् होना मिथ्या है, असत् होना सत्य है। दूसरा मत यह है कि यदि यह कर्म असत् ही होता तो इसमे क्रिया किसी प्रकार उत्पन्न ही नही हो सकती तो फिर यह कर्म असत् से सत् होकर कैसे दीखता

है जबकि हम इसको एक क्षण के लिए भी सत् होना पाते हैं, तो मानना पडता है कि यह पूर्व भी सत् ही था। केवल इसका आविर्भाव पीछे होकर तत्पश्चात् तिरोभाव हो जाता है। इसी तिरोभाव को असत् कहते हैं। किन्तु वस्तुत इसकी असत्ता नही है। तीसरा मत यह है कि जिस प्रकार ब्रह्म को सत् माना है उसी प्रकार कर्म को सदसत् मानना चाहिए। वस्तु का स्वभाव विलक्षण होता है। उसमे क्यो का प्रश्न नही उठता। इसलिए यह कह सकते है कि ब्रह्म सत् ही सत् है। असत् कभी नही होगा। किन्तु कर्म स्वभाव से ही सत् और असत् होता है। यदि कोई कहे कि यह सत्–असत् नही हो सकता, या असत्–सत् नही हो सकता यह प्रश्न भी अनुचित है। क्योकि हम प्रत्यक्ष मे इसकी सत्ता और नाश दोनो देखते है। अत वैसा ही स्वभाव मानना अनुचित नही है। इस प्रकार यह तीनो पक्ष वाला अभि-कार्यवाद चौथा विकल्प है।

(५) आत्मगुणवाद

वेद मे कही पर 'सदेवेदमग्र आसीत्' लिखा है, कही पर 'असदेवेदमग्र आसीत्' ऐसा कहा है। इसका तात्पर्य भगवान् याज्ञवल्क्य महर्षि ने इस प्रकार वर्णन किया है कि जिस आत्मा मे सपूर्ण सृष्टि उत्पन्न हुई है, उसके स्वरूप को कायम करने वाले तीन गुण हैं—मन, प्राण और वाक्। इनमे मन को सदसत् कहते है, प्राण को असत् और वाक् को सत्। ये इन तीनो के तीन नाम है। इनमे पहले मन होकर उससे प्राण और वाक् पीछे उत्पन्न हुए हैं। यह सदसत् पक्ष है। अथवा प्राण पहले था उसी से मन और वाक् उत्पन्न हुए, यह असत् पक्ष है। अथवा वायु ही प्रथम था; उसीसे प्राण और मन पैदा हुआ। यह सत् पक्ष है। इस प्रकार किसी ने इन तीनो गुणो के पौर्वापर्य का विचार करके उन श्रुतियों का अर्थ किया है। किन्तु यह अनुचित है, क्योकि जब यह तीनो गुण आत्मा के स्वरूपसमर्पक हैं तो इनमें आगे पीछे कहना अनुचित प्रतीत होता है। मानना होगा कि ये तीनों ही नित्य है और आत्मा के स्वरूप होने से एक साथ तीनो अनादि हैं। बात यथार्थ मे यह है कि आत्मा के इन तीनों गुणों से सृष्टि की तीन धारायें पृथक् २ उत्पन्न होती है—ज्ञानधारा, क्रियाधारा और अर्थ या द्रव्यधारा। इनमे ज्ञान-धारा की सृष्टि मे वेद कहता है कि सबसे प्रथम सदसत् था, अर्थात् मन था। बल अर्थात् क्रिया की सृष्टि मे सबसे प्रथम असत् था, अर्थात् प्राण था। इसी प्रकार अर्थ की सृष्टि मे सब से प्रथम सत् था; अर्थात् वाक् थी। यही उन श्रुतियो का तात्पर्य है और यह तीनो ही वाद सत्य है। इनमे किसी प्रकार का विरोध नही हो सकता। यह त्रिपक्षी गुणवाद पाचवां विकल्प है।

(६) सामञ्जस्यवाद

जो पहले वेद के वाक्य भिन्न–भिन्न दिखाये गये है; स्थूल दृष्टि से यद्यपि उनमे विरोध प्रतीत होता है, तथापि सूक्ष्म विचार से उनका सामञ्जस्य अर्थात् अविरोध (मेल) पाया जाता है। तात्पर्य यह है कि जो वस्तुएं इस समय मौजूद हैं उनको सत् कहते हैं। सृष्टि के आरम्भ मे ये सब

वस्तुए कुछ भी न थी, अत कहा जा सकता है, पहले ये सब असत् थी अर्थात् विद्यमान नही थी। इसी अभिप्राय से 'असदेवेदमग्र आसीत्' यह श्रुति कही गई है। किन्तु ये सब किसी न किसी चीज मे जरूर उत्पन्न हुई है, वह चीज पहले अवश्य थी। अगर वह न होती तो बिना कारण इन चीजो की उत्पत्ति नही होती। अत' जब वह सृष्टि की आदि मे कुछ वस्तु थी तो उसी अभिप्राय से "सदेवेदमग्र आसीत्" यह श्रुति चरितार्थ होती है। जब इस प्रकार कार्य के अनुरोध से पहले असत् होना और कारण के अनुरोध से पहले सत् होना पाया जाता है तो एक ही वस्तु को सत् और असत् दोनो कहना सभव है; विरोध नही रहा; यह एक युक्ति है। इसी मे दूसरी युक्ति है कि इस जगत् मे प्रत्येक वस्तु आपस मे भिन्न हैं, अर्थात् एक से एक मे भेद पाया जाता है। भेद को अन्योन्याभाव कहते हैं, अर्थात् घोडा हाथी नही है और हाथी घोडा नही है, तात्पर्य यह है कि हाथी अपने रूप से भाव है और घोडे के रूप से अभाव है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु जो अपने रूप से भाव है वही दूसरे सब रूपो से अभाव है, इस प्रकार भाव-अभाव का जब सामञ्जस्य है तो सत् और असत् इन दोनो का एक ही अर्थ हुआ। इसी से श्रुतिवाक्यो मे भी विरोध नही रहा। यह सामञ्जस्यवाद छठा विकल्प है।

(७) अक्षरवाद

साख्य का मत है कि पुरुष और प्रकृति ये दो मूल तत्व है। पुरुष को सत् और प्रकृति को असत् कहते हैं। इनमे पुरुष ज्ञानरूप है, निर्विकार है और सदा एक रूप है। किन्तु प्रकृति विकारी है और सर्वदा नानारूपो मे बदलती रहती है। इसी मूल प्रकृति को प्रधान और अव्यक्त भी कहते है और इस का अक्षर भी नाम है। जहा वेद मे अक्षर से सृष्टि होना कहा है वह इस मूल प्रकृति से समझना चाहिए, यह असद्वाद का तात्पर्य है। किन्तु वेदान्त का मत है कि पुरुष और प्रकृति इन दोनो मे जो पुरुष सत्रूप है वही अव्यक्त और अक्षर शब्द से कहा जाता है। जहा अक्षर से वेद मे सृष्टि का होना कहा गया है वह इस पुरुष से समझना चाहिए, यही सद्वाद का तात्पर्य है। इस प्रकार यह सातवा विकल्प अक्षरवाद समाप्त हुआ।

इस प्रकार सदसद्वाद मे सात विकल्प सिद्ध होते है। जिनका सक्षेप मे स्वरूप मात्र ऊपर दिखाया गया है। किन्तु इनको विस्तार से लिखने की आवश्यकता है। यद्यपि ये सब इतने निगूढ तत्व हैं कि इनका सहज मे विचार करना और विचार करके यथार्थ सत्य को पा जाना सर्वथा कठिन है, बल्कि मनुष्य बुद्धि के बाहर है। किन्तु विचार करके इन का थोडा भी जानना बडे आनन्द का कारण है, बडी आपत्तिया दूर होती है, इसलिए मनुष्य को चाहिए कि जहा तक हो सके ढूढ कर सत्य को निकाले। इसी तात्पर्य से इन सातो विकल्पो का अपनी बुद्धि से जहा तक हो सकता है, कुछ विचार करने को हम तैयार हुए है।

सदसद्वादाधिकार मे पहला उपक्रमाधिकार समाप्त हुआ।

मूलोपनिषत्

[१]

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥"

सद्सद्वाद मे सप्त विकल्प पहले दिखाये गये है। उन सब मे पहला "प्रत्ययाद्वैतवाद" है। उसका तात्पर्य यह है कि यह सब एक ही प्रत्यय अर्थात् ज्ञानरूप है। परन्तु यदि हम इन वस्तुओं की ओर दृष्टि डालते है तो यह ज्ञान से भिन्न अर्थात् ज्ञेय रूप से दीखता है। अतः प्रथम इनका प्रत्ययरूप होने का निर्णय करना उचित है। किन्तु उस निर्णय मे कई प्रकार के भिन्न-भिन्न मत उपस्थित होते हैं। उनको १० उपनिषद् कहते हैं। वे ही यहा क्रम से दिखाये जाते है। इनमे प्रथम मूलोपनिषत् है।

यह सब जो कुछ है, वही जगत् कहलाता है, इसका एक ही मूल है उसको ब्रह्म कहते है, इसी से यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मरूप है। उस ब्रह्म को "ओम्, तत्, सत्" इन तीनो रूपो से या तीन प्रकार से समझना चाहिये। यह ब्रह्म दो प्रकार का है। आभु और अभ्व। द्रष्टा को आभु और दृश्य को अभ्व कहते हैं। अर्थात् दिग्, देश, काल इन तीनो से जिस का परिच्छेद न हो वही द्रष्टा अर्थात् ज्ञान है उसी को आभु कहते हैं। किन्तु इसके विपरीत जो दिक्, देश, काल से परिच्छिन्न है उसको कर्म या दृश्य कहते है, वही अभ्व है।

इन दोनो मे 'आभु' तीन प्रकार का है। आनद, चेतना और सत्ता। इसी प्रकार अभ्व के भी तीन भेद हैं कर्म, रूप और नाम।

कितने ही आचार्यो का मत है कि इनमें 'आभु' को ही ब्रह्म कहना चाहिए। किन्तु अभ्व के तीनो भेद ब्रह्म नही हैं। अर्थात् माया के भेद हैं। माया से तात्पर्य है--मिथ्या वस्तु से। नाम, रूप, कर्म तीनो ही मिथ्या है, अतएव ब्रह्म का अद्वैत होना सिद्ध होता है किन्तु वास्तव मे ये तीनो भी ब्रह्म के ही रूप हैं। इनको तैत्तिरीय सहिता और माध्यन्दिनीय सहिता में ब्रह्म शब्द से स्पष्ट कहा है। जब कि इनको हम प्रत्यक्ष देखते हैं तो इनको मिथ्या कहना सर्वथा मिथ्या है। वास्तव मे हमको इन तीनो सिवाय कुछ दिखता ही नही है। जो कुछ दिखता है श्रुति के अनुसार वह सब ब्रह्म है। क्योकि श्रुति कहती है-'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि। अतः ये तीनो भी ब्रह्म हैं। अर्थात् यह सिद्ध हुआ कि आनन्द, चेतना, सत्ता, कर्म, रूप और नाम ये छओ रूप ही सब ब्रह्म है।

दूसरी बात यह है कि जिसमे दूसरी चीज पैदा होती है, परन्तु वह खुद कम नही होती है और न बिगडती है। जैसे बीज का अकुर, बीज की हालत बिगडने से ऊगता है, दूध के नष्ट होने से दही पैदा होता है, घास की सूरत नष्ट होने से दूध पैदा होता है किन्तु नाना प्रकार की वस्तु जिससे

पैदा होती रहती है तथापि उसका असली स्वरूप नष्ट नही होता। तात्पर्य यह है कि आनन्द पद मे दो विभाग हैं—'आ' और 'नन्द' आकार का अर्थ है चौतरफ, नन्द का अर्थ है बढना, चारो ओर बढने से तात्पर्य यह हुआ कि जो दूसरी जगह चला जाता है परन्तु अपनी पुरानी जगह को नही छोडता। या यो समझिए कि जो खूब धावा करता है परन्तु कुछ भी नही चलता अर्थात् बैठा हुआ ही बहुत दूर तक चला जाता है। इस प्रकार अपने असली स्थान को न छोड़ कर बहुत दूर तक चला जाना, यह लक्षण सिवाय हमारी आत्मा के अन्यत्र नही है। इसी से आत्मा को आनन्द कहते हैं। क्योंकि यह आत्मा जो मन के रूप से हृदय मे वर्त्तमान है वह हृदय को न छोडकर दूर-दूर तक पदार्थो को जानने के लिए जाती रहती है। शरीर से उसके बाहर जाने पर भी शरीर मे उसका कुछ भी भाग कम नही होता। इसीलिए कहा जा सकता है, वह ठहरा हुआ चलता रहता है। इसी प्रकार उस हृदय मे बसते हुए आत्मा से शरीर के नाना विभाग लोम, त्वचा, शोणित, माँस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र, आख, पित्त इत्यादि भिन्न २ पदार्थ आत्मा से निकलते और बनते रहते है, परन्तु उस आत्मा मे कुछ भी कमी नही होती और न कुछ विकार होता है। अतएव उस आत्मा को आनन्द कहते हैं। आत्मा के आनन्द होने का प्रमाण यह है कि ससार के सभी पदार्थ—सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र, परिवार इत्यादि से अपनी आत्मा सभी को अधिक प्यारी होती है। उनकी रक्षा का भी अधिक ध्यान रहता हैं, किन्तु अपने शरीर तक से भी यह आत्मा अधिक प्रिय है। जिस अग मे पीडा से आत्मा मे वेदना हो तो उस आत्मा के अनुरोध से उस अग को काटना पडता है। अतः स्पष्ट हुआ कि सबसे प्रिय आत्मा है, जो आनन्द-रूप है। हाँ, इतनी विशेपता है कि यह आनन्द दो प्रकार का है—भूमा और शान्ति। भूमा वृद्धि को कहते है। किसी प्रकार की वृद्धि होने पर जब तक आत्मा बढकर दूसरी सीमा मे नही आ जाती तब तक आनन्द का अनुभव होता है किन्तु यह स्मरण रहे कि यह वास्तव मे आनन्द नही, जिसे सब आनन्द समझते है वह आनन्द का अनुभव अर्थात् ज्ञान है न कि स्वय आनन्द। असल मे आनन्द शान्ति का नाम है। जैसे जल मे कोई लहर न हो, बिल्कुल ठहरा ठहरा हुआ हो तो उसको प्रसाद (अच्छी तरह ठहरा हुआ.) कहते है। उसमें प्रतिबिंब ठीक रूप धारण करता है। यहा तक, कि उस पानी का स्वरूप तक दीखता है। ऐसी दशा मे ठहरे हुए पानी को प्रसन्न कहते हैं। ठीक इसी प्रकार जिनकी आत्मा में किसी प्रकार की हलचल न हो तो वह आत्मा का प्रसाद है। उसमें सोचने विचारने का सामर्थ्य रहता है, जिसका विचार करता है उसके अन्त तक पहुचता है। ऐसी दशा मे उस आत्मा को प्रसन्न कहते है। इसी को शाति और आनन्द कहते है। जैसे जल का शात रहना स्वाभाविक धर्म्म है किन्तु हलचल होना बाहरी पदार्थ बायु इत्यादि का कारण होता है, वैसे ही इस आत्मा का भी प्रसन्न रहना अर्थात् शाति स्वाभाविक धर्म है किन्तु उसमें हलचल होना बाहरी अनात्मिक पदार्थों के सम्बन्ध से अज्ञानता के कारण होता है। जितनी ही अज्ञानता घटती जाय और ज्ञान की मात्रा बढाई जाय

उतनी ही आत्मा को शक्ति मिलती है, हलचल कम होकर शान्ति होती है। यही शान्ति वास्तव मे आनन्द का रूप है इसी से आत्मा आनन्दमय या आनन्द रूप है।

आनन्द जो आत्मा का प्रथम स्वरूप है, वह अपने स्थान पर कूटस्थ (अविचाली) रह कर चारो ओर फैलता हुआ जाता हुआ सा दीखता है। असली विम्ब से बाहर जितनी दूर फैला हुआ उसका प्रकाश दीखता है उस प्रकाश को उस विम्ब की 'चिती' कहते है। जैसे किसी चीज पर कोई दूसरी चीज़ एक के ऊपर एक करके बराबर चुनते जायँ तो वह चुनाव उसकी 'चिति' होगी। जैसे किसी दीवार की नीव पर ईंट या पत्थर रख कर चेजा करते हुए ईंटो से उसको चुनते जाते है जिस से वह दीवार अपनी जगह ठहरी हुई ऊपर २ बढती जा रही है। इसी प्रकार यह आनन्द अपने एक केन्द्र की नीव पर ठहरा हुआ चारो ओर बढ गया है वह बढ़ा हुआ भाग उस आनन्द की 'चिति' है। उस 'चिति' ही को चेतना कहते है।

हम देखते है कि सूर्य या दीपक जैसे एक स्थान पर रह कर चारो ओर अपना प्रकाश फैला रहा है इसी तरह यह मेरी आत्मा जो आनन्दरूप है, मेरे शरीर के केन्द्र मे अर्थात् हृदय में स्थिर रह कर शरीर से बाहर अनन्त आकाशमण्डल मे दूर २ तक पदार्थों को प्रकाश करता हुआ या पकडता हुआ फैला हुआ है। यह फैलाव इस आनन्द की 'चिति' या चेतना है। जिस प्रकार शरीर के सम्पूर्ण शोणितमण्डल मे यह फैला हुआ है, उसी प्रकार आख, कान आदि इन्द्रियो के द्वारा यह शरीर से बाहर भी उपरोक्त प्रकार से निकला हुआ रहता है, किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि इसके शरीर के बाहर इतने फैलने पर भी शरीर के भीतर कमी नही होती क्योकि इसकी जहा तक 'चिति' है वहा तक इसका वास्तविक स्वरूप है। सूर्य के समान जिस मध्यवाले बिम्ब को हमने आनन्द कहा है और प्रकाश के समान जिस बाहरी फैलाव को हमने चेतना कहा है यह दोनो भाग एक से एक अविनाभूत है। सदा मिलते हुए ही स्वरूप धारण करते हैं इसलिए मोटी दृष्टि से जुदे २ दीखने पर भी वास्तव मे इन दोनो को एक ही समझना चाहिए।

इस चेतना के सम्बन्ध मे यह और जानना चाहिए कि हमारे शरीर की आत्मा का यह चेतना-भाग जो बाहर निकल रहा है वह बाहर जिस वस्तु के साथ जितने अश मे सहयोग करता है उसी क्षण उसी प्रकार का ज्यो का त्यो बन जाता है। किन्तु स्मरण रहे कि उस वस्तु के पृष्ठ भाग या दूसरी ओर या भीतरी भाग को स्पर्श न करने से उस रूप मे नही बनता। उस वस्तु मे जो भारीपन इत्यादि कितने ही धर्म है, उनको भी नही धारण करता, केवल अपने सम्मुख भागवाले पृष्ठ को पकड़ कर उसी को दृश्य बनाता है, अर्थात् उसी रूप को धारण कर लेता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तु के साथ आत्मा का चेतना सयोग करता है वह वस्तु हमारे ज्ञान से पृथक् है।

किन्तु उसी के स्वरूप को हम अपने खयाल पर चढे हुए जो मान रहे है उसका यह अर्थ है कि वही चेतना उस रूप को पैदा करती है। उस आकार की एक नई वस्तु हमारी चेतना से उत्पन्न होती है। उत्पन्न होने को सस्कृत भाषा मे "विजायते" कहते है। उसी को बदलकर भेद दिखलाने के अभिप्राय से इस उत्पत्ति को 'विज्ञायते' कहते है। 'विजायते' का अर्थ जनना है और 'विज्ञायते' का अर्थ जानना है। 'विजायते' का धातु 'जन' है उसमे 'नकार' के पहले रहने वाले 'अकार को 'नकार' के पीछे लगाकर (ज+न+अ+आ = ज्ञा) 'ज्ञा' धातु बना लिया गया है इसी कारण इस वस्तु की उत्पत्ति को, जो चेतना से की गई है विज्ञान कहते है। 'चेतना का अर्थ आत्मा के प्रकाश का विस्तार है किन्तु विज्ञान का अर्थ उस चेतना मे किसी वस्तु का स्वरूप आ जाना है। यही उस वस्तु का जानना अर्थात् अपने ज्ञान से उस वस्तु का एक प्रकार की 'उत्पत्ति' है। इस से उस आनन्द के दूसरे स्वरूप के दो नाम सिद्ध हुए 'चेतना' और 'विज्ञान' (चेतना और विज्ञान एक ही है)।

आनन्द का जो दूसरा स्वरूप यह विज्ञान है, वह वास्तव मे जब तक शरीर के आभ्यन्तर रहता है तब तक निर्विषयक रहता है। अतएव उसमे किसी प्रकार का अन्य आकार अथवा उसके निज का भी कोई आकार प्रतीत नही होता और वह एक रस या एक रूप का रहता है। किन्तु वही विज्ञान इन्द्रियो के द्वारा बाहर आकर जब बाह्य जगत् मे किसी वस्तु के साथ संयोग करता है तो तत्काल ही उस वस्तु के रूप मे बदल जाता है। वह वस्तु जो हमारी आत्मा से बनी है हमे दीखती है। यह मानी हुई बात है कि जिस वस्तु के सयोग से हमारी आत्मा बदल कर साकार रूप मे आई है वह वस्तु हमारे लिए परोक्ष है अर्थात् उसको न कभी देखा था, न देखते है, न देखेंगे और न वह वस्तु हमारे ज्ञान मे आती है केवल उस वस्तु का चित्र ही ज्ञान मे खिच जाता है। यद्यपि यह चित्र मेरी आत्मा से बना है, इसके बनने मे मेरा विज्ञान ही खर्च हुआ है तथापि इस विज्ञान का यह माहात्म्य है कि इतना खर्च होने पर भी वह पूर्ववत् ज्यो का त्यो बना हुआ प्रतीत होता है और उस विज्ञान मे वह वस्तु अन्तर्गत प्रतीत होती है। इसी कारण से उस विज्ञान को अत्र हम दो खण्ड मे देखते है—द्रष्टा और दृश्य, अथवा विज्ञान और विज्ञेय। तात्पर्य यह है कि वह वस्तु जिस आधार पर ठहरी हुई हमे नजर आती है वह भाग विज्ञान है। वही द्रष्टा या मेरी आत्मा है। किन्तु जो वस्तु उस विज्ञान पर चढी हुई दीखती है वह विज्ञेय है। उसको हम विज्ञान से भिन्नरूप मे देख रहे है इसलिए उस रूप को विज्ञान न कह कर 'सत्ता' कहते है। जगत् मे जो प्रत्येक दृष्टि "है हैं" की प्रतीत होती है उसी को सत्ता कहते है। यह सत्ता विज्ञान के भीतर किसी प्रकार का आकार ही है इसलिए उसी आकार को 'सत्ता' कहना चाहिये। अब यह सिद्ध हुआ है कि एक ही विज्ञान के दो रूप होते हैं—एक निराकार और दूसरा साकार—एक निर्विकार और दूसरा सविकार—एक दिग्, देश, काल से अपरिच्छिन्न और दूसरा परिच्छिन्न। इनमें निराकार, निर्विकार अपरिच्छिन्न रूप को तो पहले के अनुसार विज्ञान ही कहते है किन्तु दूसरे साकार, सविकार और परिच्छिन्न रूप को 'सत्ता' कहते हैं।

इस प्रकार एक 'आभु' के ३ रूप सिद्ध हुए—आनन्द, विज्ञान और सत्ता। यह तीनो भिन्न दीखने पर भी वास्तव मे एक ही वस्तु है। यद्यपि 'सत्ता' परिच्छिन्न दीखती है किन्तु यह समष्टि, व्यष्टि का भेद है। व्यष्टि-दशा मे केवल सत्ता ही नही, विज्ञान और आनन्द भी खण्ड २ करके अनेक संख्या में पाये जाते हैं। जिनको जीव आत्मायें कहते है किन्तु इन ही तीनो की समष्टिदशा मे ये तीनो अनन्त और व्यापक रूप मे आ जाते है। उस दशा मे 'सत्ता' साकार होने पर भी निराकार और व्यापक प्रतीत होती है। उस समय उन तीनो का भेद समझना भी कठिन हो जाता है।

अभ्व

अब हम अभ्व के स्वरूपो का वर्णन करेंगे। जिस प्रकार आनन्द से विज्ञान और विज्ञान से सत्ता प्रतिपन्न हुआ है (समझ मे आया है) उसी प्रकार अब सत्ता से कर्म, रूप, नाम ये तीनो ही 'अभ्व' प्रतिपन्न होते हैं। जब हम अपने विज्ञान मे किसी सत्ता को पाते है और उसकी ओर खासकर दृष्टि डालते हैं तो वह सत्ता जो अखण्ड अनवयव होकर प्रतीत होती थी, उसमे तीन प्रकार के अन्य भाव पृथक्-पृथक् हमे प्रतीत होने लगते हैं—कर्म, रूप और नाम। मान लीजिए कि हम घट देख रहे हैं अर्थात् घट की सत्ता प्रतीत हो रही है तो उसमे यदि हम विशेष दृष्टि दें, तो सबसे प्रथम कुछ ऐसा आकार गृहीत होता है कि जिससे उस वस्तु की सीमा कायम होती है। और उस सीमा के अन्दर कुछ रग प्रतीत होता है कि जो उस सीमा के बाहर नही है। यही आकार और रग उस वस्तु का रूप कहलाता है। और वह किसी पृथ्वी भाग या आकाश के भाग को आवरण करता हुआ प्रतीत होता है। हमारे विज्ञान की किरणो को भी धक्का देकर आगे जाने से रोकता है और वापस लौटा कर अपने स्वरूप को किसी आत्मा के पहुंचाने का कारण बनता है। इसके अतिरिक्त उसके कितने ही और भी कर्म, जिनके लिए कि उस वस्तु का ससार में जन्म है, गृहीत होते है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु के ३ कर्म होते है अर्थात् उस वस्तु के ज्ञान होते वक्त उसके नाम का अभिनय किया जाता है अर्थात् उसका नाम मन मे आ जाना ही उस वस्तु के ज्ञान का स्वरूप बनता है। जिस प्रकार 'गाय' यह नाम सुनने से गाय का रूप मन मे चढ आता है। इस प्रकार गाय के रूप को देखते ही 'गाय' यह नाम मन के अन्दर विना बोले ही बुल जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक दृष्टि मे जो कुछ सत्ता प्रतीत होती है उसमे विशेष कर्म, विशेष रूप और विशेष नाम ही ज्ञान मे आते है। इन्ही तीनो के आने से किसी वस्तु की सत्ता ज्ञान मे आती है। इन्ही तीनो को अभ्व कहते हैं।

इस प्रकार ६ रूप सिद्ध हुये इनमे प्रथम के ३ अर्थात् आनन्द, विज्ञान और सत्ता इनको 'आभु' या द्रष्टा कहते है, यह सत् है, और दूसरे तीन अर्थात् कर्म, रूप और नाम इनको 'अभ्व' या दृश्य कहते हैं। ये 'असत्' है। यद्यपि इस प्रकार सत् असत् का भेद किया जाता है तथापि वास्तव

मे इन दोनो भावो को 'सत्' ही समझना चाहिए। क्योकि जो ज्ञात होता है वही—"है" और जो "है" वही ज्ञात होता है। और जो "है" और जो ज्ञात होता है वह "है" और "ज्ञान" इन दोनो का आश्रय होने से आनन्द कहलाता है। इस प्रकार सभी कर्म, रूप, नाम का जगत् "है" और "ज्ञात" होता है। इसलिए आनन्द रूप है।

किसी समय सब से प्रथम यह एक दर्शन प्रचलित हुआ था किन्तु इसी सद्–असद्–वाद पर विचार करते २ कितने ही समय पीछे इसमे दो मत हो गये। एक पक्ष यह था कि इनमे "सत्" ही मुख्य है "असत्" कोई वस्तु नही अर्थात् "आभु" जो द्रष्टा है, वही जगत् की आत्मा है और वही "मैं" (जीव) हूं इसी आत्मा से सत्ता के द्वारा तीनों "अभ्व" अर्थात् कर्म, रूप, नाम कल्पित हो गये है। वास्तव मे आनन्द, विज्ञान, सत्ता ये ही ३ तत्त्व है और ये ही तीनो मिलकर जगत् है—यह एक दर्शन हुआ।

दूसरे पक्षवाले कहने लगे कि कर्म, रूप, नाम, ये जो ३ 'अभ्व' कहलाते है वास्तव मे इन ही को तो हम चारो ओर देख रहे है। जिनको हम बार–बार सर्वत्र देखते हैं और जिस देखने को हम धोखा खाना नही मान सकते उनको न मानकर झूठा कायम करना सर्वथा अनुचित है। जो तीन 'आभु' के रूप कहे गये हैं, वे भी एक–एक प्रकार के रूप हैं। उनमे भी कर्म है, उनके भी नाम हैं। बस जबकि यह ३ तत्त्व मान लिए गए तो इनसे जुदा कह कर कोई भी वस्तु न कही जा सकती है और न खयाल ही में आ सकती है, क्योकि कहना नाम से और खयाल करना रूप से सम्बन्ध रखता है। 'आभु' तीनो को आप अवश्य किसी न किसी रूप में ही खयाल करते हैं। इसी लिये उनके कुछ नाम भी रख लिये हैं। फिर वे नाम, रूप से पृथक् कैसे हो सकते हैं। अब रहा यह कि ये तीनो अनित्य है तो रहे, यह कोई नियम नही है कि कोई नित्य ही पदार्थ बिना प्रमाण के भी मान लिया जाय। यदि प्रमाण से अनित्य ही पदार्थ सिद्ध होता है तो वही वास्तविक तत्त्व होगा। तात्पर्य यह है कि आत्मा कोई नित्य पदार्थ नही है। "मैं" भी अनित्य हू यह दूसरा दर्शन हुआ। इस प्रकार दो मत होने पर बहुत दिनो तक इन दोनो पक्षवालो मे विवाद और विरोध चलते रहे और सद्सद्वाद मे ही कई मतमतान्तर खड़े हो गये जो आगे दिखाये जायेंगे। नाना प्रकार के विरुद्ध मत होने पर किसी–किसी ने ऊब कर (ऊबता कर) संशयवाद कायम कर दिया। यही संशयवाद आगे दिखाया जाता है।

इति मूलोपनिषद् सदसद्–वाद का प्रत्ययाद्वैत के सम्बन्ध मे संशयोपनिषत्।

———❀———
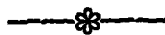
संशयोपनिषद्

[२]

स्याद्वादसूत्र ।।१।।

मूल उपनिषद् के पश्चात् सत् और असत् इन दोनो भावो को लेकर बहुत से मत इतने बढे कि उनमे से एक को भी निश्चयरूप से पकड कर किसी बात का सिद्धान्त करना कठिन हो गया । इसीलिए कितने ही आचार्यो ने उन सब विरुद्ध मतो को मान कर स्याद्वाद का स्थापन किया जिससे "सप्तभङ्गी" (सात टुकडे) नाम से एक 'नया' (कायदा) अर्थात् युक्तिविशेष जो कायम की, वह इस प्रकार है ।

१ स्यादस्ति, २ स्यान्नास्ति ३ स्यादस्तिनास्ति ४ स्यादवाच्यम् ५ स्यादस्ति अवाच्यम् ६ स्यान्नास्ति अवाच्यम्, ७ स्यादस्तिनास्ति अवाच्यम् । अर्थात्—

१–सम्भव है कि यह सब सत् ही सत् हो ।
२–सम्भव है कि यह सब असत् ही असत् हो ।
३–यह भी सम्भव है कि यह सब सत्–असत् दोनो हो ।
४–सम्भव है कि यह सब अनिर्वचनीय हो । अर्थात् किसी एक रूप में यह सब कहा न जा सकता हो ।
५–सम्भव है कि यह सब सत् होकर भी ठीक–ठीक कहा न जा सके ।
६–सम्भव है कि यह सब असत् होकर भी ठीक–ठीक कहा न जा सकता हो ।
७–यह भी सम्भव है कि यह सब सत् या असत् दोनो हों किन्तु ठीक–ठीक कहे न जा सकते हो ।

बस इस प्रकार निरुक्त और अनिरुक्त ये दो भेद नियत करके एक निरुक्त मे ३, और दूसरे अनिरुक्त मे ४ भेद मान कर ७ भेद स्थिर किये गये । तात्पर्य यह है कि सत् और असत् को लेकर जितने प्रकार के मत उस समय प्रचलित हुए थे, उन सब विरुद्ध मतो को सग्रह करके सब का सम्भव होना इस मत मे स्वीकार किया है—मानो एक प्रकार से सब विरोध का परिहार (मिटाना) किया गया किन्तु इससे यह सिद्ध हुआ कि इस जगत् के सब ही पदार्थ इस प्रकार छिपे हुए हैं कि इनका सूक्ष्म विचार करने पर भी इनकी असलियत न आज तक कभी किसी को ज्ञात हुई, न आगे कभी किसी को ज्ञात होगी, फिर इसके लिए सिर तोड परिश्रम करके विचार करना व्यर्थ है । जो जैसा कुछ तुम इसको समझ लो या मान लो, वह सब सम्भव है और सब तरह हो सकते हैं । बस यही इस मत का सिद्धान्त है । यह संशयवाद रूपी स्याद्वाद है । यह बहुत पुराने समय से चला आता है । जिसको भगवान् 'जिन' या जिनेन्द्र स्वामी ने स्वीकार करके उपदेश किया किन्तु बहुत काल पश्चात् 'उमास्वामि' आचार्य ने 'सूत्रजी' निर्माण करके एक प्रकार का दूसरा दर्शन प्रचार किया । जिसमे सम्पूर्ण जगत् के

पदार्थ एक निश्चित रूप प्रणाली पर मान लिये गये हैं जैसा कि—'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः'। अर्थात् सही-सही देखना, समझना और चलना मोक्ष का द्वार है।

"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् जीवाजीवाश्रवबन्धसम्वर निर्जरा मोक्षास्तत्वम्"
अर्थात् जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा और मोक्ष ये ७ तत्त्व हैं।

मूलाशुद्धिसूत्र ॥ २ ॥

जगत् की सृष्टि के सम्बन्ध मे मूलतत्व को ढूढने के लिए विचार करना सर्वथा व्यर्थ है। क्योंकि यह विषय मनुष्य बुद्धि के बाहर है। हम इस सम्बन्ध मे लोगो के अनेकानेक विरुद्ध विचार देख रहे हैं। भला क्या कहा जा सकता है कि इनमे कौन सत्य या मिथ्या है। जैसा इस जगत् का बीज किसी ने 'परमाणु' कहा है, किसी ने 'प्रत्यय' को माना है, कोई परमेश्वर की इच्छा से जगत् का होना बताता है। यह परमेश्वर भी किसी के विचार से जगत् के बाहर घड़े के अनुसार जगत् को बनाने वाला माना गया है। और किसी के विचार से इस सारे जगत् को ही परमेश्वर कहते हैं। और किसी के विचार मे इस जगत् के प्रत्येक विषय मे अन्दर घुसा हुआ परमेश्वर माना जाता है। भला कह सकते हैं, कि इनमे कौनसा विचार सत्य है? मेरे विचार से तो मैं दावे के साथ कह सकता हू उपरोक्त सब ही विचार वाले सन्देह मे पड़े हुये हैं। यह सब मत सन्दिग्ध है कोई विचार स्थिर नही किया जा सकता। यह केवल मेरी ही राय नही है किन्तु कितने ही प्राचीन महर्षियो ने भी नाना प्रकार के इन मतो को देखकर अपना असन्तोष प्रकट किया है। जैसा कि भगवान् विश्वकर्मा महर्षि और भगवान् परमेष्ठी प्रजापति ने उन सब मतो का उपहास करके सन्देहवाद स्थापन किया है। जैसा कि ऋग्वेद के १० वें मण्डल ८२ सूक्त मे विश्वकर्मा बहुवन ऋषि ने 'न तं विदाथ' इत्यादि मन्त्र कहा है। इसका अर्थ है कि तुमने उसको नही पहचाना है जिसने इस जगत् को पैदा किया, तुम लोगो की बुद्धि मे कुछ और ही बात समा रही है। इस सम्बन्ध मे जितनी बहस की जाती है, वे सब बर्फ से ढके हुए के सदृश हैं। इस जगत् के मूलतत्व ढूंढकर कहने वाले सब कुछ कहकर भी अपनी आत्मा मे पूर्णरूप से सन्तुष्ट न होकर ही फिरते हैं।

इन्ही विश्वकर्मा ने ऋग्वेद दशम मण्डल ८१ सूक्त मे 'किंस्विद्वनम्' इत्यादि मन्त्र कहा है। अर्थ यह है कि वह कौनसा वन है और उस वन का कौनसा वृक्ष है कि जिसको काट कर इतना बड़ा त्रैलोक्य बनाकर खडा किया गया है। हे विद्वान् लोगो इस बात को हल् करने के लिए मन ही मन आप लोग उससे पूछो, जो सम्पूर्ण विश्वमण्डल को थाम कर सब पर हावी होकर बैठा है।

इसी प्रकार 'परमेष्ठी प्रजापति' ने भी ऋग्वेद के दशम मण्डल १२९ सूक्त छठा और सातवा मन्त्र कहा है जिसका तात्पर्य यह है कि किसने साफ-साफ तौर पर समझा है, और किसने निःसन्देह होकर साफ-साफ इसका वर्णन किया है कि यह जगत् कहा से आया और कैसे इस प्रकार का बन गया। देवतागण जगत् को भीतरी चीज हैं। पीछे उत्पन्न हुए हैं। यह इस सृष्टि के पैदा करने मे असमर्थ हैं। कौन जानता है कि कहा से, कैसे, यह कहा तक फैला हुआ है। तात्पर्य यह है कि लाग

विचार करने पर भी इसका मूलतत्त्व सर्वथा अज्ञेय और अनिर्वचनीय है। (६) यह जगत् जिस मूलतत्त्व का बना हुआ है वह ऐसी कोई निराली चीज है या नही इस बात को वही जानता है जो इस विशाल आकाश में बैठा हुआ कोई ससार का मालिक है। अथवा यो समझो कि वह भी शायद ही जानता हो। (७) इस प्रकार महा बुद्धिशाली महाविद्वानो की भी. यही राय पाई जाती है कि इस ससार का मूलतत्त्व अभी तक शुद्ध नही हुआ अर्थात् स्पप्ट रूप से जाना नही गया और न जाना जा सकता है।

तूलाशुद्धिसूत्र ॥ ३ ॥

अनेक दार्शनिक लोगो ने इस जगत् के सम्बन्ध मे खूब सोच-सोच कर जितने सिद्धान्त स्थापित किये हैं, उनमे से किसी को भी हम सत्य नही कह सकते हैं क्योकि उनमे किसी का मत भी ऐसा नही है कि जिस पर विरुद्ध दलील खडी न की जा सके। जैसा कि समझो—मैं जगत् को देख रहा हूं उस मेरे देखने मे द्रप्टा और दृश्य दोनो जुदे २ प्रतीत होते हैं। उनमे दृश्य के देखने का मूल कारण केवल दृप्टा है। यदि हम दृप्टा के भाग को निकाल कर अलग कर दें तो कहो कि वह दृश्य क्या कुछ भी दीख सकता है ? कभी नही। इससे सिद्ध हुआ कि वह दृश्य द्रष्टा से जुदा वस्तु नही है। अथवा वह दृश्य सर्वथा नही है। मेरे ज्ञान ने ही दृश्य का रूप बनाया है। दूसरा यह है कि जिस दृश्य को मैं देखता हूँ वह मेरे ज्ञान का रूप है किन्तु उस रूप के बनने का का कारण, उससे अतिरिक्त कोई दृश्य वस्तु है। अथवा जो कुछ हमें ·प्रत्यक्ष होता है, वही वास्तव में दृश्य है। इन बातो पर खूब विचार करने पर भी क्या कोई निर्धारण करके कह सकता है कि वास्तव में दृश्य क्या है। जब यह नही कहा जा सकता तो उस दृश्य के लिए विचार करना व्यर्थ है इसलिए उसको अब द्रप्टा जो आख से देखता है, नाक से सूघता है, कान से सुनता है, जीभ से चखता है, त्वचा से स्पर्श करता है, इन सब ज्ञानो में द्रप्टा के द्वारा दूसरे पदार्थ दीखते हैं, किन्तु उस द्रप्टा को जिस पर कोई इन्द्रिया नही जा सकती, न द्रप्टा ही आप अपने ऊपर जा सकता है, ऐसी सूरत में उस द्रप्टा का वास्तविक रूप क्या है, क्या कभी किसी ने जाना ? क्या कोई जान सकता है ? कभी नही। जब कभी हमने द्रप्टा को देखा है तो बाहर वाले किसी रूप में बदले हुए को ही देखा है किन्तु उस बाह्य-रूप को अलग करके द्रप्टा का असली रूप क्या है, कभी कुछ ज्ञात नही होता और जबकि आंख, कान आदि इन्द्रियो की सहायता न हो अर्थात् यह इन्द्रिया बाहर के पदार्थो से यदि स्पर्श न करें, तो यह द्रप्टा कभी किसी वस्तु को देख ही नहीं सकता। इस प्रकार द्रप्टा जब इन्द्रियो के साथ बाह्य किसी दृश्य पदार्थ से योग करता है तब इन तीनो के मिलने से उस ही समय एक नयी वस्तु बनती है जिसको कि हम देखना कहते हैं। वह सहयोग से बना हुआ पदार्थ सत्य नही हो सकता किन्तु जिनके संयोग से वह रूप बन गया है वह द्रप्टा, दृश्य व इन्द्रिय कोई भी अपने असली रूप में कैसा है सो जाना नही जा सकता।

द्रप्टा है इसलिए दृश्य का रूप उसके भीतर भासता है। उस दृश्य की 'सत्ता' द्रप्टा से कभी जुदा नही हो सकती। अथवा इससे उलटा समझो कि जब द्रप्टा कभी दृश्य के रूप मे बदलता है। तब

ही हम द्रष्टा को भी पाते हैं, इसलिए द्रष्टा भी एक प्रकार का दृश्य ही है। दृश्य से अलग करके द्रष्टा की कोई सत्ता नहीं।

अथवा द्रष्टा प्रत्यक्ष को ही समझना चाहिए। यह प्रत्यक्ष ३ प्रकार का है—सामान्य, बाह्य और आन्तर। बाह्य इन्द्रियो से जो देखना-सुनना आदि ज्ञान होता है, वह बाह्य इन्द्रियो के द्वारा होने के कारण बाह्य प्रत्यय है। किन्तु मन ही मन विचार करता हुआ जब किसी बाह्य इन्द्रियो की सहायता नही लेता है उसका मानसिक विचार अथवा सुख-दु:ख आदि ज्ञान,—यह सब आन्तर प्रत्यय है। इन दोनो मे बाह्य इन्द्रियो और मन का सयोग है। किन्तु इन्ही दोनो प्रत्ययो में बाह्य इन्द्रिय का और मन का जितना भाग है उसको जुदा करके उनसे अलग एक तीसरे भी ज्ञान का भान प्रतीत होता है। जो देखना, सुनना या मन से समझना सब में एक रूप दीखता है, वही सामान्य प्रत्यय है। इनमें वह सामान्य प्रत्यय जितना मन के संयोग से आन्तर प्रत्यय पैदा करता है अथवा बाह्य इन्द्रिय के सयोग से जितना बाह्य प्रत्यय पैदा करता है, यह दोनो प्रत्यय मन और इन्द्रिय के सयोग से उसी समय नये बन गये हैं। ये वास्तव में कोई तत्त्व नही हो सकते। तात्त्विक न होने से उनका ज्ञान सत्य नही है। अब रहा सामान्य प्रत्यय, सो इन दोनो प्रत्ययो अर्थात् बाह्य और आन्तर प्रत्यय इन दोनो के बिना मिलाये कही कभी दीखता ही नही।

तात्पर्य यह है कि जो तत्त्व है, उसका ज्ञान किसी को न कभी हुआ न होगा। और जो ज्ञान हम सब को सदा होते रहते है, वे उसी समय के बने हुए अतात्त्विक है। इसीलिए मिथ्या है। ऐसी सूरत मे कोई ज्ञान सत्य नही।

४—दोषमूल का प्रामाण्यखण्डनसूत्र

प्रत्यक्ष के अप्रमाण सम्बन्ध मे प्रत्यक्ष को सर्वथा अप्रमाण ही मानते हुए कितने ही दार्शनिको ने इस प्रकार की व्यवस्था रची है कि—आंख अपने स्वभाव से जहां जो कुछ देखती हैं वह सब यथार्थ है, सत्य है, और प्रामाणिक है। किन्तु आंख और वस्तु के मध्य मे यदि कोई दोष आजावे तो उस दोष के कारण उस ज्ञान को अप्रमाण कह सकते हैं, किन्तु दोष के सयोग से अप्रमाण होने पर भी यह दृष्टि सर्वथा अप्रमाण नही मानी जाती। हरे काच के संयोग से सूर्य का प्रकाश हरा दीखने पर भी सूर्य का प्रकाश सर्वथा हरा ही नहीं माना जा सकता इत्यादि इत्यादि। किन्तु इस आक्षेप पर यह कहा जा सकता है कि जहा आप दृष्टि के साथ किसी दोष का सयोग समझते है, अथवा जहा पर बिना दोष के शुद्ध दृष्टि समझते हैं—इन दोनो स्थानो मे आँख से किसी विषय का देखना बराबर हैं, फिर उसमे दोष का अदोष की व्यवस्था करना सर्वथा असगत है। जबकि दृष्टि से कोई वस्तु दीखती है तो वहा किसी दोष को दोष कहकर तिरस्कार करना अनुचित है, अथवा जहा विशुद्ध दृष्टि समझते हैं वहा भी क्या किसी दोष का होना सम्भव नही है। हम कह सकते है यदि हमारी दृष्टि और किसी प्रकार की बनी होती तो हम इन सब वस्तुओ को दूसरे प्रकार से देखते हुए विचार से जानते, जैसे कि जल के प्रत्येक परमाणु गोल होते है, इसलिए जल का धरातल उच्चावच होना चाहिए किन्तु हमारी दृष्टि जल की सतह को समधरातल देखती है। अतः इस आख को हमेशा के लिए क्यों न दोष-

युक्त मानी जाय। यदि यह दृष्टि निर्दोष होती तो अवश्य ही जल के दाने-दाने पृथक् दिखाई देते। ऐसी स्थिति में जबकि सभी प्राप्त दोषयुक्त ही है तो कही सदोष या निर्दोष की पृथक् व्यवस्था करना मिथ्या है अथवा जहा आप दोष मानते हैं वहा उस दोष को दोष मानने के लिए भी कोई प्रमाण आपके पास नही है। यदि बुखार मे चीनी कड़वी लगे और इसको आप दोषयुक्त मानें तो यह आपकी भूल है। यह रसना इन्द्रिय चीनी का मिठास बनाती हुई जिस प्रकार प्रमाणभूत है उसी प्रकार कडवा बताती हुई भी कडवा बताने के लिए प्रमाणस्वरूप होगी। यदि यह प्रमाण नही है तो कडुवे के ज्ञान का विश्वास भी आपको नही होना चाहिए। और उसके द्वारा रोग समझ कर उसके हटाने का उद्योग नही करना चाहिए। जब आप कडवेपन पर विश्वास करते हैं तो अवश्य ही वह रसना आपकी प्रमाण है—इसलिये दोष वाली इन्द्रियो को प्रमाण मानना आपका सर्वथा असत्य है। अथवा जिस प्रकार आप चीनी को कड़वी समझने के लिए रसनेन्द्रिय मे कोई दोष मानते हैं उसी प्रकार चीनी को मीठी समझने के लिए उसी रसना मे कोई दोष हम मान सकते है। सम्भव है कि यह दोष सम्पूर्ण जगत् की रसना मे साधारण रीति से आगया हो; जिससे बिना मीठे, चीनी को मीठी बनाकर दिखाता हो। इसी प्रकार सफेद शख को, पीला दिखाने वाले पीलिया रोग मे भी समझना चाहिए। मानना चाहिए कि यह पीलिये की बीमारी यदि साधारण रीति से सभी प्राणियो की आँखो मे होती तो पीला देखते हुए भी आप इसको कभी दोष नही कहते। इसलिए कही दोष मानना, कही न मानना यह आपकी इच्छा पर निर्भर है। उसके द्वारा किसी इन्द्रिय का प्रमाण होना न होना सर्वथा असम्भव है।

इसके अतिरिक्त हम यह भी कहते हैं कि इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रमाण मानने वाले दार्शनिक भी निरिन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रमाण नही मानते हैं। क्योंकि कितने ही दार्शनिको ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि प्रत्यक्ष होते समय चार व्यापार होते हैं—अवग्रह, ईहा, अवगम और धारणा। अर्थात् सबसे पहले इन्द्रिय का वस्तु के साथ साधारण सयोग होता है अर्थात् इन्द्रिय के मैदान की हद मे वह वस्तु आ जाती है। इससे जो सयोग होता है उसको अवग्रह कहते हैं। इसके अनन्तर यह क्या झलक पडी, यह क्या वस्तु है—इस बात को जानने के लिये उत्सुक होकर मन अपनी चेष्टा करने लगता है और कितनी ही वस्तुओ का वहा सन्देह उठाकर—किसी अग का छोडना, किसी अंग का उसमे मिलाना इत्यादि—आवाप (मिलाना) उद्वाप (हटाना) करता हुआ औरो को छोड़कर किसी एक वस्तु पर स्थिर हो जाता है—इस प्रकार वस्तु की परीक्षा करना मन की ईहा कहलाती है। जिस प्रकार अवग्रह से इन्द्रिय ने कुछ रग रूप देख कर मन को निवेदन किया था उसी प्रकार मन अपनी ईहा से कुछ वस्तु स्थिर करके आत्मा को निवेदन करता है। आत्मा उस वस्तु को मन के अनुसार स्वीकार करता है। इसी को अवगम कहते हैं। अवगम होने पर आत्मा उस वस्तु के रूप को चिरकाल के लिए अपने मे धारण करता है, जिसके द्वारा समय-समय पर स्मरण होता रहता है। इसी को धारणा कहते है। इस प्रकार ज्ञान के चार काण्ड है। जिनमे प्रथम इन्द्रिय से, दूसरा मन से और तीसरा आत्मा से होकर तीसरे दर्जे मे ज्ञान का स्वरूप पूर्ण हो जाता है और वही प्रमाण है। ऐसी स्थिति मे ईहा जो मन की चेष्टा है उसमे पहले ज्ञान का स्वरूप ही पूर्ण नहीं बना फिर वह प्रमाण क्यो कर हो सकता है। अलबत्ता मन

ने ईहा करके जो वस्तु स्थिर करली है उसी को आत्मा स्वीकार करती है। इसीलिये इन्द्रिय को प्रमाण न मान कर मन के विवेक की ही आप भी प्रमाण मानते है और सब को भी वैसा ही मानना चाहिये। चाहे इन्द्रियजन्य ज्ञान हो या विना इन्द्रिय के कोई ज्ञान हो। सभी मे मन की चेष्टा आवश्यक है, मन ने विचार कर जो जैसा कहा वही यथार्थ है, सत्य है और प्रमाणिक है।

५ मनःप्रामाण्यखण्डनसूत्र

उपर्युक्त रीति से मन को प्रमाण कहा गया है, किन्तु हम देखते है कि यथार्थ मे मन भी प्रमाण नही हो सकता क्योकि यह मन ही वहुधा मिथ्याविज्ञान उत्पन्न करता है। हम देखते हैं कि किसी वस्तु को कोई मनुष्य अपने मन से अच्छी या बुरी समझता है उसी वस्तु को दूसरा मनुष्य अपने मन से दूसरे प्रकार से देखता है। एक ही वस्तु अच्छी होकर एक ही काल मे बुरी नही हो सकती अतः इन दोनो प्रकार के मन मे एक मन अवश्य मिथ्या है। जबकि एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न भावो से भिन्न प्रकार का मन प्रत्यक्ष कराता है तो उसमे सत्यता नही मानी जा सकती। एक मन किसी बात को सत्य कह कर देखता है और उसी वस्तु को दूसरा मन मिथ्या सिद्ध करता है। जिस मन के विवेक को आपने प्रमाण माना है, उसी विवेक का यह काम है कि कोई दार्शनिक इस जगत् को पूर्ण विचार करके सच्चा कह रहा है तो दूसरे दार्शनिक अनेकानेक युक्तियो से विचार करके उसी जगत् को असत् अर्थात् मिथ्या कह रहे हैं। जिस आचार-विचार को एक समाज अच्छा समझ कर उसका आदर करता है और नित्य ही उसका आचरण करता है उसी आचार-विचार को दूसरा मनुष्य समाज वडी घृणा दृष्टि से देखता है और निन्दा करता है। कहा तक इस मन के विवेक की यह महिमा है, दार्शनिको के विचार मे नाना मत-मतान्तर प्रचलित है, उपासना मे भी कई मतभेद है, इन सब मे किसका मत सत्य है और किसका मिथ्या यह निर्णय करना कठिन है। अथवा परस्पर प्रत्याघात और प्रतिद्वन्द्विता से सभी मिथ्या कहे जा सकते हैं। यह तो हुई भिन्न पुरुषो के मन की कथा। किन्तु हम एक ही मनुष्य के एक ही मन मे देखते है कि वह किसी काम को कभी अच्छा या कभी बुरा समझता है। कभी किसी काम के लिये सकल्प-विकल्प करके विरुद्ध दो भाव खडा करता है तो ऐसी दशा मे सब ही मन को एक रूप से प्रमाण कैसे माना जा सकता है और जब मन के ऊपर पूरा विश्वास नही रहा तो अब इस जगत् के प्रत्येक भाव को जैसा कुछ जिस प्रकार हम देखते हैं, वह विल्कुल सब वैसा ही है यह निर्धारण करना अत्यन्त कठिन हो गया है, इसीलिये हम कह सकते है कि ससार का सब ज्ञान या ज्ञान के सभी पदार्थ सशयरूप मे हैं।

६—आत्माप्रामाण्यखण्डनसूत्र

अब यहा पर तीन प्रश्न उठते है। प्रथम यह है कि—उपर्युक्त प्रकार से अन्यान्य प्रमाण, प्रत्यक्ष प्रमाण और मन के विवेक का प्रामाण्य भी खडित हो जाने से आपके कथनानुसार माना कि ये सम्पूर्ण जगत् के भाव सदेहमय हैं। इनमे कोई कुछ भी निश्चित रूप से यथार्थ जाना नही जा सकता। किन्तु इन्ही कारणो से यह निश्चित रूप से ही जान लिया गया है कि सब कुछ सदेह से भरा हुआ है। इन सब सदेहो के होने का जो आपका ज्ञान है वह अवश्य निश्चित है। उसमे अब आपको किसी प्रकार का सदेह बाकी

नहीं रह गया। एक यही निश्चय ऐसा है कि जिससे आपके सम्पूर्ण संशयवाद की इमारत ढक जाती है। माना कि यह सम्पूर्ण जगत् सन्दिग्ध है किन्तु इस प्रकार परीक्षा करके सब को सन्दिग्ध निर्धारण करने वाली कोई मेरी आत्मा ऐसी बलवान् सत्य वस्तु है, जो बिना प्रमाण ही अपने आप को सत्यरूप से प्रकाश करती हुई अपने से अतिरिक्त संपूर्ण जगत् को सन्दिग्ध रूप मे हम को दिखा रही है।

दूसरा प्रश्न यह है कि—हम आप ही से पूछते हैं कि—आपने जब सब प्रमाणो का खण्डन कर दिया तो ऐसी स्थिति मे यह सम्पूर्ण जगत् संदिग्ध है यही ज्ञान आपको किस प्रमाण से हुआ, या आपका यह ज्ञान सत्य है या नही इसमे क्या प्रमाण है।

तीसरा प्रश्न यह है कि—यहा पर आप अवश्य यही उत्तर देंगे कि बिना प्रमाण ही मेरी अन्तरात्मा इस बात की साक्षी है कि यह सब जगत् संदिग्ध है तो उस पर हम अवश्य कहेंगे कि आप अपनी उस आत्मा को अवश्य प्रमाण मानते हैं कि जिसके साक्षी होने से सम्पूर्ण जगत् की सन्दिग्धता मे विश्वास करते है और उसको सत्य मानते हैं तो इससे सिद्ध हुआ कि यह आत्मा जो मन से भी परे है महाप्रमाण है। यही आपके पक्ष पर बड़ा आक्षेप है।

इस प्रश्न पर संशयवादियो की ओर से यह कहा जा सकता है कि मेरी आत्मा का मुझको निश्चित हैं इसी प्रकार अन्यान्य व्यक्तियो को भी अपनी-अपनी आत्मा का निश्चित है किन्तु उस पर यह बड़ा भारी संदेह उठता है कि यह हमारा निश्चय ही सत्य है। जिस निश्चय के द्वारा मेरी आत्मा के ज्ञान से तुम या अन्यान्य व्यक्ति सब भासित हो रहे है। अथवा तुम्हारे या अन्य किसी व्यक्ति के ज्ञान से हम भासित हो रहे है। क्योकि आत्मा मानने वाला यही कहता है कि एक आत्मा ही सत्य है और सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है वह सब आत्मा से ही भास रहा है।

आत्मा के ज्ञान से अतिरिक्त वास्तव मे वे सब पदार्थ पृथक् कुछ नही है तो अब कहिये कि तुम या अन्यान्य व्यक्ति जिनको मैं देखता हूँ, जिनसे बात कर रहा हूँ यह सभी मेरे ज्ञान की बनावट है। वास्तव मे न तो तुम कुछ हो, न अन्य कोई व्यक्ति है, न उनके किसी प्रकार के व्यवहार ही सत्य है—इस प्रकार हम समझते हैं। और हमारी आत्मा यदि प्रमाण है तो यही सत्य भी है, किन्तु सोचो कि ठीक इसी प्रकार जैसा कि मैं समझता हूँ तुम भी समझते होगे। अब सिद्ध यह हुआ कि हमारी आत्मा सच्ची, हमारा ज्ञान सच्चा और हमारे ज्ञान के बने हुए तुम सब अन्यान्य जगत् के पदार्थ के अनुसार झूठे अथवा इसके विरुद्ध तुम्हारी आत्मा सच्ची, तुम्हारा ज्ञान सच्चा और हम तुम्हारे ज्ञान के बने हुए है, वास्तव मे हैं झूठे। यह बड़े प्रबल सन्देह के दो पक्ष उठते है जिनका निर्धारण करना न तुम्हारी आत्मा के आधीन हैं, न हमारी आत्मा के। यह जाना ही नही जा सकता कि हमारे ज्ञान से तुम बने हुए हो या तुम्हारे ज्ञान से हम। बस, इस प्रकार आत्मा मे संदेह है। इसलिये कोई भी आत्मा प्रमाण नही।

आत्मा मे एक और यह संदेह है कि मैं हूँ—इसलिये मेरा ज्ञान है; अर्थात् मुझमे से सूर्य के प्रकाश के समान एक प्रकार का प्रकाश निकलता है उसी को मेरा ज्ञान कहते है। और उसी ज्ञान के

कारण यह जगत् भासता हुआ नजर आता है, यह एक बात हुई। दूसरा पक्ष यह है कि—इस जगत् का जो ज्ञान हो रहा है अर्थात् कुछ जाना जा रहा है उसी जानने से मै अपने आप को भी जानता हूँ। इसीलिये मैं भी कोई वस्तु हूँ। साराश यह है कि मैं हूँ इसलिये यह ज्ञान है, अथवा यह ज्ञान है जिसमे मैं हू—इस सदेह का निर्धारण किसी प्रमाण से नही हो सकता जबकि दोनो पक्षो मे से कोई भी पक्ष स्थिर नही होता तो सिद्ध हो गया कि मैं हू, न ज्ञान है और न ज्ञान का विषय ही है।

अथवा इस आत्मा मे यह भी सदेह हो सकता है कि अभी तक जो युक्तिया दी जा चुकी है, उनसे यही सिद्ध हुआ कि आत्मा ज्ञानरूप है। ज्ञान का तात्पर्य यहा प्रत्यय से है। प्रत्यय उस ज्ञान को कहते हैं कि जिसमे तीन टुकडे जुडे हुऐ हो। अर्थात् जानने वाला, जानने की चीज और जानना। वही प्रत्यय मैं हूँ। क्योकि मै जानने वाला हूँ और यही प्रत्यय यह जगत् है। क्योकि वह जानने की चीज है और वही प्रत्यय यह जानना है कि जिसके द्वारा मैं और जगत् ये दोनो आपस मे जुडे हैं। यह आत्मा के सम्बन्ध मे एक पक्ष हुआ। इसके विरूद्ध दूसरा पक्ष यह उठता है कि ज्ञाता(१) ज्ञान (२) और ज्ञेय (३) ये तीनो मिलकर जो एकरूप बना है वह आत्मा है, यह बात नही, किन्तु यह तीनो ही अलग २ अलग चीज हैं। इनमे ज्ञाता को ही आत्मा कहते हैं। किन्तु ज्ञान और ज्ञेय इस आत्मा से पृथक् चीज हैं क्योकि मूर्छा की अवस्था मे ज्ञान और ज्ञेय नष्ट हो जाते है, लेकिन आत्मा बनी रहती है यदि ये तीनो मिलकर आत्मा का स्वरूप होता तो मूर्छा मे भी आत्मा की सत्ता रहने के कारण ज्ञान और ज्ञेय की सत्ता भी नष्ट नही होती। यह दूसरा पक्ष है।

तीसरा पक्ष यह है कि ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय ये तीनो जो तुम्हारे प्रत्ययज्ञान मे भासते हैं उस ज्ञेय से सर्वथा भिन्न एक और परोक्ष ज्ञेय है, जिसके अधीन तुम्हारे प्रत्यय का ज्ञेय और ज्ञान है। किन्तु वह ज्ञेय तुम्हारी आत्मा के अधीन नही है।

चौथा पक्ष यह है कि मेरा ज्ञान विना विजय को पकडे हुए कुछ-भासता ही नही है, अपनी सत्ता को धारण ही नही करता। किन्तु विषय को पकड कर उसी के रूप मे भासता है और इसी प्रकार वह विषय भी जब ज्ञान पर चढता है तभी उसकी सत्ता या स्वरूप कायम होता है। यदि ज्ञान की मात्रा पृथक करदी जाय तो उस विपय का न स्वरूप ही रहेगा और न सत्ता ही रहेगी। इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञान और ज्ञेय ये दोनो ही पृथक् रहकर कुछ अपना स्वरूप ही नही रखते। यदि रखते भी हो तो हमारे ज्ञान के बाहर होने से उन पर हमारा सामर्थ्य नही है। ऐसी स्थिति मे हम अपने ज्ञान और ज्ञेय को जो पृथक् २ दो चीज मानते है वही मेरा ज्ञेय है और वही मेरा ज्ञान है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान और ज्ञेय ये दोनो भिन्न वस्तु नही है। यह चौथा पक्ष हुआ है।

इस प्रकार इस आत्मा के जो जो रूप दार्शनिको ने स्थिर किये है, उनके एक-एक अश का यदि हम विचार करने लगे तो प्रत्येक अश मे अनेकानेक सशय उपस्थित होते हैं जिनका लाखो प्रयत्न करने पर भी यथार्थ रूप से निर्धारण करना असभव है।

---

१ जानने वाला, २ जाना जाना, ३ जिसको जाना जाय।

आत्मप्रामाण्यखण्डनसारांश

जब संदेह ही संदेह है तो संदेह निश्चित हो चुका और इस निश्चित होने से संदेहवाद की जड़ कट गई। क्योंकि जब संदेहवाद में संदेह नहीं रहा तो संदेहवाद ही कहां रहा और यदि संदेहवाद में भी संदेह रक्खा जाय तो जिनमें संदेह किया गया है उनके संदेह में संदेह हो गया अर्थात् वे निश्चित ठहर गये और संदेहवाद बिल्कुल उठ गया।

९—सत्यज्ञानाशक्यतासूत्र

उपर्युक्त सारे प्रमाणवाद का सारांश यह है कि सभी प्रमाण अप्रमाण हैं। क्योंकि किसी भी प्रमाण के प्रमाण होने मे कोई दूसरा प्रमाण दिया नहीं जा सकता। जबकि इस तरह प्रमाण सभी अप्रमाण हैं तो वे सत्य नहीं माने जा सकते और जो असत्य है उसके द्वारा सत्य की खोज करने पर भी सत्य वस्तु नही मिल सकती, तो ऐसी स्थिति मे अब सत्य वस्तु को प्राप्त करने के लिये कोई भी उपाय दृष्टिगत नहीं होता और बिना उपाय के किसी उद्देश्य की सिद्धि हो ही नही सकती। अतः जो बात मनुष्य की शक्ति के बाहर है उसकी परीक्षा के लिये श्रम उठाना सर्वथा व्यर्थ है; इसलिये उचित है कि इस विषय मे चुप रहे।

१०—जीवखण्डनसूत्र

कितने ही दार्शनिको का यह विश्वास हो गया है कि इस शरीर मे शरीर से सर्वथा पृथक् वस्तु एक आत्मा है जो कि इस शरीर के स्थूल भाग और सूक्ष्म भाग इन दोनों से अतिरिक्त एक अलौकिक रूप मे है जिसका वास्तविक स्वरूप मनुष्य की बुद्धि मे नही आ सकता। यह आत्मा जिसको जीव कहते हैं वस्त्र बदलने के अनुसार इस शरीर को बदला करता है। पुराने शरीर को छोड कर नवीन शरीर धारण करता है। इसमे भी दो मत हैं। एक दल का कहना है कि इस शरीर को छोड़ते ही उसी क्षण दूसरे शरीर मे प्रवेश करता है अर्थात् मरने के अनन्तर ही जन्म ले लेता है। क्योंकि बिना शरीर के यह जीव क्षण भर भी पृथक् नही रह सकता। दूसरे दल का यह मत है कि मरने या शरीर छोडने के पश्चात् यह जीव अपने कर्मानुसार कुछ काल के लिये ऐसी जगह जाता है, जहा इसको कुछ काल सुख या दुःख भोगना पड़ता है। पश्चात् उस स्थान से लौट कर फिर पृथ्वी मे जन्म लेना पडता है—इत्यादि—इत्यादि। किन्तु इस पर मेरा कहना यह है कि यह सब कल्पनामात्र है, निरी गप्प है। क्योंकि इन सब बातो मे प्रमाण दिया नही जा सकता। वास्तव में सही बात यह है कि इस शरीर की बनावट एक अद्भुत ढंग पर है। इसके अन्तर्गत अत्यन्त सूक्ष्म कोई भाग है, जिससे धीरे-धीरे स्थूल भाग बनता रहता है। स्थूल भाग को हम देखते हैं, किन्तु सूक्ष्म भाग उसकी क्रिया से पाया जाता है। इनमें जो सूक्ष्म भाग है उसी को जीव-आत्मा कहते हैं। और वही जीव इस बहिरंग शरीर का अन्तरंग भाग है और इसी शरीर के साथ पैदा होता है और इसी स्थूल के अनुसार वह सूक्ष्म भी बदलता बिगडता रहता है। तथा इस-शरीर के साथ ही नष्ट भी हो जाता है। मरने के बाद यह आत्मा पृथ्वी से बाहर किसी दूसरे लोक मे कुछ काल के लिये जाती है और वहा सुख-दुःख भोगती है, यह सब धोखे की बात है,

भूल है और बच्चो की कहानी है। इसीलिये इस शरीर को छोडकर दूसरे शरीर मे जन्म लेना भी झूठी बात है, इसमे कुछ तत्व नही है।

११–(क) (आनन्द) खण्डनसूत्र

नीच मनुष्य से लेकर विशिष्ट विद्वानो तक बडे बडे यत्न करके भी आज तक जिसको किसी ने भी नही देखा है, न कभी देखने की आशा है, ऐसे एक मिथ्या पदार्थ की कल्पना करके कितने ही भोले-भाले मनुष्य उसके लिए नाना प्रकार के उपासनाकर्म व्यर्थ करते हमे दिखाई देते है। उन लोगो का विश्वास है कि वह परमेश्वर सच्चिदानन्दरूप है। अर्थात् सत् याने सत्य जो तीनो काल मे रहने वाला हो, कभी नष्ट न हो और चित् अर्थात् चेतन याने ज्ञानमूर्ति हो, सर्वज्ञ हो और आनन्द अर्थात् दु ख रहित हो, इत्यादि इत्यादि।

इस पर मेरा यह कहना है कि वह परमेश्वर कभी आनन्दरूप नही हो सकता। क्योकि ऐसी सूरत मे उसको अकाम होना चाहिये। अर्थात् उसमे किसी प्रकार की कामना व इच्छा नही हो सकती। कामनावाले को जब तक वह कामना पूरी नही होती तब तक एक प्रकार का दु ख रहता है। उसी दुःख को दूर करने के लिए प्रत्येक प्राणी भरपूर यत्न करता है। कामना पूरी होने पर दुःख मिटने से सुख मिलता है। यह एक साधारण नियम है।' यदि इसी प्रकार ईश्वर भी कुछ कामना रखता होगा तो वह अवश्य दु खी होगा। किन्तु यदि वह आनन्दघन है अर्थात् उसमे दुःख नही है तो अवश्य यह कहना होगा कि उसमे किसी प्रकार की कामना भी नही है। अब यदि उसको निष्काम मान लेते हैं तो वह इस जगत् का कर्त्ता, विधाता हो ही नही सकता क्योकि वह किस काम के लिये इतने विशाल जगत् को रचेगा, और क्यो रक्षा करेगा तथा सहार करेगा। यद्यपि इस प्रश्न का उत्तर कृष्णद्वैपायन ने यो दिया है कि– "लोकंवत्तु लीलाकैवल्यम्" अर्थात् किसी प्रकार की कामना न रहने पर भी साधारण लोक व्यवहार के अनुसार यह परमेश्वर की भी केवल लीलामात्र है। परन्तु इस प्रकार का उत्तर ईश्वर के लिये ठीक नही जचता। यह एक विडम्बना मात्र है, या प्रतारण (धोखा देना) है। क्योकि इतना बडा ईश्वर जिसने इस अगाध और विशाल विश्वमण्डल को बनाया है, क्या साधारण मनुष्य के अनुसार वह लीला या व्यर्थ काम कर सकता है। कभी नही। हम देखते है कि लोक मे यह लीला दो ही अभिप्राय से की जाती है। या तो चित्तविनोद के लिये अथवा जलताडन के अनुसार व्यर्थ होती है। इनमे चित्तविनोद के लिये वही करता है, जिसके चित्त मे कुछ व्याकुलता या उदासीनता हो। वह अपनी विफलता को दूर करने के लिये कुछ ऐसा काम करता है कि जिसमे मन लग जाय यदि इस प्रकार ईश्वर की रचना जगत् है तो अवश्य कहना होगा कि इस रचना से पूर्व उनके चित्त मे किसी प्रकार की उदासीनता या खिन्नता थी, जिसको मिटाने के लिये जगत्- रचना का खेल किया गया और इसके से उनकी आत्मा को सतोष हुआ, तो ऐसी स्थिति मे सिद्ध होगया कि साधारण प्राणी के अनुसार परमेश्वर भी कभी दु खी और सुखी होता रहता है। फिर वह आनन्दघन कैसे कहा जा सकता है। यदि तुम कहो कि उसको दु ख नही है किन्तु व्यर्थ ही उसने यह खेल रचा दिया है तो हम कहेगे कि ईश्वर पापी है, क्योकि व्यर्थ काम करना एक प्रकार का पाप है, फिर जो जगद्गुरु है, जो जगत् को पाप न करने का उपदेश देता है वह स्वय

व्यर्थ लीला करे यह कदापि सम्भव नही। अब आप विचार सकते है इन दो प्रकार के अतिरिक्त और कोई लीला करना ईश्वर मे कैसे सिद्ध हो सकता है। इसलिये हम कह सकते है कि ईश्वर अवश्य ही अपनी किसी आवश्यकता को पूरी करने के लिये जगत् की रचना की है और वह विना जगत् के वनाये आनन्द का लाभ नही कर सकता।

जगत् की रचना से उसकी वह आवश्यकता पूरी होती है कि जिसकी उसको इच्छा थी। किसी प्रकार की भी इच्छा रहना दुःख का कारण होता है तो इच्छा रखते हुए ईश्वर मे दुःख का होना मानना पडेगा, फिर वह आनन्दमूर्ति कैसे हो सकता है।

११–(ख)–ईश्वरखण्डनसूत्र

(प्रकारान्तरसे)

इसी प्रकार जो ईश्वर को विज्ञानरूप कहते हैं, सो भी ठीक नही जचता। क्योकि उसमे भी कई शङ्कायें उत्पन्न होती हैं। प्रथम यह है कि विज्ञान को ही ईश्वर कहते है अथवा विज्ञानवाला ईश्वर है। अर्थात् वह ज्ञानस्वरूप है या ज्ञानवन् है। यदि ज्ञानस्वरूप माने तो ईश्वर जडरूप ठहरेगा। क्योकि ज्ञान मे ज्ञान नही है, और जिसमे ज्ञान नही होता वह जड कहलाता है। अगर हम उसे ज्ञानवान् कहते हैं तो वह ज्ञान का आशय होने से ज्ञान से भिन्न पदार्थ ठहरता है। याने वह आधार और ज्ञान आधेय है किन्तु ईश्वर को ज्ञानमय कहा गया है। अर्थात् ज्ञान से भिन्न पदार्थ कहकर नही मानते है अत यह सन्देह होना है कि ईश्वर ज्ञानरूप है या ज्ञान का आधार है—यह हम कुछ नही कह सकते। दूसरी शङ्का यह होती है कि कोई भी ज्ञान विना प्रमाण के उदय नही होता। परन्तु जगत् रचना के पहले जव केवल ईश्वर है तो उस समय ईश्वर के अतिरिक्त कोई भी प्रमाण नही है। इसलिये विना प्रमाण के ज्ञान नही होता तो वह ईश्वर ज्ञानमय कैसे हो सकता है। और वह ईश्वर ज्ञानमय है—इससे प्रमाण ही क्या है। प्रत्युत ईश्वर ज्ञानरूप नही है, इसमें प्रवल प्रमाण हम पाते हैं। वह यह कि—विना विषय को पकडे किसी भी ज्ञान की स्वरूपसिद्धि नही होती, किन्तु ईश्वर जगत् का उत्पन्न करने वाला माना गया है तो अवश्य कहना होगा कि वह इस जगत् की रचना से पहले ही था। तो उस समय जवकि जगत् की रचना कुछ नही हुई थी किसी विषय का होना सम्भव नही है। ऊपर कहा गया है कि बिना विषय का ज्ञान कोई भी नही होता तो मानना होगा कि जगत् के पहले किसी भी विषय के न रहने से ज्ञान भी कोई नही हो मकता। इसलिये यदि ईश्वर ज्ञानमय ही है तो उस समय ज्ञान के न रहने से ईश्वर भी नही हो सकता और यदि जगत् के पहले ईश्वर का होना मान भी लिया जाय तो वह ज्ञानमय नही हो मकता। इसी तरह के प्रमाण से हम कह सकते हैं कि ईश्वर ज्ञानमय नही है।

तीमरी शङ्का यह हो सकती है कि सम्पूर्ण जगत् को ज्ञान के अन्दर वैठा हुआ हम देखते हैं, किन्तु साथ ही इस ज्ञान को क्रिया से भिन्न वस्तु हम देख रहे हैं। यहाँ तक कि जैसे क्रिया मे ज्ञान नही है उसी प्रकार ज्ञान मे भी क्रिया नही है। इसलिये जवकि हम इस जगत् को ज्ञान मे ही भासता हुआ देख रहे हैं तो कहना होगा कि यह जगत् क्रिया से वना है यह मिथ्या हैं, न क्रिया से वना है और न

ज्ञान ही इसे वना सकता है। क्योकि ज्ञान मे क्रिया ही नही है तो ऐसी स्थिति मे यही मानना होगा कि यह जगत् इसी प्रकार का अनादिकाल से अनन्तकाल तक ज्ञान मे ही भासता आया है और सदा-सर्वदा इसी प्रकार भासता रहेगा। न इसका आदि है न अन्त है; न इसका कोई पैदा करने वाला है तो फिर ईश्वर की ही क्या आवश्यकता है ?

११—(ग) ईश्वरखण्डनसूत्र

(प्रकारान्तर से)

ईश्वर के विषय मे और भी वहुत सी शकाये उत्पन्न होती है। जैसा कि यह ईश्वर नित्य है, अथवा जन्म लेने वाला यदि जन्म वाला है तो जन्म वाले को जगत् कहते है इसलिये वह भी जगत् हुआ, न कि जगत् का वनाने वाला ईश्वर। यदि यह कहे कि वह ईश्वर जिससे जन्म लेता है उसको हम ईश्वर कहेगे तो वहाँ भी यह प्रश्न होगा कि वह किस से उत्पन्न हुआ। यो अनवस्था प्राप्त होती है। और अनवस्था वाला पदार्थ मिथ्या कहा जाता है। यदि ईश्वर को आकस्मिक मान ले अर्थात् विना कारण के अपने आप होने वाला मान ले तो उसी प्रकार जगत् को भी अपने आप होने वाला आकस्मिक मान सकते है। फिर ईश्वर की क्या आवश्यकता रहेगी ? इसलिये न ईश्वर आकस्मिक है और न जन्मवाला है। किन्तु मानले कि वह नित्य है अनादि-अनन्त है तो ऐसी अवस्था मे हम यह प्रश्न करेंगे कि यदि ईश्वर नित्य है तो वह इस जगत् की नित्य ही रचना करता है अथवा कभी करता है, कभी नही। तात्पर्य यह है कि जगत् की रचना की कामना या इच्छा उस की नित्य है अथवा मनुष्य के अनुसार अनित्य है। यदि माने कि उसकी इच्छा नित्य है तो मानना होगा कि यह ससार सदा नित्य है, ससार का अभाव कभी था ही नही। इसीलिये ससार का कभी आदि नही। अत. ससार की रचना का ईश्वर से प्रारम्भ करना मिथ्या ठहरता है और यदि मानें कि ईश्वर जगत् को कभी रचता है, कभी नही, अर्थात् जगत् रचना की इच्छा उसकी कभी होती है, कभी नही होती तो उस पर हम प्रश्न करेंगे कि ईश्वर की सृष्टि रचना की कामना क्यो होती है क्योकि कामना उसी को होती है जो अपूर्ण हो। अपूर्ण होने से सभी वस्तु की सम्पदा की उसे इच्छा होती है परन्तु यह ईश्वर पूर्णरूप माना गया है अत पूर्णकाम है अर्थात् सभी सम्पदा सर्वदा उसको प्राप्त रहने से वह 'आत्मकाम' है। अर्थात् सव जरूरत उसको हासिल है इसलिये निष्काम है, निष्काम होने से सृष्टि रचना की कामना उसमे हो ही नही सकती, फिर उसकी इच्छानुसार सृष्टि कैसे हुई। क्योकि इस सृष्टि से उसका कोई नया उद्देश्य सिद्ध होना नही पाया जाता। यदि मानो कि विनोद के लिए कहा जाय तो वही पुराना प्रश्न उठेगा कि सृष्टि के पहले उसमे आनन्द या विनोद हुआ किन्तु ऐसा करना ईश्वरवादियो के सिद्धान्त के विरुद्ध है और निरर्थक सृष्टि रचना करना भी ईश्वर के लिये अनुचित ठहरता है। क्योकि निरर्थक काम करना पाप है और यदि यह कहे कि कि उस ईश्वर की इच्छा की कोई आवश्यकता नही उस की इच्छा के विना ही सृष्टि की रचना हो गई तो फिर ईश्वर की आवश्यकता ही नही रहेगी, इत्यादि-इत्यादि।

दूसरा प्रश्न यह होता है कि ईश्वर को आप स्रष्टा मानते है या निर्माता। स्रष्टा वह है कि सामग्री न होते हुए भी अपनी इच्छा से और अपनी आत्मा से सव कुछ वनवा ले। जैसे मकडी अपनी

ही आत्मा मे जाल बनाकर अपने मे ही उस जाल सूत्र को लीन कर लेती हैं। निर्माता उसे कहते हैं जो कुम्हार के समान किसी बाह्य सामग्री को लेकर उसके आधार से किसी वस्तु की रचना करता हो; किन्तु सामग्री न मिलने पर इच्छा रखते हुए भी उस काम को न करते। इन दोनो मे से ईश्वर की सृष्टि रचना किस प्रकार की है। यदि मानो कि वह स्रष्टा है तो अवश्य उसी की आत्मा या शरीर से यह सम्पूर्ण ससार बना हुआ है, कहना पड़ेगा। वह ईश्वर के विकार बिना हो नही सकता है। इसलिए ईश्वर को विकार कहना पडेगा। किन्तु ईश्वरवादियो ने ईश्वर को निर्विकार सिद्धात किया है, उस सिद्धान्त से यह विरूद्ध होगा। अथवा यदि आप ईश्वर को निर्माता मानते है तो अवश्य उसको बाह्य सामग्री अपेक्षा होगी। ऐसी स्थिति मे दो आक्षेप उठते है। एक तो यह कि ईश्वर को परतन्त्र मानना पडेगा। सामग्री रहने पर रचना हो सकती। सामग्री न रहने पर इच्छा रखते हुए भी वह रचना नही कर सकता। यदि यह कहे कि वह सब सामग्री अपनी इच्छा से बना लेता हैं तो पुनः वही प्रश्न उठेगा कि वह उस सामग्री का स्रष्टा है या निर्माता स्रष्टा होने पर विकारी होगा और निर्माता होने परतंत्र होगा। इस प्रकार अनवस्था होगी और यदि उन सामग्रियो को ईश्वर के अधीन पैदा हुई न मानकर नित्य मानले अर्थात् सदा सर्वदा ईश्वर के अनुसार उनको भी मौजूद ही मान लें तो एक प्रकार जगत् को ही नित्य मानना होगा, क्योंकि ईश्वर के अतिरिक्त जो कुछ है वह सब जगत् है। जब सामग्री नित्य है तो एक प्रकार से ससार नित्य है फिर उस सामग्री मे बदलने बिगड़ने का स्वभाव यदि मानलें तो अपने आप उस सामग्री से सृष्टि रचना बनती-बिगड़ती रहेगी और ईश्वर का मानना व्यर्थ होगा। इसलिए हम कह सकते हैं कि वह ईश्वर न स्रष्टा हो सकता है, न निर्माता और इन दो से अतिरिक्त कोई तीसरा प्रकार हो नही सकता। अतः मैं मानता हू कि ईश्वर नही है।

और भी शंकाए इस प्रकार की हैं कि परमेश्वर का शरीर क्या है और सृष्टि रचना के उपाय या सामग्री ईश्वर के पास क्या है, कहाँ स्थित होकर सृष्टि को किस स्थान पर कब, कैसे बनाई और जैसे मिट्टी से घडा बनाते हैं, उसी तरह यहाँ किस वस्तु से यह सृष्टि बनाई गई और इस जगत् मे मकान बनाना, रसोई बनाना, कपडा बुनना इत्यादि २ भिन्न-भिन्न कामो मे भिन्न प्रकार की जैसे चेष्टायें करनी पड़ती हैं, उसी प्रकार इस सृष्टि की रचना करने मे परमेश्वर किस प्रकार की चेष्टा करता है। इन सब प्रश्नो का तात्पर्य यह है कि सृष्टि रचना के पूर्वकाल मे मानना होगा कि केवल एक ईश्वर था। उसके अतिरिक्त न देश है, न काल है, न आधार है, न आधेय है, न उपाय है, न सामग्री है, न चेष्टा है और न क्रिया है। क्योंकि ये सभी जगत् के रूप है। जगत् रचना के पहले इनका रहना कदापि सभव नही तो ऐसी स्थिति मे इन सबके बिना जगत् की रचना भी सर्वथा असभव है। अतः मानना होगा कि वह समय कभी था ही नही जब कि जगत् न था और उनकी रचना के लिए ईश्वर ने कोई उद्योग किया हो। सत्य तो यह है कि जगत् की रचना ईश्वर ने कभी आरंभ की ही नही है। यह तो सर्वदा जैसा है वैसा ही चल रहा है।

ईश्वर के सम्बन्ध मे एक यह भी प्रश्न है कि वह व्यापक है या परिच्छिन्न। यदि परिच्छिन्न मानें तो एक प्रकार से उसे जगत् ही मानना होगा। क्योंकि परिच्छिन्न होना ही जगत् का रूप है। और यदि यदि ईश्वर को व्यापक माने तो इसका यही अर्थ होगा कि ईश्वर के बिना कोई भी जगत् ईश्वर से खाली

नही है। अर्थात् जो कुछ है सब ईश्वर है तो अब कहिये कि आप तो ईश्वर से अलग जगत् और जगत् से भिन्न ईश्वर को मानते हैं। जब ईश्वर से खाली कोई जगह नही है तो इस जगत् को रक्खें तो भी जितना भाग जगत् का है वह ईश्वर से अतिरिक्त मानना होगा और ऐसा मानने से ईश्वर की व्यापकता जाती रहती है और यदि ईश्वर मे रहते हुए जगत् को अलग न मान कर ईश्वर ही मान लें तो दो शब्दों मे हमारे–आपका विवाद खतम हो जायगा। आपका एक शब्द यह होगा कि यह सब जगत् नही, केवल ईश्वर ही ईश्वर है। इसी के पलटे मे हमारा एक शब्द यह होगा कि यह सब कुछ जो हम अपने विचार से देख रहे हैं सो जगत् ही जगत् है। इसके अतिरिक्त ईश्वर कोई पदार्थ नही।

इस प्रकार ईश्वर के न मानने मे कितनी ही अनुपपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं कि जिनके मानने से वितडावाद कायम हो जाता है। जो विना प्रमाण के व्यर्थ ही कोई वात जोर देकर कायम या कबूल करवायी जाय उसी को वितडावाद कहते है। वितड का मानना विचारशैली से वाहर है और अनुचित है। अतः ईश्वर का मानना व्यर्थ है और मिथ्या है। हम कह सकते है कि यह जगत् इसी प्रकार बनता–बिगड़ता हुआ अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक इसी प्रकार सदैव चलता रहेगा।

कितने ही दार्शनिको का यह विश्वास है कि यह जो जगत् अनादिकाल से दीख रहा है। इस जगत् की यही सत्ता वास्तव मे ईश्वर है। इसी सत्ता मे यह जगत् है। यदि सत्ता न रहती तो जगत् भी नही रहता–इत्यादि। किन्तु इस पर मेरा कहना है कि इस जगत् की सत्ता जगत् के अधीन है या सत्ता के अधीन जगत् है। यह विचार करना कुछ कठिन काम है आपका सिद्धान्त है कि सत्ता के अधीन जगत् है, उसके पलटे मे मेरा सिद्धान्त है कि जगत् ही सत्ता है। ज्ञान से ही इन दोनो मे भेद आ गया है। वास्तव मे यह जगत् ही सत्ता है।

इसी ईश्वर के सम्बन्ध मे कितने ही देवताओ को भी बहुत से विद्वान मानते हैं और उनके अदृश्य होते हुए भी शरीरधारी मानते हैं। उनको भी स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु, कुल-परिवार आदि समाज बन्धन माने जाते है और पाप–पुण्य के सम्बन्ध से उनकी भी सुख–दु:ख का भोग होता रहता है। इतने पर भी कितने ही भोले-भाले मनुष्य उन देवताओ की ईश्वर के समान उपासना करते हैं। और उनकी प्रसन्नता से अपनी मन–मानी कामनाओ की सिद्धि होने का विश्वास रखते हैं। किन्तु ये सब वृथा विडम्बना हैं जो स्वय पाप पुण्य के बल से सुख-दुःख आदि कर्मो का भोग परतत्रता से पाते है, स्वय अपनी ही रक्षा नही कर सकते, वे मनुष्यो को कर्मो के भोग से कैसे छुडा सकते है। सत्य तो यह है कि देवताओ के शरीरधारी होने मे ही कोई प्रमाण नही है, न उनकी उपासना से कोई फल होना सभव है।

१२—सर्वसिद्धान्तखण्डनसूत्र

विज्ञान के मथन से अर्थात् गहरा विचार करने से जो सिद्धान्त हृदय मे अपने आप निश्चित रूप से जम जाता है उसी विश्वास को उपनिषद् कहते है क्योकि धर्म या अधर्म सभी कर्ममार्ग मे प्रत्येक मनुष्य का ठहरना या उसके अनुसार चलना उसी उपनिषद् के अधीन है। उपनिषद् शब्द का अर्थ है किसी विश्वास पर अच्छी तरह जमकर ठहरना। जिस विश्वास पर ठहर कर प्रत्येक मनुष्य विना किसी दबाव

के अपनी ही इच्छा से किसी काम को करें या छोड़ें वही उसका विश्वास उपनिषत् है। किन्तु जबकि यह सपूर्ण जगत् सब प्रकार से सन्दिग्ध है, तो कोई निश्चित रूप से सिद्धान्त स्थिर नही किया जा सकता। अत हमारा विचार है कि किसी प्राणी को किसी काम के लिए करने या छोडने का दबाव डालना अनुचित है। यह आचार-विचार का बन्धन सब मनुष्य के बनाये हुए मिथ्या है। पशु-पक्षियो के अनुसार स्वतन्त्र रहकर, जिससे अपनी आत्मा को सुख हो, करना चाहिए। जो कुछ जब कभी जिस तरह तुम्हे पसन्द हो, वही उस समय उसी प्रकार मानना चाहिये। व्यर्थ हृदय पर इच्छा के विरुद्ध दबाव डालकर हृदय पर आघात नही पहुचाना चाहिये। अलबत्ता तुम्हारे पसद होने के समय पर इतना अवश्य सोचना चाहिये कि पसद किये हुए काम करने से तुमको किसी प्रकार के अनिष्ट का भय सामने न हो तो निःशक होकर उस काम को करो। तात्पर्य यह है कि किसी नियम का बधन डालकर अपनी आत्मा को न सताओ, जिस बात से सुख मिले सो करो।

१३—अज्ञानश्रेयस्त्वसूत्र

दार्शनिक विज्ञानो के लिये विचार का परिश्रम उठाना व्यर्थ है। क्योकि ज्ञान से किसी प्रकार का श्रेय अर्थात् कल्याण किसी को प्राप्त नही हो सकता। विद्वानो के विचार करते समय परस्पर विरुद्ध मत-मतान्तर की भाषा समझने से विवाद की झझट पैदा होती है और अपनी बात की पुष्टि के जिद्द मे आकर बहुत कुछ चित्त मे कलुपता अर्थात् मलिनता पैदा हो जाती है। हम देखते है कि अनादि काल से ये ज्ञानी विद्वान् लोग जगत् के तत्त्व जानने की उत्कट इच्छा से व्याकुल होते आये है। किन्तु अत्यन्त परिश्रम करने पर भी आज तक पहाड मे राई के बराबर भी सत्य किसी ने नही जाना। क्योकि वास्तव मे जगत् का तत्त्व अज्ञेय है अर्थात् जानने की वस्तु नही। इसलिए व्यर्थ काम मे पड़कर अपने हृदय और मस्तिष्क को यहा तक कि अपने शरीर जीवन को नष्ट करके हाथ मे रक्खे हुए मधुर अन्न की भी स्वाद नही लेते। ससार का आनन्द जानबूझ कर छोडकर और परमार्थ का आनन्द तो मिल ही नही सकता। इसलिये ऐसे ज्ञानी दोनो सुख से वंचित रहते हैं। किन्तु इसके विरुद्ध अज्ञानियो को न अहकार है न चित्त मे कलुपता है, न किसी बात की सोचने की चिन्ता है। सुख से है, सुख से जगते है और प्रायः सपूर्ण जीवन उनका सुखमय व्यतीत होता है। बस, इस प्रकार प्राचीन समय मे कितने ही अज्ञानवाद को पुष्ट करने वाले अज्ञानिक नाम से दार्शनिक हो गये है, उनमे प्रधान है—सात्यमगि, शाकल्य और वसु आदि इन अज्ञानिक दार्शनिको का यही सिद्धान्त है कि इस जगत् की सत्यता को जानने के लिए श्रम करना सर्वथा व्यर्थ हे, अर्थात् अज्ञानी रहना ही सुखदायक है।

इति संशयोपनिषत्

———

अथ असत्योपनिषत्

[३]

(तृतीया)

इस प्रकार सशयवादियो के मत से जगत् के सपूर्ण पदार्थ जैसे तैसे अनिश्चित रूप से भले ही मान लिये गये हो, किन्तु हम जहाँ तक देखते हैं जबकि प्रमाणो का निःशेष खण्डन हो चुका अर्थात् किसी वस्तु की सिद्धि करने के लिये जब कोई प्रमाण न रहा फिर सदेह क्यो न निश्चित रूप से सब पदार्थो का असत्य होना मान लिया जाय क्यो किसी स्थान पर पानी का रहना किसी प्रमाण से ही सिद्ध होता है। विचारशील पुरुष जब उन प्रमाणो को नही देखता तो निश्चित रूपसे यही स्थिर करता है कि यहाँ पानी नही। तात्पर्य यह है कि वस्तु की सत्ता जिन प्रमाणो से सिद्ध होती है उन्ही प्रमाणो के न रहने से उन वस्तुओ का अभाव सिद्ध हो जाता है। अथवा यो कहिये कि सत्ता के लिये प्रमाण की आवश्यकता है किन्तु वस्तु के अभाव के लिये किसी प्रमाण का न होना ही आवश्यक है न कि अभाव के लिये भी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता होती है। जैसे प्रकाश के लिये दीपक की आवश्यकता है, किन्तु अन्धकार के लिये किसी वस्तु की आवश्यकता नहीः प्रत्युत दीपक का न होना ही पर्याप्त है। जब कि साधारण रीति से सब प्रमाणों का अभाव है तो फिर सशय कहाँ रहा। प्रमाण के अभाव मे सिद्ध हो गया कि जगत् का अभाव है। वस्तु का अभाव किसी प्रमाण की अपेक्षा नही रखता। वह स्वत'सिद्ध ही रहता है। किन्तु किसी वस्तु की सत्ता प्रमाण की अपेक्षा रखती है। अत. जो किसी ने यह प्रश्न किया था कि कोई भी वस्तु प्रमाण से ही सिद्ध होती है इसलिये प्रमाण न होने से यदि जगत् की सत्ता नही, तो उसी प्रकार प्रमाण के न होने से ही जगत् का अभाव भी नही सिद्ध हो सकेगा, इत्यादि। किन्तु यह प्रश्न सर्वथा असार है क्योकि मैं कह चुका हूँ कि वस्तु-सत्ता के लिये प्रमाण की अपेक्षा होती है। वस्तु के अभाव के लिये प्रमाण की अपेक्षा नही। प्रमाण का न होना ही पर्याप्त है, अथवा यदि प्रमाण के न होने जैसे वस्तु की सत्ता नही उसी प्रकार यदि अभाव भी नही कह दिया जाय तो भी मेरा ही पक्ष सिद्ध होता है। क्योकि मेरा पक्ष है कि भाव-अभाव ये दोनो ही जगत् के रूप हैं। वास्तव मे न कुछ भाव है न अभाव है। एक प्रश्न और उपस्थित होता है कि भाव या अभाव सपूर्ण जगत् के पदार्थो को मिथ्या मान भी लिये जायें तो भी वह ज्ञान कि जिस ज्ञान मे जगत् का न होना निश्चित रूप से भास रहा है वह सत्य है, उस ज्ञान की सत्ता अवश्य माननी होगी क्यो कि उसी ज्ञान के प्रभाव से जगत् का अभाव आप देख रहे- हैं इत्यादि। तो इस प्रश्न पर हम यह कहेगे कि स्वप्न के समान वह ज्ञान भी मिथ्या है क्योकि यह नियम है कि जिस ज्ञान का विपयभाग मिथ्या है, वह ज्ञान भी मिथ्या है। स्वप्रज्ञान के विपय सभी मिथ्या होते हैं इसीलिये वह ज्ञान भी मिथ्या है ठीक इसी प्रकार हम यहाँ पर भी कह सकते हैं कि हमारे ज्ञान का विपय भाव या अभाव यह जगत् ही हो सकता है। जब प्रमाण के न होने से यह जगत् मिथ्या है तो उस विपय का

ज्ञान भी अवश्य ही असार और मिथ्या है। जिस प्रकार तृणो के अत्यन्त सघन और विशाल ढेरे मे अग्नि लगाने से वह अग्नि उसे शान्त करता हुआ साथ ही आप भी शान्त होता रहा है, यहाँ तक कि उस ढेर के नष्ट होने पर, उस ढेर को नष्ट करने वाली अग्नि भी साथ ही नष्ट हो जाती है। ठीक इसी प्रकार जिस ज्ञान के विचार से विचार करते-करते इस विशाल जगत् के पुरजे-पुरजे को अप्रमाण सिद्ध करके मिथ्या सिद्ध किया गया है उसके साथ ही वह विचार करने वाला मेरा ज्ञान भी मिथ्या ठहराता है। यहाँ तक कि सपूर्ण जगत् के मिथ्या सिद्ध होने पर सिद्ध हो गया कि मेरा विचार और मेरा यह ज्ञान भी सब मिथ्या है न जगत् है, न जगत् का ज्ञान वाला मैं हूँ। तात्पर्य यह है कि अब सदेह करने का अवसर नही रहा। प्रमाण के न होने से निश्चित रूप से सिद्ध हो गया कि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय यह सब असत्य हैं।

॥ इति ॥

विशिष्ट–त्रिसत्योपनिषत्

[४]

१–ज्ञानप्रामाण्यसिद्धिसूत्र

संशयवादियो ने सशय दिखाकर 'वेद्य' अर्थात् जानने की वस्तु जगत् को तथा 'वेत्ता' अर्थात् जानने वाली जीवात्मा और तीसरा 'ईश्वर' इन तीनो का प्रत्याख्यान (खण्डन) करके सब कुछ सदेह-मय निर्धारण किया है ? किन्तु वह प्रत्याख्यान उनका सर्वथा भ्रममूलक है।

उनका सबसे प्रधान आक्षेप यह है कि प्रमाण से वस्तु की सिद्धि होती है। किन्तु प्रमाण सब बिना प्रमाण के ही मान लिये जाते हैं, इसलिये सब प्रमाण अप्रमाण है। इस पर मेरा कहना यह है कि 'प्रमेय' वस्तुओ मे प्रमाण की आवश्यकता होती है, न कि प्रमाण के लिये भी प्रमाण की आवश्यकता है। यह तो साधारण मनुष्य भी जानते हैं कि जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों के प्रकाश के लिये जिस सूर्य की आवश्यकता है. उस सूर्य के लिये दूसरे सूर्य की आवश्यकता नही होती। तात्पर्य यह है कि जगत् मे दो प्रकार के पदार्थ हैं-एक भास्वर (चमकदार) और दूसरा अभास्वर अर्थात् जिसमे से स्वय प्रकाश नही निकलता हो। इनमे अभास्वर वस्तुओ को प्रकाश के लिये भास्वर वस्तु की अपेक्षा होती है। किन्तु जो स्वय भास्वर है, वह अपने जिस प्रकाश से अन्य अभास्वरो को प्रकाशित करता है; उसी प्रकार अपने आप को भी प्रकाशित करता है। यह कब सभव है कि वह स्वय विना प्रकाश हुए ही दूसरे को प्रकाश करे। यह ज्ञान जो कि सूर्य से भी अधिक प्रकाशमान पदार्थ है, वह स्वय प्रकाशित न होकर दूसरी वस्तु का प्रकाश कैसे कर सकता है। सूर्य के समान यह स्वय अपने को प्रकाशित करता हुआ ही अपने विषय को भी प्रकाशित करता है। यही ज्ञान तो वास्तव मे प्रमाण है। फिर प्रमाण यदि स्वय अप्रमाण होगा तो दूसरे के लिये कैसे प्रमाण माना जा सकता है। अथवा यह सभव ही कब है कि जो दूसरे के लिये प्रमाण है वह स्वय अप्रमाण हो। प्रमाण को अप्रमाण मानना ठीक वैसा ही है-जैसा कि सूर्य को अन्धकारमय मानना। इस प्रमाण के लिए दूसरे प्रमाण की आवश्यकता भी ठीक वैसी ही है-जैसे दीपक के प्रकाश के लिये दूसरे दीपक की आवश्यकता मानना। जब कभी कुछ ज्ञान होता है तब उसमे कुछ न कुछ अवश्य भासता है। अवश्य ही किसी वस्तु का हमे बोध होता है। यह कदापि सभव नही है कि ज्ञान है और मुझको उससे कुछ बोध न हो। जिसके द्वारा किसी वस्तु का बोध होता है, उसी को प्रमाण कहते हैं। जबकि ज्ञान से अवश्य ही हम को किसी विषय का बोध होता है तो अवश्य ही यह ज्ञान भी प्रमाण हो सकता है। "ज्ञान है परन्तु प्रमाण नही है"-यह कहना ठीक वैसा ही है जैसा कि सूर्य है, किन्तु प्रकाश नही करता। इस सब के कहने का तात्पर्य यह है कि जब ज्ञान है तो विना दूसरे प्रमाण के ही वह प्रमाण सिद्ध हो चुका, उसके लिये दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नही।

अब रही यह बात कि ज्ञान होने से वह प्रमाण कायम किया जा सकता है, किन्तु जब यह कहा जाय कि ज्ञान ही नही है तो ऐसी स्थिति मे कौन सा प्रमाण कायम किया जा सकता है-तो इसके उत्तर

मे यही कहना होगा कि यह प्रतिज्ञा ठीक वैसी ही है-कि जैसे कोई कहे कि मेरी माता वन्ध्या है, उसने मुझे कभी पैदा किया ही नही। जबकि वह वादी जिस अपने ज्ञान व विचार के बदोलत यह दावा करता है कि ज्ञान नही है-यदि वह ज्ञान न था तो ज्ञान के न होने की प्रतिज्ञा कैसे उत्पन्न हुई। ज्ञान के बल से ज्ञान को ही काटना ठीक वैसा ही है, जैसे किसी वृक्ष की शाखा पर सवार होकर उसी शाखा को काटना। भला यह कौन कह सकता है कि जगत् मे ज्ञान पदार्थ ही नही है यदि ज्ञान एक वस्तु न होती तो जगत् के सम्पूर्ण पदार्थ रहते हुए भी यह जगत् अन्धकारमय सर्वथा शून्य हो जाता। फिर आप या हम ही क्या होते और विचार ही किस का होता। बडे आश्चर्य का विषय है कि जो मनुष्य इस जगत् को अपने ज्ञान के द्वारा देखता हुआ अपना विचार प्रकट करता है और उस जगत् के लिये सत् और असत् का निर्णय करता है किन्तु साथ ही यह भी कहता जाता है कि मैं कुछ नही देखता और न कुछ करता जबकि वह इस जगत् का विचार करता है, सत्य या असत्य का निर्णय करता है तो वह अवश्य ही इस जगत् को कुछ न कुछ देखता है। जब देखता है तो अवश्य ही उसे यह जगत् कुछ न कुछ भासता है। यह भासना ही ज्ञान है। इस ज्ञान के आधार पर जब वह विचार करता है तो कहना अवश्य होगा कि यह ज्ञान तुम्हारे-हमारे सबके लिये सत्य है। इस ज्ञान मे जितने पदार्थ हैं भासते है उन्ही को जगत् कहते हैं। यह जगत् अर्थात् उस ज्ञान मे भासता हुआ पदार्थ सब सत्य हो या असत्य हो यह आगे चल कर पृथक विचार करना होगा। किन्तु यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि वे सब विषय जिसमे भासते है वह ज्ञान निश्चित रूप से सत्य है। अब दूसरी बात है कि अन्य-अन्य आस्तिक दार्शनिको ने भी किसी-किसी ज्ञान को असत्य स्थिर किया है किन्तु इस पर यह कहना है कि इन्द्रियो के द्वारा बाह्य ज्ञान हुआ करता है, अतः उन इन्द्रियो के किसी प्रकार के दोष आने से वह दोष उस अर्थज्ञान मे शामिल हो जाता है। दोष वाले बाह्य ज्ञान से पैदा हुए मानसिक विचार मे अर्थात् आन्तरिक ज्ञान मे भी कभी-कभी वह दोष शामिल हो जाता है। इसलिये उस ज्ञान को दोषयुक्त कहना या असत्य कहना किसी अश मे अनुचित नही है, किन्तु उस दोषभाग को छोड कर जो आत्मा का शुद्ध अपना अंश विवेक रूप प्रकाश है वह कभी असत्य नही हो सकता। उसे अप्रकाश नही कह सकते जैसा कि दोषयुक्त तेल के सम्बन्ध से यदि दीपक का प्रकाश ठीक न हो या घर मे धूआ भरने से यदि दीपक का प्रकाश ठीक न होता हो तो क्या उस से यह सिद्धान्त निकाला जा सकता है कि दीपक मे प्रकाश ही नही है। कभी नही। दीपक सदा स्वच्छ प्रकाशमान पदार्थ है और सदा प्रकाशक है। इसी प्रकार हमारा ज्ञान भी सदा प्रकाशक है।

॥ इति ज्ञानप्रामाण्यसिद्धि सूत्र ॥

२—प्रत्यक्ष प्रामाण्य स्थापनसूत्र

प्रत्यक्ष, अनुमिति और शब्द —इस प्रकार ज्ञान के मुख्य तीन भेद है। इनमे प्रत्यक्ष ही मुख्य ज्ञान है, क्योकि इसी के प्रामाण्य से अन्य अनुमिति आदि भी प्रमाण सिद्ध होते हैं। कितने ही अप्रामाणिक मनुष्यो ने इस प्रत्यक्ष को भी अप्रमाण माना है। किन्तु यह उनका मत ही अप्रमाण है, क्योकि ज्ञान होते ही किसी न किसी वस्तु की हमे उपलब्धि होती है। अर्थात् ज्ञान मे कुछ न कुछ वस्तु अवश्य भासती है। किसी वस्तु का भासना ही उपलब्धि है। उपलब्धि के हेतु को ही प्रमाण कहते हैं। अतः ज्ञान से जब हमे उपलब्धि होती है तो अवश्य हम उसको प्रमाण कहेगे।

किसी न किसी इन्द्रिय के स्थान मे गध-रूप-रस आदि कितने ही तात्कालिक भावो को हम प्रत्यक्ष के द्वारा ही पाते हैं। इसलिये उन इन्द्रियो को हम अवश्य प्रमाण कहते है। उन गध-रस आदि भावो का जो हमे ज्ञान होता है, उसको इन्द्रिय के स्थान मे नया उत्पन्न हुआ जो तात्कालिक भाव माना जाता है, इसमे भी कोई हानि नही। मान लिया जाय कि ये गध-रूप रस आदि भाव पहले न थे किन्तु इन्द्रिय सयोग से इन्द्रियो के स्थान मे ही नये उत्पन्न होते हैं तो भी उन नये भावो का ज्ञान हमे इन्ही इन्द्रियो के द्वारा प्राप्त हुआ है और ज्ञान के प्राप्त होने के कारण को ही प्रमाण कहते है तो फिर क्यो न इन इन्द्रियो को प्रमाण मानें।

अलवत्ता जो इन इन्द्रियो पर यह आक्षेप किया गया है कि ये इन्द्रियाँ प्रमाण नही हो सकती, क्योकि ये हमे धोखा देती हैं; जो आकाश स्वच्छ साफ विना रग का है उसको नीला दिखलाती है, इत्यादि इत्यादि, किन्तु इस पर भी हम कहेगे आकाश का कि यह नीलापन यदि हमारी आँख दिखलाती है और उस नीलेपन का किसी दूसरे काल मे या किसी दूसरे व्यक्ति की आँखो से कभी भी यदि अन्तर नही पडता तो हम इस आकाश को वास्तव मे ही नीला क्यो न मानें। इसके क्या मायने कि जिसको हम सदैव से एक ही रूप मे देखते हैं उसको झूठा मान लें। जवकि नीला ही हम देखते हैं तो निस्सन्देह कह सकते है कि–यह आकाश नीला है। अब विचार इस वात का है कि जो आकाश मेरे पास है उसको नीला नही देखते, इसलिये आकाश नीला नही है तो हो सकता है-कि आकाश नीला न हो, किन्तु यह जो नीला दीखता है यह आकाश है, इसमे क्या प्रमाण है। सभव है कि इस विशाल आकाश मडल मे जिस प्रकार सूर्य-चन्द्रमा धूमकेतु-मदाकिनी आदि विविध भाति के पदार्थ दृष्टिगत होते हैं, उसी प्रकार कोई नीले रग का पदार्थ भी वहुत दूर आकाश मे चारो ओर फैला हो। अब भी जगत् मे कितने ही ऐसे पदार्थ हैं जो शक्ति से बाहर है, परन्तु इसका क्या अर्थ है-कि उस नीले असली पदार्थ का ठीक-ठीक न जानने के कारण हम उसको आकाश ही मानलें और उसके नीलेपन को झूठा मानकर देखने वाले की आँख को भी झूठा मान वैठें। हम देखते हैं कि वहुत से दार्शनिक इसलिये पदार्थ की खोज करते हुये कुछ-कुछ उसका तत्त्व जान पाये है, जैसा कि एकमत है-कि सूर्य का प्रकाश वहुत विशाल होने पर भी परिच्छिन्न है, कही न कही उसका अन्त अवश्य है, किन्तु उस प्रकाश मडल से वाहर अनन्तानन्त आकाश मडल घोरतम अन्धकार से भरा पडा है। वही घोर अन्धकार सूर्य के प्रकाश के अन्दर से आकर हमे नीला दिखाई देता है। दूसरा मत है कि–सूर्य का यह प्रकाश पृथिवी के धरातल से १२ योजन (४८ कोस) ऊपर तक ही है। क्योकि पृथिवी के चारो ओर से घेरे हुए भू वायु नाम की एक वायु इतनी ही दूर ऊँचे फैली हुई है। उसी वायु मे जव सूर्य की काली किरणें जोर से धक्का मारती हैं और उसका दवाव पडता है तो इस भू वायु के अन्दर की कोई खास तरह की जलने वाली वस्तु जल उठती है। वह जव तक जलती रहती हैं तव तक प्रकाश नजर आता है। इस प्रकाश के होने का इस १२ योजन के अन्दर ही सभव है, इसके ऊपर भू वायु के न होने से दबाव पडना या किसी वस्तु का जलना संभव नही, इसलिये १२ योजन के ऊपर सूर्य मडल तक चारो ओर घोर अन्धकार है, वही अन्धकार प्रकाश के अन्दर से दीखता हुआ हमे नीला दीखता है। और तीसरा मत है कि पृथिवी से ऊपर सूर्य तक इस आकाश मंडल मे ७ जाति के, ७ वायु

के ७ स्तर *हैं। वे आपस के दवाव के कारण इतने घने हो गये है, कि दूर से देखने पर वे घन नीले दिखाई देते है,। यद्यपि निकट से उन वायुओ के परमाणु छीदे-छीदे बिखरे होने के कारण उनकी घनता या उनके अन्तर न देखने से एक ही स्तर दीखता है। उसी प्रकार वायु सघन होने के कारण उनका कोई खास वर्ण नीला बनके हमे दीखता है। इस प्रकार बहुतो ने बहुत तरह से इस नीले रग पर अनुमान बांधा है। सभव है कि इन्ही मे से कुछ न कुछ हो, अथवा संभव है कि ये सब कुछ न होकर और ही कुछ हो, परन्तु यह बात अवश्य है कि कोई न कोई नीले रग का पदार्थ आकाश मे चारो ओर फैला हुआ है, उसी को देखती हुई हमारी आँखे बहुत सच्चाई का काम कर रही हैं। हम ऐसी आँख को झूठा कहकर धोखा देने वाली नहीं मान सकते।

सारांश

प्रत्यक्ष, अनुमिति और शब्द ये तीन ज्ञान के मुख्य स्थल है। प्रत्यक्ष और अनुमिति प्राकृत है किन्तु शब्द (शब्दो के द्वारा) साकेतिक ज्ञान है। इनमे प्रत्यक्ष ही प्रमेय के ज्ञान का मुख्य द्वार है और इसीलिये प्रत्यक्ष को वैज्ञानिको ने मुख्य प्रमाण रक्खा है। क्योकि अनुमिति-इत्यादि इसी पर निर्भर है और यही ज्ञान उपलब्धि का हेतु है इसलिये अमिट और अटल प्रमाण है। गधादि भावो का ज्ञान इन्द्रियो के स्थानो मे यद्यपि नया है, तथापि इन्द्रियो के ही तो द्वारा होता है, इसलिये ज्ञान प्राप्ति का कारण इन्द्रियां प्रमाण सिद्ध हो चुकी।

इन्द्रियो पर धोखा देने का आक्षेप-स्वच्छ, रगहित आकाश को नीला दिखलाना। उत्तर—

१—भूत-भविष्यत्-वर्तमान के सकल मनुष्यो को जो नीला दीख रहा है, वह धोखा नही कहा जा सकता।

२—आकाश के दो भाग—स्वच्छ(वर्णरहित)और नीला-सभव है कि सूर्य चन्द्रादि समान श्वेत आकाश के ऊपर नीले रग का पदार्थ हो उस आकाश को भी श्वेत ही मान लेने मे क्या प्रमाण है। बिना प्रमाण ही नीले को श्वेत मान बैठना अप्रमाण और मिथ्या है। नीले को नीला बताना सत्य है, या नीले को श्वेत बताना सत्य है। इसीलिए नीले को नीला बताने वाली इन्द्रियो को झूठ कहना सर्वथा झूठ है। इस नीले आकाश के विषय मे दार्शनिको का एक मत है कि सूर्य का प्रकाश अनन्तानन्त घोरतम अन्धकार को, जो सर्वत्र चलरूप से व्यापक है, नीला दिखलाता है।

३—सूर्य की काली किरण से १२ योजन ही की भू वायु के प्रकाश से ऊपर का अन्धकार नीला दिखता है।

४—अन्तरिक्ष मे ७ गति के, ७ पवनो के ७ स्तर दूर से घन एक स्तर है, ये नीले दिखते हैं, यद्यपि निकट मे घन होने से नीले नही दिखते। दूर की वायु सघन होने के कारण, उनका कोई खास रंग या वर्ण नीला बनके दिखता है। ये सब मत सत्य हो या असत्य, किन्तु यह अवश्य है कि

---

* तह

कोई न कोई नीले रग का पदार्थ आकाश मे फैला हुआ है, उसको देख कर आख जो नीला बताती है, वह काम सत्य है ।

इन्द्रियो पर दूसरा और आक्षेप यह था कि वर्तुलवृत्त अर्थात् चारो ओर से गोल इस पृथ्वी के स्तर को समधरातल के रूप मे इन्द्रिया दिखलाती है । यह इन्द्रिय का दोप है । किन्तु इसका उत्तर यह है कि किसी गोल दिखलाना यह आख का काम नही है । यह स्मरण रहे कि दृश्य पदार्थ की उन्नत पृष्ठता (पीठ की ऊचाई) दृष्टि मे कभी नही आती, क्योकि वह आख से नही पकडी जाती । वात असल यह है कि आख दीखती हुई वस्तु के प्रदेश मे नही जाती, है और न वह दीखती हुई वस्तु ही आख पर आती है, ये दोनो ही अपने–अपने प्रदेश पर स्थिर रहते है, किन्तु सूर्य आदि प्रकाशक पदार्थो की किरण उस वस्तु के वाहरी सतह पर प्रत्येक परमाणु से धक्का खाकर वापस लौटते हुए आँख पर आकर उस वस्तु की उसी धरातल का आकार वन कर आँख इन्द्रिय के हवाले करती है, जिस को आँख पर वैठी हुई प्रज्ञा-बुद्धि ग्रहण करके आत्मा को समपर्ण करती है इसी को हम देखने का ज्ञान कहते है, तो ऐसी स्थिति मे वस्तु के पृष्ठ के ऊँचे नीचे होने के कारण वह किरण यद्यपि ऊँचे नीचे सतह वना कर ही वस्तु पृष्ठ से रवाने होते है किन्तु आँख पर आते हुए वे आँख के समधरातल पर सम्प्रदान वनकर के ही वैठते हैं । इसलिये उस वस्तु की ऊँचाई नीचाई का आँख पर आना कदापि सभव नही है ।

यह जो कहा जा चुका है कि आँख किसी वर्तुल वृत्त के पीठ की ऊँचाई का ग्रहण नही करती । इसी कारण आकाश मे सूर्य या चन्द्रमा के विम्ब वर्तुलपिंड होने पर भी आँख से थाली का धरातल के समान छ सात अगुल की चौडाई के दीखते हैं, उनकी पीठ की ऊँचाई हम आँख से अनुभव नही करते, उसका यही कारण है ।

किन्तु समधरातल पृष्ठ से वा ऊँचे नीचे पृष्ठ से आए हुए किरणो के अवयव मे कुछ अन्तर अवश्य रहता है, वह यह कि वीच के भाग के किरण कुछ विखरे हुए रहते है और दोनो वगल की किरणें घन रूप मे कुछ तम को लिये हुए आँख पर आते हैं । इसी विशेपता के कारण देखने के पश्चात् मानस विचार उस वस्तु के पीठ की ऊँचाई की कल्पना कर लेता है क्योकि उसी गोल पीठ को हाथ से टटोलने के समय गोलाई का अनुभव कर चुका था, इसलिये इस गोलाई और इस ऊँचाई की कल्पना मानस विचार का काम है न कि आँख का । जव कि आँख पृथिवी के धरातल की वह ऊँचाई, जिकको स्पर्श कर के पहिले कभी मन मे नही पहिचाना था, उस ऊँचाई को आँख को आँख के देखने के पश्चात् मन भी अनुभव नही कर सकता और आँख का तो ऊँचाई ग्रहण करना, जिसका काम ही नही है । इसलिये पृथिवी के धरातल की ऊँचाई का ग्रहण करने से आँख कदापि अप्रमाण नही हो सकती ।

जो कदुक (गेंद) वर्तुलवृत्त होता है और मकानात ऊँचे नीचे रहते हैं और जो कितने ही वस्त्र ईकटटे रक्खे हो या अनेक लकडियो के ढेर हो, ये सव एक ही जगह हो या दूर दूर फासले पर रक्खे हो इन सवके रूप मे समधरातलता न होने पर भी किसी दीवार पर जव इसकी छाया पडती है, वह समधरातल होती है । आसमान मे जिन ताराओ को वा ग्रहो को रात मे हम देखते हैं, ये सव एक धरातल मे

नहीं हैं। विज्ञान से मालूम है कि एक तारा दूसरे तारे से लाखो कोस दूर है, तो भी मुझ को आकाश मे एक धरातल पर जमे हुए से दिखते हैं। दूव के हरे खेत जो कि दूव की शाखा-पत्तो के कारण खेत के धरातल को ऊँचा-नीचा बना देते हैं, दूर से देखने पर यह हरी चद्दर के समान समधरातल पर बने हुए दीखते हैं, वन मे वृक्ष यद्यपि बिखरे हुए रहते है, किन्ही-किन्ही नदियो के पानी प्रबल तरंग के कारण ऊँची नीची सतह बनाते हैं, किन्तु दूर से दीखने पर वन या नदियाँ एक चादर के समान समधरातल बने हुए दीखते हैं। इन सब का कारण यही है कि इनको पीठ पर से इनकी रूप की किरणें इनके पीठ के अनुसार ऊँचे-नीचे प्रदेश से ही आरभ होती हैं किन्तु मेरी आँख का धरातल समान होने के कारण वहाँ पर ये किरणें समधरातल बन कर ठहरती है इसलिये हमारी आंख उन सब के पीठ की ऊँचाई-नीचाई को या उनके आपस की दूरी को कुछ भी ग्रहण नही करती। जिस प्रकार दीवाल पर उनकी छाया सम-धरातल होकर गिरती है, उसी प्रकार आँख पर भी उनका समधरातल होना प्रकृति के नियमानुसार है। जिस रूप मे किरणें आंख पर पडेगी, उसी प्रकार उनको ग्रहण करना, यह आँख का कर्तव्य है, इसमे आंख का दोष नहीं, किन्तु ऐसा ही करने से आँख प्रमाण होगी।

एक और आक्षेप आंख पर यह है कि सूर्य को मध्याह्न मे छोटा सफेद दिखला कर प्रातः काल मे अपेक्षा कृत बडा और लाल दिखलाती है, किन्तु इस पर हमारा उत्तर है कि जिस प्रकार विषम धरातल के काच मे किसी वस्तु को देखने से रूप की किरणो के बिखरने से दृश्य वस्तु का आकार बडा हो जाया करता है, उसी प्रकार तिरछे फैले हुए भू वायु के स्तर का विषम धरातल होने के कारण सूर्य से आते हुए किरण बिखर कर आंख पर पहुँचते हैं, इसलिये सूर्य का बिम्ब प्रातः-सांय बडा बनके दीखता है। किन्तु मध्याह्न मे सीधी किरणें वायु को फाड कर आँखो पर आती हैं, वहाँ किरणो के बिखरने का कोई कारण नहीं आता, इसलिये सूर्य वास्तव मे ज्यो का त्यो छोटे रूप मे दीखता है, इसमे किरण का बिख-रना प्रकृति सिद्ध है, यह विकार यदि दोष मे गिना जाय तो इसमे वायुस्तर का दोष है, जिसने किरण को विकीर्ण करके आंख पर पहुँचाया है, किन्तु आँख ने अपने पास आये हुये रूप को ज्यो का त्यो ग्रहण किया है, इसमे आंख का दोष नहीं और यह भी एक नियम है कि कोई आवरण काला होकर यदि पार-दर्शक हो और उसके परलीपार कोई भास्वर शुक्ल (तेज चमकीली सफेद) वस्तु हो तो उसकी सफेद किरणें उस पारदर्शक काले आवरण के अन्दर होकर आंख पर पहुचे तो उस काले पर सवार होकर सफेद रंग लाल रग मे बदल जाता है। सभी जगह लाल रग का यही कारण है। काली जमीन पर सफेद किरण के सवार होने से लाल रग प्रकट होता है। जब वास्तव मे दो रग बनकर लाल रग बन कर कोई किरण आंख पर आवे तो उसको लाल रंग मे ग्रहण करना आँख का कर्त्तव्य है, इसीलिये आंख प्रमाण है। बात यह है कि प्रातःकाल उगता हुआ सूर्य जिस स्थान पर आपको दीखता है, वह उस स्थान पर नहीं रहता क्योंकि इस पृथ्वी का व्यास ८००० मील का उसके केन्द्र से हमारी आँख तक ४००० मील की दूरी है। कल्पना करिये कि पृथ्वी के केन्द्र मे पृथ्वी को आधी काटती हुई एक रेखा पूर्व से पश्चिम आकाश मे जाकर स्पर्श करती है उसको 'क' कहते हैं। इसी प्रकार मेरे आँख से भी पूर्व-पश्चिम सम-धरातल मे जाती हुई रेखा- कहीं आकाश मे स्पर्श करती है, उसको 'ख' कहते हैं। अब यह सूर्य हमको 'ख' की ही जगह उगता हुआ दीखता है किन्तु यदि हम 'ख' की ही जगह उगता हुआ मान लें तो दिन बहुत

छोटा और रात बहुत बडी होनी चाहिये। क्योंकि आकाश का गोला जो ३६० अंश मे बटा हुआ है, वह 'क' रेखा से आधे (मध्य) मे कटता है। १८० अंश पृथ्वी के नीचे अदृश्य आकाश है। किन्तु 'क' से 'ख' और उतना ही अंश हमारी ओर पृथ्वी के ऊपर दृश्य आकाश है। रेखा का अन्तर ४००० मील का है। इसलिये संभव है कि ४००० हजार पूर्व ४००० ही पश्चिम आकाश का प्रदेश हमारे आँख से न दीखे, क्योंकि वह प्रदेश हमारी आँख वाली 'ख' रेखा के नीचे है तो इस प्रकार पूर्व-पश्चिम मिलाकर ८००० मील आकाश का भाग अदृश्य आकाश मिल गया। अदृश्य आकाश का भाग अधिक हो जाने से दृश्य आकाश का भाग छोटा हो गया। दृश्याकाश ही की चीज हमे दीखती है। सूर्य के दीखने को ही दिन कहते है। इसलिये सदा दिन छोटा और रात बडी होनी चाहिये किन्तु ऐसा नही होता, दिन-रात बराबर होते, बराबर घटते भी हैं, इसलिये लाचार मानना होगा कि सूर्य 'क' रेखा पर आने से ही पूर्व मे उगता है, पश्चिम मे छिपता है। परन्तु वह 'क' रेखा हमारी आँख वाली 'ख' रेखा से ४००० मील नीचे है, हमे सूर्य कैसे दीख जाता है, इसका उत्तर यह है कि पृथ्वी के चारो ओर १२ योजन की दूरी मे भू वायु दरियाव के समान गहरा है। जिस प्रकार किसी दरीयाव मे कोई लकडी खडी करने से जितना अंश पानी के भीतर जाता है वह टेढा होकर दिखता है इसी प्रकार 'क' स्थान मे आया हुआ सूर्य के किरण इस भू वायु मे घुसते हुये टेढे हो जाते हैं और उनका टेढापन ऐसा कोना बनाता है कि जिससे यह किरण उसी समय मेरे आँख पर आ लगते है और वायु मे जिस स्थान पर यह लम्बन होता है, उसी सीध मे उस रेखा को यदि आगे बढा दें तो वह रेखा ठीक 'ख' रेखा से मिल जायगी। इसी लम्बन के कारण 'क' स्थान पर आए हुये सूर्य को हमारी आँख उस लम्बन रेखा के द्वारा 'ख' रेखा पर देख लेती है। यह देखना उसका प्रकृति नियमानुसार है। उसने अपने पास आये हुये सूर्य के रूप को देखा है, इसलिये उस आँख का दोष नही, अब यह जानना चाहिये कि इस प्रकार सूर्य के स्थान मे है, इसलिये हमारे प्रदेश मे भूमा अर्थात् पृथ्वी छाया जो वास्तव मे काली है और जिस के द्वारा रात मे कालापन दीखता है, वह आधे पृथ्वी के भाग मे अर्थात् पृथ्वी के जिस आधे भाग की तरफ सूर्य का आकाश रहता है उसके परली ओर १८० अंश के बराबर भू पृष्ठ पर वह अंधेरा रहता है। सूर्य के 'क' स्थान पर रहने के समय उसकी सीधी रेखा पृथ्वी पर जहाँ पडती है उससे ९० अंश दूरी पर इस पृथ्वी की छाया का अन्धकार सदा स्थिर रहती है, इसलिये 'क' स्थान पर सूर्य के रहने के समय हम या हमारी आँख अवश्य ही इस पृथ्वी की छाया के भीतर है। यह पृथ्वी की छाया पारदर्शक काला आवरण है इसके अन्दर से लम्बन के द्वारा आते हुये भास्वर शुक्ल सूर्य की किरणों काला-सफेद के रासायनिक संयोग के कारण लाल होकर आँख पर आते हैं। इसलिये वास्तव मे आए हुए लाल रूप को देखती हुई आँख सच्चाई का काम कर रही है। इसलिये प्रमाण है।

एक और आक्षेप आँख पर यह किया गया है कि जब हम आँख के ठीक सामने कुछ दूरी पर चिराग रखते है, उस चिराग और आँख के दर्मियान मे कोई भी आवरक (रोकने वाली) चीज न रक्खे, किन्तु अपनी एक हथेली को इस अन्दाजे आँख के पास सामने रक्खे कि उस हथेली से जो सामने की जगह रुकती हो अर्थात् न दीखती हो उस जगह का उस चिराग से एक अंगुल का फासला हो। इसी तरह दूसरी आँख की तरफ भी दूसरी हथेली को इस तरकीब से रक्खो कि उस हथेली से रुकने वाली जगह का भी चिराग से दूसरी छोर मे एक ही अंगुल का फासला हो, ऐसी सूरत मे यद्यपि रोकने वाली दोनो

कल्पित अहोरात्ररेखा
वास्तव
अहोरात्रखण्ड
वास्तव
अहोरात्रखण्ड
कल्पित अहोरात्र
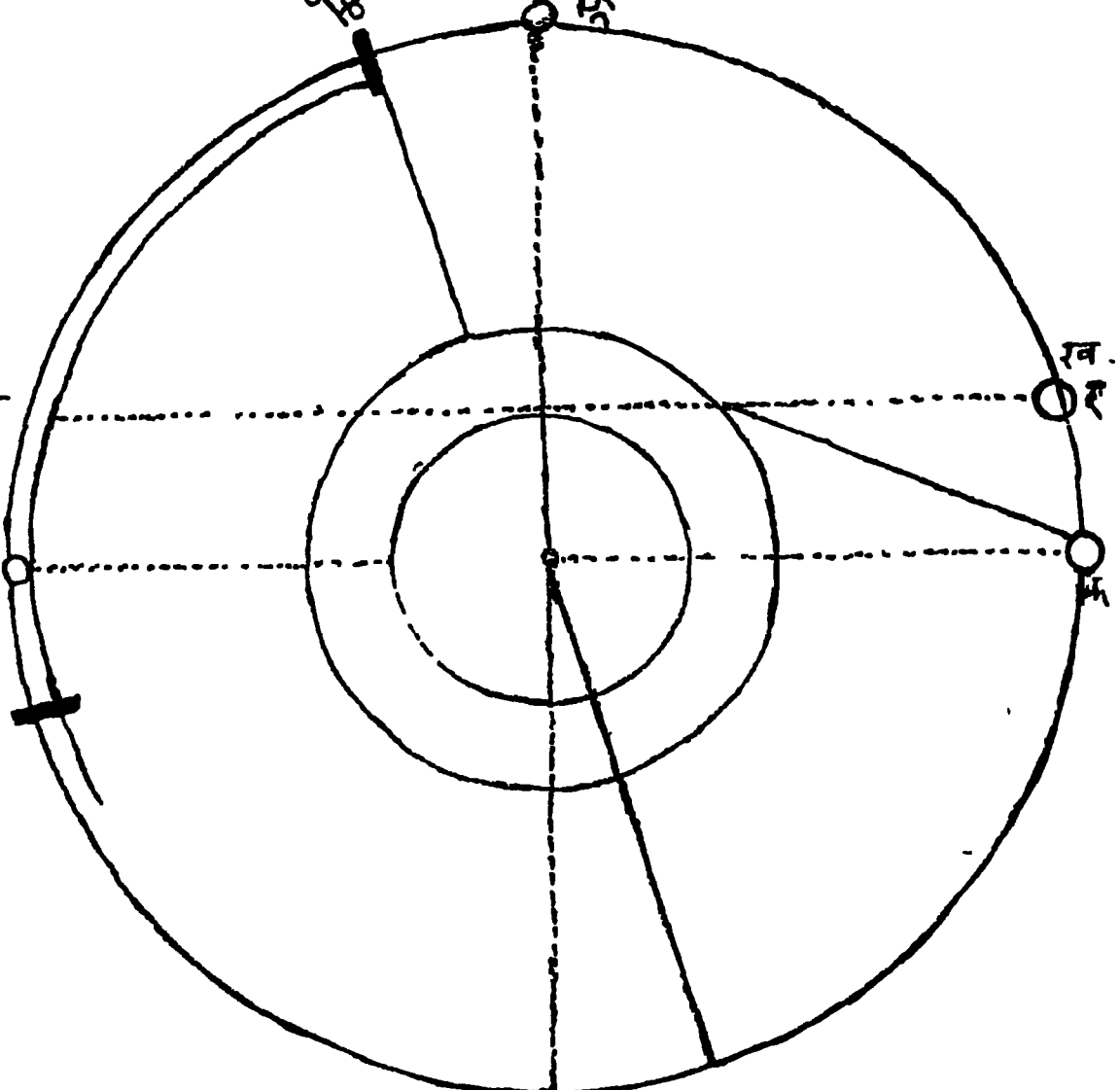
हथेली एक दूसरे से फासले पर रहते हैं, तो भी बीच वाले चिराग की लो बिल्कुल गायब हो जाती है। आश्चर्य है कि जब बाँयी या दहनी किसी भी हथेली को हटा ले तो चिराग दीख आती है यह नही समझ मे आता की वह चिराग किस हथेली से ढकी हुई थी; क्योकि हथेली दो है और दोनो अलग जगह पर हैं फिर एक चिराग अलहदा जगह किसी हथेली से ढकी नही कही जा सकती। और दूसरा आश्चर्य यह है कि हथेली से जो जगह रोकी गई है उसमे किसी जगह वह चिराग नही है, यह सिद्ध हो चुका है कि उन ढकी हुई दोनो जगहो से अलग दोनो जगहो के बीच मे वह चिराग है जो कि किसी से ढकी नही गई किन्तु फिर भी दिखाई नही पडती। इसी से आँख का झूठापन सिद्ध है। किन्तु इसके उत्तर मे यह कहा जाता है कि आँख दो हैं और दोनो देखकर स्वतन्त्ररूप से अलग-अलग वस्तु के आकार को ग्रहण कर के मस्तक मे पहुँचाने का सामर्थ्य रखती है, इनमे दोनो आँखो का फासला चार अगुल का है। दोनो की काली पुतलियो मे से दो दृष्टिसूत्र अलग-अलग रवाना होकर एक विषय पर जाते हैं। विषय के एक होने के कारण उस विषय पर झुकते हुए दोनो दृष्टिसूत्र टेढे होकर उसी एक वस्तु पर सपात करते है अर्थात् दोनो मिल जाते हैं। यदि दोनो आँख की अन्तर की ४ अगुल रेखा कायम करें तो वहा से उसके दृश्य विषय तक दोनो दृष्टिसूत्रो के मिलने से एक विषम त्रिभुज क्षेत्र बनेगा, इन दोनो दृष्टिसूत्र मार्गो मे यदि हथेली या और कोई आवरक रख दें तो दृष्टिसूत्र का उसके विषय से सयोग न होगा। माना कि चिराग आपके नाक के ठीक सामने है और उसके बीच मे कोई आवरक नही है किन्तु जहा से दृष्टिसूत्र चला था उसके मार्ग मे कही भी यदि कोई आवरक रख दिया जाय तो दृष्टिसूत्र का विषय तक सयोग नही होगा, इसी सयोग को ये दोनो हथेलियाँ अलग-अलग रोकती है इसलिये हथेलियो के अलग रहने पर भी बीच की चिराग गायब हो जाती है क्योकि दोनो दृष्टिसूत्र विषय पर जाकर सपात नही कर सकते हैं। जब एक हथेली कोई सी हटा दी जाय तो बजाय दो सूत्र के एक दृष्टिसूत्र जाकर विषय को ग्रहण कर लेता है। तात्पर्य यह है कि दृष्टि का विषय से किसी न किसी प्रकार सयोग होना आवश्यक है। संयोग होने से आंख अवश्य उस वस्तु को ग्रहण करेगी, किन्तु सयोग न होने से आँख वस्तु को ग्रहण न करे तो इसमे आँख का कुछ भी दोष नही।

आँख पर एक और यह भी आक्षेप है कि बडी वस्तु भी दूर से देखने पर छोटी दिखाई देती है, किन्तु इसमे आँख का दोष नही समझना चाहिये, क्योकि ईश्वर के समान वेद भी इस जगत् मे एक सत्य वस्तु है जोकि प्रत्येक वस्तु मे नियमानुसार पाया जाता है। उसी वेद के कारण बडी वस्तु दूर से देखने पर छोटी दीखती है।

इस वेद को पहले इस प्रकार जानना चाहिए कि वेद उस वस्तु को कहते हैं कि जिसके द्वारा प्रत्येक वस्तु को हम जानते है और जिस ज्ञान से उस वस्तु का अस्तित्व (सत्ता) सिद्ध होती है, कोई भी वस्तु भासती है—इस कारण से 'है' और 'है' इसी कारण से भासती है। इसी ज्ञान और सत्ता के मूलतत्त्व को वेद कहते है। वेद यह शब्द 'विद्' धातु से बना है। जिनका अर्थ ज्ञान है अथवा सत्ता है। अर्थात् 'येन वेत्ति, और येन विद्यते' स वेदः। अर्थात् जिससे जाने और जिसमे वह है, वही वेद है।

यह वेद तीन प्रकार का है—ऋक्, साम और यजु । संसार की प्रत्येक वस्तु अलग-अलग ऋक्, साम, यजु का ही स्वरूप है । इसमे साम वह है, जो किसी वस्तु के बाहर बडी दूर तक अनेक अदृश्य मण्डल बनाता है और वह एक २ मण्डल पहले मण्डल से क्रमश बढता जाता है । उसका फैलाव बढने पर भी सब मण्डल अंशो मे बराबर माने जाते हैं । जो सब से छोटा मण्डल है जो खास उस वस्तु का पृष्ठ है, यदि उसको हम ३६० अंशो मे विभक्त करें तो उससे बहुत दूर का सब से बड़ा मण्डल भी उतने ही अंशों में विभक्त होगा, किन्तु पहले मण्डल के अंश का जितना प्रदेश है, उससे बहुत अधिक प्रदेश बाहर वाले मण्डल के एक अंश का होगा । यह बाहर वाला मण्डल उस स्थान पर माना जाता है कि जहाँ से उस वस्तु के देखने न देखने की सीमा बनती हो अर्थात् जिस रेखा से उस वस्तु की नजदीकी की ओर झुकने पर वह वस्तु दीखे किन्तु उस प्रदेश से वस्तु की दूरी की ओर झुकने पर वह वस्तु कुछ भी न दीखे, वही साम की अन्तिम सीमा है । उस सीमा से वस्तु की पीठ तक जितने आकाश के प्रदेश हैं उनमे इस साम को सूक्ष्म रूप से सर्वत्र व्याप्त होने पर भी समझने के लिए उसको सहस्र (१०००) भाग मे बांटना उचित है । अर्थात् प्रत्येक वस्तु के चारो ओर साम के १००० मण्डल नियम से रहते हैं, उन मण्डलो के केन्द्र मे वह वस्तु घिरी हुई रहती है । यद्यपि इन साम के १००० मण्डलो में से एक भी हमे नही दीखता तथापि वह साम का प्रदेश इसलिये नियमानुसार माना जा सकता है कि उतने ही आकाश के प्रदेश मे आंख रखने पर हम उस वस्तु को देख सकते है । उस सीमा से बाहर होते ही वह वस्तु हमारी आंख से अदृश्य हो जाती है । इसलिये उतनी दूरी मे वह वस्तु अपना रूप चारो ओर अवश्य भेजती है जो कि मेरी आंख पर आकर उस वस्तु का आकार या चित्र उतारती है । यदि उस वस्तु का रूप उस देश मे न जाता तो मेरी आँख कदापि उस वस्तु का ज्ञान नही कर सकती, इसलिए प्रत्येक वस्तु के रूप के जाने की सीमा अवश्य ही माननी पडेगी और उसी को साम मण्डल कहते हैं । उन सामो का अर्थात् मण्डलो का आलम्बन (आधार) अर्थात् जिस वस्तु से वह मण्डल बनता है वह ऋक् है; यह ऋक् उस वस्तु का आकार है । जितनी दूरी में साम माना गया है उसमे आँख रखने से वह वस्तु एक रूप मे दीखती है परन्तु उतने मे कही भी हम अपनी आँख को लगावें वहाँ सभी जगह उस वस्तु को देखते हैं, इसलिए जाना गया कि उस वस्तु से आरम्भ करके साम की अन्तिम सीमा तक अदृश्य दशा मे अनन्तानन्त सख्या मे वह वस्तु भरी हुई है । जिस प्रकार एक सरोवर करोड़ो जल बिन्दुओं मे भरा हुआ रहता है, जहाँ हाथ डालें—पानी मिलता है, उसी प्रकार इस साम समुद्र मे करोडों उस वस्तु के आकार इस तरह मे जमे हुये हैं कि जहाँ आँख डालो वहां ही वह वस्तु आंख पर चढ जायगी । अलबत्ता इतना विशेष अवश्य है कि सरोवर मे जल के बिन्दु सब समान हैं किन्तु इस साम समुद्र में वस्तु के आकार सब छोटे-बडे होते है तात्पर्य यह है कि जो साम के १००० मण्डल कल्पना किये गये हैं उनमे एक-एक मण्डल पर सब आकार आपस मे समान होते हैं, उनमें अणु मात्र भी छोटा-बडा नहीं होता, किन्तु प्रत्येक मण्डल के आकार की अपेक्षा भीतरी मण्डल के आकार अवश्य ही बडे होगे और बाहरी मण्डल के आकार भीतरी वाले की अपेक्षा छोटे होंगे । इनमे बडे से बडा वही आकार है जिसको आप हाथ मे टटोल कर अन्दाजा कर सकते हैं और छोटे से छोटा वह आकार है जो कि सामकी सीमा पर बहुत ही छोटे बिन्दु के आकार पर कठिनता से कुछ भासता है । एक चमत्कार और है कि इस

सामसमुद्र के अन्दर जितने आकार आँख पर आते हैं उसी स्थान मे उस आकार की अपेक्षा क्रम से छोटे होते हुए अन्तिम सीमा के छोटे आकार तक सभी आकार तह के तह जमे हुए रहते हैं जो कि काँच इत्यादि छोटे २ विम्ब ग्राहक वस्तु पर उस क्षेत्र के छोटे-वडे होने के अनुसार दीखा करते हैं इस सामसमुद्र के भीतर इस प्रकार छोटे-वडे जितने वस्तु के आकार चारो ओर भरे पडे हैं उन्ही को ऋक् कहते हैं।

वेद कहता है कि—**"सर्वं तेजः साम रूपं हि शश्वत्"** अर्थात् ससार मे जितने प्रकार के तेज है वे ही साम के नमूने है। सदैव सभी प्रकार के साम का इसी तेज के रूप से अन्दाजा करना चाहिये तात्पर्य यह है कि सूर्य, चन्द्रमा या दीपक कोई भी तेज हो उसका स्वभाव है कि उसका कुछ भाग लौ के रूप से केन्द्र मे रहता है और उस केन्द्र की लो से चारो ओर वहुत दूर तक एक प्रकाश मण्डल मे चलने फिरने वालो को उस प्रकाश के किरणो से कोई आपत्ति या रूकावट नही होती, किन्तु वह प्रकाश मण्डल उसी वीच की लौ से सर्वदा दृढता से वधा रहता है। यदि प्रकाश को हटाना चाहे तो उस वीच की लौ को हटाने से हटा सकते हैं. कमी वेशी कर सकते है । ठीक इसी प्रकार ससार की जितनी वस्तु हैं सब एक लौ हैं उनके चारो ओर दूरतक उसी वस्तु का रूप मण्डल घेरे रहता है उस रूप मण्डल मे चलने-फिरने वालो को किसी प्रकार की रूकावट नही होती। यदि उस रूप मण्डल को हटाना चाहे तो उस मूल वस्तु को हटाने से हटा सकते हैं। अब इनमे जानने की मुख्य वात यह है कि वह आकाश मण्डल जिस प्रकार चारो ओर व्याप्त है उसको यदि चारो ओर मण्डल के रूप मे खयाल करे तो उसे हम साम कहेगे। किन्तु उस प्रकाश मण्डल के भीतर अनन्तानन्त उसी लौ कि सूरत भिन्न २ पड़ी हैं, जिनको हम सीधी आँख से लौ के रूप मे नही देखते। किन्तु यदि उस प्रकाश मण्डल के अन्दर कही भी एक काच रखदें तो एक लौ दीखेगी और हजार काँच रखने से हजार लौ दीखेगी । तात्पर्य यह है कि अनन्त लौ रहने पर भी किसी वस्तु पर प्रतिविम्वित होकर वे लौ भिन्न २ दीखती है किन्तु यह कभी ख्याल नही करना चाहिये कि वे काँच के टुकडे लौ को नये सिरे से गढते हैं क्योकि ऐसा करने से काँच का कुछ भाग अवश्य खर्च हो जाता, किन्तु हम देखते है कि उस प्रतिविम्व के दिखाने मे काँच सर्वथा वेलोग है इसलिये मानना होगा कि लौ उस स्थान पर आकाश मे मौजूद थी जो कि काँच के वहाँ रखने से उस पर सवार होकर प्रतिफलित कर हमे दीखती है, वस वे ही सव लौ जो प्रकाश मण्डल के अन्दर है उनको हम ऋक् कहते हैं। यही ऋक् और साम दोनो की पहचान है।

जिस प्रकार सोम के मण्डल मे केन्द्र से साम की सीमा तक यदि रेखा चारो ओर खींचें तो केन्द्र से दूरी के अनुसार वे रेखाएँ आपस मे अधिक अन्तर पैदा करेगी । अर्थात् वे रेखाएँ सूचीमुख होंगी किन्तु इसके विरुद्ध केन्द्र से जो ऋक् की धाराएँ चारो ओर साम की सीमा तक जाती हैं वे दूरी के अनुसार अपने व्यासो को कम करती जाती हैं, यही कारण है कि उस मूल वस्तु के जितने समीप हम आँख रक्खेगे उतनी ही वह वस्तु वडी दीखेगी और ज्यो-ज्यो हम दूर हटेंगे उस वस्तु को छोटी देखेंगे, क्योकि हमारी आँख के पास उस वस्तु की ऋक् उतने ही छोटे रूप मे है। इसका आलेख्य (नक्शा) भी सरलता से समझने के लिये दिया है।
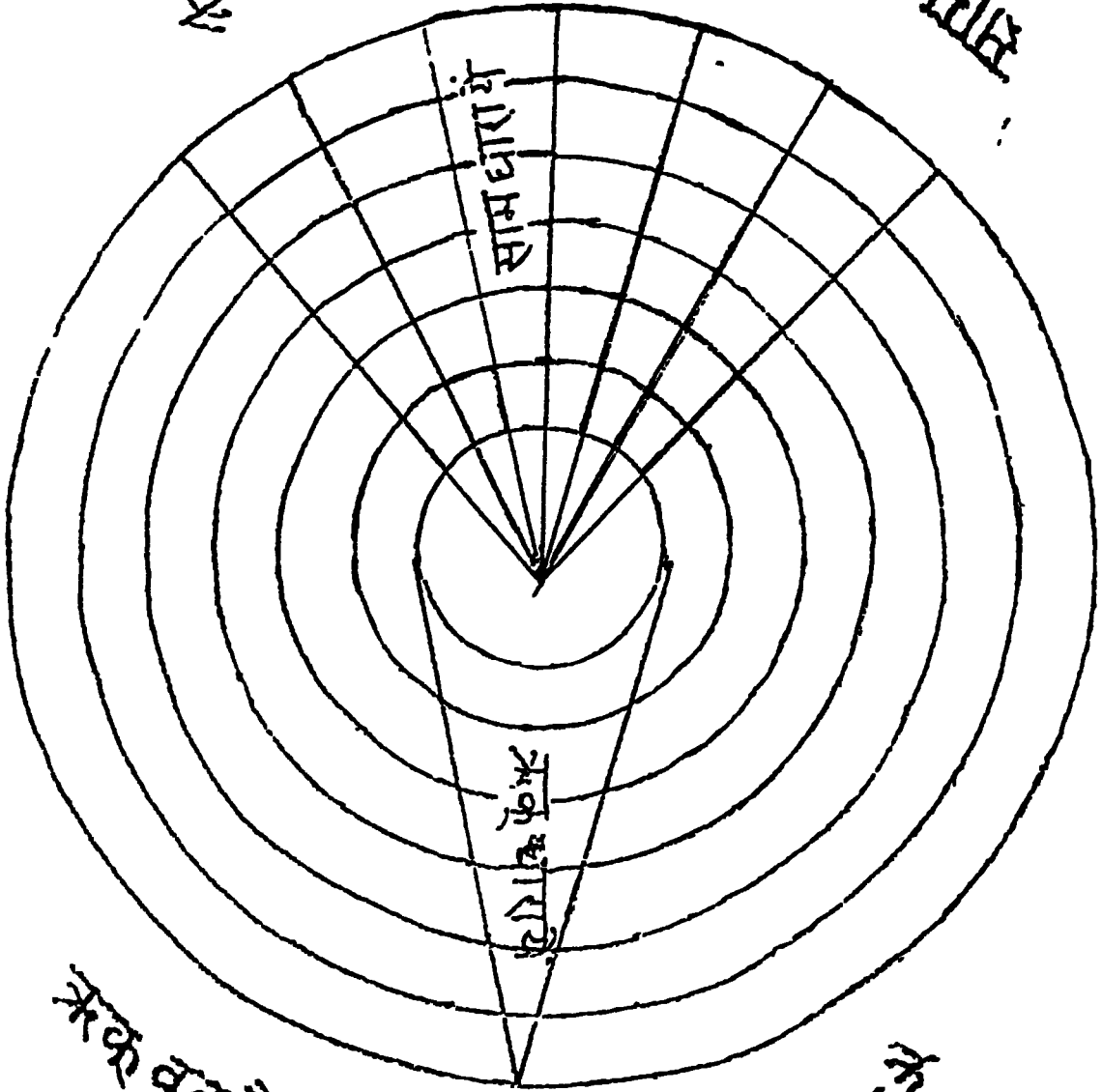
साम वह है जो आगे को फैलता जाता है
साम धारायें
ऋक धारायें
ऋक वह है जो आगे को सुकड़ता जाता है

इस प्रकार ऋक् और साम जो प्रत्येक वस्तु मे नियमित रूप से पाये जाते है, उनमे प्रकृति के अनुसार ऋग्वेद प्रत्येक वस्तु की दूरी के अनुसार छोटा बनता है। यही कारण है कि ऊपर, नीचे, तिरछे कही भी कोई वस्तु हो दूरी के अनुसार छोटी हो जाती है। किसी-किसी का ख्याल है कि पृथ्वी की गोलाई के कारण प्रत्येक वस्तु दूर से छोटी दीखती है। परन्तु जब हम प्रत्येक वस्तु के ऊपर से पैंदे तक बराबर देखते है तो उनका कोई भी भाग पृथ्वी की गोलाई के कारण डूबा हुआ प्रतीत नही होता और जो आकाश मे सूर्य, चन्द्रमा, तारे आदि बडी वस्तुएँ छोटी होकर दीखती हैं उनमे पृथ्वी की गोलाई का दबाव सर्वथा असम्भव है। इसलिये छोटा होने का जो कारण ऊपर दिखाया जा चुका है—वही सत्य है। माना कि वह सूर्य पृथ्वी से भी बहुत बडा-चौडा है। कितने ही तारे उस सूर्य से भी बहुत चौडे और बडे है। किन्तु दूर बहुत से आने का कारण उनका ऋक् हमारी आँख पर जिस अन्दाजे का पडता है, उसी का ग्रहण करना आँख के लिए सभव है। ऐसा करती हुई आँख यथार्थग्राही होने के कारण सत्य और प्रमाण है। इतना और समझना चाहिये कि यह ऋक् यद्यपि प्रत्येक वस्तु मे उसी वस्तु के स्वाभाविक धर्मानुसार पृथक्-पृथक् रहता है किन्तु यदि उस वस्तु पर सूर्य आदि तेजस्वी पदार्थो का प्रकाश न पहुँचे तब तक उस ऋक् का स्फोट नही होता। इसलिये बहुतो का यही सिद्धान्त है कि यह सूर्य ही वास्तव मे ऋक्, यजु, साम इन तीनो वेदो का भण्डार और उत्पत्ति स्थान है—"त्रयी वा एष यस्तपति" (शत०ब्रा०) यह लिखा भी है। इसीलिये सूर्य को वेदमूर्ति कहते हैं। इसी सूर्य से ऋक्, साम और यजुः आकार प्रत्येक वस्तु मे लगे हुए दीखते है, इसलिये वह ऋक् जो कि दूर से छोटा होता जाता है वह भी सूर्य का प्रकाश ही है। समस्त वस्तु तीन प्रकार की है—कोई ज्योतिष्मान् अर्थात् अपने आप प्रकाशक है—जैसे सूर्य, आदि। कितने ही परज्योति है, जो स्वय प्रकाशक न होकर दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं जैसे—चन्द्रमा-कांच आदि, इसी प्रकार कितने ही अज्योति पदार्थ है जिनके शरीर से वह प्रकाश नही निकलता कि जिसके द्वारा समीप की अन्य वस्तुओ को प्रकाश मिलता हो किन्तु एक प्रकार का प्रकाश उनके शरीर से भी चारो ओर अवश्य ही निकलता है, जिसको उस वस्तु का रूप मण्डल कहते हैं। जिस प्रकार परज्योति पदार्थ सूर्यज्योति लेकर ज्योतिर्मय प्रकाश से प्रकाशित होते हैं उसी प्रकार ये अज्योति पदार्थ भी सूर्य से ही रूपमय प्रकाश पाकर प्रकाशित होते रहते है। प्रकाशित होना ही वेद का रूप धारण करना है। इसलिए कहा जा सकता है कि "स्वज्योति" "परज्योति" और "अज्योति" इन तीनो पदार्थों को सूर्य से ही वेद का लाभ होता है, यह सूर्य साक्षात् वेद का प्रत्यक्ष रूप है। सूर्य से ही रूप मिलता है और उस रूप को ऋक् कहते है। इसी सूर्य से मिले हुए रूप के किरणो को जब दूरवीक्षण (दुर्बीन) आदि उत्कृष्ट यन्त्र से विकीर्ण करते है तो किरण फैलाने के कारण कभी-कभी वस्तु छोटी भी बडी दीखने लगती है। इसमे भी आँख का दोष नही है। क्योकि दूरवीक्षण यन्त्र रूप के किरणो को फैलाकर जितना बडा बनाकर आँख पर पहुँचाता है, उसको ज्यो का त्यो आँख ग्रहण करती है। इसमे फैलाना यदि दोष है तो यन्त्र का है न कि आँख का। यहा पर एक यह भी कह देना अनुचित नही है कि जिस सूर्य या तारे को छोटे रूप मे आँख देखती है, उसको जो आप बहुत बडा समझते हैं, यह आपके मन के विचार का काम है। उसकी सत्यासत्य परीक्षा हम मनः प्रामाण्यपरीक्षा मे करेंगे। यहाँ इतना ही कहना है कि सूर्य की किरणो से वस्तुओ को रूप मिलता है और रूप ही ऋक् कहलाता है और ऋक् की धारा का उत्तरोत्तर

छोटा होना स्वभाविक धर्म है और सत्य है। इसी सत्य रूप को आंख ग्रहण करती है इसलिये आंख सत्य है और प्रमाण है।

आंख पर एक और आक्षेप है कि वह रज्जु को कभी सर्प, वृक्ष के ठूठ को मनुष्य, सीप को चांदी दिखाती है किन्तु उत्तर यह है कि रज्जु को देखते समय वक्र और काला भाग जो सर्प और रज्जु मे सादृश्यभाव से रहता है उसी को केवल आंख देखती है। वह न उसको सर्प कहती है और न रज्जु किन्तु पश्चात् हमारा मन का विचार रज्जु और सर्प के भेद करने वाले धर्मों को न पाकर कभी धोखा खा जाता है, रज्जु को सर्प मान बैठता है। यह मन के विचार का दोष है न कि आंख का। इसी प्रकार ठूठ और मनुष्य मे जो सादृश्यभाव है उसी को आंख ने ग्रहण किया किन्तु उनके परस्पर भेद बताने वाले धर्म किसी कारण आंख पर नही आ सके। इसी कारण मन के विचार मे कुछ का कुछ हो गया। सीप को देखने में भी जो सीप और चांदी मे श्वेतता की समानता की झलक है वह ही आंख पर आई, उनके भेद बतलाने वाले धर्म नही आये। अत मानसिक विचारो मे भूल होना सम्भव हो गया किन्तु आंख का दोष कदापि सम्भव नही। इसी प्रकार अन्य उदाहरणो मे भी समझना चाहिए।

मरुस्थल मे मध्याह्न की तेज धूप मे दूर से देखने पर जो लहराते हुए जल की सतह दृष्टिगोचर होती है वह भी आंख का दोष नही है क्योकि उस स्थान पर सूर्य की किरणे जमीन की वालू से टकरा कर उलटी ऊपर को जाती है। जिस समय आने-जाने वाली किरणो मे टक्कर होती है तो उनमे लहर पैदा हो जाती है। सूर्य के तप्त तेज से वायु का ताप बढ जाता है और यह तप्त वायुस्तर हलका होकर ऊपर को उठता है और उसके स्थान पर ऊपर का शीतल वायु आने लगता है इस प्रकार वायुस्तरो मे एक प्रकार की लहर पैदा हो जाती है। ये लहरे ठीक जल की लहरो के समान होती है। इन लहरो की जल की लहरो से घनिष्ट समानता है कि मन को विचार करते समय किरण तथा वायु के लहरो के देखने का अभ्यास न होने के कारण वार वार देखे हुए जल के लहर की ओर मन का वेग शीघ्रतया पहुँच जाता है। यह भी दोष मन के विचार का है न कि आख का क्योकि आंख का काम लहर ग्रहण करने का है उस लहर के साथ जल का सम्बन्ध ठहरा लेना मन के विचार का कार्य है। अथवा हम इस प्रकार कहेगे किसी दर्शन के अनुसार पानी ४ प्रकार का होता है—अम्भ, मरीचि, मर, आप—इनमे द्यौ से ऊपर द्यौ तक जिस मूलतत्व से द्यौ अथवा उसकी सव वस्तुएँ बनी है उस जल को 'अम्भ' कहते है। सूर्य से पृथिवी तक जो बीच का अन्तरिक्ष है और उसमे जितने पदार्थ है, वे जिस मूलतत्त्व से बनते हैं उसको 'मरीचि' नाम का जल कहते है। और जिस जल तत्त्व से हमारी यह पृथिवी बनी है उसको 'मर' कहते है। और पृथिवी से जिस ओर सूर्य है उसकी दूसरी ओर लोकालोक तक जितना आकाश है उसके सव पदार्थ जिस मूलतत्त्व मे बनते है उसको 'आप' नाम का जल कहते है। इन चारो तत्त्वो मे मरीचि जल वह है जो सूर्य से पृथिवी तक सूर्य के किरणो तथा वायु सूक्ष्म रूप से फैला हुआ है, जिसके कारण सूर्य की धूप की गरमी लगने पर भी कोई वस्तु सहसा जलने नही पाती। सूर्य के तप्त तेज के साथ मरीचि की नमी आया करती है। यह मरीचि सूक्ष्मरूप मे एक प्रकार का वास्तव जल है उसके लिए यह आकाश का मैदान समुद्र है उसमे यह मरीचि जल सूर्य से गरमी पाकर वहते हुए हवा से वास्तव मे लहराने लगता है। यह ही कारण है

कि सागर के जल मे जिस प्रकार वृक्ष का प्रतिविम्व पडता है उसी प्रकार कभी इस लहराते हुये मरीचि जल मे भी वृक्षो का प्रतिविम्व पडना देखा गया है अत. यदि उस 'मरु-मरीचिका' को अर्थात् लहराती हुई किरणो को हम वास्तव मे ही जल कह सकते हैं। अव यदि मेरी आँख उसको जल रूप से देखती है। तो वह भी सत्य हो सकता है।

सारांश

१—रज्जु और सर्प के सादृश्य भाव को आँख ने देखा उस पर मन को विचार करके सर्प के निश्चित करने मे धोखा हो गया। मन ने सर्प और रज्जु के भेद कारक धर्मों को न पाकर ऐसा किया।

२—इसी प्रकार वृक्ष के ठूठ को मनुष्य समझ लेना भी मन का ही धोखा है न कि आँख का।

३—सीप को चाँदी समझ लेना भी मन का ही धोखा है आँख का नही।

४—(क) मरुस्थल मे जल लहरो के दिखने का कारण किरणो का वालू से टकराकर उलटा ऊपर को जाने से और ऊपर से आने वाली किरणो से टकराने से किरणो मे लहरें दीख पडती हैं।

(ख) वालू की, हल्की वायु का तथा ऊपर की शीतल और भारी वायु का सम्बन्ध होने से लहर दीखती है। आँख केवल लहर को देखती है। पानी समझ लेना मन का धोखा है।

(ग) अतरिक्ष मे 'मरीचि' प्रकार का जल, सूर्य की गरमी के कारण लहराती हुई वायु से वास्तव मे ही लहराते हैं सो आँख का जल लहरें वतलाना वास्तव मे सत्य ही है। सागर मे वृक्षो की छाया के समान इस 'मरू मरीचिका' रूपी जल मे वृक्षो की छाया भी दीखती है।

आँख पर एक और आक्षेप यह है कि वह एक ही मनुष्य को वाल्यावस्था, मे जवानी तथा वृद्धावस्था मे भिन्न २ रूप से देखती हुई उसकी एकता को भी ग्रहण करती है। हम आँख के कहने से ही बालक, वृद्ध को भिन्न समझते है और उसी आँख के कहने से अवस्था भेद होने पर भी जन्म से वुढापे तक मनुष्य को एक समझते है किन्तु एक को अनेक और अनेक को एक समझना दोनो मिथ्या है और अप्रमाणिक है। जव एक ही आँख विरुद्ध दो भाव को दरसाती है तो उनमे एक अवश्य असत्य है अथवा दोनो असत्य हैं। असत्य को ग्रहण करने वाली आँख प्रमाण नही हो सकती। अव इसदा उत्तर यह है कि प्रत्येक मनुष्य को हमे दो भागो मे विभक्त समझना चाहिये। एक शरीरात्मा, दूसरा अन्तरात्मा। शरीर आत्मा वह स्थूल भाग है जो मरने पर भी यहा वना रहता है और जलाने आदि क्रियाओ से पंच महाभूतो मे मिल जाता है और अन्तरात्मा वह सूक्ष्म भाग है जिसको मरने के पश्चात् हम नही पाते और जिसकी चेष्टा से यह शरीर चलता फिरता था जिसमे इच्छा थी, क्रिया थी, जो निराकार था किन्तु इस शरीर को धारण करने के लिए एक वलशाली तन्त्र (System) रखता था, उसी अन्तरात्मा और शरीरात्मा के वियोग को मृत्यु कहते हैं। इसमे शरीरात्मा भौतिक विकारो को ग्रहण करता हुआ जन्म से मृत्यु तक तीन अवस्था, पांच अवस्था, छः अवस्था अथवा अनन्त अवस्था धारण करता है। वाल्य यौवन और वार्धक्य ये तीन अवस्थायें हैं। शैशव, पौगड, तारुण्य, प्रौढ और स्थविरता ये पाँच अवस्थाएँ

है। जब तक बालक नंगा रहता है वह शैशव अवस्था है यह ५ वर्ष तक रहती है। खेलने-कूदने की अवस्था को पौगंड कहते हैं इसका समय १५ वर्ष तक है। चढती जवानी अर्थात् तारुण्य ५० वर्ष तक रहती है, जवानी ढल जाने को वार्धक्य कहते हैं और इसका समय क्रम ८० वर्ष वर्ष तक रहता है और जब शरीर बहुत ही असमर्थ और शिथलता को प्राप्त हो जावे तो उस काल को स्थविरता कहते है और यह ८० वर्ष से ऊपर होता है अथवा जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यति ये ६ विकार हैं अर्थात् जन्मना, सत्ता कायम होना, बढना, बदलना, घटना और नष्ट होना ये ६ विकार जिसमे पाये जावें उसको शरीर कहते हैं किन्तु जो इन विकारो से रहित है वह अन्तरात्मा है। किसी प्रकार के विकार न होने के कारण जन्म से मृत्यु तक एक ही रूप मे प्रतीत होता है 'अहम्' अर्थात् 'मैं हू' इसी एक रूप में जन्म से मृत्यु तक भासता है। किन्तु इसका वह शरीर विकारी होने के कारण प्रतिक्षण बदलता हुआ अनेक रूप ग्रहण करता है, वह जन्म से मृत्यु तक भिन्न २ रूपो मे भासता है जबकि इस प्रकार एक ही मनुष्य नौ भाग मे बटा हुआ है तो बहुत सभव है कि उस एक आत्मा के विचार से आँख उस व्यक्ति को एक कहकर दिखावे और शरीर के अनुरोध से भिन्न अवस्था के कारण भिन्न करके दिखलावे जबकि वस्तु दो है। एक और अनेक-तो उनको उसी प्रकार देखना आँख का कर्त्तव्य है। इसमे आँख का दोप नहीं है।

यह ध्यान देने का विषय है कि कोई भी इन्द्रिय सब ही विषय को ग्रहण नही कर सकती। उनके विषय नियत हैं अर्थात् जिस विषय मे जिसकी शक्ति है उस ही विषय को ग्रहण करने से वह इन्द्रिय प्रमाण होती है जैसे शब्द, गधादि विषयो को ग्रहण न करने पर भी केवल रूप के ग्रहण करने मे आँख प्रमाण है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियो को भी समझना चाहिये, किन्तु अपने विषयों को ग्रहण करने के समय भी यदि मध्य मे कोई दोप आ जावे तो उसके प्रतिबन्धक होने से वह इन्द्रिय अपने काम को यथार्थ रूप से नही कर सकती। परन्तु इससे उनके प्रमाण्य में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होती। सूर्य या चन्द्रमा के नीचे बादल आने से या सूर्य के नीचे चन्द्रमा के आने से कभी-कभी सूर्य का प्रकाश नही होता अतः क्या यह सिद्धान्त माना जा सकता है कि सूर्य प्रकाशवान् नही है। ऐसा कदापि नहीं। इसी प्रकार इन्द्रियो मे भी समझना चाहिये अर्थात् दोप की उपस्थिति मे भी हम इन्द्रियों को प्रमाण पाते हैं। माना कि श्वेत शंख को कभी पीला बतलाती हुई आँख भूल करती है, मीठी चीनी को कडुवा बताती हुई जिह्वा कभी भूल करती है किन्तु इस पर हम कहेंगे कि यह आँख पीले शंख को प्रदर्शित करती हुई अपने अन्दर पित्त का संयोग बतला रही है इसी प्रकार जिह्वा भी पित्त के संयोग की तरफ संकेत करती है। पित्त के संयोग को बताने मे ये ही इन्द्रियाँ प्रमाण हैं और इन पर हम विश्वास करते हैं अन्यथा इस पित्त रोग को दूर करने का हम कभी प्रयत्न न करते। अतः विश्वसनीय है कि दोष की अवस्था मे भी उन दोषो को प्रदर्शित करने के लिये वे इन्द्रियाँ ही प्रमाण हैं जैसा कि लाल, पीले, हरे कांच मे होकर जमीन पर गिरती हुई सूर्य की लाल, पीली, हरी रोशनी हम को यही सूचित करती है कि उसी रंग के काच के भीतर होकर आई है और इस बताने के लिए वह रोशनी प्रमाण है किन्तु इसमे यह नही पाया जाता कि सूर्य का प्रकाश हरा इत्यादि हैं। अतः सभी इन्द्रियो मे जो कुछ जिस प्रकार का ज्ञान पैदा होता है उसके लिये वही इन्द्रिय प्रमाण हो सकती है।

साराश

आँख पर और आक्षेप—एक मनुष्य को दो भाँति से दिखलाना—एक और अनेक । प्रत्येक मनुष्य की दो आत्मा है—शरीरात्मा और अन्तरात्मा एक स्थूल दूसरा सूक्ष्म, एक विकारी दूसरा निर्विकारी, एक चैतन्य निराकार होकर भी चेष्टा, इच्छा, क्रिया शरीर मे वलवान् तन्त्र इत्यादि का कारण और जिसके अलग होने से यह शरीर मृत कहलाता है वह अन्तरात्मा है और दूसरा शरीर आत्मा भौतिक विकारो को ग्रहण करता हुआ कई अवस्थाओ अर्थात् ३, ५, ६, इत्यादि को धारण करता है। शरीर मे ऐसे नाना विकार है आत्म-निर्विकार जन्म से मृत्यु तक एक ही है—'अहम्' अर्थात् 'मैं हूँ' इस एक ही रूप मे जन्म से मृत्यु तक भासता है किन्तु इसका बाह्य शरीर विकारी होने के कारण प्रतिक्षण बदलता हुआ अनेक रूप धारण करता है। इस प्रकार मनुष्य के दो भाग हैं एक बहुरूपा और दूसरा एक ही रूप। अतः एक ही व्यक्ति आत्मा के सम्बन्ध से एक है और शरीरानुरोध से अनेक अवस्था का है। एक व्यक्ति मे अब ये दो पदार्थ है एक तो सदैव और दूसरा प्रतिक्षण भिन्न अतः अनेक। इसी कारण आँख एक व्यक्ति मे दो पदार्थ देख कर दो बतलाती है अर्थात् आत्मा और शरीर, तो अब आँख का ऐसा बतलाना यथार्थ और सत्य ही है। यदि आँख ऐसा न बतलावे तो धोखा देने वाली कहलावे अतः आँख धोखा देने वाली कदापि नही प्रत्युत यथार्थ और वास्तविक स्वरूपदर्शी है जो कि इसका कर्तव्य है वही सदा किया करती है। प्रत्येक इन्द्रिया अपने-अपने पृथक-पृथक नियमित कार्य को ही सदा करती रहती हैं अन्य कार्य को कदापि नही करती अत ये प्रमाण है। प्रतिवन्धक दोष से इन्द्रिय प्रमाण्य मे त्रुटि नही हो सकती। चन्द्रमा के नीचे बादल या सूर्य के नीचे चन्द्रमा या बादल के आ जाने से क्या चन्द्रमा प्रकाश रहित समझे जा सकते हैं? कदापि नही। तब इसी प्रकार इन्द्रियो मे भी समझना चाहिये। दोष सहित इन्द्रियो पर गहरे विचार करने के पश्चात् विदित होगा कि उनमे जो दोष आगया है उस दोष को बताने वाली भी तो इन्द्रिया ही हैं। जैसे पीले शख को दर्शित करती हुई अपने मे पीले दोष को आँख ही तो सूचित करती है और जिह्वा चीनी को कडुवा कहती हुई कडुवे दोष को सूचित करती है। यह दोनो दोष हमारे अन्दर के पित्त के सयोग से भासित होते हैं। आँख के पिलास तथा जिह्वा के कडुवास के विकारी को जो कि पित्त के सयोग से है इन्द्रियो ने ऐसा स्पष्ट रूप से दिखलाया कि इस विकार का हमको विश्वास होकर हमने इसका निदान कराया। इस दोष रूपी रोग की चिकित्सा कराने वाली भी ये ही तो इन्द्रियाँ है। तो सिद्ध है कि दोष की दशा मे भी दोष को बताने वाली इन्द्रिया ही प्रमाण हैं। इसको फिर यो समझो कि जैसे हरे काँच मे होकर आने वाला हरा प्रकाश हरे काँच का भी ज्ञान कराता है और ऐसा ज्ञान कराने मे प्रमाण है किन्तु इससे यह नही पाया जाता कि सूर्य या दीपक जिससे वह प्रकाश आता है वे भी हरे हैं प्रत्युत यह भी पक्के तौर से कह सकते है कि रग रहित किरण जिस रग मे होकर आती है उसी रग को धारण करके उस रग रूपी दोष के बताने मे भी प्रमाण है बस अब पूर्णतया सिद्ध है कि इस प्रकार सभी इन्द्रियो मे जो कुछ जिस प्रकार का ज्ञान पैदा होता है उस ज्ञान की उपलब्धि के लिये वही इन्द्रिय प्रमाण है।

३—मन प्रमाण्य सिद्धिसूत्र

जिस प्रकार इन्द्रियो का प्रमाण होना सिद्ध है उसी प्रकार मन को प्रमाण मानना उचित है। क्योकि प्रमाण का अर्थ है-प्रमा—अन अर्थात् ज्ञान का साधन या ज्ञान उपजाने वाला। जबकि हम मन

को ज्ञान का साधन देखते हैं तो अवश्य ही प्रमाण मानना पडेगा। यह सभव है कि मन किसी दोष के कारण कभी-कभी भूल करे अर्थात् झूठा ज्ञान पैदा करे। किन्तु फिर भी हम कहेगे कि झूंठा ज्ञान भी ज्ञान है। ज्ञान को पैदा करता हुआ मन अवश्य प्रमाण होगा किन्तु उसमे झूठ का जितना सम्बन्ध है उतना दोष के सम्बन्ध के कारण है जैसाकि रस्सी को सर्प समझ लेना झूठा ज्ञान है किन्तु इसमे समझ लेना ज्ञान का भाग है वही मन का काम है इसमे रस्सी का सांप झूठा भाग है - वह दोष का काम है। मन और दोष दोनो अपना-अपना काम करते है अतः दूसरे के काम का आक्षेप दूसरे पर नही किया जा सकता अर्थात् दोष के कारण जो झूठापन ज्ञान मे आया है उसका आक्षेप मन पर नही हो सकता।

यहां पर ज्ञान मे हमारा तात्पर्य उपलब्धि से है। उपलब्धि का अर्थ है पाना जो दो प्रकार का है, एक तो सत्तावान् का ज्ञान अर्थात् मौजूद का जानना और दूसरा जाने हुए की सत्ता अर्थात् मौजूद होना। इस प्रकार जिसकी उपलब्धि होवे उसको सत्य कहते है। वह सत्य जिससे जाना जावे उसको प्रमाण कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिसको हमने जैसा जाना है उसको उसी प्रकार का होना चाहिए अथवा जो जिस प्रकार का है वह उसी प्रकार का जाना जावे। साराश यह है कि जिसका ज्ञान है उसी की सत्ता है अथवा जिसकी सत्ता है उसी का ज्ञान है। ऐसा ज्ञान कराने वाला प्रमाण कहलाता है। जैसा आकाश मे हम चन्द्रमा को देखते हैं और वह चन्द्रमा आकाश में वास्तव मे है अतः ऐसा ज्ञान उपजाने वाली आंख या किसी का वचन प्रमाण होगा किन्तु यदि आकाश मे हम एक साथ दस-चन्द्रमा देखें तो वह आंख के तिमिर रोग का दोष है और वह अप्रमाण है इस प्रकार प्रमाण या अप्रमाण की व्यवस्था व्यवहार दशा की है। किन्तु पारमार्थिक दशा मे ज्ञान और सत्ता ये दोनो भिन्न वस्तु नही हैं अतः जिसका ज्ञान हुआ है उसकी सत्ता भी हो चुकी। अतएव व्यावहारिको का यह कहना कि जिसका ज्ञान हुआ है उसकी सत्ता भी होनी चाहिए क्योकि विना सत्ता के ज्ञान भ्रम है, मिथ्या है। ऐसा ज्ञान उपजाने वाला अप्रमाण है इत्यादि, व्यावहारिकों की भाषा स्वीकार के योग्य नही है क्योकि पारमार्थिक दशा मे जबकि ज्ञान और सत्ता एक है तो ज्ञान होने से ही सत्ता का होना माना जा सकता है। जितना सा अंश ज्ञान का है उतना ही अश सत्ता का साथ है। 'अस्ति' अर्थात् 'है' यही तो ज्ञान का स्वरूप है। इस ज्ञान को उपजाता हुआ मन पारमार्थिक दशा मे अवश्य ही प्रमाण माना जा सकता है क्योकि किसी भी प्रकार का ज्ञान उपजाता हुआ मन अप्रमाण कैसे हो सकता है। जबकि मन का धर्म केवल प्रकाश करना है तो प्रकाश करता हुआ मन अपना कर्तव्य कर चुका अतः प्रमाण है। जबकि उस प्रकाश की दुष्टता किसी दोष के योग मे है तो सिद्ध हुआ कि दोष के असयोग दशा मे यह मन अवश्य विशुद्ध है और इसलिये वह अपने स्वरूप से प्रमाण है। ज्ञान मे जो कभी दोष का सम्बन्ध देखते है उस दोष के प्रवेश के कई द्वार हैं। प्रथम अवग्रह मे इन्द्रियो के द्वार दोष का प्रवेश होना है, अतः अवग्रह अप्रमाण माना जाता है, दूसरा ईहा मे मन के द्वारा दोष का प्रवेश होना है अत. ईहा अप्रमाण है और तीसरा अवगम मे आत्मा के द्वारा दोष का प्रवेश होता है अतः अवगम अप्रमाण होता है। इन तीनो मे एक भी दूषित हो तो ज्ञान असत्य हो जाता है और उसका कारण अप्रमाण होता है क्योंकि अवग्रह ईहा और अवगम ये तीनों ज्ञान के भाग हैं और तीनों भागो के मिलने से ज्ञान का पूरा स्वरूप बनता है अतः तीनो मे से कोई भी भाग दूषित हो तो सम्पूर्ण ज्ञान अवग्रह हो जाता है।

दूषित अवग्रह से ईहा निर्दोषित रहते हुए भी दूषित हो जाती है और उसी के द्वारा निर्दोषी अवगम भी दूषित हो जाता है। इस प्रकार प्रमाण अप्रमाण की व्यवस्था व्यवहार दशा मे मानी जाती है किन्तु परमार्थ दशा मे यही सिद्धान्न है कि ज्ञान दोषयुक्त हो अथवा निर्दोष हो किन्तु जितना भाग ज्ञान का है वह प्रकाश रूप है वह कभी-अप्रमाण नही हो सकता। हरे कांच के अन्दर से आने के कारण सूर्य-का प्रकाश हरा होकर भले ही दूषित हो गया हो किन्तु जो दोष हरेपन का है वह भी प्रकाश का विषय, है और प्रकाश की अपेक्षा वह रग दूसरी वस्तु है किन्तु उस रग का भी प्रकाश करने वाला जो वास्तव मे प्रकाश वस्तु है वह अपने रूप से सदा शुद्ध व निर्दोष है। इसी प्रकार ज्ञान को भी सर्वत्र निर्दोष समझना चाहिये।

कितने ही व्यक्ति यह कहते है कि जो ज्ञान सामग्री पूरी न होने से अपूर्ण हो वह अप्रमाण है जैसा बालक या पशु का ज्ञान। किन्तु इस पर भी विचार का स्थान है। यदि अपूर्ण होने से ज्ञान अप्रमाण माना जाय तो जगत् के पामर सेलेकर विद्वान् तक सभी के ज्ञान अप्रमाण मानने पड़ेंगे। यह निश्चित रूप से कहा जाता है कि आज तक जो कुछ जाना गया है वह बहुत अश निर्णय करने पर भी अभी तक अपूर्ण है। अतः व्यवहार दशा मे भी उस अपूर्ण ज्ञान को प्रमाण मानते हुए ऊपर की बात का विरोध करते हैं। यथार्थ तो यह है कि अपूर्णता मे भी जितना अश उसका प्राप्त होता है उतने अ श के लिए उसको अवश्य प्रमाण मानना उचित है और उसकी पूर्णता के वास्ते प्रयत्न करना चाहिए न कि अपूर्ण कह कर उसको छोडना चाहिए। बहुत अधिक जल मे बहुत अल्प मधुर मिलाने से सम्भव है कि जल मीठा नही होगा किन्तु जितना सा मधुर उस जल में डाला गया है वह भी मधुर नही था ऐसा मान लेना भूल है। एक सौ मन मधुर मे जिस प्रकार का मधुर है उसका एक कण भी अपने रूप मे उतना ही मधुर है। इसी प्रकार इस ज्ञान मे भी जितने वढाये जावे उतना ही ज्ञान वढेगा किन्तु सारे जगत् का ज्ञान जिस प्रकार ज्ञान है एक तुच्छ वस्तु का ज्ञान भी उसी प्रकार अपने रूप में परिपूर्ण ज्ञान है वह ज्ञान अपूर्ण कदापि हो ही नही सकता। अतः यह ज्ञान सर्वदा नित्य प्रमाण है।

ज्ञान और सत्ता ये दोनो ही उपलब्धि के रूप है इसी उपलब्धि को वेद कहते हैं। वेद शब्द का धातु 'विद्' जिसका अर्थ सत्ता, ज्ञान और प्राप्ति है- जब वस्तु की सत्ता है, ज्ञान है और प्राप्ति है तो अवश्यमेव उसका वेद सिद्ध हुआ और वेद सर्वदा प्रमाण होता है अतः विद्वान् लोगो का सिद्धान्त है कि- वेदाः प्रमाणम्।

ऊपर कहा जा चुका है। कि प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन भाग है-अवग्रह, ईहा और अवगम। इनमें अवग्रह इन्द्रियो से होता है तत्पश्चात् ईहा मन के विचार को कहते है और अवगम आत्मा मे होता है-इनमे आत्मा के न रहने से ये तीनो ही नही हो सकते। अत.प्रथम आत्मा के सबध से ज्ञान की परीक्षा की गई, तत्पश्चात् ज्ञानइन्द्रियो के द्वारा अवग्रह की परीक्षा करके मन के द्वारा ईहा की परीक्षा की गई है इस प्रकार तीनो भागो की परीक्षा करके प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध किया गया है।

मन.प्रामाण्य सिद्धिसूत्र का साराश

इन्द्रियो के समान मन भी प्रमाण है- प्रमाण का अर्थ प्रमाण का साधन है-अर्थात् प्रमा=ज्ञान और अन=साधन। मन भी ज्ञान उपजाने का साधन होने से प्रमाण है। कभी-कभी मन दोष के

कारण कुछ का कुछ समझ लेता है यहाँ पर समझ लेना मन का मुख्य काम है और कुछ का कुछ दोष का काम है। समझ लेने के कार्य में मन कभी धोखा नही देता अतः दोष सहित अथवा दोष रहित दोनो दशा में मन ज्ञान उपजाने मे प्रमाण है।

यहाँ ज्ञान उपलब्धि अर्थात् प्राप्ति का बोधक है-यह पाना या प्राप्ति दो प्रकार से है-एक तो सत्ता-वान् का ज्ञान या पाना और दूसरा ज्ञान या पाई हुई की सत्ता; या होना। ऐसी उपलब्धि को सत्य कहते है और इसलिये प्रमाण है। सारांश यह है कि ज्ञात वस्तु की सत्ता हो और सत्तावान् का ज्ञान हो, ऐसी एकता की उपलब्धि सत्य होने से प्रमाण है। ज्ञान और सत्ता एक होने से प्रमाण और भिन्न होने से अप्रमाण यह कच्ची निगाह व्यावहारिको की है। वैज्ञानिको की पारमार्थिक दशा ज्ञान और सत्ता की एकता है। ज्ञान होने से सत्ता भी साथ मे हो चुकी, जितना अंश ज्ञान का है उतना अंश सत्ता का ज्ञान मे जड से चोटी तक है। 'अस्ति' या है यह ही ज्ञान का स्वरूप है और ऐसा ज्ञान उपजाता हुआ मन पारमार्थिक दशा मे प्रमाण है। अब सिद्ध है कि मन किसी न किसी सत्ता को लिए हुए एक प्रकाश है। सत्ता सहित ज्ञान ही ज्ञान का स्वरूप है, सत्ता रहित ज्ञान का कोई स्वरूप नही अतः ज्ञान सत्ता का बोधक है सत्ता चाहे कैसी ही क्यो न हो ज्ञान सत्य-सत्ता का बोध कराता है। व्यावहारिको ने ज्ञान की सत्य सत्ता को न समझकर अन्य सत्ता कि जो ज्ञान का विषय नही हुआ है उसका बोध न कराने पर ज्ञान को दूषित मान लिया। वह उनकी बडी भारी भूल है। यह दोष जो यथार्थ विचार से निश्चित नही है तीन द्वारो से यह प्रवेश हो सकता है—अवग्रह, ईहा और अवगम। इन तीनो मे एक भी दूषित हो तो ज्ञान असत्य हो जाता है, क्योकि ये तीनो ही ज्ञान के भाग है और इनके मिलने से ज्ञान का स्वरूप बनता है। इन मे कोई भी भाग दूषित हो तो संपूर्ण ज्ञान दूषित हो जाता है यह प्रमाण अप्रमाण की व्यवस्था व्यवहार दशा मे है किन्तु परमार्थ दशा मे ज्ञान दोष युक्त हो या निर्दोष हो वह प्रकाश रूप होने से जो सत्ता उस पर बैठी हुई है वह सत्य है जैसे हरे काँच की किरण हरी होने पर भी वह शुद्ध और निर्मल रह कर अपने विषय हरे-पन को बताती है।

ज्ञान सामग्री अपूर्ण होने से ज्ञान को भी अपूर्ण मान कर अप्रमाण मानना यथार्थ नही है। बालक या पशु का ज्ञान एक बडे विद्वान के सामने (ज्ञान के जाति मे) तो सत्य है किन्तु विषयो मे या मात्रा मे भिन्न है। एक कण शर्करा का भू-मण्डल समस्त शर्करा से जाति मे एक है किन्तु मात्रा मे भिन्न है। दोनो का मिठास एक परन्तु मात्रा भिन्न है। ऐसे ही एक ज्ञान विन्दु समस्त ज्ञान सागर की अपेक्षा प्रकाश रखने मे तो परिपूर्ण है किन्तु अनन्त विषय रूपी सत्ताओ से तुच्छ है। अत. ज्ञान छोटा बडा कैसा ही हो वह सदा नित्य प्रमाण है।

ज्ञान और सत्ता ये दोनो ही उपलब्धि के रूप है। इसी उपलब्धि को 'वेद' कहते है। 'वेद' का धातु 'विद्' है जिसका अर्थ 'सत्ता, ज्ञान, प्राप्ति' है। वस्तु की 'सत्ता, ज्ञान, प्राप्ति' से उसका वेद सिद्ध होता है और वेद सर्वदा प्रमाण है अत. सिद्धान्त है कि 'वेदा प्रमाणम्'

प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन भाग है—अवग्रह, ईहा और अवगम। इन्द्रियजन्य ज्ञान अवग्रह है, मानसिक ज्ञान ईहा है और आत्मा का माना हुआ ज्ञान अवगम है। आत्मा के न रहने से कोई ज्ञान उत्पन्न नही हो सकता अतः पहले आत्मा के सम्बन्ध से ज्ञान की परीक्षा की गई तद् पश्चात् इन्द्रिय द्वारा ईहा ज्ञान की परीक्षा करके तीनो ज्ञान के भागो की परीक्षा करके प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण सिद्ध किया गया।

४—(क) जीवसिद्धिसूत्र

जहाँ कही हम रहे यह जगत् हमको भासता है इस भासने को हम कहे कि कुछ नही भासता तो इस कहने का बल हम मे नही है। क्योकि यह भासना स्वतः अपने को सिद्ध करता हुआ इतना बलशाली है कि इस की सिद्धि के लिए किसी भी दूसरे प्रमाण की आवश्यक नही होती किन्तु विचार यह है कि जो कुछ यह जगत् हमे भासता है उसमे जगत् का हिस्सा यदि अलग कर दिया जावे तो केवल भासना अर्थात् एक प्रकार का प्रकाश रह जाता है। उस प्रकाश का यदि मूल ढूढे तो हमारे सिवाय और कोई उसका मूल नही पाया जाता है। जिस प्रकार लोक मे सभी वस्तुओ के प्रकाश का कारण ज्योतिर्मण्डल का मूल सूर्य है ठीक उसी प्रकार इस जगत् के भासने के प्रकाश का मूल भी कोई इस मेरे प्रकाश के केन्द्र मे प्रतीत होता है वही मैं हूँ। जो युक्ति या प्रमाण प्राप्ति के द्वारा विवेचना करके किसी एक विषय का निर्धारण करता है अथवा जो विचारता हुआ किसी सशय मे आ जाता है वही सब ज्ञान का मूलभूत कोई सत्य पदार्थ है जो 'मैं' हूँ ऐसा कहकर जाना जाता है। किन्तु उस अहम् अर्थात् आत्मा का उस ज्ञानीय प्रकाश के साथ इतना घनिष्ठ सम्बध है कि न अहम् के बिना यह जगत का प्रकाशन रूप ज्ञान रहता है और न इस ज्ञान के बिना वह 'अहम्' रूप आत्मा ही रह सकता है प्रत्युत यह कह सकते हैं कि वह ज्ञान ही हम हैं और हम ही वह ज्ञान है जब यह ज्ञान जगत् का प्रकाश करने वाला भासता है तो मिथ्या नही हो सकता। अत. इसको दूसरे प्रमाण बिना ही मान लेना होगा कि वह सत्य है। इस प्रकार ज्ञान के द्वारा जिसको हमने सत्य रूप मे पाया है, वही जीव आत्मा हैं।

१—हम देखते है कि कोई मनुष्य या पशु जब दूसरे मनुष्य या पशु को देखता है तो एकाएक ही उसके हृदय मे तुलना करने की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है और वह अपने को और उस दीखते हुए दूसरे को शीघ्रता के साथ झट तोल कर जान लेता है कि यह मेरे समान बलशाली है। अथवा कम या अधिक बलवाला है। कम बल का अन्दाज होते ही आत्मा उठने लगती है और उस पर आक्रमण करने की ठान लेती है यदि बाह्य क्रिया से आक्रमण न भी करें तो भी आत्मा एक प्रकार निर्भय और स्वतन्त्रता का आडम्बर अवश्य रचा बैठता है जिससे अपने में कुछ गौरव की झलक आ जाती है किन्तु जब उस दूसरी आत्मा को अपने से बलशाली पाता है तो उसकी अपनी आत्मा सहसा ही कुछ सकुचित होने लगती है यहाँ तक कि उससे दूर हटने की इच्छा प्रकट हो जाती है, अथवा यदि उस दूसरे को बल मे सदृश देखता है तो अकस्मात् इस बात का विचार करने लगता है कि देखें यह मेरे साथ क्या बर्ताव करता है। बस इस प्रकार की तुलना करने में जो तराजू का काम करता है, जहाँ से यह तुलना का बल उठता है वही जीव आत्मा का असली बिन्दु अथवा केन्द्र है।

२—तात्पर्य यह है कि किसी काम को करते समय उस कार्य को देखते ही शीघ्रता से यह अन्दाज बँध जाता है कि यह काम मेरे वश अथवा काबू का है या नही। इस प्रकार उस कार्य की जिस बल के साथ तुलना की जाती है उस बल का मुख्य आधार ही हमारी जीवन आत्मा हैं।

३—और भी इस प्रकार समझना चाहिए कि जब कभी आत्मा कुछ काम करने लगती है तो पहले उसमें यह विचार उठता है कि इस कार्य को करने मे बल खर्च करने से कितना दुःख होगा और इस कार्य के होने पर कितना सुख होगा, इन दोनों दुःख और सुख को जिस पात्र मे रखकर न्यूनाधिक का अन्दाजा बांधा जाता है वही हमारी जीव आत्मा है। इस प्रकार क्रिया के द्वारा भी जीव आत्मा पहचानी जाती है।

जीवसिद्धिसूत्र का सारांश

यह सब जगत् मुझको भासता है, मेरे ज्ञानरूपी प्रकाश मे यह जगत् भासता है। इस जगत् को प्रकाश करने वाले दो प्रकाश है–१–सूर्य का प्रकाश जिसका केन्द्र सूर्य है, २–मेरे ज्ञान का प्रकाश जिसके प्रकाश मे सूर्य का प्रकाश भी प्रकाशित है। अतः मेरे ज्ञानप्रकाश के महामडल का केन्द्र 'मैं' हूँ। मेरी अटल 'अहम् बुद्धि' ही मेरे विश्वप्रकाशक ज्ञान का केन्द्र है। इस अटल 'अहम् बुद्धि' को ही जीव आत्मा के नाम से कहते है।

वाद-विवाद के पश्चात् युक्ति अथवा प्रमाण से किसी सिद्धान्त का निर्धारण या संशय स्थित करना ज्ञान का व्यापार है। उस ज्ञान का मूलभूत जो सत्य पदार्थ है वही 'मैं' हूँ वही मेरी जीवात्मा है निर्णय या संशय निर्धारण करने पर उससे जहाँ से सत्यता आती है वही जीवात्मा है। मेरी 'अहम्' बुद्धि या 'आत्मा' का मेरे ज्ञान प्रकाश मंडल से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि न अहम्' बिना यह ज्ञान है और न ज्ञान बिना अहम् है जैसे सूर्य बिना प्रकाश और प्रकाश बिना सूर्य असम्भव है। कह सकते हैं कि अहम् ज्ञान है और ज्ञान ही अहम् है। जगत् का जितना ज्ञान है वह वस्तु की सत्यता को लिये हुए प्रकाश है क्योंकि उस प्रकाश मे किसी वस्तु का सत्य रूप मे होना पाया जाता है। इसी सत्यता को लिये हुए प्रकाश को अथवा प्रकाश को लिये हुए सत्यता को जीव आत्मा कहते है। यह जगत् का ज्ञान प्रकाश रूप है इसको प्रकाश करने की आवश्यकता नही क्योंकि यह स्वय प्रकाश है अतः स्वयं सिद्ध होने से सत्य है। इस प्रकार ज्ञान के द्वारा ही इस ज्ञान का सत्य रूपी केन्द्र जो 'अहम् बुद्धि' है वही जीव आत्मा है यह जीव-सिद्धि ज्ञान के द्वारा हुई।

सब सारांश का सारांश यह है कि मेरा विश्वप्रकाशक ज्ञान जिस से फैलता है उसी को मेरी आत्मा कहते हैं और वह मेरा ज्ञानप्रकाश ही मेरे जीने की दशा या अवस्था है अत. इसको जीवात्मा कहते हैं। मेरे सकल ज्ञान का केन्द्र 'ममत्व' है। यही ममत्व जीवात्मा है। ज्ञान का केन्द्र जो 'मैं' हूँ वह जीवात्मा है। सत्य-असत्य रूपी प्रकाश का जो स्रोत है वही जीवात्मा है। 'मैं' और मेरे ज्ञान के प्रति विशाल आकाश मे एकता करने वाला भी जो ज्ञानबिम्ब है वही जीवात्मा है। ज्ञानकेन्द्र, ज्ञानविवेक और ज्ञान एकता ही जीवात्मा है। आत्मा का सत्य–स्वय–सिद्धि बोध तो ज्ञान ही ज्ञान से होता है और ज्ञान तीन स्वरूपों मे हुआ है।

१—जब हमको किसी जीव के बल मे हमारे बल की तुलना करने का ज्ञानबल होता है तो उस बल का जो केन्द्र या बिन्दु है वही जीवात्मा है।

२—किसी काम करने की योग्यता के बल का अनुमान जिस बिन्दु से होता है वह जीवात्मा है।

३—जब किसी काम के करने मे बल का कार्य होता है उस दु ख मे अधिक सुख प्राप्ति हो तो कार्य किया जाता है,वरना नही। इस सुख-दु ख का तुलनात्मक यन्त्र है वह जीवात्मा है।

यह तो हुई ज्ञानधारक और क्रियाधारक जीवसिद्धि अब अर्थधारक जीवसिद्धि को यो समझना चाहिये—

४–(ख) अर्थधारक जीवसिद्धिसूत्र

इस शरीर मे मुख्यतया तीन प्रकार की आत्मा दीखती है १ अग्नि, २ वायु और ३ इन्द्र। यदि इस शरीर मे से गरमी निकल जावे तो तथा श्वास बद हो जाय अथवा आँख का टिमटिमाना बद हो जावे तो मनुष्य जी नही सकता। इसमे शरीर की गरमी अग्नि है उसे 'वैश्वानर' कहते है और श्वास का आना-जाना वायु से होता है उसे 'सूत्रात्मा' कहते हैं और तीसरा जिससे आँख की पलक खुलती-जुडती है वह 'इन्द्र' है, इन्द्र का स्थान मस्तक है इन्द्र की ज्योति कुछ हरे-नीले रग की झाँई देती हुई कभी-कभी आँखों के पलक के अन्दर दीख आती है, ज्योति के कारण हम वस्तुए देखते हैं अर्थात् यह सब बाह्यप्रकाशगोचर है और उसीसे हमारे शरीर मे चेतना है। तलवकार ऋषि कहते हैं कि यह इन्द्र वही विद्युत् है जो कभी बादल से निकलकर सम्पूर्ण आकाश मे दौडता हुआ दीखता है और इसी विद्युत् की क्रिया के द्वारा शरीर मे हमारा मन जो वास्तव मे प्राण के साथ बधा हुआ है सर्वत्र दौडता हुआ भासित होता है यह इन्द्र सूर्य से आता है और द्यौलोक का पदार्थ है। किन्तु वायु अन्तरिक्ष का पदार्थ है और अग्नि पृथ्वी का पदार्थ है इस प्रकार तीनो लोक से पृथक पृथक ये तीनो रस शरीर मे एकत्र होते हैं। इनका शरीर मे पृथक-पृथक स्थान है। इन्द्र का प्रकाश मुख से शिर मे प्रकाशित होकर सर्वाङ्ग शरीर मे काम करता है वायु वक्षस्थल मे रहकर सब शरीर मे काम करता है और अग्नि उदर मे रहकर सर्वाङ्ग शरीर मे कार्य करता है। इस प्रकार यद्यपि ये तीनो भिन्न-भिन्न स्थानो से आकर शरीर मे भिन्न स्थानो मे रहकर ज्ञान, क्रिया तथा भूत या अर्थ उत्पन्न करना इत्यादि पृथक-पृथक कार्य करते है तथापि इन तीनो का परस्पर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक के नष्ट होने से शेष दोनो भी नष्ट हो जाते हैं। अतः निस्सदेह प्रतीत होता है कि ये तीनो ही अवश्य किसी न किसी एक सूत्र मे बधे हैं। एक के नष्ट होने पर वह सूत्र नष्ट हो जाता है जिससे तीनो की मात्रा एक साथ नष्ट हो जाती है। वही इन तीनो मे तुरीय अर्थात् चौथा है। वास्तव मे वही जीवात्मा है जो प्रत्यक्ष न होने पर भी प्रत्यक्ष इन तीनो पदार्थों के परस्पर मेल कराने के कारण प्रतीत होता है। इसी आत्मा मे जिस प्रकार ये तीनो आत्मायें तीन लोक से आकर आश्रय पाती हैं उसी प्रकार चन्द्रमा से आकर उसका रस मन के रूप मे एक और आत्मा बनकर प्राण के साथ बँधा रहता है। तात्पर्य यह है कि शरीर मे पाच आत्मायें हैं किन्तु जिस प्रकार अँगुलियाँ हथेली के आश्रय से मिली रहती है उसी प्रकार अग्नि, वायु, इन्द्र और मन चारो आत्मा जिसके आश्रय से मिलकर शरीर मे रहती है अथवा इन चारो का कार्य पृथक्-पृथक् होने पर जिस एक आत्मा का काम कहलाता है वही आत्मा जीव आत्मा है और वही "मैं" हूँ। इस प्रकार अर्थ-द्वारा भी जीवात्मा की सिद्धि की गई है।

अर्थधारक – जीवसिद्धिसूत्र का साराश

इस शरीर मे ३ प्रकार की आत्मा हैं—अग्नि, वायु, सूर्य। इन से क्रमशः सर्वत्र शरीर मे गर्मी, श्वास का आना-जाना और आँख का निमेष—उन्मेष होता है। इनका आपस मे ऐसा घनिष्ट संबन्ध है

शरीर इनके बिना नहीं रह सकता। इनको मनुष्य शरीर मे वैश्वानर, तैजस या सूत्रात्मा और प्रज्ञात्मा कहते हैं। इन्द्र मस्तिष्क मे रहता है किन्तु इसका ज्योति कुछ हरे नीले रग की झांई देती हुई कभी कभी आंखों की पलक के अंदर दीख आती है। इसी ज्योति के कारण हम सब वस्तुओ को देखते हैं और यह जगत् प्रकाशित हो रहा है। इस ज्योति मे ही हमारे शरीर मे चेतना स्थिर रहती है।

तलवकार ऋषि कहते हैं कि कभी कभी आकाश मे जो विद्युत् दौड़ती और चमकती है वह इन्द्र है। हमारा मन जो प्राण मे बँधा हुआ है इसी विद्युत् की क्रिया द्वारा सर्वत्र दौड़ता हुआ भासित होता है यह इन्द्र सूर्य से आता है और द्यौलोक का पदार्थ है। वायु अन्तरिक्ष का और अग्नि पृथिवी का पदार्थ है। तीनों इस शरीर मे मस्तिष्क, हृदय और उदर स्थान मे रहकर सर्वत्र शरीर मे कार्य करते है। ज्ञान क्रिया और अर्थ उत्पन्न करना इनका कार्य है।

ये तीनो आत्मायें किसी न किसी सूत्राधार पर अवलम्बित हैं। इनमे से किसी के भी नष्ट होने पर वह सूत्र ही नष्ट हो जाता है और जिसके नष्ट होने से तीनो ही नष्ट हो जाती हैं वही सूत्र। इन तीनों का तुरीय अर्थात् चौथा है, वास्तव मे यही जीवात्मा है जो प्रत्यक्ष न होने पर भी इन आत्माओ मे मेल कराने के कारण प्रतीत होता है। इसी आत्मा मे इन तीनो आत्माओ की तरह ही चन्द्रमा का रस मन के रूप मे एक और आत्मा बनकर बँधा रहता है। इस प्रकार ये चारो आत्माये अग्नि, वायु, इन्द्र और मन जिसके आश्रय से हथेली मे अँगुलियो के सदृश रहते है वही जीवात्मा है। इन चारो का कार्य पृथक् पृथक् होने पर भी जिस आत्मा, का एक कार्य कहलाता है वही जीवात्मा है और वही "मैं" हूँ। इस प्रकार अर्थ द्वारा भी जीवात्मा की सिद्धि की गई है।

५—अन्तर्जगत् सिद्धिसूत्र

जबकि 'मैं' हूँ इस प्रकार का भान निर्विवाद सिद्ध है तो इस भान से वेत्ता की सिद्धि से वित्ति और 'वेद्य' इन दोनो की भी साथ ही सिद्धि हो जाती है क्योकि वेत्ता, वित्ति और वेद्य इन तीनों से त्रिपुटी बनकर एक प्रत्यय होता है जिसको ज्ञान कहते है। इस प्रत्ययज्ञान का एक भाग वेत्ता यदि सिद्ध हो गया तो उससे वित्ति और वेद्य की भी सिद्धि अवश्य ही माननी पड़ेगी क्योकि वह वेत्ता पृथक् कोई ज्ञान नही है किन्तु त्रिपुटी-प्रत्यय ज्ञान का एक अंश है। अत वेत्ता का सत्य मानना ही त्रिपुटी प्रत्यय को सत्य मानना है, बिना वित्ति और वेद्य के वह प्रत्यय जिसका वेत्ता है सिद्ध नही हो सकता। प्रत्यय की असिद्धि मे वह वेत्ता भी सिद्ध नही हो सकता किन्तु वेत्ता यदि निर्विवाद सिद्ध है तो मानना होगा कि प्रत्यय भी सिद्ध है और जब प्रत्यय की सिद्धि मान ली गई तो उसके त्रिपुटी होने के कारण वह भी मानना होगा कि वित्ति और वेद्य ये दोनो अंश भी सिद्ध हो चुके। कोई कहे कि वेत्ता, वित्ति और वेद्य ये तीनों तीन ज्ञान है तो इस पर हम कहेंगे कि यह उनकी भूल है क्योकि खूब ढूंढ कर देखने से भी कोई ऐसा ज्ञान नही दीखता कि जिसमे जानने वाला, जानना और जानी गई वस्तुयें तीनो मिले हुए न हो अथवा इन तीनो मे से एक ही हो। जबकि प्रत्येक ज्ञान इन तीनो मे से मिलकर बनता है तो अवश्य मानना होगा कि एक प्रत्यय ज्ञान के ये तीनो अवयव हैं। ऐसी स्थिति में जब इस एक ही प्रत्यय ज्ञान का एक भाग जिसको वेत्ता कहते हैं और जिसका 'अहम्' रूप है वह यदि सत्य मान लिया गया तो यह कब हो सकता है कि उसी एक प्रत्यय ज्ञान के दूसरे दो

अवयव विति और वेद्य मिथ्या ठहराये जावें। वेत्ता को सत्य कहने के लिये जबकि उस प्रत्ययज्ञान को ही सत्य मान लेना पडेगा तो उसके और भी अवयव अर्थात् विति और वेद्य सत्य हो चुके। अतः हमारे इस प्रत्ययज्ञान के जिस ज्ञान मे मैं अपने को सत्य रूप मे पाता हू उसी ज्ञान का विषय यह सम्पूर्ण जगत् जो मेरे ज्ञान मे भासता है उसको भी सत्य कहने की मैं प्रतिज्ञा करता हू।

दूसरी बात है कि प्रत्यय ज्ञान के प्रकाश से जो प्रथम 'अहम्' अर्थात् वेत्ता का भान हुआ है उस वेत्ता को भी हम वेद्य कह सकते है और विति को भी वेद्य कह सकते हैं क्योकि जो वेद्य नही है यह जानी ही नही गई और नही जानी हुई वस्तु की सत्ता ही नही की जा सकती। यदि विति और वेत्ता वेद्य नही होते तो हम त्रिपुटी का भी अनुभव नही कर सकते, ऐसी स्थिति मे जब कि तीनो ही वेद्य हैं तो उनमे से एक जो अहम् है उसी को सत्य मानें और शेष दोनो वेद्यो को मिथ्या कहे यह कदापि सभव नही हो सकता। क्योकि एक ही ज्ञान के प्रभाव से एक साथ तीनो ही वेद्य हुए हैं, यदि उनमे कोई भी एक सत्य है तो वेद्य होने के कारण तीनो को ही सत्य कहना होगा। यह वह प्रत्यय है कि जिसमे 'मैं' और सम्पूर्ण जगत् के साथ मेरा सबध तीनो ही शामिल है और वह प्रत्यय हम सब को अपने आप स्वत सिद्ध भासता है अतः दूसरे प्रमाणो की अपेक्षा न रखकर उसको स्वतः प्रमाण कहते हैं और उसका कोई बाधक न होने से त्रिकाल मे बाधा रहित है अतः सत्य है। तात्पर्य यह हैं कि पहले सूत्र मे जिस प्रकार 'अहम्' का सत्य होना निश्चित हुआ था उसी प्रकार अब हम इस सपूर्ण जगत् को भी सत्य समझते हैं।

अन्तर्जगत् सिद्धिसूत्र का सारांश

जगत् दो प्रकार का है—अन्तर्जगत् बाह्यजगत्। अन्तर्जगत् वह है जो हमारे ज्ञान मे चित्र होकर भासित है। इस अन्तर्जगत् को सत्य सिद्ध करना है। यह दो प्रकार से सत्य सिद्ध किया जा सकता है-प्रत्यय के सत्य होने से और प्रत्यय का विषय होने से। प्रत्यय के सिद्ध होने से जगत् सत्य सिद्धि—जानना या ज्ञान प्रत्यय कहलाता है। इस प्रत्यय ज्ञान के तीन अवयव हैं—जानने वाला वेत्ता, जानना विति, और जानने की वस्तु अर्थात् वस्तु चित्र वेद्य कहलाते हैं। अन्तर जगत् ही वेद्य कहलाता है। जीवसिद्धिसूत्र मे वेत्ता को सत्य सिद्ध किया है किन्तु वेत्ता सत्य नही हो सकता जबतक की प्रत्यय न हो लेवे। प्रत्यय जब सत्य है तो इसके तीनो अवयव भी सत्य है। इन तीनो मे से वेत्ता तो सत्य है ही किन्तु विति और वेदय भी सत्य हो चुके। बस जब वेत्ता सत्य है तो वेद्य भी सत्य है। प्रत्यय का विषय वेद्य है क्योकि वेत्ता और विति भी जाने जाते हैं अत जानने या प्रत्यय के विषय हैं। अतः वेत्ता, विति और वेद्य ये तीनो ही प्रत्यय के विषय सिद्ध हो गये। किन्तु इनमे वेत्ता सत्य सिद्ध हो चुका है तो विति और वेद्य भी सत्य सिद्ध हो चुके। इस प्रकार वेद्य विषय होने से सत्य है। बस इस प्रकार वेद्य अर्थात् अन्तर्जगत् की सत्यसिद्धि हुई।

६—जीवानन्त्यसिद्धिसूत्र

वेत्ता, विति और वेद्य ये तीनो एक ही वेत्ता की सिद्धि होते हैं अर्थात् वेत्ता जीव की सिद्धि जिस प्रत्ययज्ञान से होती है उसी से वेद्य जगत् की भी सिद्धि होती है ऐसा इसमे पूर्व के दोनो सूत्रो मे

रखा गया है। उसमें वेद्य कहकर जो जगत् समझा जाता है उसमे नदी, पर्वत आदि जड पदार्थों को छोड कर कुछ ऐसे चेतन पदार्थ भी दीखते हैं जो शरीर की बनावट मे धर्म और व्यवहारो मे हमारे समान ही प्रतीत होते हैं। सब प्रकार समान धर्म होने पर भी हम उनमें कुछ ऐसे विरुद्ध धर्म अर्थात् देश–काल आदि का भेद पाते हैं कि जिनमें हम उनको अपने से भिन्न कहते हैं। जबकि मैं जीव हूँ और मुझ मे जो जीव के लक्षण हैं वे ही सब धर्म उन दूसरों मे भी हम पाते है जिसमे उनको भी हम अवश्य जीव कह सकते हैं परन्तु 'मैं' और 'वे' कदापि एक नही हो सकते। देश, काल, शरीर आदि के भेद से हम अपने से उन सब मे विभिन्नता पाते हैं अतः कहना पडता है कि 'हम' और 'वे' सब भिन्न भिन्न प्रकार के अनन्त जीव हैं। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इस प्रकार प्रत्येक जीव आत्माओं की प्रकृति मे भेद पाते हैं और जन्म-मृत्यु आदि की भी भिन्नता है अतः सांख्य वाले कहते हैं जीव अनन्त है। जिस प्रकार एक ब्रह्माण्ड के नियन्ता एक २ सूर्य भिन्न होकर अनन्त ब्रह्माण्ड के अनन्त सूर्य हैं उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य के ज्ञान मण्डल भिन्न हैं। प्रत्येक ज्ञान मण्डल का नियन्ता जीवात्मा भी भिन्न २ ही हैं। यदि कोई कहे कि इस प्रकार जीवात्मा की अनन्तता भी वास्तविक नही किन्तु प्रात्यायिक अर्थात् केवल ज्ञान मात्र से है (खयाली है)। किन्तु इस पर हम कहेगे कि इस प्रकार जीवो का अनन्त रूप से भासना किस जीव के प्रत्यय का फल कहा जा सकता है क्योकि जिस प्रकार हम अपने मे सोचते है और अपने ज्ञान मे मैत्र को अपने ज्ञान का वेद्य समझते है। उसी प्रकार मैत्र भी अपने आप को सोचता हुआ मुझको अपने ज्ञान का वेद्य समझता है इसी प्रकार और भी सब समझते हैं। ऐसी स्थिति मे किसको, किसके खयाल को माना जावे यह निर्णय करना कठिन है। उचित यह ही है कि भिन्न जीवात्मा माना जावे। प्रत्येक जीवात्मा अपने २ ज्ञान मण्डल मे संपूर्ण जगत् को वेद्य बनाते हुए सब ही जीवात्माओ को वेद्य-रूप से ग्रहण करता है। हमारा वेद्य जिस प्रकार मैत्र और अन्य सब है उसी प्रकार मैत्र का भी वेद्य हम और अन्य सब हैं और अपने २ रूप मे इन वेद्यो को ग्रहण करने के कारण ये सब जीवात्मा भिन्न वेत्ता हैं।

जीवानन्त्यसिद्धिसूत्रसारांश

पूर्व के दोनो सूत्रो मे प्रत्ययज्ञान से ही वेत्ता और वेद्य की सिद्धि हुई है। उसमे वेद्य कह कर जो अन्तर जगत् सिद्ध किया गया है उस अन्तर्जगत् में दो प्रकार के पदार्थ भासते हैं—एक तो धर्म और व्यवहार मे मुझ से सदृश हैं किन्तु देश, काल, शरीरादि धर्मों मे भिन्न हैं और दूसरे ऐसे हैं जो मुझसे धर्म व्यवहार मे भी भिन्न हैं और देश, काल इत्यादि मे भी तो भिन्न हैं ही। ऐसे दो प्रकार के पदार्थों मे से प्रथम को चेतन या जीव कहते हैं और दूसरे को जड या अजीव कहते हैं। मेरे वेद के विषय मे जीव और जड है। उन जीवो मे 'मैं' भी एक जीव हूँ वैसे ही दूसरे भी मुझ जैसे जीव है। वेत्ता और वेद होने मे 'मैं' और, 'वे' एक हैं किन्तु देश, काल, पात्र से भिन्न हैं। इस एकता से जाति स्थिर होती है और भिन्नता से व्यक्ति नियत होते हैं। अतः सजाति मे भिन्न २ व्यक्तियो हैं। अतः मुझ जैसे जीव व्यक्तिगत अनेक या अनन्त है। देश, काल आदि से जीवो का अनन्त होना इस प्रकार सिद्ध हुआ।

सांख्यदर्शन मतानुसार जीव अनन्त हैं क्योकि सत्व, रज और तम गुणों से प्रत्येक जीव की प्रकृति में भिन्नता रहती है। इस भिन्नता से जीव अनन्त है और जन्म-मृत्यु आदि की भी भिन्नता से भिन्न हैं।

जैसे एक सूर्य एक ब्रह्माण्ड का नियन्ता है वैसे ही अनन्त ब्रह्माण्डो के अनन्त सूर्य नियन्ता है। ठीक इसी प्रकार जैसे एक जीव एक ज्ञानमण्डल का नियन्ता है वैसे ही अनन्त जीव अनन्त ज्ञान मण्डल के नियन्ता हैं। इसलिए भिन्न २ अनन्त जीव हैं। जीवो के अनन्त व्यवहार होने से जीव अनन्त हैं। एक ही समय मे कोई खाता है कोई पीता है और कुछ करता है।

७—अन्तर्जगदानन्त्य सिद्धिसूत्र

कहना यह है कि जो यह जगत् मुझको भास रहा है वही भासना जगत् का मूल हे। उसी भासने के आधार पर जगत् ठहरा हुआ है। यदि भासना नही रहता तो यह जगत् भी नि.सदेह नही रहता। मुझको भासता है इसी से हम इसकी सत्ता कायम करते है। किन्तु जिस प्रकार इस जगत् का मूल यह भासना है अर्थात् मेरा ज्ञानमण्डल है उसी प्रकार मेरे इस भासने का अर्थात् ज्ञानमण्डल का मूल भी मैं हूँ। इस प्रकार जबकि जगत् का मूल मैं सिद्ध हुआ तो कहना होगा कि यह जगत् भी अनन्त है क्योकि पहले कहा जा चुका है कि यह वेत्ता जीव अनन्त है तो प्रत्येक वेत्ता का ज्ञान मण्डल भिन्न-भिन्न होगा और प्रत्येक ज्ञानमण्डल मे भासता हुआ जगत् भी भिन्न-भिन्न ही होगा क्योकि मेरे ज्ञान से जो जगत् भासता है वह कदापि सभव नही कि राम के ज्ञानमण्डल से भासता हो क्योकि हमारे ज्ञान मे भासते हुए जगत् मे और राम के भासते हुए जगत् मे हम कही-कही प्रत्यक्ष भेद पाते है। जबकि मैं सूर्य को उगता हुआ देखता हू तो ठीक उसी समय मेरे पड्भान्तर पर अर्थात् मुझसे १८० अश की दूरी पर रहता हुआ राम उसी सूर्य को अस्त होता हुआ देखता है और तीसरे किसी की दृष्टि मे मध्याह्न का सूर्य है और चौथे किसी की दृष्टि मे और किसी समय का सूर्य है। इसी प्रकार कोई एक मनुष्य को मित्र रूप से देखता है तो दूसरा शत्रु रूप से। कोई वस्तु किसी के लिए आनन्दप्रद है तो वही वस्तु दूसरे के प्रति दुःखदायी है जिसकी आज्ञाकारी सतति और परिवार है, घर मे पूर्ण सपत्ति है और शरीर मे आरोग्यता है तो उसके लिये इस इस जगत् के सम्पूर्ण पदार्थ चारो ओर आनन्दमयी दीखते है किन्तु जिसके स्त्री, पुत्र दुःखदायी हैं और दरिद्री या रोगी है उसके लिये सपूर्ण जगत् दुःखमय प्रतीत होता है इत्यादि अनेक उदाहरण दिये जा है जिससे प्रतीत होता है जिस प्रकार प्रत्येक जीवात्मा भिन्न-भिन्न है उसी ही प्रकार उनके ज्ञानमण्डल भी भिन्न है अत उनके अपने-अपने ज्ञान मण्डल से बने हुए जगत् भी भिन्न है। जब कोई सुप्तावस्था अथवा मूर्च्छा मे रहता है तो उसके ज्ञानमण्डल के साथ-साथ उसका जगत् भी अस्त हो जाता है किन्तु उसी समय जागते हुए अन्य जीवो के जगत् भासित होते रहते है। अतः सिद्ध हुआ कि जिस प्रकार जीव अनन्त है उसी ही प्रकार उन जीवो से बने हुए जगत् भी अनन्त हैं।

८—अन्तर्जगदानन्त्यसिद्धिसूत्र का साराश

मेरे ज्ञानमण्डल मे जो अन्तर जगत् भासता है उस अन्तर जगत् के भासने का कारण मेरा ज्ञान-मण्डल है और मेरे ज्ञान का कारण 'मैं' हूँ। पूर्व के जीवनन्त्यसिद्धिसूत्र मे जीव अनन्त सिद्ध हो चुके है तो जीवो के अनन्त होने से अनन्त जीवो के ज्ञानमण्डल भी अनन्त हैं और अनन्त ज्ञानमण्डल होने मे उनमे भासने वाले जगत् भी अनन्त होगे क्योकि एक जीव के ज्ञानमण्डल के अन्तर जगत् मे देश, काल

इत्यादि के भिन्न होने से भिन्न हैं। अन्तर्जगत् के भिन्न-भिन्न होने के और भी प्रमाण है प्रथम एक ही सूर्य को एक ही समय मे भिन्न देश के कारण एक जीव ऊगता हुआ, दूसरा जीव अस्त होता हुआ और तीसरा मध्याह्न वाले सूर्य को देखता है। दूसरा-एक ही जगत् किसी को दु ख भरा हुआ और किसी को सुख से परिपूर्ण ज्ञात होता है। तीसरे किसी को एक ही व्यक्ति मित्र और किसी को शत्रु दीखता है। येनकेन-प्रकारेण और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं जिससे सिद्ध है कि भिन्न जीवों के भिन्न ज्ञानमण्डल मे भिन्न अन्तर्जगत् है अतः यह बात है कि सोते हुए या मूर्छा पाये हुए जीव या व्यक्ति का अन्तर्जगत् उसके ज्ञान-मण्डल के न रहने से नही रहता किन्तु उसी समय के जगत् मनुष्यो तथा जीवो का ज्ञानमण्डल रहने से अन्तर्जगत् भी कायम रहता है। बस अब सिद्ध है कि जैसे जीव अनन्त है वैसे ही उनके भिन्न-भिन्न ज्ञान-मण्डल के अनुसार अन्तर्जगत् भी अनन्त हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि रात्रि को एक हो चन्द्रमा को १०० या एक हजार मनुष्य एक ही समय मे देखें तो उनके भिन्न ज्ञानमण्डल मे भिन्न-भिन्न चांद है। ऐसे एक ही चन्द्रमा अनन्त ज्ञानो मे अनन्त सिद्ध हुआ इसी प्रकार एक ही मनुष्य या जगत् अनन्त सिद्ध हुए। जैसे एक ही वस्तु अनन्त कांचो मे अनन्त भासती है उसी प्रकार अनन्त जीवो के अनन्त चक्षु रूपी कांचो के द्वारा अनन्त ज्ञानमण्डलो मे यह एक ही जगत् एक ही समय मे अनन्त होकर भासता है।

अन्तर्जगतो अहमालम्बनत्व सिद्धिसूत्र

अन्तर जगत् की अनन्तता की सिद्धि मे यह आक्षेप है कि यदि यह जगत् ज्ञान का बना होता तो जीवो के ज्ञान के अनन्त होने से ज्ञान के बने हुए जगत् भी अनन्त हो सकते थे किन्तु यदि यह मान लिया जावे कि जगत् के प्रत्येक पदार्थ भातिसिद्ध नही हैं केवल सत्तासिद्ध है, तो ऐसी स्थिति मे ज्ञान के आधीन वस्तु की सत्ता नही प्रत्युत सत्ता के आधीन वस्तु का ज्ञान है। अत' वस्तु की सत्ता स्वतत्र है। वह ज्ञान के अनन्त होने पर भी अनन्त नही हो सकती। एक ही वस्तु को एक ही काल मे अनेक जीव देख सकते हैं। इस प्रश्न पर यह उत्तर है कि यह जगत् भले ही सत्तासिद्ध हो किन्तु उससे भातिसिद्ध वस्तु का खण्डन नही हो सकता। मानाकि आकाश मे चन्द्रमा हमारे ज्ञान से नही वह सृष्टि के आदि से स्वतः सिद्ध वस्तु है तथापि जब हम देखते हैं चन्द्रमा का ज्ञान होता है। यह ज्ञान कैसे हुआ यदि इसका विचार किया जावे तो तीन पक्ष की सम्भावना हो सकती है। एक यह कि ज्ञान मेरे अन्दर है, चन्द्रमा आकाश में है दोनो का दोनो मे सयोग नही हुआ किन्तु प्रकृति का नियम है कि आँख के सामने किसी चीज के रहने पर उसका ज्ञान हो जावे। दूसरा पक्ष यह है कि हमारी ज्ञान की वृत्ति आँख से बाहर निकल कर वस्तु के समीप जाकर उसको स्पर्श करता है और उसी से उसका ज्ञान होता है। तीसरा पक्ष यह है कि वस्तु के शरीर से उस वस्तु के रूप की मात्रा चारो ओर अनन्त निकली हुई रहती है किन्तु उसकी भी एक सीमा है उस सीमा के अन्दर यदि आँख हो तो उस पर वस्तु का रूप उसी तरह बैठता है जैसे कांच या जल पर वस्तु का प्रतिबिम्ब। विशेषता यह है कि उस आँख पर ज्ञान पैदा करने वाले कोई स्नायु मस्तक से आकर इस प्रकार जमे हुए हैं कि उनके द्वारा मस्तष्क से चक्षु तक ज्ञान की धारा प्रवाहित रहती है। जिस समय आँख का प्रतिबिम्ब पड़ा उस समय आँख पर बैठा हुआ प्रज्ञाप्राण जिसके द्वारा ज्ञान होता है वह उस वस्तु के रूप मे परिणत हो जाता है और उसी रूप मे आँख से मस्तक ज्ञान की धारा वहने लगती है। यह ज्ञान का बना हुआ वस्तु का रूप वस्तु के शरीर मे आँख पर आये हुए वस्तुरूप से सर्वथा भिन्न है

क्योंकि उस वस्तु के हटने या ढकने पर उस वस्तु का प्रतिविम्व वाला रूप भी आँख से हट जाता है किन्तु प्रज्ञाप्राण का वना हुआ ज्ञानमय उस वस्तु का रूप कदापि नही हटता और वह मेरे अन्दर बहुत समय तक बना रहता है । इससे विदित हुआ कि ये दोनो रूप भिन्न हैं एक भूतमय है और दूसरा ज्ञान-मय । भूतमय मे गुरुता है किन्तु ज्ञानमय मे गुरुता का लेश भी नही । इस प्रकार दो रूप सिद्ध होने पर भूतमय रूप को हम सत्ता सिद्ध कहेगे और ज्ञानमय रूप को अवश्य ही भातिसिद्ध कहना पडेगा । इन दोनो मे सत्तासिद्धि रूप वस्तु से इस प्रकार वधा हुआ है कि उस वस्तु के आलम्वन को छोड कर कदापि दूसरे के आधीन नही रह सकता किन्तु ज्ञानमय वस्तु का रूप हमारे साथ हमारे ज्ञान के आधीन रहता है । इसी से कहना पडेगा कि मेरे ज्ञान के अन्दर जो रूप भासता है वह उस वस्तु का भौतिक रूप नही है किन्तु मेरे ज्ञान का प्रातिभासिक रूप है । इस प्रतिभासिक या प्रात्ययिक रूप को हम अन्तर जगत् कहते हैं क्योंकि वह ज्ञान के अन्दर ही रहता है, ज्ञान के वाहर उसकी सत्ता नही है । इस प्रकार यह अन्तर्जगत् तो भातिसिद्ध है और ज्ञान का ही वना हुआ सिद्ध होता है । ऐसी स्थिति मे ज्ञान का अनन्त होने से वह जगत् भी पृथक-पृथक ज्ञान मे रहते हुए अनन्त है ।

सारांश

अन्तर्जगत् की अनन्तता सिद्धि पर किसी का आक्षेप है कि यदि यह जगत् ज्ञान से ही वना हुआ होता तो अनन्त ज्ञान होने से अनन्त हो सकता था अर्थात् जगत् भातिसिद्ध नही है यह तो केवल सत्ता-सिद्ध ही है, ऐसी स्थिति मे वस्तु-सत्ता ज्ञान के आधीन नही प्रत्युत ज्ञान वस्तु सत्ताधीन है और वस्तु सत्ता स्वतन्त्र है वह ज्ञान के अनन्त होने पर भी अनन्त नही हो सकती । एक ही वस्तु को अनन्त जीवो का एक ही काल मे देखना हो सकता है । यह आक्षेप अन्तर और वहिर्जगत् के भेद को न समझने वालो का है । वाह्य-सत्तासिद्ध जगत् एक ही होकर भी अन्तर-भाति-सिद्ध जगत् तो अवश्य ही अनन्त है । मनुष्य और चन्द्रमा मे इतना अन्तर होने पर भी वह मनुष्य के ज्ञान का विषय होने से भातिसिद्धि है और अनन्त है । चन्द्रमा के ज्ञान होने की रीति समझने के लिए तीन पक्षो की सम्भावना हो सकती है —

१—प्रकृति नियमानुसार आँख के सामने वस्तु के आने से ही ज्ञान हो जाता है ।

२—मनुष्य के ज्ञान की किरणें आँख से वाहर निकल कर वस्तु के समीप जाकर उसको स्पर्श करती है और उसी से उसका ज्ञान होता है ।

यह दोनो मत तो व्यावहारिको के है किन्तु पारमार्थिक वैज्ञानिको का तीसरा मत यह है:—

३—वस्तु के ऋक् सम्वन्धी साम के अन्दर वस्तु का प्रतिविम्व आँख पर वैसे ही गिरता है जैसे कांच या जल पर, अर्थात् वस्तु के रूप का चित्र आँख पर स्थिर हो जाता है किन्तु विशेषता यह है कि आँख चैतन्य है । मस्तक से आँख तक स्नायु के द्वारा ज्ञान की धारा वहती रहती है । और स्नायु मे प्रज्ञाप्राण के होने से ज्ञान होता रहता है । आँख पर ठहरा हुआ रूप या प्रतिविम्व प्रज्ञाप्राण मे अथवा प्रज्ञाप्राण उस रूप मे परिणत होकर उस रूप मे आँख मस्तक तक ज्ञान-धारा वहने लगती हैं । किन्तु ज्ञान का वना हुआ रूप उस वस्तु रूप सत्ता से भिन्न है क्योकि उस वस्तु के परोक्ष मे भी ज्ञान का वना हुआ रूप

नष्ट नहीं होता। अत स्पष्ट सिद्ध है कि ये दोनो रूप भिन्न है एक भूतमय और दूसरा ज्ञानमय। भूतमय मे गुरुता है ज्ञानमय मे लवलेश भी नही। अतः भूतमय रूप सत्तासिद्ध है और ज्ञानमय रूप भातिसिद्ध। एक ही जगत् मे दो रूप सिद्ध हुए एक बाह्य-भूतमय-सत्तासिद्ध दूसरा अन्तर-ज्ञानमय-भातिसिद्ध। सत्तासिद्ध रूप बाह्य जगत् से बधा हुआ वहाँ का वहाँ ही रहता है और भाति-सिद्ध रूप ज्ञानाधीन होने मे ज्ञान मे उस भूत वस्तु से भिन्न है। यह भौतिक नही किन्तु मेरे ज्ञान का प्रात्ययिक रूप है और वही प्रात्ययिक रूप अन्तर्जगत् कहलाता है क्योकि वह ज्ञान मे ही रहता है, ज्ञान से बाहर उसकी सत्ता नही। इस प्रकार यह अन्तर्जगत् जो भातिसिद्ध है ज्ञान का ही बना हुआ सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति मे ज्ञान अनन्त होने से वह जगत् भी पृथक् पृथक् ज्ञान मे रहते हुए अनन्त है।

६—बहिर्जगत् सिद्धिसूत्र

मैं, मेरा भ्राता, पिता, मित्र, शत्रु इत्यादि भिन्न रूप मे हमे भासते है। उनमे कितने मर गये कितने मरेंगे तथापि यह विश्व कदापि नष्ट न हुआ न होगा। एक जीव की मृत्यु पर अथवा मोक्ष होने पर सभव है कि उस जीवात्मा का ज्ञान मण्डल पृथक् रूप से न रहे, सर्वथा नष्ट हो जावे तथापि क्या उस ज्ञान के नाश से विश्व का नाश होना सभव है, कदापि नही। चैत्र की मृत्यु से मैत्र का अन्तर्जगत् नष्ट नही होता उसी प्रकार मैत्र के नष्ट होने पर भी जगत् नष्ट नही होता। हम जब गाढ निद्रा मे सो जाते है या मूर्छा मे रहते है तो अवश्य मेरे साथ ही मेरा सपूर्ण विश्व मण्डल मुझमे लय हो जाता है तथापि यह विश्व बाहर ज्यो का त्यो बना रहता है क्योकि हम देखते है कि जब दूसरा मनुष्य गाढ निद्रा में सो जाता है या मूर्छित रहता है तथापि यह जगत् हमे भासता रहता है। इससे जाना गया कि यह विश्व मण्डल हमारे ही ज्ञान के आधीन नही है, किन्तु स्वतन्त्र है।

१—अन्तर्जगद् बहिर्जगतोः पृथकत्व सिद्धिसूत्र

कदाचित् इस पर कोई कह सकता है कि बाहर कोई जगत् स्वतन्त्र रूप से नही है केवल जो मनुष्य जाग्रत् अवस्था मे है उसी का ज्ञान मण्डल केवल उसी को जगत् दिखा रहा है। जितने जीवात्मा जाग्रत हैं उन्ही के ज्ञान मण्डलों के आधार पर यह सम्पूर्ण जगत् खडा हुआ दिखता है। वास्तव मे ज्ञान मण्डल से बाहर स्वतन्त्र रूप से किसी बाह्य जगत् की सत्ता सर्वथा नही है तो इस पर हम कहेंगे कि यदि जगत् मेरे ही ज्ञान के आधार पर है और मेरे ही ज्ञान का बना हुआ है तो कोई भी जीवात्मा किसी दुःख दारिद्रय के कारण किसी स्थिति मे भी विवश न होता, अपने ही ज्ञान से सुख-साम्राज्य की समृद्धि स्वेच्छा रूप मे पाता, स्थानान्तर मे न जाकर सभी स्थानो को इच्छानुसार अपने ज्ञान से कल्पना कर लेता। परन्तु हम देखते हैं कि ज्ञान करने पर भी जो, जहाँ, जैसा हम चाहते है वैसा नही होता। मेरी इच्छा के विरुद्ध कहीं मुझको भय देने वाली वस्तु दीखती है और वह मेरी इच्छानुसार नही हटती। अतः जाना जाता है कि मेरे ज्ञान से बाहर कोई न कोई वस्तु स्वतन्त्र रूप से अवश्य है कि जिसकी सत्ता के अधीन मेरे ज्ञान की सत्ता है। जहाँ, जो, जैसी वस्तु है नियम से उसी स्थान पर वैसा ही मेरा ज्ञान उत्पन्न होता है। मेरे ज्ञान उत्पन्न होने का कारण स्वतन्त्र रूप से बाहर है उसी को हम बहिर्जगत् कहते हैं। यद्यपि वह बहिर्जगत् मेरे

ज्ञान मे नही आता इसीलिए हम उसको वहिर्जगत् कहते है, तथापि यदि वह न होता तो एक ही स्थान पर बीस मनुष्यो को ही एक रूप मे एक वस्तु का ज्ञान नही होता। प्रत्येक के ज्ञान मण्डल भिन्न होने के कारण स्वतन्त्र रूप से भिन्न कुछ का कुछ दीखता। किन्तु एक ही रूप मे सबको दिखने के कारण किसी परोक्ष वस्तु का होना अनुमान से पाया जाता है और उसी के अधीन मेरा ज्ञान मण्डल है जिसको हम देखते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि जगत् दो प्रकार का है–१–जो मेरे ज्ञान मे भासता है, यह सब पदार्थ मेरे ही ज्ञान के अन्दर हैं और मेरे ही ज्ञान का बना हुआ है–२–किन्तु दूसरा एक जगत् मेरे ज्ञान के बाहर है और स्वतन्त्र सत्ता रखता है और वही मेरे ज्ञान वाले अन्तर्जगत् का कारण भी, यही जगत् वहिर्जगत् कहलाता है।

यदि कोई कहे कि इस प्रकार वहिर्जगत् की आवश्यकता होने पर इस सम्पूर्ण जगत् को केवल वहिर्जगत् ही क्यो न मान लिया जाय—अन्तर्जगत् और वहिर्जगत् कह कर दो प्रकार का जगत् क्यो माना जाता है क्योकि सम्भव है कि हमारी ज्ञान इन्द्रिय बहिर्जगत् से स्पर्श करके ज्ञान पैदा करता हो जिस प्रकार सूर्य या दीपक अपने प्रकाश से उन्ही वस्तुओ को प्रकाशित करता है जो कि प्रकाश के आने पहले भी वहा विद्यमान थे। जो वस्तु विद्यमान ही नही वह प्रकाशित नही होती। इससे ज्ञात हुआ कि वस्तु की सत्ता प्रकाश आधीन नही है, स्वतन्त्र है। ठीक इसी प्रकार हमारा ज्ञान भी एक प्रकार से है उसके अधीन किसी वस्तु की सत्ता नही। प्रत्युत स्वतन्त्र रूप से वस्तु की सत्ता रहने पर ज्ञान से प्रकाशित होती है जैसे सूर्य का प्रकाश हाथी, घोडा नही बनता किन्तु वर्तमान हाथी, घोडे को दिखा देता है वैसे ही ज्ञान भी हाथी, घोडा न बनकर विद्यमान हाथी घोडे को दिखला देता है। ऐसी स्थिति में किसी अन्तर्जगत् का होना पाया नही जाता केवल ज्ञान के बाहर रहने वाली वस्तुओ का ज्ञान से संसर्ग हो जाना ही उस वस्तु का ज्ञान कहलाता है अतः सिद्ध हुआ कि केवल वहिर्जगत् ही सब वस्तु है। अन्तर्जगत् कोई वस्तु नही।

इस आक्षेप का उत्तर हम इस प्रकार देवेंगे—जो उदाहरण-सूर्य या दीपक के प्रकाश का दिया गया है वहाँ भी दो प्रकार पदार्थ हैं—एक वह हाथी जो बहुत भारी वाहरी किसी प्रदेश मे खडा रहता है उसका प्रकाश होना मानो हमारी दृष्टि मे आना है परन्तु क्या आप विचार सकते है कि वह भारी हाथी आपकी आँख पर सवार हो गया ? कदापि नही। वह अपने स्थान को किञ्चित् मात्र भी नही छोडता केवल उस हाथी के वाहरी चर्म के ऊपर जितने परमाणु हैं जिस रग के है उन परमाणुओ का ससर्ग करके सूर्य का प्रकाश उसी रग मे रग कर वहाँ से उलटा निकलता हुआ (Reflected) आँख पर आता है, उसी से आँख पर उन्ही किरणो कि एक प्रकार हाथी की सूरत बन जाती है जिसको कि हाथी आँख पर आना कहते है। यह आँख का हाथी अवश्य ही उस वाहरी हाथी से भिन्न है। इस प्रकार जैसे सूर्य के प्रकाश मे दो हाथी की सिद्धि हुई उसी प्रकार ज्ञान प्रकाश मे भी दो हाथी मानना उचित है। इस कारण यह है कि जब हम हाथी को देखते हैं तब एक ही हाथी हम अपने शरीर से बाहर किसी जगह देखते हैं किन्तु मान लीजिये कि वह हाथी वहाँ से कही चला गया तो उस दशा में भी मेरी आँखों के सामने यदि मैं कल्पना करूँ तो उसी प्रकार का हाथी दीखेगा जिसको कि हम या आप कल्पित मानेंगे। इस कल्पित से तात्पर्य यह है कि वह आपके ज्ञान का बना हुआ है। इस कल्पित हाथी और

प्रत्यक्ष हाथी से अब कुछ सम्बन्ध नहीं है, दोनो ही स्वतन्त्र है। उस प्रत्यक्ष हाथी से जिसको हम वहिर्जगत् कहते हैं इस कल्पित हाथी जिसको हम अन्तर्जगत् कहते है भिन्न मानना पडेगा क्योकि यह हमारे ज्ञान के अन्दर है। इस प्रकार वहिर्जगत् के साथ-साथ अन्तर्जगत भी मानना पडता है।

इसके अतिरिक्त हम देखते है कि जिस वस्तु की बाह्य सत्ता इस समय सर्वथा नही है ऐसी भूत-वस्तु या भविष्य वस्तु या कितनी ही विचारणीय वस्तुयें जिनका कोई व्यक्ति विशेष नही है ये सब कल्पना अच्छी तरह विचारे जा सकते है कल्पना मे एक प्रकार का उनका स्वरूप बनकर ज्ञान की मर्यादा बनती रहती है। उन स्वरूपो को कदापि कोई भी वहिर्जगत् नही कह सकता। बिना बहिर्जगत् के केवल अन्तर्जगत् की ही वहां सत्ता सिद्ध होती है अतः बहिर्जगत् के अतिरिक्त अन्तर्जगत् की भी सत्ता मानना आवश्यक है। अथवा यो कहिये कि जितने आप वहिर्जगत् कह रहे हैं वे वास्तव मे सब अन्तर्जगत् हैं क्योकि वहिर्जगत् के पदार्थ जबकि ज्ञान के बाहर है तो ज्ञान से उनका व्यवहार हो ही नही सकता; केवल अन्तर्जगत् के कारण कह कर कल्पना किये जा सकते हैं किन्तु जिनका मुझको ज्ञान है वे सब स्वरूप मेरे ज्ञान के अन्दर है। सम्पूर्ण जगत् के पदार्थो का हमको ज्ञान है अतः वे सब हमारे ज्ञान के अन्दर हैं इसीलिये वे सब अन्तर्जगत् है। आप यदि अपनी एक आंख की पुतली को अँगुली से जरा टेढी करके देखें तो आपको दोनो आँखो की गति भिन्न होने के कारण एक हाथी की जगह दो हाथी दीखेंगे। उन दोनो हाथियो मे से वायाँ हाथी बाई आँख के बन्द करने से और दाहिना हाथी दाहिनी आँख के बन्द करने से लोप हो जाता है। उस जगह यदि उन दोनो हाथियो मे से एक भी हाथी अपनी सच्ची सत्ता से स्वतन्त्र होता तो हमारे हजार बार आँख बन्द करने से भी अदृश्य नही होता। इससे जाना गया कि उन दोनो कि सत्ता मेरे ज्ञानाधीन है। अत उनको हम अन्तर्जगत् कहते हैं। इस प्रकार अन्तर्जगत् और वहिर्जगत् इन दोनो की पृथक-पृथक सत्ता सिद्ध होती है।

११—ज्ञानोपपादन सिद्धिसूत्र

इस प्रकार अन्तर्जगत् और वहिर्जगत् इन दोनों की उत्पत्ति पृथक-पृथक बताई गई किन्तु ये दोनो इसलिये भी आवश्यक होते है कि बिना इन दोनो के किसी ज्ञान का स्वरूप सिद्ध नही होता, इन दोनो के सयोग से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है और वह इस प्रकार है—

मैं जो जीवात्म हूँ वह अनन्त शक्तियो का एक घन है अर्थात् इस जगत् मे जितनी शक्तियाँ काम करती है पृथ्वी, आकाश के आवरण मे हर कही भी जिन शक्तियों से इस जगत् का चक्र चल रहा है उन सब शक्तियो का एक-एक बिन्दु एकत्र करके यदि कोई स्वरूप बने तो वही मेरी आत्मा है और वही मैं हूँ किन्तु उसमे सभी शक्तिया हर समय काम नही करती, कितनी ही उनमे दवी हुई है (सर्वथा) जो समय-समय पर बाह्य समग्री की उत्तेजना पर कार्य करने लगती है किन्तु कितनी ही शक्तियाँ उसमे सर्वथा उभरी हुई रहती है उन उभरी हुई शक्तियो ही को हम इन्द्रिया कहते है यह इन्द्रिया मेरी आत्मा की भिन्न शक्तिया हैं जो आत्मा के अतिरिक्त नही रहती और न आत्मा से पृथक् होती हैं वे सब इन्द्रिया मिल जुल कर एक आत्मा का स्वरूप बनता है। इस इन्द्रिय पर जो कि आत्मा का एक भाग है बाहर

के किसी पदार्थ का सूर्य आदि प्रकाश के द्वारा योग होने पर उस बाहरी पदार्थ का और उस इन्द्रिय का कुछ कुछ अंश आपस मे मिलकर दोनो के विकार से एक नई चीज बन जाती है उसी को रूप, रस, गन्ध आदि का ज्ञान कहते है। इन दोनो मे रूप, रस आदि का जो भिन्न भाव मिलता है वह बाह्य पदार्थों का अंश है और जो उनका प्रकाश हमारी आत्मा मे कुछ मालूम होता है वही इन्द्रिय का अंश है। इन दोनो मे से यदि एक भी हटा दिया जाय तो किसी भी ज्ञान का कोई भी स्वरूप कदापि नही बनेगा।

हम देखते हैं कि तेल मे कोई भी दोष होने से दीपक की ज्योति फीकी और धुंधली हो जाती है ठीक इसी प्रकार बाह्य पदार्थ मे यदि अन्धकार, सूक्ष्मता आदि कोई दोष मिला हुआ रहे तो उसके संसर्ग से उत्पन्न हुआ ज्ञान फीका और धुंधला होता है अत उसको संशय या भ्रम कहा करते है।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि इस ज्ञान मे कुछ बाह्य पदार्थों का अंश भी सम्मिलित होता है इसी कारण हमारा ज्ञान जो मेरी आत्मा मे होता है उसमे भी बैठे हुए भासते हैं मेरे ज्ञान के भीतर रहने पर भी जो उन वस्तुओ मे बाह्यपन हमे भासता है वह बाहर से पदार्थ का अंश आने के कारण से ही होता है। यदि बहिर्जगत् नही होता तो बाह्य पदार्थों का अंश कोई भी ज्ञान मे सम्मिलित नही होता। उस समय मेरा ज्ञान मेरी ही आत्मा के आधार पर होना माना जायगा तो ऐसी स्थिति मे हमारे ज्ञान के अन्दर प्रतीत हुई चीजो का जो बाह्य किसी देश काल से सम्बन्ध मालूम होता है वह निर्मूल हो जाता है अतः हमारे इस ज्ञान मे अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् दोनो की आवश्यकता स्पष्ट है।

इस प्रकार ज्ञानोत्पत्ति की व्यवस्था मानी जाती है किन्तु इसमे बहुतो की विप्रतिपत्ति है। वे कहते हैं कि किसी ज्ञान मे भी बाहर के पदार्थ का कुछ भी अंश सम्मिलित नही होता क्योकि ऐसा होने से जहाँ पर एक वस्तु को सहस्रो प्राणी देखते है तहाँ उन सहस्रो ज्ञानो मे उस वस्तु के सम्मिलित होने से वह वस्तु अवश्य ही कुछ न्यून हो जाती किन्तु ऐसा नही होता, इससे ज्ञात होता है कि वह बाह्य वस्तु मेरी इन्द्रियो पर केवल आघात करता है उसी से मेरी इन्द्रियो का स्वरूप बदल जाता है उसी को हम ज्ञान कहते है। जिस प्रकार जल मे वायु के आघात से लहरें उत्पन्न हो जाती है किन्तु वे लहरें केवल जल ही का विकार है उसमे वायु का अंश सम्मिलित नही होता इसी प्रकार यह भी जानो। जो काला-पीला रंग हमारे ज्ञान मे भासता है वह वस्तु का अंश नही बल्कि मेरा ज्ञान ही उस रग मे बदल गया है अत' कहना होगा कि केवल इन्द्रियो के विकार होते हुए सभी ज्ञान मेरे आत्मा ही का विकार है किन्तु फिर भी मेरे ज्ञान मे भासती हुई चीजो मे जो बाह्य प्रदेश का सम्बन्ध पाया जाता है उसमे बाहर के पदार्थ का अंश सम्मिलित होना कारण नही है किन्तु बाहर से आते हुए वस्तुओ का जो आघात पहुंचता है उसमे समीपता और दूरी के कारण कुछ विशेषता आ जाती है उसी से ऐसा बाह्यपन का प्रतीत होना इन्द्रियो का स्वभाव है।

इसी तरह भ्रम या संशय होने मे बाह्य वस्तुओ के अंश का दोष कारण बताया गया है किन्तु वास्तव मे वह आघात का दोष है। यदि इन्द्रियो की धरातल पर पूर्ण रीति से आघात पहुंचे तो इन्द्रिय का परिणाम पूर्ण रीति से होगा और ज्ञान भी स्वच्छ होगा किन्तु आघात मे कमी होने से परिणाम ठीक न होकर ज्ञान अधूरा रह जाता है।

इस प्रकार ज्ञानोत्पत्ति की दो व्यवस्था हैं-एक मे हमारी इन्द्रिय के अंश के साथ वाह्य वस्तु के अंश का मिल कर ज्ञान होना कहा गया है। और दूसरे मत मे वाह्य वस्तु के कुछ भी अंश न मिल कर केवल उनके आघात मात्र से इन्द्रिय के अंश का विकार होना ही ज्ञान का होना कहा गया है। यद्यपि इस मत में ज्ञान होने मे वाह्य वस्तु के कुछ अंश की भी आवश्यकता नही होती है तो भी केवल आघात पहुचाने ही के लिए वाह्य वस्तु की सत्ता माननी पडती है। तात्पर्य यह है कि चाहे कोई मत हो, सब मतो से ज्ञान की उत्पत्ति में वाहर की वस्तु की सत्ता और आत्मा की सत्ता इन दोनो की आवश्यकता है। इस प्रत्येक ज्ञान से वहिर्जगत् की सत्ता सिद्ध होती है।

प्रत्येक ज्ञान का विषय तीन प्रकार का है—१ मौलिक, २. माण्डलिक, ३. प्रात्ययिक। मौलिक, जगह रोकने वाला और भौतिक है। किन्तु उसी मौलिक के चारो ओर उसी के समान आकृति वाले ऋक् मण्डल रूप की कोई अदृष्ट प्रतिकृति (image) दूर तक फैली हुई है जो आँख पर आने से काच के समान प्रतिविम्वत होती है वही माण्डलिक है यह भी भौतिक है किन्तु स्थान नही रोकता अतः इसको प्राणमय कहते हैं। यह मौलिक से लेकर आँख तक रहता है किन्तु आँख से मस्तक तक एक तीसरा मनोमय विषय पैदा होता है उसको प्रात्ययिक या मानस कहते है मौलिक एक है किन्तु प्राणमय और मनोमय रूप अनन्त है। मनोमय का सम्वन्ध अन्तर्जगत् से और भूतमय और प्राणमय का वहिर्जगत् से है।

यदि वाहर कोई वस्तु नही रहती है तो मेरे चाहने पर भी किसी वस्तु की सत्ता वाहर नही होने पाती इससे ज्ञात हुआ कि वाह्य सत्ता मेरे ज्ञानाधीन नही है। इस लिए कोई स्वतन्त्र वहिर्जगत् मानना आवश्यक हुआ वाहर किसी वस्तु के रहने पर जिस प्रकार मुझको उस स्थान पर उसका ज्ञान होता है उसी प्रकार जगत् के प्रत्येक मनुष्य को उस वस्तु का ज्ञान उसी स्थान पर हुआ करता है। इसलिए भी वहिर्जगत् की स्वतन्त्र सत्ता माननी पडती है और उसी के आधीन ही मेरे ज्ञान का होना पाया जाता है। इतना होने पर भी हम कह सकते है कि जो वस्तु वहिर्जगत् के रूप मे वाहर है वही मेरे ज्ञान के अन्दर भी भासता है यह वात कदापि नही है क्योकि इस ज्ञान के अन्दर वाले पदार्थ मे लेश मात्र भी गुरुता नहीं है और वाहर मे है, इससे सिद्ध हुआ कि वहिर्जगत् के साथ हमारी आत्मा का इन्द्रियो के द्वारा सयोग होने पर उसी वस्तु के रूप मे हमारी आत्मा का परिणाम होता है और वही परिणाम चिरकाल तक मेरी आत्मा मे स्थिर रहता है उसी को हम अन्तर्जगत् कहते है। इस प्रकार अन्तर्जगत् और वहिर्जगत् अवश्य ही पृथक् पृथक् मानने पड़ते है।

यहाँ एक वात और भी जान लेना आवश्यक है कि वहिर्जगत् का पदार्थ सूर्य किरणो द्वारा हमारी आत्मा के ज्ञान धरातल मे आकर जितना आघात करता है उतने ही अंश का ज्ञान होता है। इन्द्रिय रूप के उस ज्ञान धरातल पर जो अंश नही आता है अथवा आकर हट जाता है उसका ज्ञान नही हो सकता। इस ज्ञान धरातल पर उसका आघात जैसा होता है ठीक उसका चिन्ह उस आत्मा के ज्ञान पर वन जाता है वह संस्कार (अतिशयाधान, वनावट) कहलाता है और उसी के द्वारा पश्चात स्मरण हुआ करता है। आघात अधिक होने से अधिक से अधिक ज्ञान होता है तात्पर्य यह है कि स्पर्श के तारम्य से ज्ञान उत्पन्न होने मे भी तारतम्य हुआ करता है।

यहाँ पर कितने ही आक्षेप किया करते हैं कि यह आत्मा या ज्ञान कमल पत्रवत् निर्लेप हैं और असग हैं अतः बाह्य वस्तुओ का आत्मा या ज्ञान पर आकर आघात करना और आघात से चिन्ह होना दोनो असत्य है। किन्तु इस पर हम कहेगे कि आत्मा या ज्ञान अवश्य ही निर्लेप या असङ्ग है किन्तु इसका यह है कि जिस प्रकार जल और वायु मरकर एक नई वस्तु फेन पैदा होता है उसी प्रकार यह ज्ञान किसी के साथ इस प्रकार मिले कि मर कर नई वस्तु पैदा करे ऐसा सङ्ग उसमे नही होता। किन्तु जब हम प्रत्यक्ष देखते है। कि हर्ष, शोक होने का प्रभाव हमारे ज्ञान पर पडता है और ज्ञान सकुचित और विकसित होता है और इस सकोच, विकास का कारण बाह्य वस्तु का सयोग ही कहा जाता है तो हम अवश्य कहेगे कि बाहर की वस्तु का आघात आत्मा या ज्ञान पर अवश्य पडता है किन्तु वह बाह्य वस्तु उस आत्मा के स्वरूप के अन्दर घुस नही जाता। इतने इतने ही से उसको निर्लेप या असङ्ग कह सकेंगे।

एक बात और जानना चाहिये कि इस आत्मा या ज्ञान पर बाह्य वस्तु का आघात आत्मा के अशो को व्याप्त करके नही होता किन्तु किसी न किसी प्रदेश मे सयोग होकर उतने ही ज्ञान के अ श मे उस वस्तु का ज्ञान प्रकट होता है यद्यपि आत्मा प्रकाश को ही हम ज्ञान कहते है इसलिये आत्मा ज्ञानमय है किन्तु यहाँ ज्ञान से अभिप्राय अर्थ-ज्ञान से है। जबकि आत्मा किसी वस्तु के रूप मे परिणत होता है तो उसी को वस्तु ज्ञान कहते है। अत आत्मा के जितने अ श से किसी वस्तु का प्रकाश हो रहा है वही भाग ज्ञान है। इसके अतिरिक्त जितने आत्मा के अ श शेप हैं वे उस समय किसी भी वस्तु का ज्ञान नही करा रहे हैं। इसलिये उस अवस्था को हम अज्ञान कहेगे।

प्रत्येक वस्तु के ज्ञान के समय आत्मा का बहुत अल्प अ श वस्तु के रूप मे परिणत होकर ज्ञान का रूप धारण करता है और शेप अधिक अ'श अज्ञान के रूप मे रहता है अतः प्रत्येक समय ज्ञान का अ श चारो ओर अधिक अज्ञान के अ श से घिरा रहता है इस कारण यह जीवात्मा सर्वज्ञ नही कहलाता और अज्ञान की मात्रा अधिक रहने के कारण दु ख और भय की मात्रा जीवात्मा मे अधिक रहा करती है अत गीता मे भगवान् ने कहा है —

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः

यह बहुत ठीक है क्योकि यह मेरी आत्मा जो इस शरीर मे इन्द्र है वह अपने इन्द्रियवर्गो के द्वारा ही अर्थवर्ग का स्पर्श करती है। बिना इन्द्रियो के किसी अर्थ से साक्षात् सम्बन्ध नही करता। किन्तु ये इन्द्रियाँ सभी सब अर्थो को स्पर्श करने की क्षमता या योग्यता नही रखती। इसलिये किसी विशेष इन्द्रिय से भी ज्ञान करते समय किसी विपय का ज्ञान आत्मा को होता है किन्तु उसके अतिरिक्त किसी भी अन्य वस्तु का ज्ञान उस समय नही होता इसी से यह आत्मा अल्पज्ञ कहा जाता है। परन्तु इसकी यह ज्ञान योग्यता अभ्यास से बढाई जा सकती है। यदि विद्या के द्वारा अथवा योगाभ्यास आदि तपश्चर्या के द्वारा उस आत्मा की शक्ति बढाई जावे तो शनै. शनै बढकर सभव है कि अनेक जन्म के पश्चात् यह जीव सर्वज्ञ होकर ईश्वर हो जाय। अतः गीता मे कहा है —

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
अनेक जन्मसंसिद्धस्ततो याति परांगतिम्।

एक बात और जाननी चाहिये कि इस जगत् की बाह्य कामनाओं का त्याग करता हुआ यदि कोई अपनी ही आत्मा की कामना रखता हुआ अन्तर्मुख वृत्ति करे तो वह जिस प्रकार बाह्य पदार्थो को जान लेता था इसी प्रकार अब वह अपनी आत्मा को अन्तर दृष्टि से देखता हुआ जान लेता है। यदि यह ज्ञान उसको पूर्ण हो जावे तो वह केवल आत्मज्ञान से सपूर्ण जगत् का ज्ञानी हो जाता है क्योकि ऊपर कहा जा चुका है कि जगत की सपूर्ण शक्तियो का घन मेरी आत्मा है अतः आत्मा का ज्ञान ही सपूर्ण जगत् का जानना है और यही जानना सर्वज्ञ ईश्वर का लक्षण है, अतः जो योगिराज बाह्य कामनाओ को त्याग कर आत्मा की कामना करते हैं उनको अन्त में सपूर्ण जगत् की प्राप्ति अपने आप हो जाती है और अन्तर और बाह्य जगत् एक हो जाता है किन्तु जब तक जीवात्मा और ईश्वर का भेद है तब तक दोनो जगत् अवश्य पृथक-पृथक रहते हैं

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥

(कठोपनिषद्– २।१)

ज्ञानोत्पादनसूत्र का सारांश

अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् मनुष्य ज्ञान के प्रधान कारण हैं, इनमें जैसे बहिर्जगत् अन्तर्जगत् का कारण है वैसे ही अन्तर्जगत ज्ञान उत्पन्न करने का कारण है। देखिये—अनन्तशक्तियो के घन या समूह का नाम जीव या 'मैं' हूँ अथवा जीवात्मा या अहम् अनन्तशक्ति–सम्पन्न हैं। इन शक्तियो मे से कितनी ही उद्भूत और कितनी ही तिरोहित रूप मे रहती है। तिरोहित का उत्तेजना पर विकास होता है किन्तु कितनी ही सदा जन्म से मृत्यु तक उद्भूत रहती हैं। ये उद्भूत शक्तियाँ तीन हैं – १ ज्ञान शक्ति, २ क्रियाशक्ति, ३ अर्थ या द्रव्यशक्ति। मूल ज्ञानशक्ति से पञ्च ज्ञानशक्ति शाखाए हुई जो ज्ञानेन्द्रिय कहलाती हैं। ऐसे ही मूल क्रिया-शक्ति मे पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं और अर्थशक्ति से सब शरीर स्थित हुआ, जीवात्मा की उद्भूत शक्तियो मे से ५ ज्ञानेन्द्रियाँ ही बहिर्जगत् के द्वार हैं विचारिये कि जगत् के पञ्च महाभूतों की सूक्ष्म मात्राओ रूप, रस, गन्धादि का सूर्य वायु आदि के द्वारा जब ज्ञानेन्द्रिय पर योग होता है तब इन दोनो के अश से एक नई विकारी वस्तु पैदा हो जाती है इसी का नाम रूप-रसादि का ज्ञान होना कहते हैं। इस ज्ञान मे रूप, रसादि की भिन्नता तो बाह्य भौतिक वस्तु है और इस भिन्नता का भास कराने वाला प्राति-भासिक इन्द्रियज्ञान है। इस भौतिक भिन्न भाव का अश और प्रातिभासिक इन्द्रिय अश दोनो अंशो के योग से ही किसी ज्ञान का स्वरूप सभव है। एक के अभाव से ज्ञान का स्वरूप संभव नही। देखिये कि इस बाह्य और अन्तर के योग मे ज्ञान का स्वरूप पैदा करने में परस्पर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि बाह्य पदार्थ सूक्ष्म या तम मे आच्छादित होने के दोष से अस्पष्ट भान होता है। ऐसे ही इन्द्रिय ज्ञान मे भी दोष होने मे बहिर पदार्थ का स्पष्ट भान नही होता। इसी से इस अस्पष्ट भासने को ही संशय या भ्रम कहते हैं। यह भ्रम कदापि नही होता यदि इन दोनो का परस्पर सम्बन्ध न होता। ज्ञान मे अन्दर और बाहर का भेद मालूम होने मे स्पष्ट विदित है कि अन्तर और बाह्य जगत् का अश ज्ञान मे बाहर से अवश्य आया है जिससे कि यह भेद मालूम हुआ करता है बाह्यपन बाहर से और अन्तरपन अन्दर से उत्पन्न होकर बाह्य और अन्तर का भेद बताते हैं। यदि ऐसा न होता तो ज्ञान के ही आधार पर रह

कर बाहरी-भीतरी वस्तु का जो देश, काल से भेद सम्बन्ध प्रतीत होता है वह निर्मूल हो जाता। अतः हमारे इस ज्ञान मे अर्थात् ज्ञान का स्वरूप उत्पन्न कराने मे अन्तर और बाह्य उभय जगत की पूरी-पूरी आवश्यकता निःसदेह प्रतीत होती है।

ज्ञानोत्पत्ति के विषय मे २ मत है—१ वस्तुओ का अश ज्ञान मे सम्मिलित होता है (यह मत पहले कहा जा चुका है) २ अशो के मिलने से वस्तु मात्रा कम हो जानी चाहिए थी किन्तु ऐसा नही होता। ज्ञानोत्पत्ति का वास्तविक कारण बाह्य वस्तुओ के प्रतिफल का इन्द्रियो पर आघात होना ही है। वस्तुओ की समीपता, दूरी, सूक्ष्मता, विशालता आदि का भिन्न २ रूप से आघात पडने से ज्ञान होता है। प्रत्येक वस्तु के विशेष आघात से उसका विशेष प्रकार का ज्ञान होता है। आघात मे कमी होने से परिणाम ठीक नही होता। बाह्य वस्तु के अभाव पर आघात का होना सभव नही अतः इस आघात से बाह्य जगत् पूर्णरीति से सिद्ध होता है।

प्रत्येक ज्ञान का विषय ३ प्रकार का है—१ मौलिक अर्थात् जगह रोकने वाला भौतिक है, २ माण्डलिक मौलिक की प्रतिकृति जो ऋक्–मण्डल रूप मे है यह माण्डलिक है परन्तु यह भौतिक अवश्य है पर जगह नही रोकता केवल प्राणमय है। यह रूप मौलिक से लेकर आंख तक रहता है, ३ प्रात्ययिक या मानसिक यह विषय आंख से लेकर मस्तक तक रहता है।

इन मे मौलिक तो एक ही है किन्तु शेष दोनो रूप अनन्त रहते है। इनमे केवल मनोमय का सम्बन्ध अन्तर्जगत् से है और भूतमय और प्राणमय का बहिर्जगत् से है।

बाह्य वस्तु मेरे चाहने पर उपस्थित नही होती। जिस बाह्य वस्तु को जिस स्थान पर मै देखता हू उसी स्थान पर दूसरे भी उसको वैसी ही देखते है अत. बाह्य वस्तुसत्ता स्वतन्त्र है। वह मेरे ज्ञान के आधीन नही बल्कि मेरा ज्ञान उसके आधीन है। बाह्य वस्तु आत्मप्रकाश के सामने आती है तब यह आत्मप्रकाश ज्ञान कहलाता है और जब कोई बाह्य वस्तु सामने ही नही आती तो यह आत्मप्रकाश प्रकाश होते हुए भी किसी वस्तु का रूप न धारण करने से अज्ञान कहलाता है ज्ञान के स्वरूप के लिए बाह्य जगत् की आवश्यकता है किन्तु ज्ञान का आधार होने पर भी ज्ञान मे स्वय नही घुसता। बहिर्जगत् के केवल रूपमात्र मे आत्मा का परिणाम ही ज्ञान कहलाता है। यह रूप आत्मा मे चिरकाल तक रहता है। आत्मा मे बाह्यजगत् के रूप के परिणाम का ज्ञान ही अन्तर्जगत् कहलाता है। बाह्यजगत् वस्तुतः साक्षात् है किन्तु अन्तर्जगत् आत्मधरातल पर बाह्यजगत् का केवल चित्रमात्र है। बाह्यजगत् भूतमात्र और अन्तर्जगत् ज्ञानमय है। जगत् जैसा है वैसा ज्ञान के बाहर भूतरूप और वही चित्ररूप से ज्ञान के अन्दर है। अन्तर्जगत् का मनोमय व्यापार है वह बाह्यजगत् के न रहने पर भी उसके चित्ररूपो के साथ क्रीडा किया करता है। इस तरह भूतमय बाह्यजगत और ज्ञानमय अन्तर्जगत् सिद्ध हुए।

अन्तर्जगत् के विषय मे निम्न विषय स्मरणीय है —

आत्मा का एक ही मूल स्तम्भ पाँच भिन्न २ शाखाओ मे विभक्त है। इनको ही इन्द्रियाँ कहते है। आत्मा के ये पाँचो धरातल है किन्तु प्रत्येक का विशेष कार्य पृथक् २ नियत है। रूप का आँख, शब्द का कान इत्यादि है। बाह्यजगत् का पदार्थ जितना सूर्य किरणो से ज्ञान धरातल पर आता है

उनसे ही का ज्ञान होता है विशेष का नहीं । ज्ञान धरातल पर उसके आधार से जो चिह्न होता है उसको संस्कार कहते हैं इसके द्वारा पीछे स्मरण हुआ करता है । आघात की न्यूनाधिकता पर ज्ञानोत्पन्न होने की न्यूनाधिकता निर्भर है । आघात के तारतम्य से ज्ञानोत्पन्न होने मे तारतम्य हो जाता है ।

कोई कहे कि कमलपत्रवत् ज्ञान पर जगत् का कोई प्रभाव नही होता तो यहां पर यही कहना है कि वायु और जल के मर जाने मे फेन होता है वैसा ज्ञान के विषय मे नही है । वाह्य वस्तु ज्ञान मे न मिल कर केवल उसका आघात मात्र है अतः वाह्यवस्तु से यह निर्लेप है ।

ज्ञानोत्पत्ति के विषय मे एक बात और है कि ज्ञान के सकल प्रदेश मे ज्ञान एक ही समय मे नही होता । कुछ अश ज्ञान का एक समय मे ज्ञान कराता है वही ज्ञान कहलाता है शेष अज्ञान है अतः गीता मे कहा है.—

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्वः ।

क्योकि मेरी आत्मा इन्द्ररूप है यह अपने इन्द्रियवर्गो द्वारा अर्थवर्गो का स्पर्श करती है किन्तु ये इन्द्रिया अपना पृथक् २ कार्य करती है । एक इन्द्रिय से ज्ञान होते समय दूसरा ज्ञान उस समय नही होता इसी से आत्मा अल्पज्ञ कहलाती है ।

किन्तु विद्या और तपस्या के अभ्यास से ज्ञान की वृद्धि हो सकती है । विद्या और तपस्या से अन्तर्दर्शी या आत्मदर्शी होकर सर्वज्ञ ईश्वरतुल्य हो सकता है । इसी आशय को लेकर गीता मे कहा है—

वहूनां जन्मनामन्ते, ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।

अथवा

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परांगतिम् ।

अन्तर्मुख वृत्ति मे अपनी आत्मा को अन्तर्दृष्टि से देखने से सम्पूर्ण जगत् को देखने की योग्यता हो जाती है । आत्मा मे जगत् की सव शक्तियाँ विद्यमान् होने से आत्मदर्शी सर्वशक्ति सम्पन्न हो जाता है और सकल जगत् का ज्ञान लेता है । सर्वज्ञ ईश्वर का यही लक्षण है । वाह्य और अन्तर जगत का भेद दूर हो जाता है क्योकि इन्द्रियो से तो अल्पज्ञान ही होता है किन्तु आत्मज्ञान से सर्व-जगत् का ज्ञान हो जाता है क्योकि सर्व जगत् आत्मा मे विद्यमान रहता है । जीवात्मा में अन्तर और वहिर्जगत् का भेद रहता है और आत्मदर्शी होने पर यह भेद दूर हो जाता है और जीवात्मा परमात्मा की कक्षा मे हो जाता है ।

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥

(कठोपनिषद् २।१)

ईश्वर सिद्धिसूत्र

जो कुछ मेरे ज्ञान का प्रकाश है उसका मूलकेन्द्र मान कर 'अहम्' अर्थात् जीवात्मा की सिद्धि हुई । इसी जीवात्मा के विकास को ज्ञान कहते हैं और उसी ज्ञान के धरातल पर स्थित जो कुछ हमे

भासता है उसी को जगत् कहते हैं। किन्तु इस जगत् के निर्माण करने मे हमारी आत्मा अथवा हमारे ज्ञान को हम स्वतन्त्र नही पाते हैं अतः एक दूसरा जगत् और मानना पडता है। इन दोनो मे एक को अन्तर्जगत् और दूसरे को बाह्यजगत् या वहिर्जगत् कहना होगा। जो जगत् मेरे ज्ञान के धरातल पर बैठा रहता है उस ही को अन्तर्जगत् कहते हैं। किन्तु जो जगत् ज्ञान पर चढा हुआ नही है जीव के ज्ञान के धरातल से बाहर है उसको बहिर्जगत् कहते हैं। किन्तु यहा प्रश्न यह उठता है कि जिस प्रकार अन्तर्जगत् हमारे ज्ञान के धरातल पर है उसी प्रकार इस ज्ञान के बाहर वाला वह वहिर्जगत् किस धरातल पर है। क्योंकि यह निश्चित हो चुका है कि हमारा अन्तर्जगत् हमारे ज्ञान मे से ही बनकर ज्ञान मे ही रहता है और ज्ञान ही मे लीन हो जाता है। तो इसी प्रकार वह वहिर्जगत् भी एक जगत् है वह भी किसी ज्ञान से उत्पन्न होकर उस ही ज्ञान मे रहता होगा और उसी मे उसका लय होगा ऐसा ज्ञान किसी जीवात्मा का नही हो सकता क्योंकि एक जीवात्मा के ज्ञान मे उत्पन्न हुए जगत् को दूसरे जीवात्मा का ज्ञान कदापि सहयोग नही करता अतः उसके सयोग से अपने मे जगत् नही बना सकता किन्तु वहिर्जगत् के साथ सपूर्ण जीवात्माओ का ज्ञान सयोग करके उसी साचे मे ढाल कर अपने मे जगत् बनाते हुए दिखाई पडते है अत: अवश्य ही यह वहिर्जगत् किसी ऐसे ज्ञान के आधार पर विचार किया जा सकता है जो ज्ञान किसी जीवात्मा का नही है।

यहाँ यदि कोई प्रश्न करे कि इस वहिर्जगत् के लिए किसी ज्ञान के धरातल होने की आवश्यकता ही क्यो मानी जाती है, क्यो नही वह स्वतन्त्र रूप से मान लिया जाता ? इसके उत्तर मे हम कहेंगे कि हमारा ज्ञान अथवा अनन्त जीवो का ज्ञान ही यह सब कुछ है उन ज्ञानो के अतिरिक्त कौनसा स्थान खाली रह गया है कि जिसमे वहिर्जगत् का रहना माना जावे क्योंकि कोई भी जगत् यदि ज्ञान से बाहर नही दीखता तो वहिर्जगत् को विना ज्ञान के आश्रय पाये स्वतन्त्र रूप से कही मान लेना असमजस (गडबड़) होगा। क्योंकि इस सपूर्ण जगत् को हम गम्भीर दृष्टि से देखते हैं तो ज्ञान और ज्ञान के बने हुए जगत् दोनो के अतिरिक्त कही भी कुछ नही भासता। जबकि यह यही दोनो सपूर्ण विश्व मण्डल हैं तो कहना होगा कि सम्पूर्ण जगत् ज्ञानमण्डल मे है और ज्ञानमण्डल ही विश्वमण्डल है। ऐसी स्थिति मे इस ज्ञान के जगत् तथा ज्ञान मण्डल के अतिरिक्त उस वहिर्जगत् के लिये कोई स्थान ही खाली नही रह जाता कि जिस पर वहिर्जगत् की सत्ता मानी जावै। स्वतन्त्र रूप से जगत् की सत्ता हमारे ज्ञान वाले जगत् की यदि नही है तो उसी दृष्टान्त से उस वहिर्जगत् की भी स्वतत्र सत्ता नही मान सकते हैं ऐसी स्थिति मे एक ऐसा विशाल ज्ञानमण्डल मानना उचित होगा कि जिस ज्ञानमण्डल के धरातल मे यह सपूर्ण वहिर्जगत् प्रतिष्ठित है और उसी ज्ञान से उत्पन्न होकर उसी ज्ञान मे लीन भी हुआ करता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार हमारे अन्तर्जगत् का हमारे ज्ञान से सम्बन्ध है उसी प्रकार उन सब वहिर्जगतो का उस एक विशाल मण्डल से सम्बन्ध है इस प्रकार जबकि एक महाव्यापक ज्ञानमण्डल सिद्ध हुआ तो उसका भी कोई केन्द्र होगा उसी को हम ईश्वर करते हैं। अथवा जिस प्रकार हमारा ज्ञान हमारी आत्मा का विशाल है अतः सम्पूर्ण ज्ञानमण्डल ही हम हैं इसी प्रकार वह विशाल ज्ञानमण्डल भी उस ईश्वर का ही विकास होगा अत. व सम्पूर्ण एक विशाल ज्ञानमण्डल ही परमेश्वर है।

जबकि सम्पूर्ण जीवो के भिन्न ज्ञानमण्डल उसी विशाल ज्ञानमण्डल के पदार्थों का संयोग करके अपना जगत् बनाया करते हैं तो इससे सिद्ध हुआ कि सभी जीवो के सब ही ज्ञानमण्डल उस ही विशाल ज्ञानमण्डल के भीतर व्यष्टि रूप से विद्यमान हैं तो इससे यह भी सिद्ध हुआ कि जिस प्रकार ईश्वर मे सम्पूर्ण बहिर्जगत् है उसी प्रकार सब जीवो के ज्ञानमण्डल भी हैं, उससे बाहर और कही कुछ भी नही हैं। और न वहाँ भीतर-बाहर का कुछ भेद है क्योकि जीवो का ज्ञानमण्डल परिमित होने के कारण सीमाबद्ध है अत उसको बाहर कहा जा सकता है किन्तु इस विशाल ज्ञानमण्डल की कोई भी सीमा निश्चित रूप से प्रमाणित नही होती अत. वह असीम है इसलिए उससे बाहर कुछ भी कहा नही जा सकता तो सिद्ध हुआ कि यह सब कुछ एक ही ईश्वर का रूप है।

उदाहरण:

जब हम इस जगत् की ओर दृष्टि डालते है तो हमे चारो ओर तारामण्डल से भरा हुआ एक आकाशमण्डल दीखता है बस वही तक हमारी दृष्टि पहुँचती है उतने ही मण्डल को हम जगत् कह कर देख रहे हैं। किन्तु हमारी अन्तरात्मा इस विषय की साक्षी दे रही है कि इतना ही नही अपितु जितने तारो से घिरा हुआ जगत् मण्डल हमारे ज्ञान मे भासता है उससे भी आगे, ऊपर-नीचे चारो ओर अनन्त प्रदेश या अनन्त लोक और भी होवेंगे। यह कदापि सम्भव नही जितना हम देख रहे हैं या जहाँ तक हमारे ज्ञान की पहुँच है उतना ही बड़ा यह जगत् है। इस प्रकार अपने ज्ञान के बाहर जो जगत् का विस्तार बांधा जाता है अथवा अनन्त सीमा तक माना जाता है यह ज्ञान हमारे जीव के ज्ञान के अन्दर विस्तृत ईश्वरीय ज्ञान का अंश है। ईश्वरी ज्ञान होने के कारण यद्यपि उस बाह्य जगत् के रूप को हमारी आत्मा व ज्ञान स्पष्ट नही पकडता तथापि वह ईश्वरी ज्ञान हमारे ज्ञान अन्दर है इसी कारण उस बाह्य जगत् की झलक पूर्ण विश्वास को धारे हुये सत्यरूपेण हमारे ज्ञान मे है।

आकाश मे कितने ही तारे अथवा ग्रह चलते हुए और कितने ही सैकडो वर्षों से एक स्थान मे दृष्टिगोचर हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी माता के गर्भ मे जब उत्पन्न होता है तब सब के आंख, कान, नाक, मुख, हाथ, पाँव आदि प्रत्येक अ ग यथा स्थान अपने आप उत्पन्न होते हैं उनमे कुछ भी अन्तर नही पडता। तेज की लौ ऊपर को और पानी सर्वदा नीचे को अपनी दिशा बनाते हैं इन सब मे इन सब क्रियाओ के लिये एक प्रकार का सत्य इन सब मे स्थित प्रतीत होता है वही सब का नियन्ता है और नियमानुसार वही प्रत्येक वस्तु को अपने अपने कार्य पर नियुक्त करता है। यही सत्य जो प्रत्येक वस्तु मे भिन्न रूप से कार्य करता हुआ सर्वत्र व्यापक प्रतीत होता है वही सत्य ईश्वर का रूप है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण जगत् मे जहाँ जो कार्य होता है वह सब एक नियति के अनुसार ही होता हुआ दीखता है। यह नियति अकृत्रिम नियम है इस नियति को ही सत्य कहते हैं और वही परमेश्वर का रूप है।

जीव जिस समय जाग्रत अवस्था मे रहता है उस समय बहुत कुछ चेष्टा करता है किन्तु ये उसकी चेष्टायें इच्छानुसार होती है अर्थात् प्रथम मन मे जैसा विचार आता है वैसे ही प्राण मे यत्न होता है और तदनुसार शरीर में क्रिया होती है। इससे जाना गया कि उसकी सब क्रियाये उसके ज्ञानाधीन हैं और उसीके अनुसार हैं किन्तु जब मनुष्य सुप्तावस्था मे रहता है उस समय उसके शरीर

जो २ चेष्टा होती है इसका क्या मूल कारण है क्योकि वे उसकी इच्छानुसार नही हैं । जाग्रत् अवस्था मे भी कितनी ही क्रियायें ऐसी है जो जीव की इच्छा के आधीन नही है जैसे हृदय का स्फुरण होना, खून का वहना, नाडियो का पकडना, भोजन का रस वनना और फिर मल विभाग होना इत्यादि २ । इन सव का सम्बन्ध जीव के ज्ञान से नही है और जितना जीव मे ज्ञान होता है वह भी एक प्रकार के शरीर मे स्नायु-यन्त्र द्वारा होता रहता है जिसको मनुष्य ज्ञान होने पर अनुभव करता है । किन्तु वह ज्ञान कैसे होता है इन सव विषयो के जानने मे जीव असमर्थ है । जवकि जीव के शरीर मे ही अनन्त क्रियायें ऐसी हैं जिनके जानने मे न जीव की इच्छा है और न जीव उसका प्रयास ही करता है, न जीव को उसका ज्ञान ही है किन्तु उन क्रियाओ के द्वारा ही उसकी जीवन सत्ता है और सम्पूर्ण ज्ञान या चेष्टा है और उनकी चेष्टाओ के आधीन जीव का जन्म और मृत्यु है, तो ऐसी स्थिति मे यह प्रश्न होता है कि जिस क्रिया के आधीन जीव की सत्ता है और जीव की इच्छा या यत्न के विना ही जीव के शरीर मे हुआ करती है वह क्रिया किसकी इच्छा से उत्पन्न होती रहती है क्योकि जीव के ज्ञान के अन्दर होने वाली क्रियाओ को जीव की इच्छा के आधीन होते हुए देखते हैं अत यह अनुमान वांधा जाता है कि वह दूसरी क्रिया जो जीव की इच्छा के आधीन नही है वह भी किसी की इच्छा के आधीन अवश्य होगी । बस वह इच्छा जिसकी हो सकती है वही ईश्वर है और वह ईश्वर का अश जो हमारे शरीर के यन्त्र को चला रहा है वह हमारे ही शरीर के अन्दर रहता है और वही हमारा कर्त्ता, हर्त्ता विधाता है और वही हमारा आराध्य देव है उन्ही की हम सेवा या प्रार्थना करते हैं, उसी के आधीन हम है । इसी अभिप्राय को लेकर गीता का वचन है —

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया ।।

(अ० १८ श्लोक ६१)

अर्थात्–हे अर्जुन सव प्राणियो के हृदय प्रदेश मे ईश्वर निवास करता है । अपनी माया मे वह सव प्राणियो को माया से जगत् रूपी यन्त्र पर चढा कर घुमाता है ।

सभी प्राणियो के जन्म काल से लेकर अन्त तक प्राय कितनी ही वातो मे ऐसा ज्ञान देखने मे आता है जो शिक्षा से सम्वन्ध नही रखता जैसे जानवरो के नये वच्चो को प्यास लगने पर पानी की ओर को झुकना और उस पानी से अपनी तृषा निवृत्ति का ज्ञान होना, कौआ और घूघू तथा भैंस और घोडा इन जीवो मे परस्पर विना किसी व्यवहार के भी वैर भाव का ज्ञान होना अथवा किसी ढेले या अस्त्र-शस्त्र के आते ही उससे हटने का यत्न करना इत्यादि २ । इस प्रकार के सभी ज्ञान जीव के अपने विचार से उत्पन्न नही होते किन्तु इस शरीर के अन्दर जो ईश्वरीय कला है उसी से ये सम्वन्ध रखते है अतः ये स्वभावसिद्ध धर्म कहे जाते है ।

प्राचीन काल मे मनुष्य गङ्गा तथा हिमालय को देखते थे उसी स्थान पर आज हम भी इनको देखते हैं । पहले कह चुके हैं कि प्रत्येक मनुष्य के शरीर मे जो जीवात्मा है सो अपना ज्ञानमण्डल भिन्न-भिन्न वनाता है । किसी जीव के ज्ञानमण्डल से अन्य जीव के ज्ञानमण्डल का अनुमान भी संसर्ग नही होने

जाता। शरीर का ज्ञानमण्डल स्वतन्त्र रूप से अपना कार्य करता है किन्तु इन हिमालय-गङ्गा आदि पदार्थों के ज्ञान में बिना किसी शिक्षा के भी एक ही स्थान पर सब का ज्ञान सामान्य रूप से हो जाता है इसका क्या कारण है। यदि यह ज्ञान किसी जीव के विचार से होता तो अवश्य सम्भव है कि जीवों के विचार में अन्तर होने के कारण इनकी दृष्टि सब के ज्ञान मे एक स्थान पर न होती। इससे ज्ञात होता है कि इस प्रकार के ज्ञान हमारे अन्दर ईश्वरी कला से सम्बन्ध रखते है जो ईश्वरी कला प्रत्येक जीवों के शरीर मे एक रूप से वर्त्तमान रहती है तदनुसार प्रत्येक जीव मे एक सा ही ज्ञान का उदय होता है।

जबकि हम कह चुके हैं कि प्रत्येक जीव का ज्ञानमण्डल भिन्न है तो प्रत्येक ज्ञानमण्डल मे प्रत्येक इन्द्रिय मे बना हुआ अन्तर्जगत् भी अवश्य ही भिन्न होगा। तात्पर्य यह है कि जहा हम एक हाथी को देख रहे है उस हाथी का अन्तर्जगत् वाला रूप देखने वाले १०० मनुष्यो के भिन्न १०० ज्ञान मण्डलो मे भिन्न १०० हैं उनमे से कोई भी हाथी का रूप दूसरे हाथी के रूप से दिक् देश, काल, द्रव्य, सख्या सभी विषयो मे भिन्न है तथापि वे हाथी के रूप भिन्न २ न दीख कर बाहर किसी एक ही स्थान मे १०० या अधिक मनुष्य उस एक हाथी को एक ही रूप से देखते हैं और अपने देखे हुए हाथी को दूसरे के देखे हुए हाथी से तुलना करते हुए सर्वथा एक ही हाथी होने का विश्वास रखते है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न हाथियो मे एक ही हाथी का ज्ञान जो प्रत्येक जीव मे एक रूप से रहता हुआ ईश्वरी कला के कारण से है उनमे जो भिन्नता प्रतीत होती है वह जीवो के निज के ज्ञान मे सम्बन्ध रखती है किन्तु जो एकता है वह ईश्वरीय ज्ञान से सम्बन्ध रखती है।

जब हम किसी बाह्य चीज को देखते हैं उस समय मेरी आत्मा वहिर्जगत् से सम्बन्ध करती है किन्तु मेरी आत्मा जिस प्रकार मन, प्राण और वाक् इन तीनो तत्त्वो से बनी है उसी प्रकार वहिर्जगत् भी इन तीन तत्वो से बना हुआ है अत जब उन दोनो का सहयोग होता है उस समय आत्मा के तीनो तत्त्व वहिर्जगत् के तीनो तत्वो से सजातीय क्रम होकर इस प्रकार से मिल जाते हैं कि उन दोनों के भिन्न मन मिलकर एक मन, भिन्न प्राण मिल कर एक प्राण और दोनो वाक् की एक वाक् हो जाती है तात्पर्य यह है कि आत्मा और वहिर्जगत् दोनों परस्पर मिलकर एक मन, प्राण, वाक् का पदार्थ बन जाता है। अतः जो ईश्वर के मन, प्राण और वाक् से बना हुआ वहिर्जगत् है उसके साथ जीव के मन, प्राण और वाक् के मिलने से उस वस्तु की जीव के ज्ञान से पृथक्ता जाती रहती है। अतः वह वहिर्जगत् जीव के ज्ञान रूप मे परिणत होकर जीव के ज्ञान के अभिन्न रूप मे एक अन्तर्जगत् बन जाता है जिसको कि जीव अपने ज्ञान के अन्दर की वस्तु को समझने लगता है।

जब हम घट को देखते है तो सर्व प्रथम उस घट का रूप अर्थात् उसका आकार जिसको हम वस्तु-सीमा कह सकते है दिखाई देता है। तत्पश्चात् उस आकार के भीतर उस आकार को भरने वाले कितने ही द्रव्यगुण दीखते है और इन दोनो पर जमी हुई वस्तु की सत्ता अलग दीखती है बस इन तीन के सिवाय और कुछ नहीं है। इन पृथक् पृथक् होने पर भी जिस किसी गूढतत्व के द्वारा एकता की प्रतीति होकर हमें एक वस्तु का ज्ञान होता है वह तत्त्व हमारे ज्ञान मे मिश्रित ईश्वरीय ज्ञान का भाग है। उस प्रकार सत्ता की बुद्धि घट की उपलब्धि अर्थात् घट के ज्ञान से अलग नही है। तात्पर्य यह है कि घटसत्ता

का ज्ञान ही घट का ज्ञान है। अथवा घट का ज्ञान होना ही घट की सत्ता है और उस घटरूप या रूप के भीतर वाले द्रव्य गुण मेरे ज्ञान के वाहर होने पर भी सर्वदा स्थिर रहते हैं हमारे ज्ञानाधीन नही हैं। अत. उन रूपो को रूप के अन्दर वाले द्रव्यगुणो को और वस्तुसत्ता को व इन तीनो को मिलाने वाले एक तत्त्व को हम ईश्वरीय महाज्ञान कह सकते हैं।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि जो तेल पानी के आकार मे था कितने ही उनके गुण पानी के समान थे किन्तु वह दीपक जलते समय अकस्मात् भिन्न रूप मे परिणत हो जाता है अर्थात् उसमे ऊपर उठने की शक्ति, जलाने की शक्ति, श्वेत या स्वर्णमय रगत आदि कितने ही धर्म उसमे अकस्मात् ऐसे आ जाते हैं जिनका वहा भी प्रादुर्भाव न था। यदि ईश्वर न माना जावे तो यह शक्तियाँ कहाँ से आकर अकस्मात् उपस्थित हो जाती हैं इस प्रश्न का उत्तर अत्यन्त कठिन होगा, तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण अनन्तानन्त शक्तियो का घन सर्वव्यापक रूप से सर्वत्र कोई अवश्य प्रतीत होता है उस ही खान मे से जहाँ चाहे उस स्थान पर सव प्रकार की शक्तियाँ मिल जाया करती हैं और पश्चात् वे सव उसी घनशक्ति मे लय होती रहती है। इसी सर्वशक्ति घन को हम विश्वमूर्ति परमेश्वर कहते हैं।

नास्तिक प्रश्नो का उत्तर

नास्तिको ने सशयोपनिषद् मे ईश्वर खण्डन करते हुए जो प्रश्न किये थे उनका यहाँ सम्भव तब होता यदि ईश्वर भी मनुष्यो के अनुसार ही रचना करता किन्तु जीवो का किया हुआ वस्तुरचना का प्रकार और ईश्वर की रचना का प्रकार भिन्न-भिन्न है प्रत्युत यो कहना चाहिये कि जिस प्रकार मनुष्य वस्तु की रचना करता है वह प्रकार भी जगत् का ढग है जिसको जगत् की रचना करने वाले परमेश्वर ने एक असाधारण व्यवस्था के साथ नियत किया है किन्तु ईश्वर का किया हुआ रचना का प्रकार सर्वथा निराला है अतः उस पर यह प्रश्न करना कि परमेश्वर ने किस स्थान पर बैठ कर किस सामग्री को लेकर कैसी चेष्टा करके और किस कामना से इस जगत् को कैसे रचा है इत्यादि प्रश्न सर्वथा व्यर्थ हैं, क्योंकि ये सव ढग शरीर धारियो के और परतन्त्रो के है परन्तु ईश्वर जो किसी के परतन्त्र नही है शरीरधारी नही है जो सर्वव्यापक हे स्वतन्त्र रूप से अपनी इच्छा मात्र से अनहोनी को होनी कर सकता है उसके उसके लिये न किसी सामग्री की अपेक्षा है और न किसी स्थान की। जव हम परमेश्वर के स्वरूप को ही मनुष्य के समान नही देखते हैं तो मनुष्य के समान क्रिया करने का आक्षेप उस पर कैसे कर सकते हैं।

दूसरा प्रश्न यह है कि परमेश्वर विज्ञानरूप हैं या विज्ञान वाला है? इसका उत्तर यह है कि यदि हम मानले कि वह विज्ञानस्वरूप ही है तथापि उस पर जड होने का आक्षेप नही हो सकता। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश अपने स्वरूप को प्रकाशित करने के लिये दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं रखता। जो स्वय प्रकाशित नही हैं वह दूसरे को भी प्रकाशित नही कर सकता। इसी प्रकार यदि विज्ञान जड हो तो उससे दूसरे का प्रकाश नही हो सकेगा, अत मानना होगा कि वह स्वत प्रकाश है और उसी विज्ञान-घन को हम ईश्वर कह सकते हैं और यह कहते भी हम नही रुकते कि विज्ञान रूप होता हुआ परमेश्वर विज्ञानवान् भी है। तात्पर्य यह है कि हमारा परमेश्वर आनन्द, विज्ञान और सत्ता इन तीनों का घन है, उसमे यद्यपि ये तीनो धर्मरूप से विद्यमान है तथापि उसका घन-धर्मी कहा जा सकता है। जिस प्रकार वृक्षो को ही हम वन कह सकते है और मनुष्यो को ही सेना कहते है तथापि यह कहने मे भी हमको सकोच नही है कि वन मे वृक्ष हैं और सेना मे मनुष्य है, जिस प्रकार वृक्षमाला वन है और मनुष्य सेना है उसी प्रकार विज्ञान वाला ईश्वर है।

अथवा यदि हम परमेश्वर को जड भी कहे तो कुछ हानि नही है क्योकि इस जगत् मे जितने विरुद्ध धर्म है कोई भी परमेश्वर से भिन्न चीज नही है। जड हो या चेतन, काला या श्वेत, छोटा या बडा तात्पर्य यह है कि जो कुछ जगत् का रूप है सब परमेश्वर है। अतः इस परमेश्वर के ऊपर किसी विषय होने न होने का कोई भी प्रश्न लागू नही हो सकता।

सम्पूर्ण जगत् जो कुछ भासित है परमेश्वर रूप है वह सम्पूर्ण शक्तियो का घन है एक है और अविनाशी है। कपड़े मे जिस प्रकार रुई की सत्ता है बर्फ मे जिस प्रकार जल की सत्ता है उसी प्रकार इस जगत् मे परमेश्वर की सत्ता है।

परमेश्वर का इस जगत् के साथ षड्विकल्प सम्बन्ध है अर्थात् परमेश्वर से इस जगत् का मिलाव ६ प्रकार का है:—

१—जगत् मे ईश्वर है।

२—ईश्वर मे जगत् है।

३—ईश्वर ही जगत् है या जगत् ही ईश्वर है।

४—जगत् से भिन्न ईश्वर या ईश्वर से ही भिन्न जगत् है।

५—ईश्वर से भिन्न जगत् है किन्तु जगत् से भिन्न ईश्वर नही है।

६—असली ईश्वर मे प्रातिभासिक रूप से जगत् भासता है।

ईश्वरसिद्धिसूत्र का साराश

१—जो ब्रह्माण्ड हमारी आंख से पकडा जाता है उसके अतिरिक्त कई अन्य ब्रह्माण्ड जिनकी गणना नही हो सकती उनको जब हमारा ज्ञान निश्चयात्मक बुद्धि से अनुमान करता है तो इस अनन्तता अथवा असीमता का ज्ञान मे भान होना ईश्वरीय ज्ञान को हमारे ज्ञान मे सिद्ध करता है क्योकि अल्पज्ञ मनुष्य के ज्ञान मे अनन्तता या असीमता का विश्वास होना सर्वज्ञता की झलक को प्रदर्शित कर रहा है।

२—समस्त विश्व के कार्य ऐसे नियमो से सदा सचालित रहते है कि उनमे कुछ भी कदाचित किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता। जैसे जो ग्रह चलते हैं तो नियमबद्ध चलते ही रहते हैं और जो ग्रह जिस नियम से अचल है तो अचल ही रहते है कभी नियमभग नही करते। माता के गर्भ मे प्रत्येक जीव के नियमानुसार सब, अङ्ग, हाथ, पांव, आंख, नांक इत्यादि-इत्यादि सदा बनते रहते हैं। पानी सर्वदा नीचे को और अग्नि की लौ सदा ऊपर को नियमानुसार चलते रहते हैं। ऐसे ऐसे उदाहरण अनन्त है कि जिनमे नियमबद्ध सब कार्य होते रहते है। ये नियम सदा अचल, अमिट, अटल, सर्वत्र व्यापक एक ही रूप को धारण किए हुए ससार को चलाते रहते हैं। इन नियमो मे कभी कोई भूल नही होती। इन नियमो की अचूक और निरन्तर दृढता से इनका सत्यरूप प्रकट होता है। उन नियमो की सत्यता ही ईश्वर का रूप है। यही सब नियमो मे सत्यरूप से विराजमान होकर सब क्रियाओ का नियन्ता हो रहा है समस्त विश्व को ऐसे अटल नियमो के

साथ चलाने वाला जो सत्यरूप है और जो कभी असत्यता किंचित्मात्र भी नही दिखाता वही सत्यरूप ईश्वर का रूप है। ये विश्वव्यापक नियम सर्वव्यापी सत्यस्वरूप ईश्वर को प्रकट कर रहे हैं।

३—मनुष्य मे मानसिक, वाचिक और कायिक व्यवहार करने वाली शक्ति को जीव आत्मा कहते हैं। इन मानसिक, वाचिक और कायिक व्यवहारो को चलाने के निमित्त मनुष्य शरीर मे एक बडा यन्त्रालय है जिस पर मनुष्य का कोई भी आधिपत्य नही है। इस यन्त्र की अद्भुत और विलक्षण क्रियाओ को सचालित करने वाली जो ज्ञानरूप शक्ति है वही ईश्वर है। मनुष्य शरीर के यन्त्र की समग्र कौशल कलाओ का यथार्थ प्रेरणा करने वाला केन्द्र जो हृदय प्रदेश मे स्थित हुआ विराजमान है उसी को ईश्वर कहते हैं। यह ईश्वर ही जीवात्मा का आधार है। यह ईश्वर शरीर यन्त्रो को इस प्रकार चला रहा है कि जिसके द्वारा जीवात्मा स्थिर रह रहा है। इस प्रकार मनुष्य जीवन का ईश्वर हेतु है अतः हमारा कर्त्ता, हर्त्ता विधाता होने के कारण हमारा आराध्य देव है उसी की हम सेवा, प्रार्थना करते हैं और उसी के अधीन है। इस अभिप्राय को लेते हुए गीता का वचन है:—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(गी० अ० १८ श्लोक ६१)

ईश्वर जिस प्रकार मनुष्य शरीर का आधार होकर शरीर के हृदय केन्द्र मे स्थित है वैसे ही सब प्राणियो का आधारभूत है।

४—सकल प्राणियो के जीवन भर मे कितने ही ज्ञान ऐसे है कि जिनका शिक्षा से सम्बन्ध नही है जैसे—जन्मते हुए बच्चो का पानी या दूध से तृपानिवृत्ति का ज्ञान होना, कौवे और घूघू मे जन्म से ही वैर भाव रहना, अस्त्र शस्त्र से हटने की क्रिया करने का ज्ञान होना। ये सब ज्ञान जीवों के विचार से उत्पन्न नही होते ये सब जो ईश्वर की कला शरीर मे है उसमे सम्बन्ध रखते है अत. ये सब ईश्वरोक्त है।

१३—जीव और ईश्वर का साधर्म्यवैधर्म्य सूत्र

१—सबसे प्रथम आत्मा के दो भेद जानने चाहिये—१ व्यष्टि और २ समष्टि। अनेक भेदो को व्यष्टि कहते है और उन सब को मिला कर यदि एक बुद्धि की जावे तो उनको समष्टि कहेंगे। एक समष्टि मे अनन्त व्यष्टियाँ होती है। यदि आत्मा की किसी समष्टि मे अनन्त व्यष्टियो को हम देखे तो वे ही जीव होवेंगे और उन सब जीवो को यदि समष्टि रूप मे देखें तो उसी को ईश्वर कहेगे।

२—जिस प्रकार एक ही सूर्य के अनन्त स्थानो मे अनन्त प्रतिविम्व हुआ करते है और उन प्रतिविम्वो का मूलस्वरूप विम्ववान् सूर्य एक होता है उसी प्रकार किसी एक वड़ी आत्मा के अनन्त प्रतिविम्व हो गये हैं उन्ही को जीव कहते है और उन प्रतिविम्वो का विम्वी एक मूल आत्मा है उसी को ईश्वर कहते हैं।

३—जिस महाज्ञान का नाम ईश्वर है उसको 'ओम्' शब्द से और जिन अनन्त ज्ञानो को जीव कहते हैं उनका 'अहम्' शब्द से व्यवहार होता है।

४—जो जहाँ कुछ हम देखते हैं स्थूल पुद्गल हमे दृष्टिगोचर होता है। इन पुद्गलो को शरीर कहते है। ये छोटे-वडे अनेक प्रकार के हो सकते है। उन सब को भिन्न-भिन्न शरीर कहेगे। कितने ही शरीर कितने ही शरीरो से वनते है। जिस प्रकार मनुष्य का एक शरीर है ऐसे कई शरीरो से एक सेना का शरीर वनता है और कई शरीरो से एक जाति का शरीर वनता है और कई जातियो के शरीरो से एक जमात या ग्राम वनता है। तात्पर्य यह है कि कितने पुद्गलो को हम एक दृष्टि से देखें, वे एक वस्तु होने के कारण एक शरीर हो जाते हैं। इस प्रकार जितने इस जगत् मे छोटे-वडे शरीर हैं सब के अन्दर उस शरीर के चेष्टा करने का कोई शक्ति केन्द्र रहता है उसी शक्ति केन्द्र को उस शरीर की आत्मा कहते है। इस प्रकार छोटे-वडे जितने शरीर है उनकी आत्मा को अर्थात् उनके प्रत्येक शक्ति केन्द्रो को हम जीव कहते हैं किन्तु यह सम्पूर्ण महा विशाल जो जगत् अनादि काल से वर्तमान है जिसका शरीर अनन्त पुद्गालो से वना हुआ है उसको चलाने वाला भी अनन्तानन्त शक्ति वाला अवश्य ही कोई शक्ति केन्द्र हो सकता है, वही ईश्वर है इसमे विशेपता यह है कि जीवो का शरीर परिमत होने के कारण उसका शक्ति केन्द्र एक नियत स्थान मे आ जाता है, किन्तु जो असीम अनन्तरूप से जगत् को शरीर वनाता है उसकी आत्मा कोई नियत शक्ति केन्द्र न रख कर प्रत्येक विन्दु को अपना शरीर बनाये रहती हे इसी से परमेश्वर के प्रत्येक स्थान मे हृदय, मस्तक, पाँव, आँख, कान, आदि माने जा सकते है अतः महर्पियो ने उसका स्वरूप कहा है:—

सर्वतः पाणि पादम् तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

अर्थात् यह सब हाथ-पैर वाला, सब तरफ आँख मस्तक और मुख वाला और सब तरफ कान वाला होकर सब को ढक कर ठहरा हुआ है।

५—ज्ञान के स्वरूप मे और जगत् की कल्पना करने मे ईश्वर और जीव दोनो वरावर धर्म रखते हैं अर्थात् जिस प्रकार जीव को हमने ज्ञान रूप मे देखा है उसी प्रकार ईश्वर भी महा ज्ञान का घन है। यद्यपि जीव ज्ञान का एक छोटा घन है किन्तु ईश्वर अनन्त अपरिमित और सम्पूर्ण ज्ञानो का भण्डार है। इतना अन्तर होने पर भी ज्ञान स्वरूप होने मे कुछ भी भेद नही है इसी प्रकार दोनों ही अपना-अपना जगत् भी रखते हैं। जिस प्रकार जीव का ज्ञानमण्डल अन्तर्जगत् से सर्वदा व्याप्त रहता है और अपने ही ज्ञान की सामग्री से नया-नया अन्तर्जगत् वनाया करता है और उस अन्तर्जगत् को अपने ही में रखता हुआ अपने ही मे लय कर लेता है। इसी प्रकार ईश्वर

भी अपने ज्ञानमण्डल मे सर्वदा बहिर्जगत् को बनाकर अपने मे रखता है और अपने ही मे लय करता है। तात्पर्य यह है कि इन दोनो बातो मे जीव की और ईश्वर की समानता देखी जाती है किन्तु इन दोनो मे बडा भारी अन्तर यह है कि जीव सर्वदा अपनी स्थिति के लिये किसी कोष की आवश्यकता रखता है किन्तु ईश्वर को किसी कोष की आवश्यकता नही। जीव के कोष इस प्रकार है—१ इन्द्रियवर्ग, २ अर्थवर्ग, ३ मन और ४ बुद्धि। इन ४ तहो के अन्दर 'अहम्' की मात्रा विहार करती है। इस प्रकार जीव चतुष्कोष के बिना कदापि नही रहता। हमारा जीवात्मा ज्ञानमय है। ज्ञान का विकास इन्द्रियो द्वारा होता है। हम देखते है कि किसी इन्द्रिय के द्वारा जो कुछ अनुभव होता है वह भिन्न-भिन्न होने पर भी उसका अभिमान एक ही आत्मा अर्थात् मुझको होता है। देखती आँख है, सुनता कान है इन दोनो के कार्य मे दूसरे का कुछ भी सम्बन्ध नही है तथापि हम अभिमान करते हैं कि मैंने देखा, मैंने सुना अत निश्चित है कि देखने का फल या सुनने का फल दोनो एक ही केन्द्र मे जाकर उसी का अश बनते हैं वही मेरी आत्मा है। यह तब ही हो सकता है कि यदि सभी इन्द्रियो का उसी एक केन्द्र से सम्बन्ध माना जावे यह उस केन्द्ररूप आत्मा का सबसे बाहरी कोश है किन्तु इसके अन्दर दूसरा अर्थ कोश है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये ५ ही भूतमात्रा है। ये पाँचो ही थोडे बहुत अत्यन्त सूक्ष्म बीज रूप से आत्मा मे वर्तमान रहते हैं। जिस आत्मा मे कदाचित् इनका कोई अश न रहे या किसी आघात से पश्चात नष्ट हो जावे तो उस मात्रा का ज्ञान इन्द्रियो के द्वारा सिद्ध नही होता। कितने ही मनुष्य को लाल रग बिलकुल नही दीखता और किसी को किसी रग का बोध नही होता तो यह रूपमात्रा के न होने के कारण से है। किसी के सिर मे चोट लगने के कारण प्राचीन ज्ञान का कुछ भी स्मरण नही रहता अत. जाना गया है कि इन्द्रियो के द्वारा जो रूप हमारे चक्षु मे आते है वह इन्द्रिय के अन्दर वाले स्थायी रूप से ससर्ग करते हैं तब आत्मा के केन्द्र मे पहुँच सकते है। यदि यह कोश न होता तो उस व्यक्ति को भी बाहर से रूप देखने पर उस रूप का ज्ञान आत्मा को अवश्य हो जाता। अत इन्द्रिय कोश के भीतर अर्थकोश का मानना आवश्यक हुआ। अब इस कोश के भीतर मनकोश की सत्ता है क्योकि यदि मन किसी दूसरी ओर लगा हुआ रहे तो आँख के सामने आती हुई वस्तु का भी ज्ञान नही होता इससे जाना गया कि बाह्य पदार्थों का ज्ञान मन मे पहुँच कर आत्मा मे पहुँचता है, मन यदि न पहुँचे तो आत्मा के केन्द्र मे न वह पहुँचने पाता है और न आत्मा को उसका ज्ञान होता है किन्तु मन, इन्द्रिय अर्थ को पकड कर अपना कार्य आरम्भ करता है अत मन का तीसरा कोश है। इनके भी अन्दर बुद्धिकोश है क्योकि हम देखते है कि एक ही बात १० मनुष्यो को सुनाई जाती है, गुरु का उपदेश एक ही भाव से एक ही रूप से होता है किन्तु उससे भिन्न-भिन्न मनुष्यो को भिन्न-भिन्न रूप से ज्ञान उत्पन्न होता है। इसका कारण उन सब मे बुद्धि का भेद है। जो अधिक बुद्धिमान होता है उसका मन शीघ्रता से यथार्थ अर्थ को ग्रहण करता है और स्थूल बुद्धि के मनुष्य का मन अधिकतर प्रयत्न करने पर भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने मे भी समर्थ नही होता। अत जाना जाता है कि यह मन बुद्धि के आधार पर चलता है और उसी के अनुसार आत्मा मे ज्ञान उत्पन्न करता है। बुद्धि एक प्रकार का ज्ञान है और आत्मा भी ज्ञान स्वरूप है अतः इन्द्रिय मे बुद्धि तक जो जितना

आत्मा के समीप आता जाता है उसमे प्रकाश की मात्रा बढ़ती जाती है। बुद्धि आत्मा के अत्यन्त समीप है इन दोनो के भीतर किसी दूसरे का व्यवधान (रोक) नही है अतः दोनों के स्वरूप एक ही प्रकार से हैं अर्थात् ज्ञानमय है। इनमे अन्तर इतना है कि बुद्धि नाम का ज्ञान सर्वदा विषयक है अर्थात् किसी विषय को पकड़े हुए ज्ञान का स्वरूप धारण करता है किन्तु आत्मा ज्ञान विशुद्ध निर्विषयक है वह जिस बुद्धि की ओर होता है उसी बुद्धि का विषय आत्मा का विषय बन जाताहै। बुद्धि हमारी सीमाबद्ध है, बाल्यकाल से लेकर आज तक शिक्षा के द्वारा जितनी बुद्धि हमने उपार्जित की है उतनी ही मेरे पास है किन्तु मैं वह ज्ञानरूप आत्मा हूँ कि जिसने इन बुद्धियो का का सग्रह किया है, करता हूँ और करेगा। उसी के प्रकाश से बुद्धि, मन, अर्थ और इन्द्रिय मे चारो जड़ होने पर भी प्रकाशमान् दीखते हैं, इन चारो मे आत्मा बँधा हुआ रहता है और इनके साथ ही शरीर छोडने पर जाता है अतः ये चारो आत्मा के कोष कहलाते है अत भगवान् का वचन है.—

इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु पराबुद्धिर्योबुद्धेः परतस्तु सः ॥

अर्थात्—इन्द्रियो से परे अर्थ याने विषय हैं और उनसे परे मन है,मनसे परे बुद्धि है और बुद्धि से भी परे वह अव्ययात्मा है।

बुद्धि, मन, अर्थ और इन्द्रिय ये चारो आत्मा के साथ इस प्रकार दृढ बन्धन से बधे हैं कि इनमे एक के आने से चारो ही प्रकट होते हैं और एक के नाश होने से सब नष्ट हो जाते है। अतः किसी का यह मत कि पशुओं मे न आत्मा है, न बुद्धि है और न मन है सर्वथा भ्रम मूलक ज्ञात होता है क्योकि इनमें काले-पीले रूपो का भी ज्ञान पाया जाता है और साथ ही इनमे मन भी है क्योकि इनमे विचार शक्ति भी पाई जाती है। चारा-घास नित्य देने वाले को ये शान्ति और प्रेम की दृष्टि से देखते हैं, किन्तु अस्त्र शस्त्रधारी को तथा हिंसक जीवो को देख कर भागते है, कोई अद्भुत वस्तु को देख कर अकस्मात् चमक पड़ते हैं और बडे आतङ्क तथा विचार की दृष्टि से देखने लगते हैं। ये सब इनमे मन के होने का प्रमाण है। बुद्धि भी इनमें पाई जाती है। बहुत से पशु-पक्षी ऐसे है जिनको शिक्षा क्रम पर लाने से लगभग मनुष्य के सदृश शिक्षित होकर कार्य करने लगते हैं। शिक्षा का ग्रहण करना तथा उससे संस्कार का उत्पन्न होना किसी विद्या मे आत्मा का सम्बन्ध होना बुद्धि का काम है। और जब इस प्रकार बाह्य सामग्री उपस्थित है तो इनको एक सूत्र मे बाँधने वाला इन चारो का आश्रय एक अवश्य होना चाहिए, वही आत्मा है। इस प्रकार पाचो धर्म मनुष्यो के अनुसार पशु, पक्षी, कीट आदि सब जीवो मे अवश्य हैं किन्तु यह कहना अनुचित न होगा कि मनुष्य की अपेक्षा इन ४ की मात्रा न्यूनाधिक रहती है, किन्तु सर्वथा न होने का अभिमान करना मिथ्या है।

अतः जीव मात्र मे चारो कोश अवश्य ही सर्वत्र पाये जाते हैं किन्तु ईश्वर मे इनका एक भी नही होता क्योंकि वह असीम है अतः दूसरे से उसका बन्धन नही हो सकता। परमेश्वर मे न बुद्धि है, न मन है और न इन्द्रियां हैं किन्तु इनकी अनुपस्थिति मे भी इनके कार्यो की हानि परमेश्वर में नही है। वह

वस्तु के उत्पन्न करने मे इस प्रकार स्वतन्त्र है कि विशेष इन्द्रिय न होने पर भी अपने शरीर के प्रत्येक स्थान से देखता है, सुनता है, विचारता है, समझता है—

अपाणिपादो जवनोग्रहीता, पश्यत्य चक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यम् न च तस्य वेत्ता, प्राहुस्तमग्रचम् पुरुषं पुराणम् ।।

अर्थात्—जिसके हाथ और पैर नही है किन्तु वेग वाला है, पकडने वाला है और जिसके नेत्र नही हैं किन्तु देखता है जिसके कान नही है किन्तु सुनता है और वह सब को जानता है किन्तु स्वयं जाना नही जाता, उसको आदि परम पुरुष कहते हैं ।

जीव की विचार शक्ति मे दोष आ सकता है, कमी हो सकती है, गलती हो सकती है किन्तु ईश्वर का विचार निर्दोष और सदा एकरूप में रहने वाला होता है। अत जीव के इन्द्रिय, मन, बुद्धि परिछिन्न है उसकी अपेक्षा अपरिमित बुद्धि, विचार और इन्द्रियज्ञान रखने वाले ईश्वर मे अवश्य विशेषता पाई जाती है। यहाँ पर एक बात कहना और आवश्यक है कि जिस प्रकार मनुष्य मे इन्द्रियो के द्वारा कभी अर्थो का ज्ञान होता है और कभी नही होता और मन भी उस अर्थ का निश्चय करने के लिए नया व्यापार आरम्भ करता है किन्तु ईश्वर मे इन्द्रिय या मन के द्वारा किसी ज्ञान का नवीन तौर से आरम्भ नही होता। सृष्टि के आदिकाल से अन्तकाल तक जिस पदार्थ को परमेश्वर ने जैसा जान लिया है वह पदार्थ वैसा ही हो गया और वैसा ही रहेगा। परमेश्वर का ज्ञान ही वस्तु की सत्ता है। उसकी कोई भी वस्तु न जानी हुई नही है अतः जानने के लिए नया व्यापार नही करता। यह भी जीव से ईश्वर मे वैधर्म्य है।

जीव के लिए जगत् मे कितने ही पदार्थो का त्याग या ग्रहण करना आवश्यक होता है। विना त्याग या विना ग्रहण किये आत्मा की हानि होने की सम्भावना हो जाती है। किन्तु परमेश्वर इस प्रकार परिपूर्णरूप है कि वह किसी वस्तु को त्याग नही सकता और न अपने से अलग कर सकता और न उसको कोई वस्तु अप्राप्य है कि जिसकी प्राप्ति के लिए वह यत्न करे किन्तु इतना होने पर भी विना किसी आवश्यकता के ज्ञान क्रिया रूप होने के कारण सर्वदा जानता और करता रहता है अत गीता में लिखा है :—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषुलोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एवच कर्मणि ।।

(गी० ३।२२)

अर्थात्—हे अर्जुन ! यद्यपि तीनो लोको मे मेरा कुछ कर्तव्य नहीं है और न कोई पदार्थ ऐसा है कि जो मुझको प्राप्त नही होकर अब पाने योग्य हो तथापि मैं कर्म करने मे प्रवृत्त हू ।

ससार मे जितने अर्थ है वे स्वभावत परिवर्तनशील हैं। उनके रूपो का परिवर्तन होने पर जीव की अवस्था का परिवर्तन होना स्वभावसिद्ध है। अवस्था परिवर्तन से अथवा जीवो के अर्थों के परिवर्तन

ने जीव का ही परिवर्तन कहा जा सकता है। इस प्रकार जीव प्रतिक्षण नाशवान् होने पर भी उनके अर्थों की उत्पत्ति या नाश का चिरकाल तक अनुवर्तन रहने से जीवो को संख्या मे अनन्त कह सकते हैं किन्तु उनके विरुद्ध ईश्वर अविनाशी और सख्या मे एक है। जीव विनश्वर है और ईश्वर अविनश्वर है। जीव परिवर्तनशील है और ईश्वर अपरिवर्तनीय है।

यदि स्वरूप की ओर विचारें तो जीव का स्वरूप त्रिवृत् अर्थात् तीन सामग्रियो से बना हुआ है—उक्थ❀, अर्क× और अशीति+। जिस प्रकार प्रकाशमय सूर्य का बिम्ब प्रकाश के मध्य मे है और उसके चारो ओर प्रकाशमण्डल उस बिम्ब से बद्ध है और उस प्रकाशमण्डल की सीमा के अन्दर पृथ्वी, मङ्गल, शनि, बृहस्पति आदि नाना प्रकार के पिण्ड उस प्रकाश के आधीन विद्यमान हैं तो इन तीनो मे बीच वाले बिम्ब को 'उक्थ' कहेगे और प्रकाशमण्डल को 'अर्क' तथा उसके अन्तर्गत पृथ्वी आदि पिण्डो को उसकी 'अशीति' कह सकते है। इसी प्रकार जीव का भी स्वरूप समझना चाहिये। ज्ञानमय जीव के मध्य मे जो एक चमकता हुआ बिन्दु है उसको 'उक्थ' कहते हैं किन्तु उसके आधार से विद्यमान ज्ञान मण्डल को उसका 'अर्क' कहते हैं और उस मण्डल के अन्तर्गत जो नाना जगत् के रूप भासते है वे सब उस मण्डल की 'अशीति' है। अशीति से मतलब अन्न से है कि जिसके द्वारा आत्मा का अश बनता रहता है। यह निश्चित हो चुका है कि शनि आदि पिण्डो से सूर्य सर्वदा रस चूसता रहता है। इसी प्रकार यह आत्मा भी अपने अन्तर्जगत् से रस लिया करता है। जिस प्रकार पृथ्वी आदि पिण्डो के न होने पर उन पिण्डो के चारो ओर वायुमण्डल भी न रहेगा तो सम्भव है कि इन्ही वायुमण्डलो के आघात या घर्षण से उत्पन्न होता हुआ सूर्य का प्रकाश भी नही होगा प्रकाश के न होने पर रहता हुआ सूर्य भी प्रकाशित न होने से न होने के बराबर होगा। इसी प्रकार अन्तर्जगत् वाले विषयो से ही ज्ञान का रूप बनता है। यदि कदाचित् एक भी विषय ज्ञान मे न आवे तो ज्ञान का स्वरूप ही नही बनेगा। ज्ञान का प्रकाश न होने पर जीव की सत्ता भी होकर न होने के बराबर होगी। अत पृथ्वी आदि पिण्डो के सदृश्य अन्तर्जगत् के रूप भी अशीति कहे जा सकते हैं। अशीति का यह भी अर्थ है कि जो किसी अर्क मे व्याप्त होकर उसका अन्न बने अर्थात् जिससे अर्क की स्वरूप सिद्धि हो। सब ही आत्मा स्वभावत. अपने शरीर को ज्यो का त्यों बनाये रखने के लिए कुछ न कुछ अन्न खाया करती हैं और वह अन्न आत्मा के आधीन हो जाता है उसी को अशीति कहते हैं किन्तु अर्क वह वस्तु है कि जिसमे इन अन्नो को सग्रह करने के लिए यत्न पाया जाता है और स्वयम् किसी मध्य बिन्दु के अधीन रहता है अथवा उसी मध्य बिन्दु से उठता है, उसमे उत्पन्न होकर अन्न के लिए अर्चना करता है, अर्थात् व्यापार करता है इसीसे उसको अर्क कहते हैं। यह अर्क जिससे उठता है उसे ही उक्थ कहते हैं। जैसे सूर्य के बिम्ब से उठ कर चारो ओर प्रकाश फैलता है अतः वह उक्थ है और चारो ओर फैल कर अन्न को पकडने वाला और उस अन्न के रस को

नोट.—❀ उक्थ—उत्थ=उठना।

× अर्क—अर्च=स्तुति करना, प्रस्ताव करना, किसी उद्देश्य को कार्यक्षेत्र मे लाना।

+ अशीति—अश = भोजन करना; अशू—व्याप्त होना, फैलना।

उक्थ तक पहुचाने वाला प्रकाशमण्डल ही अर्क है अथवा जीव का मध्य विन्दु जिसको महत् कहते हैं उसी से ज्ञानमण्डल उठ कर दूर २ तक विषय रूपी अन्नो को ग्रहण करके उक्थ अर्थात् आत्मा तक पहुचता है अतः ज्ञान अर्क है और वह ज्ञान जहां से उठता है वही आत्मा उक्थ है इसी प्रकार सूर्य के अनुसार जीवात्मा भी अपना त्रिवृत्‌रूप रखता है।

यहाँ एक बात और भी जानना चाहिए कि सूर्यमण्डल मे रहते हुए जितने पिण्ड हैं वे सब सूर्य से ही बने हुए हैं इस विषय का किसी अन्य प्रकरण मे विस्तार पूर्वक निर्णय किया गया है। इसी प्रकार यह अन्तर्जगत् भी जो आत्मा के ज्ञान मे बने हुए दीखते हैं वे आत्मा की इच्छा से बने हुए हैं। उनके बनने मे इच्छा अर्थात् आत्मा का काम प्रधान कारण है क्योकि जीव आत्मा मे मन, प्राण, वाक् ये भाग सदा बने रहते हैं उनमे सब से प्रथम मन से इच्छा करता है, पीछे प्राण से यत्न करता है तत्पश्चात् वाक् अर्थात् भूत भाग मे क्रिया उत्पन्न हो जाती है तो सिद्ध हुआ कि आत्मा से जो कुछ उत्पन्न होता है उसमे प्रथम काम ही प्रधान कारण है अतः ज्ञान के अन्तर्जगत् जो कुछ जगत् का रूप दीखता है उसको काम कहते है। महर्षियो का मत है कि यह जीवात्मा काममय है अर्थात् चारो ओर कामो से व्याप्त है। ये सब काम जीवात्मा के रूप हैं और अन्न भी है अत. निष्काम कर्म करते २ जबकि आत्मा से सब काम निवृत्त हो जाते हैं तो अकाम होने पर जीवात्मा का रूप ही नही रहता वह अपने मूलाधार ईश्वर के रूप मे लीन हो जाता है। जिस प्रकार किसी कारण से पानी झाग के रूप मे आता है और उस कारण के निवृत्त होने पर वह झाग अपने पानी के रूप मे फिर आ जाता है इसी प्रकार काम के निवृत्त होने पर अकाम आत्मा ईश्वर हो जाता है और काम रूप अन्न न मिलने से फिर जीव का रूप नही बनने पाता अर्थात् जन्मादि बन्धन जो जीवात्मा के लक्षण है जिनके उत्पन्न होने का कारण काम है, काम के निवृत्त होने पर फिर जन्म बन्धन नही होता। इसी को मोक्ष कहते है। इस मोक्ष को क्षीणोदर्क और इससे अतिरिक्त दूसरे मोक्ष को भूमोदर्क कहते है। यह सब धर्म जीव के हैं किन्तु ईश्वर मे यह सब कुछ नही हैं। प्रथम उसके रूप मे उक्थ, अर्क, अशीति का भेद नही है क्योकि जीव मे जो उक्थ का भाग है वह प्रज्ञा अर्थात् बुद्धिरूप है उसी प्रज्ञा पर जो ईश्वर का रूप प्रतिविम्बित होता है उसी को चिदाभास कहते हैं यही चिदाभास जीव कहलाता है। परन्तु यह प्रतिविम्ब ईश्वर मे नही हो सकता क्योकि ईश्वर से परे कोई दूसरा ईश्वर नही है कि जिसके प्रतिविम्ब से ईश्वर बनता और अपना प्रतिविम्ब अपने पर नही पडता। अतः ईश्वर के रूप मे उक्थ नही हो सकता। उक्थ के न रहने से अर्क और अशीति भी नही हो सकते अतः जीव के अनुसार ईश्वर का त्रिवृत् रूप नही हैं यह दोनों मे भेद सिद्ध हुआ।

दूसरी बात यह है कि जीव को जिस प्रकार काममय कहा गया है उसी ही प्रकार ईश्वर भी काममय है किन्तु विशेषता यह है कि जीव का काम अनित्य है और सर्वदा सभी काम ज्ञान मे रहते भी नही अर्थात् उनका अविर्भाव, तिरोभाव होता रहता है और सभी काम उसमे उत्पन्न भी नही हो सकते क्योकि वह अलपज्ञ भी है किन्तु ईश्वर के काम नित्य है और सर्वदा एक रूप हैं उनके कामो का तिरोभाव नही होता और सर्वज्ञ होने के कारण सभी काम ज्ञान मे एक साथ वर्तमान हैं जिनको कि जगत् कहते है। यदि ईश्वर अपने काम को भूलता तो जगत् ही नष्ट हो जाता। अत. कहना चाहिए कि वह सर्वदा आप्तकाम है। काम के प्राप्ति होने से इच्छा की निवृत्ति हो जाती है अत ईश्वर मे इच्छा नहीं

मानी जा सकती । उसके सब काम इच्छा के ही सर्वदा परिपूर्ण रहते है अथवा किसी नियम के बद्ध रहते हैं अत इच्छा न होने के कारण उस आप्त काम को भी हम अकाम कह सकते हैं । यही जीव से ईश्वर मे भेद हैं ।

सभी जीव अपने ज्ञानमण्डल के भीतर के जगत् को ग्रहण करते हैं और दूसरे जीव के ज्ञान मण्डल के भीतर वाले जगत् को कदापि ग्रहण नही करते । किन्तु ईश्वर के ज्ञान मण्डल मे जो जगत् विद्यमान है उसमे सभी जीवो का संपर्क होता है इससे भी ईश्वर को जीव से भिन्न कहते है । जीवो मे जन्म-मृत्यु सुख-दुःख आदि व्यवहारो का इस प्रकार भेद प्रतीत होता है कि जिससे जीवो का भेद स्पष्ट दीखता है किन्तु इस प्रकार का कोई भेद ईश्वर को अनेक मानने के लिए नही पाया जाता अत हम कह सकते है कि जीव अनेक है और ईश्वर एक है ।

सभी भूत आत्मा मे रहते हैं और सब भूतो मे आत्मा रहती है इस प्रकार आत्मा और भूत का परस्पर सम्बन्ध जीव और ईश्वर दोनो मे बराबर है क्योकि दोनो ही अपने अपने जगत् के साथ इसी सम्बन्ध रखते हैं । दोनो के ज्ञान मण्डल से उनके जगत् बनते है । वे जगत् उस ज्ञान से कदापि पृथक् नही रहते । अत कहा जा सकता है कि ज्ञान मे जगत् है और जगत् मे ज्ञान है । परन्तु इसके अतिरिक्त एक बडा अन्तर यह है कि जीवात्मा का अन्तर जगत् एक जीव का नही प्रत्युत अनन्तानन्त जीवो का पृथक्-पृथक् अनन्तानन्त जगत् मण्डल सभी ईश्वर, के ज्ञान मण्डल मे सदा विद्यमान रहते है । यह ईश्वर जिस प्रकार अपने जगत् को अपने ज्ञान मण्डल मे रखता है उसी ही प्रकार जीवो के ज्ञान मण्डलो को भी रखता है कारण यह है कि जड पदार्थो के अनुसार जीव विभाग भी ईश्वर के ज्ञानमण्डल का एक जगत् है जब सभी जीव ईश्वर के ज्ञानमण्डल के अन्तर्जगत् है तो जीवो का अन्तर्जगत् कदापि ईश्वर के ज्ञान से बाहर नही रह सकता अत हम कह सकते हैं कि यद्यपि जीव दूसरे जीव के ज्ञान विषय को नही देखता तथापि ईश्वर सम्पूर्ण जीवो को अपने ज्ञान मे रखता हुआ उनकी चेष्टायें, उनका ज्ञान, उनके मन का विषय आदि सभी को सर्वदा देखता रहता है अतः ईश्वर को साक्षी कहा जाता है ।

बहिर्जगत् जिस प्रकार का होता है उसके योग से ठीक उसी प्रकार की सृष्टि अन्तर्जगत् मे हुआ करती है जिस नाम-रूपवाले बहिर्जगत् से हमारी अन्तरात्मा मिलती है उस अन्तरात्मा की कल्पना की हुई अन्तर्जगत् की वस्तु का भी वही रूप वही नाम उत्पन्न (सावित) होता है किन्तु कही कही हमारा अन्तरात्मा बाह्य के जगत् वाली वस्तु के सब धर्मो का सहन न करने के कारण अथवा बहिर्जगत् के बिना ही नये पदार्थ की कल्पना करने के कारण कभी-कभी बहिर्जगत् के विरुद्ध भी अन्तर्जगत् का रूप बना लिया करता है उसको भ्रम या सशय कहते हैं । इसमे कुछ अँश तो बहिर्जगत् के अनुसार है और कुछ रूप नया कल्पित रहता है अत इस को ज्ञान कहते है ।

किन्तु कहीं-कहीं हमारा अन्तरात्मा बहिर्जगत के अनुसार अन्तर्जगत् न बना करके स्वतन्त्र अपनी इच्छानुसार अन्तर्जगत बनाया करता है । किन्तु फिर ऐसी चेष्टा करता है कि उस अन्तर्जगत् के अनुसार बहिर्जगत् का नया रूप बन जावे जैसा घर, रथ, छत्र, आसन आदि आदि मे सब प्रथम बहिर्जगत् मे न थे

किन्तु प्रथम अन्तर्जगत् मे आकर पीछे वहिर्जगत् मे चले गये है। जो प्रथम जीव की सम्पत्ति थी वह पीछे से ईश्वर की सम्पत्ति हो गई।

किन्तु कभी-कभी यह अन्तरात्मा वहिर्जगत् के अनुसार सूर्य, चन्द्र, पर्वत, वृक्ष, गाय, घोडा आदि पदार्थों का अपने अन्तर्जगत् मे रूप कल्पना करके अपनी चेष्टा से फिर अपनी उस आत्मसपत्ति को ईश्वर के जगत् मे दे दिया करता है और फिर वह ईश्वर की सम्पत्ति हो जाती है किन्तु स्मरण रहे कि यह दोनो प्रकार शिल्प के है ऊपर के पैरे मे जो प्रकार लिखा है उसको अपूर्व शिल्प कहते हैं जैसे—कपड़ा वर्तन, तख्ता, विछायत, काच आदि किन्तु इस पैरे के प्रकार की प्रतिरूप शिल्प कहते हैं जैसे हाथी, घोडा, पर्वत आदि की प्रतिमा या चित्र वनाया जाय। ये दोनो ही प्रकार अन्तर्जगत् के पश्चात् वहिर्जगत् के हुये हैं।

अब एक प्रकार ऐसा भी है जहाँ हमारी अन्तरात्मा वहिर्जगत् से विशेष रूप से सम्वन्ध न करके स्वतन्त्र अपनी इच्छा से अन्तर्जगत् वनाया करती है जैसे किसी कवि के मन मे नये नये भाव उत्पन्न होते हैं और कभी कोई विक्षिप्त नया २ मनोराज का सगठन किया करता है अथवा सोता हुआ मनुष्य स्वप्नावस्था मे नये २ अन्तर्जगत् की कल्पना किया करता है कभी आकाश मे उडता हुआ चलता है, कभी स्वय को मरा देखता है, कभी सर्प मे हाथी का मस्तक देखता है। तात्पर्य यह है कि जो वहिर्जगत् मे कही नही है वह अन्तर्जगत् मे भासता रहता है यह जीव का सामर्थ्य है सौर यह उस की निज की सम्पत्ति है।

जीव के ज्ञान मण्डल का जीव से उसी प्रकार सम्वन्ध है जैसे दीपक की लौ से दीपक के प्रकाश का है। दीपक के प्रकाश को साफ करना, चलाना या ढकना तभी हो सकता है कि दीपक की लौ जब उस प्रकार की जावे। इसी प्रकार जीवात्मा का ज्ञान भी तव ही पकडा जा सकता है यदि मूल बिन्दु अन्तरात्मा सस्कार के द्वारा अपने अधीन किया जावे जिस प्रकार अनेक दीपको के रहते किसी एक दीपक के बिगाडने या बुझाने से दूसरे दीपक न विगडते है और न बुझते है अर्थात् इक दीपक का धर्म दूसरे दीपक पर लागू नही होता इसी प्रकार जीव अनन्त हैं अतः किसी एक जीव के मूर्ख या विद्याहीन होने से रोग या मृत्यु पाने से दूसरे जीव कदापि वैसे नही होते। एक दीपक के बुझने पर दूसरा दीपक जला करता है उसी तरह एक जीव के मरने से दूसरा जीव जीवित रहता है जैसे बुझे हुए दीपक का प्रकाश मण्डल नष्ट हो जाता है उसी प्रकार मरे हुए जीवात्मा का ज्ञानमण्डल या अन्तर्जगत् भी नष्ट हो जाता है किन्तु यह वहिर्जगत् ईश्वर के ज्ञानमण्डल की वस्तु है, यदि ईश्वर नष्ट होता तो सम्भव होता कि जगत् भी नष्ट हो जाता किन्तु ईश्वर के नित्य सनातन होने के कारण वहिर्जगत् की कोई वस्तु न अपने स्थान से च्युत होती है और न नष्ट होती है और न जीवो की इच्छा से उसमे कोई अन्तर पडता है। जीव के ज्ञान का उसमे कुछ सम्वन्ध नही है अत किसी जीव के मरने मे भी यह जगत अनादि काल से नित्य सनातन रूप से इसी प्रकार भासता हुआ चला आ रहा है अर्थात् ईश्वर और जगत् दोनो ही नित्य सनतन है और वास्तव मे दोनो ही एक हैं।

जीव और ईश्वर का साधर्म्य वैधर्म्य सूत्र का सारांश

१—समष्टि आत्मा ईश्वर है और व्यष्टि आत्मा जीव है।

२—एक सूर्य के अनन्त प्रतिविम्वो के समान एक मूलात्मा के अनन्त प्रतिविम्व आत्माओ को जीव और मूलविम्वी आत्मा को ईश्वर कहते है।

३—महाज्ञानरूप ईश्वर को 'ओम्' और अनन्त ज्ञानरूपी जीवो को 'अहम्' कहते है।

४—जीव पृथक्-पृथक परिमित पुद्गल होने से अपना शक्तिकेन्द्र नियत स्थान मे रखता है। किन्तु ईश्वर असीम अनन्त न होने के कारण अपना शक्तिकेन्द्र किसी नियत स्थान पर न रखकर प्रत्येक स्थान मे हृदय, मस्तक, पाँव, आँख, कान आदि माना जा सकता है महर्षियो ने उसका स्वरूप कहा है:—

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्यतिष्ठति ॥१॥ (गीता १३।१३।)

पाणिपाद शिर आँख मुख, करण सहित सब ठोर।
सकल जगत घेरे हुए, वह व्यापक सब ओर ॥१॥
(पु० गोपीनाथ जोशी)

५—जीव और ईश्वर, ज्ञान और जगत् कल्पना मे समान हैं अन्तर इतना ही है कि जीव अल्पज्ञ है और ईश्वर सर्वज्ञ है। जीव अन्तर्जगत् की कल्पना करता है और ईश्वर बहिर्जगत् की। ज्ञान और जगत् कल्पना करने मे समान होने पर भी इनमे बडा अन्तर है। जीव अपनी स्थिति के लिए कोशो की आवश्यकता रखता है और ईश्वर नही रखता। जीव के ४ कोश हैं—इन्द्रिय, अर्थ, मन और बुद्धि। जीव इन चतुष्कोशो मे विहार करता है। इनके विना स्थित नही रह सकता। आत्मा ज्ञान स्वरूप है। पाँच इन्द्रियो का भिन्न २ ज्ञान होने पर भी इनका अनुभव एक ही केन्द्र मे होता है जो आत्मा कहलाता है। पाँच इन्द्रियो का पाँच भिन्न २ ज्ञानफल एक ही आत्मा के अन्न होने के कारण ये पाँचो इन्द्रियाँ उस आत्मा का एक प्रकार का कोश या स्तर है। इन्द्रियाँ अपने केन्द्ररूप आत्मा के सव से वाह्य कोश है। इन्द्रियो के भीतर अर्थकोश है। पाँचो इन्द्रियो के भीतर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, अर्थ या भूतमात्रा के अत्यन्त सूक्ष्म रूप की तह अवश्य ही है। किसी इन्द्रिय के भीतरी अर्थमात्रा के नष्ट होने से उस मात्रा का ज्ञान आत्मा को नही होता। कान और आँख मे शब्द और रूप मात्रा के न रहने से आत्मा को उन दोनो का ज्ञान नही होगा। अतः सिद्ध है कि इन्द्रिय कोश के पश्चात् अर्थकोश अवश्य है। अर्थकोशान्तर मनकोश की सत्ता है जिस इन्द्रिय मन का प्रादुर्भाव न होवे तो आत्मा को ज्ञान नही होता अत. जाना गया है कि इन्द्रियो से अर्थ मे और अर्थ से मन मे वाह्य वस्तु ज्ञान होकर आत्मा मे पहुँचता है। इस प्रकार तीसरा मन कोश है। इसके पश्चात् चौथा कोश बुद्धि का है। मन, बुद्धि के आधार पर कार्य करता है। तीव्र, मन्द और नष्ट बुद्धि अनुसार मन वस्तुओ को पकडता है। बुद्धि अपने धरातल पर चञ्चल मन के व्यापारों के ज्ञानो को एकत्र करती है। आत्मा के ज्ञानरूपी प्रकाश से ये ४ जड़ होने पर भी चैतन्य और प्रकाशित रहते हैं।

आत्मा के निकटस्थ रहने से बुद्धि भी ज्ञानमय है। अन्तर केवल इतना ही है कि बुद्धि सविषयक है और आत्मा शुद्ध, निर्विषयक है और आत्मा जिस बुद्धि की ओर होती है उस बुद्धि का विषय आत्मा विषय बन जाता है। बुद्धि सीमाबद्ध है—बाल्यकाल से अब तक शिक्षा द्वारा जितनी बुद्धि उपार्जन की है वह तो मेरे पास है ही किन्तु मैं वह ज्ञानरूप आत्मा हूँ जिससे यह बुद्धिज्ञान उत्पन्न हुए हैं और आगे भी होते रहेगे। इस आत्मा से ही चारो कोश प्रकाशमान् हैं। आत्मा ये ४ बंधे रहते हैं और इनके साथ शरीर छोडने पर आत्मा जाती है अत चारो आत्मा के कोश कहलाते है अतः भगवान् ने कहा है :—

इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः इत्यादि।

इन्द्रिय परै तो अर्थ है अर्थ परै मन जान ।
मन के आगे बुद्धि है, फिर है आतम ज्ञान ।।१।।
इन्द्रिय, अर्थ, मन, बुद्धि के, कोश आतमा मान।
इनसे आतम जीव है, इन बिन ईश्वर जान ।।२।।
कोश सहित जो आतमा जीवमात्र का रूप ।
कोश रहित जो आतमा, ईश्वर रूप अनूप ।।३।। (पु० गोपीनाथ जोशी)

आत्मा के साथ चारो कोशो का दृढ सम्बन्ध है। एक के रहने से सब रहते है और एक के नष्ट होने से सब नष्ट हो जाते हैं। जीव जन्तुओ मे ४ कोश पाये जाते है तो उनमे आत्मा का होना भी सिद्ध है किन्तु ईश्वर स्वय आत्मास्वरूप है उसका नियमन किसी कोश से नही है वह सर्वदर्शी और सर्वज्ञ है बिना इन्द्रिय के सब कार्य करता है। जैसा कि महर्षियो का वाक्य है—

अपाणिपादो जवनोग्रहीता, पश्यत्य चक्षुः सश्रृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति विद्यम् न च तस्य वेत्ता, प्राहुस्तमग्रयं पुरुषं पुराणम् ।। (उपनिषद्)

पाणिपाद बिन पकड़ता और दौड़ना दूर ।
चक्षु करण बिन देखता, सुनता सब भरपूर ।।
वह नहीं जाना जा सकत, वह सकता सब जान ।
ऐसे को ऋषि कहत है, अग्रयं पुरुष पुराण ।। (पु० गोपीनाथ जोशी)

जीव की बुद्धि आदि परिछिन्न हैं किन्तु ईश्वर की अपरिछिन्न और अपरिमित बुद्धि आदि है। मनुष्य जानते जानते कुछ जानने लगता है किन्तु ईश्वर आदि अन्त तक सब कुछ जानता है उनके सर्वज्ञ ज्ञान मे नवीन पुरातन का भेद नही है। जीव अपनी रक्षा निमित्त कुछ त्यागता है कुछ ग्रहण करता है,

किन्तु ईश्वर परिपूर्ण होने से ऐसा नही करता। परिपूर्ण होने के उपरान्त भी अपने ज्ञान क्रियारूप के अनुसार सदा जानता रहता है और सब कुछ करता रहता है। जैसा गीता मे कहा है —

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं, त्रिषुलोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं, वर्त एवच कर्मणि ।। (गीता)

पार्थ मुझको है नहीं करना कोई कर्म।
अप्राप्य वस्तु कोई नही कर्म होत यही मर्म ।। (पु०गोपीनाथ जोशी)

परिवर्तन से जीव के क्षण-क्षण रूप अनेक माने जाते हैं किन्तु ईश्वर मे अदल-वदल कुछ नही होता, वह निरन्तर एक है।

जीव का स्वरूप त्रिवत् है किन्तु ईश्वर का त्रिवत् नही है। ससार की समस्त वस्तुओ के स्वरूप त्रिवत् है। जीव का त्रिवत् होना सूर्य के समान जानो। सूर्य त्रिवत् इस प्रकार है—पहले सूर्य विम्व, दूसरे उसका प्रकाश, तीसरे उस प्रकाश मे ग्रहो आदि तथा वहुत सी वस्तुओ का होना। सूर्य विम्व को 'उक्थ', प्रकाश को 'अर्क', प्रकाश की वस्तुओं को 'अशीति' कहते हैं। इसी प्रकार ज्ञानमय जीव के मध्य मे जो एक चमकता हुआ विन्दु है उसको 'उक्थ' और उसके आधार से विद्यमान ज्ञानमण्डल को 'अर्क' और इस ज्ञानमण्डल के अन्तर्जगत् जो अन्तर्गत है उसको 'अशीति' कहते है। अशीति के द्वारा आत्मा का अंश वनता रहता है। आत्मा अन्तर्जगत् से रस लिया करता है। अन्तर्जगत् से ही ज्ञान का स्वरूप वनता है और अन्तर्जगत् सहित ज्ञान प्रकाश से ही आत्मा की सत्ता भी है। यदि अन्तर्जगत् न रहे तो ज्ञान का कोई स्वरूप ही नही वनेगा और आत्मा की सत्ता रहने पर भी न रहने वरावर है। इस प्रकार अन्तर्जगत् ही अशीति है अर्थात् ज्ञान के द्वारा आत्मा का भोजन आ अन्न है। अश् धातु का अर्थ व्याप्त होना भी है अत: अशीति अर्क मे व्याप्त होकर उसका अन्न वनता है। कई अपने मध्य विन्दु से उठकर इसके लिए अन्न व्याप्ति के अर्थ यत्न करता है। जिस विन्दु से यह उठता है उसको उक्थ कहते हैं। जीव के मध्य विन्दु को जो 'अहम्' या 'आत्मा' कहलाता है जिससे ज्ञानमण्डल उठता है और वँधा हुआ है 'उक्थ' कहते हैं। जो ज्ञानमण्डल इससे उठा हुआ है उसी अर्क और ज्ञानमण्डल के अन्तर्जगत् को अशीति कहते है। इस प्रकार जीव, उक्थ, अर्क, अशीति से त्रिवत् कहलाता है।

ऋषियो ने जीव को काममय कहा है। जीव मे इच्छा पैदा होती है और इच्छा ही से अन्तर्जगत् पैदा हो जाता है। इसी जगत् को काम कहते हैं। यह इच्छा या काम धीरे-धीरे आत्मा मे से हटा दिया जावे तो आत्मा निष्काम होकर ईश्वर रूप हो जाता है। काम सहित आत्मा जीव है और काम रहित आत्मा ईश्वर है। काम वन्धन मे जन्म-मरण होता है। और इसके न रहने से मोक्ष मिल जाता है (लीलोदर्क मोक्ष) ये सब जीव के धर्म हैं। ईश्वर मे यही धर्म नही है उक्थ, अर्क, अशीति जीव का धर्म है ईश्वर का नही क्योंकि उक्थ वास्तव मे वह प्रज्ञा का रूप है जिस पर ईश्वर का रूप प्रतिविम्वित होता है और जिसको चिदाभास कहते है। यह चिदाभास ही जीव का स्वरूप है। यह ईश्वर नही है अतः ईश्वर

के रूप मे उक्थ नही है और जब उक्थ की सत्ता नही तो अर्क और अशीति भी नही हो सकते अतः जीव के सदृश ईश्वर त्रिवत् रूप नही है। यह दोनो मे भेद सिद्ध हुआ।

जीव काममय है और ईश्वर भी काममय है किन्तु विशेषता यह है कि जीव का काम अनित्य है क्योकि वह अल्पज्ञ है किन्तु ईश्वर के काम नित्य हैं और सर्वदा एकरूप हैं। इनका तिरोभाव नही होता और सर्वज्ञ होने के कारण सभी काम ज्ञान मे एक साथ मौजूद रहते हैं अत. ईश्वर आप्त काम है। ईश्वर को बिना इच्छा ही सब प्राप्य हैं और सब काम सर्वज्ञ होने से परिपूर्ण तथा अचल नियमो से बद्ध रहते हैं अतः ईश्वर आप्त काम होकर भी अकाम कहा जा सकता है। अतः जीव काममय है और ईश्वर अकाम है।

एक जीव का ज्ञानमण्डल दूसरे जीव के ज्ञानमण्डल को नही जानता किन्तु ईश्वर के ज्ञानमण्डल मे जो जगत् है उसको सभी जीव जानते है। जीव आपस के अन्तर्जगत् को नही जानते किन्तु ईश्वर के ज्ञान पर ठहरे हुए बहिर्जगत् को सब जानते हैं।

जन्म–मरणादि के कारण से जीव अनेक हैं किन्तु भेद न होने से ईश्वर एक है। जीवो का अन्तर्जगत् जीवो के ज्ञान से इस प्रकार बना है कि उनके ज्ञान मे अन्तर्जगत् है और उनके अन्तर्जगत मे उनका ज्ञान है। इसी प्रकार ईश्वर का बहिर्जगत् है अर्थात् सकल पाञ्चभौतिक विश्व ईश्वर के ज्ञान मे है और ईश्वर का ज्ञान विश्व मे है जैसे घडे मे मिट्टी और मिट्टी मे घड़ा कहा जा सकता है। जीव और ईश्वर, ज्ञान मे जगत् और जगत् मे ज्ञान होने के सम्बन्ध से सार्वमिक हैं किन्तु भेद इतना सा है कि जीव तो अपने अन्तर्जगतो को आपस मे नही जानते किन्तु ईश्वर के ज्ञानमण्डल मे सब जीवो के अन्तर्जगत् विद्यमान है अतः ईश्वर को साक्षी कहते हैं।

बहिर्जगत् के अनुसार अन्तर्जगत् बना करता है किन्तु कभी–कभी बहिर्जगत् का अंश या कभी बहिर्जगत् के विरुद्ध अन्तर्जगत् हो जाता है। इन दोनो अवस्थाओ को संशय और भ्रम कहते हैं। दोनो को ही अन्यथा ज्ञान भी कहते हैं। जीव बहिर्जगत् के अनुसार तो अपने अन्तर्जगत् बनाया ही करता है किन्तु प्रायः बहिर्जगत् के पदार्थों से विलक्षण वस्तुऐं अपने अन्तर्जगत् बना कर उसके अनुसार बहिर्जगत् के पदार्थों को तोड–मोड़ कर नये २ स्वरूप जगत् मे अपनी इच्छानुसार निर्माण कर देता है जैसे घर, नगर, घड़ी, रेल, कपडे इत्यादि जितनी मनुष्य की बनाई हुई वस्तुऐं हैं और जो मनुष्य उन्नति की सामग्री है। ये सब नवीन निर्माण की हुई वस्तुऐं जीव के अन्तर्जगत् मे तो जीव सपत्ति है किन्तु बाहर प्रकट रूप मे होते ही ईश्वरी सम्पत्ति हो जाती है। बहिर्जगत् के पदार्थों को हेर–फेर कर नवीन वस्तु निर्माण को ही शिल्प कहते है। यह दो प्रकार का है एक अपूर्व शिल्प जैसे घर, कुर्सी, विमान इत्यादि दूसरा प्रतिरूप शिल्प है जैसे कृत्रिम घोडा, हाथी, मनुष्य इत्यादि। ये दोनो ही जीव सम्पत्ति ईश्वर सम्पत्ति हो जाते है। अन्तर्जगत् मे जीव की और बहिर्जगत् मे ईश्वर की सम्पत्ति है।

जीव बहिर्जगत् के अनुसार तो अन्तर्जगत् बनाया ही करता है किन्तु प्रायः बहिर्जगत् से भिन्न २ नये भावो की घटना करके अपने अन्दर जगत् रचना किया करता है। अपनी कल्पनाशक्ति से अपने मन मे नया जगत् रच लेता है जैसे कवि आदि किया करते हैं यह सगठन उनका मनोराज है यह मनुष्य की निजी नवीन सम्पत्ति है।

दीपक का प्रकाश दीपक की लौ के अनुसार अपना काम करता है। ऐसे ही जीवात्मा के मूल-विन्दु के सम्कारानुसार ही उसके ज्ञानप्रकाश का व्यवहार है। जीव के नष्ट होने से उसकी अन्तरात्मा नष्ट हो जाती है किन्तु जीवो का वहिर्जगत् ज्यो का त्यो रहता है। वहिर्जगत् ईश्वर के नष्ट होने पर नष्ट हो सकता है किन्तु ईश्वर नित्य और सनातन है अतः उसके ज्ञान का वहिर्जगत् नष्ट नही होता। यह जगत् भी नित्य और सनातन है, ईश्वर और जगत् दोनो ही नित्य और सनातन है और वास्तव मे दोनो ही एक हैं क्योकि जगत् ईश्वर के ज्ञान का ही रूप है।

१४. जीव ईश्वर की पृथक् सत्ता

चित्त की सत्ता के आश्रय से जितनी वस्तुएँ हैं उनकी सत्ता चित्त की सत्ता से भिन्न कहनी चाहिए जैसे कि प्रज्ञा एक वस्तु है जो कि चित्त की सत्ता के आश्रय से विद्यमान है उसकी सत्ता पृथक है अर्थ. वह चित्त के अंश को धारण करके कितने ही अहं तत्व अर्थात् जीवो को उत्पन्न करती है। यदि प्रज्ञा की सत्ता चित्त से पृथक न होती तो वह चित्त को अपने पर धारण नही कर सकती। जिस प्रकार मिट्टी की सत्ता ही घट की सत्ता है तो उस घट के ऊपर वही मिट्टी चढ नही सकती। जहाँ वस्तु की सत्ता भिन्न २ होती है जैसे सूर्य की सत्ता और जल की सत्ता भिन्न २ है तो वहा जल पर सूर्य का प्रति-विम्व होना सम्भव होता है। जव प्रज्ञा पर चित्त का प्रतिम्विम्व है तो प्रज्ञा की सत्ता चित्त की सत्ता से पृथक् माननी चाहिए। मैं अर्थात् जीव भी अपने ज्ञानमण्डल से जो अपने जगत् की कल्पना किया करता हू वह भी मिट्टी के घड़े के सदृश नही किन्तु अपनी सत्ता से उनमे पृथक् सत्ता उत्पन्न की जाती है। वे मेरी सत्ता से ही सत्ता वाले नही हैं यही कारण है कि वे अन्तर्जगत् सस्काररूप से हमारे अन्तःकरण मे विद्यमान रहते है जिनका स्मरण करता हुआ मेरा ज्ञान पृथक् रूप से पकड़ता और देखता है। यदि अन्त-र्जगत् की सत्ता मेरे ज्ञान की सत्ता से पृथक् न होती तो ज्ञान अपने को आप पकडने मे असमर्थ हो जाता। मेरे ज्ञान में वैठी हुई वस्तु दीखती है जिसको ज्ञान ग्रहण करता हुआ पृथक् रूप से देखता है सो ऐसा कदापि नहीं होता अतः विश्वास करना चाहिए कि यह सम्पूर्ण अन्तर्जगत् जो आत्मा के ज्ञानमण्डल से उत्पन्न हुआ है वह आत्मा से ही उत्पन्न होने पर भी आत्मा से सर्वदा पृथक्रूप मे आत्मा मे भरा रहता है अर्थात् अन्तर्जगत् के वनने के पूर्व आत्मा की जितनी मात्रा थी आज अनन्त जगत् वनने पर भी या बनते रहने पर भी उस मात्रा मे कुछ भी कमी नही होती। वह अपने स्वरूप मे—अपने प्रमाण मे ज्यो का त्यो वना हुआ है। यह अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि इस आत्मा से अनन्तानन्त जगत् वन गया किन्तु आत्मा उनसे पृथक् अपने स्वरूप मे ज्यो का त्यो मौजूद है। दूसरा आश्चर्य का विषय यह भी है कि वह अन्तर्जगत् ज्ञानमण्डल से इस प्रकार चिपका हुआ है कि उससे पृथक् एक क्षण के लिए भी उसका कोई स्थान नही है किन्तु आत्मा उस अन्तर्जगत् से सर्वथा असङ्ग है। जिस प्रकार आकाश मे अनन्ता-नन्त जल की धारा रात दिन रहने पर भी आकाश कभी नही भीगता और आकाश के सिवाय जल के लिये स्थान नहीं है किन्तु आकाश उन जलो से सदा पृथक् असङ्ग रहता है, यह वस्तु धर्म है, इसी प्रकार ज्ञान और अन्तर्जगत् का भी सम्बन्ध जानना चाहिये। यह सम्बन्ध जीव के साथ जिस प्रकार अन्तर्जगत् का है उसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान के साथ भी वहिर्जगत् का सम्बन्ध है अतः कहा जाता है कि जगत् की सत्ता ईश्वर की सत्ता से भिन्न है।

जब घट हम देखते हैं तो घट का ज्ञान घट से मिला हुआ हमें भासता है यहाँ तक कि ज्ञान और घट को पृथक् करना भी कठिन है तथापि जब वह ज्ञान घट को छोड कर हाथी पर जाता है तो घट को इस प्रकार बेलाग छोडता है कि जैसा उसका घट से कोई सम्बन्ध ही नही था। इसी प्रकार स्फटिक के पास जिस प्रकार गुडहल का फूल रखने से स्फटिक जो निरा सफेद होता है वह सर्वथा लाल दीखने लगता है यहाँ तक कि स्फटिक की वह लाली अपनी निज की मालूम होती है परन्तु जब गुडहल को हटाते हैं तो वह लाली इस प्रकार बेलाग छूट जाती है कि जैसे वह लाली स्फटिक मे थी ही नही। इसी प्रकार ज्ञान का और अर्थ का सम्बन्ध जानना चाहिये।

यदि जगत् की सत्ता ज्ञान की सत्ता से पृथक् है तो यह प्रश्न उठता है कि ज्ञान से उत्पन्न होते हुए जगत् मे वह सत्ता कहाँ से आई। इसके उत्तर में तीन मत होते है पहला यह है कि ज्ञान ही से जगत् मे सत्ता आई है अर्थात् ज्ञान की सत्ता ही जगत् की सत्ता है क्योकि ज्ञान के नाश मे जगत् का नाश देखते हैं, जगत् ही ज्ञान का आकार है न जगत् विना ज्ञान रहता है और न ज्ञान विना जगत्, अत जगत् ज्ञान का ही विकार है, ज्ञान की सत्ता वाला है। दूसरा मत है कि ज्ञान की सत्ता ही जगत् की सत्ता तब मानी जाती कि यदि घास से दुग्ध, दुग्ध से दही अथवा सूत से कपडा और मिट्टी से घडा इनके सदृश ज्ञान से जगत् बना होता किन्तु जैसा हम देखते हैं कि दुग्ध बनने पर घास नही रहता उसी प्रकार जगत् बनने पर ज्ञान का रूप न रहे ऐसा नही होता। ज्ञान मे ही बैठा हुआ जगत् भासता है अतः कहना होगा कि जल मे बुद्बुद् या झाग के अनुसार ज्ञान मे जगत् की उत्पत्ति है किन्तु इसमे भी विशेषता यह है कि झाग के बनने मे खर्च हो जाने से पानी अवश्य घट जाता है और पानी अपने स्वरूप से बिगड कर झाग बनता है किन्तु ज्ञान मे वह दोनो बाते नही। जगत् के बनने से न ज्ञान मे कोई विकार आता है न उसकी मात्रा की कमी होती है ऐसी स्थिति मे ज्ञान की सत्ता से जगत् की सत्ता कहना असगत है। हम कह सकते है कि ज्ञान मे जो जगत् उत्पन्न हुआ है उसमे नाम, रूप और कर्म ये तीनों ही अकस्मात् उत्पन्न हो जाते है। जो वस्तु लाल या काली दीखती है उसकी वह रगत वह आकार ज्ञान मे न थी वह उस जगत् के अर्थ मे कहाँ से आ गया इसका उत्तर केवल अनिर्वचनीय है जिस प्रकार ज्ञान मे न रहता हुआ रूप अर्थात् रग तथा आकार उस वस्तु मे अकस्मात् आ गया उसी प्रकार सत्ता का भी आ जाना सम्भव हो सकता है। ज्ञान के भेद से जैसे वस्तु का रूप नष्ट हो जाता है उसी प्रकार उस वस्तु की सत्ता भी नष्ट हो जाती है यही मत यथार्थ ज्ञात होता है। तीसरा मत यह भी है कि जैसे रस्सी मे सर्प उत्पन्न हो जाता है वह सर्प मिथ्या है उसकी सत्ता भी मिथ्या है केवल रस्सी की सत्ता मे प्रातिभासिक सत्ता सर्प की बन गई है सो मिथ्या है इसी प्रकार ज्ञान पर जगत् मिथ्या बन गया है उसकी सत्ता मिथ्या है केवल ज्ञान की सत्ता से ही जगत् की प्रातिभासिक सत्ता बन गई है वह भ्रम है और मिथ्या है। यह मत आजकल दार्शनिको मे प्रचलित है किन्तु यह विचार अधिक प्रबल नहीं है।

जीव ईश्वर की पृथक् सत्ता का सारांश

चित्त सत्ता अर्थात् ईश्वर की ज्ञानसत्ता आश्रय से जगत् वस्तुओं की सत्ता स्थिर है। किन्तु चित्त सत्ता वस्तु सत्ता से भिन्न है। चित्त सत्ता के आश्रय से जगत् सत्ता की रचना होने पर भी चित्त सत्ता कम नही होती और चित्त सत्ता के आश्रय सम्पूर्ण जगत् सत्ता रहने पर भी चित्त सत्ता जगत् सत्ता मे

प्रसंग है। तात्पर्य यह है कि ईश्वर जगत् को पेट मे रखते हुए भी जगत् से भिन्न है जगत् की रचना करते हुए भी घटता नही और जगत् को अपने आश्रय रखता हुआ भी सदा असङ्ग रहता है। निम्नलिखित उदाहरण से इस सिद्धान्त को समझना चाहिए—दो समान सत्ता मे प्रतिविम्ब सम्भव नही किन्तु भिन्न सत्ता मे ही आभास देखा जाता है। इस नियमानुसार प्रज्ञा पर जो चित्त से भिन्न है चिदाभास हुआ करता है। चिदाभास सहित प्रज्ञा ही को जीव या अहम् कहते है। प्रज्ञा पर चिदाभास ही मनुष्य की आत्मा है। इस आत्मा के प्रकाश का नाम ही ज्ञान है। इस ज्ञान मे जो अन्तर्जगत् पैदा होता है उसकी सत्ता और इस ज्ञान की सत्ता सर्वथा भिन्न है क्योकि अन्तर्जगत् मेरे ज्ञान मे केवल संस्काररूप से रहता है वह ज्ञान की सत्ता मे परिणत कभी नही होता। ये दोनो पृथक् २ है अतः ज्ञान अन्तर्जगत् को पकडने मे समर्थ है यदि एक होते तो ज्ञान अन्तर्जगत् को पृथक् देखने मे असमर्थ होता और ज्ञान मे भरा हुआ अन्तर्जगत् कुछ भी भान नही होता अत. सिद्ध है कि ज्ञान सत्ता अन्तर्जगत् सत्ता से भिन्न है। ज्ञानाश्रय मे अन्तर्जगत् अनन्त हो जाने पर भी ज्ञान की मात्रा कुछ भी कम नही होती क्योकि अन्तर्जगत् का ज्ञान केवल प्रकाश करने वाला है और अन्तर्जगत् के अनन्त रूपो को धारण करता हुआ सा दीखता हुआ भी उस अन्तर्जगत् से सर्वथा पृथक् और असङ्ग है। जैसे ज्ञानसत्ता अन्तर्जगत् सत्ता से पृथक् है, अन्तर्जगत् के अनन्त रूपो को धारण करने पर भी परिपूर्ण मात्रा वाला है और अन्तर्जगत् को अपने उदर मे रखते हुए भी असङ्ग है वैसे ही ईश्वर की ज्ञान सत्ता जगत् से पृथक् है, जगत् रचने पर भी पर भी परिपूर्ण है और जगत् को धारण करने पर भी असंग है।

जग-सत्ता से पृथक् है, ईश्वर ज्ञान अपार।
परिपूर्ण निर्लेप है, जग रचना भण्डार ॥१॥

जिमि है अन्तर्जगत् का, जीव ज्ञान आगार।
तिमि सारे संसार का ईश्वर ज्ञानाधार ॥२॥ (पु० गोपीनाथ जोशी)

ज्ञान और अर्थ का सम्बन्ध स्फटिक और गुडहल के फूल के सदृश असङ्ग है। ज्ञान और अन्तर्जगत् की सत्ता जब पृथक् २ है तो जगत् की सत्ता के विषय मे तीन मत है—१ ज्ञान जगत् का उपादान कारण है। ऐसे मतानुसार जगत् की सत्ता ज्ञान की सत्ता ही से आती है। २. उपर्युक्त पहले मत को दूध, दही, मिट्टी, घडा, झाग, बुदबुदे के उदाहरण से काट कर दूसरा मत कहता है कि बहिर्जगत् के नाम, रूप, कर्म जैसे ज्ञान मे आकर अन्तर्जगत् बनाते है वैसे ही अन्तर्जगत् की सत्ता भी आ जाती है और उनके साथ-साथ चली भी जाती है। यह मत यथार्थ ज्ञात होता है। ३. ज्ञान पर ज्ञान से ही जगत् की प्रातिभासिक सत्ता रस्सी मे सर्प के समान बन गई है। यह मत आजकल दार्शनिको का प्रचलित है किन्तु यह विचार अधिक प्रबल नही है।

१५. ज्ञान और सत्ता का पौर्वापर्य सूत्र

ज्ञान और सत्ता मे पहले कौन, पीछे कौन इस प्रश्न का उत्तर भी जगत् के दो होने से सरल हो गया है। हम कह सकते हैं कि जगत् जबकि सत्तामय है अर्थात् 'है' इस बुद्धि ही को जगत् कहते हैं और

यह जगत् ज्ञान से बना हुआ है तो माना गया कि ज्ञान पहले है और सत्ता पीछे है। वहिर्जगत् की सत्ता ईश्वरीय ज्ञान के आधीन है और अन्तर्जगत् की सत्ता जीव रूप ज्ञान के आधीन है तात्पर्य यह है कि बिना ज्ञान के सत्ता नही अतः ज्ञान पहले है और सत्ता पीछे।

किन्तु स्मरण रहे कि जिस प्रकार वहिर्जगत् ईश्वर के ज्ञान के आधीन है उसी प्रकार जीव की सत्ता भी ईश्वर के आधीन है क्योकि जीव भी एक प्रकार का वहिर्जगत् है अर्थात् प्रज्ञा के ऊपर चिदा-भास होता है उसी को जीव कहते हैं। प्रज्ञा वहिर्जगत् है। प्रज्ञा के न होने से चिदाभास नही हो सकता अत कहा जा सकता है कि चिदाभास का ज्ञान अर्थात् जीव का ज्ञान की सत्ता के आधीन है अर्थात् सत्ता पहले है और जीव का ज्ञान पीछे है।

अथवा यो समझना चाहिए कि अन्तर्जगत् का ज्ञान वाह्य जगत् की सत्ता के आधीन है, यदि वाहर घट की सत्ता नही है तो हमको घटका ज्ञान कदापि नही होगा। हम को जो कुछ भी ज्ञान होता है उस ज्ञान को उत्पन्न होने के लिए वाहर किसी न किसी वस्तु की सत्ता आवश्यक है अर्थात् पहले सत्ता रहती है तत्पश्चात् ज्ञान होता है।

तीसरी बात यह है कि इस प्रकार वहिर्जगत् की सत्ता के आधीन अन्तर्जगत् का ज्ञान भले ही हो किन्तु ईश्वरीय ज्ञान के आधीन वहिर्जगत् की सत्ता और जीव के ज्ञान के आधीन अन्तर्जगत् की सत्ता पहले कही जा चुकी है उस पर किसी का मत है कि ज्ञान और सत्ता इन दोनो मे पहले-पीछे का विचार बाँधना असमजस है क्योकि जो वस्तु का ज्ञान होता है वही वस्तु की सत्ता है—घट है—यही घट का ज्ञान है। 'है' को विना पकडे ज्ञान का रूप नही वनता और ज्ञान के विना वस्तु की सत्ता कुछ भी नही कही जा सकती अतः वस्तु ज्ञान और वस्तु सत्ता दोनो एक है। इनको आगे-पीछे कहना भ्रम है इसी तात्पर्य को लेकर एक महर्षि का वचन है—

नैन वाचा न मनसा, प्राप्तुं शक्योन चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतो ऽन्यत्र, कथं तदुपलभ्यते॥
अस्तीत्येवोपलब्धस्यस्तत्व भावेनचोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य, तत्वभावः प्रसीदति॥

अर्थात् न तो वाणी से न मन से न नेत्रो से वह प्राप्त हो सकता है। जो 'है' यह कहता है उसमे दूसरी जगह वह कैसे प्राप्त हो सकता है। है इसीलिए वह प्राप्त हो सकता है दोनो के रहने से ही 'है' इस रूप मे प्राप्त होने पर सत्ता भाव सिद्ध हो जाताहै।

ज्ञान और सत्ता पौर्वापर्य सूत्र का सारांश

ज्ञान तो प्रकाशमय है और समस्त जगत् ज्ञान का विषय है। ज्ञान का जो विषय हो वही सत्तामय है या सत्ता का रूप है। 'है' बुद्धि का नाम सत्ता है। जगत् 'है' बुद्धि के सिवाय और कुछ नही है अत. जगत् सत्ता मय है। जगत् २ प्रकार का है—अन्तर और वहिर्। अन्तर्जगत् का कारण

ज्ञान है—ऐसे ही वहिर्जगत् का भी कारण ईश्वरीय ज्ञान है। अत. दोनो जगत् का कारण ज्ञान है और जगत् सत्तामय है अतः ज्ञान सत्ता का कारण है अतः ज्ञान सत्ता से पहले है क्योकि कारण कार्य से पहले होता है।

प्रज्ञा पर चिदाभास का नाम जीव है। प्रज्ञा वहिर्जगत् है अतः सत्तामय है। प्रज्ञा की सत्ता होने से चिदाभास का होना सम्भव है अर्थात् प्रज्ञा की सत्ता होने से चिदाभास या जीव का ज्ञान होता है अत. पहले सत्ता और ज्ञान पीछे है। दूसरी तरह समझो कि अन्तर्जगत् का ज्ञान वहिर्जगत् की सत्ता के आधीन है अतः सत्ता पहले और ज्ञान पीछे कहा जा सकता है।

जो यह बात कही गई कि ज्ञानाधीन अन्तर्जगत् है और अन्तर्जगत् का ज्ञान वहिर्जगत् के आधीन है और वहिर्जगत् की सत्ता ईश्वरीय ज्ञानाधीन है और इससे ज्ञान पहले और सत्ता पीछे बताई जाती है तो इस पर यह विचारणीय है कि ज्ञान का स्वरूप ही सत्ता से कायम होता है और सत्ता का भास ज्ञान मे ही हो सकता है अतः कोई ज्ञान कभी भी विना सत्ता के नही होता और कोई सत्ता विना ज्ञान के स्थिर नहीं होती अतः ज्ञान और सत्ता दोनो ऐसे अविनाभूत है कि एक दूसरे विना कभी नहीं रहते। ऐसी स्थिति मे ज्ञान और सत्ता मे से किसी को भी पहले पीछे नही कह सकते।

मन वाणी अरु चक्षु से नहीं पकड में आत।
'है' उपलब्धि के परे, कछु न समझा जात।।

(पु० गोपीनाथ जोशी)

उपसंहार

इन प्रकरणों से यह सिद्धान्त निकला कि एक जगत् स्वतन्त्र रूप से है जो जीव के आधीन नही है और दूसरा जगत् जीव के ज्ञान से बना हुआ उसके आधीन है और इन दोनो जगतो से अतिरिक्त एक जीव है जो जगत् के अनुसार देश या काल के सबन्ध से छोटी सत्ता रखता है और अनन्त है किन्तु जगत् के अनुसार जड नही है। इन सबका प्रभु पृथक् एक ईश्वर है वह चेतन है। चेतनता मे जीव ईश्वर के तुल्य है और छोटी सत्ता या अनन्त सख्या मे जीव जगत् के तुल्य है।

ऐसी स्थिति मे न विश्व को सत्य कह सकते हैं और न जीव अथवा ईश्वर को। बस इन तीनो से अर्थात् जगत्, जीव और ईश्वर से पृथक् और कुछ नही है। इन्ही तीनो को तत्वत्रय अथवा त्रिसत्य कहते हैं। इन तीनो मे मुख्य परमेश्वर है। जीव और जगत् उसके आधीन मे रहकर उसकी उपासना करते है किन्तु सत्यता की परीक्षा मे जीव की कक्षा प्रथम है क्योकि आपामर सभी को 'मैं हूँ' इस प्रकार, अपना साक्षात्कार स्पष्ट रूप से होने के कारण जीव की सत्यता सबसे प्रथम सिद्ध होती है। फिर अन्तर्जगत् की सत्यता जीव ज्ञान की सत्यता पर निर्भर है। अन्तर्जगत् की सत्यता वहिर्जगत् की सत्यता पर निर्भर है और वहिर्जगत् की सत्यता ईश्वर की सत्यता पर निर्भर है। इस प्रकार जीव की सत्यता प्राप्त करके ही जगत् की सत्यता के द्वारा ईश्वर की सत्यता तक हम पहुँचते है अतः जीव की परीक्षा प्रथम है, ये तीनों ही एक से एक इस प्रकार सम्मिलित रहते हैं कि एक के विना अन्य दोनों नही रह सकते अतः

तीनो का सयुक्त रूप होने के कारण इसको विशिष्ट त्रिमत्य कहते हैं इसी विशिष्ट त्रिमत्य सम्मिलित सिद्धान्त को आधार मान कर उपासक लोगों के नाना प्रकार के उपासना धर्म प्रचलित हुए है।

उपासना सूत्र

कितने ही वल किसी एक विन्दु मे मिलकर सयोग से आपस मे गूथ जावे तो उसका हृद् ग्रन्थि कहते हैं। वल एक ऐसी वस्तु है जो विना आश्रय के नही रहता। उसके आश्रय को हम यहाँ 'रस' शब्द से व्यवहार करेंगे। रस एक ऐसी वस्तु है कि जो सदा शान्त एक रूप पर रहता हैं क्योंकि वह क्रिया रूप नही है केवल सव वलो का वह आश्रय है परन्तु वल वह वस्तु है जो क्रिया के रूप मे परिणत हुआ करता है क्रिया ही उसका रूप है। विना क्रिया के अर्थात् विना परिणाम के कभी रहता ही नही। जैसे रस शान्त रूप है उसी प्रकार उसके विरुद्ध वल क्षुब्ध रूप है। विना वल के रस नही रहता और विना रस के वल भी नही रहता। यही कारण है कि वल अपना क्षोभ करके नष्ट हो जाता है किन्तु उस क्षोभ का फल रस पर छोड जाता है और वह रस का सस्कार होकर रस के स्वरूप मे परिवर्तन वन जाता है। इसी कारण से एक विन्दु पर वलो के परस्पर मेल से जो हृद् ग्रन्थि वनती है उस मे रस ही हो जाता है। इस रस को हम आत्मा कहते है। यह आत्मा यद्यपि क्रिया रूप न होने से वन्धन मे कदापि नही आ सकती तथापि अपने वल के कारण वँधी हुई सी हो जाती है। इस ग्रन्थि के कारण यह आत्मा का वन्धन कहलाता है। इसी वन्धन के छुटकारे को मोक्ष कहते है और मोक्ष सवसे वडा पुरुषार्थ है।

जहा हृद्ग्रन्थि से रस मे वलो की गाठ एक प्रकार की वँध चुकी है उस ही विन्दु मे उस गाँठ पर जब दूसरा वल लगाया जाता है तो उससे दूसरी गाठ फिर वनती है। दूसरा वल पहले वल से न मिलने के कारण दूसरी गाँठ अलग ही वनती है और अलग ही ढग से खुलती है। वल जब किसी वस्तु पर लगता है तो उसकी दो गति होती है कभी पहले ही रस पर केवल शुद्ध नया वल आता है तो वहाँ गाँठ नही वनती केवल वल अपना क्षोभ दिखा कर नष्ट हो जाता है किन्तु जवकि रस पर वैठा हुआ वल अपने रस को साथ लिए हुए किसी वस्तु पर लगाया जाता है तो वहाँ वह नवीन गाँठ पैदा करता है जैसा कि कोई तीर या गैंद ऊपर या तिरछा फैंक दिया जावे तो वहा वल उस तीर या गैंद मे पैदा किया गया किन्तु उसमे नया रस नही मिलाया गया है अतः गैंद या तीर वल के अनुसार कुछ दूर चलकर फिर ज्यों का त्यो हो जाता है उसमे सदा के लिए उस वल से कोई नया परिवर्तन नही होता किन्तु एक मिट्टी को भट्टी पर चढा कर जव औटाया जाता है तो वह विशेष प्रकार के वल को पाकर काँच वन जाता है उस मे उस वल से सदा के लिए एक नया परिवर्तन हो जाता है। पानी के परमाणुओ मे विशेष प्रकार के वल लगने से वलो की एक गाँठ वँध गई थी उस ही गाँठ को मिट्टी कहते हैं अव उस गाँठ पर दूसरा वल लगाने से दूसरे प्रकार की गाँठ वँधी गई है जिसको काँच कहते हैं। उस कांच वाली गाँठ को यदि प्रयत्न से खोलें या प्रकृति के अनुसार अपने आप खुल जावे तो सभव है कि काँच फिर मिट्टी हो जावे उस ही प्रकार मिट्टी की भी गाँठ खोल देने से वह पानी के रूप मे आ जाती है। यही गाँठ का वँधना और खुलना है।

इम प्रकार हृद् ग्रन्थि के मुक्ति से आत्मा के बन्धन की मुक्ति हुआ करती है जिसमे रस, वल का आश्रय होने के कारण अपने आप वंध कर जगत् के रूप मे आ जाता है और फिर अपने आप खुल कर आत्मा के रूप मे अर्थात् स्वरूप में आ जाता है। इस प्रकार एक ही आत्मा कभी जगत् वनता है और कभी अपने रूप में रहता है। दोनो भेद एक ही तत्व के हैं। जो आत्मा पहले सर्वथा अखण्ड था, व्यापक था और एक रूप था उसी में वल के वन्धन से हृद्ग्रन्थि वन कर भिन्न रूप आ जाता है और परिमाण अर्थात् वल की न्यूनाधिकता के अनुसार परिछिन्न वस्तु वन कर उसी आत्मा के भिन्न २ अनेक खण्ड वन जाय करते हैं। पहली ग्रन्थि से जो वस्तु वनी थी उस पर दूसरी ग्रंथि से दूसरी वस्तु, तीसरी से तीसरी वस्तु इम प्रकार नाना वस्तुओ की सृष्टियाँ एक ही वस्तु के रस मे हुआ करती हैं जैसे एक पानी की बूंद से अंकुर, शाखा, पत्र, पुष्प, फल, वीज होते है और उस वीज का गऊ के पेट मे जाने पर दूध, दही, मलाई, मक्खन आदि नई २ सृष्टियाँ एक ही रस की हुई हैं इन सव मे रस नही वदला है केवल वल नया-२ चढता गया है। यह ही वन्धन का सिलसिला जगत् का रूप है। ज्यों २ इन वस्तुओं से वल का वन्धन छुड़ाया जावे त्यो २ वस्तु अपने कारण के रूप मे क्रम से आते २ अन्त मे सव वलो का वन्धन मुक्त होने पर शुद्ध रस रह जाता है और उस पर विना वन्धन के वल सव धरे रहते हैं। यही आत्मा की मुक्ति कहलाती है। इस मुक्ति की दशा मे आत्मा या रस अपने स्वरूप मे ही रहता है।

आत्मा क्रम से वन्धन पर वन्धन पाकर मन, प्राण, वाक् अर्थात् आकाश वायु, तेज, जल, मिट्टी, खनिज, उद्भिज, वृक्ष और जीव तथा जीवो के शरीर तक वन्धन मे आ जाते हैं और ये सव अर्थ कहलाते हैं जो प्रथम न; के रूप में कुछ २ ज्ञान रखता था वही अव वल की मात्रा बढने से अत्यन्त जड के रूप में आ गया है किन्तु शरीर मे फिर अपने स्वरूप से प्रवेश करके अपने उद्धार की चेष्टा के लिए ज्ञान स्वरूप का विकास करता है। यदि यह ज्ञान की मात्रा क्रम से बढाई जावे तो भूमोदर्क क्रम से अथवा क्षीणोदर्क के क्रम से वन्धन सव खुलते खुलते शरीर से वृक्ष, खनिज, मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु, वाक्, प्राण, मन के रूप मे आकर शुद्ध रस वन सकता है और जगत् की सज्ञा मिट कर शुद्ध सच्चिदानन्द की दशा मिल सकती है। जो शरीर के पकड में आकर परिछिन्न रूप मे रह कर अल्पज्ञ, सुखी, दुखी हो गया था वही अव परमानन्द के रूप मे आ गया है। इस प्रकार इस आत्मा का वन्धन पाकर जगत् वनना और मुक्ति पाकर निज स्वरूप में आना प्रवाहसिद्ध होने के कारण स्वाभाविक प्रतीत होता है किन्तु यदि विशेष प्रयत्न किया जाय तो वन्धन का आत्यन्तिक मुक्ति के कारण वन्धन का वीज सर्वथा निकल जाने से सम्भावना की जाती है कि फिर वन्धन का वीज सर्वथा निकल जाने से सम्भावना की जाती है कि फिर वन्धन न आवे इसी यत्न को विज्ञान कहते है। पूर्ण रीति से आत्मज्ञान होने पर यह विशुद्ध मुक्ति होना सम्भव है किन्तु यह आत्मज्ञान का प्रयत्न अत्यन्त कठिन है अत' उसका एक सुगम मार्ग निकाला गया है उसको उपासना कहते हैं।

जीव का मन अर्थात् ज्ञान चञ्चल है किन्तु परमेश्वर का मन अर्थात् ज्ञान नितान्त शान्त है क्योंकि जीव का ज्ञान अल्प या परिछिन्न होने के कारण अज्ञान से घिरा रहता है। इसी अज्ञान के वश नाना प्रकार के भय, शोक आदि दुःख के कारण जीव के ज्ञान मे उपस्थित हुआ करते हैं इसीसे जीव का ज्ञान चञ्चल है किन्तु परमेश्वर का ज्ञान व्यापक होने के कारण उसमे अज्ञान का सवन्ध हो नही

सकता अत अज्ञानजन्य भय शोकादि दुःख को कोई भी कारण उपस्थित नही होता इसीमें ईश्वर का ज्ञान सदा एक रूप है ऐसी स्थिति मे यदि जीव भी अपने मन से चञ्चलता मिटा कर मन की वृत्ति को रोक कर योगाभ्यास के द्वारा यदि अपने मन को स्थिर कर सकें तो चिदाभास का मन और ईश्वर का मन दोनो ही शान्त रूप होने से एकतान हो जाते है और इस प्रकार जीव का मन धीरे २ ईश्वर के मन मे लीन हो जाता है और धीरे २ ईश्वर के मन की कला बढाने लगती हे यह ही उपासना का रहस्य है। इस उपासना क्रिया मे जीव का मन ईश्वर के मन से इतना समीप होकर ठहर जाता है कि अन्त मे जीव का मन भी ईश्वर के मन की शक्ति अर्थात् अवयव वन जाता है। पास रहने से उपासना और भाग वन जाने से भक्ति कहते हैं।

जिस प्रकार चक्षु को स्थिर करें किन्तु पानी मे प्रतिविम्ब चञ्चल हो तो दोनो का पूरा एकतान योग नही हो सकता किन्तु यदि प्रतिविम्ब भी स्थिर किया जाय तो वह प्रतिविम्ब चक्षु के समीप मे अच्छी तरह आ जाता है इसी मेल को योग कहते है। इसी पास आने को उपासना कहते हैं और इसी प्रतिविम्ब का आँख पर फिर प्रतिविम्ब हो जाने को भक्ति कहते है; यदि यह क्रिया सयम शक्ति से स्थिर की जावे तो जिस प्रकार आँख प्रतिविम्ब के प्रत्येक भाग पर अपना प्रकाश डालती है उसी प्रकार भक्ति होने पर जीव के ज्ञान मे ईश्वरीय ज्ञान का प्रकाश खूव पडता है जिससे अष्टसिद्धि नाम का योग बल प्रत्यक्ष प्राप्त होते हुए दीखता है। यह प्रकृति का नियम है कि जव एक वस्तु दूसरी वस्तु से योग करती है तो अल्प मात्रा की शक्ति मे अधिक मात्रा की शक्ति धीरे २ आने लगती है जैसे एक ठण्डी वस्तु के पास गरम वस्तु का योग किया जावे तो उस ठण्डी वस्तु मे भी गरमी का प्रवेश हो जायगा। इसी नियम के अनुसार अल्पज्ञ जीव का सर्वज्ञ ईश्वर मे योग करने पर अल्पज्ञ जीव के ज्ञान की मात्रा बढ जाया करती है यही योगवल कहलाता है।

योग तीन प्रकार का है—क्रियायोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग। क्योकि क्रिया और ज्ञान मे ही परमेश्वर के दो मुख्य स्वरूप है अत' जीव यदि चाहे तो क्रिया द्वारा परमेश्वर मे प्रवेश कर सकता है अथवा ज्ञान के द्वारा उसमे लीन हो सकता है। इसी प्रवेश करने को योग कहते हैं। यदि केवल क्रिया के द्वारा योग किया जाय अथवा केवल ज्ञान के द्वारा तो उसे क्रियायोग या ज्ञानयोग कहेंगे। किन्तु यदि ज्ञान सयुक्तक्रिया के द्वारा अथवा क्रिया सयुक्त ज्ञान के द्वारा योग किया जावे तो उसे भक्ति योग कहते है क्योकि भक्तियोग मे कर्म का ज्ञान अथवा ज्ञान का कर्म भक्ति अर्थात् भाग वन जाता है। इन तीनो योगो मे कर्मयोग से महत्व की प्राप्ति है क्योकि कर्म की शक्ति जीव मे बढ जाती है और शक्तिमान् होने के कारण महत्व वढता है और भक्तियोग अत्यन्त सरल उपाय है जिसके द्वारा ज्ञानयोग प्राप्त करने की सामर्थ्य आ जाती है और ज्ञानयोग से जीव अपने अल्पज्ञान को परमेश्वर के पूर्ण ज्ञान मे लग कर देने के कारण ईश्वर तुल्य हो जाता है इसी को सार्ष्टच मोक्ष अर्थात् सायुज्यमोक्ष कहते हैं।

स्वार्थ की लिप्सा (लोभ) न करके अथवा किसी खास व्यक्ति के पदार्थ की लिप्सा मे कर्म न किया जावे, केवल सामान्यभाव मे सपूर्ण जगत् की जनता के हित करने वाला कर्म यदि निष्कारण बुद्धि से किया जावे तो उसे योग कहते है। एकदम स्वार्थ का कोई भी विचार न करके विश्वहितकारी कर्म

करने मे विश्व के रूप में पुष्टि होती है जिससे विश्वमूर्ति परमेश्वर से हमारा योग उत्पन्न होता है। यही कर्मयोग का मुख्य तात्पर्य है। उपासना का मुख्य लक्ष्य जीव का ईश्वर मे योग करना है और यह दो प्रकार मे होता है अपने आत्मा के अश को परमात्मा के अंश मे योग करना अथवा परमात्मा के अश को जीवात्मा के अश मे योग करना। इन दोनो अल्प मात्रा के जीव का पूर्ण मात्रा के ईश्वर मे तुल्य रूप से आत्म समर्पण हो जाता है और यही आत्म समर्पण उपासना का मुख्य स्वरूप है। यह सपूर्ण जगत् परमेश्वर का शिल्प है इसमें यदि जीव अपने निज के ज्ञान से उत्पन्न शिल्प को यदि वहिर्जगत् के रूप में समर्पण कर दे तो वह जीव के ज्ञान का ईश्वरीय ज्ञान मे आत्म समर्पण होगा। यह प्रथम उपासना है।

जैसे वन का उत्पन्न होना प्राकृत होने के कारण ईश्वरीय शिल्प है किन्तु एक वगीचा लगाने मे मनुष्य की बुद्धि खर्च होती है और वहिर्जगत् के रूप मे परिणत हो जाती है। इससे कहना होगा कि जीव ने अपनी ज्ञान की मात्रा को वहिर्जगत् रूप ईश्वरीय ज्ञान की मात्रा मे सदा के लिये आत्म समर्पण कर दिया है। जव तक जगत् मे वह जीव का शिल्प विद्यमान रहेगा तब तक जीव का ज्ञान ईश्वरीय ज्ञान मे समर्पित है। यह ही जीव की ईश्वर उपासना है।

जितने पदार्थ इस जगत् मे दीखते है उन सव की विद्या पृथक् २ है। प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति, स्थिति और नाश और परस्पर के सवन्ध का ज्ञान ही विद्या कहलाता है। जो एक महाज्ञान परमेश्वर का स्वरूप है। इन भिन्न-भिन्न पदार्थों का भिन्न-भिन्न सभी ज्ञान भी उसी महाज्ञान का अङ्ग प्रति अङ्ग है। अतः यह सभी विद्या रूपी ज्ञान परमेश्वर के अङ्ग होने से परमेश्वर का स्वरूप कहे जाते हैं। जितना ही इन विद्याओ का उपार्जन किया जावे उतना ही ईश्वर के स्वरूप का हम स्पर्श करते हैं अथवा यो समझो कि परमेश्वर की आत्मा से अपनी आत्मा का स्पर्श कराते हैं। यदि सभव होता की जगत् के समस्त पदार्थों का हम ज्ञान कर लेते तो परमेश्वर की संपूर्ण आत्मा और मेरी आत्मा एक हो जाती। किन्तु ऐसा कदापि नही। क्योकि कोई भी मनुष्य सपूर्ण जगत् के पदार्थों का ज्ञान या अनुभव नही कर सकता अतः बहुत अच्छा उपाय यह है कि जगत् के सभी पदार्थों को छोड कर केवल अपनी आत्मा को वाह्य जाने क्योकि सपूर्ण जगत् के पदार्थों की रचना मे जितनी शक्तियाँ लगी हुई हैं उन सब शक्तियो का एक-एक विन्दु लेकर ही हमारी आत्मा वनी है जो सर्व शक्तियो का छोटा घन है। उस हमारी एक आत्मा को जान लेना सम्पूर्ण जगत् को जान लेने के वरावर है। यदि हम अपने ही आत्मा को यथार्थ रीति से जान लेवें तो सपूर्ण जगत् को हमने जान लिया। और जगत् से पृथक् कोई ईश्वर का स्वरूप नही है अत. जगत् को जानना ही ईश्वर को जानना है। तो इससे सिद्ध हुआ कि अपनी आत्मा का यथार्थ ज्ञान होने से हमारी जीवात्मा ईश्वरज्ञानमय हो जाती है और जीव ईश्वर मे भेद-भाव नही होने पाता। इसी को सायुज्यमुक्ति कहते है और यह सायुज्यमुक्ति आत्म ज्ञान रूपी ज्ञानयोग द्वारा सिद्ध होती है। इस प्रकार यह ज्ञानयोग की उपासना हुई।

इस प्रकार कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग तीन उपासना के मार्ग वतलाये गये हैं। इन मार्गो मे यदि हम सपूर्ण मनोयोग न दे सके तो बहुत थोड़ा भी चलना परम लाभदायक है क्योकि उस मार्ग में जाने का सस्कार आत्मा मे हो जाने से दूसरे जन्म मे उतनी गति स्वभावतः सहज ही मे हो जाती है

और आगे भी उसी मार्ग मे चलने के लिए प्रवल इच्छा और प्रकृति होती है। इस प्रकार अनेक जन्म मे कभी न कभी सायुज्य मुक्ति मिल जाती है। यही विषय गीता मे भगवान् ने कहा है;—

बहूनां जन्मनामन्ते, ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
अनेकजन्मसंसिद्ध, स्ततो याति परां गतिम् ॥

अर्थात् बहुत जन्मो के अन्त मे ज्ञानी मेरे को प्राप्त कर लेता है। अनेक जन्मो मे अच्छे प्रकार ज्ञान प्राप्त कर मुक्ति पा जाता है।

ऐसी कोई भी उपासना नही है कि जिससे जीव का आत्मवल न वढे किन्तु उपासना करता हुआ मनुष्य यदि दु खी रहे यदि उसका हृदय दुर्वल हो तो नि.सन्देह समझना चाहिए कि वह उपासना नही करता है और उसकी उपासना विधियुक्त नही होती क्योकि प्रकृति नियमानुसार तीनो प्रकार की उपासना मनुष्य के आत्मवल को वढाने वाली है।

उपासनासूत्र का साराश

रस और वल दो तत्वो से सकल जगत् वना हुआ है। रस वास्तव मे शान्त और एक रूप मे रहने वाला है किन्तु वल उसके विरुद्ध क्षुब्ध और वहुरूपा है। रस और वल वैधर्म्यी होकर भी जुदे-जुदे नही रहते वे सदा मिले हुए रहते हैं। रसबल सयोग का नाम ही जगत् है। जव रस पर वलो के ढेर मिलते है तव वह रसवलो सहित एक प्रकार की ग्रन्थि सी हो जाती है उसी को हृद् ग्रन्थि कहते हैं। रस को आत्मा कहते हैं। हृद्ग्रन्थि के कारण आत्मा का वन्धन है और इस ग्रन्थि के छुटकारे या खुलने का नाम ही मोक्ष है मोक्ष ही सव से वडा पुरुपार्थ कहलाता है हृद्ग्रन्थि पर केवल वल के आने से क्षोभ मात्र होता है किन्तु रससहित वल के आने से दूसरी ग्रन्थि वन जाती है जैसे जल पर रससहित वल आने से मिट्टी और फिर मिट्टी से काच वन जाता है। इन गाँठो के खुलने मे फिर वस्तु अपने पूर्वरूप मे चली जाती है। वही गाँठ का बधन या खुलना है।

अनादि, अनन्त, असीम, सर्वव्यापी, शान्त, एकरस और ज्ञानमय जो तत्व है उसको रस, आत्मा या ब्रह्म के नाम से कहते हैं। इनके विरुद्धधर्म वाला सादि, सान्त, सीमावद्ध, परिछिन्न, क्षुब्ध, अन्धकारमय, वहुरूपा, अनेक आधार रस मे तिरोहित, उद्भूत होने वाला, जो निराला एक तत्व है उस को वल, जड, या माया कहते है। रस मे वल के उद्भूत होने का नाम सृष्टि है और रस मे वल के तिरोहित होने का नाम प्रलय है। सृष्टिदशा मे वल, रस मे ऐसा लिपट जाता है कि रस वल मे वँधा हुआ सा प्रतीत होता है। रस मे वलो के इतने ढेर के ढेर एकत्र हो रहे हैं कि साधारण दृष्टि मे सकल जगत् जड ही जड दीखता है। किसी न किसी कारण से कही कही वल इतना निर्वल हो जाता है कि वहाँ ज्ञानमय रस का भान होने लगता है। ऐसी दशाओ को ही चेतना कहते है। वल का जोर कम होने से ही जड ही चेतना कहलाता है, ये चेतन वस्तुयें ही जीवन कहलाते है। इन जीवो मे वल का जोर घटते 2 इतना घट जाता है कि ज्ञान जो रसस्वरूप है भली प्रकार दीखने लगता है और ऐसे जीव ही

मनुष्य कहलाते है। जड से चेतन मे वल आधार रह जाता है और जीवो की अपेक्षा मनुष्य मे वल और भी न्यून हो जाता है और ज्ञान की मात्रा इतनी वढ जाती है कि अपने शेप वलवन्धन से मुक्त होने का उपाय कर सकता है। इस उपाय का नाम ही विज्ञान हैं। पूर्ण रीति से आत्मज्ञान होने पर वल का वन्धन, वल के रहते हुए भी टूट जाता है इसी को मुक्ति कहते है किन्तु यह आत्मज्ञान का प्रयत्न अत्यन्त कठिन है अतः उसका एक सुगम मार्ग निकाला गया है, जिसको उपासना कहते हैं।

विशिष्टत्रिसत्योपनिपद् के निरुपण के अनन्तर और भी अधिक सूक्ष्म विचार करने के पश्चात् जीव और ईश्वर के अतिरिक्त एक परमेश्वर भी ज्ञात होता है। यह जगत् इन तीनो के अतिरिक्त और कुछ भी प्रतीत नही होता। अत. जीव, ईश्वर और परमेश्वर इन्ही तीनो को सत्य मान कर यह शुक्लत्रिसत्य नाम का प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है। इस मे निम्न परिच्छेद है।

१ प्रजापतिपरिच्छेद। २ व्यूहानुव्यूहपरिच्छेद। ३ आत्मपरिच्छेद। ४ आत्मगतिपरिच्छेद।

शुक्लत्रिसत्योपनिषत्

[५]

१—प्रजापति-परिच्छेद का प्रथम 'मूलैकत्वसूत्र'

प्रजापतिपरिच्छेद का प्रथम सूत्र 'मूलैकत्व' है अर्थात् इस जगत् का एक ही मूल है। इस विषय का निरूपण इस परिच्छेद मे किया है।

जो जहाँ कुछ हम देखते हैं इन्ही सव को जगत् कहते है। यह जगत् यद्यपि नाना प्रकार की वस्तुओ का समूह दृष्टिगोचर होता है तथापि इन सव को एक ही वस्तु से उत्पन्न हुआ समझना चाहिये। एक ही वस्तु क्रम से पश्चात् अनेक रूपो मे परिणत हो गई है। वह वस्तु जिससे यह सब कुछ उत्पन्न हुआ है उसको 'ब्रह्म' कहते हैं। वह एक है, इसके जोड का कोई दूसरा पदार्थ नही है। वह सब का आदि है और वह ही यह सव कुछ है। ब्रह्म से अतिरिक्त यहाँ कुछ नही जाना गया है

एक ही वस्तु से यह सव भिन्न २ पदार्थ वन कर इस प्रकार विस्तृत हो गये है जिनको हम अनन्त भिन्न २ रूपो मे देखते हैं। इन सवको एक ही किसी तत्व से उत्पन्न होना मानने मे मुख्य प्रमाण यही हैं कि हम इन सव भिन्न पदार्थो को आपस मे परिवर्तनशील पाते हैं। अग्नि, आप और मृत्तिका जो अत्यन्त भिन्न अवस्था मे हैं समय पाकर आपस मे वदल जाते है यहाँ तक कि पानी पापाण (पत्थर) हो जाता है और पापाण पानी। इसका विस्तारपूर्वक वर्णन आगे कही होगा परन्तु इससे इतना अवश्य निश्चित हो गया कि अग्नि, आप और मिट्टी इत्यादि आपस मे पर्याय हैं। जो कड़ा (एक भूषण) और कुण्डलादि भूषणो के अनुसार आपस मे परिवर्तनशील है उनका आपस मे किसी का कोई कारण नही हो सकता और जब वदलते हैं तो कार्य है और कार्य का कारण होना आवश्यक है। अत मानना होगा कि इन पर्यायो से भिन्न उन सव का मूल कारण कोई एक ही पदार्थ है।

जिस प्रकार एक ही बीज से उत्पन्न होकर अकुर, पिण्ड, शाखा, पत्र, पुष्प, फलादि भिन्न २ प्रकार के पदार्थ बन कर उनके समूह मे एक वृक्ष का रूप हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्मरूपी एक तत्त्व से शनै शनै' अनन्तानन्त भाव उत्पन्न होकर उनके समूह से यह जगत् का रूप खडा हो गया है ।

जिस प्रकार एक ही पिता के शुक्रविन्दु से शरीर के नाना प्रकार के भिन्न २ भाव जैसे रुधिर, अस्थि, मज्जा, वसा (चरवी), स्नायु आदि बनते हैं और इनमे एक ही प्रकार के विन्दु से इस प्रकार के भिन्न २ भाव कैसे बने और क्यो बने यह जाना नही जा सकता, ठीक इसी नियम के अनुसार एक ही ब्रह्म से जगत् के अनन्त भिन्न २ भाव बन गये हैं, ऐसा जानना चाहिए ।

जैसे उसी शुक्रविन्दु से चक्षु, श्रोत्र, वाक् आदि भिन्न २ इन्द्रिया बनी हैं परन्तु चक्षु का काम श्रोत्र से नही होता और श्रोत्र का कार्य वाक् नही करती, इस प्रकार शक्तियो मे अन्तर क्यो पड गया, एक ही वस्तु से उत्पन्न होकर क्यो नही सब का कार्य सब करते हैं यह ज्ञात नही होता वैसे ही एक ही ब्रह्म से उत्पन्न होने वाले अग्नि, आप, वायु, शब्द आदि मे भिन्न २ प्रकार की शक्तिया कैसे उत्पन्न हुई यह विषय अचिन्त्य है किन्तु इसमे सदेह नही कि उस एक वस्तु से भिन्न २ प्रकार की शक्तियो का भिन्न २ प्रकार की वस्तुओ का विकास हुआ है । हम यदि इस पर विचार करें तो चक्षु मे क्या शक्ति है वा श्रोत्रादि इन्द्रियो की शक्तियो मे क्या भिन्नता है अथवा जल, वायु, अग्नि प्रभृति मे क्या २ शक्तिया हैं इन बातो की भली प्रकार परीक्षा कर सकते है और सम्भवत उन शक्तियो को यथार्थ रीति से जान सकते है किन्तु फिर भी उन शक्तियो के निज के वास्तविक रूप क्या हैं, उनका विकास कैसे हुआ इत्यादि विषय अब भी हमारे ज्ञान की सीमा से बाहर है अर्थात् किसी मनुष्य की भी विचार शक्ति ग्रहण नही कर सकती ।

यहाँ पर किसी २ दार्शनिक का ऐसा विश्वास है कि वृक्ष का मूल (बीज) जिससे वृक्ष उत्पन्न होता है स्थूलरूप से देखने पर एक ही वस्तु प्रतीत होती है किन्तु वह बीज, अकुर, पिण्ड, डाल, पात, फल भिन्न २ पदार्थो का सग्रह रूप है उसी का क्रमश विकास होकर ये सब पृथक् २ दृष्टिगोचर होते हैं । मनुष्य का शुक्र भी रुधिर, अस्थि, मज्जा, चक्षु, कर्ण आदि अत्यन्त सूक्ष्मरूप से विद्यमान भिन्न २ पदार्थो का एक सग्रह है जिसमे से क्रमश विकास होकर भिन्न २ अवयवो मे विस्तृत होकर शरीर का रूप प्रकट होता है । ये सब जो पहले भिन्न–भिन्न थे उन्ही से भिन्न २ जाति के पदार्थ पृथक् २ उत्पन्न हुए है । किसी एक ही वस्तु से भिन्न २ रूप या भिन्न २ शक्तिया उत्पन्न होना कदापि नही माना जा सकता । अत सपूर्ण जगत् मे जितने प्रकार के पदार्थ विद्यमान है उन सब का अत्यन्त सूक्ष्मरूप का नाम ही 'ब्रह्म' है, वह भिन्न २ रूपो का एक मिश्रण मात्र है । जिस प्रकार किसी शरबत मे सौ (१००) प्रकार की वस्तुए मिश्रित हो और उसमे से एक बूद ली जावे जो देखने मे एक बिन्दु के समान है किन्तु विश्वास करना होगा कि उस एक बूद मे भी उन सौ (१००) वस्तुओ का अश सूक्ष्मरूप से मिश्रित है । इसी प्रकार ब्रह्म को भी मिश्रित पदार्थ मानना चाहिये । यह एक मत है और इसमे बौद्ध और वैदिक विद्वानो का विश्वास है । ऐतरेय ऋषि के कथनानुसार विश्वास करने का कारण यह है कि प्राणी के शरीर के प्रत्येक अङ्ग से तेजोरस निकल कर एक स्थान अर्थात् अण्डकोष मे जमा होता है । उसका सनिवेश इसी

प्राणी के शुक्र के अनुसार होने से उस प्राणी के आकार का एक कीट पैदा होता है जिसको भ्रूण कहते हैं वह जल बिन्दु के समान अत्यन्त मृदु और तरल होता है अत. सहस्रो भ्रूणो का समूह एक तरल शुक्र के रूप मे प्रतीत होता है। इन शुक्र मे जो असख्या भ्रूण कीट है उनका एक २ मनुष्य के आकार का होने से चक्षु, श्रवण, मुखादि सभी अङ्ग प्रति अङ्ग सूक्ष्मता से विद्यमान रहते हैं जिनका ही पश्चात् मे विकास होकर प्राणी का बडा भारी शरीर बनता है अतः कहना होगा कि वह एक ही किसी अमिश्रित बिन्दु से बना हुआ नहीं है। यदि कोई प्रश्न करे कि यह प्रक्रिया प्राणी से प्राणी उत्पन्न होने पर संभव हो सकती है किन्तु इस सृष्टि मे जो सर्व प्रथम प्राणी उत्पन्न हुआ वह अपने पिता के शुक्र से उत्पन्न न था अत. वह भ्रूण से उत्पन्न न होकर किसी एक ही जाति के अमिश्रित बिन्दु से अवश्य बना होगा, तो इसके उत्तर मे हम बौद्ध सिद्धान्तरूप से यह निर्णय करते हैं कि ऐसा कभी कोई समय ही न था जबकि प्राणी अपने पिता से उत्पन्न न हुआ हो। यह सृष्टि अनादि है जैसे वृक्ष का बीज अवश्य ही दूसरे वृक्ष से पैदा हुआ है उसी प्रकार दूसरे के शरीर मे उत्पन्न हुए शुक्र से ही दूसरे प्राणी का शरीर बनने के नियम का सदा से प्रारम्भ है अतः शुक्र के अनुसार ब्रह्म का भी नाना विजातीय पदार्थों का सग्रहरूप एक मिश्रित पदार्थ होना ही निश्चित किया जा सकता है।

अब इस उपर्युक्त सिद्धान्त पर यह विचार करना है कि शुक्र के विषय में यद्यपि यह कहना बहुत कुछ सत्य ठहरता है किन्तु हम देखते है कि संसार मे सभी प्राणी योनिज ही नही है बहुत से अयोनिज भी है। जैसे गोबर, केले का रस और दही मिलाकर बन्द घडे मे रखने से बिच्छू उत्पन्न होते हैं, किसी देश मे सदूक भर कर सब प्रकार के मेवे बन्द करके धूप मे ताप देने से हजारो कीटाणु उत्पन्न होकर पीछे उन सब का एक कीडा बन जाता है, लकडी में घुन पैदा होते है, फलो मे कीडे पैदा होते हैं। यहाँ देखना है कि फलो का रस जो सर्वथा एक ही प्रकार का है उससे अस्थि, मज्जा, चक्षु, श्रवणादि भिन्न २ आकार के पदार्थ बनते दिखाई देते हैं यह कोई विश्वास नही कर सकता कि उन रसो मे आख और कान, हड्डी और मांस भिन्न रूप मे वर्त्तमान हैं। जिस रस से अस्थि बनीं है उस ही रस से चक्षु भी बना है अत यह कहा जाता है कि इस जगत् मे एक ही किसी पदार्थ से भिन्न २ प्रकार के पदार्थ भी उत्पन्न हो सकते हैं अतः ब्रह्म को अमिश्रित पदार्थ मान सकते है।

अब हम को वृक्ष के बीज पर भी कुछ विचार करना है। बौद्धो का विश्वास है कि एक वट के बीज मे सारा वटवृक्ष ज्यो सूक्ष्मरूप से विद्यमान है जिस का पीछे विकास होता है किन्तु यह विश्वास निरा अज्ञानता से भरा हुआ है किसी वृक्ष के बीज मे उस वृक्ष का कोई भी अवयव पहले से विद्यमान नहीं रहता। प्राय करके वृक्षो का बीज के डिब्बे के तौर पर दो पाट के सपुट से जुडा हुआ है। दोनो पाटो के अन्दर केवल दो पत्ते बतौर साचे के विद्यमान रहते हैं और उन दोनो पत्तो को जोडने वाला एक वृन्त (डांड) भी होता है। इस वृन्त और पत्तो के जोड के स्थान पर तीन प्रकार का प्राण नियम मे रहता है। एक प्राण वृन्त के द्वारा पृथ्वी मे से मिट्टी घुला हुआ पानी खीच कर ऊपर चढाता है जिन से पत्ते, डाली वगैरह बनते रहते हैं।। दूसरा प्राण दोनो पत्तो की अणी के द्वारा आकाश का रस अर्थात् सूर्य, चन्द्र की अमी पीता रहता है, और तीसरा प्राण पृथ्वी और आकाश से लाये हुए रस को लेकर प्रथम वृन्त और पत्तो को सांचे मे ढाल कर उनकी सूरत बनाता है और पीछे किसी न

किसी अङ्ग को फोड कर पत्ते की सूरत मे बने हुए उस रस को वाहर निकाल देता है। वाहर निकलने पर मिट्टी मिश्रित पानी मे से पानी के भाग को सूर्य और वायु चूस लेता है किन्तु मिट्टी के भाग को ऊपर जाने से पृथ्वी का आकर्षण रोक लेता है अत. फिर पानी सीचने की आवश्यकता हो जाती है। यह एक प्रकार का नियम है इसी मे कुछ न कुछ न्यूनाधिक परिवर्तन करके भिन्न-भिन्न प्रकार का नियम देखा जाता है जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन करना यहाँ आवश्यक नही है परन्तु इतना कहना आवश्यक है कि इन बीजो मे कुछ साँचे के अ श के अतिरिक्त और होने वाले वृक्षो के अवयव कुछ भी नही रहते। उसी साँचे के द्वारा मिट्टी पानी से पिण्ड, पत्ते, डाल, फल, फूल, रस, गुठली आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थ उत्पन्न होते रहते है। ठीक इसी प्रकार हमारे ब्रह्म से सम्पूर्ण जगत् के भिन्नभिन्न पदार्थों का उत्पन्न होना माना जा सकता है।

यह एक दृष्टान्त केवल इसीलिये दिखाया है कि एकजातीय वस्तु मे अनेक भिन्न जातीय वस्तुएँ उत्पन्न हो सकती हैं किन्तु वास्तव मे जब देखा जाय तो ब्रह्म के लिये कोई दृष्टान्त देकर किसी विषय को सिद्ध करना सर्वथा अयोग्य है क्योकि दृष्टान्तो से सिद्ध किया हुआ नियम भी सृष्टि का ही एक स्वरूप है। नियमो का बनाना ही सृष्टि का रूप है। सृष्टि होने पर ये नियम स्थान स्थान पर दृष्टिगोचर होते है किन्तु जब हम सृष्टि के मूलतत्त्व का निरीक्षण कर रहे हैं तो वह तत्त्व अवश्य ही सृष्टि से पहले होगा। सृष्टि से पहले उस मूलतत्त्व मे उन नियमो का जो सृष्टि के पश्चात् उत्पन्न हुए हैं जानना असभव है अतः सृष्टि के पश्चात् के पदार्थों का दृष्टान्त देकर मूलतत्त्व का निरूपण करना एक प्रकार अनुचित प्रतीत होता है, अत इस सृष्टि का हम किसी एक ही मूलतत्त्व से होना आरम्भ करते हैं। इसमे सभव–असभव का प्रश्न उठाना निरी अज्ञानता है। यदि हम सृष्टि की रचना पर गम्भीर दृष्टि डालें तो छोटी से छोटी सृष्टि का ढ ग आश्चर्य-जनक और असभव प्रतीत होता है किन्तु जिनको हम वारवार होते हुए देखते हैं उनका असंभव स्वभाव संभव मे परिणत हो जाता है। केवल जिन नियमो को हमने नही देखा है उन्ही को मनुष्य असभव करके त्यागने को तत्पर हो जाता है किन्तु इस प्रकार का ग्रहण और त्याग व्यवहार मार्ग मे किसी सीमा तक ठीक है किन्तु पारमार्थिक विज्ञानमार्ग मे कोई भी असम्भव नही माना जा सकता। मनुष्य की बुद्धि सीमा-बद्ध है अतः उसके जानने न जानने से सभव असभव की व्यवस्था करना उचित नहीं हो सकता अतएव हम यहाँ सिद्धान्तरूप से यह स्थापित करते है कि यह सपूर्ण सृष्टि एक ही मूलतत्त्व से बनी है और वह मूलतत्त्व विजातीय भेद, सजातीय भेद और स्वागत भेद इन तीनो से रहित है, पूर्ण, अखण्ड, अद्वितीय है। इससे किसी प्रकार सृष्टि हुई यही दिखाने के लिए हम अग्रसर होते है। अलबत्ता मुझको इसमे बिना सकोच के इतना कहना आवश्यक है कि ब्रह्मा की सब कार्यवाही दृष्टान्त के अनुकूल नहीं है क्योंकि सृष्टि मे बीज आदि से वृक्षादि के उत्पन्न होने मे कितने ही नियम दीखते हैं। यह कि बीज से अकुर उत्पन्न होने मे पृथ्वी की गरमी, उसकी उर्वरता, जल का सीचना, हवा, सूर्य का प्रकाश, चन्द्रमा की नमी और ऋतु आदि बहुत से सहयोगी कारण होते हैं, इनके एक के भी न होने पर अकुर नही होता और अकुर उत्पन्न होने पर बीज का असली स्वरूप सर्वथा नष्ट हो जाता है परन्तु ब्रह्म मे ये सब कुछ भी नहीं होते अर्थात् ब्रह्म के अतिरिक्त न किसी सहयोगी करण की आवश्कता होती है और न इतने बडे जगत् की सृष्टि होने पर भी उस मूलतत्त्व ब्रह्म के असली स्वरूप मे किसी प्रकार का फर्क आता है वह ज्यो का त्यो बना हुआ है,

कर अत्यन्त अद्भुत सृष्टि की रचना कर देता है। यही उसकी महिमा है। यदि हम से कोई प्रश्न करे कि इस सृष्टि के अन्दर सहकारी कारणों का आवश्यक होना और ब्रह्म में उसका न होना, अथवा सृष्टि के अन्दर कारण मे विकार होना और ब्रह्म मे विकार न होना इस प्रकार के भेद होने मे कारण क्या है तो इसका यथार्थ उत्तर मेरे पास नही हैं क्योकि इस सृष्टि की विद्या के दो विभाग हैं पर और अपर। पर विभाग इस प्रकार का जटिल है कि प्राणीके मन और बुद्धि की सीमा से बाहर है उसके जानने का दावा करना अज्ञानता है और अनिर्वचनीय है केवल अपर विभाग को मनुष्य बहुत सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर जान सकता है अर्थात् उस एक मूलतत्त्व से इतनी विशाल सृष्टि किस रीति से उत्पन्न हुई, क्या क्या उत्पन्न हुए, जगत् का क्या रूप है इत्यादि विषय जानना ही अपर विद्या है उसी का विचार करने लिए हम यहाँ पर कुछ वर्णन करते है।

मूलैकत्वसूत्र का सारांश

इस सूत्र मे इस विषय का निरूपण किया जाता है कि इस समस्त जगत् का एक ही मूल है। यह जगत् अनन्त भिन्न भिन्न पदार्थों का एक समूह है। इस असीम भिन्नतामय जगत् का कारण या बीज या मूलतत्त्व एक ही पूर्ण, अखण्ड, अद्वितीय, भेदशून्य पदार्थ है जिसको 'ब्रह्म' कहते है इसका कुछ विचार करने से विदित होगा कि जगत् के समस्त भिन्न पदार्थ परस्पर बदलते रहते है। जैसे पृथ्वी से घास और घास, दूध, रक्त, गोबर और फिर दूध से दही, मक्खन इत्याद बदल जाते है और फिर समय पाकर घास, दूध आदि पृथ्वी मे परिणत हो जाते है। ऐसी दशा मे न पृथ्वी घास, दूध का कारण कही जा सकती है और न घास दूध पृथ्वी का कारण कहा जा सकता है। ऐसे ही पृथ्वी पानी मे और पानी पृथ्वी में बदल जाया करते हैं यहाँ पर कौन किसका कारण है, नही कहा जा सकता। इसी प्रकार जगत् के समस्त पदार्थ आपस मे बदलते रहते हैं। ये सब आपस मे कार्य पर्याय हैं ये एक दूसरे के कारण नही कहे जा सकते। क्योकि जगत् परिवर्तनशील है अत कार्य है। और जब कार्य है तो कारण अवश्य होना चाहिये। जगत् का कारण होने में मुख्य प्रमाण इस जगत् का कार्य होना ही है और जब कार्य सिद्ध हुआ तो इसका कोई न कोई कारण होना स्वतः सिद्ध हो गया। कार्य, रूपधारी और सीमाबद्ध है किन्तु कारण अरूप और असीम है अत केवल अनुभवगम्य हैं। जैसे स्वर्ण आभूषणो का कारण है वैसे ही इस जगत् कार्यरूप का कोई आधारभूत कारण है और वह अरूप, असीम है किन्तु अनुभवगम्य अवश्य प्रतीत होता है। इस कार्य रूप जगत् का आधार भूत कारण, बीज मूलतत्त्व ही 'ब्रह्म' कहलाता है। यह अरूप, असीम, पूर्ण, अखण्ड अद्वितीय आदि सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ जैसे एक ही बीज से कई पदार्थों के पश्चात् एक वृक्ष बनता है उसी प्रकार 'ब्रह्म' रूपी एक तत्त्व से धीरे धीरे अनन्तानन्त भाव उत्पन्न होकर उनके समूह से यह एक जगत् का रूप खड़ा हो गया है जैसे एक ही पिता के शुक्रबिन्दु से शरीर के अनेक भाव, रस, खून, आदि बन जाते हैं और एक ही बिन्दु से ये अनेक भाव कैसे बन गए और क्यो बन गये कोई नही कह सकता, वैसे ही एक ही ब्रह्म मे जगत् के नाना भाव बन गये है। जैसे एक ही शुक्रबिन्दु से भिन्न भिन्न इन्द्रियाँ भिन्न भिन्न शक्तियो के साथ बन गई हैं और ये शक्तिया एक बिन्दु से कैसे बन गई यह नही जाना जा सकता वैसे ही पृथ्वी, जल, तेज आदि मे भिन्न भिन्न शक्तिया कैसे पैदा हो गई, नही कहा जा सकता। अलबत्ता ये क्या हैं और क्या कार्य करते हैं यह कहा जा सकता है किन्तु इनका वास्तविक रूप और उनका विकास कदापि नही कहा जा सकता।

किसी किसी दार्शनिक का ऐसा विश्वास है कि वीज मे वृक्ष के समस्तभाग सूक्ष्मरूप से रहते है जैसे वृक्ष और मनुष्य, वीज और वीर्य मे सूक्ष्मरूप से विद्यमान हैं वैसे ही यह स्थूल जगत् अपनी समस्त शक्तियो सहित ब्रह्म मे सूक्ष्मरूप से रहता है। अतः ब्रह्म एक भाति का पदार्थ नहीं है वह मिश्रित पदार्थ है। इस मत मे वौद्ध और वैदिक दोनो का ही विश्वास है। ऐतरेय ऋषि के कथनानुसार वैदिक विद्वानों का विश्वास करने का कारण यह है कि वीर्य भ्रूणो का समूह है और भ्रूण मनुष्य के शरीरानुसार सब अङ्गो से परिपूर्ण है अत. वीर्य एक मिश्रित पदार्थ है और क्योकि मनुष्य वीर्य से बना हुआ है अत. वह भी मिश्रित पदार्थ से बना हुआ है। यदि कोई आक्षेप करे कि आदिम पुरुष भ्रूणो से बना हुआ नहीं कहा जा सकता तो उत्तर मे यह कहेगे कि ऐसा कोई आदिम पुरुष नही हो सकता क्योकि जब यह जगत् अनादि काल से है और अनन्त काल तक ऐसा ही रहेगा तो ऐसा कोई समय नही था कि जब प्राणी अपने पिता से उत्पन्न न हुआ हो। जैसे वृक्ष का वीज अवश्य ही दूसरे वृक्ष मे पैदा हुआ है वैसे ही दूसरे के शरीर से ही उत्पन्न हुए शुक्र से ही दूसरे प्राणी के शरीर वनने का नियम सदा से है। इसी प्रकार 'ब्रह्म' भी शुक्रानुसार नाना विजातीय पदार्थों का सग्रहरूप एक मिश्रित पदार्थ होना ही निश्चित किया जा सकता है।

उपर्युक्त विषय शुक्र के तथा योनिज प्राणियो के विषय मे ठीक हो सकता है किन्तु अयोनिजो मे कभी ठीक नही रहता, जैसे विच्छू का पैदा होना, मेवे से कीडो का पैदा होना और फिर उन सब मे एक कीडे का वनना, लकडी मे घुन का पैदा होना आदि। यही विचार करने पर विदित होगा कि एक ही रस से कीट के हाड, मास, आंख आदि कैसे उत्पन्न हो गये। यह कोई नही कह सकता कि एक ही रस मे हड्डी, मांस, आंख आदि वर्तमान हैं। अतः सभव हो गया कि रस से नाना भांति की चीजें वन सकती हैं और एक ही ब्रह्म से अनेक रूप जगत् हुआ है।

बौद्धो का विचार है कि एक वट वीज मे संपूर्ण वृक्ष ज्यो का त्यो सूक्ष्म रूप से विद्यमान है किन्तु यह उनकी भूल है क्योकि वीज मे न डाल है, न पात है और न कोई वट के अवयव है वरिक वृक्षों का वीज डिब्बे के सदृश दो पाट के सपुट से जुडा हुआ है और दोनो पाटो में दो पत्ते और वतौर सांचे के रहते हैं और उन दोनो को जोडने वाला एक वृन्त भी होता है। इस वृन्त और पत्तो के जोड के स्थान पर तीन प्रकार का प्राण नियम से रहता है। एक नीचे के रस को खींचता है दूसरा ऊपर के रस को और तीसरा दोनो रसो के पहले के वृन्त और पत्तो को सांचे मे ढाल कर उनकी सूरत बनाकर वीज के किसी अग को छेदन कर उस रस को वदल कर वृन्त तथा पत्तो की सूरत मे बाहर निकाल देता है। बस इन वीजो मे कुछ ऐसे साँचे के सिवाय वृक्ष के और अवयव कुछ भी नहीं रहते। इसी सांचे के द्वारा इसी मिट्टी पानी से पत्ते, डाल, फूल इत्यादि उत्पन्न हो जाया करते हैं। इसी प्रकार हमारे ब्रह्म मे से भी जगत् के भिन्न-भिन्न पदार्थों का वनना माना जा सकता है। यह एक दृष्टान्त इसीलिये दिखाया गया है कि एक ही वस्तु से नाना प्रकार के भाव वन सकते हैं। जब जगत् मे यह सम्भव है कि एक से अनेक वनते हैं तो फिर एक ब्रह्म से जगत् की अनेक वस्तु क्यो नहीं वन सकती अर्थात् [illegible] ही बन सकती है। किन्तु वास्तव मे देखा जाय तो जगत् के नियमो का दृष्टान्त देकर ब्रह्म की किसी बात का सिद्ध करना सर्वथा अयोग्य है क्योकि सृष्टि के नियम सृष्टि के ही रूप है जगत् रूपी कार्य से दृष्टान्त देकर

कारण रूप मूलतत्व ब्रह्म का निरूपण करना एक प्रकार से अशुद्ध प्रतीत होता है। अत इस सृष्टि का एक ही मूलतत्व कारण दिखा कर हम इसका आरम्भ करते है इसमे सभव-असभव का प्रश्न करना अज्ञानता है, क्योंकि हमारी बुद्धि सीमा बद्ध है कभी सभव असभव हो जाता है और कभी असभव सभव। अत: इस व्यवस्था को छोड कर यह सिद्धान्त स्थापित करते है कि यह समस्त जगत् एक ही मूलतत्व से बना है और वह मूलतत्व सकल प्रकार के भेद अर्थात् सजातीय, विजातीय और स्वगत से रहित है, भेद-रहित, पूर्ण, अखण्ड और अद्वितीय है। ऐसे मूलतत्व से यह जगत् कैसे उत्पन्न हुआ है। इस विषय को सिद्ध करने को हम उद्यत हुए हैं। इस ब्रह्म मे न सहयोगी कारण की आवश्यकता है और न जगत् के बनने पर उस मूलतत्व मे किसी प्रकार का अन्तर पडता है। वह जगत् से पहले और पीछे ज्यो का त्यो सदा एक पूर्ण अवस्था में रहता है। यह उसकी अद्भुत महिमा है। यदि कोई प्रश्न करे कि जगत् मे सहकारी कारण का होना और ब्रह्म मे न होना अथवा सृष्टि के अन्दर कारण मे विकार होना और ब्रह्म मे विकार न होना क्यो है तो इसका उत्तर मनुष्य की बल, बुद्धि से बाहर है क्योकि सृष्टि की विद्या के दो भाग है एक 'पर' और दूसरा 'अपर'। पर विभाग अनिवर्चनीय है केवल अपर विभाग सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर जाना जा सकता है अर्थात् उस एक मूलतत्व से यह जगत् किस प्रकार उत्पन्न हुआ, क्या-क्या उत्पन्न हुए, जगत् का क्या रूप है? इत्यादि विषय जानना ही अपर विद्या है और उस ही का विचार करने के लिये हम यहाँ पर कुछ वर्णन करते हैं।

संक्षेप

१. जगत् का मूल कारण 'ब्रह्म' है।

२. जगत् व्यष्टि व समष्टिरूप से परिवर्तनशील है अतः कार्य है और कार्य होने से कारण स्वतः सिद्ध होता है।

सृष्टि और इसके मूल कारण ब्रह्म इन दोनों का आपस मे षड्विकल्प सम्बन्ध

जहा किसी वस्तु से कोई वस्तु उत्पन्न होती है वहाँ एक ही तो कारण से कार्य पृथक् होता है जैसे पिता का पुत्र; और कही कारण विगड कर कार्य होता है जैसे बीज का वृक्ष, परन्तु इसमे कारण का बहुत कम भाग लिया जाता है और वृक्ष का बहुत सा हिस्सा दूसरे सहयोगी कारणो से लिया गया है और कही पर कारण ही बदलकर कार्य हो जाता है जैसे दूध का दही। परन्तु कही पर कारण न बदलता है और न विगडता है और न कारणो मे वह कार्य पृथक् ही होता है तथापि कारण के ज्यो के त्यों रहते हुए उसी मे कार्य एक भिन्न वस्तु उत्पन्न हो जाता है परन्तु कारण का कुछ नही विगडता, वह ज्यों का त्यों बना रहता है जैसे मिट्टी मे घडा और सूत मे कपडा और जैसे कही पर कारण से कार्य पृथक् उत्पन्न हो जाता है परन्तु कारण का कुछ नही विगडता और न कम होता है वह ज्यो का त्यो बना रहता जैसे मकडी मे जाल का तार। तात्पर्य यह है कि जगत् मे कारण कार्य की प्रक्रिया अनेक प्रकार की देखी जाती है, ऐसी दशा मे ब्रह्म का जगत् से कारण कार्यभाव है वह भी एक अनूठे प्रकार का हो सकता है। इसमे कारण से कार्य पृथक् बनता है पर कारण से कार्य जुदा नही रहता। जैसे मिट्टी से घडा जुदा

नही वनता किन्तु कारण मे ही कार्य ओत-प्रोत होकर वैठा रहता है यहाँ तक कि कारण के नष्ट करने से उसके साथ-साथ वह कार्य भी नष्ट हो जाता है परन्तु दूसरा कारण मकडी है जो आप विना विगडे ज्यो की त्यो रह कर अपने से पृथक् कार्य पैदा करती है और मकडी के नाश होने पर उस कार्य का नाश नही होता। परन्तु अव इन दोनो कारणो का मिश्रण हम ब्रह्म पाते हैं वह मकडी के अनुसार अपने से जुदा कार्य पैदा करता है जिसको जगत् कहते है। परन्तु यह जगत्रूपी कार्य मिट्टी मे घडे के अनुसार घिलमिल होकर एक हो रहा है कि जिस तरह मिट्टी मे पृथक हम घडे को नही पाते उसी प्रकार ब्रह्म से पृथक् यह जगत् कदापि नही हो सकता जैसे सव मिट्टी घट की घडा है और सव घट मिट्टी है। उसी प्रकार सर्वजगत् ब्रह्म है। इस कारण का कार्य के साथ अर्थात् ब्रह्म का जगत् के साथ षड्विकल्प सबन्ध है, वह इस प्रकार है।—

१. ब्रह्म मे जगत् है।
२. जगत् मे ब्रह्म है।
३. ब्रह्म और जगत् दोनो एक ही पदार्थ हैं अर्थात् जगत् ही ब्रह्म और ब्रह्म ही जगत् है।
४. ब्रह्म और जगत् दोनो भिन्न पदार्थ है।
५ जगत् से ब्रह्म भिन्न है परन्तु ब्रह्म से जगत् भिन्न नही है।
६ ब्रह्म जगत् का सम्वन्ध अनिर्वनीय है।

अर्थात ब्रह्म मे जगत् प्रातिभासिक रूप से है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म से जगत् बना ही नही। जगत् कोई वस्तु ही नही। विना वने ही रस्सी मे सर्प के अनुसार अथवा हमारी आत्मा मे स्वप्नजगत के अनुसार माया (जो विलकुल झूठा होकर विलकुल सच्चा दीखे वह ही माया है) मे भासता है। यह माया क्या है सो अनिर्वचनीय है। किन्तु भासता है अतः माया का होना माना जाता है। परीक्षा करने पर सर्प के अनुसार यह जगत् भी कुछ नही ठहरता अत माया को झूठा कहना पडता है। वस यही मायिक सवन्ध षड्विध है।

यह षड्विध् सवन्ध परस्पर विरुद्ध होने पर भी अविरोधरूप से ब्रह्म मे घटित होते हैं अत इसको षड्विकल्प सम्वन्ध कहते हैं जैसे जगत् मे कारण कार्यो के कई प्रकार के भेद ऊपर दिखाये जा चुके हैं वे सव सम्भव हो सकते है। इस षड्विकल्प सम्वन्ध के अनुसार हम इस जगत् का मूल कारण उस ब्रह्म को मानते है।

व्युत्पत्ति सूत्र

इस जगत् मे जहा किसी वस्तु से कोई वस्तु उत्पन्न होती है वहा दो भाग अवश्य होते हैं। एक उत्पन्न होने वाला उसको 'तूल' कहते है और दूसरा जिसमे उत्पन्न होता है उसे 'मूल' कहते हैं। यहा पर इस सम्पूर्ण विशाल जगत् को तूल समझकर उसके मूल पर विचार किया जाता है। बहुत विचार वृद्धि करने पर यह सिद्ध हो चुका है कि यह सपूर्ण जगत् एक ही किसी मूल का वृहण है अर्थात् उत्थान के सदृश वही मूल तत्व वढकर इस जगत् रूप मे आ गया है। वृहण उस वढाव को कहते है जिसमे कि पूर्ण

होने पर भी वास्तव मे कुछ भी वृद्धि न होती हो। जैसे समुद्र की लहर जिसमे वायु के सम्बन्ध से जल का ऊँचा होना दीखता है परन्तु वास्तव मे जल जितना था उतना ही रहता है। उस ही प्रकार माया के सम्बन्ध से ब्रह्म मे बहुत कुछ क्षोभ होना दीखता है परन्तु वास्तव मे ब्रह्म जितना है उतना ही रहता है। इस प्रकार मूलतत्व के बृंहण से यह जगत् हमको दृष्ट होता है उस ही मूलतत्व के बृंहण के कारण हम ब्रह्म नाम रखते हैं। वृह धातु का अर्थ वढ़ना है। आकाश सदृश व्यापक होने के कारण उस मूलतत्व से परे कोई वृहत् नहीं है और इस मूल से अतिरिक्त और कोई इस जगत् का बृंहण अर्थात् बढाने वाला नही है। वह ही सब वृहत् है और उसी के बृंहण से यह जगत् उत्पन्न हुआ है अतः उस मूलतत्व को ब्रह्म कहते हैं इसमे वृह धातु के आगे मन प्रत्यय जोडने से 'ब्रह्मन्' बना हैं यहा मन का अर्थ कर्ता है। एक ऋषि कहते है कि यह ब्रह्म शब्द 'भृ' धातु से बना है जिसका अर्थ धारण, तथा पोषण करना है यह सब कुछ जिस पर रखा हुआ है, जो इन सब को एक साथ धारण किये हुए है जिसमे बाहर कुछ भी रक्खा हुआ नही है वह ही तत्व इन सबका धारण करने तथा पोषण करने वाला ब्रह्म कहलाता है। इस मे 'भृ' धातु के प्रत्यय लगाने पर 'भर्' बन जाता है। उसके आगे 'मन्' प्रत्यय जोडने से 'भर् मन्' शब्द बनता है अब 'भर्' शब्द के 'ह्' और 'र' इन दोनो वर्णों को आपस मे बदल देने से 'ब्रह्मन्' बन जाता है। (ब्+ह+अ+र्+मन्=ब्+र्+अ+ह+मन्=ब्रह्मन्) जिसका अर्थ धारण पोषण करने वाला है। इस ही ब्रह्म को 'उक्थ' वा 'साम' भी कहते हैं जिससे कोई चीज उठती है वह उठने वाले का 'उक्थ' है और जो सब कार्य पर्यायो मे समान रूप से रहता है वह उसका 'साम' है जो धारण करता है वह उसका ब्रह्म कहलाता है। जैसे वाक् प्रत्येक इन्द्रिय नाम का 'उक्थ' 'ब्रह्म' और 'साम' है। क्योकि उसी से उठती है और वही धारण करती है और सब नामो के लिए समान है। इसी प्रकार 'रूप' के लिए चक्षु और कर्मो के लिए शरीर समझना चाहिये। इसी प्रकार इस सम्पूर्ण जगत् का एक ही कोई तत्व उक्थ, ब्रह्म और साम है, क्योकि उसी से यह सब कुछ उभरा है और उसी से धारण किया हुआ है और सब मे समान रूप से रहता है।

४ आत्मनिर्वचनसूत्र

जो जिसका उक्थ, ब्रह्म और साम हो उसी को उसका आत्मा कहते है। ये तीनो एक ही के स्वरूप है अर्थात् जो जिसका आत्मा कहा जाता है उसको उस वस्तु का उक्थ, ब्रह्म और साम समझना चाहिये, क्योकि जो जिसका आत्मा है उसी से वे वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और वही आत्मा उन सब को धारण किये रहता है और वे कार्य पर्याय सब यद्यपि आपस मे भिन्न रूप के होते है परन्तु उन सब मे वह आत्मा सर्वथा समान रूप से रहती है। इसी कारण वह आत्मा कहलाती है। (आत्मा=आ सब ओर +अत् (पहुँचने)+मन् (वाला) अर्थात् अपने कार्य मे सर्वत्र व्यापक)

इस आत्मा के जितने कार्य होते हैं वे दो भाग मे अवश्य विभक्त होंगे। एक विशेष्य और दूसरा विशेषण। विशेषण वह है कि जिससे किसी वस्तु का दूसरी वस्तु से भेद समझते है और जिस वस्तु का दूसरी वस्तु से भेद किया गया वह भाग विशेष्य है। जैसे घट विशेष्य है और घटत्व विशेषण। घटत्व रूप और संस्था आदि वस्तु के गुण को कहते हैं जैसे पैदे मे गोलाई, पेट खाली और गला तग यही

आकार घडे का घडापन है इसी को विशेषण कहते है। इस घडेपन को देखकर जिस द्रव्य को हम घट कहते है वह विशेष्य है इस घटत्व को हम आखो से देखकर उसी के द्वारा घट द्रव्य को भी आंखों से देखा हुआ। समझते हैं परन्तु वास्तव मे घटत्व को विचार पर से हटा दिया जावे तो वह घट जो विशेष्य है विचार पर कभी नही रह सकता। ये दोनो विशेष्य और विशेषण मिल कर एक विशिष्ट कार्य रूप समझना चाहिये। इनमे विशेष्य भाग को हम अमृत कहेंगे और विशेषण को मत्य।

यह सत्य भाग तीन भाग मे बांटा जा सकता है १ कर्म, २ रूप और ३ नाम। इन्ही तीनो मत्यों से ढका हुआ जो अमृत का भाग है वही आत्मा है। वह अमृत भाग केवल प्राण जो प्राय. जगत् के प्रत्येक पदार्थ मे एक रूप से रहता है अर्थात् हाथी, घोडा, आग, पानी जहाँ जो कुछ हैं सब एक ही वस्तु प्राण ही प्राण है अत वह प्राण अमृत है। वह प्राण जिस भिन्न २ सत्य मे ढका हुआ होता है वह प्राण दूसरे प्राणो से भिन्न २ समझा जाता है अर्थात् कर्म, रूप और नाम इन तीनो मत्यो के भेद होने से प्राण सजातीय होकर भी भिन्न माना जाता है इसी भिन्नता को जगत् कहते है। इनमे प्राण भाग जो आत्मा का अंश है वह सर्वत्र एक होने पर भी भिन्न २ कर्म, रूप और नाम के कारण इन जगत् का अनन्त स्वरूप बन गया है। इस से इतना और समझना चाहिये कि जो अमृत का भाग यहाँ प्राण पद से कहा गया है वह कर्म, रूप और नाम की सृष्टि मे प्रधान होने के कारण आत्मा मानी गई है। किन्तु यह प्राण, मन और वाक् के बिना कदापि नही रहता। अत अब यह सिद्ध हुआ कि मन, प्राण और वाक् ये तीनो मिले हुए एक अमृत भाग हैं और वही आत्मा है जैसा कि वेद कहता है—स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमय (बृहदारण्यक उपनिषद्)।

अर्थात् वह यह आत्मा, वाक, प्राण और मनोमय है और कर्म, रूप, नाम ये ही तीनो सत्य भाग है और यही जगत् का रूप है। जो जहाँ कुछ हम देखते है एक ही आत्मा नाम, रूप, कर्म के भिन्न २ होने के कारण भिन्न २ दिखलाई दे रही हैं किन्तु इस आत्मा मे मन की प्रेरणा, वाक् को भिन्न २ कर्म रूप, नाम मे परिणत कर देता है। अत इस जगत् मे कर्म, रूप, नाम भिन्न २ प्रतीत होकर जगत् का रूप बना देते है। ये सब मन, प्राण की प्रेरणा मे ही भिन्न २ सत्य उत्पन्न हुए हैं इसलिए आत्मा से ही जगत् का होना माना जाता है।

५ आत्माप्रतिपत्तिसूत्र

जो जिसका उक्थ, ब्रह्म और साम होता है अर्थात् जहा से उठता है जिसमे रहता है और जो उत्पन्न होने वाले मे समान रूप से सर्वत्र व्याप्त रहता है वही उत्पन्न होने वाले की आत्मा कहलाती है। इस प्रकार आत्मा का स्वरूप पहले कहा जा चुका है अत यह आत्मा शब्द 'सनिम्पक' अर्थात् सापेक्ष व सबन्धी शब्द ठहरता है। जिस तरह पिता, पुत्र, गुरु, शिष्य आदि शब्द एक दूसरे की अपेक्षा रखते है उसी तरह यह आत्मा शब्द भी जगत् या शरीर से अवश्य ही आपेक्षिक सम्बन्ध रखता है। (जगत् भी एक प्रकार का शरीर है और शरीर भी एक प्रकार का जगत् है।) तात्पर्य यह है कि आत्मा से भिन्न कोई दूसरा भाग ऐसा है कि जिस को हम जगत् वा शरीर कहते हैं और आत्मा से उत्पन्न होकर अपनी परिस्थिति करता है। उसी की वह आत्मा कहलाती है। न आत्मा के बिना शरीर वा जगत् रहता है और न शरीर वा जगत् के बिना कभी आत्मा, आत्मा कहलाती है।

इस आत्मा की प्रतिपत्ति (विचार) ६ प्रकार से की जा सकती है—

१–अवैकारिकरूढ, २–वैकारिकरूढ, ३–योगरूढ, ४–यौगिकरूढ, ५–यौगिक, ६–व्यूह ।

इन्ही ६ दशाओ मे हम आत्मा को पाते है । आत्मविद्या का मुख्य स्वरूप इन्ही ६ प्रकारो का निरूपण करना है । वही यहा क्रम से किया जाता है ।

(१) अवैकारिकरूढ

वह पदार्थ जिसके भीतर कुछ अवयव न हो अर्थात् एक दूसरे से फरक करने वाले कोई अश न हो और भिन्न २ प्रकार के पदार्थ जिस एक पदार्थ से उत्पन्न हुए हो वह अखण्ड, निरवयव, असीम ही सब से प्रथम मुख्य आत्मा मानी जा सकती है । किन्तु वह अज्ञेय और अनिर्वचनीय इसलिये कहा जाता है कि उसका कुछ भी स्वरूप ठीक २ जाना नही जा सकता है और न कहने में आ सकता है ।

किसी वस्तु का जानना मन का कार्य है परन्तु यह मन किसी-वस्तु को दूसरी किसी वस्तु से भिन्न नही कर सकता जब तक उस चीज को नही पकडता है । यह मन का स्वभाव है । क्योकि वह अखण्ड आत्मा असीम और सर्वत्र व्यापक है तो उससे खाली कोई स्थान हो नही सकता और न कोई पदार्थ ही ऐसा है कि जिसके कण २ वा किसी भी अश को हम ब्रह्म न कह सकते हो । जब कि इस प्रकार आत्मा की किसी वस्तु से मन भिन्नता को नही देख सकता तो उस अखण्ड आत्मा को पूर्ण स्वरूप से ग्रहण करने मे असमर्थ है । अतः आत्मा अज्ञेय है और अनिर्वचनीय यो है कि संसार भर की किसी भी भाषा का कोई भी शब्द विशिष्ट कार्य के अतिरिक्त किसी भी अर्थ को कहने मे सामर्थ्य नही रखता है । विशेष्य और विशेषण इन दोनो से बना हुआ जो अर्थ का रूप है उनमे विशेषण के द्वारा अर्थात् विशेषण की ओर हमारी दृष्टि पहुँचा कर उसके द्वारा किसी विशेष्य की ओर दृष्टि पहुँचाने का कार्य करता है बिना विशेषण को पकडे उस विशेष्य को जो सर्वत्र एक ही है उसको समझने मे जगत् का कोई भी शब्द सामर्थ्य नही रखता । अत. वास्तव मे वह आत्मा सर्वथा अनिर्वचनीय कही जा सकती है क्योकि जब तक उसमे कोई नाम, रूप, कर्म स्थापित न किया जावे या जब तक उसमे कुछ भेद भाव उत्पन्न न हो जावे तब तक यह मूलतत्व हमारे वाक् और मन के अगोचर है अर्थात् उनकी दौड के मैदान के बाहर हैं ।

यही निर्विशेष, अव्याकृत, अव्याहृत निराकार, निरजन, निर्धर्मक निर्गुण ब्रह्म है ।

(२) वैकारिकरूढ

इस प्रकार जो निर्विशेष, कह कर एक आत्मा दिखाई गई है अर्थात् जिसमे सजातीय, विजातीय और स्वगत इन तीनो भेदो का अभाव है उसी निर्विशेष मे अकस्मात् स्वगत भेद उत्पन्न हुआ अर्थात् वह अपनी महिमा से जो पहले अखण्ड थी सो पश्चात् तीन खण्डो मे स्वत. परिणत होकर दीखने लगी । अब हम यहा से उस ब्रह्म आत्मा को ३ खण्ड वाली ही मानकर सृष्टि का आरम्भ करेंगे । इन ही ३ खण्डो से जो जिस प्रकार सृष्टि हुई वह 'अपरा विद्या' है और उस सृष्टि को हम किसी सीमा तक जानने का पूर्ण दावा रखते हैं । ये तीनो खण्ड वैकारिकरूढ है । (अभिन्न एक तत्व मे तीन भेद का होना ही विकार है) वैकारिक इसलिए है कि यह सपूर्ण सृष्टि इन तीनो से उत्पन्न हुई है और यह नित्यसृष्टि के आदि मध्य और अन्त मे अनवरत (हर समय) दिखाई देते हैं । वे तीनो ये है, मन, प्राण, वाक् ।

(३)—योगरूढ

मन, प्राण और वाक् ये तीनो भिन्न भिन्न करके नही रहते। तीनो सर्वदा सम्मिलित रूप से ही सृष्टि के कारण होते हैं अत इन तीनो अवयवो से कोई एक ही अवयवी आत्मा माननी पडेगी। उसी एक आत्मा को हम यहा 'प्रजापति' कहेगे और वह सर्वदा यज्ञ करता रहता है। उस यज्ञ से यह सृष्टि उत्पन्न होती है अथवा जिस सृष्टि को हम देख रहे हैं वही उस आत्मा का यज्ञ हो रहा है। कारण यह है कि इस मन भाग मे एक प्रकार की 'अशनाया' (क्षुधा) उत्पन्न होती है जो अशनाया आज तक इस जगत् के प्रत्येक पदार्थो मे अब भी दीखती है जिसके कारण सूर्य हमारी पृथ्वी के एक एक अश को प्रतिक्षण भक्षण किया करती है अतः दोनो के अश प्रवेश करते रहते है और अपने अशो को निकालते रहते हैं। इसी कारण इन दोनो अर्थात् सूर्य और पृथ्वी का स्वरूप कदापि नष्ट नही होता। इसी अशनाया के कारण इस प्रजापति मे ३ भाव उत्पन्न हो जाते हैं जिनको 'उक्थ', 'अर्क' और 'अशीति' कहते हैं। जब कभी दूसरे किसी प्रजापति की अशनाया के कारण किसी प्रजापति का कुछ अश निकलता है तो उस प्रजापति की अपनी अशनाया प्रबलता से जाग्रत हो जाती है और उसके उक्थ मे से एक प्रकार का भाव बाहर से अन्न लेने के उठ खडा होता है और व्याकुलता से अन्न को लेने के लिए व्यापार करने लगता है उसी अश को 'अर्क' कहते हैं। वह अर्क जिस अन्न को ग्रहण करके अपनी आत्मा की ओर खीचता है उसी अन्न को 'अशीति' कहते हैं। वह अर्क इस प्रकार अपने भीतर अशीति को लेकर जब अपने वाक् की कमी को पूरा कर लेता है तब शान्त होकर अपने उक्थ मे जो मन है लीन हो जाता है। उस समय उक्थ के अतिरिक्त अर्क का कुछ व्यापार नही होता। बस इसी प्रकार उक्थ से अर्क का उठकर अशीति के ग्रहण करने से प्रत्येक आत्मा की कमी पूरी होती रहती है अतः दूसरी आत्मा के भोजन करने से न्यूनता होने पर भी किसी आत्मा का कुछ अंश कम नही होने पाता। अब यहा इतना और समझ लेना आवश्यक है कि जिस अशीति अर्थात् अन्न को ग्रहण करके अर्क ने अपनी आत्मा मे खीच लिया है उस अशीति मे उसी समय से एक दूसरा व्यापार होने लगता है अर्थात् वह अन्न 'ऊर्क' नाम के रस मे परिणत हो जाता है और वह ऊर्क प्राण मे परिवर्तित हो जाता है और वही प्राण फिर अर्क होकर फिर अशीति अर्थात् अन्न को ग्रहण करने लगता है। इस प्रकार अन्न, ऊर्क और प्राण जो क्रमशः आपस मे परिवर्तन होते रहते हैं इसी को 'यज्ञ' कहते है। जब तक यह यज्ञ होता रहता है तब तक उस आत्मा का वह रूप बिगडने नही पाता। यह यज्ञ प्रत्येक प्रजापति का नित्य नियत कर्म है। कोई भी प्रजापति एक क्षण के लिए भी बिना यज्ञ के नही रहता। अलबत्ता यज्ञ का स्वरूप बदलता रहता है और यज्ञ का स्वरूप बदलने से वस्तु का स्वरूप भी बदल जाता है। इस परिवर्तन के कारण सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, अग्नि, वायु आदि भिन्न भिन्न प्रकार के प्रजापति जगत् मे दिखाई दे रहे है। यद्यपि ये प्रजापति अनन्त हैं तथापि प्रत्येक प्रजापति दूसरे प्रजापति को भक्षण किया करता है और आप भी दूसरे प्रजापति से खाया जाता है किन्तु प्रत्येक प्रजापति का बल बराबर नही होता। इसी कारण यज्ञ का बल भी न्यूनाधिक हो जाता है और अन्न से प्रबल के आक्रमण के कारण कोई कोई यज्ञ नष्ट हो जाता है यही सृष्टि का क्रम है और यही हमारे प्रजापति का स्वरूप है और यह यज्ञ रूप आत्मा है।

(४)–यौगिकरूढ

यह जो प्रजापति एक आत्मा है उसके अङ्ग मे तीन आत्मा मन, प्राण, वाक् रहते है। इन आत्माओ के स्वरूप मे ही दो अवस्थायें देखी जाती है। एक 'उक्थ' और दूसरी 'महिमा' जैसे दीपक मे जो लौ है वह उक्थ के रूप मे है। किन्तु उसके चारो ओर जो प्रकाश मण्डल फैला हुआ दीखता है वही इस दीपक की महिमा है।

जगत् मे ४ प्रकार के पदार्थ है—१–स्वतःप्रकाश। २–परत प्रकाश। ३–रूपप्रकाश ४–अप्रकाश। जैसे सूर्य, अग्नि आदि ज्योतिष्मान् पदार्थ स्वप्रकाश हैं। चन्द्रमा, दर्पण आदि परप्रकाश हैं। घट, पट आदि अस्वच्छ पदार्थ सभी रूपप्रकाश हैं और वायु, शब्द, प्राण आदि अप्रकाश हैं। इनमे स्वः प्रकाश पदार्थों के दोनो भाग जिस प्रकार स्पष्ट दिखाई देते है उसी प्रकार पर प्रकाश मे आधे भाग मे महिमा दीखती है और आधे मे नही। किन्तु रूपप्रकाश और अप्रकाश में यद्यपि कुछ भी महिमा नही दीखती तथापि विश्वास करना होगा कि इन चारो मे समानभाव से उक्थ और महिमा दोनो भाग रहते है। रूपप्रकाश की महिमा जहा तक व्याप्त है उसी के भीतर दृष्टि रखने से हम उस वस्तु को देख सकते है। अथवा जहा तक हम उसको देखते है वहा तक कोई उस वस्तु का भाग मेरी आँखो पर आता है किन्तु वह वस्तु जहा की तहा रहती है मेरी दृष्टि पर नही आती तथापि उस वस्तु का जो भाग मेरी दृष्टि पर आता है उसी को हम उसकी महिमा कहते हैं। वस्तु का गन्ध बहुत दूर तक फैला हुआ उसकी महिमा है। तात्पर्य यह है कि जगत् के पदार्थ के उक्थ अर्थात् बीच के कन्दल [ऋक्] के चारो ओर महिमा रहती है।

अब यह महिमा ३ प्रकार की हैं क्योकि प्रत्येक पदार्थ एक आत्मा होने से प्रजापति है अतः उसके तीन अङ्ग अवश्य होवेंगे। जिनमे मन के उक्थ मे उठे हुए महिमा को 'वेद' कहते हैं जो तीन प्रकार का है 'ऋक्', 'यजु' और 'साम' जिनका वर्णन आगे होगा। प्राण के उक्थ से उठे हुए महिमा को 'यज्ञ' कहते हैं और वाक् के उक्थ मे उठा हुआ महिमा 'प्रजा' कहलाता है। इस प्रकार प्रत्येक प्रजापति के चारो ओर नियम से वेद, यज्ञ और प्रजा ये तीनो महिमाएँ व्याप्त रहते हैं। और उसी महिमा तक उस प्रजापति की सत्ता विद्वानो की दृष्टि मे रहती है। वेद, यज्ञ और प्रजा प्रजापति की प्रथम सृष्टि है। और वह नित्य है। इसके बिना प्रजापति कभी भी देखने मे नही आता। ये तीनो ही 'यौगिकरूढ' है।

इन मे वेद से ज्ञान, यज्ञ से क्रिया, प्रजा से अर्थ तात्कालिक उत्पन्न होते है जैसे किसी वस्तु की वेद रूपी महिमा जहा तक फैली रहती है उसी सीमा के अन्दर दृष्टि रखने से उस वेद का भाग जितना दृष्टि पर पड़ा या किसी नाडी के द्वारा मस्तिक मे जाकर मेरे प्रजापति के मन भाग से सयोग करता है और दोनो के सयोग से जो परिणाम उत्पन्न हुआ वही उस वस्तु का 'मेरा ज्ञान' है। यह ज्ञान दो वस्तु के संयोग से उत्पन्न हुआ है अतः यौगिक रूढ है। किसी प्रजापति के प्राण की महिमा या यज्ञ जब किसी दूसरे प्रजापति पर अपना प्रभाव डालता है तो उस महिमा को दूसरा प्रजापति अपने मे ले लेता है वही प्रथम प्रजापति की क्रिया कहलाती है जैसे हम बोलते हैं, चलते है, हिलते हैं, इन कम्पन से मेरे शरीर का भाग अवश्य ही कुछ खर्च हो जाता है और वह प्राण क्रियारूप मे बदल कर वायु आदि मेरे चारो ओर

पदार्थो मे प्रवेश करके उनमे कुछ परिवर्तन अवश्य ही कर देता है। यदि इस प्रकार दूसरे पदार्थ में प्राण को अपने मे नही लेते तो मैं कोई भी क्रिया नही कर सकता अतः क्रिया भी 'यौगिकरूढ' है। अब तीसरे वाक् की महिमा से जो प्रजा उत्पन्न होती है वह जब दूसरे मन, प्राण, वाक् को ग्रहण कर लेती है तो अर्थ कहलाता है जैसे किसी फल मे गूदा जो पहले एक ही प्राण रखता था अब उनका कुछ भाग बिगड कर प्रजा होकर जब भिन्न प्रकार के मन, प्राण, वाक् को ग्रहण करलेता है तो वह उस फल से अलग होकर एक कीडे या लट के नाम से कहा जाने लगा और वह नया अर्थ हो गया। इस प्रकार प्रजापति के वेद, यज्ञ और प्रजा से ज्ञान क्रिया और अर्थ की सृष्टिया होती रहती हैं और ये भी सब यौगिकरूढ हैं।

इन अर्थो मे से दो प्रकार के अर्थ इस तरह मिले कि एक, दूसरे को मार डालते हैं और दोनो ही मर कर नया अर्थ पैदा करते है और पहले के दोनो भाग न दिखाई देकर एक ही सर्वथा रूढ तत्त्व बन जाता है उसी को यौगिकरूढ कहते है जैसे पानी मे वायु का मौका लगने से पानी में लहर पैदा होती है जिससे पानी ऊँचा उठकर सतह की ऊपर वाली हवा को ढक लेता है बुदबुदा पैदा हो जाता है। यह बुदबुदा बडा होने से हवा का बल अधिक रहता है अतः हवा पानी की पतली झिल्ली को तोडकर बाहर निकल जाता है। परन्तु यदि यह बुदबुदे छोटे-छोटे बहुत से होते हैं तो वहा पर दूसरे बुदबुदो के दबाव से उनकी हवा बाहर निकलने नही पाती। कुछ समय तक हवा पानी को तोड कर बाहर निकलने का और पानी हवा को दबाने का भरपूर यत्न करते रहते हैं अन्त मे कुछ समय पश्चात् दोनो मर जाते है। पानी स्वभावतः चेपदार है और हवा रूखी है अत पानी से एक जीव होकर उसको रूखा बना देती है उसका परिणाम यह होता है कि पानी और हवा दोनो ही न रहकर एक तीसरी जाति की वस्तु पैदा हो जाती है वह झाग कहलाता है और यह झाग ही मिट्टी का पहला रूप है इस प्रकार दो पदार्थो का मरकर तीसरे पदार्थ का बन जाना यौगिकरूढ है। दो के मिलाव को किन्तु उनकी पृथकता नष्ट होने को रूढ कहते हैं।

(५) यौगिक

दो पदार्थों के मिलने पर भी उन दोनो का तत्व अलग-अलग रहे तो उसको 'मिश्रण' कहते हैं जैसे पानी मे चीनी घोलने से शरबत होता है किन्तु इन तत्वो का एक का दूसरे से मिलाव नही होने पाता अतः इनसे भिन्न एक नया तत्त्व पैदा नही होता। ऐसे मिश्रित तत्त्वो को यौगिक कहते हैं। यह रूढ नही है।

(६) व्यूह
(व्यूह, त्रिपुरुषमय व्यूह, अव्यय, अक्षर, क्षर)

उपरोक्त पाँचो आत्मा मिलकर एक व्यूह बना है। ऐसे कई व्यूह मिलकर एक आत्मा बनी तो वह व्यूह कहलाता है और जिसमे अनेक व्यूह हो वह व्यूहानुव्यूह है जिनका वर्णन विस्तार पूर्वक आगे होगा।

१–अवैकारिकरूढ या परात्पर आत्मा सूत्र

जब हम जगत् पर दृष्टि डालते हैं तो इसके तीन भाग दीखते हैं—पहला भाग यह पृथ्वी और अनन्तानन्त पदार्थ इस पृथ्वी के सम्बन्ध से इस पर चारो ओर दृष्टिगोचर होते हैं। दूसरा भाग सूर्यमण्डल

है कि जिसके प्रकाश के सम्बन्ध से एक विश्वचक्र बना हुआ दीखता है। बस ये ही दो मुख्य भाग हैं। इन दोनों के सब पदार्थ इन दोनो से बँधे हुए होने के कारण 'सायतन' अर्थात् सीमित हैं, अपनी बँधी हुई सीमा से बाहर स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं जा सकते। तीसरा भाग जो इन दोनो के मध्य मे खाली आकाश है और जिसके कारण पूर्व के दोनो भागो का अन्तर ज्ञात होता है अन्तरिक्ष कहलाता है इसमे कितने ही पदार्थ 'निरायतन' रूप से हैं जो किसी केन्द्र से न बँधे हुए होने के कारण सर्वत्र फैले हुए रहते है और इधर-उधर स्थानान्तर भी होते रहते हैं। इन तीनो भागो को तीन लोक कहते है। इन तीनो मे सामान्य रूप से अग्नि रहता है जिसके इन तीनो लोको के भेद से नाम, रूप, कर्म भिन्न-भिन्न होते है जिनको अग्नि (पृथ्वी), वायु (अन्तरिक्ष) और सूर्य कहते हैं। यदि हम स्थूल दृष्टि से जगत् को देखें तो तीन लोक दीखते हैं और इसी त्रैलोक्य को जगत् कहते हैं किन्तु विज्ञान दृष्टि से निश्चित ज्ञात हुआ है कि ऐसे-ऐसे त्रैलोक्य अनन्तानन्त विद्यमान हैं जैसे यह पृथ्वी इस सूर्य के साथ बँधी हुई है उसी प्रकार अनन्तान्त त्रैलोक्य भी एक दूसरे महासूर्य के आधीन उसके चारो ओर जहाँ-तहाँ स्थित है। जिस प्रकार हमारे सूर्य मे से ७ रङ्ग अथवा अनन्त रङ्गवाला भौतिक प्रकाश निकलता है उसी प्रकार उस महासूर्य से भी एक-एक महाज्योति निकलती है जिसमे रूप नही और दृष्टि से नही देखा जाता उसको 'ज्ञानमय प्रकाश' कहते हैं। उसी के द्वारा प्रकाश और अन्धकार का ज्ञान होता है और वह इस भौतिक प्रकाश तथा घोर अन्धकार मे भी बराबर अपना प्रकाश जारी रखता है। हमारी स्वप्नावस्था मे जहा सूर्य, चन्द्र, अग्नि के प्रकाश कुछ नही पहुँचते वहा आत्मा के उसी प्रकाश से सब दिखाई देते हैं और उस समय इस प्रकाश का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार विद्वान् लोग त्रिलोकी से बाहर उस महा ज्योतिष्मान् सूर्य की आत्मा को परोरजा स्वयंभू प्रजापति या परमात्मा कहते हैं। त्रिलोकी से परे होने के कारण परोरजा है यहाँ तक तो हुआ यह जगत् का स्वरूप किन्तु जगत् छोटा-बड़ा कैसा भी हो सब कार्य है अत. इसकी उत्पत्ति का कोई कारण ऐसा अवश्य होना चाहिए जो असीम अनन्त, केन्द्ररहित और भेद-भाव रहित हो, क्योंकि जगत् के धर्मों से भिन्न होना चाहिए। हमारी बुद्धि किसी न किसी भेद-भाव या सीमा विभाग को पकड़ कर ही किसी वस्तु को धारण करती है किन्तु जगत् के उस आदि कारण मे इन सब धर्मों के न रहने के कारण उसको हमारी बुद्धि ठीक ठीक ग्रहण नही कर सकती। अज्ञेय और अनिर्वचनीय कह कर उससे हट जाती है तो भी इतना मानने को वह सर्वदा तैयार है कि इस सपूर्ण जगत् का मूल कारण कोई न कोई ऐसा पदार्थ है कि जिसमें जगत् के धर्म कुछ भी नही हैं। वही पदार्थ सर्वप्रथम है और विज्ञान की परिभाषा मे 'परात्पर' के नाम से व्यवहृत किया जावेगा। इसका अर्थ है परे से परे अर्थात् त्रिलोकी से परे एक सच्चिदानन्द, आत्मा पुरुषोत्तम, जो महासूर्य के नाम से कहा गया है उस से भी परे होने के कारण अगम्य, अगोचर, निर्विशेष आत्मा को 'परात्पर' कहते है।

यद्यपि वास्तव मे इसके कोई भी नाम, रूप, कर्म नही हो सकते तथापि हम यह कहते सकोच नही करेंगे कि इस जगत् मे जितने नाम है, जितने रूप हैं और जितने कर्म है वास्तव मे सब उसी के हैं। जगत् में काला और सफेद, छोटा और बडा आदि भावो मे परस्पर विरोध है अत एक का रूप दूसरे का रूप नहीं हो सकता। परन्तु जबकि सब नाम, सब रूप, सब कर्म उस एक से निकलते हैं तो हमको कहना होगा कि ये सब नाम, रूप, कर्म उस निर्विशेष आत्मा का प्रपञ्च (फैलाव) विशेष हैं।

वह यद्यपि अज्ञेय है अनिवर्चनीय है तथापि यही उसका ज्ञान, और निर्वचन समझना चाहिये क्योंकि अज्ञेय को अज्ञेय निश्चय करना ही उसका वास्तविक ज्ञान है और अनिर्वचनीय को अनिर्वचनीय कहना ही उसका यथार्थ निर्वचन हो सकता है। यदि उस अज्ञेय को ठीक-ठीक जानने का दावा करें तो वह अज्ञानी है और वह उसको कुछ नहीं समझा ऐसा समझना चाहिए। वह जानने का दावा करने वालो के लिये न जानी हुई चीज है और जो उसको न जानने का तत्त्व कहकर जानते हैं वे उसको एक प्रकार पैंदे तक पहुँचकर जान चुके हैं जैसा कि वेद कहता है:—

यस्यामतं तस्यमतं, मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानताम्, विज्ञातमविजानताम् ॥

अर्थात् जो नही जानता वह जानता है जो जानता है वह नही जानता है क्योंकि वह जानने वालो से नही जाना गया है और जो नही जानते हैं उनने उसको जाना है। परिभाषित शब्दो मे जिसको अवैकारिकरूढ कहा है वह वैज्ञानिक भाषा मे परात्पर आत्मा से व्यवहृत हुआ है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्व, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ [कठ० उपनि०]

सूर्य चन्द्र नहिं भासते, नहिं विद्युत की ठोर।
भासत जिससे विश्व की, चमाचमी चहुँ ओर ॥ [पु० गोपी० जोशी]

२— वैकारिकरूढ या सत्यत्रयसूत्र

इस जगत् के पदार्थो का यदि हम विचार करे तो तीन ही पदार्थ सर्वत्र दिखाई देवेंगे—ज्ञान, क्रिया और अर्थ। अत. सहज ही मे यह विश्वास होता है कि इन तीनो के मूल कारण भी तीन ही होवेंगे। उन ही मूलतत्वो को हम मन, प्राण और वाक् कहते है। सब कुछ इन्ही तीनो से हुआ है। उनके कार्य समस्त परिवर्तनशील है कुछ समय तक रहकर फिर नही रहते अथवा बदल जाते हैं अतः वे सब असत्य हैं। उनकी अपेक्षा ये तीनो कारणरूप से सदा विद्यमान रहते हैं अतः मन, प्राण और वाक् इन तीनो तत्वो को 'सत्य' कहते है। जब ये तीनो मिलकर एक रूप पैदा करते है तब किसी वस्तु की अस्तित्वबुद्धि हुआ करती है इसलिये भी इन तीनो को सत्य कहते हैं इन मे भी मन को सत्य का भी सत्य कहते हैं क्योंकि वस्तुओं मे प्राण ही सत्य का रूप है परन्तु वह प्राण मन ही के आधार से ठहरता है और उसी की आज्ञा से काम करता है अत वह मन सत्य का भी सत्य है। यह भी एक मत है कि इन मे वाक् तो सत् और प्राण असत् और मन सदसत् कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि दिक्—देश—काल आदि से जिसका परिच्छेद हो सके उसको सत् कहना चाहिये। वह वास्तव मे वाक् के अतिरिक्त कोई नही हो सकता। वाक् ही मे सब अर्थ बने है और सब अर्थ परिच्छिन्न रूप मे हैं अत. उनको सत् कहते हैं किन्तु प्राण कार्य करने से ही अनुमान किया जाता है उसका कोई निज का रूप हमे नही दीखता अत उसको असत् कहते हैं। परन्तु इन मन को ज्ञान

के रूप भी अपने भीतर समझता है परन्तु दूसरे का मन भी प्राण के अनुसार दृष्टिगोचर नही होता या अनुभव मे नही आता अतः उसको सत् और असत् दोनो कहते हैं। प्राचीन ऋषियो ने इन तीनो को इन ही तीनों नाम से अधिकतर व्यवहार किया है अतः इस शास्त्र मे भी इनका व्यवहार इन्ही शब्दो से होगा।

मन—प्राण—वाक् के और-और नाम जो व्यवहृत होते है —

१ प्रज्ञा—बल—आकाश
२ धी—असु—रयि
३ बुद्धि—+—+

१.—मन के लक्षण

मन निर्लेप, असङ्ग, अक्रिय, और अनवच्छिन्न है। अर्थात् इस मन पर कितनी ही वस्तु आवे परन्तु वे उस पर चिपकती नही हैं अर्थात् जिस प्रकार वस्त्र पर रङ्ग चढाने से वह रंग चिपक जाता है, वर्तन मे तेल रखने से वह चिपकता है उसी प्रकार मन सदा के लिए चिपक नही जाता। जब तक मन किसी विषय को उठाये रहता है तब तक लिप्त हुआ सा दीखता है किन्तु जब उस विषय को छोडता है तो बेलाग होकर निकल जाता है और दूसरे विषय के रूप मे आ जाता है। लाल रङ्ग का खयाल करके लाल हो जाता है किन्तु तत्काल ही सफेद का विचार होते ही श्वेत हो जाता है। वह प्राचीन लाली अब सर्वथा लुप्त हो गई अतः मन को 'निर्लेप' कहते है।

जिस प्रकार आकाश अहर्निश वायु—जलादि पदार्थो से युक्त होने पर भी सर्वदा उनसे बेलाग रहता है उस ही प्रकार सब पदार्थो से युक्त होता हुआ मन भी उन से बेलाग रहता है अतः उसको 'असङ्ग' कहते है।

मन एक प्रकार का आकाश है जिसमे सब पदार्थ प्रवेश करके ठहरे हुए दीख कर पीछे निकल जाया करते हैं अत उस मन मे कुछ भी क्रिया नही है जो कुछ क्रिया मन मे भासती है वह उसके साथ ही प्राण से उत्पन्न होती है किन्तु मन अपने स्वरूप से 'निष्क्रिय' है।

यह मन जिसको हम ज्ञान रूप मे देखते हैं यदि हम उस ज्ञान पर दृष्टि डालें तो उसमे ऊंचा, नीचा, बगल आदि कोई भी प्रदेश या दिशा दृष्टि मे नही आती अतः उसको 'अनवच्छिन्न' कहते हैं जो मन राई को लेकर पूर्ण रूप होता है वह ही एक विशाल पर्वत या विश्वमण्डल को अपने मे लेकर उन्ही के रूप से परिपूर्ण होता है। वास्तव मे मन न छोटा है, न बडा है केवल छोटी-बड़ी वस्तु को ग्रहण करके छोटा-बड़ा दीखा करता है। यदि उसका कोई अपना रूप होता तो इस प्रकार छोटे-बडे रूप मे कभी नही आ सकता अत उसको 'अनवच्छिन्न' कहते हैं। परन्तु उसमे यह गुण अवश्य है कि जिस वस्तु के साथ उसका योग किया जावे उस ही वस्तु के परिमाण और रूप—रङ्ग को लेकर दीखा करता है। बहुतो का यह भी मत है कि संपूर्ण जगत् मे जितने पदार्थ है उन सब के अत्यन्त सूक्ष्म रूपो के समूह ही का नाम मन है। अतः यह जगत् का एक संक्षिप्त रूप है।

२–प्राण के लक्षण

प्राण 'कुर्वद्रूप' अर्थात् प्रतिक्षण क्रियाशील है। जगत् मे जो कुछ जहा क्रिया होती है वह सब प्राण का ही रूप है। प्राण एक स्थान से दूसरे स्थान मे जब सम्बन्ध करता है तो उस वस्तु मे कम्पन होता है उसी को क्रिया कहते है। सभी क्रियाओ का उपादान यही प्राण है। जिसमे क्रिया होती है उसमे से कुछ प्राण का भाग निकल जाता है। जिस प्रकार सरोवर मे से एक बिन्दु पानी निकाल देने से उसका कुछ भी भाग कम होता हुआ नही दीखता है उसी प्रकार एक अगुली हिलाने या चलने–फिरने से शरीर मे प्राण की कमी नही मालूम होती परन्तु कमी अवश्य होती है, क्योकि किसी भी क्रिया को यदि हम देर तक करते रहे तो अवश्य ही हम थक जाते हैं और यह थकना केवल प्राण की कमी है। जब इस अनन्त आकाश से अथवा वायुमण्डल से फिर हमारी वह प्राण की कमी हो जाती है तो थकान मिट जाती है अतः सिद्ध हुआ कि सब ही क्रिया प्राण का विकार है।

प्राण का दूसरा लक्षण यह है कि पञ्चभूतो अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के लक्षण एक भी प्राण मे नही होते। प्रत्येक भूत आपस मे टकराने से शब्द उत्पन्न करते है परन्तु प्राणो के घन आपस मे टकराने से कुछ भी शब्द उत्पन्न नही करते। वायु का धक्का हमारे शरीर पर लगता है किन्तु प्राणो का आघात होने पर भी उनके स्पर्श का कुछ भी बोध हमे मालूम नही होता। लाल, पीला आदि न उसमे किसी प्रकार का रूप है और न मीठा, खट्टा आदि स्वाद है और न किसी प्रकार का गन्ध है अतः उसको भूत नही कह सकते परन्तु इतने पर भी उसमे एक असाधारण धर्म 'विधरणशक्ति' ऐसी है कि जिसके द्वारा हम इस प्राण को स्पष्ट रीति से पहचान सकते हैं जैसा कि थोडी सी मिट्टी मे पानी मिलाकर खूब गूंधकर एक ढेला बनावे तो जल सूखकर केवल मिट्टी रह जावेगी परन्तु जिस प्रकार पहले मिट्टी बिखरी हुई थी अब सिमटकर एक ठोस रूप मे ढेला बन गई है। इस मिट्टी मे इस ठोस बनने का और मिट्टी को बिखरने न देने का कारण कोई नया पदार्थ अवश्य इसमे प्रवेश किया हुआ मानना पड़ेगा वही प्राण है। इस प्राण के विधरण धर्म के कारण मिट्टी के सब ही परमाणु इस प्रकार बध गये है कि स्वतन्त्रता पूर्वक इधर–उधर बिखरने नही पाते। कोई कह सकते हैं कि परमाणु मे एक प्रकार की आकर्षण शक्ति है जो आपस मे एक–दूसरे को पकडकर तनाव मे आ गये हैं किन्तु यह भूल है। यदि परमाणुओ का अपना निज का स्वभाव ऐसा होता तो यह मिट्टी बिखरी हुई न रहती क्योकि वस्तु मे निज का स्वभाव नित्य होता है किन्तु इसी ढेले को प्रहार करने पर यह चूरमूर हो जाता है और फिर मिट्टी अपने स्वभाव के अनुसार बिखर जाती है। इससे मानना होगा कि उन परमाणुओ मे आपस मे पकड़ने का धर्म निज का स्वाभाविक नही है। दूसरे योग के कारण उसका योग हटाया और मिलाया जा सकता है, न्यूनाधिक किया जा सकता है। बस इसी विधरण करने वाले तत्त्व को 'प्राण' कहते हैं। यदि इन परमाणुओ मे आकर्षण शक्ति मानी भी जावे तो उसी को हम प्राण कहेंगे। उस प्राण मे आनजन (निनाद) होने के कारण बीच मे भूत को रखकर आप उसके बाहर–भीतर इस प्रकार बना रहता है कि जिसके कारण एक परमाणु दूसरे परमाणु को पकडने की क्रिया किया करता है।

तीसरा लक्षण यह है कि कोई भी प्राण भूतमात्रा के बिना कभी कहीं भी नहीं रहता। प्रत्युत इसी स्वभाव के कारण यह प्राण 'वाक्' मे रहकर अपने विधरण धर्म मे प्रतिक्षण घन बनता रहता है।

जिस प्रकार रूई के परमाणु अत्यन्त विरल दीखते हैं यही रूई यदि १० कोस मे फैलादी जावे तो उतनी रूई को यह प्राण अपने विघरण के कारण यदि घन करने लग जावे तो सभव है कि एक राई के बराबर हीरे का टुकडा होगा। इसी प्रकार घन और विरल करता हुआ यह प्राण प्रत्येक भूत मे कुछ न कुछ रहता है अत प्राण को 'अर्थवान्' कहते हैं।

यहा यह और समझना चाहिए कि प्राण ४ जाति का है:—१-परोरजा जिससे त्रैलोक्यसृष्टि के सब पदार्थ उसके विघरण से स्थान २ पर नियत रूप से रहते हैं। २-आग्नेय-जो विशकलन करने का स्वभाव रखता है। ३-सौम्य-जो घन करने का स्वभाव रखता है। ४-आप्य-जो रूपान्तर मे बदलने का स्वभाव रखता है जैसे घास का दूध।

चौथा लक्षण 'आसंजन' है। यह कहा जा चुका है कि मन असङ्ग है अर्थात् किसी वस्तु का धर्म उस पर नही आता वह वेलाग होकर निकल जाता है ठीक इसके विरुद्ध प्राण मे आसञ्जन धर्म है। इसमे एक प्रकार का चेप है जिसके कारण आप स्वयम् भी भूतो के परमाणु से इस प्रकार चिपका रहता है कि जिससे प्राण और भूत पृथक् पृथक् स्थान नही रखते। प्राणमय भूत या भूतमय प्राण ही देखने मे आते हैं। इस ही आसजन धर्म के कारण यह प्राण विघरण भी कर सकता है।

यह प्राण मन को बाधने वाला है। यद्यपि मन किसी वस्तु का सग नही करता किन्तु प्राण, संग करने की अधिक शक्ति रखता है अत. वह अपनी शक्ति से मन को अपने मे बाध लेता है। यही कारण है कि इन प्राणियो के शरीर मे मन बधा हुआ रहता है। किसी विषय का विचार करता हुआ मन यद्यपि बहुत इधर-उधर व्यापार करता है तथापि प्राण को छोडकर अलग नही हो सकता। बधा रहना मन का धर्म नही है किन्तु वह प्राण ही की शक्ति से बधा रहता है अतः प्राण मे 'मनोबधकर्त्ता' अर्थात् मन को बाधने वाला धर्म है। पाचवां लक्षण 'विसारिता' है अर्थात् थोड़े प्रदेश मे रहकर वह अधिक प्रदेश मे भी रह सकता है जैसे दीपक की लौ और प्रकाश।

छठा लक्षण 'मन की आज्ञाकारिता' है अर्थात् प्राण स्वयम् बिना मन के कोई भी व्यापार नही करता। अगुली का हिलाना मन की इच्छा बिना प्राण नही करता। किसी वस्तु को हाथ से पकडकर कोई मनुष्य सो गया, तब निद्रा मे मन का व्यापार बन्द होते ही हाथ खुल जाता है और पकड़ी हुई चीज हाथ मे गिर जाती है। यदि प्राण उस वस्तु के पकडने मे स्वतन्त्र होता तो नीद की हालत मे मन का काम बन्द होने पर भी प्राण का काम बन्द न होने से वह ज्यो का त्यो पकडे रहता। यहा कोई प्रश्न कर सकता है कि जब सोने मे मन का काम बन्द हो गया तो और प्राणो के काम अर्थात् स्वांस का चलना, अन्न का परिपाक होना आदि कैसे होते रहते है तो इसका उत्तर विस्तार पूर्वक आगे दिया जावेगा, यहां केवल इतना ही कहना है कि इस शरीर मे पृथक्-पृथक् दो मन काम करते हैं। एक जीव का और दूसरा ईश्वर का। जीव के मन की प्रेरणा से होते हुए प्राण के व्यापार निद्रावस्था मे सब बन्द हो जाते हैं किन्तु ईश्वर के मन की प्रेरणा से प्राण का व्यापार नित्य रहता है। आकाश मे बादलो का बनना, वायु का चलना बन्द होना जगत के प्राणो के व्यापार ईश्वर के मन की प्रेरणा से ही है, क्योकि जड पदार्थों का यह नित्य स्वभाव है कि वे आरम्भ होने पर बिना बन्द किये स्वयम् बन्द नही होते। जगत् मे केवल

मन ही ऐसा पदार्थ है जो जड न होने के कारण अकस्मात् वदला करता है उसी मन की वदल को 'इच्छा' कहते हैं। जगत् मे जो कुछ हम परिवर्तन देखते हैं ईश्वर के मन की इच्छा के कारण ही मानना पड़ेगा। हम जीवो के प्राणो मे जव यह निश्चय हो गया कि मन की इच्छा विना प्राण क्रिया नही करता तो हमको अनुमान कर लेना चाहिये कि और भी सव प्राण किसी मन की ही प्रेरणा मे अपना काम करते होंगे। अतः इसी से हम ईश्वर की सत्ता मे निश्चित रूप से विश्वास करते हैं। जितने प्राण जीवो की इच्छा के बिना काम करते हुए दीखते है वे सव ईश्वर के मन के अनुसार हैं। इससे सिद्ध हुआ कि प्राण मन की आज्ञा से ही अपना काम करता है अर्थात् 'मन का आज्ञाकारी' है।

सातवा लक्षण 'अप्रसुप्ति' है अर्थात् मन कभी जागता है और कभी सोता है और कभी तन्द्रा-वस्था मे रहता है इसको स्वप्नज्ञान भी कहते हैं। इस प्रकार मन की तीन अवस्थाए है। किन्तु प्राण कभी सोता ही नही सर्वदा काम करता रहता है इसी को 'अप्रसुप्ति' कहते हैं।

आठवा लक्षण 'श्रमराहित्य' है अर्थात् मन काम करते करते थक जाता है और विश्राम चाहता है किन्तु प्राण कभी नही थकता और न कभी विश्राम चाहता है। प्राण मे यदि कोई थकान है तो वह भी मन की ही थकान समझनी चाहिए मन का काम प्राण को प्रेरणा करना है किन्तु थका हुआ मन प्रेरणा नही करता। अतः प्राण की क्रिया वद होती हुई सी दिखाई देती है।

प्राण का नवा लक्षण 'सक्रमण' है अर्थात् वह एक वस्तु से दूसरी वस्तु मे चला जाता है। जिस वस्तु मे जितने परिमाण से रहता है यदि उस से कम परिमाण वाली वस्तु मिल जाय तो दोनों का प्राण मिलकर सपूर्ण मे समानभाव से सक्रान्त हो जाता है। अर्थात् यदि एक वस्तु अत्यन्त गरम हो उसके साथ यदि कोई शीतल वस्तु जिसमे गरमी की मात्रा कम है मिला दी जाय तो वह गरमी दोनो वस्तुओं मे मिलकर समानभाव से फैल जायगी।

दशवा लक्षण 'प्राणापान' अर्थात् चलते चलते रुक जाता है और फिर चलना है। चलना ठहरना मेढक की सी चाल है।

वाक् के लक्षण

१. पहला लक्षण यह है कि वह जगह रोकने वाली होती है, जिस प्रदेश मे वाक् रहती है जब तक वह न हटायी जाय तव तक उस स्थान पर वाक् नही वैठ सकती।

२. दूसरा लक्षण 'विकार' है। वाक् एक रूप से दूसरे रूप मे इस प्रकार वदल जाती है कि उसका पहला रूप सर्वथा नही रहने पाता जैसे पानी का मिट्टी बनना और घास का दूध बनना।

३. तीसरा लक्षण 'प्राण का ग्रहण करना और छोडना' है। यह वाक् जिस प्राण के आधार पर बनती है किसी समय उसको छोड़कर दूसरा प्राण ग्रहण कर लेती है जैसे प्राणी का शरीर किसी प्राण के आधार पर वनते-वनते वुड्ढा हो जाता है किन्तु वाक् उस प्राण को छोडकर [illegible]

मिट्टी के रूप मे आ जाती है। यदि वह वाक् अपने प्राण को न छोडती तो यह प्राणी कभी न मरता। प्राण का निकल जाना ही मरना है। स्वर्ण को अग्नि मे तपाने पर वह पिघल जाता है ठोस करने वाला प्राण उस समय निकल जाता है। इस प्रकार सर्वत्र निकलता और प्रवेश करता है।

४. चौथा लक्षण 'केन्द्रयोगिता' है अर्थात् कोई भी वाक् ऐसी नही जो केन्द्रधारी न हो।

५. पाचवा लक्षण 'मूर्ति' है अर्थात् कुछ न कुछ प्रदेश रखता है जिसके अवयव हो, विस्तार हो और लम्बाई और मोटाई हो।

६. छठा लक्षण 'दिग्, देश और काल से उसका परिच्छेद' है।

७. सातवां लक्षण कुछ न कुछ वैशेषिक धर्मयुक्तता है अर्थात् प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तु से कुछ न कुछ फरक करने के लिये अपने मे खास धर्म रखती है।

मन, प्राण और वाक् का साधर्म्य-वैधर्म्य

ये तीनो आपस मे एक के विना एक कभी नही रहते अत इन तीनो के कार्य ज्ञान, क्रिया और अर्थ ये तीनो भी मिले-जुले रहते हैं। ऐसा कोई ज्ञान नही जिसमे मन की क्रिया न हो और कोई न कोई विषय उसमे न रहे। विषय का रहना अर्थ भाग है और चक्षु के द्वारा विषय का आत्मा का मिलना क्रिया का भाग है। अँगुली हिलाने की क्रिया मेरी इच्छा और अँगुली से सम्बन्ध रखती है। जितनी इच्छा है वह ज्ञान का भाग है और अँगुली जो क्रिया का आश्रय है वह उसमे अर्थ का भाग है। इसी प्रकार जो घट बनाया जाता है उसमे बनाने वाले की इच्छा शामिल है वह जैसा चाहता है वैसा बनाता है। अतः उस वस्तु मे वह ज्ञान का भाग शामिल है। कुम्हार के हाथ या चाक आदि का व्यापार उसमे क्रिया का भाग है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य का ज्ञान, क्रिया और अर्थ जहां जो कुछ होता है उसमे तीनो मे तीनो शामिल हैं। मनुष्य चेष्टा के बाहर जो जगत् मे अनन्त क्रिया और अर्थ हो रहे हैं उनमे यदि ज्ञान का अंश शामिल होते हुए नही दीखता तथापि मनुष्य के दृष्टान्त से ही यह दृढ अनुमान किया जा सकता है कि इनमे भी कोई न कोई ज्ञान का भाग अवश्य होगा। वह ज्ञान ईश्वर का समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि ये तीनो ही तीनो के कामो मे बराबर सहायता करते हैं। इन तीनो मे समान धर्म है। इन तीनो मे जो अविनाभावधर्म है सो तो तीनो मे समान है। इसी को साधर्म्य कहते हैं। इस प्रकार तीनो मे तीनो के रहने से किसी को प्रश्न हो सकता है कि ये तीनो एक ही वस्तु हैं किन्तु ऐसा नही है। इन तीनो मे केवल 'साहचर्य' अर्थात् एक साथ हिलमिल कर रहने वाले है। इनमे स्वभाव से भी एकता नही हैं क्योकि क्रिया और अर्थ 'जड' है अर्थात् इनमे जानने स्वभाव नही हैं, ज्ञान और अर्थ 'अक्रिय' हैं अर्थात् क्रिया का स्वभाव इनमे नही है और ज्ञान और क्रिया अर्थानुसार प्रदेश वाले अर्थात् जगह रोकने वाले परिच्छिन्न पदार्थ नही हैं। तात्पर्य यह है कि क्रिया और अर्थ ये दोनो 'अज्ञेय' हैं अर्थात् ज्ञान से पकडे जाते है, ज्ञान मे ही रहते है परन्तु स्वयम् ज्ञान नही हैं। इसी प्रकार ज्ञान और अर्थ मे क्रिया होती रहती है ये क्रिया के आश्रय हैं परन्तु स्वयम् क्रिया नही हैं। इसी प्रकार ज्ञान और क्रिया परिच्छिन्न अर्थ पर ही रहते हैं परन्तु स्वयं परिच्छिन्न नहीं हैं, इनमे परिच्छिन्नता अर्थ के द्वारा भासती है किन्तु यह उनका निज का धर्म नही

है। इससे सिद्ध हो गया कि ये तीनों भिन्न पदार्थ होकर भी सर्वदा साथ रहते हैं इनका 'साहचर्य' नियत है। हम देखते हैं कि यदि कोई वक्तृता करे तो उसके वाक्य में यदि ज्ञान का अंश न हो अर्थात् जानने योग्य विषय हो और उसके भाषण मे कुछ प्राण हो तो उसके भाषण मे सुनने वालो को श्रद्धा होती है। यदि कहने वाला विना मन से कहे अथवा उसके भाषण मे ओज न हो तो लोगो की श्रद्धा नहीं होनी अतः सिद्ध हुआ कि वाक् मे मन और प्राण के योग से ही यथार्थ स्वरूप सिद्ध होता है उसी प्रकार प्राण अर्थात् वल भी विना मन और अर्थ के प्रयोग किया जाय तो वह अनिष्टकारी होता है उससे शरीर और आयु दोनो क्षीण होते हैं। अत. किसी मुख्य अर्थ पर सचेत रहकर वल प्रयोग किया जाय तो वह लाभदायक होता है जैसे चलता हुआ मनुष्य अँधकार मे मे गड्ढे को न जानकर पाँव रखे तो गिर जाता है, वेअन्दाज पाँव रखने से पाँव लचक जाता है या कभी टूट भी जाता है। अव मन का तो प्राण और वाक् मे इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि इनके विना मन का स्वरूप ही सिद्ध नही होता। जव कुछ मन से सोचता है तो वह भीतर ही भीतर कुछ न कुछ वोलता रहता है। वह वोलना ही मन का विचार है और किसी न किसी विषय को लेता और छोडता रहता है। इसी प्रकार चेष्टा करते-करते अन्त मे कही विश्राम करके किसी वात का सिद्धान्त करता है। वोलना जिस प्रकार मन मे वाक् का भाग है उसी प्रकार ऊहापोह (लेना-छोडना) की चेष्टा करना मन मे प्राण का भाग है। यदि ये दोनो मन मे से निकाल दिये जांय तो मन का स्वरूप कदापि सिद्ध नही होगा अतः नि सदेह हम कह सकते हैं कि यदि मन है तो वहा प्राण और वाक् भी अवश्य होगे और यदि वाक् है तो वहा मन, प्राण अवश्य होगे। अत. महर्षियो का सिद्धान्त है कि जो जहा कुछ पदार्थ दीखता है वह सव वाक् है 'अथो वागेवेद सर्वम्' (ऐतरेय श्रुति) अतः जिस प्रकार उसमें हम प्राण देखते है उसी प्रकार मन भी अवश्य ही होगा। सव चेतन है किन्तु लोक मे जड चेतन का व्यवहार इन्द्रियो से सम्वन्ध रखता है। मन अन्त. करण है, अर्थात् भीतर की इन्द्रिय है उसके रहने न रहने से जड–चेतन का भेद नही है किन्तु केवल पाँच वाह्य ज्ञानेन्द्रियो के रहने से चेतन और न रहने से जड का व्यवहार किया जाता है। यह केवल व्यवहारिक दशा है। किन्तु पारमार्थिक विज्ञान मे कोई भी पदार्थ विना मन के सिद्ध नही होता अतः सचेतन है। इस प्रकार ज्ञान, क्रिया, अर्थ का और मन, प्राण, वाक् का साहचर्य सिद्धान्त रूप से यहा तक निरूपण हुआ।

मन, प्राण और वाक् का अधिकार अर्थात् पदार्थों में उपयोग

प्रत्येक वस्तु मे मन 'अभिमानी' रूप से रहता है अर्थात् मैं अमुक हूँ यह यदि वह पदार्थ दावा करे तो वह मन के भाग मे होता है। आर्य लोगो के मत मे जगत् की प्रत्येक वस्तु मे मन होना सिद्ध किया जा चुका है। उसी के अनुसार वहती हुई गङ्गा मे जो वाक् अर्थात् मन का अंश है और जिसमें वहने की क्रिया है उसमे कोई मन का भाग है उस ही भाग को गङ्गा के अभिमानी देवता या नाम करके सभी लोग गङ्गा की पूजा करते है। पीपल, तुलसी आदि जहा जहा जड पदार्थो मे प्रतीक उपासना का नियम किया गया है उन सव ही स्थानो मे अभिमानी देवता की ही उपासना की जाती है। और वह अभिमानी मन का भाग है। यही वात शारीरकभाष्य सूत्र मे व्यासजी ने कहा है—'अभिमानीव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्' अर्थात् उपासना मे अभिमानी का व्यवहार होता है।

इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में प्राण 'अधिष्ठाता' अर्थात् उस वस्तु का स्वरूप सरक्षक बनकर उस वस्तु को बाहर-भीतर सर्व प्रकार से पकडे हुए उस पर आधिपत्य करता है। जैसे सेनापति सेना के प्रत्येक अङ्ग पर अपना अधिकार रखता है उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु के भूतमात्रा पर यह प्राण अधिकार रखता है यही उसका 'अधिष्ठातृ' पना है। यदि इस वस्तु मे से प्राण कुछ अ श निकाल दिया जाय तो उस वस्तु का पहले के अनुसार रूप नही रहेगा। दूसरे प्रकार के प्राण आने से वस्तु भी बदल कर दूसरे प्रकार की हो जाती है जैसे लकडी जलने पर कोयला या राख हो जाती है। राख मे भी प्राण है किन्तु लकडी का प्राण निकल जाने से अब लकडी का रूप नही रह सकता यही उस लकडी के प्राण का अधिष्ठातृपना है।

इसी प्रकार वाक् प्रत्येक वस्तु मे 'अधिष्ठान' रूप से रहता है अर्थात् यदि वाक् का भाग न रहे तो प्राण या मन दोनो ही नही रह सकते। उन दोनो का आश्रय यही वाक् है अत. इसको अधिष्ठान कहते है।

तात्पर्य यह है कि अभिमानी, अधिष्ठाता और अधिष्ठान ये तीनो मिलकर एक वस्तु का स्वरूप बनते हैं। इन तीनो का एक ही नाम रहता है। जैसे जल का भाग और उसके अन्तर्गत प्राण का भाग और अभिमानी देवता का भाग इन तीनो को गङ्गा शब्द से बोला करते है। इसका कारण यह है कि इन तीनो मे एक के भी न रहने से वस्तु स्थिति नही रह सकती।

अब दूसरा अधिकार इस प्रकार है

जगत् मे जितने प्रकार के कर्म या क्रियायें होती है उनका ब्रह्म वाक् भाग है। वाक् का ब्रह्म प्राण है और प्राण का ब्रह्म मन है। ब्रह्म उसको कहते हैं कि कोई वस्तु जिसके आश्रय से रहे जिससे पकडा हुआ हो और जहा से बढा करे, क्रियायें वाक् के आश्रय से देखी जाती है। अँगुली के आश्रय से हिलने की क्रिया होती है वह क्रिया अँगुली मे पकडी हुई है और अँगुली ही उठती रहती है अत यह अँगुली उन क्रियाओ का ब्रह्म है परन्तु वह वाक् अर्थात् अँगुली बनाने वाले प्राण के आधीन है। यदि अँगुली का प्राण सब निकल जाय तो अँगुली का रूप नष्ट हो जावेगा। यह अँगुली उसी प्राण के आश्रय से है, उसी से पकडी हुई है और उसी प्राण से इस रूप में बनी है, अतः प्राण उसका ब्रह्म है किन्तु यह प्राण किसी मन के आश्रय से रहता है और उससे पकडा हुआ है और उस मन की आज्ञा से बढकर काम करने लगता है। इसलिए मन उस प्राण का भी ब्रह्म है। इन तीनो मे इस प्रकार मन मे प्रधानता सिद्ध होती हैं।

तीसरा अधिकार

इस जगत् मे प्रत्येक वस्तु के स्वभाव के लिये तीन भाव नियत हैं—ब्रह्म, क्षत्र और विट्। इन तीन भावो का सम्बन्ध इन ही तीनो सत्यो मे समझना चाहिए।। इनमे मन ब्रह्म है, प्राण क्षत्र है और वाक् विट् है क्योकि मन मे ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञान उत्पन्न होने वाली जितनी वृत्तिया हैं उनको ही ब्रह्म कहते है। प्राण अर्थात् बल मे कर्म उत्पन्न होता है अतः बल से सम्बन्ध रखने वाली जितनी वृत्तिया है उनको क्षत्र कहते हैं। वाक् से अर्थ उत्पन्न होता है, अर्थ सम्पत्ति मे सबध रखने वाली जितनी वृत्तियां हैं उनको विट् कहते हैं। इन्ही तीनो भावो की उपासना करने वाले मनुष्य समाज के

विभाग को क्रमश ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कहते हैं। जिस प्रकार वैश्य का नियोजक या प्रवर्तक क्षत्रिय होता है। और क्षत्रियो का नियोजक ब्राह्मण होता है। इसी प्रकार प्राण वाक् का नियोजक है और प्राण का मन है किन्तु ब्राह्मण और वैश्य दोनो किसी क्षत्रिय का आश्रय लेकर अपनी स्थिति रखते हैं या अपना योगक्षेम पाते हैं। उसी प्रकार मन और वाक् ये दोनो भी प्राण का ही आश्रय लेकर अपनी स्थिति पाते हैं। प्राण ही तीनो मे विशिष्ट अर्थात् सरदार है।

चौथा अधिकार

मन से सोम की, प्राण से अग्नि की और वाक् से आप् की उत्पत्ति है। ये तीनो रस हैं। इनमे सोम रस से चन्द्रमा की, अग्नि रस से सूर्यपिण्ड की और आप् रस से पृथ्वीपिण्ड की उत्पत्ति है। और सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी से सपूर्ण जगत् के पदार्थ उत्पन्न हुए हैं अत कहना होगा कि सम्पूर्ण विश्वमण्डल मन, प्राण और वाक् से उत्पन्न हुआ है इनमे भी आपोमय पृथ्वी मे अग्नि और सोम भरे हैं, अग्निमय सूर्य मे अग्नि और सोम है और सोममय चन्द्रमा मे अग्नि और आप् है।

पांचवाँ अधिकार

जगत् मे जो कुछ जहा उत्पन्न हुआ है उसके तीन विभाग हैं—अन्न, अन्नाद और आवपन। ये तीनो ही सर्वदा मिले रहते हैं। न अन्न का कभी नाश होता है और न बिना अन्न के कभी अन्नाद रहता है और ये दोनो जिस सीमा के अन्तर्गत रहकर अन्न का भोजन अन्नाद करें उसी क्षेत्र को आवपन कहते हैं। जगत् मे जहा जो कुछ पदार्थ हैं सर्वत्र यही व्यवस्था है कि किसी आवपन अथवा किसी क्षेत्र मे रहकर एक दूसरे को भक्षण करते हैं। जैसे हमारी आत्मा इस शरीर मे रहकर इस जगत् मे से सात प्रकार के अन्न सदा खाया करती है—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, शब्द, बल या क्रिया और ज्ञान उसी प्रकार और-और पदार्थ भी कुछ न कुछ अन्न खाते रहते है। प्रत्येक पदार्थ मे ये तीनो भाव मन, प्राण और वाक् के कारण से है। इनमे मन आवपन, प्राण अन्नाद और वाक् अन्न हैं। यह प्राण मन रूपी क्षेत्र आकाश मे बैठा हुआ अपने वाक् को अपने अन्दर लेकर सर्वदा दूसरे प्रजापति के वाक् भाग को अपने उदर मे करने का यत्न करता हुआ खाता रहता है। प्राण के रहने के आकाश को ही मन कहते है। मन एक प्रकार का ऐसा आकाश है कि जिसमे प्राण भरा रहता है और वह वाक् को खाया करता है। जिस प्रकार ब्रह्माण्ड रूपी आकाश मे फैला हुआ सूर्य का तेज अर्थात् अग्निभाग पानी को खाया करता है उसी प्रकार यह समझना चाहिये।

छठा अधिकार

मन की क्रिया को इच्छा कहते है और प्राण की क्रिया को तप और वाक् की क्रिया को श्रम कहते है। हम देखते है कि प्राणी जब कुछ इच्छा करता है तो उस इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिये उसके अन्दर कुछ यत्न होता है यत्न होते ही हाथ, पाव आदि की शरीर मे कुछ चेष्टा होने लग जाती है। कोई भी चेष्टा बिना यत्न के नही होती और यत्न बिना इच्छा के नही होता। इच्छा मन का कर्म है, यत्न शरीर के अन्दर प्राण का कर्म है और श्रम शरीर के बाह्य भूतो का कर्म है। अब इन तीनो भाग

पूरे न हो लेवे तब तक जगत् मे किसी भी कर्म का रूप सिद्ध नही होता। यद्यपि यह बात चेतन मे ही देखने मे आती है, जड पदार्थों मे होते हुए इच्छा और यत्न का हम कुछ भी अनुभव नही करते, तथापि मनुष्य चेतन के दृष्टान्त से ही अनुमान करना पड़ता है कि उनमें भी वायु आदि की प्रेरणा के बिना ही अपने आप यदि कुछ क्रिया हुई है तो अवश्य उसने यत्न किया है और उस यत्न के लिये उसने इच्छा भी की है। जैसे किसी वृक्ष के पास उगी हुई वल्लिका उस वृक्ष की तरफ झुकती है और उसको पकड कर उसके चारो ओर लिपटती हुई ऊपर बढने लगती है। अतः अनुमान करते है कि उसके निर्बल होने के कारण स्वय सीधी खडी होने के लिये असमर्थ होकर अवश्य एक बलवान् का आश्रय ढूढने लगती है और पास मे वृक्ष को पाकर उसका आश्रय लेने का यत्न करके प्रबल इच्छा से अपने शरीर को उधर झुकाती है। इसी क्रिया से हम उस लता में इच्छा और यत्न का भी अनुमान करते है।

इस प्रकार इच्छा, तप और श्रम सर्वत्र पाये जाते है और तीनो मन, प्राण और वाक् के सम्बन्ध से है।

इस प्रकार वैकारिक रूढ दर्शन यहाँ समाप्त होता है।

३–योगरूढ

प्रजापति–रूप–निरूपण सूत्र

सब से प्रथम जिनका प्रादुर्भाव हुआ ऐसे तीन सत्य अर्थात् मन, प्राण, वाक् इनसे तीन धातु वाला जो प्रथम पदार्थ कोई प्रगट हुआ उसी को प्रजापति कहते हैं—इस जगत् मे जहाँ जो कुछ दीखता है बडे से बडा पदार्थ और उसके अन्दर छोटे से छोटा पदार्थ सबको एक-एक प्रजापति समझना चाहिये। इस प्रकार अनन्तानन्त प्रजापति एक जगत् के रूप बन गये है इनमे प्रत्येक प्रजापति, मन, प्राण, वाक् का समवाय मात्र है इसीलिये प्रत्येक प्रजापति का नाम "ओम्" है इस ओम् अक्षर मे जितना सा ध्वनि का भाग है जो कान से पकडा जाता है और जिसके द्वारा एक वर्ण दूसरे वर्णों से अपनी भिन्नता रखता है वही भाग वाक् है और जो उसमे स्वर का भाग है जिसके द्वारा चढाव उतार वा उच्चारण मे तीव्रता या कोमलता भी अर्थात् ऊँची आवाज या धीमी आवाज आदि जो अन्तर किया जाता है वही इसमे प्राण का भाग है और ओम् शब्द को सुनकर उसके द्वारा जो किसी अर्थ पर मेरी बुद्धि दौड जाती है वही इसमे मन का भाग है। यद्यपि ये तीनो भाग प्रत्येक शब्द मे हो सकते है और इसी से बिना सकोच हम प्रत्येक शब्द को प्रजापति का नाम भी कह सकते हैं तथापि उन शब्दो मे से विशेषकर ओम् शब्द को इस कारण प्रजापति के नाम से कहा है कि प्रजापति के बहुत से धर्म इस ओम् शब्द मे दिखाई देते है जिसका वर्णन उपासना प्रकरण मे आगे विस्तार पूर्वक किया जायगा।

यह प्रजापति जो एक प्रकार का [illegible] है [illegible]
और दूसरा "निरुक्त" । जिसका दिग्, देश, [illegible] [illegible]
है और उसको "निरुक्त" कहते है । किन्तु जिसका [illegible] [illegible]
परिच्छेद (हदन्वदी) न हो सकती हो वही अखण्ड, [illegible] [illegible]
अनिरुक्त कहते है अनिरुक्त कहते पदार्थ को वस्तु सत्ता [illegible] [illegible]
द्वित्व आदि सख्या नही कह सकते और यदि किसी पदार्थ मे [illegible] [illegible]
फरक किया जावे तो वह उस वस्तु की "निरुक्ति" होगी—[illegible]
मे भेद और सख्या पाते हैं इसलिये ये सब निरुक्त है किन्तु यह निरुक्त [illegible]
से ही उत्पन्न हुए है इन सब का मूल अवश्य कोई अनिरुक्तरूप है—यद्यपि [illegible]
नही कर सकते किन्तु उसके होने का हम दृढ विश्वास रखते है। क्योंकि [illegible]
शील है इसलिये इनका किसी मूलतत्व पर ठहराव अवश्य मानना होगा कि [illegible]
सिलसिला अभङ्गरूप से प्रवर्तमान है (जारी रहता है) उस अनिरुक्तरूप में मन, [illegible]
उन्मुग्ध रूप से रहते है अर्थात् जो भेद मन, प्राण, वाक् मे छिपे हुए भेदो मे [illegible]
किसी समय न थे । तीनो एक रूप मे जब थे उसी रूप को हम "अनिरुक्त" कहते है। [illegible]
यह निरुक्तरूप प्रकट हो गया है, जिसमे हम मन, प्राण, वाक् को पृथक्-पृथक् देखते है—[illegible]
मे अनिरुक्त का विशेप प्रकार से वर्णन न करके निरुक्त भाग का ही विशेप रूप से वर्णन [illegible]
करते है ।

मन, प्राण, वाक् इन तीनो के समुच्चय से जो प्रजापति का त्रिधातु रूप सिद्ध होता है वही [illegible]
सन्निवेश क्रम से त्रिपर्वा होता है—नाभि, मूर्ति और महिमा—इनमे नभ्य भाग मन प्रधान होता है और
मूर्ति वाक् प्रधान होती है और महिमा प्राण प्रधान होता है यद्यपि इन तीनो पर्वो के मिलने मे [illegible]
प्रजापति का रूप सिद्ध होता है तथापि व्यवहार इन तीनो के सम्बन्ध से तीन प्रजापति भी कहे जाते है,
नभ्य, व्याकृत और सर्व, केवल नाभि भाव को नभ्य कहेगे किन्तु नभ्य और मूर्ति दोनो को एक साथ
व्याकृत कहते हैं इसी प्रकार नाभि, मूर्ति और महिमा तीनो को एक साथ सर्व प्रजापति कहते है ।

इन तीनो मे प्रधान व्याकृत है क्योकि इनमे जो मूर्ति भाग है उसी का कर्म रूप नाम से व्याकरण
होता है और उसी को हम अपनी दृष्टि से स्पष्ट देख सकते है । जो कुछ वस्तु हम देख रहे है यह सब
व्याकृत मूर्ति के जो नाभि अर्थात् केन्द्र है उसमे जो शक्ति रहती है वह अनिरुक्त प्रजापति का अंश है,
वह भाग यथार्थ मे अज्ञात और अनिर्वचनीय है किन्तु सर्व प्रजापति की शक्तिया वही से निकलकर अपना-
अपना कार्य करती है और वही वस्तु का भार केन्द्र है उस नभ्य के लिये वेद मे कहा है—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥

(यजु संहिता ३१/१९)

पूरे न हो लेवें तब तक जगत् मे किसी भी कर्म का रूप सिद्ध नही होता। यद्यपि यह बात चेतन मे ही देखने में आती है, जड़ पदार्थों में होते हुए इच्छा और यत्न का हम कुछ भी अनुभव नही करते, तथापि मनुष्य चेतन के दृष्टान्त से ही अनुमान करना पड़ता है कि उनमे भी वायु आदि की प्रेरणा के बिना ही अपने आप यदि कुछ क्रिया हुई है तो अवश्य उसने यत्न किया है और उस यत्न के लिये उसने इच्छा भी की है। जैसे किसी वृक्ष के पास उगी हुई वल्लिका उस वृक्ष की तरफ झुकती है और उसको पकड़ कर उसके चारो ओर लिपटती हुई ऊपर बढ़ने लगती है। अतः अनुमान करते है कि उसके निर्बल होने के कारण स्वय सीधी खड़ी होने के लिये असमर्थ होकर अवश्य एक बलवान् का आश्रय ढूंढने लगती है और पास मे वृक्ष को पाकर उसका आश्रय लेने का यत्न करके प्रबल इच्छा से अपने शरीर को उधर झुकाती है। इसी क्रिया से हम उस लता में इच्छा और यत्न का भी अनुमान करते है।

इस प्रकार इच्छा, तप और श्रम सर्वत्र पाये जाते हैं और तीनों मन, प्राण और वाक् के सम्बन्ध से है।

इस प्रकार वैकारिक रूढ दर्शन यहाँ समाप्त होता है।

३–योगरूढ

प्रजापति–रूप–निरूपण सूत्र

सब से प्रथम जिनका प्रादुर्भाव हुआ ऐसे तीन सत्य अर्थात् मन, प्राण, वाक् उनसे तीन धातु वाला जो प्रथम पदार्थ कोई प्रगट हुआ उसी को प्रजापति कहते है—इस जगत् मे जहाँ जो कुछ दीखता है बडे से बडा पदार्थ और उसके अन्दर छोटे से छोटा पदार्थ सबको एक-एक प्रजापति समझना चाहिये। इस प्रकार अनन्तानन्त प्रजापति एक जगत् के रूप बन गये हे इनमे प्रत्येक प्रजापति, मन, प्राण, वाक् का समवाय मात्र है इसीलिये प्रत्येक प्रजापति का नाम "ओम्" है इस ओम् अक्षर मे जितना सा ध्वनि का भाग है जो कान से पकड़ा जाता है और जिसके द्वारा एक वर्ण दूसरे वर्णों से अपनी भिन्नता रखता है वही भाग वाक् है और जो इसमे स्वर का भाग है जिसके द्वारा चढाव उतार वा उच्चारण मे तीव्रता या कोमलता भी अर्थात् ऊँची आवाज या धीमी आवाज आदि जो अन्तर किया जाता है वही इसमे प्राण का भाग है और ओम् शब्द को सुनकर उसके द्वारा जो किसी अर्थ पर मेरी बुद्धि दौड जाती है वही इसमे मनका भाग है। यद्यपि ये तीनो भाग प्रत्येक शब्द में हो सकते है और इसी से बिना सकोच हम प्रत्येक शब्द को प्रजापति का नाम भी कह सकते हैं तथापि उन शब्दो मे से विशेषकर ओम् शब्द को इस कारण प्रजापति के नाम से कहा है कि प्रजापति के बहुत से धर्म इस ओम् शब्द मे दिखाई देते है जिसका वर्णन उपासना प्रकरण में आगे विस्तार पूर्वक किया जायगा।

यह प्रजापति जो एक प्रकार का ब्रह्म है उसको प्रथम हम दो भागो मे देखते है—एक "अनिरुक्त" और दूसरा "निरुक्त"। जिसका दिग्, देश, काल सख्या आदि से ग्रहण करे वही किसी वस्तु का निर्वचन है और उसको "निरुक्त" कहते है। किन्तु जिसका इस प्रकार निर्वचन नही होता हो अर्थात् जिसका परिच्छेद (हदन्वदी) न हो सकती हो वही अखण्ड, निष्कल, निर्धर्मिक, पदार्थ अनिर्वचनीय है उसको अनिरुक्त कहते हैं अनिरुक्त कहते पदार्थ को वस्तु सत्ता से ही कह सकते हैं किन्तु उसमे स्वगत भेद और द्वित्व आदि सख्या नही कह सकते और यदि किसी पदार्थ मे कई भेद बताये जावे कुछ धर्म, कुछ धर्मो का फरक किया जावे तो वह उस वस्तु की "निरुक्ति" होगे—इस जगत् मे जहा जो कुछ देखते है उन सभी मे भेद और सख्या पाते हैं इसलिये ये सब निरुक्त है किन्तु यह निरुक्त रूप किसी न किसी अनिरुक्त रूप से ही उत्पन्न हुए हैं इन सब का मूल अवश्य कोई अनिरुक्तरूप है—यद्यपि उसको हम विशेष रूप से ग्रहण नही कर सकते किन्तु उसके होने का हम दृढ विश्वास रखते हैं। क्योकि यह निरुक्तरूप सर्वदा परिवर्तनशील है इसलिये इनका किसी मूलतत्व पर ठहराव अवश्य मानना होगा कि जिस पर यह परिवर्तन का सिलसिला अभङ्गरूप से प्रवर्तमान है (जारी रहता है) उस अनिरुक्तरूप मे मन, प्राण, वाक् ये तीनो उन्मुग्ध रूप से रहते है अर्थात् जो भेद मन, प्राण, वाक् मे छिपे हुए भेदो से आज हम पाते है वे [illegible] किसी समय न थे। तीनो एक रूप मे जब थे उसी रूप को हम "अनिरुक्त" कहते हैं। उसी अनिरुक्त [illegible] [illegible] यह निरुक्तरूप प्रकट हो गया है, जिसमे हम मन, प्राण, वाक् को पृथक्-पृथक् देखते है—इन दोनो भागो मे [illegible] अनिरुक्त का विशेष प्रकार से वर्णन न करके निरुक्त भाग का ही विशेष रूप से वर्णन करना प्रारम्भ करते हैं [illegible]

मन, प्राण, [illegible] वाक् इन तीनो के समुच्चय से जो प्रजापति का त्रिधातु रूप सिद्ध होता है [illegible] सन्निवेश क्रम से त्रिपर्वा होता है—नाभि, मूर्ति और महिमा—इनमे नभ्य भाग मन प्रधान [illegible] मूर्ति वाक् प्रधान होती है और महिमा [illegible] प्राण प्रधान होता है यद्यपि इन तीनो पर्वो के [illegible] प्रजापति का रूप सिद्ध होता है तथापि [illegible] व्यवहार इन तीनो के सम्बन्ध से तीन प्रजापति [illegible] नभ्य, व्याकृत और सर्व, केवल नाभि भाव को नभ्य कहेगे किन्तु नभ्य और मूर्ति [illegible] व्याकृत कहते है इसी प्रकार नाभि, मूर्ति और महिमा तीनो [illegible] एक साथ सर्व प्रजापति [illegible]

इन तीनो मे प्रधान व्याकृत है क्योकि इनमे जो मूर्ति भाग है उसी [illegible] होता है और उसी को हम अपनी दृष्टि से स्पष्ट देख सकते है। जो कुछ [illegible] व्याकृत मूर्ति के जो नाभि अर्थात् केन्द्र है उसमे जो शक्ति [illegible] वह भाग यथार्थ मे अज्ञात और अनिर्वचनीय है किन्तु सर्व प्रजापति [illegible] अपना कार्य करती है और वही वस्तु का भार केन्द्र है उस [illegible]

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥

([illegible])

अर्थात् प्रजापति गर्भ में रहता है वह जायमान नहीं है अर्थात् उत्पन्न नहीं हुआ है किन्तु वह बहुत तरह पर उत्पन्न करता है उसके निज का स्थान विद्वान् लोग ही देख पाते है। उसी प्रजापति के आधार पर सब भुवन (भुवन से तात्पर्य मूर्ति और महिमा है) ठहरे है। ये ऋचा नभ्य प्रजापति जो मूर्ति की नाभि में रहता है उसके लिये है किन्तु दूसरा भाग जो मूर्ति है वही नभ्य के साथ मिलकर व्याकृत प्रजापति कहलाता है उस प्रजापति की मूर्ति मे चारो ओर नाना प्रकार के गौ अर्थात् किरणें निकलकर चारो ओर दूर तक फैलती है। जिन किरणो के तीन भेद है—वेद, यज्ञ, रस। इनके अतिरिक्त सूर्य की किरणे भी उनमें सम्मिलित होकर चारो ओर बाहर फैलती है उन ही के कारण वेद उस मूर्ति का रूप बनाता है। उन ही गौओ को चारो ओर फैलाते हुए व्याकृत प्रजापति के लिये यह ऋचा है।

"प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो, विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः।
शिवाः सतीरूपा नो गोष्ठमाकस्तासां वय प्रजया संसदेम ।।

(ऋ० १०।१२।१६६)

अर्थ यह है कि प्रजापति मेरे लिये गौ देता है सभी देवता और पित्रो से मेल कर के बहुत उत्तम होती हुई उन गौओ मे हमारी गौशाला का उपकार करते है उन गौओ की प्रजाओ से हम सपन्न होते है, यह अर्थ सायण भाष्य का है अधिक विचार करने से दूसरा अर्थ इस प्रकार भासता है कि प्रत्येक वस्तु की आत्मा ही प्रजापति है वह प्रजापति सब ही देवताओ से अर्थात् सूर्य के प्राणो से और पित्रो से अर्थात् चन्द्रमा के प्राणो से मेल करके अपनी किरणो को प्रति फल रूप मे हमारी दृष्टि पर भेजता है जिससे गोष्ठ अर्थात् किरण रूपी गौओ की टिकने की जगह हमारी चक्षुका उपकार होता है। जो सूर्य चन्द्रमा की रश्मि रूपी गौ वस्तुओ पर आये थे। उनके प्रतिफल होने पर उन गौओ की प्रजा जो उस वस्तु के रूप मे बनी हुई वस्तु है जिनमे हम सम्पन्न होते है अर्थात् अपने ज्ञान को बनाते है। इस प्रकार व्याकृत प्रजापति का प्रमाण सिद्ध होता है।

इस व्याकृत प्रजापति के चारों ओर जो वेद, यज्ञ, रस, से एक अदृष्टमण्डल बनता है जिसको व्याकृत प्रजापति की महिमा कहते है। उस महिमा समेत यह जो एक धर्मी बना है उसको सर्व प्रजापति कहते है प्रजापति का कोई भी भाग अवशिष्ट नही बचता। इसीलिये इसको सर्व प्रजापति कहते है, इसके लिये ऋचा है।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो, विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत् कामास्ते जुहुमस्तान्नो अस्तु, वयम्, स्याम पतयो रयीणाम् ।।

(यजु० स० २४।६५)

अर्थ है प्रजापति ! आप से भिन्न कोई भी उन पैदा हुई जगत् की अखिल वस्तुओ के चारो ओर नहीं है अर्थात् प्रत्येक पैदा हुई वस्तुओ के चारो ओर केवल आप ही आप दीखते है इसलिये हम जिस कामना से हुत हवन करते है वह मेरा काम होना चाहिये सपदाओ के स्वामी हम होवें। उस ऋचा से तात्पर्य इतना ही है कि जो-जो वस्तु हमे दीखती है वे व्याकृतरूप है किन्तु उनके चारो ओर जो महिमा फैली हुई

है वह भी एक प्रजापति का रूप है उस महिमा के द्वारा प्रजापति [illegible]
रहता है इसीलिये जब तक वह महिमा का प्रजापति मेरी [illegible]
नहीं प्राप्त कर सकते हम जो किसी वस्तु पर प्रभुत्व रखते है सो उस महिमा के द्वारा [illegible]
को पाकर ही करते हैं इसलिये हम किसी वस्तु के पाने की अभिलाषा से [illegible]
किसी वस्तु पर डालते हैं यदि वह महिमा न होती तो दृष्टि देने पर भी [illegible]
यही विज्ञान उस ऋचा मे कहा गया है।

वेद, यज्ञ और रस से बने हुए देवता सर्वप्रजापति के ही अङ्ग हैं [illegible]
होने से प्रजापति है। इसी प्रकार यज्ञ और रस मे सब देवता भी प्रजापति ही [illegible]
सृष्टि होने पर प्रजापति का जो सन्निवेश है उसके द्वारा विभाग करके प्रजापति [illegible]
किन्तु वास्तव मे प्रजापति का रूप केवल मन, प्राण, वाक् इन तीनों धातुओं से [illegible]
त्रिधातुपन प्रजापति का सृष्टि से पहले भी था, आज सृष्टि दशा मे भी वैसा ही [illegible]
अविनाशी है और त्रिपर्वारूप उसका केवल सृष्टिकाल मे ही है, त्रिधातु रूप [illegible]
है। किसी किसी का मत है कि वास्तव मे प्रजापति केवल मन रूप मे ही [illegible]
और आकाश के सदृश शान्त है किन्तु उसमे इच्छा प्रवृति के कारण [illegible]
उत्पन्न हो जाया करता है जैसा आज भी किसी काम के करते समय कोई मनुष्य [illegible]
इच्छा के अनुसार कम बल या अधिक बल लगाया करता है ये बल [illegible]
हुआ न था केवल इच्छा से कम या अधिक उसी मन मे प्रकट हो जाता है। [illegible]
सपूर्ण विशाल जगत् के रूप मे हमे दीखता है किसी समय उद्भूत न था केवल [illegible]
का रूप था उसी मे से ये बल याने प्राण प्रकट होकर मन और प्राण दोनों [illegible]
फिर प्राण मिलकर घनरूप मे आकर वह प्राण, वाक् बन गया और तब मन, प्राण, वाक् [illegible]
प्रजापति के रूप हो गये-अभी तक यह निश्चित नही हुआ है कि मन से प्राण [illegible]
हुए है अथवा मन, प्राण, वाक् ये तीनो ही नित्य है।

आदि प्रजापति सूत्र

सबसे प्रथम जो प्रजापति प्रादुर्भूत हुआ वह असीम और अनन्त है [illegible]
के समुच्चय से उसका रूप बना हैं उनमे एक भी उस प्रजापति के शरीर से [illegible]
रहा है, और उन मन, प्राण, वाको का परिमाण किसी प्रकार भी [illegible]
के अनन्त होने के साथ जगत् के धातु स्वरूप उन तीनो को भी अनन्त ही [illegible]
आदि प्रजापति को भी जो इस विशाल जगत् के रूप मे [illegible]
ही ठहरता है।

यह आदि प्रजापति ही अन्य सब प्रजापतियो की योनि अर्थात् उत्पत्ति स्थान [illegible]
प्रजापति उत्पन्न हुए हैं। उत्पन्न हुए उन प्रजापतियो मे भी [illegible]
की योनि होता रहता है-तात्पर्य यह है कि जो जहां कुछ हम देखते [illegible]

ही एक प्रजापति से उत्पन्न हुए हैं और इनके कारण प्रजापति भी दूसरे किसी प्रजापति से उत्पन्न हे। प्रजापति मे प्रजापति उत्पन्न होता हुआ अनन्त प्रजापतियो का ढेर ये विशाल जगत् भी स्वय एक प्रजापति है। इससे हम कह सकते हैं कि आदि प्रजापति कोई एक है, किन्तु उनके उदर मे बहुत से प्रजापति और उन प्रत्येक प्रजापति के भी उदर मे अनेक प्रजापति होकर अनन्त प्रजापति हैं। इनमे यदि आदि प्रजापति को एक परमेश्वर और बीच वाले कितने ही प्रजापतियो को ईश्वर तथा क्षुद्र प्रजापतियो को जीव कहें, तो कह सकते हैं।

इनमे आदि प्रजापति के शरीर बनाने वाले तीनो धातु अर्थात् मन, प्राण, वाक् किसी असाधारण रूप मे होकर इस जगत् मे दीखते है जिनको क्रम से रस, बल और अम्व कहते हैं। इनका आदि रूप ही रस है और कारण आदि रूप बल है और वाक् का प्रथम स्वरूप अम्व है। इनमे रस को आभु, बल को तुच्छ, और अम्व को माया भी कहते है।

किसी-किसी का मत है कि ये तीनो भी क्रम से उत्पन्न हुए हैं इनमे सबसे प्रथम जो किसी आदि युग मे सर्वथा प्रशान्त भाव था जिसमे अभी तक कोई भी क्रिया उत्पन्न नही हुई थी उस प्रशान्त रूप को आनन्द समझना चाहिए। आनन्द के दो लक्षण हैं शांति और समृद्धि जब कि क्षुद्र आत्मा भूमा की ओर जावे अर्थात् उसमे कुछ आत्मा की वृद्धि हो उस समय आनन्द का अनुभव होता है किन्तु वह आनन्द कुछ क्षण तक रहता है फिर आत्मा बढकर अपनी शान्ति मे आजाता। यदि आत्मा मे किसी प्रकार का क्षोभ कोई उपद्रव या हल चल न हो तो उस समय आत्मा शान्ति मय आनन्द रूप रहता है। जैसे गहरी नींद में सोकर उठने के बाद उस समय के आनन्द का स्मरण करता है इन दोनो आनन्दो मे वह शान्ति का आनन्द ही मुख्य है। वही आनन्द सृष्टि के आदि में किसी समय था। अर्थात् उस समय मन से किसी प्रकार का प्राण उत्पन्न न हुआ था, उस समय के मन को आनन्द होने के कारण "रस" कहते हैं। रस आनन्द का ही नाम है। अब भी जगत् मे जब किसी-किसी बात मे कुछ रस मिलता है तो आनन्द आता है इसलिये आनन्द और रस एक वस्तु है उसी रस मे पश्चात् बल अनन्त रूप में उत्पन्न होत है। बल कितने प्रकार के है वह आज तक भी निश्चित नही हुआ है। ये बल प्रत्येक वस्तु मे भिन्न भिन्न शक्ति के नाम से अनन्त रूप मे देखे जाते है, इनही बलो के परस्पर मिलने परस्पर आघात प्रत्याघात से एक नया भाव उत्पन्न हो जाता है, वही अम्व कहलाता है। इस मत मे अम्व सभी बलो से और बल सभी रस से उत्पन्न हुए माने जाते है, किन्तु वास्तव मे शुक्ल यजु का मत है कि ये इनका प्रभव स्थान है जैसे दही मे से घी तिल मे से तेल निकला करता है उसी प्रकार मन मे सर्वदा वर्तमान बल ही समय-समय पर प्रादुर्भूत होता रहता है ये तीनो नित्य है स्वतन्त्र हैं।

वह रस जो मन का मुख्य रूप है (१) अप्रवर्ती है (प्रवर्तित) दूसरी जगह सरकने वाला जैसे वायु अर्थात् विकृत नही होता और (२) आयतन है अर्थात् प्राण और वाक् के लिये कम करने का क्षेत्र है अब वह मन या रस (३) भूमा है अर्थात् अपना असीम स्वरूप रखता है इसीलिये अनन्त है। (४) आकाश के सदृश अत्यन्त सूक्ष्म है। जिस प्रकार आकाश प्रत्येक वस्तु के भीतर बाहर समान भाव से रहता हैं और कोई भी घन पदार्थ अपनी घनता मे आकाश को रोक नही सकता यदि घडे का मुख बन्द करके कही

ले जावे तो उस के अन्दर मे आकाश निकलता प्रवेश [illegible]
है उसके के अन्दर भी आकाश है । हम देखते है लवण या शर्करा को [illegible]
उनके प्रत्येक परमाणु अपने रूप रस को छोड कर पानी के रूप मे आ जाते है । [illegible]
जल के परमाणुओ मे घुलकर एक हो जाते है । इससे सिद्ध है कि उन मे भी आकाश है । [illegible]
वस्तु मे आकाश है और आकाश मे प्रत्येक वस्तु है, ठीक उसी प्रकार [illegible]
उसको कोई भी घन पदार्थ अपनी घनता से रोक नही सकते प्रत्येक प्राण और वाक् मे [illegible]
रस मे ही प्राण और वाक् रहते है इसीलिये रस या मन को आकाश की तुलना मे [illegible]
ये रस या मन अक्षुब्ध रूप है अर्थात् किसी प्रकार का हलचल होना [illegible]
आकाश के अनुसार ये सदा प्रशान्त रूप मे रहते है और ये रस या मन (६) [illegible]
इन से परिच्छिन्न नही होते । इस रस मे अपूर्व बल जो पूर्व मे न था सो [illegible]
है, किन्तु इस नये बल पदार्थ के उत्पन्न होने मे उस मन का तनिक भी कोई [illegible]
कोई विकार ही होता है आश्चर्य के साथ कहना पडता है कि [illegible]
उत्पन्न होकर उसी रस मे फिर विलीयमान हो जाता है । यह कैसे होता है [illegible]
अनुभव करने से यह सहसा देखने मे आता है, इसलिये आश्चर्य होते हुए भी [illegible]
व्यक्त होना मानना पडता है ।

यद्यपि यह रस (८) भूमा है अर्थात् असीम है तथापि उसमे जो बल उत्पन्न होता है [illegible]
बडा अनेक प्रकार के खण्ड रूपो मे ही देखा जाता है । ये बल संख्या मे अनन्त होते हुए भी [illegible]
से बडा खण्ड असीम नही है छोटा हो या बडा हो वह कुछ न कुछ अपना आयतन [illegible]
बडो मे इतना बडा है कि जिससे एक एक ब्रह्माण्ड का काम चल रहा है और छोटे मे [illegible]
अग्नि वायु के परमाणु जो दृष्टि मे नही आते वे सब उसी के एक एक रूप है ।

इन बलो मे बडे बडा या छोटे से छोटा कोई बल ऐसा नही है जो रस के बिना [illegible]
इसलिये बल के आयतन के अनुसार उस रस का भी आयतन कल्पित हो जाता है [illegible]
भूमा के साथ साथ बल के सबन्ध से (९) अणिमा भी उत्पन्न हो जाती है ये बल [illegible]
सर्वथा असत् है वह सर्वदा सत् रूप इस रस का आश्रय पाकर सत् रूप मे [illegible]
किन्तु इस प्रकार रस के आश्रय से सत् बना हुआ भी बल कदापि [illegible]
जबकि इस प्रकार के बल दो तीन या चार अथवा अनन्य आपस मे मिलते है तो [illegible]
से एक नया रूप उनमे आ जाता है वही (१०) वाक् कहलाने योग्य होता है, [illegible]
अपना प्रभाव डालकर कोई नई वस्तु उत्पन्न करता है उसी नई वस्तु [illegible] (११) [illegible]
देखते हैं कि कोई भौतिक परमाणु आकाश के जितने आयतन मे रहता है [illegible]
न जाय, जब तक उस आयतन मे दूसरा भौतिक परमाणु प्रवेश नही कर सकता [illegible]
नही यह बल दो चार क्या प्रत्युत सौ या हजार तक एक [illegible]
इनके ससर्गों के भी अनेक भेद हैं, जिनके कारण कभी-कभी [illegible]
तीय विजातीय भेद अथवा बहुत्व की सत्ता भी नष्ट होकर [illegible]

है। इस प्रकार बलों के परस्पर सबन्ध से जो प्रथम कोई तत्व बना है उस को हम अभ्व कहते हैं। जब कभी कहीं हम किसी अर्थ को देखते हैं तो वह अर्थ क्या है केवल रस और उस पर सैकडो प्रकार के बलों का यह एक घन मात्र है। बलो की भिन्नता अथवा बलो के परस्पर ससर्ग की न्यूनाधिकता अथवा ससर्ग की विचित्रता के कारण ये सब अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार के भले ही दीखें किन्तु सभी अर्थ रस मे बलो का संग्रह रूप है। इसमें सन्देह नही इनमें रस के कारण एकत्व की प्रतीति होती है किन्तु बलो की न्यूनाधिकता के कारण एक ही वस्तु मे भिन्न-भिन्न अवस्था वा अनेक परिवर्तन दीखा करते हैं, यही इस जगत का रूप है किन्तु इन अर्थो पर सबसे प्रथम उत्पन्न होने वाला अभ्व सर्वत्र नियम से रहता है।

अब इस अभ्व का यदि हम विचार करें तो यह तीन प्रकार का प्रतीत होता है — १– कर्म, २ रूप, ३–नाम, ये तीनो ही जीव मे वा ईश्वर से सम्बन्ध नही रखते किन्तु इनका शुद्ध निर्विकार परमेश्वर मे सम्बन्ध है आगे इस बात का विस्तार पूर्वक वर्णन होगा कि ईश्वर का शरीर त्रैलोक्यमय है, इसीलिये जीव का भी शरीर तीन लोक से बना हुआ है जीव और ईश्वर इन दोनो के शरीर मे जो तीन लोक हैं उसके सब पदार्थ एक दूसरे लोक मे जाया करते हैं वे इस लोक से निकलने के पीछे अवश्य ही किसी दूसरे लोक मे पाये जाते हैं किन्तु ये रूप रङ्गत या वस्तु शक्ति रूप कर्म जब किसी वस्तु से निकल जाते हैं तो उसकी इन तीनो लोक मे कही भी सत्ता नही रहती, वे एक वस्तु से दूसरी वस्तु मे जाते हुए नही दीखते, और जब नये रूप रङ्ग वा शक्ति उत्पन्न होती हैं तो वे भी अकस्मात् कही से आ जाती हैं। तीनों लोक वाली किसी वस्तु से निकलकर आते हुए प्रतीत नही होते। तेल से चराग वा धुआँ बना अथवा लकडी का कोयला वा राख हुआ इनमे पुरानी रङ्गत वा शक्ति कहां से आ गई यह परीक्षा से निश्चित है कि इन जाने आने वाले या नष्ट उत्पन्न हुए इन रूप कर्मो का त्रैलोक्य भर मे किसी दूसरे स्थान मे सत्ता नही है। इसीलिये यह सिद्धान्त हो चुका है कि यह नाम, रूप, कर्म तीनो लोकत्रय से बाहर की चीज हैं, किन्तु जब कि इन तीनो लोको मे भी परमेश्वर की सत्ता व्यापक होने के कारण अवश्य है तो उसी सत्ता से ये अकस्मात् उत्पन्न हो जाते हैं और उसी परमेश्वर की सत्ता मे फिर लीन हो जाते है इसीलिये इन तीनो लोको मे इन तीनो का नष्ट होने पर पता नही चलता जब कि ये तीनो लोको मे नही है तो इसी से यह निश्चित हो चुका कि ये तीनो ईश्वर के शरीर से उत्पन्न नही है। इसीलिये मानना पडता है कि ईश्वर से भी प्राचीन परमेश्वर से इनका सम्बन्ध है, किन्तु ये रूप या शक्ति जगह रोकने वाली है एक रूप दूसरे रूप से एक शक्ति दूसरी शक्ति से विरोध रखती है इसीलिये ये तीनो रस, बल न होकर परमेश्वर के शरीर की वाक् है। यद्यपि वाक् एक है और ये तीन हैं तथापि परमेश्वर के वाक् का प्रथम विकास इन तीनो को कह सकते हैं इस प्रकार रस, बल, नाम, रूप, कर्म रूपी अभ्व ये सब परमेश्वर के शरीर मे सबन्ध रखते हुए प्रथम उत्पन्न होने वाले तत्व हैं, ऐसा जानना चाहिये।

इस प्रकार योगरूढ दर्शन समाप्त हुआ।

यौगिकरुढ़ (वेदसूत)

प्रजापति के स्वरूप का वर्णन हो चुका। स्वरूप से तात्पर्य धातु का [illegible]। [illegible] के सवन्ध मे कोई प्रश्न करे कि इस प्रजापति की स्वरूप [illegible] स्वरूप [illegible] और प्रजापति का जीवन कैसा है और कर्त्तव्य क्या है ? तो इन तीनो प्रश्नो का उत्तर [illegible] प्रजापति। प्रजापति के शरीर की वनावट को ही हम वेद कहते है, [illegible] प्रजापति [illegible] रहता है और प्रजा की उत्पत्ति करना प्रजापति का मुख्य कार्य है। इन तीनो मे प्रजापति [illegible] हमारे सामने साक्षत् हो जाता है। पहले प्रजापति के शरीर मे जो तीन धातु [illegible] अधिकरणो (Department) के सम्बन्ध मे इन तीनो की भी स्थिति है। वेद का [illegible] का प्राण से और प्रजा का वाक् से मुख्य करके माना जाता है।

वेद का निरूपण

पहले कहा जा चुका है कि प्रजापति तीन भाग मे विभक्त होकर स्वरूप [illegible] मूर्ति और महिमा। इनमे नाभि को छोड कर मूर्ति और महिमा पर दृष्टि रखनी चाहिए। [illegible] महिमा के भीतर वेद व्याप्त रहता है। वह वेद तीन प्रकार का है—ऋक्, साम, यजु। [illegible] ऐसा भी कहा है कि ऋक ही प्रजापति की मूर्ति है और साम उसका मस्तक है और [illegible]। तात्पर्य यह है कि प्रजापति तीनो वेद से पृथक कुछ भी नही है। यदि हम प्रजापति को [illegible] वेद को ही देख कर उसको देखेगे। यद्यपि इस वेद के ऋक्, यजु और साम ये ही तीन भेद [illegible] भी तीन-तीन प्रकार के देखे जाते है-रस, छन्द और वितान। इन तीनो के [illegible] सकता है।

१—रस वेद

रस वेद के तीन विभाग है-महोक्थ, महाव्रत, अग्नि। और ये तीनो क्रमश ऋक्, [illegible] भी कहलाते है।

जगत् मे जहाँ जो कुछ दृष्टिगोचर है सब अग्नि ही अग्नि है। अग्नि [illegible] वस्तु के नाम से कहा जाता है। अग्नि के स्वभाव के कारण प्रत्येक वस्तु मे से उस अग्नि का [illegible] सूक्ष्मरूप मे आकर प्रतिक्षण कुछ बाहर निकला करता है। जो [illegible] किसी वस्तु के मूर्ति [illegible] बाहर निकल गया, वह निकला हुआ भाग 'महोक्थ' कहलाता है। इस प्रकार [illegible] जितना अ श कम हो जाता है वह साथ ही बाहर से स्वय आते हुए किसी न किसी [illegible] होता रहता है इसी आते हुए प्राण भाग को 'महाव्रत' कहते है। [illegible] और आए हुए अ श से भी फिर अग्नि ही बन जाया करता है किन्तु इन दोनो क्रियाओ [illegible] हम उस भाग की ओर दृष्टि दें कि जिस भाग मे अग्नि [illegible]

काम हुआ दीखता है वही भाग अग्नि का है वह अग्नि दो प्रकार का है १ चित्य, २ चितेनिधेय। चित्य अग्नि तो मूर्च्छित होकर एक वस्तु का शरीर बनाता है जैसे ईंट व पत्थर का चेजा करके एक दीवार खडी की जाती है। उसी प्रकार अग्नि पर अग्नि का चेजा करके वस्तु का शरीर बनता है। इस प्रकार चेजे मे आये हुए अग्नि को 'चित्याग्नि' कहते है, इस अग्नि को एक प्रकार मूर्च्छित समझना चाहिए या निद्रित। यही मूर्ति अवस्था है किन्तु इसमे दूसरी एक अग्नि जाग्रत् काम करती है और वस्तुए बनाया करती है उसको 'चितेनिधेयाग्नि' कहते है। ये दोनों प्रकार की अग्नि 'यजु' कहलाती है। प्रत्येक वस्तु मे न्यूनाधिक अग्नि का इस प्रकार आवागमन तथा वस्तु स्वरूप निर्माण और अग्नि की गरमी आदि कितने ही भावो का दीखना प्रत्येक वस्तु का स्वभाविक धर्म है अतः कहा जा सकता है कि प्रत्येक वस्तु ऋक् साम और यजु इन तीनो वेदो का समुदाय है।

यजुः के विषय में अनेक ऋषियों के मतभेद

१-जो अग्नि तीनों लोको मे अग्नि, वायु और आदित्य नामो से प्रसिद्ध है उनमे आदित्य अग्नि ही मुख्य है और वही आकाश के अनुरोध से वायु और पृथ्वी के अनुरोध से अग्नि कहा जाता है। यद्यपि आकाश और पृथ्वी के अनुरोध से अग्नि के स्वरूप मे भी कुछ भेद आ गया है तथापि वास्तव मे वह आदित्याग्नि ही मुख्य है और उसी को हम यजुः कहते है।

२-यह अग्नि जिसको हम यजुः कहते है वास्तव मे वायु रूप है क्योकि वास्तव मे यजु यज्जूः से बना है अर्थात् यत्+जूः जिसमे यत् का अर्थ चलने वाला और जूः का अर्थवेग उत्पन्न करने वाला आकाश (पोल) अर्थात् जिस आकाश मे वेग से गति हो सके और जो वेग से गति करने वाला तत्त्व है इन दोनो को एक साथ मिले हुए रूप मे यज्जूः कहते है। इसी का छोटा रूप बनकर यजुः शब्द का प्रयोग होता है। तात्पर्य यह है कि सपूर्ण जगत् मण्डल एक प्रकार का आकाश है जिसमे सर्वत्र एक सूक्ष्म पदार्थ भरा हुआ है जिसको "वायु" कहते हैं। सम्भव है कि इस जगत् मे जो कुछ स्थूल वस्तुए कही २ दीखती हैं अर्थात् सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि सब उसी वायु के घन होने पर पृथक् २ पिण्ड बन गये हो। तात्पर्य यह है कि इन सब पदार्थों का मूल कारण वही तत्व समझ मे आता है जो इस सम्पूर्ण आकाश मण्डल मे सूक्ष्मातिसूक्ष्म वायु रूप मे भरा है। इनमे आकाश स्थिर है और वायु चलता हुआ तत्त्व है। ये दोनो मूल तत्त्व एक साथ रहने के कारण मिले हुए शब्द से यजु. कहलाते है। इसी यजुः मे सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति हुई है और उसी के 'चयन' अर्थात चुनाव होने से सूक्ष्मवायु स्थूलशरीर मे आकर नाना पदार्थ बन गये है अत. इसको अग्नि कहते है क्योकि जिसके चुनाव से सृष्टि की उत्पत्ति हो वही अग्नि शब्द से कहा जाता है। यह मत शाकायनी लोगो का तथा श्रोमत्य ऋषि और हालिङ्गव आदि ऋषियो का भी है। उनका विश्वास है कि यजु. के द्वारा यज्ञ करने वाला मनुष्य परिणाम मे इस वायु रूप मे आकर अपनी स्थिति रखता है अत यह वायु ही यजु है।

साकटायनि ऋषि कहते हैं कि संवत्सर की सृष्टि होती है। जगत् के अग्नि को ही यजु' कहना चाहिये क्योंकि उसी मे ऋतुओं का विभाग होता है और ऋतुओ मे ही जगत् के प्रत्येक पदार्थ अपने २ ऋतु पर ही उत्पन्न हुए प्रतीत होते हैं और जिस मूलतत्त्व मे सपूर्ण जगत् की उत्पत्ति होती हो वही यजुः

शब्द से कहने योग्य अग्नितत्व हो सकता है अतः सम्वत्सराग्नि को ही यजु कहना चाहिए। [illegible] याज्ञवल्क्य ऋषि की भी सम्मति है।

परन्तु यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो यह आदित्याग्नि वा आगामी [illegible] राग्नि तीनो ही अभिन्न रूप मे प्रतीत होते हैं क्योंकि आदित्याग्नि का वा सम्वत्सराग्नि [illegible] सूक्ष्म रूप वही है जो इस सर्वाकाशव्यापी वायुतत्त्व का है अत इन सबों मे कुछ अन्तर नहीं है।

महोक्थ, महाव्रत और अग्नि इन तीनो मे अग्नि प्रधान है क्योंकि सर्वप्रथम अग्नि [illegible] से वस्तुका स्वरूप वनता है फिर उसकी नाभि मे महोक्थ का उत्थान होता है। [illegible] वाहर के महाव्रत से उसकी पूर्ति होती रहती है। इस प्रकार तीनो क्रिया जो होती रहती हैं उनमे [illegible] कारण अग्नि ही है। अतः हम महोक्थ को भी अग्नि कह सकते हैं क्योंकि मन, प्राण [illegible] प्रजापति की जो सन्निवेश क्रम से मूर्ति उत्पन्न होती है उसमे मन नाभि मे रहकर प्राण [illegible] वाक् का परिणाम उत्पन्न करता है वह अग्नि रूप मे आकर अपने चुनाव से [illegible] मूर्ति प्राण से भरी हुई वाक् है। उस मूर्ति की नाभि मे जहा मन है उसी स्थान से प्राण [illegible] (विकास) चारो ओर होता है। प्राण के निकलने के साथ २ मन और वाक् के भाग भी [illegible] रहते है। वह प्राण जो वाक् और मन मे सम्मिलित है सृष्टि के समय अग्नि [illegible] चारो ओर वाहर जाता है उसी को महान् उत्थान कहते है इसी से उसका नाम [illegible] महोक्थ हो गया है। इस अवस्था मे जाते हुए अग्नि रूपी प्राण को जिसमे मन [illegible] सम्मिलित है 'ऋग्वेद' कहते है। जो अग्नि पहिले यजु के रूप मे [illegible] गया है किन्तु इस प्रकार प्रजापति की मूर्ति मे जो अग्नि की कमी हुई वह अपने [illegible] प्राण से भर जाती है। उस प्राण को जो नाभि की ओर आता है उसका नाम [illegible] प्रजापति का अन्न होता है। उसमे प्रजापति का पेट भरता है अत उसको [illegible] मे जो दीक्षित होता है उसके लिए जो दुग्ध आदि का आहार दिया जाता है [illegible] सोम भी प्रजापति का सर्वत्र आहार होता है अत वह महाव्रत कहलाता है [illegible] तीनो सम्मिलित है किन्तु वह नाभि की ओर जाने के कारण [illegible] उसको भिन्न नाम से 'साम' कहते है। इस प्रकार प्रत्येक प्रजापति मे [illegible] ऋक्, यजुः, साम इन तीनो वेदो के स्वरूप सिद्ध होते हैं।

साम

साम के विषय मे कही वेद मे ऐसा लिखा है कि [illegible] प्रस्ताव (निधन) [illegible] (अन्त) एक है अर्थात प्रत्येक वस्तु मे भिन्न २ दिशाओं से सोम [illegible] ही केन्द्र मे आकर समाप्त होती है यहा सोमकी समाप्ति को निधन और [illegible] केन्द्र मे आने के लिए आरम्भ होती है उसको प्रस्ताव कहते है। [illegible] गया है कि साम प्राण स्वरूप है और सब देवता इस प्राण को [illegible] जिससे अग्नि वस्तु मे निकलने पर भी नष्ट नही होने पाती। [illegible]

तेतीसों देवता अग्नि के रूप मे ही रहते है अत किसी वस्तु मे अग्नि के नष्ट होने से देवताओ के नष्ट होने की सम्भावना हो सकती है अमृत सोम के स्थापन से वही सोम अग्नि रूप मे आकर देवताओ को नष्ट नही होने देता अत यह साम देवताओ का प्रिय धाम कहलाता है अथवा यो कहिए कि यह साम देवताओ को बिखरे हुए होने पर पुनः समेट कर बने हुए शरीर का कारण है।

किसी स्थान मे यह भी कहा है कि ऋक् और साम इन्द्र के 'हर' अर्थात् घोडे है तात्पर्य यह है कि उन्ही ऋक्, साम के द्वारा प्राण जिसको इन्द्र कहते हैं एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता है जैसा कि सूर्य मे इन्द्र है वह ऋक् के द्वारा ही पृथ्वी तक आता है और अनन्त दिक् देशो मे व्याप्त वही इन्द्र सूर्य मे साम के द्वारा पहुँचा करता है यह इन्द्र प्रकाश का देवता है अर्थात् जिस प्रकार ताप अग्नि का स्वरूप है उसी प्रकार प्रकाश इन्द्र का स्वरूप है। यह प्रकाश किसी मण्डल से उत्पन्न होकर जो दूर तक दीखता है वह ऋक् साम ही का कारण है अतः इन दोनो को प्रकाश का ले जाने वाला यदि वाहन माने तो अनुचित न होगा।

कही यह भी लिखा है कि यह ऋक् साम इन्द्र के सोम पीने के पात्र हैं। इसका भी यही तात्पर्य है कि सूर्य मे जो प्रकाश है वह इन्ही दोनो क्रियाओ के द्वारा नये २ सोमो को अपने शरीर मे लिया करता है क्योकि ऋक् के द्वारा अग्नि की कमी होने पर बाहर से सोम खाली पेट मे प्रवेश करने पाता है अतः इन दोनो को सोम पीने का पात्र कहे तो अनुचित न होगा।

यजुः

ऋक् और साम दोनो यजु मे लय हो जाते है और यजु से ही उत्पन्न होकर यजु के आश्रय से ही ठहरते हैं। जहा नया यजुः उत्पन्न होता है साथ ही उसके ऋक्-साम भी नये उत्पन्न हो जाते हैं इस विषय मे ऋग्वेद की एक ऋचा है:—

अग्निर्जागारतमृचः कामयन्ते, अग्निर्जागार तमु सामानि।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह, तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः।

(ऋ० ४।२।२५)

अर्थात् अग्नि स्वतन्त्ररूप से जागता है उसी की कामना ऋचाए करती हैं अर्थात् सब ही ऋचाए यजु की परिस्थिति चाहती हैं उसी प्रकार जो अग्नि जागता है उसके प्रति चारो ओर से साम भी दौड-कर आया करते हैं और जो अग्नि जाग रहा है उसको यह सोम कहता है कि मैं आपके एक नीचे दरजे के सखाओ मे से हूँ अर्थात् सखा होने पर भी आप मुझसे बडे है, आपके आश्रय से मेरी स्थिति है क्योकि आप अन्नाद (भोक्ता) हैं और मैं आपका अन्न (भोग्य) हूँ।

यज्ञ

ऋक्, यजु. और साम तीनो वेद वाक् रूप है इनमे प्राण प्रविष्ट (घुसा हुआ) रहता है। वह प्राण उन्ही तीनो वाक् ने तीन लोक उत्पन्न करके उन तीनो लोको मे एक साथ विक्रम (व्याप्त) होता है अत;

उस प्राणमय यज्ञ को 'त्रिविक्रमविष्णु' कहते हैं । यह यज्ञ रूपी विष्णु महोक्थ से द्यौ अर्थात् स्वर्ग को प्राप्त होता है, महाव्रत से अन्तरिक्ष को और अग्नि से पृथ्वी को प्राप्त होता है । प्रत्येक वस्तु मे मूर्ति का भाग पृथ्वी है जो अग्नि मे व्याप्त रहता है और पृथ्वी से निकल कर महोक्थ अन्तरिक्ष को पार करके द्यौ मण्डल मे पहुँचता है किन्तु महाव्रत अन्तरिक्ष मे रहता है क्योंकि मूर्ति मे प्रवेश करने के पश्चात् वह अग्नि हो जाता है अतः उसकी स्थिति अपने रूप से अन्तरिक्ष तक ही रहती है अतः हम यह कहते हैं कि यह पृथ्वी लोक अग्नि है, अन्तरिक्ष महाव्रत और द्यौ महोक्थ है । ऋषि लोग कहते हैं कि ये तीनों समुद्र है, अर्थात् महोक्थ को ऋचाओ का, महाव्रत को साम का और अग्नि को यजु का समुद्र समझना चाहिये ये तीनो समुद्र देवताओ के लोक हैं । ये तीनो ही समुद्र देवताओ से सर्वदा भरे रहते हैं और साथ ही इन्ही तीनो समुद्रो मे यज्ञ रूपी विष्णु भगवान भी निरन्तर वास करते हैं ।

वेदों का उदाहरण

यद्यपि ये तीनो वेद प्रत्येक वस्तु मे रहते हैं और कोई भी वस्तु बिना वेदो के अपना कोई भी स्वरूप धारण नही कर सकती तथापि इन वेदो को उदाहरणार्थ ऋषियो ने सूर्य मे दिखाया है । सूर्य के लिए बार २ कहा गया है कि वह 'त्रयीमय' है अर्थात् ये तीनो विद्या ही तप रही हैं । इनमे जो मण्डल दीखता है वही ऋक् है और जो मण्डल मे कोई पुरुप है अर्थात् जिस पुरुप (पदार्थ) से वह मण्डल भरा हुआ है वही यजुः है, इस यजुः का जो आकार है अर्थात् सीमावन्धी है वही एक प्रकार का छन्द है । छन्दोबद्ध होने के कारण उस मण्डल को ऋक् कहते है । इस मण्डल से वाहर जहा तक प्रकाशमय अर्ची दीखती है वह ही साम है । अर्ची का स्वरूप मण्डल से भिन्न प्रकार का है । किन्तु जहा तक अर्ची का प्रकाश है वहा तक क्रमशः छोटे होते हुए अनन्तानन्त मण्डल भी क्रमशः जमे हुए रहते हैं वे सब ऋक् हैं इन सब ऋचाओं पर ही सब साम अर्थात् अर्ची का प्रकाश अवलम्बित है अतः कहा जाता है 'ऋच्यध्यूढ साम गीयते' अर्थात् ऋचा पर सवार हुआ साम गाया जाता है । तात्पर्य यह है कि यह प्रकाश उन्ही मण्डलो के आधार से फैला हुआ सम्पन्न होता है ।

इन वेदो मे यजु. जो मण्डल मे रहने वाला पुरुप है वह मृत्यु है किन्तु यह साम जो चारों ओर सर्वत्र व्याप्त है वह अमृतरूप है । इसी अमृत से घिरे हुए रहने के कारण मृत्यु की मृत्यु नही होती । मृत्यु स्वभाव होने पर भी अमृतानुसार यजु भी सर्वदा विद्यमान् प्रतीत होता है ।

इस अर्ची अर्थात् साम का तथा पुरुप अर्थात् यजु. का यह मण्डल जो ऋक् कहलाता है प्रतिष्ठा है इसी मण्डल के आधार से वह पुरुप और वे अर्चिया देखने मे आती हैं ।

रस वेद का साराश यह है कि ये तीनो वेद रस (पदार्थ) के नाम हैं । जिनमे अग्नि नाम पदार्थ का रस है उसके सप्त पुरुप के नाम से सात विभाग करके प्रत्येक वस्तु मे अग्निचयन कहा गया है जिसका वर्णन कही अन्यत्र किया जावेगा । यहा केवल इतना ही कहना है कि जगत् मे मूर्तिमान् सभी पदार्थ अग्नि का ही चयन है, उसमे चिति किया हुआ जितना अग्नि रस उस मूर्ति मे भरा रहता है उस अग्नि रस का 'यजुर्वेद' है और वही अग्निरस विस्रंसन स्वभाव के कारण जो मूर्ति मे मूर्ति के बाहर

मे ही निरता रहना है उसी को महोक्थ या 'ऋग्वेद' कहते हैं और वाहर मे आते हुए सोम रस को सामवेद या महाव्रत कहते है। तात्पर्य यह है कि अग्नि और सोम इन्ही दोनो रसो के किसी २ परिणाम विशेष को ऋक् यजुः और साम इन तीनो वेदो के नाम से व्यवहृत किया है।

२ वितान वेद

प्रजापति स्वभाव से ही त्रिधातु वा त्रिपर्वा होता है। इन्ही तीन सस्थाओ के रखने के कारण प्रजापति मे नियम से तीन अन्त अर्थात् तीन सीमा हुआ करती है। १-नाभिविन्दु, २-मूर्तिपृष्ठ, ३-वहिः पृष्ठ। ये तीनो ही सीमाए परस्पर एक से एक गुथी हुई रहती है। इनमे नाभिविन्दु वह है कि जिसमे आयाम, विस्तार, घनता अर्थात् लम्वाई, चौडाई और मोटाई न हो और सम्पूर्ण वस्तु भार का जहा साम्य हो और जिसके ठहरने से वस्तु मे ठहराव रहे वा गति मे वस्तु मे गति और वही नाभिविन्दु है, किन्तु जव हम किसी वस्तु को स्पर्श करने की इच्छा से हाथ वढाते हैं तो वह हाथ जहा जाकर धक्का खावे वहा पर उसकी गति रुक जाती है और जो उभरा हुआ प्रदेश हमारी आखो को दूसरी ओर जाने से रोकता है वही मूर्तिपृष्ठ है परन्तु जव किसी वस्तु को देखते हुए विना रुकावट के खुले मैदान मे इतनी दूर हट जावे कि वस्तु धीरे २ अदृश्य हो जावे वही प्रदेश उस वस्तु की वहिःपृष्ठ सीमा है। इस प्रकार वस्तु मे तीन सीमाओ का होना स्वाभाविक धर्म है।

इनमे नाभिविन्दु से लेकर वहि.पृष्ठ की धरातल तक ३६० रेखाए खीचकर विभाग किया जाय तो मूर्तिपृष्ठ और वहि.पृष्ठ के आयतन के छोटे वडे होने पर भी दोनो पृष्ठो के अश वरावर समान होगे अव इनमे मूर्तिपृष्ठ से वाहर २ चारो ओर वहि पृष्ठ तक यदि १००० समानान्तर वृत्त किए जावे तो उन हजारो वृत्तो के छोटे वडे होने पर भी उनमे प्रत्येक पृष्ठ के अंश उसी प्रकार वरावर ३६० होते जावेंगे।

अव इनमे वहि पृष्ठ से भीतर मूर्तिपृष्ठ तक जो एक २ अंश छोटे होते हुए दीखते हैं उनको हम 'ऋक्' कहते है किन्तु मूर्तिपृष्ठ से वाहर वहि पृष्ठ तक उन सभी वृत्तो मे जो एक २ अंश हमे वडा होता हुआ दीखता है वही 'साम' है। तात्पर्य यह है कि भीतर वाले वृत्त पर जो अ श अपना छोटा आयतन रखता था वही अ श वाह्यवृत्त पर वितान मे आकर अपना वडा आयतन कर लेता है। जिसका पहले छोटा आयतन था उसको यदि हम ऋक् माने तो उसी का आगे चलकर वितान होने से वडा आयतन हो जाता है उसको हम उस ऋक् का साम कहेगे क्योकि ऋक् ही के वितान करने पर साम हुआ करता है। यहा इतना अवश्य जानना है कि मूर्तिपृष्ठ वाले सभी अ श केवल ऋक् ही कहे जा सकते है और वहि पृष्ठ वाले सभी अ श साम ही कहे जाते हैं, किन्तु वीच वाले प्रत्येक वृत्त के सव अ श ऋक् और साम दोनो हो सकते हैं। वाहर वाले के अनुरोध मे वे भीतर वाले ऋक् है और भीतर वाले के अनुरोध मे वाहर वाले सव साम हैं। इस प्रकार ऋक् ही साम हैं, इसलिए यह भी कहना यथार्थ है कि "ऋच्यध्यूढं साम गीयते"।

इस प्रकार ऋक् और साम इन दोनो से भिन्न जो कुछ भाव किसी वस्तु मे दीखे उनको हम यजुः कहेंगे। नाभि से वहि.पृष्ठ तक जो अग्निरस ऋक् साम मे भरा रहता है इसे यजु कहते हैं। यद्यपि

विन्दु की शक्तियो के तनाव मे मूर्ति वनी है और मूर्ति के भीतर वाले रसो के तनाव से वहिःपृष्ठ तक प्रदेश वना है किन्तु जिस प्रकार मूर्तिपृष्ठ के भीतर वस्तु भरी है उसी प्रकार मूर्ति से वाहर वहिःपृष्ठ तक कोई वस्तु भरी नही रहती तथापि नाभि विन्दु से लेकर वहिःपृष्ठ तक समान प्रकार के पदार्थ अर्थात् मन, प्राण, वाक् क्रमशः विनान मे आए हुए हैं ऐसा विश्राम करना चाहिए।

छन्दवेद

मन, प्राण, वाक् इन तीनो से त्रिधातु प्रजापति इस जगत् मे दो रूप से दीखता है। १-अणु २-स्कन्ध। यद्यपि वास्तव मे उन तीनो धातुओ के मिलाव मे प्रथम जो रूप हुआ था वह अणु अर्थात् परमाणु (Atom) रूप मे था किन्तु पश्चात् धीरे २ इन परमाणुओं के संयोग से जो वृहत् रूप उत्पन्न हुआ उसी को स्कन्ध कहते हैं इस जगत् मे प्राय जहा जो कुछ मूर्ति देखते हैं वह सब स्कन्ध रूप ही हैं क्योकि परमाणुओ को उनके निज के रूप में हम नही देख सकते किन्तु जिन स्कन्धो को हम देखते है वे सब वास्तव मे परमाणु पुञ्ज ही हैं। इस प्रकार दो रूप होने पर भी दोनों ही वरावर नियम से अपनी २ महिमा अवश्य रखते है। परमाणु की महिमा यद्यपि वहुत कम अवकाश मे थी किन्तु उन परमाणुओ के पुञ्ज से उस मूर्ति का आयतन ज्यो २ वढता गया त्यो २ उसकी महिमा भी अधिक अधिक अवकाश ग्रहण कर लेती है। सूर्य के प्रत्येक परमाणु की प्रत्येक महिमा वहुत ही सूक्ष्म होगी किन्तु इस विशाल सूर्य विम्व की महिमा लगभग २५,०,०००,००० पच्चीस करोड योजन तक और फैली हुई है। सूर्य के पूर्व, पश्चिम, उत्तर दक्षिण, ऊपर, नीचे सव ओर घेर कर जो किरणें फैली हुई दीखती हैं वही महिमा का स्वरूप है।

स्कन्ध की मूर्ति का जितना व्यास है उसमे क्रमशः जितने परमाणु हैं उनमे दोनो छोर के एक २ परमाणु से उठी हुई दो परमाणुओ की रेखा जहा एक होकर एक परमाणु उत्पन्न करती है वहा तक उस स्कन्ध का जो रूप है उसको महिमा धारण करती है अथवा उतने प्रदेश वाले पदार्थों को महिमा कहते है।

मूर्ति से निकलकर उसी मूर्ति का रस आगे को जाता है ऐसा पहले प्रकरण मे कहा जा चुका है। उसमे यह नियम स्मरण रखना चाहिये कि पहली मूर्ति के व्यास की नाभि का एक परमाणु अपना रस आगे को कभी नही जाने देता वह अपनी पहली मूर्ति की आत्मा होकर उसी के साथ रहता है। किन्तु उसी नाभि वाले परमाणु के पार्श्ववर्ती दो परमाणु आगे चल कर एक हो जाते हैं। उन के योग से वना हुआ एक परमाणु आगे वाली मूर्ति की नाभि मे जा वैठता है। इस प्रकार पहली मूर्ति से आगे वाली मूर्ति मे दो परमाणु की कमी हो जाती है। इसी नियमानुसार कूटस्थ मूर्ति के व्यास वाले परमाणुओं का ह्रास होते २ किसी अन्तिम मूर्ति मे कूटस्थ व्यास के दोनो छोर वाले परमाणु [illegible] मूर्ति का रूप रह जाता है। उस परमाणु के पार्श्व मे अन्य परमाणुओ के न रहने से रस [illegible] बन्द हो जाता है अत स्कन्ध की महिमा भी वही समाप्त हो जाती है। इस प्रकार पहली मूर्ति से [illegible] वाली मूर्ति मे व्यास बनाने वाले परमाणु दो-दो के नियम मे कम होते जाते हैं। [illegible]

अोसा उत्तर २ मूर्ति क्रमशः छोटी होती है, इसीलिए हम वस्तु से जितना दूर हटते है क्रमश. वस्तु हमे छोटी दीखती जाती है ।

यह प्रकार मूर्ति के तिर्यक् व्यास के परमाणु के अनुरोध से समझना चाहिये किन्तु अभिमुख व्यास समान दिक् वाले व्यास की परमाणुओ की रेखा भिन्न २ नही होती । एक दिशा में जाने के कारण एक होकर एक ही महिमा की रेखा बनती है । इसी कारण कूटस्थ मूर्ति की लम्बाई, गोलाई और मोटाई बहुत दूर जाने पर नही दीखती केवल वह वस्तु चिपटी दीखती है । इसका कारण यही है कि नाभि वाले परमाणु के साथ वाले तिर्यक् रेखा में जितने परमाणु है वही महिमा की रेखा बनाते हैं । उनके मुख पर मोटाई वाले परमाणुओ की रेखा से मिलकर एक हो जाती है ।

छन्दवेद का ऋक्

कूटस्थ मूर्ति वा महोक्थ मूर्तियो के प्रत्येक व्यास के दोनो छोर के दोनो विन्दुओं को एक साथ छन्द के नाम से बोलते हैं क्योकि वह मूर्ति उन्ही दोनो विन्दुओ के अन्दर उन्ही दोनो विन्दुओ से घिरी हुई अपना स्वरूप धारण करती है । जो वाक् किसी छन्द से बद्ध हो उसको संस्कृत भाषा मे पद्य वा श्लोक कहते है किन्तु उसी को वैदिकभाषा मे ऋक् कहते है यह मूर्ति वास्तव मे वाङ्मय है और छन्दोबद्ध है, अत ऋक् कहलाती है । चाहे कूटस्थ मूर्ति हो वा महोक्थ मूर्तिया हो सभी का छन्दोबद्ध वाक् होने के कारण ऋक् सज्ञा है ।

कूटस्थ मूर्ति के दोनों व्यासान्त विन्दुओ का रस योग के अनुक्रम से किसी अवसान(अन्त की) विन्दु मे जहा एकता होती है उस विन्दु के साथ दीर्घ त्रिभुज क्षेत्र उत्पन्न होता है, जिसमे कूटस्थ की व्यास रेखा छोटा भुज है बाकी दो भुज समानरूप से बृहत् होते हैं । इसी त्रिभुजक्षेत्र मे उस कूटस्थ मूर्ति की महोक्थ मूर्तिया क्रमबद्ध ह्रासोतार रूप से सन्निविष्ट रहती हैं । इस प्रकार के त्रिभुजक्षेत्र असख्य होते हैं । अथवा यो कहिए कि कूटस्थ मूर्ति के पृष्ठ की चरम सीमा पर जितने परमाणु है उन सब से एक २ रेखा खीची जाय तो उसी रेखा के आधार से उतनी ही सख्या के ये त्रिभुजक्षेत्र भी अवश्य होते हैं । प्रत्येक त्रिभुजक्षेत्र के महोक्थ मूर्तियो को दृष्टि पर लाने से एक समुद्र के भीतर डूबे हुए रत्न के अनुसार कई कोटि महोक्थ मूर्तियो के महाविशालमण्डल के केन्द्र मे वह कूटस्थ मूर्ति दीखेगी । वे उसी कूटस्थ मूर्ति की सब मूर्तिया महिमा स्वरूप हैं ।

छन्दवेद का साम

कूटस्थ मूर्ति के चारो ओर वहिःपृष्ठ तक एक सहस्र मण्डल की कल्पना की जावे तो प्रत्येक मण्डलपर समान मात्रा की महोक्थ मूर्तिया सन्निविष्ट होगी । भीतर के मण्डल पर जिस मात्रा की मूर्तिया सन्निविष्ट होती हैं उनसे छोटी मूर्तिया बाहर वाले मण्डल पर होगी । इस प्रकार वाहरवाले मण्डलोंपर क्रमश छोटी २ मूर्तियां सन्निविष्ट होती हैं किन्तु एक मण्डलपर चारो ओर सब मूर्तियाँ समानछन्द की होती हैं छोटी वडी कदापि नही होती । इसी साम्य अर्थात् मात्रा की समानता का निर्वाह

करने वाला मण्डल साम कहलाता है जो कि एक महत्त्व माना गया है। इस साम मे मूर्ति की स्थापना के कारण ही साम संज्ञा रक्खी गई है।

ये सहस्र मण्डल भी कूटस्थ मूर्ति के ही वहि पृष्ठ कहे जाते हैं। कूटस्थ पृष्ठ के अनुसार इन पृष्ठो मे भी ३६० अश करके समान विभाग किये जाते है। भीतरवाले मण्डल की अपेक्षा बाहर के मण्डल का प्रदेश अधिक होने पर भी अशो मे समता रखता है। इसी साम्य के कारण वह अधिक प्रदेश पूर्ण मण्डल के छोटे प्रदेश का साम कहलाता है।

कूटस्थ मूर्ति का छोटे से छोटा प्रदेश महिमाक्षेत्र मे आकर अधिक प्रदेश वाला हो जाता है। उसके इस प्रकार के फैलाव से समान देश के लिये मात्रा कम हो जाती है। जिससे समान मूर्ति न रहकर महिमा के मण्डल मे छोटी २ मूर्तिया हो जाती हैं। यह प्रसार घनता की शिथिलता होते हुए एक पर-माणु तक आकर घनता को सर्वथा नष्ट कर देता है ऐसी दशा मे एक ही परमाणु की मूर्ति रह जाती है वही अन्तिम साम है।

पूर्वोक्त के अनुसार समान ऋचाओ के अर्थात् महोक्थ मूर्तियो के मण्डल मे जो पृष्ठ नाम का साम उत्पन्न होता है वह साम वहा समाप्त होता है जिसके बाहर फिर कोई ऋचाओ का समान मण्डल उत्पन्न नही होता है। इस प्रकार के अन्तिम साम प्रत्येक वस्तु की कूटस्थ मूर्ति के आयतन के अनुसार छोटा बडा होता है और वस्तु भेद से अनन्त हो सकता हैं, किन्तु उनमे से कितनो ही के व्यवहारार्थ पृथक् २ नाम दिये गये है, जैसे इस पृथ्वी के अन्तिम साममण्डल को 'रथन्तर' पृष्ठ कहते है। सूर्य के अन्तिम साम को 'बृहत् पृष्ठ' कहते हैं और रथन्तर की अपेक्षा यह पृष्ठ बडा होता है अत इसको बृहत् साम कहते है।

पृथ्वी का चरम पृष्ठ रथन्तर शब्द से कहा गया है, वह तीन प्रकार का है, जिनको रथन्तर, वैरूप और शाक्वर कहते हैं। इसका कारण यह है कि पृथ्वी मे से महिमा के रूप मे ३ प्रकार के पदार्थ निकलते हैं—वाक्, गौ और द्यौ। इनमे वाक् से रथन्तर, गौ से वैरूप और द्यौ से शाक्वर पृष्ठ उत्पन्न होते हैं।

इसी प्रकार सूर्य से भी तीन प्रकार के पदार्थ निकलते है—ज्योति, गौ और आयु। इन तीनो से उत्पन्न हुए पृष्ठ भी ३ प्रकार के है—ज्योति से बृहत्, गौ से वैराज और आयु से रैवत।

पृथ्वी का अग्नि जहाँ तक पर्याप्त है उसको रथन्तर कहते हैं और पर्जन्य देवता जिनके द्वारा जल की वृष्टि होती है वह जहा तक व्याप्त है उसको वैरूप साम कहते है और भू, भुव, स्व इन तीनो लोको की व्यवस्था जहा पूरी होती है उसको शाक्वर साम कहते है।

इसी प्रकार सूर्य की ज्योति अर्थात् प्रकाश मण्डल जहा पूर्ण होता है वह बृहत् साम है सूर्य का गौ जिनसे ऋतुओ का सम्बन्ध है वैराज साम है और आकाशी पशु जिनमे देवताओ के वाहन उत्पन्न होते है उनसे सम्बन्ध रखने वाला रैवत साम है। इस प्रकार इन छओ सामो का स्वरूप वर्णन साम वेद के छान्दोग्य ब्राह्मण मे किया गया है।

रैवतसाम
वैराज साम
बृहत् साम
सू०
पृ०
रथन्तरसाम
वैरूप साम
शाक्वर साम

अब सूर्यका एक २ साम पृथ्वी के प्रत्येक साम को प्रतिमानित करता है अर्थात् अपने पेट मे व्याप्त कर लेता है। तात्पर्य यह है कि सूर्य जिस केन्द्र पर ठहरा है उससे कुछ दूर हट कर पृथ्वी का केन्द्र है। पृथ्वी केन्द्र से सूर्य विम्ब तक व्यासार्ध मानकर एक वृत्त वनाया जाय वही रथन्तर पृष्ठ होगा। रथन्तर पृष्ठ के भीतर सूर्य विम्ब सम्पूर्ण आ जाने से सूर्य को भी पृथ्वी पर विद्यमान माना जाता है। इस प्रकार रथन्तर की जहा तक व्याप्ति है वहा तक व्यासार्ध मानकर वृत्त वनाने से वृहत् पृष्ठ होता है जिसके भीतर सपूर्ण रथन्तर आजाता है। इसी प्रकार यह वृहद् जहा पूर्ण होता है पृथ्वी के केन्द्र से वहा तक व्यासार्ध से जो वृत्त होगा वही पृथ्वी का वैरूप साम है जिसके पेट मे सम्पूर्ण वृहत् आता है। इसी प्रकार वैरूप को अपने पेट मे रखकर सूर्य का वैराज वनता है और वैराज को पेट मे रखकर पृथ्वी का शाक्वर वनता है और पृथ्वी के शाक्वर को पेट मे रखकर सूर्य का रैवत साम अपना स्वरूप धारण करता है। इस प्रकार एक के भीतर एक आकर छओ साम परस्पर गुथे हुए से रहते है। पृथ्वी की जो पाञ्च-भौतिक मूर्ति है वही महोक्थरूप मे वहि:पृष्ठ तक जाती है वे ही मूर्तियो के पञ्चभूत वाक् कहलाती है। पृथ्वी मे से चारो ओर रेखा के रूप मे जो काली किरणें निकलती है, जो चन्द्रमा वा सूर्य के प्रकाश से सफेद हो जाती हैं और जिनके द्वारा आकाश से वृष्टिया नियमानुसार किसी खास प्रदेश मे होती है अथवा जिन कणो पर वायु के द्वारा जल के कण जम कर वादल के रूप में आते है ये ही पृथ्वी की गौ हैं। पृथ्वी के चारो ओर स्वभाव से वायु भरी रहती है उस वायु की ३ जाति मोटे तौर से समझी जा[illegible] है। पहला वायु जिसमें मिट्टी का भाग अधिक है और घन है भू वायु कहलाती है वह १[illegible] योजन तक है। यह प्रदेश पृथ्वी का भूलोक है। उसके ऊपर अपेक्षाकृत सूक्ष्मवायु जहा तक है उसको पृथ्वी का भूलोक कहते हैं। उसके ऊपर एक प्रकार का अत्यन्त सूक्ष्मवायु है उसी को Oxygen शक्वरी कहते है और उसी के सम्बन्ध से हृदय में नासिका द्वारा जीवन वायु प्रवेश करता है जिससे हमारी आयु वनी रहती है। वह शक्वरी वायु पृथ्वी से सम्बन्ध रखता हुआ पृथ्वी के ऊपर चारो ओर जहा तक रहता है वह प्रदेश पृथ्वी का स्वर्लोक है। इस प्रकार पृथ्वी के वाहर तीन लोक का विभाग जिसके द्वारा किया जाता है वही वायुमय प्राण पृथ्वी का द्यौ कहलाता है। इस प्रकार पृथ्वी से सम्बन्ध रखते हुए ३ प्रकार के पदार्थ हुए। जिनमे वाक् मूर्ति रूप मे पृथ्वी से वाहर जाती हुई है, दूसरी गौ सूत्र रूप से पृथ्वी के वाहर चारो ओर फैली हुई है और तीसरी द्यौ सरोवर के सदृश पृथ्वी के चारो ओर पृथ्वी को घेर कर दवाते हुए जमी हुई है।

इसी प्रकार सूर्य मे भी ३ प्रकार के तत्त्व निकलते हैं—सर्वप्रथम [illegible] प्रकाश का भाग है जो सूर्य का विम्ब मण्डल ही क्रम से छोटा होता हुआ सूर्य के चारो ओर दूर तक [illegible] है। दूसरे सूर्य के किरणो के रूप में चारों ओर जो सूत्र निकलते है उनको गौ कहते है। इन गौओं से अग्नि पितर, देव, असुर और गन्धर्व आदि उत्पन्न होते है। ये ही सूर्य की गौ अपनी [illegible] गौओ के चूसने पर सप्त रस, सप्त उपरस, सप्त धातु, सप्त उपधातु आदि वहुत से पृथ्वी के [illegible] वनाने वाले पदार्थों को दुग्ध के रूप मे देती रहती हैं। यह रस अहर्निश आकाश से वरसते हुए पृथ्वी की गौ: के पेट मे आते हुए पृथ्वी के स्वरूप को पुष्ट करते रहते हैं। इस सूर्य की गौ अर्थात् किरण [illegible] सूत्र के डोरे, एक २ सात २ रग के सात डोरो से वने हुए होते हैं जिनको त्रिकोने काच (Prism) [illegible] उपायो से पृथक् २ भी कर सकते हैं।

८

तीसरा वायु जो सूर्य से निकलता है एक प्रकार का प्राण है उसका इन्द्र और अमृत के नाम से भी व्यवहार होता है। यह प्रत्येक प्राणी के वा वृक्ष के शरीर को उठाये रखता है। इस के बल से मस्तक वा डाले ऊंची ओर निकाले जाने से गिर जाते है। इस आयु का स्वरूप न मूर्ति है और न सूत्र है किन्तु जमे हुए पानी के सदृश सूर्य के चारो ओर भरा पडा है। इन ६ पदार्थों से पृथ्वी का सृष्टिक्रम चलता रहता है। जिस प्रकार सूर्य वा पृथ्वी आदि के पदार्थों मे उपक्रम से उठाकर उपसहार अर्थात् समाप्ति तक पहुचने को साम कहते हैं उसी प्रकार भावमय पदार्थों मे भी उपक्रम से उपसहार तक पहुचने को साम कहेगे। ऐसे साम भी कई हो सकते है जिनमे से उदाहरणार्थ कितनो ही का नाम दिखाया जाता है— जैसे, अग्नि का वृषा अर्थात् पुरुष और सोम को योषा अर्थात् स्त्री भाव से समझ कर उन दोनो का जहा कही मिथुन अर्थात् योग हुआ हो उस योग के पूरे होने को 'वामदेव्य' साम कहते हैं। किसी प्रकार का एक प्राण जहा अपने स्वरूप से समाप्त होता हो उसको 'गायत्र' साम कहते हैं। रथन्तर अथवा बृहत् मे जिस पदार्थ को साम कहा है वह अग्नि है और अग्नि को प्राण कहते है इसी प्राण के अनुरोध से रथन्तर और बृहत् साम को भी गायत्र साम कह सकते है और अग्नि और सोम इन दोनो का योग, भी उन दोनों मे होता है अत. योग की दृष्टि से उसे वामदेव्य साम भी कह सकते है और किसी अङ्गी के स्वरूप में उसके सब अङ्ग यदि पूरे बैठ जाय तो उसको 'यज्ञायज्ञीय' साम कहते हैं। किसी देवता का स्वरूप जहा समाप्त होता हो उसको 'राजन्' साम कहते हैं।

यहा पर यह भी स्मरण रहे कि इन सामो के नाम प्रकृति मे देवता वा भूतादि पदार्थों के अनुरोध से दिखाये गये है। किन्तु प्रकृति के अनुसार मनुष्यो को अपने आधीन भी यज्ञो की क्रिया करने का उपदेश किया गया है। उस यज्ञ मे ऋक्, यजु, साम उच्चारण किये जाते हुए वाक्, प्राण, मन से सबन्ध रखते है। होता ऋक् मन्त्र का उच्चारण करता है, अध्वर्यु यजुः मन्त्र का प्रयोग करता है और उद्गाता साम मन्त्र का उच्चारण करता है। ये तीनो ऋत्विक् वाक् और प्राण इन दोनो का प्रयोग करते है और चौथा ब्रह्मा मन, प्राण का योग देकर यज्ञ की पूर्ति करता है। इन चारो के योग से मन, प्राण, वाक् शरीर से निकल कर प्रकृति के मन, प्राण, वाक् मे मिलाये जाते है। अध्यात्मिक मन, प्राण, वाक् को आधिदैविक मन, प्राण, वाक् के साथ मिलाने की रीति को ही यज्ञ की विधि कहते है। इनमे उद्गाता के उच्चारणार्थ ऐसे मन्त्र नियत किये गये हैं जिन नियमो के अनुसार गान करने पर प्रकृति के उन सामो से मिलाव हो सके। ऐसे मन्त्रो के भी वे ही नाम रक्खे गये है जिन सामो के मिलाने के लिए मन्त्र बोले गये हो उसके अनुसार रथन्तर, बृहत्, वैरूप, वैराज, वामदेव्य, यज्ञायज्ञीय, राजन् आदि सामो के लिए पृथक २ मन्त्र सामवेद के ग्रन्थो मे माने गये है जिनको दिखाने की यहा आवश्यकता नही है। यहा उन्ही सामो का दिखाना आवश्यक है जो सूर्य वा पृथ्वी के पदार्थों मे है अथवा भावमय पदार्थों मे हैं।

कितने ही लोगो का कथन है कि जो तेज सूर्य या ताराओ के विम्ब से निकलता है वह बड़े वेग से चलने पर भी कितने ही वर्षों के पश्चात् उस पृथ्वी पर आता है। परन्तु उनका विचार उनकी गणित के अनुसार भले ही सिद्ध होता हो, परन्तु वैदिक विज्ञान के अनुसार प्रत्येक भास्वर विम्ब का तेजोमण्डल उसके अपने बृहत् साम तक स्थिर रूप से जमा हुआ रहता है। जब तक तेज अपने साम तक न पहुंच ले

तब तक कूटस्थ नाभि पर कूटस्थ मूर्ति वाला बिम्ब भी कदापि नहीं बनता। नाभि और [illegible] पृष्ठ और बहिः पृष्ठ ये तीनो ही एक ही क्षण मे बनते हैं। कूटस्थ पृष्ठ मे बहि: पृष्ठ तक जाने मे [illegible] क्षण अवश्य लगे होगे किन्तु यह निश्चित है कि बहिः पृष्ठ तक तेज के पहुचने के साथ [illegible] स्वरूप भी सम्पन्न होता है। जिस प्रकार माता के गर्भ मे बनते हुए शरीर मे नाभि से मस्तक [illegible] जाने के लिए समय भले ही लगता हो किन्तु नाभि, मस्तक, पाव और सम्पूर्ण शरीर [illegible] भीतर के अस्थि, शोणित, आदि सभी पदार्थ एक साथ ही सम्पन्न होते हैं। इसी प्रकार [illegible] मूर्ति के ऋक् साम और यजुः ये तीनो ही एक साथ स्वरूप धारण करते है इनमे [illegible] बाद बिम्ब से तेज का गमन मानना केवल भूल ही नही है किन्तु अवैज्ञानिक होने [illegible] भरी हुई हैं, सूर्य के मन्त्र के अनुसार ऋचा को भी साम कह सकते हैं।

औपचारिक दशा मे भी इन तीनो वेदो की कल्पना की जा सकती है। प्रत्येक [illegible] मे नाम, रूप, कर्म होते हैं इनकी भी वेद रूप से कल्पना कर सकते हैं। इनमे नाम को ऋक्, रूप को यजु: और कर्म को साम समझना चाहिये। प्रत्येक पदार्थ मे जो कुछ कर्म होता है वह सब साम है और [illegible] समाप्ति तक साम का सात अवस्था रूप से विभाग किया जा सकता है।

१ हिंकार २ प्रस्ताव ३ आदि ४ उद्गीथ ५ प्रतिहार ६ उपद्रव ७ निधन।

अक्षर उच्चारण करते समय अग्नि की नोदना और वायु का प्रसमण और [illegible] स्थान-विशेष मे जाकर योग करना ही हिंकार, प्रस्ताव और आदि हैं। जो मुख से उच्चारण करते समय अक्षर बाहर निकलते हैं वह उद्गीथ है और बाहर निकला हुआ शब्द जो चारो ओर फैलता है वह प्रतिहार है। पश्चात् शब्दो मे जो विकार उत्पन्न होता है वह उपद्रव है। अन्त मे शब्द [illegible] होकर नष्ट हो जाता है वही उसका निधन है।

सूर्योदय के समय उदय से पहले की दशा, सूर्योदय की दशा, पहर दिन चढने की दशा, मध्यान्ह मध्यान्ह के पीछे की दशा, चौथे पहर की दशा और सूर्यास्त की दशा क्रम से सातो विभाग समझना चाहिये।

इन सप्त विभागो मे आदि और उपद्रव को छोडदें तो पाच विभाग भी [illegible] हिंकार और प्रतिहार को भी छोड देवें तो मुख्य करके तीन ही विभाग साम के रह जाते हैं। प्रस्ताव अर्थात् वस्तु या काम का आरम्भ पहला भाग और वह जब पूरे ओज पर आ जावे [illegible] अवस्था उद्गीथ है, किन्तु पूरे चढाव के पश्चात् जब वह वस्तु गिरने लगती है अथवा [illegible] पढकर शान्त हो जाता है तो उसे निधन कहेगे। जगत् मे कोई भी वस्तु, भाव या कर्म [illegible] जिसमे आदि, मध्य और अन्त ये तीनो अवस्थायें न हो। उन्ही तीनो का साम के विभाग मे [illegible]

किसी वस्तु की मूर्ति मे उसके व्यास का जहा अवसान होता है वह साम का [illegible] उस वस्तु का नाभिबिन्दु साम का निधन भाग है। इन दोनो के बीच की [illegible] इनमे भी प्रस्ताव का भाग प्रथम होने के कारण ऋक् के समान है और निधन का भाग [illegible]

होने के कारण साम का भाग है और मध्य का उद्गीथ मध्य मे होने के कारण यजुः का भाग है। इस प्रकार इन तीनो वेदो मे साम इतना व्यापक है कि प्रत्येक वेद मे भी वह किसी न किसी रूप मे अवश्य ही व्याप्त रहता है।

वेद साधारण

सबसे प्रथम तीनो वेदो का सारांश दिखाया जाता है :—

रसवेद में—

१. चीयमान रस (चुनाव मे आया हुआ)=अग्नि=यजु. (जमा हुआ रस या तत्त्व)
२ विस्नसमान रस (निकला हुआ)=महोक्थ=ऋक् (उठकर जाता हुआ रस)
३. आपूर्यमाण रस (भराव मे आता हुआ)=महाव्रत=साम (आकर बैठता हुआ रस)

वितानवेद में—

१ कूटस्थ वा महिम स्थितमूर्ति=ऋक् है।
२. कूटस्थ मूर्ति के चारो ओर मूर्तिमण्डल=साम है।
३ मूर्तियो के मर्त्य वा अमृत दोनो रस=यजु है।
(मर्त्य जिससे मूर्ति बनी और अमृत जो मूर्ति की आत्मा है)

छन्दोवेद में—

१. कूटस्थ मे बाहर जाता हुआ सूच्यग्र त्रिभुज क्षेत्र=ऋक् है।
२. बाहर से कूटस्थ मे आता सूचीमुख त्रिभुज क्षेत्र=साम है
३ इन दोनो त्रिभुजों मे समान रूप से सचारी रस=यजु है।

इस प्रकार तीनो वेदों के पृथक् पृथक् तीन भाव हैं किन्तु बहुतो का यह भी मत है छन्दोवेद सभी ऋचा हैं, वितानवेद सभी साम हैं और रसवेद सभी यजुः हैं। इस प्रकार प्रथम तीन वेद निरूपण करके फिर प्रत्येक वेद में तीन तीन भेद उपर्युक्त कथनानुसार जानना चाहिए। ये तीनो ही वेद परस्पर अविनाभूत हैं अर्थात् एक के बिना एक कदापि नही रहते।

रसवेद का उपयोग

जहां कहीं यज्ञ होते हैं वे रसवेद से ही होते हैं। यज्ञ से अन्न और अन्नाद का परस्पर सबन्ध रहता है। ये तीनों ही प्रत्येक वस्तु मे घटाव, बढाव या साम्यभाव अन्न भोग से संबन्ध रखते हैं और ये तीनों प्रत्येक वस्तु मे देखे जाते हैं अत· जगत् भर मे रस वेद का उपयोग समझना चाहिये। यदि रसवेद न होता तो किसी प्रकार के यज्ञ नही होते। यज्ञ के न होने से कोई भी वस्तु अन्नाद बन कर अन्न का ग्रहण नहीं करती और अन्न ग्रहण न करने मे वस्तुओ में वृद्धि, क्षय या साम्य भाव न होते।

वितान वेद का उपयोग

प्रत्येक वस्तु कुछ कुछ सकोच, विकास का प्रदेश रखता है। जिस प्रकार हस्त [illegible] पर अधिक देश मे और मुष्टिका (मुट्ठी) बाधने पर सकुचित होकर कम देश मे [illegible] हस्त या शरीर के सभी अङ्ग, प्रत्यङ्ग कुछ सीमा तक सकुचित और कुछ सीमा तक विकसित [illegible] सभी वस्तु कुछ न कुछ वितान अवश्य रखती है। वितान होते होते जिस समय उसका [illegible] जावे अर्थात् जिस समय अपना वितान न कर सके वही उस वस्तु की समाप्ति है।

छन्द वेद का उपयोग

जगत् के प्रत्येक पदार्थ मे यह साधारण धर्म देखा जाता है कि समीप से देखने पर जो वस्तु जितनी बडी भासती है दूर से देखने पर वही छोटी दीखा करती है यहा तक कि छोटी होते होते [illegible] देश से वह सर्वथा नही दीखती। यह प्रत्येक वस्तु का साधारण धर्म है जो छन्द वेद से [illegible]।

दृष्टि विचार

आज कल ज्योतिष शास्त्र के वेत्ताओ ने सिद्धान्त किया है कि मनुष्यो की दृष्टि [illegible] तक जाती है अर्थात् जिस कक्षा पर चन्द्रमा घूमता है। उसके आगे मनुष्य की दृष्टि जाने की सामर्थ्य नही रखती अतः वही धरातल आकाश वृत्त बन जाता है। अर्थात् सूर्य या और और ग्रह अथवा [illegible] भी ऊचे नक्षत्र मण्डल से जो किरणे आती हैं वे यद्यपि आगे, पीछे, दूर या समीप से [illegible] किन्तु मार्ग मे आती हुई जहा हमारी दृष्टि समाप्त होती है वही दृष्टि समाप्ति के अनुरोध से [illegible] आकाश का समधरातल बन जाता है और उसी धरातल पर आती हुई (ऊपर से) उन सब को [illegible] सीमा पर ग्रहण करती है। वही सीमा अथवा धरातल आकाश का नीला गोला ऊपर [illegible] भासता है। जिस धरातल मे हम असख्य ताराओ को, ग्रहो सहित सूर्य को तथा चन्द्रमा को [illegible] पर अनुभव करते है उसी चन्द्र धरातल को ३६० अशो मे विभक्त करके सभी ज्योतिर्मय पिण्डो [illegible] दूरी की गणना की जाती है और उनके बिम्बो के व्यास भी उसी स्थान से अनुमान करके निर्धारित [illegible] जाते है। यह चन्द्रमा धरातल अन्दाजन ७५००० लाख कोस की दूरी पर निश्चित की गई है [illegible] हुआ कि यहा ही तक हमारी दृष्टि पहुचती है और हमारी दृष्टि से ही यह धरातल [illegible] यह मत आज दिन सर्वत्र प्रचलित है, किन्तु हमारा कहना है कि यह धरातल जिसमे सभी [illegible] समान ऊचाई पर हमे दीख रहे है यह चन्द्र धरातल नही है किन्तु यह मेरी चक्षु के भीतर [illegible] बिन्दु है वही इन सब के देखने का धरातल है। दूर या समीप की ऊचाई से आते [illegible] पदार्थ हमारी चक्षु पर आकर ही विश्रान्त होते है। इसी चक्षु रूपी धरातल मे इन [illegible] महोवथ बिम्ब अपनी दूरी के नियमानुसार जितना बडा होकर दृष्टि पर पहुचता है [illegible] वस्तु को हम देखते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि चन्द्रमा यदि अपने ही स्थान पर [illegible] तो वह इतना छोटा न होता। विज्ञान हमको समझाता है कि चन्द्रमा अपनी कक्षा (orbit) [illegible] पर बहुत विस्तार मण्डल से है। यदि हमारी दृष्टि चन्द्रमा के धरातल पर [illegible]

संभव है कि सूर्य आदि ग्रहों को छोटा देखे परन्तु चन्द्रमा को इतना छोटा कदापि नही देखती। इससे कहना पडता है कि वह चन्द्रमा भी अपनी कक्षा से उतर कर हमारे नेत्र धरातल मे जितनी प्रमाण की महोदय मूर्ति ने उपस्थित हुआ है उतने ही वडे को हमारे नेत्र ग्रहण करते हैं। तो ऐसी स्थिति मे जब चन्द्रमा, सूर्य और तारे एक धरातल मे हमे दीख रहे हैं तो हम विना संकोच के यह सिद्धान्त कर सकते हैं कि वे सब भी हमारी दृष्टि के धरातल पर ही दीख रहे हैं। इस नीले आकाश का ऊंचा दिखना ऊंचाई को कुछ ग्रहण करने वाली दृष्टि के ही प्रभाव से मानना चाहिये। अर्थात् जिस प्रकार अपने धरातल मे यह दृष्टि ग्रहो को पकड़ती है उसी प्रकार कुछ ऊंचाई को भी ग्रहण कर रही है, किन्तु इनका धरातल चन्द्रमा की कक्षा पर कदापि नही। हम देखते हैं कि पास पास की दो वस्तुओं की दूरी और समीपता को हमारी दृष्टि ग्रहण कर लेती है किन्तु जब वस्तुएं वहुत दूर की होती है तो उनकी दूरी पकड़ने का सामर्थ्य न रखने से हमारी दृष्टि उनको एक ही धरातल पर देखा करती है अतः इस थोडी वहुत ऊंचाई के देखने से चन्द्र कक्षा पर धरातल अनुमान करना भूल है।

वेद का मन, प्राण, वाक् से संबन्ध

जगत् में साम्य, वैषम्य, घटाव, वढाव जो जहां दीखते हैं वे सब चारों ओर वाक् ही वाक् फैली हुई जाननी चाहिये। ये सब वेद हैं किन्तु वेद रूप मे ये सब वाक् किसी न किसी नाभि से अवश्यमेव वधी हुई रहती है। कोई भी वेद अपनी नाभि से च्युत नही होते। साम और ऋक् का आयतन नियत होता है किन्तु यजुः का आयतन कोई भी नियत नही होता। वाक् सदा सत्यरूपा है वह कभी प्राण के विना नही रहती और प्राण कभी विना मन के नही रहता। यही कारण है कि यह वेद जिस प्रकार वाक् है उसी प्रकार प्राण और मन भी है। जहां तक मन का फैलाव है वही तक प्राण फैला हुआ है। इसी प्राण के फैलाव के साथ साथ वाक् भी नियमानुसार फैलती है। तीनो के एक साथ फैलाव को वेद कहते हैं अतः यजुर्वेद मे वाक् को वेद कहा है और ऐतरेयारण्यक मे प्राण को और तैत्तिरीय वाले मन को वेद कहते हैं।

वेद शब्द की व्युत्पत्ति

मन, प्राण, वाक् इन तीनों का जहा तक फैलाव है उसके भीतर दृष्टि रखने से दृष्टि के देश मे जितनी वडी ऋक् मूर्ति हो सकती है वही पकड में आती है। दृष्टि का उस मूर्ति के पकड़ने को ही जानना कहते हैं। उसी जानने के अनुरोध से जिस मूर्ति को पकड कर हमारा ज्ञान होता है उसको वेद कहते हैं। जहां हम किसी वस्तु के लिये "है" ऐसा कह कर दावा करते है वहां केवल उसके तीनो वेदो का हमारी आत्मा मे सवन्ध होता है। उसके तीनो वेद हमारी आत्मा में आते हैं उसी को हम "है" कह कर व्यवहार करते हैं। विना वस्तु की उपलब्धि के कोई सत्ता नही है और विना वस्तु की सत्ता के कोई उपलब्धि नही है। उपलब्धि को ही वेद कहते हैं। वेद का और सत्ता का परस्पर घनिष्ट संवन्ध है। जो नही है उसकी कदापि उपलब्धि नही होती और जिसकी उपलब्धि है उसका अस्तित्व अवश्य ही है। इसी कारण ऋषियो ने सिद्धान्त किया है कि इस जगत् के समस्त भूत वेद में सन्निविष्ट हैं अर्थात् वेद से वद्ध है। इस प्रकार मन, प्राण, वाक् तीनों को मिला कर वेद कहा गया है और इन्ही तीनो को मिले हुए रूप मे प्रजापति

कहते हैं। अतः आदि प्रजापति से सब वेदो का उत्पन्न होना माना जा सकता है अथवा उसी मूल प्रजापति का निश्चल स्वरूप वेदो को जानना चाहिये अथवा वेदो को ही प्रजापति कहना चाहिये ये तीनों सत भिन्न होने पर भी एक रूप हैं।

वेद की अपौरूपेयता

छन्द, वितान वा रस वेद प्रत्येक वस्तु मे सम्मिलित रूप से व्यापक है। ये सभी वेद पुरुष प्रयत्न के आधीन न होने से अपौरुपेय कहे जाते है। जगत् मे पौरुपेय, अपौरुपेय भेद से दो प्रकार के पदार्थ हैं, इन घट, पट आदि जो पुरुपो से निर्मित हैं उनमे भी यह प्रजापति व्यापक होने के कारण वेद और सत्ता के द्वारा स्वयम् सनिविष्ट होता है। वेद के लिये पुरुप को कुछ प्रयत्न नही करना पड़ता अतः वेद सदा अपौरुपेय है।

इन्ही वेदो को अपनी बुद्धि से देख कर इन्ही वेदो के पदार्थों को समझाने के लिये जो शास्त्र बनाया है वह वेद के जानने के लिये है अतः वेद शास्त्र कहलाता है। प्राण देवताओ के विज्ञान और उसी से सम्बन्ध मनुष्य देवताओ के इतिहास और प्राण देवताओ की यज्ञ विधि और उनकी स्तुति इन सारे विषयों को लेकर प्राचीन समय ऋपियो ने जिस शास्त्र को निर्माण किया था वही शास्त्र आज दिन वेद शास्त्र के नाम से प्रसिद्ध है।

॥इति वेद-निर्वचनं समाप्तम् ॥

यज्ञ

यज्ञ के पांच रूप ये है

१—यहा तक प्रजापति के शरीर, रूप और वेद का वर्णन किया गया है, इन्ही वेदो से यज्ञ आरम्भ होता है जिनमे पहले यजुः से, पीछे ऋक् से और फिर साम से यज्ञ का स्वरूप बनाया जाता है। ये तीनों वेद सिलसिलेवार सन्निविष्ट होकर यज्ञ के स्वरूप बनाते हैं। ये तीनों वेद वाक् है। यह जहा तक जितना अवकाश लेता है वही तक यज्ञ भी सपक्ष होता है क्योकि यह यज्ञ प्राण प्रधान है और प्राण, वाक् दोनों मिलेजुले रहते है, एक के विना एक नही रहता है, इसीलिये ये तीनो वेद ही यज्ञ के लिये योनि अर्थात् प्रभव स्थान है और आशय अर्थात् कर्म स्थान हैं अथवा यो भी कह सकते है कि यह यज्ञ ही वेदो की योनि वा आशय है यह विद्या (वेद) त्रिधातु है वह इस यज्ञ रूपी आशय मे रहता है। इसलिये यज्ञ भी त्रिधातु होता है।

इन्ही तीनो वेदो मे से सभी भूत विद्यमान् रहते है और इन तीनो विद्याओं का सत्य नाम है इसलिये ये सब सत्य मे ही वर्तमान है, वह सत्य उसी यज्ञ के द्वारा फैलाया जाता है।

सबमें प्रथम कोई एक स्वयंभूयज्ञ है जिसके तीनो वेदो के अन्तर्गत यह चराचर विशाल जगत् विद्यमान् है, यही यज्ञ अपने ही को हवन करता रहता है जिससे नये २ ऋक्, साम और यजु उत्पन्न होते रहते हैं। इन तीनों के नये उत्पन्न होने पर नया यज्ञ होने लगता है, वही नयी वस्तु हो जाती है। जैसे कि सूर्य, पृथ्वी, चन्द्र आदि अनन्तानन्त गोले जो इस विशालआकाश मे दीखते है ये पृथक् २ तीन २ वेदो से पृथक् एक एक यज्ञ हो रहे हैं किन्तु इन सब यज्ञो का संबन्ध उसी एक स्वयंभूयज्ञ से है। उसी स्वयभूयज्ञ के अन्तर्गत भिन्न २ स्थानो मे भिन्न भिन्न छोटे बडे यज्ञ हो रहे हैं। इन सब यज्ञो का क्रम भी उसी स्वयभूयज्ञ के अनुसार है किन्तु इनके आश्रयाश्रयी भाव की विशेषता है। वह स्वयभूयज्ञ परमेष्ठी पद कहलाता है। इनमे अनन्तानन्त त्रैलोक्यो के अन्तर्गत जो प्रजापति इस परमेष्ठी पद का अधिष्ठाता है वही ईश्वर है, उसके तीनो वेद भी ईश्वर हीहैं और उन तीनो वेदों से होता हुआ यज्ञ भी ईश्वर है उसी वेद से उसी यज्ञ से अथवा उसी प्रजापति से यह विशाल जगत् हुआ है वही मेरी आत्मा है।

२—ये जहा जो कुछ हम देख रहे हैं इन सबको ही प्राण समझना चाहिये। यह प्राण मन के प्रकाश मे विद्यमान् है और इन प्राणो के आधार पर वाक् रहता है जो तेज रूप मे दीखते हैं, ये तीनो सम्मिलित रूप मे एक प्रजापति होता है उसमें मन का प्राण मे जाना और प्राण का वाक् में जाना और वाक् का फिर मन में जाना इसी सिलसिले को यज्ञ कहते हैं ऐतरेय महर्षि कहते हैं कि "वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरिक्रमो यज्ञः" अर्थात् मन प्राण में आकर वाक् बने और फिर वाक् मन मे वदले इस ही काम को यज्ञ कहते हैं। इस प्रकार वदलने का कारण बीच का प्राण ही है, वही क्रिया रूप है, इसलिये वास्तव मे वही यज्ञ है, उसी के मन और वाक् ये दोनो वर्तनी हैं।

३—सोम को अमृत् कहते है सोम वह रस है जो कभी नष्ट नही होता और जो सम्पूर्ण जगत् के पदार्थो का उपादान कारण है। सोम सम्पूर्ण आकाश मे सर्वत्र भरा हुआ व्याप्त रहता है उसकी व्याप्ति की दशा मे उसमे न रूप है, न रस है, न गन्ध है, किन्तु उसी के सयोग से वे सब पदार्थ वन गये है जिनमें रूप, रस, स्पर्श और गन्ध हैं। यही सोम दूसरे सोम से जब आघात प्रत्याघात पाता है तो परस्पर के मर्दन और घर्षण मे एक प्रकार का बल उत्पन्न होता है उस बल को "सह" कहते हैं, इसी सहः से स्वभावत अग्नि उत्पन्न हो जाता है। सोम के घर्षण से सह उत्पन्न होकर उससे अग्नि का उत्पन्न होना जिस क्रिया से होता है उस सम्पूर्ण क्रिया को यज्ञ कहते हैं।

४—जब कभी सोम का अग्नि मे हवन करते हैं तो वह सोम अग्नि मे परिणत हो जाता है और अग्नि जल कर जब ज्वाला से ऊपर निकल जाता है तो जहा तक प्रकाश है उसमे बाहर पहुँचकर अग्नि, अपने अग्निपने मे मर जाता है और फिर सोम के रूप में ही परिणत हो जाता है इस प्रकार अग्नि सोम मे और सोम अग्नि मे पर्याय(बारी बारी) में वदलते रहते हैं। इस वदलने की सिलसिलेवार क्रिया को यज्ञ कहते है।

५—जिस प्रकार आदि प्रजापति का वितान होना यज्ञ है उसी यज्ञ से जगत् की सारी प्रजा उत्पन्न हुई है उसी प्रकार अब इस समय मे भी और आगे को भी यज्ञ ही के द्वारा प्रजायें उत्पन्न हो रही हैं या

होती रहेगी। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वस्तु का स्वरूप या प्रत्येक वस्तु की जीवन रक्षा [illegible] होती है उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थों की उत्पत्ति भी यज्ञ से ही समझनी चाहिये।

यज्ञ से होने वाली प्रजापति की प्रजा दो प्रकार की है—देवे और भूते। देवता ३३ हैं, ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, द्यौ और पृथ्वी। इनमे वसुओ में सब से प्रथम अग्नि है और [illegible] रहनेवाले आदित्यो में बारहवा आदित्य विष्णु है इस प्रकार अग्नि से लेकर विष्णु तक जो देवताओं का सिलसिला जारी हो जाता है उसको यज्ञ कहते हैं। इसी यज्ञ में सब देवताओ का सन्निवेश है। [illegible] के द्वारा जिस सिलसिले में सब देवताओ का समुदाय बनता है उसी को प्रजापति कहते हैं। इन ही ३३ देवताओ के रूप मे प्रजापति का फैलाव होना अनिरुक्तप्रजापति का निरुक्त रूप है।

६–तीनो वेदो में से ऋक् और साम का अपने आप उत्क्रमण(उठना) नही होता [illegible] न दोनो किसी के अन्न होते हैं और न इन दोनो का कोई दूसरा अन्न होता है किन्तु इनमे अग्निरूपी जो वाक् है वह आनन्द भी है और अन्न भी इसीलिये है अन्न लेने के उद्देश्य मे उदय मे उठकर [illegible] बनता है [illegible] एक प्रकार का उत्क्रमण है और दूसरे किसी प्रजापति के अन्नाद प्राण के आक्रमण के कारण भी [illegible] रूप से अग्नि का उत्क्रमण हो जाता है। अर्थात् दूसरे के बल से यहा का अग्नि या वाक् [illegible] के शरीर में चला जाता है वह दूसरे आत्मा की तृप्ति करता है, यह दूसरे प्रकार का उत्क्रमण है। [illegible] अन्नाद प्राण को अग्नि कहते है। और जो अंश खीच कर दूसरे का अन्न बनाया जाता [illegible] सोम कहलाता है। जब कभी सोम अन्नाद अग्नि मे हवन किया जाता है तो सोम तत्काल ही अपने [illegible] बदल कर ऊर्क् हो जाता है। ऊर्क् एक प्रकार का बल बढानेवाला ठंडा रस है। यह रस [illegible] मे प्राणरूप में परिणत हो जाता है। वह प्राण फिर अन्न को ग्रहण करने लगता है, [illegible] प्रकार प्राण, ऊर्क् और अन्न इन तीनो का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध हो जाता है। एक को एक पकड़े रहता है और [illegible] से एक उत्पन्न होता है। इन तीनो के इस प्रकार परस्पर उत्पत्ति की सिलसिलेवार [illegible] है जगत् में किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति या स्थिति इस यज्ञक्रिया के बिना नही होती।

इस प्रकार का यह यज्ञ प्रत्येक वस्तु मे प्रत्येक समय मे रातदिन जारी रहता है। [illegible] हमारे शरीर की अग्नि को या हमारी आत्मा को प्रतिक्षण स्वर्ग मे पहुँचाता रहता है। [illegible] आत्मा प्रतिक्षण सूर्य रूपी स्वर्ग मण्डल में इसी यज्ञ के द्वारा जाती रहती है तथापि हमारे [illegible] त्मा के द्वारा क्षेत्रज्ञात्मा या प्रज्ञात्मा इस प्रकार बन्धे हुए रहते है कि इनके स्वर्ग जाने पर भी [illegible] ज्यो की त्यो आत्मा की स्थिति बनी रहती है और उनका इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध [illegible] का अभियान भी ज्यो का त्यो बना रहता है इसलिये हमारी आत्मा नित्य स्वर्ग [illegible] स्वर्ग जाती हुई नही पहिचानती। जिस प्रकार जल में सूर्य के बिम्ब का [illegible] कारण बिम्ब में भी बदलता ही रहता है तो भी ज्यो का त्यो फिर आजाने से [illegible] नही प्रतीत होता न कुछ हानि प्रतीत होती है ज्यो का त्यो बिम्ब जल के साथ [illegible] हुआ दीखता है उसी प्रकार शरीर मे हमारी आत्मा बिना बधी हुई भी बधी हुई [illegible] है किन्तु अपने को बाहर जाते हुए नही मानती।

यज्ञभक्तिसूत्र

ऊपर लिखे हुए यज्ञ प्रकारो का तात्पर्य्य यह है कि अग्नि के संस्कार को यज्ञ कहते हैं। अग्नि को हमने ३ प्रकार मे देखा है—वैदिक, दैविक और भौतिक। इन सभी अग्नियो का सस्कार करना ही यज्ञ है—वैदिक अग्नि को यजु. कहते है। यजु. के रस से ही प्रत्येक वस्तु का स्वरूप बना हुआ रहता है वही यजुः ऋक् होकर निकल जाता है और सोम के द्वारा साम रूप से आकर फिर अग्नि बनकर यजुः हो जाता है यही वैदिक अग्नि का संस्कार है। और दूसरा दैविक अग्नि वह है जिसके वसु, रुद्र, आदित्य के विभाग से प्रजापति का वैतानिक स्वरूप बनता है, और जिसमे ३३ देवताओ का सन्निवेश है, उसी मे अन्न, ऊर्क् प्राण के परस्पर परिग्रह द्वारा यज्ञ का स्वरूप बतलाया जा चुका है, और तीसरा भौतिक-अग्नि है जिसमे आहुति हुआ करती है इस आहुति से अग्नि बनकर फिर कभी सोम हो जाता है, यह भी प्रकार दिखाया जा चुका है, किन्तु इसमे विशेषता यह है कि अग्नि में आहुति दो प्रकार के पदार्थों अग्नि और सोम की होती है।

अग्नि के सस्कार के लिए यदि अग्नि ही की आहुति दी जाय तो अग्निचयनयज्ञ या अग्नियज्ञ कहते हैं। वह अग्नि जिसमें अग्नि या सोम की आहुति दी जाती है वह ११ प्रकार की है—(१) गार्हपत्य जो पृथ्वी से सम्बन्ध रखता है, (२) आहवनीय को सूर्य से संबन्ध रखता है और तीसरा अन्तरिक्ष से सबन्ध रखने वाले ८ प्रकार के धिष्ण्याग्नि हैं और ११ वी नैऋताग्नि—इन ग्यारहो अग्नियो मे अग्नि या सोम की आहुति देना ही अग्नि या सोमयज्ञ है। अग्नि चयनयज्ञ मे अग्नि दो प्रकार का है—चित्य और चितेनिधेय इनमे भूत और देवता ये दोनो प्रकार के चित्याग्नि होते है जब अग्नि मे अग्नि की आहुति मे अग्नि का चयन किया जाता है तो अग्नि के बलवान् होने से आत्मा भी प्रबल हो जाता है, इसीलिए उसमे भूतो का संबन्ध या सोम का सम्बन्ध निर्बल होकर टहनी मे से सूखे हुए पत्तो के अनुसार झड़कर अलग हो जाते हैं इसीलिये आत्मा पृथ्वी और चन्द्रमा दोनो छोडकर शुद्ध निराले अग्निरूप से सूर्य मे चली जाती है, अर्थात् वैश्वानरअग्नि जो दिव्य और पार्थिव अग्नि के मेल से उत्पन्न हुआ है इसमे से पार्थिव अग्नि का चयन सस्कार द्वारा पार्थिवपना मिट कर दिव्याग्नि भाव ही रह जाता है जिससे आत्मा की कैवल्य मुक्ति हो जाती है। परन्तु अग्नि मे यदि सोम की आहुति दी जाय तो उस आत्मा की मुक्ति नही होती, किन्तु स्वर्ग का सुख उसको अवश्य होता है। उसके शरीर मे निधेयाग्नि रूप देवता सूर्य के सवत्सर मे आकर मनुष्य के देह की आत्मा बनती है और शरीर के वैश्वानर से एक होकर अग्नि के स्वभाव से प्रतिक्षण शरीर से बाहर द्यौ लोक की ओर जाया करते है। जिस प्रकार सूर्य का सवत्सर सब देवताओं से बना हुआ होता है उसी प्रकार जीव के शरीर मे वैश्वानर अग्नि भी सब देवताओं से बना हुआ है। इसलिये अग्नि मे सोम की आहुति करना सब देवताओ मे ही आहुति करना है और उस आहुति को यज्ञ कहते है।

मेरे शरीर का वैश्वानर सूर्य के सवत्सर की प्रतिमा है, अर्थात् पूर्ण सादृश्य है इसी कारण से सूर्य सवत्सर के जितने अवयव होते है उतने ही अवयव उस वैश्वानर के भी जानने चाहिये। जब हम यज्ञ करते हैं तो उसकी आहुति ऊपर जाकर जिस प्रकार सूर्य के सवत्सर का संस्कार करती है उसी

प्रकार उसके साथ-साथ ही यजमान के वैश्वानर का भी सञ्चार करती रहती है। इसीलिए हम प्रथम सूर्य सवत्सर के अवयव को दिखाते हैं।

संवत्सर का सबसे छोटा अवयव अहोरात्र है। ३६० अंशों में से आधे-आधे अंश मिलाकर एक अंश का अहोरात्र होता है इसीलिए सवत्सरचक्र मे एक-एक अंश काले, सफेद के विभाग से दो-दो होकर पूरे ७२० विभाग होते हैं इन मे एक काला दूसरा सफेद एकान्तर क्रम से रहते हैं इस पर कोई प्रश्न कर सकता है कि ये अहोरात्र सूर्य के कारण नहीं प्रत्युत पृथ्वी के कारण होता है आकाश मे पृथ्वी जहां पर है उसके सूर्य की ओर आधा भाग उजाले मे रहता है और दूसरी ओर का आधा भाग काली छाया में रहता है। पृथ्वी चाहे साल भर मे सूर्य के चारो ओर कहीं भी रहे वहां उसकी इसी प्रकार दोनो ओर सफेद, काले भाग रहते हैं, किन्तु जहा पृथ्वी है केवल उसी स्थान में पृथ्वी के एक पृष्ठ मे एक ही काला भाग हो सकता है। उसके पहले के काले भाग सब नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए ये सवत्सर चक्र मे एकान्तर क्रम से काले, सफेद का होना मिथ्या है। इसके उत्तर मे कहना है कि ये आकाश के ७२० भाग यजमान के विचार से माने जा सकते है। पृथ्वी पर सूर्य के सम्मुख यजमान के खडे रहने पर वह पृथ्वी जितनी पूर्व को चली जाती है उतने को सफेद कल्पना करके फिर सूर्य से दूसरी ओर यजमान के जाने पर वह पृथ्वी जितने आकाश प्रदेश मे आगे बढती है उतने को काला कल्पना करते हैं। प्रति दिन पृथ्वी अनुमान एक अंश के क्रम से चलती है इनमे एक अंश के अहोरात्र में सफेद और काला दो भाग माने जा सकते हैं इसी प्रकार वर्ष भर की गति मे ७२० भाग हो जाते हैं जिनको अहोरात्र कहते हैं यह पहला अहोरात्र विभाग है।

इसी प्रकार दूसरा विभाग मास का है। पृथ्वी के चारो ओर चन्द्रमा फिरता है, जिस समय सूर्य और पृथ्वी के बीच में आकर चन्द्रमा अदृश्य हो जाता है उसके दूसरे दिन में पृथ्वी और चन्द्रमा दोनो की गति के कारण जब चन्द्रमा पृथ्वी के दूसरी छोर की ओर आ जाता है और सूर्य चन्द्रमा के बीच मे पृथ्वी हो जाती है इतने समय मे १५ दिन हो जाते है। इतने समय मे पृथ्वी जितनी दूर पूर्व को चली जाती है उतने आकाश को शुक्लपक्ष कहते हैं फिर चन्द्रमा चलते-चलते १५ ही दिन मे सूर्य और पृथ्वी के बीच में आ जाता है उतने समय में पृथ्वी जितनी पूर्व को सरकती है उसे कृष्णपक्ष कहते हैं। इसी पन्द्रह-पन्द्रह दिन के एक-एक भाग बनाती हुई पृथ्वी एक सवत्सर मे २४ भाग बना देती है जिसमे १२ शुक्र और १२ ही कृष्ण एकान्तर क्रम से होते हैं। यहा भी उसी प्रकार पूर्व पक्ष हो सकता है किन्तु यजमान ही के विचार से यहा भी पृथ्वी पर चन्द्रमा का शुक्ल भाग के दिन दो अधिक पाने से शुक्ल पक्ष तथा प्रकाश के दिन दो घटने से कृष्णपक्ष कहा जा सकता है। जिस समय सूर्य चन्द्रमा का योग होता है उस समय पृथ्वी आकाश के जिस बिन्दु पर है वहा से आरम्भ करके फिर सूर्य, चन्द्रमा के दूसरे योग तक पृथ्वी जहा चली जाती है उस बिन्दु तक सवत्सर का १२वां भाग होता है उसी के भाग मे शुक्ल कृष्ण दो-दो भाग होने से संवत्सर के २४ विभाग हो जाते हैं, यही दूसरा विभाग है।
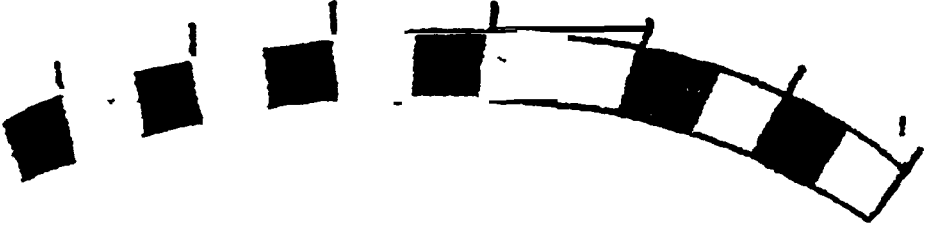
इसी प्रकार तीसरा विभाग ऋतुओ का है। भारतवर्ष मे तीन ऋतु प्रधान है ग्रीष्म, वर्षा, शीत। एक-एक ऋतु चार-चार मास का होता है। इस कारण संवत्सर के तीन विभाग हो जाते है यही तीसरा विभाग हैं।

इसी प्रकार चौथा भाग अयन का है हम देखते हैं सवत्सर मे ६ मास तक सूर्य विपुवत्वृत्त से उत्तर की ओर रहता है जिससे पृथ्वी नीचे और सूर्य ऊपर ज्ञात होता है, किन्तु दूसरे ६ मास मे सूर्य विपुवत्वृत्त से दक्षिण की ओर रहता है इसी सूर्य या पृथ्वी की गति के कारण सवत्सर के दो भाग होते हैं, उत्तरायण गति को शुक्ल भाग और दक्षिणायन को कृष्ण भाग कहते है।

इसी प्रकार पाचवा विभाग सवत्सर का पूर्ण रूप से एक है। इस प्रकार सवत्सर के पांच रूप होते है इन पाचो मे भिन्न २ पांच प्रकार की अग्नि मानी जाती हैं उनमे पृथक् २ आहुति देकर भिन्न २ प्रकार के सोमयज्ञ की विधियां हैं। इसीलिए सोमयाग चार प्रकार का हैं–एकाह, अहीन, रात्रिसत्र, आयन-सत्र। जो यज्ञ एक अहोरात्र मे पूर्ण हो उसको एकाह कहते हैं और जो १० अहोरात्र तक मे पूर्ण हो उसे अहीन या दशाह कहते हैं और जो १०० अहोरात्र तक मे पूर्ण हो उसे रात्रिसत्र कहते है और सहस्र अहोरात्र तक मे पूर्ण होने वाले को अयनसत्र कहते हैं। इन सब में सवत्सर के छोटे भाग अथवा बडे भाग को पकड कर उसका संस्कार करना ही यज्ञ से तात्पर्य्य रखता है। किसी न किसी प्रकार यज्ञ करने से सवत्सर का ही सस्कार होता है यहां पर इतना और विशेप समझना चाहिये कि इसी सवत्सर के संस्कार की योग्यता लाभ करने के लिये छोटे २ यज्ञ किये जाते हैं जिनको–१ अग्निहोत्र २ दर्शपूर्णमास ३ चातुर्मास्य, ४ पशुवन्ध कहते हैं। इनमे अग्निहोत्र, से सवत्सर अहोरात्र विभाग का सस्कार होता है और दर्शपूर्णमास से पक्ष या मास विभाग का सस्कार होता है इसी प्रकार चातुर्मास्य ऋतु विभाग का और पशुवन्धर मे अयन विभाग का सस्कार होकर फिर ५ सोमयाग से पूर्ण एक सवत्सर का सस्कार किया जाता है। सब इतने ही यज्ञ है। इनके अतिरिक्त जितने प्रकार के यज्ञ शास्त्रो मे कहे गये हैं वे सब इन्ही के रूपान्तर हैं। इन यज्ञो के करने से सूर्य सवत्सर के अनुसार यजमान के शरीर वैश्वनार भी सस्कार युक्त होकर शरीर छोडने के बाद सूर्य सवत्सर मे सम्मिलित हो जाता है जिससे स्वर्ग का सुख मिलना सम्भव है, जिसका विपय दूसरे स्थान मे विशेप रूप से वर्णन किया गया है।

प्रजा

सबसे पहला स्वयम्भू, प्रजापति के मन, प्राण, वाक् से ही सब कुछ सृष्टि उत्पन्न हुई है। उनमे सबसे प्रथम मन मे एक प्रकार की इच्छा वृत्ति उत्पन्न हुई किसी विपय के लिये मन का उसके आकार मे

आना ही इच्छा कहलाती है। यह इच्छा होते ही उसके लिये प्राण की क्रिया होने लगती है। प्राण एक प्रकार का बल है, वाक् ही पर लगा करता है। उसी बल के अनुसार जो वाक् मे विकार उत्पन्न होता है उसी को प्रजा कहते हैं।

मन की इच्छानुसार प्राण—बल जो वाक् मे क्रिया होने मे विकार होने लगता है उसी से दो रूप उत्पन्न होते है—अमृत और मर्त्य अथवा अमूर्त और मूर्त अथवा स्थित और गत अथवा सत्य और [illegible]। जो मूर्च्छित होता है। उसी को मूर्त्य या मर्त्य कहते है—यह मूर्त अपने स्वातन्त्र्य को खो देता है और पराधीन हो जाता है, इसी को भूत कहते हैं। इन मूर्तो मे अमूर्त प्रविष्ट (घुसा हुआ) रहता है, वह अमृत है। उसी को देवता कहते हैं। भूत और देवता ये ही दो प्रकार की प्रजा है। जो कुछ हम देखते हैं यह सब मर्त्य हैं और सब मन, प्राण, वाक् मय हैं, किन्तु इन सब के भीतर कोई अमूर्त तत्त्व है जो इन भूत मर्त्यों को धारण किये हुए रहता है और इनको चलाता रहता है। यद्यपि ये सब मन, प्राण, वाक्-मय कहे गये हैं तथापि मुख्यतया ये सब वाक् ही वाक् दिखलाई देते है। क्योकि जितना विकार होकर इन पदार्थो मे भिन्नता दिखाई देती है। वे सब विकार वाक् ही मे होना सम्भव है। मन और प्राण मे कोई ऐसा विकार नही होता जिससे उनके असली रूप मे परिवर्तन हो किन्तु सांचे मे [illegible] के अनुसार अथवा खेत की क्यारी मे पानी के अनुसार इन विकार वाले भिन्न २ रूप के वाक् मे प्राण और मन भी उसी के अनुसार हो जाते हैं। वाक् का जैसा छन्द है उससे छेदे हुए होने के कारण मन और प्राण अन्यथा नही हो सकते अथवा यो समझिये कि सब से पहले मन जैसा हो उसी प्रकार प्राण ने क्रिया की और उसी प्रकार वाक् ने विकार पाया इसलिये इन सब पदार्थों में मन, प्राण और वाक् इन तीनो का एक ही साचा समझना चाहिये।

मन में नाना रूप होने से प्राण नाना रूप का होता है और प्राण के नाना रूप होने से वाक् भी नाना प्रकार का होकर भिन्न भावो को उत्पन्न करता है यद्यपि ये तीनो नाना प्रकार के होते [illegible] तथापि इनमें केवल वाक् ही विकार युक्त होती हैं, मन, प्राण में कदापि विकार नही होता। यद्यपि हम देखते हैं कि विचार करता हुआ मन बहुत से नये २ रूपो को धारण करता है तथापि वह मन अपने परि-माण मे कम नही होता और उसके उत्पन्न हुए नाना भाव भी उससे अलग कदापि नही रहते फिर भी अपनी ही माया से स्वतन्त्रता पूर्वक नाना रूपो में बदलता हुआ भी सदा सर्वदा निर्विकार [illegible] रूप मे मन बना रहता है। इसी प्रकार प्राण भी मन के नियोग से यद्यपि नाना रूप का होता है तथापि उसमे विकार नही आता न उन विकारो से दृढ बन्धन पाता है वाक् मे अपना काम करते [illegible] काल के लिये विकारवान् प्रतीत होता है किन्तु फिर पूर्ववत् अपने स्वरूप मे आ जाता है [illegible] उसमे कोई विकार नही होता, परन्तु इन्ही मन और प्राण के द्वारा वाक् में विकार होता है। [illegible] का नाम है बल के अनन्त भेद हैं भिन्न २ प्रकार का बल थोडा या अधिक जिस प्रकार वाक् मे [illegible] है उसी क्षण वह वाक् और की और हो जाती है और उस विकार युक्त वाक् मे प्राण और मन [illegible] के अनुसार अपने भी स्वरूप धारण किये रहते है।

मन, प्राण, वाक् इन तीनो मे मन की इच्छानुसार प्राण के बल से ही वाक् मे विकार [illegible] है यह कहा जा चुका है इसी नियम के अनुसार अमृत उत्पन्न होने के लिए [illegible]

पहले हुआ इसी से वाक् के ऊपर प्राण ने अमृत के लिए बल लगाया जिससे मन, प्राण, वाक् तीनो के मे अमृत उत्पन्न हुआ, फिर भी उसी मन की इच्छा और प्राण के बल से वह अमृत दो प्रकार का हो अर्थात् उसमें दो प्रकार की वृत्तियां उत्पन्न हुई। एक अन्तर्मुख होने का स्वभाव रखता है तो दूसरा मुख होने का, बहिर्मुख स्वभाव वाला चञ्चल प्रकृति का है और विकस्वर अर्थात् उत्तरोत्तर अधिक लेते हुए गति का स्वभाव रखता है इसके विरुद्ध दूसरा स्थिरता का स्वभाव रखता है और उत्त संकुचित होता हुआ थोडे देश की ओर होता है। इनमे बहिर्मुख को "अग्नि" कहते हैं और अन्तर्मु "सोम"। मन के ही इच्छानुसार किसी वाक् में कम प्राण और किसी में अधिक प्राण लगा, कारण दो पदार्थ उत्पन्न हुए एक महाप्राण के कारण "अन्नाद" अर्थात् भोक्ता हुआ उसे ही "अ कहते हैं और दूसरा अल्पप्राण के कारण अन्न रूप मे हुआ अर्थात् भोग्य बना उसे ही "सोम" कहते सृष्टि मे इन दोनो के मिलने से काम चलता है। यदि सोम न होता तो प्रत्येक वस्तु वितान फैलाव मे आकर नष्ट हो जाती यदि अग्नि न होता तो प्रत्येक वस्तु सकुचित् होते-होते इतने छोटी कि उनका अस्तित्व ही नही रहता। दोनो के होने से अग्नि के विकास को उचित प्रमाण से आगे कर "सोम" संकुचित करता है और सोम के संकोच को उचित प्रमाण से आगे रोक कर अग्नि मे लाता है। इस प्रकार कुछ सकोच-कुछ विकास मे जगत् के सब पदार्थ दीखते हैं यही दोनो कार्य है।

जिस प्रकार आदि प्रजापति ने अमृत के लिए इच्छा की उसी प्रकार मृत्यु के लिए भी करना उचित था। क्योंकि यदि मृत्यु न होवे तो अग्नि और सोम इन दोनो का बल कम होना हो जाता और उन दोनो के बराबर के बल से कोई एक ही प्रकार की वस्तु बन सकती। भाति- के पदार्थ नही हो सकते इसीलिए मृत्यु होने की भी इच्छा हुई और उसके अनुसार उन्ही तीनो मन, प्राण, वाक् से मृत्यु उत्पन्न हुआ, वह भी मन के इच्छानुसार दो प्रकार का हो गया– १ सो मृत्यु जिसे 'यम' कहते हैं और दूसरी अग्नि की मृत्यु जिसे 'अमति' और 'अशनाया' कहते है। यम वायु के आकार का एक गरम पदार्थ है जो रूखेपन का स्वभाव रखता है–इसी रूखेपन (खु से पदार्थों के अवयवो का जोड ढीला हो जाता है। स्नेह अर्थात् नमी के कारण जो उनमे आप बन्धन हुआ था वह ढीला हो जाता है और प्रत्येक अङ्ग बिखर कर अलग हो जाते हैं, और वह नष्ट हो जाती है, किन्तु इसके अतिरिक्त दूसरी मृत्यु अशनाया है जो एक प्रकार की बडी भूख है प्रत्येक परमाणु को भीतर-भीतर पेट में ले जाती हुई एक ही स्थान पर जमा करके उसको छुपा देती वह सूक्ष्म रूप में रूपान्तरित होकर उसकी मूर्ति को नष्ट कर देती है यह अशनाया इतना घोर कि वह अपने अस्तित्व को भी रख नही सकती। इसीलिए प्रजापति की इच्छा से अपने उदर मे सोम को ग्रहण किया जिससे उसमें भी आत्मा आ गई। अमृत के भीतर रहने के कारण उसकी मृत्यु न होकर वह अशनाया अर्क के रूप मे आई। अर्क वह है जो अशनाया अर्थात् भूख को रखता अन्न के लिए धावा करता है और अन्न खाया करता है। इस अर्क की अवस्था में इस अशनाया क "आप्" हो गया। आप् ही इस जगत् में अश अर्थात् अन्त को भीतर लाया करता है, इसीलिए अशनाया कहते हैं यह आप् स्नेह रखता है और स्नेह के ही कारण एक में दूसरे को इस प्रकार

है इसीलिए इसे "आप्" कहते हैं। यह प्रत्येक वस्तु को संवरण (ढकना) करता है इसीलिए "वारि" कहते हैं। यह अग्नि के वितान कर्म अर्थात् फैलाव को निरोध करके अन्दर की ओर लेता है इसीलिए अग्नि के विरुद्ध चाल चलने से इसे अग्नि की सत्य कहते हैं।

अग्नि, सोम, यम, आप् का साधर्म्य वैधर्म्य

१—अमृतत्वधर्म से सोम और अग्नि का साधर्म्य है—मृत्यु धर्म से 'यम' और 'आप्' का साधर्म्य है रूक्षता धर्म से यम और अग्नि का साधर्म्य है, स्नेह धर्म से सोम और आप् का साधर्म्य है।

२—अग्नि और यम ये दोनो ही अग्नि है किन्तु अग्नि अमृत है और यम मृत्यु है। यह विशेषता दोनो मे है। सोम और आप् ये दोनो ही सोम हैं किन्तु सोम अमृत और आप् मृत्यु है यही इन दोनो की विशेषत्ता है।

३—अग्नि दो प्रकार का है कोई तो सोम को खाता है और सोम से पुष्ट होकर यज्ञ का स्वरूप बनता है किन्तु दूसरा अग्नि सोम से विरोध रखता है। अग्नि में आती हुई सोम की आहुति को नियमन अर्थात् रोकता है इसीलिए उसे यम कहते है प्रकारान्तर से अग्नि दो प्रकार का है—मौलिक और यौगिक। इनमे मौलिक अग्नि और सोम के योग से यौगिक अग्नि उत्पन्न होता है, स्थूल और दृश्यमान होने के कारण उसे ही भौतिक अग्नि कहते है। जबकि 'यम' के द्वारा अग्नि और सोम का वियोग हो जाता है तब यह भौतिक अग्नि सोमरूप अन्न न होने के कारण स्वयम् बुझ कर नष्ट हो जाता है। अ- सोम को भी अग्नि के अनुसार दो प्रकार का जानना चाहिए एक वह जो अग्नि के संयोग मे जलता है और जलकर यौगिक अग्नि बनाता है उसे ही सोम कहते हैं किन्तु दूसरा सोम वह है जो अग्नि में जलता नही और दुर्बल होने पर अग्नि संयोग से उडकर चला जाता है, किन्तु प्रबल होने पर अग्नि को ही हटा देता है, इस सोम को 'आप्' कहते। इस प्रकार अग्नि, यम, सोम, आप् ये चार तत्त्व सिद्ध हुए। जो कुछ कही हम देखते हैं वे सब इन्ही चारो से उत्पन्न हुए है। इनमें यम को अग्नि और आप को सोम ऊपर कहा गया है उस नियम के अनुसार मुख्यतया दो ही तत्त्व सिद्ध है अर्थात् 'अग्नि' ओर 'सोम'। इसीलिए ऋषियो का सिद्धान्त किया है कि—अग्निषोमात्मकं जगत् इन चारों में मृत्यु यम का लोक विवस्वान है अर्थात् इसकी स्थिति सूर्य मे है और अग्नि का लोक पृथिवी, सोम का लोक चन्द्रमा, आप का लोक इन तीनो लोक के बाहर चारो ओर फैला हुआ दिगन्त व्यापी समुद्र है।

अग्नि की दिशा पूरब, यम की दिशा दक्षिण, सोम की दिशा उत्तर, और आप् की दिशा पश्चिम है। इस पृथ्वी के ऊपर इन्ही चारो दिशाओ से ये चारो तत्त्व आया करते हैं। पूरब, उत्तर मुख करके देव-कार्य, दक्षिण मुख करके पितृकार्य और पश्चिम मुख करके आसुर क्रूरकर्म करना चाहिये। अग्नि मे देवता, सोम मे पितर, यम मे भी पितर और आप् मे असुर प्रतिष्ठित रहते है, इन्ही चारो तत्त्वो से इन तीनो देवता, पितर और असुरो की पुष्टि होती है। इन चारो तत्त्वो के क्षय होने पर इन तीनो का भी क्षय हो जाता है।

देवताओं मे से वसुदेवता अग्नि से, रुद्रदेवता सोम से और यम से, आदित्य देवता यम और आप् से विशेषतया सबन्ध रखते हैं इस प्रकार इन चारो तत्त्वो की और भी कितनी ही भक्तियाँ है। उनको देववाद के द्वारा जानना चाहिये।

सोमतत्त्व मन की ओर जाता है अग्नि और यम प्राण की ओर, आप् वाक् की ओर विशेषतया लक्ष्य रखते हैं। मन के कारण सोम वस्तु के बनने मे अवकाश या आयतन पैदा करता है और प्राण के कारण अग्नि और यम वस्तु मे क्रिया उत्पन्न करते है और वाक् के कारण आप् वस्तु की उत्पत्ति मे उपादान होता है।

सोम और अग्नि के योग से वस्तु मे घनता और तनुता दोनो मिले हुए रहते है। घनता के होने से वस्तु मे स्थूलता नही आती। प्रत्येक परमाणु के विशकलित होने से वस्तु का स्वरूप नही बनने पाता इसी प्रकार यदि तनुता न होती तो सब परमाणु घन होते होते सूक्ष्म रूप मे इतने आ जाते कि वस्तु का प्रदेश वाला स्वरूप नही बनने पाता।

आप् के स्नेह से अणु परस्पर सन्निकट होते जाते हैं और यम के रूखेपन से उनका बन्धन ढीला पड़ जाता है, यम के सबन्ध से सोम का बल कम होता रहता है और आप् के सबन्ध से अग्नि का बल घटता रहता है।

इन चारो तत्त्वो के योग से ही देवता और भूत इन दोनो प्रजाओ की सृष्टि होती है किन्तु इन चारो के बलो की न्यूनाधिकता से देवता और भूत प्रत्येक मे नाना भेद उत्पन्न होते है विशेष कर देवता अग्नि में सोम के भोग से उत्पन्न होता है आप् और यम इन दोनो का सबन्ध इसमे किञ्चित निमित्त मात्र रहता है। इसी प्रकार यम के मिले हुये आप् से भूत उत्पन्न होते है, अग्नि और सोम इन दोनो का सबन्ध उनमे किञ्चित् निमित्त मात्र रहता है। किन्तु तैत्तिरीय और ऐतरेय ब्राह्मणो मे आप् से ही देवता और भूत की उत्पत्ति कही गई है, परन्तु वह अम्भोवाद का एक भिन्न मत है। इस मत मे चार तत्त्व न होकर आप् को ही एक तत्त्व माना है। तीसरा मत है कि अमृतरूपी अग्नि में अमृतरूप सोम के प्रवेश करने से देवता उत्पन्न होता है किन्तु सोम मे अग्नि की मूर्च्छा होने से भूत होता है देवता और भूत इन्ही दोनो से यह सम्पूर्ण जगत् भरा है इन दोनो के अतिरिक्त जगत् मे कही कुछ नही है।

सोम, यम, अग्नि, आप्, ये चारो भी प्रत्येक प्रत्येक अमृत और मर्त्य के भेद से दो प्रकार के होते हैं जितना कि उनमे वाक् की भक्ति है वे सब मर्त्य है किन्तु प्राण और मन की भक्ति लेकर ये चारो ही अमृत हैं। इन चारो से उत्पन्न होने वाले पदार्थ भी दो प्रकार के उत्पन्न होते है मूर्त और अमूर्त। इनमे मूर्त सब मर्त्य है किन्तु उनमे रहने वाले अमूर्त सब अमृत हैं। ये मूर्त भी दो प्रकार के होते है। जिनमे रूप वाले–पृथ्वी, जल, तेज ये तीनो मर्त्य हैं किन्तु वायु और आकाश ये दो अमूर्त है। इसी प्रकार पहले कहे हुए अमूर्त भी दो प्रकार के है। ऋषि, पितर, देव असुर, गन्धर्व और मनुष्य, इतने निरुढ प्राण अमृत हैं किन्तु इनमे उत्पन्न होने वाले वैश्वानर आदि कितने ही अमूर्त जो यौगिक हैं वे अमूर्त होने पर भी मर्त्य है। इस प्रकार मर्त्य और अमृत के विभाग में सभी मर्त्य अमृत के अधीन रहते हैं किन्तु मर्त्य ही उन अमृतो का आश्रय है।

प्राण कभी वाक् के विना नही रहता, वाक् में जितने विकार के उत्पन्न होते है उनका कारण प्राण ही है। वह प्राण प्रजापति की मन की इच्छा से सात भागो में विभक्त होकर [illegible] समय कि वह अविकृत दशा में रहकर वाक् की प्रेरणा करता है तो उसे ऋषि कहते है। [illegible] वाक् का प्रवर्तक है अर्थात् वोलने वाला है किन्तु साथ ही उसका अयौगिक होना भी [illegible] सर्वदा वाक् का प्रधान होता है। ७ सात प्रकार के होने के कारण सप्तऋषि कहलाते हैं। [illegible] की सात ही मुख्य जाति हैं किन्तु प्राणमात्रा और वाक्मात्रा की न्यूनाधिक्ता के कारण उनके [illegible] अनेक भेद हो जाते हैं जैसे अगिरा ऋषि २१ प्रकार के हैं, भृगु दो प्रकार के है, इत्यादि। [illegible] जाति के ऋषियो के योग से जो नवीन प्रकार का यौगिक प्राण उत्पन्न होता है उसे पितर कहते हैं। [illegible] भी जाति वहुत प्रकार की हैं किन्तु मुख्यतया ८ प्रकार के माने जाते है।

भिन्न-भिन्न प्रकार के पितरो के योग से देवता और असुर उत्पन्न होते है। जो [illegible] रखता है उसे देवता कहते हैं किन्तु कृष्ण जो कभी प्रकाश में नही आता उस प्राण को असुर [illegible]। देव और असुर में प्रकाश और तम का ही भेद है किन्तु वास्तव में दोनो एक ही कक्षा (Class) [illegible] क्योंकि दोनो ही पितरो से उत्पन्न होते हैं। देवताओ की पुरी हिरण्मयी अर्थात् सोने की होती [illegible] की पुरी राजती अर्थात् चादी की होती है, असुरो की पुरी आयसी अर्थात् लोहे की होती है। [illegible] पुरी है, जिनमे कि ये तीनो सर्वदा रहते है। इसका तात्पर्य यह है कि सूर्य का प्रकाशमण्डल [illegible] और चन्द्रमा का राजत है और पृथ्वी की छाया आयसी है। सूर्य के तेज से सोने की, चन्द्रमा [illegible] से रजत की और पृथ्वी की छाया से लोहे की उत्पत्ति होती है, इसीलिये इन तीनो के नाम से [illegible] तीनो की छाया कही गई हैं। इनमे भी सूर्यादि के कहने का तात्पर्य सूर्यादि से नही है, किन्तु [illegible], परज्योति और अज्योति पदार्थों से है। जगत् मे सपूर्ण पदार्थ इन्ही तीनो जातियो के [illegible]। इसीलिये यही तीनो पुरिया है जिनमे देवता, पितर और असुर जाति के प्राण पाये जाते है किन्तु [illegible] प्राण इन तीनो मे समान रूप से रहते हैं उनकी कोई विशेष पुरी नही है।

प्राणियो के शरीर मे वधे हुए जो एक प्रकार के प्राण दीखते है वही मनुष्य [illegible] इन प्राणो मे ज्ञान इन्द्रियो के रखने वाले मन का संवन्ध अवश्य रहता है इसीलिये उसे मनुष्य [illegible]। किन्तु यही मनुष्य प्राण स्वप्न की दशा मे शरीर के वाहर विचरता रहता है और मरने के [illegible] वह चन्द्रमा से नीचे पृथ्वी से ऊपर अन्तरिक्ष मे एक प्रकार की योनि मे जन्म [illegible] पाया गया है। उन प्राणियो के प्राण को गन्धर्व कहते है। इस प्रकार ऋषि, पितर, देवासुर, [illegible] और गन्धर्व ये पाच प्रकार की प्रथम सृष्टि प्रजापति की प्रजा है।

जो पहले अग्नि और सोम के भेद से दो प्रकार के देवता कहे गये थे वे दोनों [illegible] भेद से फिर दो प्रकार के कहे जा चुके है उनमे अमृतअग्नि को 'शिव' कहते हैं और [illegible] को घोर कहते है इनमे शिवअग्नि तीन प्रकार की है—अग्नि, वायु, सूर्य—ये तीनो ही [illegible] अर्थात् तीनो लोक रक्षा करने वाले भिन्न भिन्न एक २ स्वामी है। तीनो लोक तीन विश्व है [illegible] अग्नि, तीन नायक है, इसलिये इन तीनो को एक साथ वैश्वानर कहते है। इनमे पृथ्वी [illegible]

प्रकार की है जिनको वसु कहते हैं। अन्तरिक्ष के वायु ११ प्रकार के हैं जिनको रुद्र कहते हैं और द्यु (द्यौ) के सूर्य १२ प्रकार के हैं जिनको आदित्य कहते हैं और दो अश्विनी कुमार इस प्रकार ३३ देवता अमृतरूप शिवाग्नि के भेद हैं।

इस पृथ्वी पर यदि इन तीनो अग्नियो को देखें तो उनमे पृथ्वी की अग्नि को गार्हपत्य कहेंगे और द्यौ से आये हुए देवाग्नि को आहवनीय कहेंगे। अन्तरिक्ष की अग्नि जो ८ रूपो से पृथ्वी मे रहती हैं उनको धिष्ण्याग्नि कहते हैं इस प्रकार दश अक्षर के छन्द होने से इन अग्नियो के थोक को विराट् कहते हैं। किन्तु पृथ्वी की अग्नि, अन्तरिक्ष की वायु और द्यौ के सूर्य इन तीनो वैश्वानरो के घर्षण से जो एक नया अग्नि पैदा होता है वह वैश्वनराग्नि है यह सर्वलौकिक है क्योकि यह एक ही रूप से तीनो लोको मे वर्त्तमान रहता है यह वैश्वानराग्नि हमारे शरीर मे ४ प्रकार से रहता है जिनको नारायण, भूपति, भुवनपति और भूतानामपति कहते हैं। इनका अधिक निरूपण अम्भोवाद और दैववाद मे किया गया है इसलिये शिवअग्नि की व्याख्या यहा पूर्ण करते है।

दूसरा घोर अग्नि ४ प्रकार का है—पावक,पवमान, शुचि और निर्ति—इनमें पावकअग्नि वायु मे पवमानअग्नि जल मे, शुचिअग्नि तेज मे और निर्ऋतिअग्नि पृथ्वी मे पाये जाते हैं। पृथ्वी मे निर्ऋति वह अग्नि है कि जिसके द्वारा पृथ्वी फटकर कोसो मे बड़ी २ दरारें हो जाती है यह दारिद्रय का देवता है इस प्रकार दोनो अग्नियो का निरूपण अन्यत्र विस्तार से किया गया है। अब सोम जो अमृत है वह दो प्रकार का है एक सायतन जो चन्द्रमा मे है और दूसरा निरायतन जो दिक् मे है चन्द्रमा भास्वर है और दिक् अभास्वर है और दूसरे सोम जो मृत्यु हैं जिसको आप् कहते है उसमें नियम से अमृताग्नि रहता है दोनो केवल पूर्ण होने से वही आप पृथ्वी के रूपमे परिणत हो जाता है इसलिये यह पृथ्वी, अग्नि और आप् दोनो का मिला हुआ रूप है।

मुख्यतया प्रजा दो प्रकार की सिद्ध हुई है—देवता और भूत। इनमे भूत शरीर होकर रहता है और देवता उनमें आत्मा होकर उस शरीर को बनाता चलता है और उस शरीर पर अपना पूर्ण अधिकार रखता है। इनमें देवता और भूत दोनो के साथ २ व्याहृतिया होती हैं अर्थात् ७ कक्षा में कहे जाते हैं जिन कक्षाओं को लोक कहते हैं वे सात लोक ये हैं—१ भूः, २ भुवः, ३ स्वः, ४ महः, ५ जनः, ६ तपः ७ सत्यम्। इनमें देवताओं के ७ भेद इस प्रकार हैं—१ मनुष्य, २ गन्धर्व ३ देवासुर, ४ पितर, ५ ऋषि, ६ प्राण, ७ मन ये सातो देवताओं के लोक अवस्था विशेष से माने जाते हैं। इसी प्रकार भूतो की भी सात ही अवस्थायें हैं—१ पृथ्वी, २ जल, ३ तेज ४ वायु, ५ आकाश (वाक्), ६ प्राण, ७ मन। किसी का मत है कि अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, दिक्, प्राण, मन इस प्रकार देवताओं के सात भेद होते हैं। इनमें सातो भूतो से बना हुआ पिण्ड शरीर कहलाता है और इस शरीर के सचालन करने वाली आत्मा उन सातो देवताओं के समुदाय से बनती है।

देवता हो चाहे भूत, ये दोनो प्रजा आत्मा से ही उत्पन्न होती रहती है, आत्मा प्रजापति को कहते हैं। जो कि मन, प्राण, वाक् का घन है इसीलिये उसमें सृष्टि होने के पूर्व तीन क्रियायें अवश्य होती हैं—

१ इच्छा, तप, ३ श्रम। क्रिया यद्यपि प्राण की ही वृत्ति है, मन और वाक् में स्पन्दन क्रिया नहीं होती तथापि मन, प्राण, वाक् इन तीनो के मिलेजुले रहने के कारण प्राण में क्षोभ होते ही तीनों एक साथ क्षुब्ध हो जाते हैं इसलिये मन में जितना क्षोभ होता है उसी को 'इच्छा' कहते हैं, प्राण के क्षोभ को '[illegible]' कहते हैं और वाक् में जो क्षोभ होता है उसे ही 'श्रम' कहते हैं। श्रम भौतिक शरीर की चेष्टा को कहते है किन्तु यह शरीर चेष्टा भीतर के प्राण के प्रयत्न से होती है उसको 'तप' कहते हैं और वह प्रयत्न किसी विषय की कामना से होता है और कामना उस विषय के ज्ञान से होती है, जब मन किसी विषय को जानता है तो अपनी रजोवृत्ति के कारण प्राण को क्षोभित करके उस विषय की कामना करता है

इन परमाणुओं का परस्पर अपने प्राण के कारण जो मिलाव होता है वह ८ प्रकार का होता है।
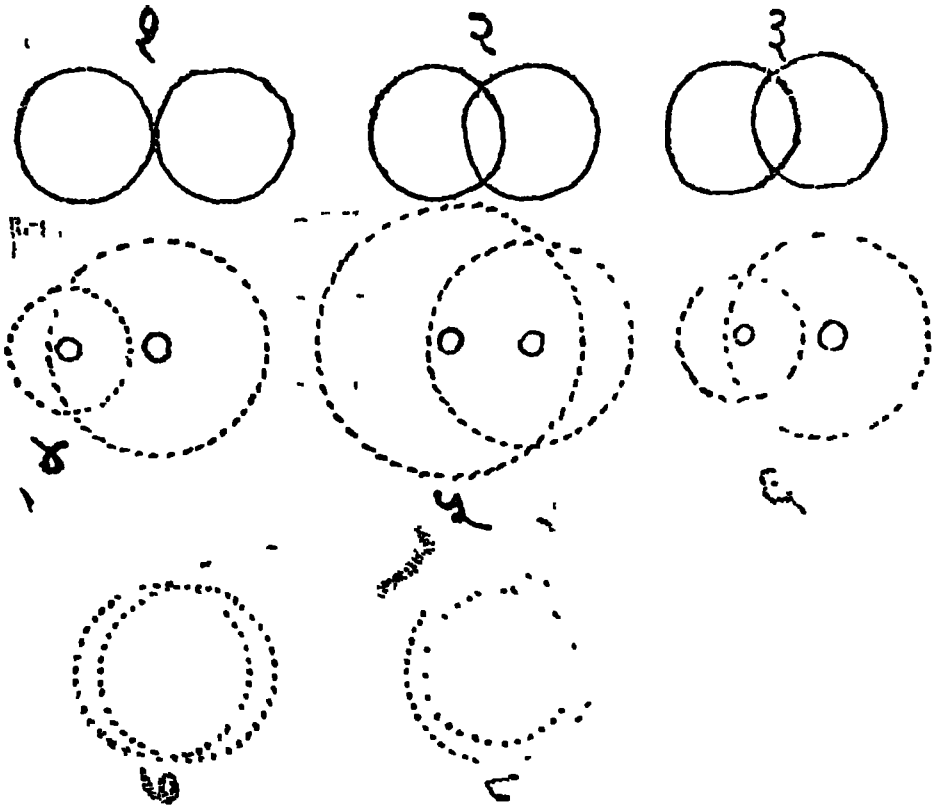
जिससे उस विषय की ओर प्रयत्न आरम्भ होते ही साथ-साथ श्रम अर्थात् शरीर की चेष्टा होने लगती है जिससे वह विषय सिद्ध होता है इसी क्रम को विद्वानो ने कहा है कि—

ज्ञानजन्या भवेदिच्छा, इच्छा जन्या कृतिर्भवेत् ।
कृति जन्यं भवेत् कर्म, ततो विषयसिद्धयः ।।

अर्थात्—ज्ञान से इच्छा होती है, इच्छा से कृति अर्थात् क्रिया होती है कृत्ति से कर्म होता है और कर्म से विषय अर्थात् अर्थों की सिद्धि होती है। इच्छा के कारण 'प्राण' छोटे–बडे खण्डो मे बटता (विभक्त होता) है उसका एक-एक खण्ड अपने परिमाण के अनुसार वाक् को लिये रहता है। वाक् के साथ भीतर, वाहर एक मे होकर इस प्रकार एक जीव हो जाता है कि जिससे वाक् को गर्भ मे रखकर प्राण के, अथवा प्राण को गर्भ मे रखकर वाक् के छोटे-छोटे खण्ड हो जाते हैं जिनको परमाणु कहते हैं। भौतिकसृष्टि मे सबसे प्रथम इन्ही परमाणुओ की सृष्टि होती है–ये परमाणु भिन्न–भिन्न जाति के होते हैं जैसा कि–यम और अग्नि इन दोनों प्राणो के मिले हुए रूप से यदि प्राण परमाणु उत्पन्न करें तो वह वायु का परमाणु होगा तथा सोम और अग्नि इन दोनों प्राणों के मेल से जल के परमाणु की सृष्टि होती है—तीनों प्राणो के अर्थात् अग्नि, यम, सोम के मेल से मृतिका परमाणु की सृष्टि होती है। यम थोड़े सोम को अलग करता है इसीलिए 'आप्' वायु के रूप में परिणत हो जाता है किन्तु 'आप्' में यदि अल्प 'यम' का योग हो तो 'आप' में से सोम नहीं हटता। किन्तु तीनों के योग से मृतिका हो जाती है इसी प्रकार अग्नि, यम, सोम, आप् इन चारों की न्यूनाधिकता या सयोग की विचित्रता से जल, वायु, मृत्तिकाओ के बहुत से भेद उत्पन्न हो जाते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि आसञ्जन अर्थात् भिन्न–भिन्न प्राणो को मिलकर एक हो जाना और दूसरा विधारण अर्थात् कई परमाणुओ को पकड कर आपस मे उनको बाधकर धारण करना ये दोनो प्राण के धर्म है इन्ही दोनो धर्मों से परमाणुओ के परस्पर योग होकर उनके भिन्न–भिन्न प्राण हो जाते हैं और उस एक प्राण मे वे दो या अनेक परमाणु आपस मे बधे हुए इस प्रकार रहते हैं कि जैसे बरतन मे पानी अथवा पानी मे चीनी यद्यपि उनमे एक परमाणु दूसरे परमाणु को अपनी इच्छा से कदापि नहीं पकडता वे सब परमाणु अपने स्वरूप मे पर्याप्त (परिपूर्ण) और मस्त है तथापि उनके प्राण एक होने के कारण वे भिन्न–भिन्न परमाणु जुडे हुए से रहते हैं। इन परमाणुओ का परस्पर अपने प्राण के कारण जो मिलाव होता है वह ८ प्रकार का है १ दो परमाणुओ के भिन्न, २ प्राणो का पृष्ठ योग अथवा २ उदर योग, ३ अथवा अणु के पृष्ठ योगी दोनो प्राण, ४ अथवा एक प्राण, ५ अथवा दूसरे प्राण के पेट मे दो परमाणु, ६ अथवा एक परमाणु, ७ अथवा दोनो अणु के पृष्ठ से पृष्ठ का योग. ८ अथवा दोनो अणु के नाभि से नाभि का योग।

प्राण ने इस प्रकार सबसे प्रथम जो वाक् का व्याकारण किया अर्थात् छोटे–छोटे विभाग किये वे सम्पूर्ण जगत् मे व्याप्त हो गये उनको शब्दमय आकाश कहते हैं किसी समय यह सम्पूर्ण जगत् इस आकाशमय रूप मे चिरकाल तक रहा कुछ काल के अनन्तर वही आकाशमय वाक् अथवा उसका कुछ अश सोम के कारण घन होने लगा अन्त मे उस सम्पूर्ण आकाश मे व्यापक एक घन पदार्थ भर गया उसे वायु कहते हैं किसी समय तक यह सम्पूर्ण जगत् उस वायुमय रूप मे रहा फिर समय पाकर इन वायुओं में भिन्न–भिन्न चाल के कारण परस्पर घर्षण होने लगा उस घर्षण के ज़ोर पकडने पर कुछ

वायु तेज के रूप मे परिणत हो गई और यही तेजोमय (गर्मी) जगत् किसी समय तक [illegible] कालान्तर मे इन तेजो के जोर पकडने पर तेज से तेज टकराकर मूछित होने लगे इसी [illegible] को 'आप्' कहते हैं और सम्पूर्ण जगत् इसी आपोमय रूप मे कुछ काल तक रहा। [illegible] वायु और तेज के मिश्रण होते होते एक जीव होने पर मृत्तिका उत्पन्न हुई जो कि [illegible] सर्वत्र परमाणु रूप से व्याप्त थी। समय समय पाकर वायु ने उन परमाणुओं को एकत्र [illegible] दिया जिसे पृथिवी कहते है। इसी प्रकार कितने ही तेज के परमाणुओं को चारो ओर से [illegible] सग्रह करके सूर्य का गोला उत्पन्न कर दिया। इन गोलो मे मन से लेकर सब उत्पन्न हुआ [illegible] मन, प्राण, शब्द, वायु, तेज, जल, पृथ्वी इनके सग्रह से वायु ने पुष्टि किया इस प्रकार पूर्व-पूर्व सृष्टि से उत्तर-उत्तर सृष्टि हुई है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जो किसी समय वेदो के [illegible] नदिया पृथ्वी मे वहती थी अब वे सब लुप्त होकर बहुत थोडी रह गई हैं जो किसी समय [illegible] आज उनमे थाह हो गया है यहा तक कि गङ्गा सदृश अथाह नदी मे भी कही-कही पर [illegible] ये सब पानी से मिट्टी बनते रहने के कारण पानी की कमी से हुए हैं, ज्यो-ज्यो आगे की सृष्टि [illegible] जाती है त्यो-त्यो पिछली सृष्टि का वह पहला रूप कम हो जाता है। आज तक [illegible] सृष्टि [illegible] होते इतनी ही भौतिकसृष्टि होने पाई है। सम्भव है आगे और सृष्टि बन रही हो अथवा [illegible] सृष्टि समाप्त हो गई हो। इस विषय मे कोई निश्चित तर्कना नही की जा सकती [illegible] पच महाभूतो की सृष्टि मे मन से लेकर पृथ्वी तक मन धीरे-धीरे घन होता गया है किन्तु पृथ्वी की अवस्था मे [illegible] कि मन ने और अधिक घनता मे जाने के लिए अवकाश नही देखा तो सम्भव है कि वह व्याकुल होकर अपने फिर विकास के लिए मुँह फेरा हो। इसी से हम देखते हैं कि इन पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य आदि गोलो पर उसी मन के विकास वाले भौतिकपिण्ड को धारण करते हुए चेतनसृष्टि होने लगी है जिनमे पहले [illegible] जड भौतिकपिण्ड मे से धीरे-धीरे मन विकसित होकर चेतन उत्पन्न होने लगे हैं और उनके मन मे धीरे-धीरे बुद्धि और आत्मा की मात्रा इतनी बढती जा रही है कि आज क्रिमि, कीट, पशु, पक्षी आदि की अपेक्षा मनुष्य के पिण्ड मे अधिक ज्ञानमात्रा बढ चुकी है जिसके द्वारा वह अपने उद्धार की चिन्ता व विद्या तपश्चर्या आदि यत्न भी करने लगा है। जिन यत्नो से सम्भवत भौतिक [illegible] मात्रा उत्पन्न होवे और भौतिक बन्धन कम होकर केवल ज्ञानमय आत्मा बन कर मुक्त हो जावे [illegible] भूत शुद्धि आदि क्रियाओ मे स्पष्ट यही क्रिया की जाती है कि जिससे पृथ्वी का जल मे, [illegible] तेज का वायु में, वायु का आकाश में लय करते-करते अन्त में आत्मा, प्राण और मन [illegible] रह जाय। इस प्रकार सृष्टि के विरुद्ध प्रतिसृष्टि से अपनी मुक्ति का उपाय मन आप ही [illegible] इस प्रकार सृष्टि के तीन भेद हुये १ मन से पृथ्वी तक भौतिकसृष्टि, २ इन भौतिक [illegible] पृथ्वी आदि लोकसृष्टि या अनुसृष्टि, ३ इन गोलो पर प्रथम खनिज दूसरे उद्भिज, [illegible] क्रम से मनुष्य तक चेतनसृष्टि इनमें मन का विकास धीरे-धीरे अधिक बढता हुआ [illegible] तक कि मनुष्य यदि चाहे तो अपने आत्मा के भूतो को ज्ञान द्वारा मन की [illegible] सकता है और यो इस सृष्टि के झंझट से छुटकारा पा सकता है बस इतनी ही [illegible] की सृष्टि है।

ॐ अन्नादन कल्प

मन प्राण मे और प्राण वाक् मे नित्य नियम से इस प्रकार बंधे हुए प्रतीत होते हैं कि जिससे इनमे एक भी दूसरे मे पृथक् होकर कभी रह ही नही सकता, इसी कारण सृष्टि के द्वारा यह वाक् जैसा-जैसा भिन्न-भिन्न अपना रूप धारण करती जाती है उसी आकार और उसी प्रमाण मे प्राण और मन भी उसी प्रकार अनुयायी हो जाता है। इस प्रकार जो जहा कुछ वस्तु उत्पन्न हुई है सभी मन, प्राण, वाक् इन तीनो मूल तत्त्वो से ही व्याप्त हैं, किन्तु तथापि उनमे प्राण ही न्यूनाधिकता के कारण कोई वस्तु अन्न और कोई अन्नाद हो जाता है। अधिक परिमाण मे मन, प्राण, वाक् होने से वह वस्तु बलवान् हो जाती है, प्रबल होने के कारण अपने से दुर्वल वस्तु को खाया करती है, यह तो एक विशेष नियम है, किन्तु साधारणतः सभी वस्तु दूसरी सभी वस्तुओ से अपना अन्न ग्रहण किया करती हैं किन्तु उनका अन्न ग्रहण उनके वल के अनुसार होता है और वल उनमे मन, प्राण, वाक् की मात्रा के अनुसार होता है।

प्रत्येक वस्तु मे प्राण का विस्रसन देखते है। यह विस्रसन दो प्रकार के है—१ साक्षात् और और २ परम्परा मे (पारम्परिक)। साक्षात् वह है कि प्रत्येक प्राण अपने स्वभाव से निकला करता है जो दूसरे के गर्भ मे जाकर अन्न होता है और कही दूसरे के आकर्षण से खीचा जाकर अन्न बनता है। हम देखते हैं कि प्राण, मन की ओर जाकर मन बन जाता और वही वाक् की ओर जाकर वाक् बन जाता है और मन, वाक् दोनो को छोड़कर स्वतन्त्ररूप से वह प्राण अपने विग्रह (मन, प्राण, वाक् के समूह रूप वस्तु की शरीर मूर्ति) से जिस पिण्ड मे कि वह निकल कर दूसरी वस्तु के विग्रह मे प्रवेश कर जाता है और इस प्रकार वह इस वस्तु से विच्छिन्न हो जाता है। इन दोनो प्रकारो से प्राण का विस्रसन होता है अर्थात् अपने विग्रह मे दूसरे भावो मे बदलना तो पारम्परिक हैं और प्राण का अपने विग्रह से निकल कर दूसरे विग्रह मे चले जाना साक्षात् है।

प्रत्येक प्राणी के अन्न ७ प्रकार के होते हैं उनमे १ पृथ्वी २ जल ये दोनो भोजन पाने से प्रत्यक्ष देखते हैं, ३ सूर्य से तेज, ४ अन्तरिक्ष से वायु, ५ शब्द अपने आप स्वभावतः मिलते रहते है और ६ कर्मेन्द्रियो से प्रत्येक प्राणी कुछ न कुछ काम करता रहता है, जिससे मलिन वल शरीर मे से निकलता रहता है और उसके स्थान मे पूर्व की अपेक्षा अधिक मात्रा का शुद्ध वल शरीर मे आता रहता है इसी प्रकार ७ प्रत्येक प्राणी अपने ज्ञानेन्द्रियो मे प्रतिक्षण कुछ न कुछ ज्ञान ग्रहण करता रहता है, ये ही ७ हमारे अन्न हैं। इन सातो अन्नो के ग्रहण करने मे मात्रा की आवश्यकता है क्योकि सम्भवत इन अन्नो का योग ४ प्रकार हो सकता है—१ सुयोग, २ हीनयोग, ३ अतियोग, ४ मिथ्यायोग। इनमे सुयोग वह है जो हमारी ही आत्मा के धारण करने के वल के अनुकूल मात्रा मे हो उससे कम या अधिक होना हीन या अतियोग है और आत्मा के विरुद्ध वस्तुओ का आना मिथ्या योग है, जैसे भोजन के स्थान मे विष खाना इत्यादि। इनमे केवल सुयोग से आत्मा की रक्षा और पुष्टि होती है विस्रसन से जो हानि हुआ करती है उसकी पूर्ति होती रहती है। यही सुख का कारण है, किन्तु इससे अतिरिक्त तीनो योग दु:ख के

ॐ अदन=खाना कल्प=विचार।

कारण हैं। दु ख के कारण ये तीन होने से प्राय सब प्राणी दु खी प्रतीत होते हैं, क्योंकि सुख का [illegible] केवल एक ही सुयोग है इनमे सुयोग को न ग्रहण करके अन्य तीन दुर्योगों के वश मे आना [illegible] का कारण होता है। वह प्रज्ञापराध ज्ञान की न्यूनता मे उत्पन्न होता है, [illegible] सबसे मुख्य अन्न ज्ञान का है। विद्या के द्वारा ज्ञान का परिपूर्ण रूप से सुयोग होने पर प्रज्ञापराध [illegible] हो जाता है और सुयोग को पहचान कर दुर्योगों से बचने का उपाय ग्रहण करने मे समर्थ होता है [illegible] जिससे आत्मा का कल्याण होता है।

इन सात प्रकार के अन्नों मे आकाश से पृथ्वी तक ५ प्रकार के अर्थ भोजन करने पर आत्मा के वाक् मार्ग मे सन्निविष्ट होते हैं और सोम के द्वारा जो वल उत्पन्न किया जाता है वह प्राण मे सन्निविष्ट होता है और विद्या के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह आत्मा के मन भाग मे सन्निविष्ट रहता है। यद्यपि इन तीनो के मिले जुले रहने से एक एक की पुष्टि मे तीनो पुष्ट अवश्य होते हैं, तथापि ज्ञान [illegible], अर्थ इन तीनो का सनिवेश आत्मा के मन, प्राण, वाक् तीनो भागो मे पृथक पृथक ही होता है।

जिस प्रकार विरुद्ध वस्तु के सेवन से वाक् विकार को प्राप्त होकर प्राण और मन को भी दूषित कर देती है और अनुचित रीति से श्रम करने पर प्राण विकार प्राप्त होकर मन और वाक् को भी दूषित करेगा। इसी प्रकार मिथ्या या विरुद्ध ज्ञान पाने से मन भी क्षुब्ध होता है और [illegible] हो जाता है। अज्ञान का अश ज्ञानरूप से मन मे प्रविष्ट होकर उस प्रकार की मिथ्या या विरुद्ध इच्छा करके प्राण को विचलित करता है जिससे प्राण क्षुब्ध होकर मन मे व्याकुलता उत्पन्न कर देता है। जिस प्रकार [illegible] का मनुष्य प्रबल प्राणी के आक्रमण से पीडित होता है उसी प्रकार कम बुद्धि वाला [illegible] प्राणी साधारण मिथ्याज्ञान से तत्काल ही धैर्यच्युत हो जाता है। किन्तु जिस मनस्वी विद्वान का मन [illegible] है वह साधारण किसी क्षुद्रज्ञान से एकाएक विचलित नही होता किन्तु धीरता के साथ [illegible] के दूर करने का यत्न सोचता है।

इन सातो प्रकार के अन्नो मे प्रसन्न–अप्रसन्न के भेद से बहुत विभेद होते हैं। [illegible] आत्मा के विरोधी भेद हैं और कितने ही अनुकूल। इन्ही दोनो के जानने के लिये पूर्वकाल से [illegible] तक विद्वानो ने नाना विद्याओ का विकास किया है। इस प्रकार वेद, यज्ञ और प्रजा इन तीनो [illegible]रूढो का विचार यहाँ समाप्त हुआ।

[नोट.—व्यवहार मे चरकादि विद्वानो ने केवल अन्न और जल का तो आहार शब्द से [illegible] के ग्रहण करने को विहार शब्द से उल्लेख किया है—आहार और विहार इन दोनो मे प्रज्ञापराध से तीन प्रकार के दुर्योग हुआ करते हैं जिनसे बचकर सुयोग के लिये [illegible] की आवश्यकता मानी गई है।]

यौगिक

अन्न दो प्रकार का होता है। भुक्त और भोग्य–जब कि अन्न भोक्ता के ग्रहण [illegible] भोक्ता मे इस प्रकार प्रविष्ट हो जाय कि अब वह पृथक् न दीख कर भोक्ता की आत्मा ही [illegible]

अन्न मुक्त है, जिस प्रकार मनुष्य का भोजन किया हुआ अन्न अथवा अग्निकुण्ड मे दिया हुआ तिल, घृत, समिधा आदि यहा अन्न भोक्ता के रूप में परिणत हो जाता है, किन्तु जहा कही दुर्वल दूसरी आत्मा का शरीर मात्र काम मे लाया जावे अथवा दुर्वल आत्मा भी प्रवल आत्मा के वशीभूत किया जाय वह अन्न भोग्य होता है। जैसे राजा के परिजन या कर्मचारीगण इन भृत्यो के कही पर शरीर मात्र से काम लिया जाता है और कही इनके विज्ञान से, इसीलिये ये सव भोग्य है। राजा की सव प्रजा अन्न मानी जाती है और प्रजा के भी पशु सव अन्न वेद मे माने गये हैं। इसका भी तात्पर्य भोग्य अन्न से ही है—अव हम को देखना है कि इसी भोग्य के अनुसार कही पर कोई आत्मा अपने लिये अनेक भोग्यो को इकट्ठे करता है, किन्तु उन भोग्यो मे परस्पर अन्न-अन्नाद भाव नही रहता, वे सव मिलकर किसी दूसरी आत्मा का स्वरूप अवश्य वनाते है और इसीलिये उसी एक आत्मा के अनुरोध से उनमे किसी प्रकार एकता भी आ जाती है, तथापि परस्पर उन सव मे अन्न अन्नाद भाव न होने के कारण एकता का भाव नही होने पाता इसी प्रकार के योग को मिश्रण कहते हैं। जिस प्रकार त्वचा, शोणित, मास, अस्थि आदि नाना धातुओ के समुच्चय से देह वना है—यह देह एक आत्मा से पकडे होने के कारण एक अवयव है किन्तु इसमे त्वचा, शोणित आदि धातुओ का परस्पर, अन्न, अन्नाद भाव नही हे। इससे इन सव के मिश्रण से देह का वनना माना जाता है इसी प्रकार धुरा, चक्र, युग आदि अनेक पदार्थों के मिश्रण से एक रथ का स्वरूप वनता है प्राय. औषधियो मे कितने ही यूप(काढा) शर्वत आदि पदार्थ मिश्रण के उदाहरण है। इसी प्रकार अन्याय यौगिक पदार्थों को भी जानना चाहिये। यहा यौगिकदर्शन पूर्ण हुआ।

चतुर्व्यूहः

पहले यह प्रजापति अव्याकृत रूप मे था। उसके पश्चात् नाम, रूप, कर्म से व्याकरण होता है किसी वस्तु का कर्म अर्थात् शक्ति का जानना और उसका रूप दीखना और इन्ही दो तासीरो के अनुसार कुछ नाम रखा जाना ये ही तीनो मिलकर किसी भी वस्तु का व्याकरण कहलाता है। इन्ही तीनो के कारण एक वस्तु दूसरी वस्तु से पृथक् की जाती है। इन नाम, रूप, कर्मो के द्वारा जो सवसे प्रथम कोई प्रजापति पृथक् रूप से निश्चित हुआ उसके मन, प्राण, वाक् के धर्मो से चार पदार्थ उत्पन्न होकर उस प्रजापति के चार व्यूह हुए। उन चारो के नाम ये हैं—१ आत्मा, २ रूप, ३ शरीर, ४ वित्त। किसी स्कन्ध मे जो सव के अन्दर कोई मध्यविन्दु है जिसमे सव प्रकार की शक्तिया है वही आत्मा का भाग है वह सर्वदा अव्याकृत रूप मे रहता है क्योकि उसके कर्म, रूप, नाम कुछ भी प्रत्यक्ष नही होते, किन्तु उसी से उत्पन्न होकर उसी के आधार से तीन सत्य—१ मन, २ प्राण, ३ वाक् जो उत्पन्न हुए हैं यही उस अनिरुक्त के निरुक्त भाग हैं। इस त्रिसत्य मे तीन विशेष हैं इसी कारण यह निर्विशेष नही है। इन्ही तीनो को उस आत्मा का रूप कहते है। क्योकि वह आत्मा रूपो मे प्रथम प्रकट होता है अव इन तीनो सत्यों के द्वारा तीन भाव अर्थात्—वेद, यज्ञ, प्रजा उत्पन्न होकर उस आत्मा का शरीर वनाते हैं इससे यह सिद्ध हुआ कि ये तीनो सम्मिलित रूप रहकर प्रत्येक वस्तु का शरीर वनाते है मूर्ति और महिमा दोनो को शरीर कहते है। अथवा यो समझिये कि किसी वस्तु का शरीर इन तीनो से अतिरिक्त कुछ नही—यह शरीर ही वास्तव में आत्मा का आयतन (घर) हैं जिसके भीतर तीनो सत्य—मन, प्राण, वाक्

व्याप्त रहते हैं। इस शरीर के अतिरिक्त और कितने ही धर्म जो इस शरीर में अनित्य रूप से कभी २ आते जाते रहते है, अर्थात् जिनका रहना न रहना उस आत्मा के लिये वरावर है, अर्थात् जिनके न रहने पर भी शरीर या आत्मा की कोई हानि नही होती किन्तु वह आया हुआ उस आत्मा के अधीन रहता है तो उसको वित्त अर्थात् धन कहते हैं। जैसा कृशता, पृष्ठता, तिलादि चिन्ह, रोग, विद्या, तप, धन, धर्म, स्त्री, पुत्र, वन्धु, भृत्य, गृह, लक्ष्मी इत्यादि।

अव इस प्रजापति में चारो व्यूहो को यदि प्रथम २ देखा जाय तो यो विभाग हो सकते है—

१–आत्मा		२–रूप		३–शरीर		४–वित्त
१–अव्याकृत	—	मन	—	वेद	—	सर्वैपणा
२–अव्याकृत	—	प्राण	—	यज्ञ	—	अन्यान्य यज्ञ
३–अव्याकृत	—	वाक्	—	देवभूत	—	अन्यान्य प्रजा

इस प्रकार एक–एक प्रजापति इन दश अवयवो से ही सर्वत्र बना हुआ होता है, यद्यपि अवयव १२ लिखे गये हैं तथापि प्रत्येक चतुर्व्यूह का उस एक अव्याकृत आत्मा से ही आरम्भ होता है वह तीनो स्थान(चतुर्व्यूह) मे एक ही है, इसलिये प्रजापति के १० ही अवयव होते हैं।

प्रत्येक वस्तु मे आत्मा और आत्मीय इस प्रकार २ भाग है जिनमे अव्याकृत भाग और दूसरा मन, प्राण, वाक् इन तीनो रूपो का भाग और तीसरा वेद, यज्ञ और प्रजा(देव, भूत)इन तीनो शरीर का भाग ये सव मिलकर एक आत्मा सिद्ध होती है इसके अतिरिक्त जो कुछ इसके अधीन मे है वही इस आत्मा का वित्त है वही आत्मीय है (अर्थात् आत्मा की वस्तु जो आत्मा से भिन्न है) यह आत्मीय ३ प्रकार का है। प्रथम मन, वेद के सम्वन्ध से सर्वैपणा है, यह सर्वैपणा मनुष्य मे तीन प्रकार की है— जायैषणा, पुत्रैपणा, वत्तैपणा, (एपणा–इच्छा) यह एपणा जड चेतन प्रत्येक वस्तु मे रहती है, किन्तु जड मे केवल अन्नैपणा होती है किन्तु मनुष्य मे लोकैपणा भी होती है जो तीन प्रकार की पहले कही जा चुकी है।

प्राण यज्ञ के सम्वन्ध से अन्यान्ययज्ञ वह वित्त है जो शरीर के समष्टि रूप से प्रधान यज्ञ के अतिरिक्त जो प्रत्येक अङ्ग मे भिन्न यज्ञ होते हैं जैसे दांत, केश, रोग आदि की भिन्न उत्पत्ति और मृत्यु का क्रम पृथक् २ होता है, वह समष्टि के अनुरोध से वित्त है। इसी प्रकार वाक् और प्रजा के सम्वन्ध से अन्यान्य प्रजा वह वित्त है कि जो हमारे शरीर मे वाहर से आता है, जैसा अन्न और जल अथवा वह भी वित्त है जो हमारे शरीर का छोड़ा हुआ दूसरे के शरीर मे जाता है अर्थात् जो कुछ हम भोजन करते है उसका हमारे शरीर की अग्नि से दो भाग किये जाते है–रस और मल जिनमे रस का भाग देव भूत के रूप मे परिवर्तन होकर हमारे शरीर की सगठन(वनावट)करते है और मल भाग शरीर से निकल कर दूसरो का भोग वनाता है। वह भी हमारी आत्मा से निकलने के कारण आत्मीय कहे जा सकते है और इसीलिये वित्त है।

[illegible] के चारों व्यूहों में नभ्य पृथक् एक भाग है और शेष तीनों—रूप, शरीर और वित्त ये [illegible] होने से पृथक् दूसरा भाग है, इस प्रकार यहाँ दो विभाग हो सकते हैं, अथवा नभ्य, रूप और शरीर ये तीनों एक आत्मा का भाग है और शेष वित्त इस आत्मा का प्रधि अर्थात् आयतन की चरम सीमा है और आत्मीय है इनमें वित्त बहिरङ्ग और शेष तीनों आत्मा के अन्तरङ्ग होते हैं इसलिये आत्मा मुख्यतया [illegible] है जो कि प्रधि रूप वृत्त से पुष्ट किया जाता है इस प्रकार से दो विभाग हो जाते हैं। वेद, यज्ञ और प्रजा तथा बाहर से आया हुआ वित्त यह सब प्रजापति के उपकारक होने से महिमा है, किन्तु नभ्य आत्मा जो प्रजापति का अनिरुक्त भाग है अथवा मन, प्राण, वाक् ये प्रजापति का निरुक्त भाग है ये ही दोनों अनिरुक्त निरुक्त मिलकर मुख्य प्रजापति समझना चाहिये, जिसकी कि यह महिमा कही गई है। अथवा महिमा पर्यन्त प्रजापति को सर्व कहते हैं। उसकी अन्तरात्मा वेद, यज्ञ प्रजा है और उसकी भी अन्तरात्मा मन, प्राण, वाक् ये तीनों सत्य है और इनकी भी अन्तरात्मा अनिरुक्त नभ्य है इनमें "किम्" सर्वनाम से अनिरुक्त प्रजापति और "यत्"(जो) सर्वनाम से त्रिसत्य रूपवाला निरुक्त मूर्ति और "तत्"(वहतो) सर्वनाम से महिमा सहित सर्व प्रजापति तथा "सर्वं" इस सर्वनाम से वित्त सहित सर्व प्रजापति संकेतित होते हैं।
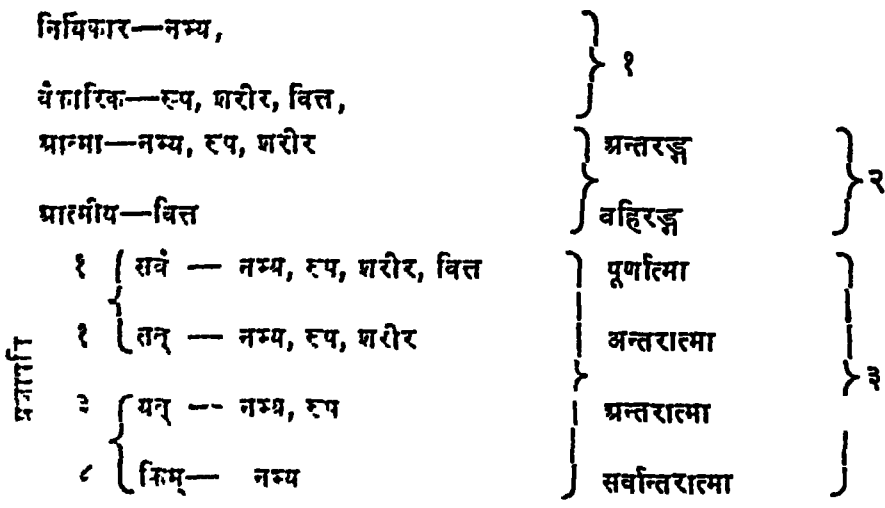
स्कन्धव्यूह

इस प्रकार मन, प्राण, वाक् और वेद, यज्ञ, प्रजा तथा वित्त इन सबके समुच्चय से बना हुआ प्रजापति [illegible] से प्रथम परमाणु रूप से उत्पन्न होता है। अर्थात् जो सबसे सूक्ष्म अणु है जिसको एक तत्त्व [illegible] निरवयव [illegible] मानते हैं वह [illegible] निरवयव न होकर मन प्राण, वाक् से अथवा वेद, यज्ञ, प्रजा से सावयव अवश्य है। किन्तु मन, प्राण, वेद, यज्ञ आदि अवयवों को निराकार होने के कारण [illegible] अर्थात् इन्द्रिय ग्राह्य न होने से निरवयव प्रतीत होता है।

[illegible] और वित्त के भेद से नाना प्रकार के और नाना जाति के अनन्तानन्त उत्पन्न हुए [illegible] जितने ही [illegible] हैं उतने ही विजातीय और जितने ही अनुकूल होने के कारण परस्पर मिल

जाते हैं, कितने ही प्रतिकूल होने के कारण परस्पर नही मिलते और कितने ही विद्वेष के कारण परस्पर युद्ध करके दोनो नष्ट होकर तीसरे प्रकार के अणु को उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार अणुओ के भेद से अनन्तानन्त पदार्थ जगत् मे उत्पन्न, नष्ट होते रहते हैं। इन्ही परमाणुओ मे अनेकानेक सजातीय और विजातीय तथा अनुकूल और प्रतिकूल अणुओ के योग से छोटे बडे अनेक प्रकार के स्कन्द अर्थात् अणु समुदाय जिसे ❀ त्रिसरेणु कहते हैं, उत्पन्न होते रहते हैं, और अनेकानेक स्कन्धो के योग से भी दूसरे भिन्न प्राकर के कितने ही स्कन्ध बनते रहते है—ये सब स्कन्द भी अणु के अनुसार ही मन, प्राण, वाक् या वेद, यज्ञ, प्रजा और वित्त अपना-अपना पृथक् रखते हैं इनमे अणुओ के त्रिसत्य (मन,प्राण, वाक्)और वेदादि महिमा पृथक्-पृथक् रहने पर भी उनसे स्कन्ध का कुछ सम्बन्ध नही, स्कन्ध के त्रिसत्यादि सभी व्यूह नये ही उत्पन्न होते हैं।

ढेला, घर, पट, पात्र, लकडी पत्थर, मणि, जल, अग्नि, वायु इत्यादि जहां जो कुछ जगत् के पदार्थ दृष्टि मे आते हैं ये सब स्कन्ध हैं। अणु यद्यपि हमारी दृष्टि मे कही नही आते तथापि यह विश्वास करना। चाहिए कि इनमे एक भी स्कन्ध बिना अणु के उत्पन्न नही हुआ है। इन स्कन्धो का सबसे छोटा भाई खण्ड अवश्य है, जिसको हम अणु कहते हैं इस प्रकार अणु अव्यक्त और स्कन्ध व्यक्त इनके भेद से दो प्रकार के प्रजापति सिद्ध हुए।

१ सूर्य, २ चन्द्रमा, ३ पृथ्वी और ४ जीवो का शरीर ये चार स्कन्ध मुख्य करके विचारने योग्य हैं। इन चारो स्कन्धो मे उपर्युक्त के अनुसार चारव्यूह देखना चाहिये।

१—सूर्य मे ये मन तो उसकी आत्मा है, ज्योति उसका रूप है, द्यौलोक ही उसका शरीर है और अनेकानेक ग्रह मण्डल (जहाँ तक सूर्य की रोशनी जाती है याने बृहत् साम तक) उसके वित्त है।

२—चन्द्रमा मे प्राण उसका आत्मा है, ज्योति रूप है और आपोमय अन्तरिक्ष उसका शरीर है और सत्ताईस गन्धर्वमण्डल (जहाँ तक चन्द्रमा की रोशनी जाती है याने उसके राजिन नाम तक) उसके वित्त हैं यह सूर्य अग्नि प्रधान है और चन्द्रमा सोम प्रधान है किन्तु अग्नि और सोम इन दोनो के संसर्ग से बनी हुई पृथ्वी है और सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी इन तीनो के रस द्रव्य को लेकर जीवो के शरीर बने हैं। जीवो के शरीर तो सोम प्रधान है और देह का स्वामी प्राण अग्नि प्रधान है। अग्नि रूप सभी देवता हैं जो जीवो के प्राण मे व्याप्त है किन्तु सोम से बना हुआ रेत (वीर्य) से शरीर बनता है सोम से उत्पन्न शरीर दृश्य होता है किन्तु अग्नि से बना हुआ प्राणमण्डल अदृश्य रहता है।

यो तो अग्नि सर्वाङ्ग शरीर मे व्याप्त रहता है किन्तु इस शरीर के छ प्रकार के प्रान्तो मे इसकी इतनी ज्वाला निकलती रहती है कि जिसके कारण उन छ स्थानो मे लोम (केश) उत्पन्न नहीं होने पाते वे प्रान्त ये हैं—१—मुख, २—योनि, ३—गुदा, ४—उपस्थ, ५—दोनो हस्ततल, ६—दोनो पादतल। सबसे प्रथम मन

❀ तीस अणु के समुदाय को त्रिसरेणु कहते हैं जो किसी खिडकी के जाली के छिद्रो से आते हुये सूर्य के किरण से प्रकाशित होकर वायु मे इधर उधर फिरते हुये प्रत्यक्ष दीखते हैं।

[illegible] और उनके साथ-साथ ज्ञानसम्पत्ति के भेद स्वरूप नाना देवता भी उत्पन्न हुए इन सब के समुदाय को 'ब्रह्म' कहते हैं। तत्पश्चात् प्राण उत्पन्न हुए और उसके साथ-साथ बलसम्पत्ति करने वाले नाना देवता भी उत्पन्न हुए, इन सब के समुदाय को 'क्षत्र' कहते हैं। तत् पश्चात् वाक् उत्पन्न हुई और उसके साथ २ द्रव्य-सम्पत्ति रूप नाना देवता भी उत्पन्न हुए इन सबके समुदाय को 'विट्' कहते हैं। ये तीन आत्मा से उत्पन्न हुए किन्तु जिनसे इन तीनों की पुष्टि होती रहती है जिनके द्वारा इनकी रक्षा रहती है वह सामान्य रूप [illegible] के समुदाय को 'शूद्र' कहते हैं। ये चारो धर्म्म हैं इन्ही धर्म्मों से सामान्य विशेष करके भिन्न-भिन्न जीवों के शरीर उत्पन्न हुए हैं प्रत्येक शरीर मे ज्ञान, वीर्य, शारीरिक अर्थ अन्न, रस, धातु आदि और [illegible] धर्म इन चारो मे बने हुए होते हैं।

इन जीवों के शरीर मे तीन प्रकार की 'एषणा' (इच्छा) स्वभाव से उत्पन्न होती है-स्त्री, प्रजा, वित्त जब तक इन तीनों को कोई भी शरीरधारी जीव प्राप्त नही करता है तब तक अपनी आत्मा को अधूरी मानता है किन्तु योग क्षेम योग्य वित्त को पाकर अपनी आत्मा की सीमा को पूर्ण हुआ मानता है। मन, प्राण, वाक् ये तीनों आत्मा के रूप हैं और देवता सभी शरीर है और तीनों एषणा वित्त हैं। इस प्रकार प्रजापति के सम्बन्ध मे चारों व्यूहों की भावना सिद्ध होती है।

त्रैगुण्यसञ्चर

पृथ्वी, जल, तेज वायु, आकाश इन पञ्च महाभूतो से उत्पन्न हुआ यह शरीर जो सबसे बाहर है उसको वाक् समझना चाहिये-इस शरीर के अन्तर्गत जितना क्रिया का मण्डल है वह सब प्राण हैं। शरीर का कोई भी अंग ऐसा नहीं है जिसमे क्रिया करने वाला प्राण भरा न हो इस प्राण के अन्तर्गत मन का व्यापार है कि जिसके कारण कहीं भी कांटा चुभ जाय उसी समय उसी स्थान में वेदना का ज्ञान उत्पन्न होता है यह मन का प्रकाश प्राण के भी भीतर प्राण का आधार स्वरूप है वेदना होते ही प्राण उसके हटाने के लिये मन की आज्ञा से ही चेष्टा करने लगता है और वाक् अर्थात् शरीर के उस भूतमय अंग को उस स्थान से हटा देता है। इन्हीं तीनो मन, प्राण, वाक् के कारण इस शरीर मे तीन धारायें अर्थात् ज्ञानधारा, चेष्टाधारा, धातुसृष्टिधारा सर्वदा होती रहती है। जैसे नेत्र संस्थान मे नेत्र का स्वरूप भूत-भाग है और नेत्र मे चेष्टायें प्राण भाग है और नेत्र मे उत्पन्न चाक्षुषज्ञान मन का भाग है इस प्रकार तीनो के संयोग मे प्रत्येक इन्द्रिया बनी हैं। और भी शरीर के धातु इसी प्रकार तीनो मे बनते है जैसा शोणित एक भूत है और उसकी चेष्टायें प्राण हैं और और उसके स्पर्श से ज्ञान होना मन है। जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक पदार्थ इन तीनो से युक्त है उसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड भर मे अथवा अनन्त ब्रह्माण्ड वाले इस विराट विश्वमण्डल के प्रत्येक पदार्थ इन तीनों आत्मगुणों मे बनकर ही अपनी स्थिति रखते हैं, येही तीनो [illegible] आत्मा के [illegible] हैं, इसी से हम यह मानते हैं कि यह समस्त विश्व आत्ममय है। आत्मगुण या [illegible] है।

आत्मानात्मविवेकः

यह आत्मा शब्द सापेक्षिक है अर्थात् जिस प्रकार पिता, पुत्र, गुरु, शिष्य, आदि सम्बन्धित शब्द [illegible] हैं इसी प्रकार आत्मा शब्द भी अन्यसापेक्ष है। पहले कहा जा चुका है कि जो जिसका

उक्थ, ब्रह्म, साम हो वह उसकी आत्मा है, इसी नियम के अनुसार हमारे समाज वा समस्त [illegible] और कुटुम्ब आदि परिवार और मेरे सब कर्म इन सबका यह हमारा शरीर ही उक्थ, ब्रह्म, साम [illegible] जो कुछ इस शरीर मे है उन सबके सहित मेरे इस शरीर को आत्मा कह सकते हैं। यह मेरी [illegible] दशा मे प्रथम आत्मा है इस आत्मा के अनुरोध से उन सब व्यवहारो को अनात्मा कहते हैं [illegible] आत्मा है। अब इसमे तीन प्रकार के वाक् विकार है। "भौम" जिनको भूत कहते हैं, "दिव्य" जिनको [illegible] कहते हैं और "आन्तरिक्ष" जिनको वायु कहते हैं ये तीन वर्ग एक रूप मे आकर शरीर [illegible] अर्थात् इन्ही तीनो वर्गो को एक शब्द से शरीर कहते हैं। इस शरीर का जो उक्थ, ब्रह्म, साम है उसको इस शरीर की आत्मा कहेगे। वह आत्मा मन, प्राण, वाक् इन तीनो का समष्टि रूप है। यह दूसरी आत्मा है इस दूसरी आत्मा के अनुरोध से उस शरीर को अनात्मा कहते है।

अब मन, प्राण, वाक् इन तीनो मे भी वाक् का सब विकार मन, प्राण के अधीन है, इसलिये मन, प्राण की समष्टि को आत्मा और वाक् प्रपञ्च को अनात्मा वा शरीर कहते हैं यह तीसरा आत्मा है। अब इन दोनो मे भी यह प्राण सर्वदा मन के अधीन रहता है, मन से उठकर मन ही के आधार मे चलकर मन ही मे लय होजाता है, इसलिये प्राण की अपेक्षा से भी मन ही एक आत्मा है। प्राण वाक् अपने विकारो के सहित इसका शरीर है यह मन व्यवहार दशा मे चौथी आत्मा है। अब ये मन, प्राण, वाक् तीनों भी सब अपने विकारो के किसी * अव्याकृत (नाम, रूप, रहित) अनिर्वचनीय, अव्यक्त किसी पदार्थ के अधीन अपनी स्थिति रखते हैं, इसलिये वही अव्याकृत यहाँ पर परमार्थ रूप से मुख्य आत्मा माना जाता है। और सब उसके शरीर हैं। अव्याकृत, अव्यवहार्य होने से व्यवहार दशा मे उसको आत्मा नही कहते किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से वही एक आत्मा है इसी कारण आत्मा को निर्विकार, अजर अमर, अविनाशी, अखण्ड एक तत्व माना गया है। किन्तु व्यवहारिक आत्माएं केवल व्यवहार के लिये उपयुक्त होती है, जिस प्रकार दीपक मे केवल अर्चि (लौ) का भाग ही मुख्य दीपक है, किन्तु व्यवहार दशा मे सब वत्ती, सब तेल, सबतैलाधारपात्र के, सब पात्राधारादण्ड के, सब आवरण के भी दीपक [illegible] हैं, किन्तु उन सब मे अर्चिका होना आवश्यक है अर्चि के होते हुए ही उन सब को भी दीपक कहते हैं। इस प्रकार यहा भी अव्याकृत ही केवल आत्मा है। सब के भीतर उसके रहते ही मन, प्राण, वाक् आदि शरीर तक का आत्मा शब्द से व्यवहार होता है। उन व्यवहारिक गौण आत्माओ मे वेदान्त उपनिषदो के कहे हुए आत्मा के अविनाशी आदि गुण कदापि नही हैं, वे सब विनाशी है और कूटस्थ न होकर विचाली है, अविकारी न होकर विकारी हैं, आनन्दरूप न होकर भय, सुख, दुख, भागी है और [illegible] अमर न होकर जन्म, मृत्यु भागी है, किन्तु इतना होने पर भी बाह्य धर्मो की अपेक्षा शरीर को, शरीर की अपेक्षा त्रिसत्य को, त्रिसत्य की अपेक्षा मन को भी आत्मा कहकर आदर [illegible] किया जाता है, क्योकि यह सब क्रम, क्रम से आत्मा के समीपवर्ती होने से आत्मा के मुख्य धर्मो को क्रम-क्रम से अधिक ग्रहण किये हुए है।

---

* अव्याकृत आत्मा अष्टगुणी है जैसाकि श्रुति ने कहा है १—पाप का विकार का [illegible] न होना २—वृद्ध न होना, ३—मृत्यु का न होना, ४—शोक का न होना, ५—भूख का न होना, ६—[illegible] का न होना, ७—सत्य, काम, ८—सत्य सकल्प का होना।

जिस प्रकार शरीर के संबन्ध से आत्मा, अनात्मा का विभाग दिखाया गया है उसी प्रकार इस विश्व में भी इन दोनो का विभाग है। जितना वाक् के विकार का प्रपञ्च है उसे ही विश्व कहते हैं, यह प्रपञ्च ही आत्मा का शरीर है, मन, प्राण, वाक् ये तीनो उसकी आत्मा हैं, किन्तु वाक् का विकार वाक् से यद्यपि भिन्न नही है और यह वाक् आत्मा ही का एक भाग है, इसलिये इस विश्व प्रपञ्च को भी हम आत्मा ही कह सकते हैं। यह विश्व मन रूपी आत्मा मे प्रविष्ट है, किन्तु प्राण रूपी आत्मा इस विश्व मे सर्वत्र प्रविष्ट है और वाक् का विकार वाक् से भिन्न न होने के कारण यह सम्पूर्ण विश्व वाक् रूपी आत्मा ही है इसी से जगत् के आत्मा के साथ तीन सम्बन्ध सिद्ध होते हैं, १—आत्मा मे विश्व २—विश्व में आत्मा, ३—आत्मा ही विश्व है। किन्तु यदि वाक् ही को आत्मा माना जाय वाक् के विकारो को विकार की दृष्टि से ही आत्मा न समझें तो चौथा सम्बन्ध भी सिद्ध होता है जो चौथा सम्बन्ध यह कि विश्व मे आत्मा भिन्न है। किन्तु इसे भिन्नता पर भी यदि पाँचवें विकार को वास्तव मे विकार न माना जाय तो सम्बन्ध भी सिद्ध होता है अर्थात् आत्मा से विश्व भिन्न नही है। तात्पर्य यह कि आत्मा विश्व से भिन्न है किन्तु विश्व आत्मा से भिन्न नही है। इससे दोनो मे भेदा-भेद सम्बन्ध सिद्ध हुआ है। जैसे प्रकाश और दीपक अथवा अग्नि या ताप मे भेदा-भेद सम्बन्ध है वैसे ही यह समझो इस प्रकार विरुद्ध पाच सम्बन्धो के मेल होने से अर्थात् विरोध न होने से छठा अनिर्वचनीय सम्बन्ध भी सिद्ध होता है इसको ❀ षड्विकल्प सम्बन्ध कहते हैं।

वाक् के विकारो मे सबसे प्रथम गुण भूत जिनको तन्मात्मा या विशेष भी कहते हैं उत्पन्न हुए, तत्पश्चात् परमाणु भूत पञ्चीकरण होने से महाभूत तत्पश्चात् भौतिकपिण्ड बस इतनी ही वाक् की सृष्टि अद्यपर्यन्त उत्पन्न हुई। इन विकारो को आत्मा-अनात्मा दोनो उपर्युक्त अनुसार कह सकते है।

किन्तु यह विकार वाक् के आधे भाग मे ही होते है और आधा अब भी उन विकारो में सदा निर्विकार रूप से रहता है जैसे पानी मे फेन होकर पानी को ढकता है उसी प्रकार यह विकार निर्विकार वाक् को निगूढ भाव से भीतर रखता है यही कारण है कि आकाश को छोडकर शेप जितने भूत विकार

❀ षड्विकल्प सम्बन्ध

१-आत्मा और विश्व का-आधाराधेय भाव-आत्मा मे विश्व,-(शुद्धाद्वैत-वल्लभ)।

२- „ „ „ - „ -विश्व मे आत्मा,-(विशिष्टाद्वैत-रामानुज)।

३- „ „ „ -अभेद सम्बन्ध—आत्मा ही विश्व है,-(अद्वैत शङ्कर)।

४- „ „ „ -भेद सम्बन्ध-विश्व से आत्मा भिन्न है,-(द्वैत-माधव)।

५- „ „ „ -भेदा-भेद सम्बन्ध-{ आत्मा से विश्व भिन्न नही है / किन्तु विश्व से आत्मा भिन्न है } (द्वैताद्वैत निम्बार्क)।

६- „ „ „ -अनिर्वचनीय सम्बन्ध-अकथनीय (आश्चर्यमय)—(मायावाद... ....)।

हैं वे सयोग विभाग दोनो दिशाओ मे अपने मे से निर्विकार वाक् अर्थात् शब्द को प्रकट करते हैं। वह शब्द स्वयम् गतिशील न होने से वायु के द्वारा वायु पर ही सवार होकर बाहर मण्डल में धन भर प्रकट होकर आकाश और समुद्र मे लीन हो जाता है। इससे भी सिद्ध हुआ कि यह भौतिक विश्व इन्हीं वाक्रूपी आत्मा मे ही रहता है।

और ये सब विकार वास्तव मे वाक् ही है और प्रतिसचर क्रम मे सब भौतिक भूतों म और पृथ्वी, जल, तेज, वायु क्रम से फिर वाक् हो जाते हैं। इसमे वैज्ञानिको की दृष्टि मे कोई भी विकार नहीं माना जाता, केवल ये सब विकार वाक् के ही अवस्था विशेष हैं। जैसे सोने के टुकड़े को कड़ा, कण्ठा इत्यादि कहे, उसी प्रकार इन्हे विकार कहना भ्रम मात्र है और मिथ्या है। मोम जिस प्रकार पिघलकर द्रव होता है और फिर घन होता है उसी प्रकार यह वाक् भी केवल अपनी अवस्था पलटती है इसीलिए हम कह सकते हैं कि वास्तव मे यह सम्पूर्ण विशाल जगत् निर्विकार केवल आत्मा ही आत्मा है। इसी अभिप्राय को लेकर वेद वारम्बार कहता है कि—आत्मैवेदं सर्वम्, एतदात्म्यमिद सर्वम् ये ही आत्माये सब है।

२-व्यूहानुव्यूह परिच्छेद में ३ दर्शन हैं

१-परमेश्वरदर्शन, २-ईश्वरदर्शन, ३-जीवदर्शन

(१) परमेश्वरदर्शन

१—उपक्रमसूत्र

१—पहले परिच्छेद मे जो व्यूह कहा गया है वह अनन्त प्रकार का है किन्तु उन व्यूहो से बना हुआ अनुव्यूह तीन प्रकार का है—जीव, ईश्वर और परमेश्वर।

प्रजापति के सहस्रो व्यूहो के समुच्चय से एक जीव का अनुव्यूह उत्पन्न होता है और सहस्रो जीवो के अनुव्यूह उत्पन्न होता है और अनन्त ईश्वर व्यूहो से एक परमेश्वर का अनुव्यूह सम्पन्न होता है। यह परमेश्वर एक ही है इसी कारण फिर चौथा अनुव्यूह सम्पन्न नही होता है इस कारण तीन ही अनुव्यूह सिद्ध होते है।

२—अपने व्यूहो को धारण करती हुई आत्मा जिन वाक्, प्राण, मनो मे सम्पन्न होती है उनसे अतिरिक्त वाक्, प्राण, मनो को जीव धारण करता है और जीव सम्बन्धी उन तीनों से अतिरिक्त वाक्, प्राण, मनो को ईश्वर धारण करता है और ईश्वर के भी उन तीनो से अतिरिक्त वाक्, प्राण, मन, परमेश्वर के हैं।

३—सब से प्रथम कोई एक आत्मा समस्त वाक्, प्राण, मनो से पर्याप्त अखिल विश्वव्यापी था, वही सृष्टि क्रम मे आकर असीम ने ससीम रूपो मे आकर व्याप्त हो गया, फिर उन ससीमो मे भी धीरे-धीरे बृहत्सीम के भीतर अनन्त अल्पसीम उत्पन्न हुए। इस प्रकार प्रथम तीन विभाग हुए १—असीम २—बृहत्सीम, ३—अल्पसीम। इन्ही तीनो को क्रम से परमेश्वर, ईश्वर और जीव कहते हैं।

४—उन तीनो आत्माओ से पृथक्—पृथक् सृष्टिया होती हैं वह प्रत्येक सृष्टि अपनी—अपनी आत्मा मे ही रहती है।

५—उन सृष्टियो मे तीनो ही आत्मा मे सर्वत्र वाक् ही बीज रूप से अर्थात् उपादान रूप से कारण होता है और प्राण उपाय रूप से निमित्त कारण होता है। इसी प्रकार मन स्रष्टा या निर्माता (कर्ता) रूप से कारण होता है। मन की इच्छा वृत्ति के अनुसार प्राण के आश्रय से वाक् ही परिणत होकर नाना रूप धारण करती है—यही सृष्टि का मूलतत्त्व या रहस्य है।

६—यद्यपि परमेश्वर, ईश्वर, जीव इन तीनो मे मन, प्राण, वाक् अवश्य रहते ही हैं किन्तु परमेश्वर मे सबसे अधिक और ईश्वर से उससे कम और जीव मे उससे कम उन तीनो की मात्रा रहती है।

७— इससे पहले के "विशिष्ट त्रिसत्यवाद" मे जगत्, जीव और ईश्वर ये तीन तत्त्व दिखाये गये थे, परन्तु अब सूक्ष्म विचार करने से ईश्वर के अतिरिक्त परमेश्वर भी दिखाया जाता है और जीव, ईश्वर, परमेश्वर, इन तीनो को ही लेकर हम यहाँ त्रिसत्य का वर्णन करेंगे और जगत् को जो ये तीनो पृथक-भासते हैं वह भी इन्ही तीनो के साथ पृथक-पृथक वर्णन करेंगे, क्योकि सूक्ष्म विचार करने पर यह जगत् इन तीनो से पृथक् कदापि प्रतीत नही होता है।

२—आयुर्निर्णय सूत्र

उन तीनो मे परमेश्वर की आयु अर्थात् जीवनकाल का प्रमाण नही पाया जाता और ईश्वर की की आयु शतकल्प की अनुमान की जाती है किन्तु सम्भव है कि ईश्वर के नाना प्रकार के होने के कारण किसी किसी ईश्वर की आयु उससे भी अधिक हो किन्तु जीवो मे मनुष्य की आयु का प्रमाण भिन्न-भिन्न प्रकार का है कितने ही जीवो की आयु सहस्र वर्ष की पाई जाती है और कितने ही जीव एक दिन मे ही कई बार पैदा होते हैं और मरते हैं। उन सब जीवो की आयु का भिन्न भिन्न विचार न करके यहाँ केवल मनुष्य की आयु के सम्बन्ध मे कुछ कहा जाता है। मनुष्य की आत्मा जिन मन, प्राण, वाको से सम्पन्न होती है उनकी संख्या ३६००० की है—३६००० मन, ३६००० प्राण, ३६००० वाको से बनी हुई आत्मा ३६००० दिन मे पृथ्वी से बने हुए शरीर से सबन्ध तोड लेती है। इसी कारण मनुष्य की आयु मुख्यतः १०० वर्ष की मानी जाती है।

मनुष्य की आयु १०० वर्ष की होती है। इसके कारण परीक्षा मे कई मत हैं—१ यह है कि जिस प्रकार इस त्रिलोकीब्रह्माण्ड के मध्य मे सूर्य अपने प्रकाश से व्याप्त हो रहा है। उसी प्रकार इस त्रिलोकी शरीर मे भी हमारी आत्मा सूर्य के समान चारो ओर ज्ञानमय प्रकाश से शरीर मे व्याप्त हो रही है—

सूर्य प्रकाश मण्डल के समान ज्ञान-प्रकाश-मण्डल को भी सम्वत्सर कहते है। सम्वत्सर से पृथ्वी [illegible] रेखा जिसे विपुवद्वृत्त कहते हैं उसी को ज्ञान की भाषा मे वृहती कहते है। वृहती [illegible] नाम है जो चतुष्पाद होकर ३६ अक्षर का होता है।

विपुवद्वृत्त मे भी दश-दश अश का एक एक अक्षर मानने से ३६ अक्षर है [illegible] कहते हैं इनके एक एक अक्षर को जो दश दश अश के बने हैं प्रत्येक अश को १०० से गुणा [illegible] ३६००० हो जाते है। ३६००० दिन मे उन ३६००० अक्षरो से सूर्य सवत्सर के सम्बन्ध [illegible] अनुसार अलग हो जाते है पृथ्वी और सूर्य की आत्मा का सम्बन्ध इस प्रकार टूट जाने पर दोनों [illegible] रस मिले हुए नही रहते याने सूर्य का रस इस पृथ्वी से बने हुए शरीर को छोड़कर [illegible] चले जाते हैं इसी को मृत्यु कहते हैं।

२—दूसरे मन मे सूर्य के क्रान्तिवृत्त को जगती कहते है जगती १२ अक्षर का छन्द है [illegible] कहते हैं। जगती को जगती से गुणा करने पर १४४ होता है यही १४४ वर्ष की मनुष्य की [illegible] है अर्थात् पृथ्वी के विपुवत् को १२ भाग करके प्रत्येक भाग मे उन्ही बारहों की दृष्टि [illegible] भाग १२ भागो मे बट जाते है। यो १४४ भाग होते हैं। एक एक वर्ष मे सूर्य के सम्बन्ध [illegible] पृथ्वीरस और सूर्यरस पृथक् पृथक् हो जाता है इसी मृत्यु कहते हैं। यद्यपि मनुष्य की आयु प्रथम [illegible] अनुसार १०० वर्ष की मानी गयी है, किन्तु सदाचार और यज्ञादि के द्वारा अथवा शरीर [illegible] दृढता के द्वारा यदि आयु बढे तो उसकी तीन सीमा है—१—कनिष्ठ सीमा १०८ वर्ष की, २—मध्यमसीमा १२० वर्ष की और ३—परमसीमा १४४ वर्ष की है। इनमे परमसीमा का कारण द्वितीय मत मे [illegible] गया है। सौ वर्ष का नियम सामान्य मान है किन्तु १०० वर्ष मे भी अधिक जीवन [illegible] प्रकृति नियम के अनुसार १४४ वर्ष से अधिक मनुष्य भी नहीं जीता। अलबत्ता औषधि [illegible] अधिक जीवन चरकऋषि ने माना है और योगाभ्यास से अधिक जीवन पुराण के ऋषियो ने माना है।

३—स्वातन्त्र्यसूत्र
(जीवतन्त्र, ईश्वरतन्त्र और परमेश्वरतन्त्र)

१—जीवतन्त्र जीव, ईश्वर, परमेश्वर इन तीनो के भिन्न भिन्न तन्त्रों [illegible] आयतन है जैसा कि जीव के तन्त्र का आयतन हृद्बन्धी यह शरीर है। [illegible] या जो उत्पन्न होता रहता है उनमे एक तिहाई भाग इस जीव के ही अधीन है [illegible] वाक् इस जीव की आत्मा है उनसे उत्पन्न होते हुए ज्ञान, क्रिया और अर्थ [illegible] माने जा सकते है और वे सब जीव के अधीन है अर्थात् उन ज्ञान, क्रिया, अर्थ [illegible] उनके सचालन मे यह जीव पूर्णतया स्वतन्त्र है उनमे ईश्वर के या परमेश्वर के तन्त्रों का [illegible] नही है इसीलिये जीव दुराचरण का अपराधी माना जाता है और इसीलिये [illegible] विधि-निषेध [illegible]

नोट—यदि आयु का बढाव हो तो १०८, या १२० या १४४ तक हो सकता है [illegible] इत्यादि से तो ४०० वर्ष तक भी माना गया है।

आज्ञाएं आर्थर होती है, अथवा ईश्वर परमेश्वर के तन्त्र मे जीव सदा परवश है। ऐसी स्थिति मे जीव पर किसी प्रकार की शास्त्र की आज्ञा का देना व्यर्थ हो जाता है।

इस जीव मे प्राण तीन प्रकार का है १–वैश्वानर, २–तैजस, ३–प्राज्ञ-इन तीनो मे वैश्वानर प्राण शरीर का सरक्षक है, अर्थात् प्रकृति नियम के अनुसार प्रतिक्षण इस शरीर मे से जो कुछ क्षीण होता रहता है उसकी पूर्ति करता हुआ इस शरीर की स्थिति को ज्यों की त्यो बनाये रहता है। जो कुछ अन्न, पान इस शरीर के भीतर प्रविष्ट होता है, उसके भी रस और मल दो भाग करके रस भाग को शरीर के निर्वाह के लिए भीतर ही धारण करता है और मल भाग से अपना संसर्ग छोडता है। अब दूसरा प्राण तैजस है जो कि इन दोनो रस और मल भागो को स्थानान्तरित करता है, अर्थात् रस बनने के स्थान मे हटकर इसको सर्वाङ्ग शरीर मे आवश्यकतानुसार बाट कर सचालन करता है और मल भाग को शरीर के बाहर फेंक देता है। इसके अतिरिक्त बालक शरीर को धीरे धीरे बढाकर, युवा अवस्था, वृद्धावस्था मे परिणत करता है। शरीर का बढना, घटना,स्फुरण होना, चेष्टा होना, अपने आप गति करना इत्यादि सभी क्रियाएँ तैजस प्राण के अधीन है और तीसरा प्राण प्राज्ञ है, जिसेके द्वारा शरीर मे ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं संज्ञान अर्थात् किसी बात का सकेत करना या लक्ष्य रखना और अज्ञान अर्थात् किसी विषय की ओर अपने को या दूसरे को रूकाना, प्रज्ञान अर्थात् किसी बाहरी विषय को अपने मस्तिष्क तक भीतर पहुँचाना और विज्ञान अर्थात् किसी विषय की सत्यता को चिरकाल तक धारण करना इत्यादि इत्यादि, ज्ञान की अनेक शाखाएँ इस शरीर में प्रज्ञाप्राण के द्वारा उत्पन्न होती रहती हैं। ये ही तीन प्राण हैं इनमे वैश्वानर का सबध अर्थ से है जो आत्मा के वाक् भाग से उत्पन्न होता है, तैजस का सबन्ध क्रिया से है जो आत्मा के प्राण भाग से उत्पन्न होती है और प्रज्ञाप्राण का सम्बन्ध ज्ञान से है जो आत्मा के मन भाग से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार वैश्वानर का सबन्ध अग्नि देवता से, तैजस का संबन्ध वायु देवता से और प्रज्ञा का सम्बन्ध इन्द्र देवता से सर्वदा बना रहता है। इन्ही तीनो के द्वारा जीव की आत्मा का ईश्वर की आत्मा के साथ संयोग है। आधिदैविक पदार्थ अध्यात्म मे और आध्यात्मिक पदार्थ अधिदैविक मे आते जाते रहते है, जिनके द्वारा जीव, ईश्वर का सदा ऋणी बना रहता है। इन्ही तीनो प्राणो को उपासना काण्ड में उपासना के लिये अर्थात् चित्त की स्थिरता के लिये तीन भिन्न भिन्न नामो से बोलते हैं। वैश्वानर को विष्णु कहत है, जिसका काम रक्षा करना है, तैजस को ब्रह्मा कहते हैं जिसका काम पैदा करना है और तीसरा प्रज्ञा का नाम शिव है अर्थात् सदा कल्याण या शान्त रूप है इन तीनो जीवो की वृत्तियो मे जिस मात्रा को जीव अधिक बढाना चाहता है उसी मे मन लगावे तो तो मन के लगने मे प्राण और वाक् ये दोनो भी उसी मे लग जाते है, जिसके कारण आत्मा मे वही भाग अधिक बढकर तन्मय हो जाता है और उसी के द्वारा ईश्वर या परमेश्वर के भी उसी भाग मे लीन हो जाता है यही उपासना का सार या तात्पर्य्य है।

ईश्वरतन्त्र

जिस प्रकार जीव का तन्त्रायतन अर्थात् तन्त्रशाला यह शरीर है इसी प्रकार ईश्वर की तन्त्रशाला यह ब्रह्माण्ड है। ब्रह्माण्ड के भीतर जो कुछ है या जो कुछ उत्पन्न होता रहता है उनमे आधा भाग

ईश्वर के अधीन है अर्थात् जो मन, प्राण वाक् इस ईश्वर की आत्मा है उनमें उत्पन्न होने वाले ज्ञान, क्रिया, अर्थ सभी ईश्वर तन्त्र के भीतर माने जा सकते हैं और वे सब ईश्वर के अधीन हैं। अर्थात् उन ज्ञान, क्रिया, अर्थ इनकी उत्पत्ति मे अथवा उनके सचालन मे यह ईश्वर पूर्णतया स्वतन्त्र है। उनमें परमेश्वर के तन्त्र का साक्षात् सबन्ध नही है।

ईश्वर मे प्राण तीन प्रकार का है—१-विराट्, २-हिरण्यगर्भ, ३-सर्वज्ञ। विराट् को वैश्वानर भी कहते हैं इन तीनो मे विराट् प्राण ब्रह्माण्ड का सरक्षक है। अर्थात् प्रकृति नियम के अनुसार प्रतिक्षण इस ब्रह्माण्ड मे जो कुछ क्षीण होता रहता है उसकी पूर्ति करता हुआ इस ब्रह्माण्ड की स्थिति को ज्यों का त्यो बनाये रखता है।

दूसरा प्राण हिरण्यगर्भ है जो कि इस ब्रह्माण्ड मे उत्पन्न होते हुए भिन्न भिन्न पदार्थों की आवश्यकता के अनुसार ऊपर नीचे भिन्न भिन्न स्थानो मे बाँटकर सचालन करता हुआ ब्रह्माण्ड के स्वरूप को सिलसिलेवार सपन्न करता है इस ब्रह्माण्ड का समस्त परिवर्तन इसके अधीन है।

तीसरा प्राण सर्वज्ञ है जिसको अन्तर्यामी भी कहते हैं, जिसके द्वारा इस ब्रह्माण्ड के समस्त चेष्टाओ के कारण रूप, महाप्राण का उत्थान या सचालन होता रहता है। कोइ भी प्राण बिना ज्ञान के नही प्रवृत्त होता यह प्रजापति परिच्छेद मे कहा जा चुका है। जिस प्रकार हमारे प्राण का सचालन हमारे शरीर के प्राज्ञआत्मा के अधीन होते हुए हम देखते हैं उसी प्रकार यहाँ भी प्राणो का सचालन किसी ज्ञान घन आत्मा के अधीन अवश्य होना माना जाता है। यद्यपि उसको हम अनुभव नहीं कर सकते, तथापि जिस प्रकार दूसरे शरीर के भीतर प्राण चेष्टा के कारण उसी शरीर के मन की इच्छा को सर्वथा हम अनुभव नही करते किन्तु अपने ही अनुसार उसके होने का भी पूर्णतया विश्वास रखते हैं ठीक उसी तरह ईश्वर के ब्रह्माण्ड मे भी होती हुई सभी चेष्टाओ का कारण किसी न किसी मन की इच्छा के होने का विश्वास करना चाहिये वही ज्ञान घन सर्वज्ञआत्मा है।

ब्रह्माण्ड भर मे ये ही तीन प्राण है, इनमे विराट् का, ब्रह्माण्ड का सम्बन्ध इस ब्रह्माण्ड के समस्त दैविक भौतिक अर्थो से है जो कि आत्मा के वाक् भाग से उत्पन्न होते हैं और हिरण्यगर्भ का सम्बन्ध इस ब्रह्माण्ड की समस्त क्रियाओ से है जो आत्मा के प्राण भाग से उत्पन्न होते हैं और सर्वज्ञ प्राण का सबन्ध ज्ञान से है जो आत्मा के मन भाग से उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार विराट् का सबन्ध अग्निदेवता से, हिरण्यगर्भ का सबन्ध वायुदेवता से और सर्वज्ञ का सबन्ध इन्द्र से है। इन्ही तीनो के द्वारा ईश्वर की आत्मा का जीव की आत्मा के साथ ओतप्रोत सबन्ध है जिसके द्वारा ईश्वर सर्वदा जीव पर अनुग्रह करता रहता है।

इन्ही तीनो प्राणो को उपासक लोग भिन्न नामो से व्यवहार करते हैं। अर्थात् विराट् को विष्णु हिरण्यगर्भ को ब्रह्मा और सर्वज्ञ को शिव कहकर उपासना करते हैं। ये तीनो उपास्य देवता वास्तव में एक ही आत्मा के तीन स्वरूप हैं, इसीलिए तीनो एक ही हैं। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर मे नाभि,

[illegible], [illegible] तीनों भिन्न होने पर भी एक ही शरीर के तीन भाग है, किसी अङ्ग की सेवा करने से उस एक शरीर की ही सेवा होती है उसी प्रकार इन तीनो देवताओ मे किसी एक की भी उपासना करने से एक ही आत्मा की उपासना होती है, परन्तु यदि एक की उपासना करता हुआ दूसरे की उपासना का विरोध करे तो वह नाभि की सेवा करते हुए शिर काटने के बराबर अनुचित है। वास्तव मे उपासना का मर्म यही है कि अपनी तीनो आत्माओ मे से किसी आत्मा के द्वारा ईश्वर की उसी आत्मा तक पहुँ-चना और उसमें लय होकर ईश्वर में सायुज्य हो जाना।

परमेश्वरतन्त्र

सूर्य को द्यौलोक और इस भूमि को पृथ्वीलोक और इन दोनो के बीच के वायुमण्डल को अन्तरिक्ष कह कर एक त्रैलोक्य माना जाता है। इस प्रकार के त्रैलोक्य सहस्रो की सख्या मे जिसके चारो ओर विद्यमान् है ऐसा एक सच्चिदानन्दमय मण्डल अर्थात् जिसके किरण सत्ताघन हैं, विज्ञानघन और आनन्दघन है वही सच्चिदानन्द रूपी सूर्य अपने विशाल प्रकाशमण्डल के साथ एक ईश्वर कहलाता है। इसी प्रकार के अनन्तानन्त ईश्वर जिस अनन्त विशाल परमाकाशमण्डल मे विद्यमान है वही परमाकाश-मण्डल अपने अन्तर्गत समस्त मन, प्राण, वाक् के साथ समस्त उनके विकारो के साथ एक परमेश्वर कहलाता है। जीव और ईश्वर जिस प्रकार अपनी आत्मा को केन्द्र बनाकर कुछ दूर अपना आयतन बनाकर सीमाबद्ध होते हैं उस प्रकार यह परमेश्वर न तो अपना केन्द्र ही रखता है और न उसके आयतन की सीमा ही होती है। सीमाबद्ध आयतन होने के कारण जिस प्रकार एक ईश्वर की सीमा के पश्चात् दूसरे ईश्वर का भी इस अनन्त आकाश मे अवकाश मिलता है और इसलिए अनन्त ईश्वर का होना सभव हो जाता है, उसी परमेश्वर कदापि सख्या मे अनन्त नही हो सकता जब कि वह सर्वत्र ही वर्तमान है उसकी सीमा ही नही है तो फिर दूसरे परमेश्वर के लिए अवकाश मिलना ही कैसे सभव हो सकता है इसलिए सिद्धान्त है कि परमेश्वर देश और काल मे अनन्त होकर भी सख्या मे सदा एक ही है।

उस परमेश्वर का यही विशाल अनन्त परमाकाश ही तन्त्रशाला है इस विशाल विश्वमण्डल मे जो जहा कुछ हो चुका है या जो कुछ उत्पन्न होने वाला है सब कुछ इसी तन्त्रशाला के अन्दर समझना चाहिए वे सब उस परमेश्वर के ही अधीन है अथवा यो भी कह सकते है कि वे ही सब कुछ मिलेजुले रूप मे एक परमेश्वर है।

उस परमेश्वर की आत्मा अर्थात् मन, प्राण, वाक् से उत्पन्न होते हुए ज्ञान, क्रिया, अर्थ ही सर्वत्र व्याप्त है। यह परमेश्वर इन तीनो ज्ञान का निधि है और इन तीनो से यह महाजगत् परिपूर्ण है, अथवा परमेश्वर ही परिपूर्ण है। इसी परमेश्वर रूपी निधि से आवश्यकतानुसार थोडी-थोडी मात्रा मे मन, प्राण, वाक् को अथवा उनके विकार ज्ञान, क्रिया, अर्थ को लेकर अनन्तानन्त ईश्वर अपना स्वरूप या जीवन धारण करते है और फिर उन ईश्वरो मे उन्ही तीनो रसो को पाकर अनन्त जीव भी अपना स्वरूप या जीवन धारण करते रहते है। जीव के नाश होने पर उनके स्वरूपारम्भक सभी रस जिस प्रकार ईश्वर मे लीन हो जाते हैं उसी प्रकार ईश्वर के समाप्त होने पर उनके सब रस परमेश्वर मे लीन हो जाते है अथवा यो कहिये कि ये सब रस जीव और ईश्वर के रहते भी परमेश्वर मे ही लीन हैं, क्योकि

जीव और ईश्वर भी परमेश्वर के आयतन से बाहर नहीं हैं। केवल जिन रसों ने जीव और ईश्वर का स्वरूप बनाया वे स्वरूप केवल नष्ट हो जाते हैं। किन्तु वे रस जीव ईश्वर के पहले या पीछे भी ज्यों के त्यो रहते है क्योकि वे नित्य परमेश्वर रूप हैं।

परमेश्वर के प्राण भी तीन प्रकार के है १–अग्नि, २–वायु, ३–इन्द्र—ज्ञान के उदय होने का कारण इन्द्र है, अर्थों की उत्पत्ति और सचालन का कारण वायु है और प्रत्येक वस्तु में से निकला (झडा हुआ) अश की पूर्ति करके उस वस्तु के स्वरूप की रक्षा रखना अथवा यज्ञ के स्वरूप से वस्तु की जीवन रक्षा रखना अग्नि का काम है। इन्ही अग्नि, वायु, इन्द्रो को, जो थोडी मात्रा ईश्वर के शरीर को बनाते हैं, उन्ही को वैश्वानर, हिरण्यगर्भ और सर्वज्ञ कहते है और उन तीनो की भी थोडी मात्राओं से जब जीव का स्वरूप बनता है तो उन्ही तीनो को वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ कहते है।

तात्पर्य्य यह है कि आश्रय भेद और मात्रा भेद से नाम भेद होने पर भी वास्तव मे परमेश्वर का अवयव ये तीनो अग्नि, वायु, इन्द्र ही सर्वत्र व्याप्त होकर इस चराचर जगत् का सचालन करते हैं। अथवा इन्ही तीनो अर्थों को ज्ञान, क्रिया के साथ जगत् कहते हैं, यही परमेश्वर का रूप है।

पारतन्त्र्यसूत्र

जीव अनन्त है ये सब प्रत्येक अपना-अपना पृथक् तन्त्र रखते हैं किन्तु सभी जीव एक ईश्वर के साथ इस प्रकार बधे है कि यदि ईश्वर न रहे तो ये सब जीव उसके साथ ही विलीयमान हो सकते है। जिस प्रकार सहस्रो जलपात्रो मे भिन्न–भिन्न प्रतिबिम्ब अपना–अपना पृथक् तन्त्र रखते हैं तथापि वे सब एक ही आकाश वाले सूर्यतन्त्र से बने हैं इसी बन्धन को अनुग्रह कहते हैं क्योकि सूर्य अपनी सत्ता से उन प्रतिबिम्बो मे सत्ता प्रदान करता है। सूर्य ही की सत्ता से उन सब की सत्ता है इसी प्रकार ईश्वर भी अपनी सत्ता से सब जीवो मे सत्ता प्रदान करता है। ईश्वर की सत्ता मे ही सब जीवो की सत्ता है यही ईश्वर का जीवो पर अनुग्रह है।

ठीक इसी प्रकार अनन्तानन्त ईश्वरो का सबध एक परमेश्वर के साथ है, परमेश्वर के गर्भ मे अनन्तानन्त ईश्वर हैं और एक-एक ईश्वर के गर्भ मे अनन्तानन्त जीव हैं। इस प्रकार परमेश्वर का ईश्वरो के साथ और ईश्वर का जीवो के साथ अनुग्राहक अनुगृहीत भाव है। अनुग्रह शब्द का अर्थ पकडने के है, जैसे गिरते हुए को हाथ का सहारा देकर कोई पकड ले तो वह पकडना उसका अनुग्रह होगा। इसी अनुग्रह मे जीव और ईश्वर दोनो का पारतन्त्र्य है अर्थात् जीव वा ईश्वर दोनो ही अपने स्वरूप रूप मे पूर्ण स्वतन्त्र हैं किन्तु जीव की सत्ता ईश्वर परतन्त्र है। ऐसे ही ईश्वर की सत्ता परमेश्वर परतन्त्र है।

सम्पूर्ण जीवो पर एक ईश्वर जो अक्षर है व्याप्त होकर रहता है और उन जीवो को सब तरफ से भोगता है। अर्थात् उनको इच्छानुसार उत्पन्न करता है और उत्पन्न जीवो का रस लेता रहता है और उनकी कमी को अपना रस देकर पूरा करता रहता है और अन्त मे अपने ही भीतर डालकर नष्ट कर लेता है। इसी प्रकार समस्त ईश्वरो पर परमेश्वर भी व्याप्त होकर उनको भोगता है और उनको नष्ट करता

बनाये रखता है। जीवों की आत्मा ईश्वर मे आती है और ईश्वरो की आत्माएं परमेश्वर मे आती है। परमेश्वर स्वय आत्मघन है, उनमें आत्मा और कही से नही आती। जीव, ईश्वर और परमेश्वर इन तीनो का सबंध राजा, सम्राट और स्वराट् के अनुसार भी समझना चाहिये राजा अपने राष्ट्र का स्वतन्त्र है किन्तु उसकी सत्ता सम्राट् के अधीन है और सम्राट उससे रस भी लिया करता है इसी प्रकार सम्राट् अपने राष्ट्र मे स्वतन्त्र है, किन्तु उसकी सत्ता स्वराट् के परतन्त्र है और वह उससे सभी लेता है इसके अतिरिक्त उन तीनो का सबंध जल, बुदबुदा और प्रतिबिम्ब के अनुसार भी है—जल के परतन्त्र बुदबुद है और बुदबुद के परतन्त्र उसमें प्रतिबिम्ब है इत्यादि और भी उदाहरण दिये जा सकते है। इस प्रकार विजातीय पारतन्त्र्य का विचार हुआ है। अब आगे सजातीय पारतन्त्र्य के विषय मे कहा जाता है।

सजातीयपारतन्त्र्य

पहले यह कहा जा चुका है कि जीव अनन्त हैं और प्रत्येक जीव अपना भिन्न तन्त्र रखता है तो इस कथन से यह निश्चित होता है कि जीव ईश्वर के प्रति परतन्त्र होने पर भी जीवो का जीवो के साथ पारतन्त्र्य नही है। इसी प्रकार ईश्वर का भी परमेश्वर के प्रति पारतन्त्र्य नही है। किन्तु किसी ईश्वर का ईश्वर के साथ पारतन्त्र्य नही है ऐसी शका किसी को हो सकती है जिसको दूर करने के लिये कहा जाता है वास्तव मे जीवो की स्थिति दो प्रकार से है एक "व्यधिकरण" रूप से और दूसरी "व्याप्यव्यापक" रूप से इनमे पहला वह है जैसा कि दो मनुष्यो का परस्पर सबन्ध है। उन दोनो का आयतन भिन्न होने के कारण उनमे "वैयधिकरण्य" है। ऐसी स्थिति मे जीवो का जीवो के साथ पारतन्त्र्य न होना माना जासकता है, उसी प्रकार के व्यधिकरण ईश्वरो मे भी पारतन्त्र्य का न होना माना जा सकता है, किन्तु जहाँ व्याप्यव्यापक भाव है उन मे एक जीव के दूसरे सहस्त्रो जीव आरम्भक होते हैं। अथवा एक ईश्वर के कई ईश्वर आरम्भक होते है ऐसी स्थिति मे जीवों का जीव के साथ, ईश्वर का ईश्वर के साथ पारतन्त्र्य अवश्य माना जा सकता है।

जैसा कि मनुष्य के शरीर मे सबसे छोटा जीव "सृमर" है। सृमर के शरीर मे दूसरे किसी जीव का सम्बन्ध नही है। किन्तु अनेक सृमर के मेल से दूसरे प्रकार का जीव उत्पन्न होता है, जिसे भ्रूण कहते हैं। वह शुक्र मे, शोणित मे, अस्थि प्रभृति मे भी असख्यात रूप मे रहते है, यद्यपि वे सब सृमर या भ्रूण जीव अपनी भिन्न-भिन्न जीवन परिस्थिति रखते है इसलिये अपने ढग मे स्वतन्त्र है किन्तु उनकी सत्ता हमारे शरीर की सत्ता के अधीन हैं। इसलिये हमारे शरीर के साथ परतन्त्र है। हमारे शरीर के आयतन के भीतर उनका आयतन होने के कारण हमारे साथ उनका व्याप्यव्यापक भाव है, इसलिये उनको व्यापक एक जीव का शरीर के आरम्भक होने मे परतन्त्र कहते है।

इसी प्रकार ईश्वर भी जो सब से बड़ा एक मुख्य है वह सच्चिदानन्दघन है और कृष्ण है, अर्थात् रूप रङ्ग रहित है और कितने ही ब्रह्माण्डो का स्वामी है, जिसका आयतन के भीतर सहस्त्रो सूर्य तारे हैं वही एक मुख्य ईश्वर है, जिसके शरीर के आरम्भक और भी कितने ही छोटे बड़े ईश्वर माने जाते है, जैसाकि एक-एक सूर्य एक-एक ब्रह्माण्ड का स्वामी ईश्वर है। वह वर्ण मे श्वेत है और उसके आयतन के भीतर बहुत सी त्रिलोकी हैं, ऐसे त्रैलोक्य का भी भिन्न एक ईश्वर है। जिसकी नक्शन पर

मनुष्य जीवों की सृष्टि होती है। इस त्रैलोक्य में भी ये भिन्न-भिन्न तीनों लोक भिन्न-भिन्न तीन ईश्वर हैं, जैसा कि पृथ्वी एक ईश्वर की छोटी मूर्ति है इस प्रकार ये छोटे बड़े सभी ईश्वर अपने गर्भ में अनन्तानन्त जीवों को उत्पन्न करते हुए रखते हैं। अपने-अपने जीवों के साथ एक-एक ईश्वर दूसरे ईश्वर के साथ व्याप्यव्यापक भाव से रहते हैं और परतन्त्र है। इस प्रकार जीवों के साथ और ईश्वर के साथ व्याप्यव्यापक भाव की दशा में पारतन्त्र्य है और वैयधिकरण्य अलग हद, भिन्न आयतन की दशा में स्वातन्त्र्य है।

जगत् व्यपदेशसूत्र

(व्यपदेश–प्रयोग)

जीव, ईश्वर और परमेश्वर ये तीनों व्यूहानुव्यूह हैं। इनमें कितने ही स्कन्धव्यूहों के पूर्ण स्वरूप का निर्माण होता है। प्रत्येक स्कन्धव्यूह में अनेक आत्माओं का संग्रह होता है और प्रत्येक आत्मा अपना रूप, शरीर और वित्त पृथक्-पृथक् रखती है अर्थात् मन, प्राण, वाक् ये तीनों मिलकर एक अनुव्यूह आत्मा हैं। ज्ञान, क्रिया, अर्थ ये ही तीनों आत्मा के उद्बुद्ध रूप हैं और वेद, यज्ञ, प्रजा ये तीनों उस आत्मा के शरीर हैं और प्रबल आत्मा अन्य निर्बल आत्माओं से जो कुछ अपने आयतन में संग्रह करता है वह उस आत्मा का वित्त है। इस प्रकार आत्मा, रूप, शरीर और वित्त चारों मिलकर एक अनुव्यूह होता है। ऐसे अनेकानेक अनुव्यूहों से एक स्कन्ध व्यूह होता है और कितने ही स्कन्ध व्यूहों के मिलाव से एक वह व्यूह उत्पन्न होता है जिसको जीव कहते हैं। यह जीव तीन जाति के हैं। एक खनिज जो असंज्ञ है जैसे हीरा, माणिक इत्यादि। दूसरा जीव उद्भिज्ज है जो अन्तः संज्ञ है—जैसे वृक्षादि। तीसरा जीवज है जो ससंज्ञ है—जैसे मनुष्यादि। खनिज में केवल वैश्वानर प्राण ही आत्मा होता है। उद्भिज्ज में वैश्वानर और तैजस इन दो प्राणों की आत्मायें हैं और जीवज में वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ ये तीनों प्राणों की आत्माएं हैं। ऐसे तीनों प्रकार के अनेकानेक जीवों से एक नया वह व्यूह उत्पन्न होता है जिसे ईश्वर कहते हैं। ऐसे अनन्त ईश्वर व्यूहों में वह एक असीम व्यूह सदा सिद्ध रहता है जिसे परमेश्वर कहते हैं। परमेश्वर एक ही है, इसीलिए उसमें नया व्यूह उत्पन्न नहीं होता। इतना विषय पहले कहा जा चुका है, अब इतना और कहना है कि जीव व्यूह में जो आत्मा है उसका रूप तो ज्ञान, क्रिया और अर्थ आत्मा से पृथक् नहीं हो सकता किन्तु उसके आधार और अतिरिक्त तीन भाग है—वेद, यज्ञ, प्रजा इन तीनों को यद्यपि उस आत्मा का शरीर माना गया है तथापि उनमें मुख्य शरीर का भाग प्रजा है, जो कि अग्नि, सोम, यम, आप् इन चारों देवताओं के सम्बन्ध से पञ्चदेव पञ्चभूत ये दसों अपने विकारों से एक प्रकार का पुद्गल उत्पन्न करते हैं, वही स्थूल होने के कारण मुख्य शरीर है। यज्ञ उसी का जीवन निर्वाह है, और वेद भी उसी का विस्तार है। तात्पर्य यह है कि आत्मा और उसके रूप से अतिरिक्त वेद, यज्ञ, प्रजा के भेद से जो कुछ शरीर का भाग है या वित्त का भाग है वही उस आत्मा का जगत् है।

जिस प्रकार शरीर जीव का तन्त्र है और जिस प्रकार ब्रह्माण्ड ईश्वर का तन्त्र है उसी प्रकार यह असीम जगत् परमेश्वर का तन्त्र है। शरीर, अण्ड और जगत् ये तीनों आपेक्षिक पर्याय शब्द हैं अर्थात्

एक ही विषय को लक्ष्य कर के जीव सम्बन्ध से शरीर, ईश्वर के सम्बन्ध से अण्ड और परमेश्वर के सम्बन्ध से जगत् कहलाता है। तथापि परमेश्वर का जगत् उसका अण्ड और शरीर भी कहा जा सकता है। इसी प्रकार जीव के शरीर को भी उसका ब्रह्माण्ड या उसका जगत् कह सकते हैं। इस प्रकार जीव, ईश्वर और परमेश्वर के भेद से यह जगत् भी तीन भिन्न-भिन्न प्रकार का है। किन्तु जीव का जगत् ईश्वर के जगत् मे और ईश्वर का जगत् भी परमेश्वर के जगत् मे अन्तर्गत होकर रहता है जीव के जगत् से बाहर दूसरे जीव का जगत् या ईश्वर का जगत् है। इसी प्रकार ईश्वर के जगत् से बाहर भी दूसरे ईश्वर का जगत् रहता है। किन्तु परमेश्वर के जगत् से बाहर कही कुछ नही है। परमेश्वर का जगत् ही परमेश्वर है। ईश्वर या जीव का जगत् भी ईश्वर या जीव की आत्मा से उत्पन्न होकर उसी आत्मा के आश्रय से इस प्रकार मिलाजुला रहता है कि जिससे ईश्वर के जगत् को ईश्वर से या जीव के जगत् को जीव से भिन्न कदापि नही कह सकते।

जीवतन्त्र का नाम शरीर हैं;
ईश्वर ,, ,, ,, अण्ड है,
परमेश्वर,, ,, ,, जगत् है,
} शरीर, अण्ड, जगत्।

जीव, ईश्वर, परमेश्वर के तन्त्रो को शरीर, अण्ड, जगत् तीनो नामो से भी बोल सकते हैं।

जीव का तन्त्र अन्य जीव के तन्त्र से भिन्न है किन्तु ईश्वर के तन्त्र के अन्तर्गत है। ऐसे ही ईश्वर का तन्त्र अन्य ईश्वर के तन्त्र से भिन्न है किन्तु परमेश्वर के तन्त्र के अन्तर्गत है।

आत्मत्रयसाम्यसूत्र

पहले कहा जा चुका है कि जीव मे ३ आत्माये हैं— वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ। इसी प्रकार से ईश्वर मे तीन आत्माए हैं—विराट्, हिरण्यगर्भ और अन्तर्यामी या सर्वज्ञ। इसी प्रकार परमेश्वर मे तीन आत्माये हैं—अग्नि, और वायु और इन्द्र। अधिकरण या व्यूह भेद से इन आत्माओ के भेद होने पर भी वास्तव मे अग्नि, विराट् और वैश्वानर ये तीनो एक ही पदार्थ है अर्थात् अग्नि के ही ये तीनो नाम हैं और यह वाक् प्रधान है। यह तीनो अधिकरणो या व्यूहो मे अर्थो की सृष्टि किया करता है— इसी प्रकार वायु, हिरण्यगर्भ और तैजस ये तीनो भी एक ही पदार्थ हैं और यह प्राण प्रधान है तीनो व्यूहो मे क्रियाओं को उत्पन्न किया करता है। इसी प्रकार इन्द्र, अन्तर्यामी और प्राज्ञ ये तीनो भी एक ही पदार्थ है अर्थात् इन्द्र ही हैं, यह मन प्रधान है। तीनो व्यूहो मे ज्ञान भाग को उत्पन्न करना इसका काम है। इस प्रकार मन, प्राण, वाक् के सम्बन्ध से तीनो व्यूहो मे समान जाति के तीन आत्मा होने से तीनो की समानता है।

ज्ञानोत्पादक	क्रियोत्पादक	अर्थोत्पादक
इन्द्र रूप	वायु रूप	अग्नि रूप

जीव की आत्मा—मन, प्राण, वाक् को ही प्राज्ञ, तैजस, वैश्वानर कहते हैं।
ईश्वर की आत्मा—मन, प्राण, वाक् को ही सर्वज्ञ, (अन्तर्यामी) हिरण्यगर्भ, विराट् [illegible]।
परमेश्वर की आत्मा—मन, प्राण, वाक् को ही इन्द्र, वायु, अग्नि कहते है।

आकाशत्रयसाम्य

तीन आकाश दहरोत्तर भाव से सदा वर्तमान रहते है ऐसा माना गया है कि जीव का [illegible] शरीर है उसको शरीराकाश कहते है और उस शरीर का केन्द्र हृदय है, जिसके भीतर भी "[illegible]" के नाम से एक छोटा सा आकाशमण्डल है। उसी मे शोणित की उत्पत्ति होती है। [illegible] जितने प्रकार के प्राण है जिनसे कि देवता और भूत उत्पन्न होते रहते है वे सब उस छोटे से [illegible] नाम के हृदयाकाश मे विद्यमान होते है। इन दोनो आकाशो को अर्थात् हृदयाकाश और शरीराकाश [illegible] जीव के सबन्ध के कारण एक ही मानते हैं।

अव दूसरा आकाश ब्रह्माण्ड का है अर्थात् इस भौतिक सूर्य का प्रकाश जहाँ तक [illegible] ब्रह्माण्ड आकाश है और ऐसे ऐसे सहस्रो सूर्य जिस सच्चिदानन्द सूर्य के चारो ओर फिरते हैं। [illegible] प्रकाश जहाँ तक व्याप्त है वह यही ब्रह्माण्ड आकाश है इन दोनो आकाशो को ईश्वर के सम्बन्ध [illegible] एक ही मानते हैं।

अव तीसरे आकाश को परमाकाश कहते हैं यह परमोव्योम असीम है। [illegible] असख्यात अण्डाकाश हैं और एक एक अण्डाकाश के अन्तर्गत असख्यात शरीराकाश है। [illegible] बड़ी सीमा मे छोटी सीमा और फिर उसमे छोटी सीमा की वस्तु यदि रक्खी जाय तो [illegible] 'दहरो-त्तरभाव' कहते है।

वैज्ञानिक महर्षियो की सूक्ष्म परीक्षा से यह निश्चित हो चुका है कि जितने प्रकार के प्राण [illegible] मन वाक् के विकार उस परमाकाश मे है वे सव उसके अन्तर्गत ब्रह्माण्डाकाश मे भी [illegible] रहते है और ब्रह्माण्डाकाश मे जितने प्राण हैं या जितने भूत और देवता है वे सब [illegible] मे थोडी मात्रा मे है। तात्पर्य्य यह कि इन तीन आयतनो के छोटे बडे होने के कारण मात्रा या परिमाण मे भेद अवश्य है। परन्तु उन प्राणो की जाति तीनो मे वरावर है इसीलिये पिण्ड की परीक्षा [illegible] अण्ड की और उसके द्वारा परमव्योम की परीक्षा हो जाने का विश्वास रखते हैं।

अनाहतनाद सूत्र
(बिना ठोकर खाया हुआ)

जीव के शरीर मे एक प्रकार की गरमी पाई जाती है उसे वैश्वानर + अग्नि कहते है। [illegible] दो प्रकार से उत्पन्न होता है। एक प्राकृतिक नियम से दूसरा कृत्रिम व्यापार से [illegible]

❀ दहर का अर्थ छोटा है उससे उत्तर वडा आकाश रहता है इसी से इसको दहरोत्तर कहते हैं।
+ वैश्वानर—विश्व=लोक, नर=स्वामी तीनो लोक के स्वामी तीन प्राणो के संयोग से [illegible] अग्नि वैश्वानर को कहते है और सूर्य का प्राण भी इस शरीर पर अधिकार [illegible]।

और पृथ्वी का प्राण उस शरीर पर अपना अधिकार करता है इन दोनो के अतिरिक्त तीसरा प्राण अन्त-रिक्ष का है वह एक प्रादेश अर्थात् १० ॥ अंगुल का होकर ठीक हृदय से बन्धा हुआ रहता है उस प्राण को व्यानवायु कहते हैं इसी व्यान के आधार पर सूर्य का प्राण पृथ्वी के प्राण से सयोग करता है। सूर्य का प्राण पृथ्वी के प्राण को दवाना चाहता है किन्तु पृथ्वी का प्राण हृदय से बन्धे रहने के कारण एकदम नष्ट नहीं होता, केवल दवकर व्यान के नीचे की छोर पर आकर फिर दवाव की जगह न पाकर एकदम उठने के लिए जोर करता है उसी के वल से सूर्य का प्राण धक्का खाकर पीछे की ओर लौटता है किन्तु वह भी सर्वदा नष्ट न होकर व्यान के ऊपरी छोर तक आकर फिर नीचे की ओर आने का जोर लगाता है। इसी प्रकार दोनों प्राणों के वारी-वारी से ऊपर नीचे दवाव पडने को प्राणापान व्यापार कहते हैं। सूर्य के प्राण को प्राण ही कहते है और पृथ्वी के प्राण को अपान। पक्षे के अनुसार इन दोनो प्राणो के ऊपर नीचे हिलने से कुछ शरीर की वायु ऊपर नासिका होकर निकलता है और प्राण के भीतर जाने पर बाहर की वायु शरीर के भीतर घुसती है, इसी को श्वासोच्छ्वावास कहते है व्यानवायु पर इस प्रकार प्राण और अपान का जो संघर्षण होता है उसी से एक प्रकार की अग्नि उत्पन्न होती है उसे ही वैश्वानर-अग्नि कहते हैं। यह इस अग्नि की उत्पत्ति प्राकृतिक नियम से है।

इस प्रकार उत्पन्न हुआ अग्नि शरीर के धातुओ का दाहन करने लगे इसीलिये उस अग्नि की रक्षा के अर्थ अन्न भोजन करना पड़ता है क्योंकि अग्नि का स्वभाव कुछ नकुछ खाते रहने का है। भोजन किये हुए अन्न मे भी अग्नि उत्पन्न होता रहता है जिससे इस शरीर की रक्षा होती है, इस प्रकार अग्नि की उत्पत्ति कृत्रिम व्यापार से की जाती है।

अग्नि का स्वभाव है कि जलते समय जलने वाली चीजो मे से जमे जमाये बहुत से भौतिक वायुओं को उधेड़ कर बाहर फेंकता है और बहुत सी बाहरी भौतिक वायुओ को अपने जलने के काम मे लेता है। इसीलिये भीतर वाले वायु को बाहर के वायुओ मे जो मिलने का वेग उत्पन्न होता है उससे एक प्रकार का शब्द उत्पन्न हुआ करता है। तात्पर्य्य यह है कि जीव के शरीर मे इसी प्रकार वैश्वानर-अग्नि के जलते रहने से जो उसके जलने का शब्द उत्पन्न होता है उसे ही "अनाहतनाद" कहते है। यह नाद जब तक प्राणी का जीवन है, जब तक शरीर मे अग्नि है तब तक बना रहता है किन्तु जब प्राणी के मृत्यु का समय समीप आता है तो अग्नि बन्द होने लगती है तो वह नाद भी धीमा पड़ जाता है यहाँ तक कि मरने के समय सर्वथा बन्द हो जाता है। यह तो जीव के शरीर मे अनाहतनाद का कारण है। किन्तु जिस प्रकार जीव के शरीर मे तीनों लोक के तीन प्राण एकत्र होकर प्राणायान करते हैं उसी प्रकार ईश्वर के ब्रह्माण्ड मे भी तीन लोक हैं और तीनों के प्राण परस्पर मिलते हैं। इसीलिये वहाँ भी अन्तरिक्ष मे पृथ्वी के प्राण सूर्य के प्राण के साथ संघर्षण होते रहने के कारण जो एक प्रकार की अग्नि उत्पन्न होती है उसे वैश्वानर प्राण कहते हैं। और शरीर के अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त रहते है। इसे हम बाहर के अग्नि को देखकर प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं तो इस से हम अनुमान भी कर सकते हैं कि जिस प्रकार मेरे शरीर मे अग्नि के जलन से शब्द अर्थात् अनाहतनाद उत्पन्न होता है उसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड मे भी उसी अग्नि के जलने से यह अनाहतनाद अवश्य उत्पन्न होता होगा।

किन्तु सूक्ष्म होने के कारण हमारी श्रोत्र-इन्द्रियाँ ग्रहण नही कर सकती अथवा ऐसे [illegible] शब्द होकर न हो, तभी शब्द सहन किया जाता है परन्तु शब्द एक रस होना ही [illegible] यदि हम ग्रहण न करें तो उस शब्द को भी हम ग्रहण नही कर सकते । यही कारण है कि सदा [illegible] एक रस अविच्छिन्न अनाहतनाद के पेट मे खडे हुए हम उस अनाहतनाद को ग्रहण नही करने पाते परन्तु यदि ब्रह्माण्ड मे अग्नि है तो ब्रह्माण्ड मे अनाहतनाद होना भी प्रकृति नियम के अनुसार [illegible] है । हम विश्वास रखते हैं कि हमारे अनुसार ईश्वर भी अपने अनाहतनाद को अपने जीवन पर्यन्त अवश्य ही सुनता होगा ।

आजकल बहुत से विद्वानो का यह विश्वास है कि कान जब अगुली से बन्द करते है तो कान के छिद्र द्वारा प्रवेश करते हुए बाहर वायु को प्रवेश का मार्ग अत्यन्त सूक्ष्म मिलता है इसलिए उसमे वायु को प्रवेश करते समय संकुचित होकर घन होना पडता है इसलिये वायु के प्रवेश करते समय शब्द की उत्पत्ति होती है यह उत्पत्ति कर्ण प्रदेश मे ही होती है न कान के भीतर है न बाहर है इसीलिए इस शब्द को शरीर के भीतर मानना भूल है इस पर अधिक विचार करने मे यही सिद्ध होता है कि यह शब्द शरीर के भीतर अग्नि के ही जलने का है जैसा कि छान्दोग्य श्रुति मे लिखा है बाहर से वायु का प्रवेश करते समय कर्णरन्ध्र मे शब्द की उत्पत्ति मानना अधिक विश्वास योग्य प्रतीत नही होता क्योंकि हम देखते है कि बाहर यदि प्रचण्ड वायु चलता हो अथवा सर्वथा वायु शान्त होकर हमे कुछ भी प्रतीत न होता हो इन दोनो अवस्थाओ मे अगुली से कान बन्द करने पर एकसार अनाहतनाद सुनने मे आता है न कभी घटता है न कभी बढता है यदि बाहरी वायु कारण होता तो उसके घटने बढने पर शब्द के घटाव-बढाव मे अवश्य ही कुछ परिवर्तन होता इसके अतिरिक्त एक प्रबल प्रमाण यह है कि जहा बाहरी वायु चलता रहता है वह कर्णरन्ध्र या नासिका मुख आदि मे अवश्य ही प्रवेश करता रहता है किन्तु उससे हम शब्द का अनुभव कदापि नही करते प्रत्युत किसी समय जब हम निर्जन एकान्त स्थान मे बैठते हैं जहा वायु का सञ्चालन भी सर्वथा रुका हुआ हो और हमारी इन्द्रियाँ भी रोग के कारण कुछ निर्बल हो गयी हो तो ऐसी स्थिति मे बिना अगुली दबाये भी इस अनाहतनाद का सनाटा देर तक सुनते रहते है इसका अनुभव योगाभ्यास करने वालो को समय-समय पर अधिक होता है वे अगुली से कान नही दबाते तथापि अनाहतनाद बराबर सुनते रहते हैं इन बातो से सिद्ध होता है कि कान मे वायु का मार्ग तग करने से इस शब्द की उत्पत्ति नही है अवश्य ही इसका कोई दूसरा कारण है सम्भवत: दूसरा कारण अग्नि का कारण अग्नि का जलना ही हो सकता है क्योंकि जब कभी बाहर हम अधिक अग्नि को गम्भीरता से जलते हुए पाते हैं तो किसी समय उसके जलने का सनसनाहट शब्द भी सुनते है उस शब्दसे यदि इसकी तुलना करते हैं तो उन दोनो मे बहुत कुछ समानता प्रतीत होती है, इसलिए विश्वास करना चाहिए कि यह अनाहतनाद शरीर के अग्नि के प्रज्वलन का ही है ।

शब्द जहा कही उत्पन्न होता है वहाँ कुछ न कुछ आघात अवश्य होता है, आघात से [illegible] सबसे प्रथम जो शब्द उत्पन्न होता है उसको एक बिन्दु रूप कल्पना कर सकते है, उस बिन्दु से फिर अनन्त शब्द उत्पन्न होकर उस बिन्दु के चारो ओर दूर-दूर तक इस प्रकार वे शब्द फैलते चले जाते है

जैसे किसी अग्नि के कणों से प्रकाश की धारा चारों ओर फैलती हो या जिस प्रकार सूर्य के चारो ओर प्रकाश फैला हुआ है। इसमें भेद इतना ही है कि अग्नि का प्रकाश ज्यो-ज्यो आगे बढता जाता है त्यो-त्यो अग्नि कण से फिर दूसरी-दूसरी प्रकाश की धारा सिलसिलेवार पीछे से आती रहती है इसीलिए बिम्ब से प्रकाश की चरम सीमा तक प्रकाश भरे हुए से प्रतीत होते हैं किन्तु यह शब्द आघात से उत्पन्न होता है यह आघात यदि एक ही बार हुआ तो वह पहला शब्द बिन्दु उत्पन्न होते ही अनन्तानन्त शब्दो को उत्पन्न करके आप मर जाता है इसीलिए जो शब्द की धारा आगे बढती जा रही है उसके पीछे फिर वह शब्द नही रहता। उसकी गति ठीक उसी प्रकार होती है जिस प्रकार पानी मे एक ढेला डालने पर उस जगह मे चारो ओर लहर का चक्कर नया-नया बनता हुआ चारों ओर फैलता हुआ जाता है।

इस नाद का जो केन्द्र अथवा सबसे प्रथम जो शब्द उत्पन्न होता है, उस आघात बिन्दु से चारो ओर फैलते हुए शब्दो को नाद कहते है। यही नाद मेरे कर्णप्रदेशो मे आता है तब हम शब्द सुनते हैं इस बिन्दु और नाद की समष्टि रूप मे 'बीज' कहते हैं उसी बीज का नाम ओम् है—वेद जो ऋक्, यजु, साम के भेद से तीन प्रकार का है वह वास्तव मे वाक् है अर्थात् शब्द है यह शब्द ईश्वर के शरीर मे हृदय वैश्वानर मे उत्पन्न होता हुआ अनाहतनाद जो ईश्वर के शरीर मे अथात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मे व्याप्त है उसका बिन्दु ईश्वर का हृदय है और उसका नाद सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है। उसी नाद से सब देवता और सभी भूत जो वास्तव मे वाक् ही के भेद हैं, उत्पन्न होते रहते है। इसीलिए वह बिन्दु या उसका नाद सम्पूर्ण जगत् का बीज रूप होता है उसी ईश्वर के अनाहतनाद से उत्पन्न होता है इसीलिए उसको भी 'ओम्' शब्द से कहते है इसको ओम् कहने के दो कारण हैं एक तो यह है कि यदि 'ओम्' शब्द को अविच्छिन्न रूप से बोलते ही रहे तो उसकी ध्वनि अनाहतनाद की ध्वनि से सर्वथा मिलती जुलती है यदि अनाहतनाद को ओम् के ध्वनि मे मिलान करे तो भिन्नता नही प्रतीत होगी। अनाहतनाद को सुनकर ऐसी कल्पना हो उठती है कि मानो यह जीव तथा ईश्वर भी ओम् शब्द का निरन्तर उच्चारण कर रहा है बस इस सादृश्य को देखकर ही उस अनाहतनाद रूपी जगत् बीज को 'ओम्' यह नाम दिया है।

ओम् नाम रखने का दूसरा कारण यह है कि ओम् शब्द अह-अम् इन दोनो शब्दो के मेल से बना है इन दोनो मे दो-दो वर्ण है प्रथम स्वर और दूसरा ऊष्मा है दूसरे मे प्रथम स्वर और दूसरा स्पर्श है तात्पर्य यह है कि शब्दो मे सबसे प्रथम शब्द 'अ' है जो कि स्थान और करण इन दोनं के विवृत दशा मे कण्ठ मे निकलता है उसके उच्चारण में मुख के किसी स्थान का किसी करण से स्पर्श नही होता इसलिए उसका उच्चारण घन या स्थूल न होकर सूक्ष्म, स्वच्छ और अत्यन्त निर्मल है यह केवल प्रयत्न के बल से ही व्यक्त हुआ है यदि प्रयत्न मे कमी की जाय तो यह शीघ्र ही अव्यक्त हो जायगा इसलिये नाद की अव्यक्त अवस्था से व्यक्त अवस्था सब मे प्रथम अकार मे ही पाई जाती है वही अकार मुख के सारो स्थानो मे विगाड़कर बोलने से इकार आदि स्वर बन जाते हैं और इसी अकार मे ऊष्मा और स्पर्श मिलाने से व्यञ्जन अक्षर बन जाते है यही बात ऋग्वेद के ऐतरेय आरण्यक मे लिखा है जैसाकि "अकारो वै सर्वा वाक् । सैषास्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना, बह्वी, नानारूपा भवति" वाक् आत्मा मे २ प्रकार की सृष्टि होती है १ शब्दमयी और २ भूतमयी इनमे शब्दमयी सृष्टि उपरोक्त अनुसार अ-ह-म मे अर्थात्

अकार पर ऊष्मा और स्पर्श के संयोग से ही होती है इसलिये उसका बीज श्रोम्, माना गया है—व्याकरण के नियम से अकार के पश्चात् म करके पूर्व बीच का ऊष्मा 'श्रो' कार मे वदल जाता है उसी नियम से अ-हू-म को श्रोम् बोलते है। तात्पर्य्य यह है कि शब्दमयी सृष्टि का बीज जो श्रोम् है यही भूतमयी सृष्टि का बीज है। क्योकि ईश्वर के अनाहतनाद से ही सम्पूर्ण शब्दमयी सृष्टि हुई है और उसी से भूतमयी भी हुई है इसलिये हम कह सकते है कि यह भूतमय सम्पूर्ण जगत् ओंकार से ही उत्पन्न हुआ है। इसलिये भूतमय जगत् जो अर्थ है उसका शब्द के साथ घनिष्ट सम्बन्ध कर दिया है—विज्ञान ने भीतर शब्द को अर्थ के साथ और अर्थ को शब्द के साथ बांधा गया है, जिससे गौ का नाम सुनने पर गौ के रूप का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार गौ का रूप देखने पर गौ का नाम बुद्धि मे आजाता है इन दोनो शब्द और अर्थ को परस्पर बाँधने वाला हमारा विज्ञान है जो वास्तव मे मेरी आत्मा है उसी आत्मा से उत्पन्न हुआ अनाहतनाद इन दोनो मिले हुए शब्द और अर्थ को उत्पन्न करता है इसलिये दोनो ही 'श्रोम्' शब्द से उत्पन्न माने जाते हैं। सत्य अर्थो से बन्धे हुए सत्य शब्दो को जो कि यथार्थज्ञान उत्पन्न करते है उनको ही शास्त्र या वेद कहते है ये सम्पूर्ण वेद अर्थात् अर्थ का ज्ञान कराता हुआ शब्द भण्डार ओम् शब्द से ही उत्पन्न हुआ है। इसीलिये ऋषियो ने वेद के आरम्भ करते समय या समाप्त करते समय इस वेद के कारण श्रोम् शब्द का स्मरण करना आवश्यक समझकर नियम बद्ध किया है।

इस प्रकार ओम्कार से ही सम्पूर्ण वाड्मय वेद की उत्पत्ति भागवत के बारहवें स्कन्ध के छठे अध्याय मे कही गई है। इस वेद के बीज रूप प्रणव का प्रवर्तक अनाहतनाद का स्थान जीव के शरीर मे दहराकाश है और ईश्वर के शरीर मे पुराणाकाश अर्थात् ब्रह्माण्ड है। इसी प्रकार परमेश्वर के शरीर मे परमाकाश उसकी उत्पत्ति स्थान है। अथवा किसी का मत है कि परमेश्वर मे केन्द्र न होने के कारण अथवा तीन लोक न होने के कारण न वैश्वानर अग्नि है और न अनाहतनाद है और न उनसे शब्द आदि भौतिकसृष्टि है। सब केवल ईश्वर और जीव से ही सवन्ध रखते हैं जो कही परमेश्वर को ही वेद का मूल कहा गया है अथवा कही पर वेद को ही परमेश्वर कहा गया है यह सब परमेश्वर का भक्तिवाद है क्योकि परमेश्वर इस प्रकार व्यापक है कि ईश्वर मे या जीव मे जो कुछ है सब परमेश्वर से पृथक् नही हो सकता इसीलिये वेद का भी आश्रय परमेश्वर कहा जा सकता है।

अनाहतनाद का साराश

आकाश अखण्डरूप से एक है। किन्तु जीव के शरीर के आकाश को शरीराकाश कहते हैं, और ईश्वर के ब्रह्माण्ड के आकाश को ब्रह्माण्डाकाश और परमेश्वर के जगत् के आकाश को परमाकाश कहते हैं। शरीर, परमेश्वर और परमाकाश ये तीनो दहरोत्तर कहलाते हैं। जैसे तीनो आकाश एक रूप से है किन्तु माना मे छोटे वडे है वैसे ही तीनो मे मन, प्राण, वाक् और इनके विकार भी एक रूप से है किन्तु मात्रा मे भेद है।

यह जीव ईश्वर के ब्रह्माण्ड के तीन लोको के नमूने पर बना है माया, सूर्य, हृदय, अन्तरिक्ष और पेट पृथ्वी-अन्तरिक्ष के वायु से जीव का हृदयाकाश बना है इसके हृदय मे अन्तरिक्ष की वायु का आठ पेट पृथ्वी-अन्तरिक्ष का यह प्राण वायु जीव के हृदय मे स्थानमात्र के नाम (१० ॥ अगुल) मे बधा हुआ है।

मे कहलाता है। वास्तव मे जीव के मन, प्राण, वाक् मे से प्राण यही व्यानप्राण है। यह व्यानप्राण हृदय में स्थानारम्भ होकर समस्त शरीर मे व्याप्त है और जीव के शरीर की यही जान है जिस प्रकार अन्तरिक्ष मे वह प्राण आया है वैसे ही सूर्य और पृथ्वी मे भी इस व्यान पर सूर्यप्राण और पृथ्वीप्राणो की खींचातान है उस व्यान पर सूर्य का प्राण पृथ्वी के प्राण को दवाता है और फिर सूर्य के प्राण को पृथ्वी का प्राण ऊपर धकेलता है। अथवा यो कहिये कि सूर्य का प्राण पृथ्वी के प्राण को ऊपर खींचता है और सूर्य के प्राण को पृथ्वी नीचे खींचती है इसी खीचातान को 'प्राणापान' कहते हैं इसी खीचातान की क्रियाको आप् कहते हैं। सूर्य सम्बन्धी ऊपर की क्रिया को प्राण और पृथ्वी सवन्धी नीचे की क्रिया को अपान कहते हैं। नासिका होकर वायु के अन्दर जाने को और वाहर आने को ही श्वासोच्छ्वास कहते हैं व्यानवायु पर प्राणापान के सघर्षण से जो अग्नि उत्पन्न होता है उसको वैश्वानरअग्नि कहते हैं यह अग्नि की उत्पत्ति प्राकृतिक नियम से है। इसी प्राकृतिक नियमानुसार उत्पन्न की हुई अग्नि का एक दीर्घ कालतक स्थित रहना भोजन या पान मे रहता है। इस अग्नि के प्रज्वलन से एक शब्द उत्पन्न होता रहता है इस शब्द को अनाहतनाद कहते है।

जिस प्रकार व्यान पर प्राण अपान के घर्षण से अग्नि उत्पन्न होता है वैसे ही त्रिलोकी मे भी अन्तरिक्ष के वायु पर दिव्यप्राण और पार्थिव प्राण के सघर्षण से अग्नि पैदा होती है जिसे वैश्वानर कहते हैं और इस अग्नि के जलने मे जो शब्द पैदा होता है वह अनाहतनाद है जिस को जीव के समान ईश्वर भी सुनता होगा।

अध्यात्म के तीन तन्त्र

पूर्वोक्त के अनुसार तीन आत्मा के तीन तन्त्र पृथक्-पृथक् हैं। किन्तु जीव के शरीर मे तीनो तन्त्रो का समावेश है—प्रथम तो जीव तन्त्र ही उत्पन्न होता है अर्थात् जीव के आत्मारूप मन, प्राण, वाक् से जो कुछ सृष्टि हुई, हो रही है और होती रहेगी यह सव जीव तन्त्र है किन्तु उस जीवतन्त्र के साथ-साथ ईश्वर तन्त्र भी काम कर रहा है क्योकि व्यापक है।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मे व्याप्त होती हुई उसके महिमा शरीर मे प्रवेश न करे यह संभव नहीं है। इसी प्रकार परमेश्वर जो कि ईश्वर मे भी अधिक व्यापक है उसकी महिमा से भी यह जीव शरीर वञ्चित नही रह सकता इसलिये हम विश्वास करते है कि जीव का शरीर त्रितन्त्र है। कुछ अश मे जीव स्वतन्त्र है, किन्तु कुछ अश मे ईश्वर परतन्त्र और कुछ अश मे परमेश्वर परतन्त्र है।

अब यदि ईश्वर को देखें तो उसका शरीर अर्थात् ब्रह्माण्ड द्वितन्त्र है, क्योकि ईश्वर इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि मे कुछ अश को लेकर स्वतन्त्र है किन्तु उस परमेश्वर की महिमा का भी प्रभाव पडता है। इसलिये कुछ अश मे वह ईश्वर भी परमेश्वर परतन्त्र है, किन्तु ईश्वर के शरीर मे जीव का प्रभाव विशेषतया नही पडता क्योकि जीव की शक्ति जीव के शरीर मे वाहर नही है किन्तु ईश्वर उससे अधिक विस्तृत प्रदेश में व्याप्त रहता है इसलिये उसमे जीव के तन्त्र की कमी होने से ईश्वर का शरीर द्वितन्त्र ही सभव है।

अब यदि परमेश्वर के शरीर का विचार करें तो वह एक तन्त्र ही प्रतीत होगा क्योंकि जो शरीर है उसके सर्वाङ्ग शरीर मे जीव वा ईश्वर जो परिमित सीमा रखते हैं अपना प्रभाव नहीं डाल सकते। इसलिये परमेश्वर अपने शरीर मे अर्थात् इस वहिर्जगत् मे सर्वत्र स्वतन्त्र है। वह परतन्त्र नहीं हो सकता इसलिये उसमे एक ही तन्त्र का होना सभव है।

इस जीव शरीर मे जो कुछ मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार कर सकता है वही जीवतन्त्र है, परन्तु जिस विषय मे अत्यन्त प्रवल इच्छा रखने पर भी इच्छा न रहने पर भी [illegible] प्रतिक्षण होते रहते है वह सब ईश्वरतन्त्र है। ईश्वर की ही इच्छा से वे सब परिवर्तन मेरे शरीर मे होते रहते हैं। किन्तु जिन पदार्थों पर जीव का व्यापार वा ईश्वर का व्यापार होता रहता है वे उन सब पदार्थों की सत्ता अथवा इस शरीर मे ज्ञान का प्रभाव और जो किसी वस्तु मे वा किसी [illegible] मे [illegible] आनन्द की झलक होती है अथवा मेरे शरीर मे मेरी आत्मा की जीवनपर्यन्त शान्ति रूप मे एक प्रकार की स्थिति चल रही है, वह शान्ति रूप आनन्द है। ये तीनो अर्थात् सत्ता या चेतना या आनन्द परमेश्वर से ही मुझ मे आये है, किन्तु मेरा जन्म, मृत्यु, निश्वास, उच्छ्वास की गति होना और तीन [illegible] की सख्या होना, मध्य मे मेरुदण्ड का होना, नाडी, चर्म, मास, मज्जा आदि धातु अथवा इन्द्रियाँ ये सब मेरे शरीर मे ईश्वर के आधीन हैं किन्तु इन इन्द्रियो से काम लेना जीव के आधीन है। अर्थात् बोलना, चलना, उठना, बैठना, सोना और मन मे चिन्तमन करना, विद्या बुद्धि वा अविद्या का सचार, अर्थात् अपने ज्ञान या क्रिया मे सात्विक अश, राजस अश, तामस अश इन तीनो का घटाना बढाना जीव ही के अधीन है। कितनो ही का विश्वास है कि जीव किसी भी काम मे स्वतन्त्र नही है इसीलिये उनका सिद्धान्त है कि वह—"तृणस्य कुब्जीकरणेऽप्यशक्त." है। एक वृक्ष का पत्ता भी विना ईश्वर की इच्छा के नही हिलता, परन्तु यह कथन कुछ अश तक सत्य हो सकता है तथापि सर्वथा जीव को परतन्त्र ही मानना विचारगत नही है। एक घोडे के हमने चावुक मारा और वह तेजी से चला कुछ दूर पर वह फिर सीधी चाल चलने लगा यह सब ईश्वर की ही इच्छा से ही मानना सर्वथा व्यर्थ है।

यदि जीव की स्वतन्त्रता सर्वथा ही न होती तो जीवो के लिये शिक्षा, उपदेश, [illegible] आदि करना वेद शास्त्र का मिथ्या ठहैरगा क्योकि यह वेद शास्त्र ईश्वर के लिये उपदेश नही करते हैं किन्तु मनुष्य के लिये ही आज्ञा देते है। परन्तु कुछ कर ही नही सकता जो कुछ होना है सो ईश्वराधीन है फिर मनुष्य दोषी कैसे ठहराया जाता है। इससे अपने आप हृदय विश्वास करता है कि हम भी किसी सीमा तक करने न करने मे स्वतन्त्र है। फिर हम यह भी देखते है कि ईश्वर ने ही मुझ मे इन्द्रिया देकर उन इन्द्रियो को चलाने के लिये मुझ मे मन भी दिया है, जिस मन के कारण हम चक्षु, जिह्वा आदि इन्द्रियो को काम मे लेने या न लेने मे स्वतन्त्र वन गये है वस इसी से सिद्ध है कि मुझ मे इन्द्रियो का या मन का आना तो ईश्वराधीन है किन्तु इच्छानुसार उनमे काम लेना जीवाधीन है।

'अहम्' कहकर जिस अपने को मैं लक्षित करता हूँ वह मेरे शरीर का सबसे प्रधान [illegible] है। जिस प्रकाश के भीतर मे अपने को, दूसरो को यहा तक कि चराचर जगत् को [illegible]

इस प्रकाश में मुझे भासता है उसी को मैं जगत् कहता हूँ किन्तु मेरे ज्ञान के प्रकाश के भीतर जो कुछ जगत् भासता है उसमें गौरव अर्थात् वस्तु भार नहीं है गौ, घोड़ा, हाथी, पहाड़ तक मेरी बुद्धि पर सवार हैं किन्तु उनके भार का अनुभव नही करते इससे यह निश्चित है कि जो घोडा, हाथी वास्तव मे बाहर है वे मेरी बुद्धि पर सवार नही होते किन्तु मेरी बुद्धि न ये घोडे, हाथी उत्पन्न करती है इसका दूसरा कारण यह भी है कि बाहर वाले घोड़े, हाथी मेरी बुद्धि पर आ जाते तो उसी समय वे घोडे हाथी अन्यान्य सैकडों मनुष्यों की बुद्धियो पर सवार नही हो सकते इससे भी निश्चित है कि बाहर की सब वस्तुएं बाहर ही कही पर स्थित रहती है किन्तु उनके सयोग से हम सब जीवो को बुद्धियाँ उन्ही के आकार की बन जाया करती है तो सिद्ध हुआ कि हमारी बुद्धि मे जो कुछ जगत् भासता है वह बाहर वाले जगत् से भिन्न है, बस इसी जगत् को जो मेरे ज्ञान प्रकाश मे भास रहा है वह जीव का जगत् है, जीव की सृष्टि है और जीव के ही भीतर सदा वर्तमान रहता है, इस जीव मे ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय है।

इस प्रकार जब कि यह जगत् मेरे ज्ञान के प्रकाश के भीतर है तो हम कह सकते है कि यह सम्पूर्ण मेरा जगत् मैं ही हूँ, क्योकि जो कुछ भासता है वही मेरा प्रकाश है और जो मेरा प्रकाश है वही मैं हू इसलिये वेद का यह कहना सर्वथा सत्य है कि "आत्मै वेद सर्वम्" जिस प्रकार मेरा जगत् मैं हू उसी प्रकार दूसरे जीव का जगत् अन्य जीव है। इन अनन्त जीवो के भिन्न जगत् की उत्पत्ति के कारण एक ही कोई बाहर भिन्न जगत् है। जिसके संबध से सब जीवो की आत्मा अपने-अपने जगत् को उत्पन्न करती है—वह जगत् किसी जीव का जगत् न होने के कारण ईश्वर का ही जगत् माना जा सकता है। सम्भवत जैसा मेरा ज्ञान मेरे जगत् को उत्पन्न करने मे समर्थ है उसी प्रकार ईश्वर का ज्ञान भी उस जगत् के उत्पन्न करने मे सामर्थ्य रखता है, ऐसे दो प्रकार के जगत् सिद्ध हुए किन्तु इन दोनो से अतिरिक्त तीसरा भी कोई जगत् अवश्य ही कहीं पर है जो कि दिक्, देश, काल सबसे अनवच्छिन्न निगूढ अर्थात् छिपा हुआ है, अतीन्द्रिय है और केवल विचार शक्ति से ही अनुभव किया जा सकता है। जब कोई विद्वान् किसी निगूढ तत्त्व का विचार करने बैठता है तो उस समय उसकी बुद्धि एक ऐसे नये मार्ग पर चलती रहती है कि जिस पर आजन्म उसकी आत्मा कभी नही गई थी न उसके अतिरिक्त कोई जीव कभी गया था। ऐसे ही जिस स्वप्न को आज किसी मनुष्य ने देखा उस स्वप्न की सारी पडत को ज्यो का त्यो उसी मनुष्य ने पहले न कभी देखा था, न पीछे कभी देखेगा और न उस पड़त को संसार के भूत, भविष्य, वर्तमान कभी कोई जीव देख सकता है। यद्यपि उस स्वप्न के जगत् को विद्वान लोग मिथ्या कल्पित कहने का साहस करते है किन्तु सम्भवतः जब कि वह दीखता है, ज्ञान ने उसको पकडा है तो उसे मिथ्या क्यो कहा जाय, क्यो नहीं वह ईश्वर वाले बाहर जगत् से भिन्न ही एक तीसरा जगत् मान लिया जाय कि जिसके संयोग से हमारा ज्ञान स्वप्न मे नया एक जगत् उत्पन्न कर सका। इस प्रकार के अनेक उदाहरण शतरंज आदि खेलो के भी दिये जा सकते है। नित्य नये खेल के सिलसिले बाहर के ईश्वरी जगत् मे कहीं न होने पर भी खेलते समय अपने आप चलता रहता है। वे सिलसिले भी किसी न किसी जगत् की नियुक्ति से सबन्ध रखते हैं। विद्वान् मनुष्य नया विचार करते समय ईश्वर की बाहरी सृष्टि मे अपने मन को न भेज कर उसी परमेश्वर के जगत के किसी मैदान मे अपने ज्ञान को जाने देता

है और उसी मे से टटोल कर नया ज्ञान लाभ करके जगत् मे उनका प्रचार करता है यह सब परमात्मा के जगत् का कुछ आभासमात्र प्रमाण है किन्तु वास्तव मे ईश्वर के जगत् मे भी हम जीव के द्वारा परमेश्वर के जगत् को यथार्थ मे नही जान सकते तथापि पृथक् पृथक् तीन जगतो का तीनो और उन तीनो जगत् का पृथक् पृथक् तीन आत्माओ के अधीन होना कुछ कुछ अनुभव किया जा सकता है इन तीनो तन्त्रो के तीनो जगतो का हमारे जीव के तन्त्र मे मेल अवश्य ही है।

वाहर के तीन तन्त्र

जीव शरीर के अनुसार वाहर जगत् मे भी तीन ही तन्त्र आपस मे मिलेजुले प्रतीत होते हैं। यदि इन सव पदार्थों पर दृष्टि डालें तो वहुत से पदार्थ इनमे परमेश्वर से, वहुत से ईश्वर से और वहुत से जीव से भी उत्पन्न प्रतीत होगे—साधारणत वाहर के पदार्थों को हम दो भागो मे विभक्त करेंगे—१ कृत्रिम और २ प्राकृत। इनमे कृत्रिम तो वे है जिनको प्रकृति ने नही वनाया है-जैसे मकान कुर्सी आदि इनको जीव ने अपने विचार के द्वारा उत्पन्न करके ईश्वर की सृष्टि मे उनको डाल दिया है। रुई प्राकृत, यद्यपि ईश्वर की सृष्टि है तथापि उसका वस्त्र जीव की ही सृष्टि से होगा। औषधियां ईश्वर की सृष्टि हैं किन्तु उनसे वने हुए औषध जीव की सृष्टि है। इनसे अतिरिक्त जो कुछ पृथ्वी मे वृक्ष, पशु आदि है अन्तरिक्ष मे विद्युत, इन्द्रधनुप, मेघ आदि द्यौ मे जो तारामण्डल, आकाशगङ्गा, धूमकेतु उत्पन्न होते हैं वे सव प्राकृत है और ईश्वर की सृष्टि हैं। अव इन दोनो के अतिरिक्त तीसरी वह वस्तु है जो इन दोनो मे सामान्य भाव से पाई जाती है। जैसे प्रत्येक वस्तु की सत्ता, प्रत्येक वस्तु का भासना अर्थात् प्रतीत होना और जगत् का भूमा अर्थात् एक विस्तृत अनन्त रूप मे सवका सन्निवेश होकर विराट होना, ये तीनो परमेश्वर के तन्त्र से आये हुये धर्म प्रतीत होते हैं। इन तीनो पृथक् तन्त्रो का पृथक् पृथक् तीन आत्माओ से सवन्ध होने पर भी परस्पर सम्मिलित रूप होकर एक जगत् का रूप धारण करते हैं।

त्रैलोक्य व्यवस्था

जिस प्रकार जल स्थल के भिन्न भिन्न जीवो मे शरीर के धातु भिन्न भिन्न प्रकार से पाये जाते हैं इसी तरह ईश्वर के शरीर मे भी मनुष्यादि जीवो की अपेक्षा भिन्न प्रकार के ही शरीर धातु प्रतीत होते हैं जैसा कि ऋक्, साम, यजु ये तीनो वेद ही ईश्वर के शरीर मे रसरूप है। पञ्चभूतो या प्रपञ्च ही मन निकाय है और पर्वत ही अस्थि रूप है और यज्ञ उनके शरीर मे चेष्टा है किन्तु जीव शरीर के अनुसार ईश्वर के शरीर मे न लोम है न चर्म है।

जिस प्रकार मनुष्य के शरीर मे, योनि से नाभि तक पहला, नाभि से हृदय तक दूसरा और हृदय से कण्ठ तक तीसरा, इस प्रकार तीन भाग है, और तीनो के अधिष्ठाता स्वरूप अग्नि, वायु, इन्द्र ये तीन प्राण हैं, उसी प्रकार ईश्वर के शरीर मे भी पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ. ये तीन भाग है और इन तीनो के अधिष्ठातृ स्वरूप अग्नि, वायु, इन्द्र ये तीन प्राण हैं। भेद इतना ही है कि जीव शरीर मे इन तीनो प्राणो को वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ कहते हैं और ईश्वर के शरीर मे इन तीनो प्राणो को विराट्, हिरण्यगर्भ, अन्तर्यामी या सर्वज्ञ कहते है। इनके अतिरिक्त जिस प्रकार मनुष्य के शरीर मे उपर्युक्त तीनो भागो का

रूप ही अधिष्ठाता पृथक् एक मस्तक है। उसी प्रकार ईश्वर के शरीर मे तीनो लोक से परे उन तीनो का अधिष्ठाता एक ही कोई सच्चिदानन्द नाम का ज्योतिर्घन है वही ईश्वर का मस्तक है।

कही-कही पर ऋषियो ने उदर को पृथ्वी, वक्षस्थल को अन्तरिक्ष और द्यौः को सिर कहा है, वह छोटे ईश्वर के अधुरोध से कहा जा सकता है अथवा द्यौः से बाहर वाले सच्चिदानन्द को भी साधारण शब्दो मे दीप्यमान होने के कारण द्यौः शब्द से भी कह सकते है। तात्पर्य्य यह है कि ईश्वर के शरीर मे अथवा जीव के शरीर मे समान रूप से तीन-तीन लोक अपना पृथक्-पृथक् तन्त्र रखते हुए भी तीनो सम्मिलित होकर एक ही किसी ईश्वर के या जीव के शरीर का संगठन करते है।

मनुष्य के शरीर मे तीन लोक होने के कारण तीन आत्माए है। प्रत्येक आत्मा मे मन, प्राण, वाक् के तीन-तीन भाग है इस प्रकार मनुष्य शरीर मे आत्मा के ६ भाग है जो परस्पर मिले जुले होने के कारण सूत्ररूप है, यही नव सूत्र ब्रह्म का लक्षण है। जीव शरीर के अनुसार ईश्वर के शरीर मे भी यही ६ सूत्र है और भी ब्रह्म के लक्षण है। इन्ही नव सूत्रो को यज्ञ सूचक कहते है। जिनको ब्राह्मण लोग उपासना की दृष्टि से शरीर के ऊपर धारण करते है।

जीवस्वरूपनिर्णय

जगत् मे सूक्ष्म या स्थूल जो कुछ वस्तु बिना किसी मनुष्य व्यापार के अपने आप जब स्वरूप धारण करता है तो वह अवश्य ही वर्तुलवृत्त होता है जैसा कि शब्द किसी बिन्दु से उत्पन्न होकर नीचे चारो ओर वर्तुलवृत्त रूप से ही फैलता है। अग्नि का प्रकाश भी वर्तुलवृत्त होकर ही फैलता है वायु को किसी वस्त्र या भस्त्रा (धोकनी) मे भरें तो वह गोल होकर चारो ओर फूलेगा। मेघ से जब जल गिरता है तो वह आधे मार्ग मे आकर अपने आप गोल बिन्दु मे परिणत हो जाता है। मृत्तिका परमाणुओ ने मिलकर जो सबसे प्रथम इस पृथ्वी का रूप धारण किया है वह भी गोल है सूर्य, चन्द्रमा आदि प्रकृति सिद्ध सभी पिण्ड गोल ही दीखते है। इन सबके गोल होने का कारण यदि सूक्ष्म विचार करें तो साधारण रीति से इन सबमे व्यापक होकर विद्यमान कोई एक आत्मा ही कारण प्रतीत होता है।

इन वर्तुलवृत्तो मे नाभि को मुख, इनके अन्तस्थ पृष्ठ का शरीर और बहिरङ्ग पृष्ठ को पद और अन्तस्थ पृष्ठ से बहिर्पृष्ठ तक चारो ओर जो समसूत्रता के सूत्र है, उनको अक्षी कहते है। सभी गोल वस्तुओं मे इस प्रकार ही अङ्ग प्रत्यङ्ग की कल्पना सभवतः मानी जाती है। पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि सभी पिण्डो मे अङ्गो की ऐसी ही व्यवस्था होती है।

इस नियम के अनुसार हमारे शरीर की आत्मा भी अपनी प्रकृति से वर्तुलवृत्त ही सम्पन्न होती है। यह जीव आत्मा ईश्वर से उत्पन्न होती है, ईश्वर का शरीर गोल होने पर भी पृथ्वी के अवरोध से आधे रूप मे ही आकर जीव के शरीर मे प्रवेश करता है। इसीलिये जैसे नीबू की आधी फाक की जाय उसी तरह हमारे शरीर मे जब आत्मा भी वर्तुलवृत्त के आधे भाग के रूप मे स्वरूप धारण करता है। हमारा पीठ आत्मा का पीठ है मेरी छाती की ओर आत्मा की गोलाई नही है। कारण हमारी आत्मा आगे की ओर

खाली होने के कारण उस अंश को पूरा करने के लिये सर्वदा सन्नद्ध होकर आगे अपने को बढ़ाता जाता है। इसीलिये हम अपने आंख, मुख की तरफ काम करने को जितना बनपाते है उतना पीठ की तरफ नहीं पाते–यह पुरुष की कमी स्त्री के संयोग से किसी तरह पूरी की जाती है जीव के आधे होने के कारण से ही जगत् भर के जीवमात्र दो भागो में बटे है १—पुरुष, २—स्त्री।

यह सर्वथा निश्चित विषय है कि यदि जीव आत्मा वर्तुलवृत होता तो जीवो मे स्त्री, पुरुष का विभाग कदापि नही होता–इसी कारण प्राचीन वैदिक महर्षियो ने और देशान्तर के यवनाचार्यो ने भी एक ही ईश्वर के दो भाग करके स्त्री पुरुष का होना माना है।

इन दोनो भागो मे उत्तर दक्षिण दिशा का सबन्ध होने के कारण अग्नि और सोम की अधिकता एक-एक मे होने से स्त्रीपुरुष के स्वरूप मे परिवर्तन हो गया है। दक्षिण दिशा के सबन्ध मे अग्नि की प्रबलता से पुरुष की उत्पत्ति होती है उत्तर दिशा की सोम की प्रधानता मे स्त्री की उत्पत्ति होती है। इस विषय मे बहुत सी बातें निर्णय करने की हैं, जिनका विस्तार स्वतन्त्र रूप मे अन्यत्र किया गया है। यहाँ इतना ही और कहना आवश्यक है कि इस आधी कमी के अतिरिक्त जीव–आत्मा और सब प्रकार से गोल है। मस्तक से पाव तक जितनी इसकी लम्बाई है—भुजा के पसार मे भी उतनी ही चौडाई है। इस गोलाई के विरोध मे अन्य बहुत से कारण उपस्थित है। जिनका वर्णन शारीरक विचार मे होगा किन्तु किसी शरीर की स्थिति देखते हुए शरीर के आत्मा को वर्तुलवृत के रूप मे ही स्वीकार किया जाता है।

ईश्वरस्वरूपनिर्णय

जिस प्रकार जीव के मुख, अक्षि (दृष्टि), पद आदि अवयव एक नियत दिशा मे होते है, इसी कारण जीव नियत रूप से ही इन अवयवो से काम ले सकता है। तात्पर्य्य यह है कि पाव से आंख का काम, मस्तक से पाव का काम नही ले सकता, परन्तु ईश्वर मे ऐसा नही है ईश्वर के लिये ऋषियो ने कहा है–

सर्वतः पाणिपादं तत्, सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके, सर्वमावृत्यतिष्ठति ॥१॥

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो, विश्वतो वाहुरुत विश्वतःस्यात्।
संवाहुभ्यां मति संपतत्रै, र्द्यावाभूमीजनयन् देवएकः ॥२॥

एकोहि देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः, पूर्वोहजातः सगर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥३॥

तस्मात् परं ना परमस्ति किञ्चित्, तस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्तिकिञ्चित्।
वृक्षइवस्तब्धोदिवितिष्ठत्येक, स्तेनेद पूर्णपुरुषेण सर्वम् ॥४॥

द्यां मूर्द्धानं यस्य विप्रा वदन्ति, खंवै नाभिं चन्द्रसूर्य्यौ च नेत्रे ।
दिशः श्रोत्रे विद्धिपादौ क्षितिं च, सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूत प्रणेता ॥५॥

परमेश्वरस्वरूप निर्णय

अब यदि परमेश्वर के स्वरूप का हम विचार करते हैं तो हमको विश्वास होता है कि दिक्, देश, काल और द्रव्य इन सबसे अनवच्छिन्न होने के कारण न उसके नाभि हो सकती है और न उसके कहीं पीठ कल्पना की जा सकती है क्योकि वह असीम है इसीलिये न परमेश्वर का कोई मुख हो सकता है न उसकी दृष्टि हो सकती है न उसका पांव हो सकता है। तात्पर्य यह है कि ईश्वर मे सब ओर मुख, दृष्टि और पाद कहे जा सकते हैं किन्तु परमेश्वर मे किसी ओर भी मुख दृष्टि और पाद की कल्पना नही हो सकती परन्तु इतना होने पर भी देखना, सुनना, चलना, फिरना इत्यादि जितनी शक्तियां जो जहां कुछ हैं वे सब इसी सर्वत्र व्यापक परमेश्वर मे कहे जा सकते हैं। उसके अतिरिक्त कही कुछ भी नही है। इसीलिये ऋषियो ने परमेश्वर का स्वरूप इस प्रकार कहा है—

अपाणि पादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः ।
सवेत्तिवेद्यं नच तस्यवेत्ता, तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥१॥
अपाणि पादोऽह मचिन्त्यशक्तिः, पश्यामचक्षुः श्रृणोस्यकर्णः ।
अहं विजानामि विविक्तरूपो, न चास्ति वेत्ता ममचित्सदाहम् ॥२॥
वेदैरनेकै रहमेववेद्यो, वेदान्तकृद्वेद विदेव चाहम् ।
न पुण्य पापे ममनास्तिनाशो, न जन्म देहेन्द्रिय बुद्धिरस्ति ॥३॥
अणोरणीयानहमेवतद्वन् महानहंविश्वमह विचित्रम् ।
पुरातनोऽहं पुरुषोहमीशो, हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि ॥४॥

इसी प्रकार अन्यान्य ऋषियो ने भी शान्त, क्षुब्ध, घोर परमेश्वर का स्वरूप वर्णन करते हुए कहा है कि उसके वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र मन ये पाचो प्राण नही हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाचो भूतगण नही हैं। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी इन पाचो महाभूतो से बना हुआ उसका शरीर नही है और उसमे भीतर बाहर का स्थूल, सूक्ष्म का, ह्रस्व दीर्घ का, मुख और पैरो का भेद नही है, न उसमे भार है, न परिमाण है, न कोई आकार है, न अन्धकार है, न छाया है, न उसमे शोणित है न चर्म है, वह अगम है, अक्षर है, न अन्न है न अन्नाद, उसके शासन में सूर्य और चन्द्र अग्नि, वायु, द्यौ और पृथिवी ये सब नियत व्यवस्था के अनुसार भिन्न भिन्न अपने काम करने मे कदापि त्रुटि नही करते, सब कुछ इसी से पाटा हुआ जहां का तहां स्थिर होकर इस संसार चक्र को चला रहा है। किन्तु वह परमेश्वर नही दीख सकता है न सुनने की वस्तु है न जानने और समझने की वस्तु है। परन्तु जो जहां कुछ

दीखता है, सुना जाता है, जाना और समझा जाता है सभी जगह वही एक देखने वाला है, सुनने वाला है, जानने और समझने वाला है, उसके अतिरिक्त न कोई द्रष्टा है, न श्रोता है, न मानता है न विज्ञाता है।

परमेश्वर में कामना का न होना

जीव और ईश्वर मे कामना पाई जाती है जिसमे जीव की कामना अनित्य है कभी होती है और कभी नही यहाँ तक कि जिस जीव को जिस वस्तु की एक समय कामना होती है उसी को उसी वस्तु की दूसरे समय मे कामना नही रहती, परन्तु ईश्वर की कामना ऐसी नही है उसकी कामना प्रत्येक वस्तु में एक रूप से सदा रहती है और जितनी कामनाएँ ईश्वर मे उत्पन्न हुई वे सब इच्छा होते ही पूर्ण होती रहती हैं इसीलिये ईश्वर को सर्वकामनामय और आप्त काम कहते हैं परन्तु परमेश्वर अकाम है कदाचित् भी कोई कामना उसमे उत्पन्न नही होती क्योकि अप्राप्त वस्तुओ की कामना हुआ करती है सो जो आत्मा परिच्छिन्न हो उसी मे सभव है किन्तु इस जगत् मे ऐसी कोई भी वस्तु नही है जो परमेश्वर मे न हो या परमेश्वर से बाहर हो इसीलिये उसको अकाम कहते हैं।

जीव त्रितन्त्र है, वह जितने अश मे स्वतन्त्र है उतने मे ही फल की इच्छा मे कर्म किया करता है, परन्तु यदि दूसरे दोनो तन्त्र बाधक हो और प्रबल हो तो उसकी कामना सिद्ध नही होती, कर्म निष्फल हो जाता है। चिकित्सा करने पर भी रोगी मर जाता है, परन्तु ईश्वर द्वितन्त्र है वह भी किसी अश मे परमेश्वर के परतन्त्र है तथापि उसकी परिमित शक्ति इतनी बढी हुई और प्रबल है जिसके द्वारा उसको कोई वस्तु अप्राप्य नही है, सब कुछ उसको नित्य प्राप्त है इसीलिये उसको किसी फल की यदाचित् भी कामना नही होनी चाहिये, किन्तु फल की अपेक्षा न रख करके भी कर्त्तव्य दृष्टि से वह सब कामना करता है और नित्य उसको सब काम प्राप्त होते रहते है उदाहरण के लिये सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, पृथिवी को लीजिये ये सब अपने अपने कामो को नियमानुसार कुछ भी फल की अपेक्षा न रख कर कर्त्तव्य दृष्टि से करते रहते है और क्रिया का फल भी पाते रहते हैं सूर्य के तपने से जल सूख कर सूर्य की ओर जाता है और उसे ग्रहण करता है किन्तु सूर्य को उस जल की किञ्चित् भी आवश्यकता नहीं है तथापि वह जल को ग्रहण करने की सर्वदा कामना रखता है और सर्वदा उसकी किरणो मे जल भरा भी रहता है इसी उदाहरण से ईश्वर को भी जानना चाहिये। यद्यपि ईश्वर को कोई वस्तु अप्राप्य नही है, इसीलिये उसको किसी वस्तु की इच्छा भी नही होती है तथाहि वह सर्वदा काम करता ही रहता है और सब वस्तु भी उसमे विद्यमान रहती हैं और उन सब वस्तुओ को वह सर्वदा अच्छी तरह जानता भी रहता है। क्योकि उसमे मन, प्राण, वाक् रहते है। मन के कारण मनस्वी, सर्वकाम और सर्वज्ञ है और प्राण के कारण वह सर्व शक्तिमान् है सर्वदा कर्म्म करता ही रहता है और वाक् के कारण सर्वगुण सम्पन्न सर्वधर्म्मोपपन्न है अर्थात् सर्व प्रकार के अर्थो से सम्पन्न है।

अब यदि परमेश्वर की ओर दृष्टिपात करते है तो उसको जीव और ईश्वर दोनो से भिन्न प्रकार का पाते हैं किसी कर्म या किसी कर्म के फल मे उसकी कामना नहीं है क्योकि कोई भी कामना प्रत्येक प्राणी के हृदयवर्ती आत्मा से ही उठती है किन्तु परमेश्वर मे कोई नाभि नही है इसीलिये न इच्छा [illegible]

है न किसी प्रकार की कामना का उठना संभव है इसी से परमेश्वर को सर्वथा निष्काम कह सकते हैं। किन्तु प्रकारान्तर से यदि देखा जाय तो अनन्तानन्त ईश्वरो मे या अनन्तानन्त जीवो मे जो जहाँ कुछ क्रियाएँ होती हैं या जीव ईश्वर मे जो कुछ कामनाएँ उठती हैं वे सब ही परमेश्वर मे मानी जा सकती हैं। परमेश्वर या जीव जो कुछ कामनाएँ करते हैं या कर्म करते हैं वे सब परमेश्वर की ही कामना या कर्म कहे जासकते हैं क्योकि कामना या कर्म किसी शक्ति पर निर्भर है और उन सब शक्तियो का घन केवल मात्र एक परमेश्वर ही है इसीलिये सब कर्म ही परमेश्वर के ही कहे जा सकते है तथापि जीव ईश्वर कर्मो के अतिरिक्त प्रातिस्विक रूप से परमेश्वर का कोई कर्म नही है। परमेश्वर की आत्मा मे जो कुछ मन, प्राण, वाक् समर्पित हैं उनकी दो अवस्थायें कही जा सकती हैं—उद्‌बुद्ध और अनुद्‌बुद्ध। इनमे जितने उद्‌बुद्धरूप है अर्थात् व्यक्त और व्याकृत हैं उनको ही ईश्वर, जीव या जगत् कहते हैं, उनमे जितनी क्रियाएँ हैं या कामनाएँ हैं वे परमेश्वर के ही उद्‌बुद्धरूप हैं और वे ईश्वर और जीव के साथ ही सबद्ध है उनके अतिरिक्त जो मन, प्राण, वाक् हैं सो अनुद्‌बुद्ध हैं इसी से परमेश्वर की कामना या क्रिया कुछ भी पृथक् रूप मे कही नही जासकती। तात्पर्य्य यह है कि जीव अनित्यकाम हैं ईश्वर सर्वकाम और आप्त-काम है किन्तु परमेश्वर सर्वथा निष्काम है।

परमेश्वर में नभ्य आत्मा का न होना

जीव अनन्त हैं—

शरीर के भिन्न होने से जीव भी भिन्न होते हैं। प्रत्येक जीव-आत्मा के शरीर मे दो-दो आत्मा होते हैं एक नभ्य और दूसरा सर्व। इनमे नभ्य आत्मा वह है कि जो शरीर के केन्द्र मे रहकर इस शरीर के धातु, रस आदि को निर्माण करता हुआ शरीर के अनुपयोगी पदार्थों को शरीर से बाहर निकाल कर फेंकता रहता है, उसी के कारण शरीर का कोई भी अंश सड़ने नही पाता और शरीर को हलका बनाता है परन्तु दूसरा सर्वआत्मा जीव का सम्पूर्ण चेतन शरीर है। इसी प्रकार ईश्वर भी अनन्त हैं उनका शरीर ब्रह्माण्ड है, ब्रह्माण्ड के भेद से ही ईश्वर भिन्न-भिन्न माने जाते हैं, प्रत्येक ईश्वर के भी ब्रह्माण्ड मे दो दो आत्मा होते हैं। एक ब्रह्माके केन्द्र मे रहकर अपने से ही सब पदार्थों को उत्पन्न करता हुआ और उनको चारों ओर फैलाता हुआ ब्रह्माण्ड की रचना करता है उसको नभ्य आत्मा कहते हैं और दूसरा सर्व आत्मा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को ही कहते है। इस प्रकार जीव और ईश्वर दोनो मे दो-दो आत्मा पाये जाते हैं। किन्तु परमेश्वर मे ऐसी दो आत्मायें नही है वह एक ही है क्योकि उसके शरीर को जगत् कहते हैं सो जगत् एक है और असीम है। असीम वस्तु की नाभि और परिधि दोनो ही नही कही जासकती, इसीलिये उसमें नभ्य आत्मा का होना असम्भव है। उसका प्रत्येक बिन्दु ही नाभि है और प्रत्येक बिन्दु से अनन्तानन्त शक्तियाँ उत्पन्न होकर अपना अपना विकास करती हैं, जिससे इस जगत् का स्वरूप बनता बिगड़ता रहता है, इसीलिये इस सम्पूर्ण जगत् को ही विश्वात्मा भगवान् परमेश्वर कहते हैं, जो असीम होने से किसी नियत स्थान पर नभ्यात्मा नही रखता उसका प्रत्येक बिन्दु ही नभ्य हो सकता है।

परमेश्वर में दैशिक संस्था न होना

• जीव की शक्ति परिमित है उससे उसका शरीर भी परिमित ही उत्पन्न होता है, इसी प्रकार ईश्वर की शक्ति भी परिमित है, इसी से उसका ब्रह्माण्ड भी परिमित ही उत्पन्न होता है। यह ब्रह्माण्ड

दो प्रकार का है, एक छोटा जो उपेश्वर का शरीर है अर्थात् यह सूर्य अपने प्रकाश मण्डल में जितने आकाश प्रदेश मे व्याप्त होता है वही छोटा ब्रह्माण्ड है उसमे सूर्य, पृथिवी और अन्तरिक्ष के नाम से त्रैलोक्य की सस्था नियत रहती है, किन्तु महाण्ड वह है कि जिसमे असख्य ऐसे सूर्य होने के कारण त्रैलोक्य सस्था भी असख्य होती हैं। जिस प्रकार हमारी पृथिवी या अन्यान्य ग्रह उस सूर्य के चारो ओर फिरते हैं उसी प्रकार वे सब सूर्य भी जिस महासूर्य के चारो ओर फिरते हैं वही सच्चिदानन्द घन हमारा ईश्वर है। उसकी सत्ता चेतना और आनन्द की किरणें चारो ओर जितने आकाश प्रदेश मे परिव्याप्त है वही महाब्रह्माण्ड है और वही ईश्वर का शरीर है। यह महा ब्रह्माण्ड बहुत बड़ा होने पर भी परिमित है, सीमाबद्ध है, उसकी सीमा से बाहर भी इसी प्रकार के अनन्तानन्त ईश्वर परमेश्वर उस अनन्त महा आकाश मे इधर उधर अवश्य विद्यमान हैं, ऐसी सम्भावना की जासकती है और वे सब परिमित है किन्तु उन सबका प्रथम आत्मा परमेश्वर है और वह एक है जितने जीव और जितने ईश्वर उस अनन्त आकाश मण्डल मे कही हैं उन सबको यदि एक दृष्टि से देखकर खयाल मे लाया जाय तो वही परमेश्वर का शरीर है। अर्थात् जो जहां कुछ है सो सब जगत् ही परमेश्वर का शरीर है। उस जगत् का आदि, अन्त होना असम्भव है इसीलिये वह असीम है। यदि किसी सीमा बद्ध आयतन को ही शरीर कहें तो परमेश्वर मे देश की सस्था न होने के कारण उसको अशरीर ही कहना पडेगा। क्योंकि उसके शरीर से बाहर कुछ खाली जगह नही हैं।

परमेश्वर मे कालिक सस्था का न होना

जीवआत्मा को सभी शक्तियाँ परतन्त्र से मिलती है अर्थात् ईश्वर से प्राप्त होती हैं जिससे नैमित्तिक और अनित्य है और ईश्वर आत्मा की सभी शक्तियाँ भी परतन्त्र से मिलती हैं, अर्थात् परमेश्वर से प्राप्त होती हैं। इसीलिये वे भी नैमित्तिक और अनित्य है किन्तु परमेश्वर की सभी शक्तियां दूसरे किसी से प्राप्त नही होती हैं। वे स्वतन्त्रता से विद्यमान हैं क्योकि परमेश्वर सर्वशक्तिघन है, उसकी निज की शक्तियाँ नित्यस्वयभू हैं किन्तु उस परमेश्वर के जगत् मे अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न हो होकर नष्ट होते रहते हैं और फिर उत्पन्न होते रहते हैं, इस प्रकार यह उत्पत्ति विनाश क्रम इस जगत् मे यो ही अनादिकाल से होते चले आते हैं और आगे को भी इसी प्रकार अनन्तकाल मे होते रहेंगे, जिस प्रकार से सृष्टि विनाशक्रम हम आज देख रहे हैं सभव है कि वह इसी प्रकार आगे को भी सर्वदा बना रहेगा। परमेश्वर की आत्मा मे जो मन, प्राण, वाक् ये तीन धातु हैं उनसे यद्यपि पृथक् पृथक् नाना प्रकार के भाव उत्पन्न होते रहते हैं और उन विकारो से फिर भी उनके अवान्तर अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो होकर नष्ट होते रहते है, तथापि उन सब विकारो मे मन, प्राण, वाक् इन तीनो का सबन्ध नित्य एक रूप से ही रहता है। सभी भाव वाङ्मय, प्राणमय, मनोमय कहे जासकते हैं और अनादिकाल से अनन्तकाल तक इसी प्रकार रहेगे क्योकि इस असीम परमेश्वर मे दैशिक सीमा के अनुसार कालिक सीमा भी नही है।

जगत् कारणता का विचार

इसी विश्व का प्रभव और प्रतिष्ठा और परायण अर्थात् जिसके अश से उत्पन्न होना है और जिसके अन्तर्गत आधार से ठहरा रहता है और नष्ट होकर अन्त को जिसमे लीन हो जाता है वह ईश्वर

है। इसलिये ईश्वर को विश्व का कारण कहते हैं जिस प्रकार वृक्ष पृथिवी के अंश से उत्पन्न होकर पृथ्वी के ही आधार में ही ठहरा रहता है और अन्त में पृथ्वी मे ही लीन हो जाता है और जिस प्रकार मिट्टी मे घडा उत्पन्न होकर मिट्टी मे ही रहकर अन्त मे मिट्टी ही हो जाता है। उसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व का या ईश्वर प्रभव प्रतिष्ठा और परायण है। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है और सर्वज्ञ है इसी प्रकार अपनी शक्ति और ज्ञान के कारण अपने विश्व को अपनी इच्छानुसार रचना किया करता है। यद्यपि ससार मे समवायि अर्थात् उपादान कारण और निमित्त कारण भिन्न-भिन्न होते हैं। घडे का उपादान मिट्टी है वह घडे को नही बनाता, बनानेवाला कुम्हार है उस कुम्हार का घड़ा नही बनता। इसलिये आश्चर्य मान कर ईश्वर मे कितने ही लोग शङ्का करेंगे कि वह यदि सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होकर निमित्त कारण है तो वह उपादान नहीं होसकता। अर्थात् प्रभव, प्रतिष्ठा, परायण नही होसकता और यदि वह उपादान है तो निर्माता नही होसकता। यह आशङ्का सत्य है, परन्तु यह नियम विश्व का है और ईश्वर विश्व से पृथक् है, इसीलिये विश्व के नियम का आक्षेप ईश्वर मे लागू नही होसकता। यथार्थ तो यह है कि यह ईश्वर मन, प्राण, वाक् इन तीनो तत्त्वो से बना है इसीलिये जितनी उसमें मन की मात्रा है उसके अनुसार वह सर्वज्ञ और अपनी प्राणमात्रा के अनुसार सर्वशक्तिमान् है। इसी प्रकार अपनी वाङ्मात्रा से विश्व का रूप बनाता है इसी कारण वाक् के अनुरोध से उसको विश्व का उपादान कह सकते है, किन्तु प्राण के अनुरोध से वही ईश्वर विश्व का असमवायि अर्थात् प्रयोजक कारण है और मन के अनुरोध से वही ईश्वर विश्वका निर्माता निमित कारण भी है इसी प्रकार एक ही वस्तु के अंश भेद से तीनो कारणो का समावेश इस विश्व मे भी देखा जाता है। जैसे मकडी अपना जाला बनाने मे आप ही उपादान है और निमित्त भी है इसी प्रकार ईश्वर को भी समझना चाहिये।

परन्तु दूसरी आत्मा जो परमेश्वर है वह यद्यपि ज्ञान, सभी बल और सभी अर्थो का निधि है तथापि किसी बात की इच्छा नही रखता क्योंकि वह निष्काम है और सृष्टि बिना इच्छा, तप और श्रम के नहीं होती। इसीलिये वह इस विश्व को उत्पन्न नही करता अतएव वह कारण भी नही कहा जा सकता यद्यपि जीव और ईश्वर जो कुछ करते हैं वह भी परमेश्वर ही करता है इस अनुरोध से ईश्वर का कारण होना ही परमेश्वर का भी कारण होना है किन्तु जीव और ईश्वर को पृथक् रखकर यदि स्वतन्त्र रूप से परमेश्वर को देखें तो कहा जासकता है कि परमेश्वर कारण नही हैं। इसी अभिप्राय से वेद कहता है।

"नतस्यकार्यं करणं च विद्यते।
नतत्समश्चा भ्यधिकश्चदृश्यते ॥१॥
परास्य शक्ति विविधैव श्रूयते।
स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च ॥२॥
तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्।
तंदैवतानां परमं दैवतम् ॥३॥

स कारणं करणाधिपाधिपो ।
न चास्य कश्चिज्जनितानचाधिपः" ।।४।।

ईश्वर या जीव जो कुछ क्रिया करते हुए अपना जीवन धारण करते हैं ये सभी जिस परमेश्वर मे ही मानी जा सकती हैं, क्योकि परमेश्वर के अविनाभूत उसके विना नहीं होने लायक है। प्राण, ज्ञान मन जो जहाँ कुछ जीव मे या ईश्वर मे पाये जाते हैं अथवा और किसी जड जगत् मे है अथवा जगत्, जीव, ईश्वर जो जहाँ कुछ है इन सब को ही परमेश्वर कहते हैं। यह परमेश्वर ईश्वर से या जीव से कदापि खाली नही रह सकता, यद्यपि कही कोई ईश्वर जीव के अनुसार नष्ट भी होजाता है तथापि दूसरे ईश्वर की उत्पत्ति हो जाने से यह परमेश्वर सदा ही ईश्वरो से परिपूर्ण रहता है। किसी ईश्वर के नष्ट होने को प्रलय कहते हैं, यह प्रलय दो प्रकार का है जब ईश्वर सो जाता है अर्थात् एक ब्रह्माण्ड मे सभी तत्वो की वृत्तियाँ बन्द हो जाती है उसको क्षुद्र प्रलय कहते है, किन्तु यदि तत्वो का ही नाश होजाय तो उसको ईश्वर का ही नाश कहेगे। वृत्ति नाश तत्वो का नाश नहीं होता जैसे मौन धारण मे वाक् इन्द्रिय नष्ट न होकर इन्द्रिय वृत्ति होती है शयन की दशा मे सब इन्द्रियो के रहने भी सब इन्द्रियो की वृत्तियाँ नष्ट होती हैं। किन्तु जीभ काटने पर, आँख फूटने पर अथवा मृत्यु होने पर इन्द्रियां ही नष्ट होजाती है इसी प्रकार ब्रह्माण्ड मे भी वृत्तिनाश से ईश्वर का शयन और तत्त्वनाश से ईश्वर की मृत्यु जाननी चाहिये यद्यपि ईश्वर की उत्पत्ति और मृत्यु मानने मे विशेष प्रमाण नही है तथापि विनाशी पदार्थों के धन नाश के कारण प्रकृति नियम के अनुसार प्रत्येक ब्रह्माण्ड की भी उत्पत्ति और नाश होना सम्भवपर प्रतीत होता है। वेद के अनुसार प्रत्येक जन्म पदार्थ जिस धन मे से वाहर निकल कर व्यक्त रूप मे आता है और अन्त को जिसमे लय होकर अव्यक्त होजाता है उसको ईश्वर कहते है, किन्तु ये ईश्वर भी सब जिस घन से निकल कर प्रकट होते हैं और अन्त को जिसमे लीन हो जाते है वे ही निधि (ईश्वरो का) परमेश्वर है। इस परमेश्वर के इस जगत् से सबन्ध के कारण द्वादशगुण हैं जैसा की गीता मे लिखा है—

गति र्भर्ताप्रभुः साक्षी, निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ।।१।।

जो मैं जीव आत्मा हूँ उसको ईश्वर ही जानना चाहिये क्योकि मैं ईश्वर का ही अंश लेकर उत्पन्न हुआ हूँ इसी प्रकार ईश्वर भी परमेश्वर का अंश लेकर ही उत्पन्न हुआ है इसलिये वह भी परमेश्वर ही है। तात्पर्य यह कि यदि हम व्यापक दृष्टि से देखें तो क्या जगत्, क्या जीव क्या ईश्वर सब ये एक परमेश्वर ही परमेश्वर है—परमेश्वर के अतिरिक्त कही कुछ नही है।

सबका आत्मा होना

जिस प्रकार देह की आत्मा जीव है उसी प्रकार इस जीव की भी आत्मा ईश्वर है और इन ईश्वरो की भी आत्मा परमेश्वर है परन्तु परमेश्वर स्वरूपत.अङ्गी होने के कारण आत्मा है, न कि कारण होने से जिस प्रकार कार्य की आत्मा कारण है उसी प्रकार अङ्गो की आत्मा अङ्गी है ये, सब परमेश्वर के अङ्ग है। परमेश्वर उनका अङ्गी है इससे वह ईश्वरो की आत्मा है।

जिस प्रकार मैं स्वयम् एक आत्मा हूँ उसी प्रकार मुझ मे विद्यमान ईश्वर मेरी दूसरी आत्मा है और उस आत्मा में भी विद्यमान परमेश्वर मुझ मे तीसरी आत्मा है। इसी प्रकार यह ईश्वर भी जो स्वय एक आत्मा है उसमे विद्यमान परमेश्वर उस ईश्वर की आत्मा है अब तीसरा वह परमेश्वर स्वय ही एक आत्मा है उसकी कोई दूसरी आत्मा नही हो सकता। आत्माओ का इस विभाग के अतिरिक्त प्रकारान्तर मे भी विभाग किया जाता है उसके अनुसार हमारे जीव आत्मा मे ५ आत्माएँ है। इन आत्माओ की स्थिति शरीर में त्रिलोकी सस्था के कारण सपन्न होती है। इसीलिये ईश्वर मे भी ये पांचो आत्माएँ विद्यमान रहती हैं क्योकि उनमे भी त्रिलोक सस्था है। जीव की पाँचो आत्मा और ईश्वर की पांचो आत्मा परस्पर मे अन्न, अन्नाद भाव से रहती हैं। ईश्वर की आत्माएँ जीव की आत्माओ का रस सर्वदा चूसा करती है किन्तु जीव की आत्मा भी ईश्वर की उन्ही आत्माओ से रस लेकर अपनी इस कमी को पूरा करती है। इस प्रकार यद्यपि जीव ईश्वर दोनो मे पाँच-पाँच आत्मा सभव होती हैं। किन्तु परमेश्वर मे इन पाचो मे से एक भी आत्मा नही है क्योकि भूतो से उसका सम्पर्क नही। इसलिये एक उसमे भूतात्मा नहीं है। परमेश्वर ने स्वयम् सूत्ररूप होकर सब को अपने मे बाध रक्खा है, किन्तु परमेश्वर किसी सूत्र मे बँधा हुआ नही है। इसलिये उसमे दूसरी सूत्रात्मा नही है और जीव, ईश्वर का शरीररूपी क्षेत्र परिच्छिन्न होने के कारण क्षेत्र का अभिमानी क्षेत्रज्ञात्मा हो सकता है किन्तु परमेश्वर का शरीर अपरिच्छिन्न होने के कारण कोई नियत क्षेत्र नही हो सकता। इसलिये उसमे तीसरी क्षेत्रज्ञात्मा नहीं। और जीव ईश्वर मे भिन्न-भिन्न योनि का विभाग करने वाली महान् आत्मा होती है। परिच्छिन्न होने के कारण जीव ईश्वर मे भिन्न-भिन्न प्रकार की योनियो का भेद होना सम्भव है। इसीसे भिन्न-भिन्न योनि स्वरूप, भिन्न-भिन्न महान् आत्मा भी होती हैं किन्तु परमेश्वर अपरिच्छिन्न है। किसी प्रकार की योनि का भेद उसमे सम्भव नहीं इसीलिये परमेश्वर मे चौथी महान् आत्मा भी नही है। इन चारो आत्माओ के अतिरिक्त पाचवी चिदात्मा जो ईश्वर या परमेश्वर से ही जीव और ईश्वरो मे सम्प्राप्त होता है। किन्तु परमेश्वर स्वय चिदात्मा है उसमे किसी दूसरे से चिदात्मा का आना सम्भव नही। इसीलिये उसमे यह आत्मा भी नही है।

अथवा प्रकारान्तर मे परमेश्वर को यो देखिये कि ईश्वर या जीव मे जितनी आत्माये हैं वे सब परमेश्वर से बाहर नही हो सकती क्योकि परमेश्वर के बाहर कोई प्रदेश ही नही है। जहां किसी दूसरे का होना माना जावे इसीलिये ये अनन्त जीव ईश्वर की आत्माएँ परमेश्वर की ही आत्माएँ हो सकती है इतना विशेष फिर भी है कि ईश्वर या जीव मे पाच-पाच आत्मा होने के कारण परिमित आत्माएँ है किन्तु परमेश्वर मे आत्माएँ अनन्त है इसीलिये परमेश्वर को सर्व-आत्मक और सर्व आत्मा दोनो कह सकते है। सब आत्माएँ उसकी आत्माएँ है इसीलिये वह सर्व आत्मक है किन्तु जगत् जीव, ईश्वर इन सभी का वही एक आत्मा है इसीलिये वह सर्व-आत्मा भी है।

अणु मे भी अणु और महान् मे भी महान् वह है। कृष्ण, शुक्ल, पीत, हरित सब कुछ वह ही सत् और असत् है। तात्पर्य यह है कि इस विश्वभर मे जितने विरोध भाव हैं वे सब इस परमेश्वर मे आकर अविरुद्ध रूप मे विद्यमान हैं।

एक दृष्टि से परमेश्वर को यो भी देख सकते हैं कि इस विश्व मे जितने मन, प्राण, वाक् है सब उसके वास्तविक रूप है और वेद, यज्ञ, प्रजा ये तीनो ही उसके शरीर हैं और सब [illegible] उसके वित्त है। इन तीनो के अतिरिक्त उस परमेश्वर की आत्मा अमध्य अगोचर निरञ्जन निराकार है वह अज्ञेय और अनिर्वचनीय है इस प्रकार आत्मा, रूप, शरीर और वित्त इन चारो से [illegible] एक अद्वितीय व्यूहानुव्यूह परमेश्वर है।

इस परमेश्वर की न नाभि है, न सस्था है, न आदि है न अन्त है, न उसका कोई दूसरा आधार है, अनन्त ईश्वर अनन्त जीव, इन सब मे यह समान भाव से सर्वत्र व्याप्त है उसकी मुख्यतया दो प्रकार से भावना की जाती है, एक शान्त और दूसरा समृद्ध, इनमे अव्याकृत रूप मे यह शान्त है और एकाकार है और एक ही आत्मा है किन्तु समृद्ध भाव से यह अनन्ताकार है और सर्वात्मा है।

भूमा रस—(रस आनन्द)

शान्त या समृद्ध कोई भी परमेश्वर का स्वरूप यदि मन मे लाना चाहे तो वस्तु स्वरूप का सामान्य भाव किसी प्रकार से मन पर आभी जाता है तथापि यदि उसकी सीमा की ओर दृष्टिपात करें तो एकाएक मन रुक जाता है। सीमा को यह मन कही भी स्थिर नही कर सकता वह उसकी असीमता ४ प्रकार की है-१ दिक् से, २ देश से, ३ काल से, ४ द्रव्य से। यदि किसी बिन्दु पर मन को खड़ा करके परमेश्वर को चारो ओर देखे तो नीचे, ऊपर, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सभी ओर जहाँ तक मन धावा कर सकता है वह सर्वत्र उसी को पाता है, मन की शक्ति रुक जाती है किन्तु उसके आकार की सीमा नही मिलती इसलिये वह दिक् से अनन्त है और समीप से समीप, दूर से दूर और भीतर बाहर सर्वत्र उसको पाते हैं उसका कोई नियत देश नहीं हो सकता। इसलिये वह देश से भी अनन्त है यह सृष्टि जो परमेश्वर की समृद्धि मात्र है। यह कब उत्पन्न हुई और कब तक रहेगी इसका निर्णय कठिन ही नही किन्तु असभव है। सम्भवतः हृदय इसी को स्वीकार करता है कि जगत् अनादि और अनन्त है। इसी-लिये परमेश्वर काल से भी अनन्त सिद्ध होता है इसी प्रकार यह द्रव्य से भी अनन्त है। यदि सामान्य दृष्टि से सबसे बडे पदार्थ को ढूंढे तो नाम मिलेगा। क्योकि ये सब जो जहाँ कुछ है नाम ही नाम है, इसलिये नाम को भूमा कह सकते है किन्तु यह नाम वाक् से उत्पन्न होता है। भिन्न-भिन्न प्रकार के अनन्त नाम केवल एक वाक् ही वाक् है, इसलिये वाक् नाम से भी बड़ी होने के कारण भूमा है किन्तु यह सारी वाक् मन मे प्रवेश कर जाती है। मन का प्रदेश वाक् से भी अधिक प्रतीत होता है इसलिये मन भूमा है किन्तु यह मन सकल्प के अधीन अपना रूप बदला करता है, सकल्प का अनुगामी होता है इसलिये ये सकल्प मन से भी बडा है और भूमा है किन्तु यह सकल्प मेरे चित्त के कारण उठता है इस-लिये चित्त भूमा है किन्तु यह चित्त ध्यान के वशीभूत होकर ही सकल्प को उत्पन्न करता है इसलिये ध्यान भूमा है यह ध्यान मेरे विज्ञान के कारण से होता है इसीलिये विज्ञानभूमा है।

विज्ञान बल के प्रभाव से न्यूनाधिक होता है इसलिये बल भूमा है किन्तु बल इस शरीर मे अन्न के अधीन है अन्न की न्यूनता मे बल क्षीण हो जाता है। इसलिये अन्न ही भूमा है किन्तु अन्न, जल से उत्पन्न होता है अन्न के बिना रहकर भी जल के बिना नही जी सकता इस वास्ते जल भूमा है किन्तु जल

[illegible] के कारण है बिना तेज के जल का प्रवाह न होकर घन हो जाता है इसलिये तेज के ही कारण से जल का प्रवाह है इसलिये तेज भूमा है किन्तु यह सब तेज इस अनन्ताकाश में भरा हुआ है इसलिये वायु भूमा है किन्तु इस वायु में भी स्मरण भूमा है स्मरण से भी आकाश भूमा है आकाश से प्राण भूमा है जितने कुछ दिखाई देते हैं ये सब के सब प्राण ही प्राण हैं प्राण का ही यह सब विकार है, प्राण से ही उत्पन्न होकर प्राण ही के पकड़ में भिन्न-भिन्न अपना स्वरूप धारण करते हुए प्राण ही के आधार पर स्थित हैं। नष्ट होने पर अन्त मे इन सब की प्राण ही गति है इसलिये प्राण ही सत्य भूमा है इसी कारण है कि सब स्थानों में सत्य को ही ढूंढे किन्तु यह सत्य विज्ञान के बिना नही मिल सकता यह विज्ञान मति के बिना नहीं प्रकट होता यह मति भी बिना श्रद्धा के नही होती श्रद्धा भी बिना निष्ठा के नहीं हो जाती, निष्ठा भी बिना क्रिया के नही होती और यह क्रिया बिना सुख के नहीं की जाती। किसी भी काम में किसी को भी जब तक सुख नही मिलता तब तक उस काम के करने मे प्रवृत्त नही होता। सुख ही को लक्ष्य करके इस जगत् में सब ही क्रिया की जाती है इसलिये इस विश्व मे सुख ही मुख्य है और वही सब को सब काम करा रहा है, इसलिये ये सुख ही भूमा है हम यह भी देखते हैं कि यदि किसी प्राणी को अपनी परिस्थिति से जब कभी कुछ अधिकता प्राप्त होती है तो उसको सुख होता है। अधिकता ही को भूमा कहते है, इसलिये भूमा ही सुख और सुख ही भूमा है। जहाँ पर भिन्नता से नाना भाव सुने जायें नाना भाव देखे जायें तो उन भावो को हम परिच्छिन्न कहेगे और परिच्छिन्न होना अल्पता का लक्षण है। अल्पता अर्थात् कमी होना ही दुःख का मूल है इसके विरुद्ध जहाँ कोई भाव न भिन्न रूप से सुना जाता है और न भिन्न रूप से देखा जाता है वहाँ पर एकता व्याप्त हो जाती है। एकता के कारण प्रत्येक पदार्थ का भेद भाव हट जाता है और सर्वत्र अपरिच्छिन्नता आ जाती है यही अपरिच्छिन्नता भूमा है और भूमा ही सुख है और सुख को आनन्द कहते है इसलिये सिद्ध हुआ कि सब जगह केवल एक आनन्द ही आनन्द है। जहाँ भूमा है वहाँ भिन्न-भिन्न पदार्थों का ज्ञान नही होता, अर्थात् ज्ञान में से सब प्रकार के भेद भाव मिटकर एकता आ जाती है सब एक ही विज्ञान हो जाता है यही एक विज्ञान भूमा है इससे सिद्ध हुआ कि यह सब कुछ विज्ञान ही विज्ञान है इस विज्ञान मे आनन्द रूप से भासता हुआ जो कुछ है वही सत्ता है और सत्ता ही विज्ञान है और आनन्द है यही सत्ता विज्ञान और आनन्द तीनों सब विचार करने पर अन्त मे भूमा ठहरते है इसलिये यही भूमा जिसको सच्चिदानन्द कहते है परमेश्वर का वास्तविक स्वरूप है।

२१—उपासना—४

जीव इस परमेश्वर की आराधना मे सम्यक् प्रकार से समर्थ नही हो सकता—केवल ईश्वर की ही आराधना करने से परमेश्वर की भी आराधना सम्पन्न हो जाती है। जो कुछ ऐहिक, आमुष्मिक, काम्य कर्म किया जाता है वह सब जीव के लिये और ईश्वर के लिये हो सकता है, किन्तु काम्य कर्मो का कुछ भी प्रभाव परमेश्वर मे नहीं पड़ता परन्तु सन्यासी विद्वान् जो कुछ निष्काम होकर कर्म करते है। उनसे मोक्ष होता है। उन कर्मों से आत्मा विशुद्ध होकर जीव धर्मों को छोड़कर परमेश्वर मे लीन हो जाता है।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ।।

ओम्–इत्येतत्

प्रजापति के प्रधानता मे तीन रूप माने गये हैं परमेश्वर, ईश्वर और जीव । इन तीनों के भेद मे तीन नाम हैं, ओम्, अहः अहम् । इनमे भी ओम् ही ईश्वर और जीव इन दोनो की प्रतिष्ठा (आधार) है । ये तीनो शब्द दो-दो शब्दो से बने हैं—

अह–अम्=अउ अम्=ओऽम्=परमेश्वर ।
अह–अन्=अहन् =अह = ईश्वर ।
अह–अम्=अह अम्=अहम्= जीव ।

इनमे 'अ' कार से आत्मा समझी जाती है जो (आत्मा, अ) कि निर्विकार सूक्ष्म रूप है और 'ह' कार से जगत् समझा जाता है क्योकि जिस प्रकार अ कार ही स्थूलता मे आकर ह कार हो जाता है उसी प्रकार आत्मा ही स्थूलता मे आकर जगत् बन गया है । इन दोनो अकार हकार के आगे यही अम् तथा अन् लगाया गया है, जिनमे अम् का अर्थ ससृष्टि है अर्थात् दो को मिलाकर एक करना है । तात्पर्य यह है कि आत्मा जगत् से और जगत् आत्मा से मिलकर जो एक रूप बना हुआ है उसी को ओम् या आम् कहते हैं और अन् का अर्थ जीवन है आत्मा और जगत् इन दोनो से जिसका जीवन है वही कारण रूप ईश्वर अहः कहलाता है । तात्पर्य यह है कि आत्मा मे जगत् और जगत् मे आत्मा इसी को ओम् या अहम् कहते हैं और दोनो आत्मा या जगत् से जिसका जीवन हो उसका नाम ईश्वर है ।

ईश्वरदर्शन

२२ उपक्रम (१२) परोरजाः (रजलोक)

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः इन्हे त्रैलोक्य कहते हैं । द्यौः से भी परे अर्थात् त्रैलोक्य के पीठ पर इस भौतिक सूर्य से भी एक बहुत बडा विलक्षण चिन्मय सूर्य है जिसकी किरणें सत्ता, चेतना और आनन्दमय है, वह कूटस्थ, अचल और ध्रुव है । इसीलिए उसे अक्षर कहते है । इसी अक्षर (जो नष्ट न हो) की महिमा स्वरूप कितने ही त्रैलोक्य चारो ओर विद्यमान हैं । इसी अक्षर को हम यहा ईश्वर कहते हैं । इस ईश्वर के विषय मे छान्दोग्य उपनिषद् के तीसरे प्रपाठक के १३वें खण्ड का तथा नारायण उपनिषद् के कुछ प्रमाण उद्धृत करते हैं—

अम्भस्य पारे भुवनस्य मध्ये नाकस्य पृष्ठे महतो महीयान् ।
शुक्रेण ज्योतींषि समनुप्रविष्टः प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः ।।
यस्मिन्निदं स च, विचैति सर्वं यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः ।
तदेव भूतं तद्भव्यमा इदं तदक्षरे परमे व्योमन् ।।

तेनावृतं खं च दिवं मही च येनादित्यस्तपति तेजसा भ्राजसा च ।
यमन्तःसमुद्रे कवयो वयन्ति यदक्षरे परमे प्रजाः ॥
यतः प्रसूता जगतः प्रसूतिः तोयेन जीवान् व्यससर्ज भूम्याम् ।
यदोपधीभिः पुरुषान्पशूंश्च विवेश भूतानि चरा चराणि ॥
अतः परं नान्यदणीय सं हि परात्परं यन्महतो महान्तम् ।
यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्तात् ॥
तदेवतं तदसत्यमाहुस्तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम् ।
इष्टापूर्तं बहुधा जात जायमानं विश्वं बिर्भात भुवनस्य नाभिः ॥
न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥
न कर्म्मणा न प्रजया धनेन त्य गेनैके अमृतत्वमानशुः ।
परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति ॥

ईश्वर को "परोरजाः" कहते हैं इसलिए कि 'रज' नाम लोक का है और वह ईश्वर तीन लोक से परे है, बहुत से त्रैलोक्य ईश्वर के चारो ओर विद्यमान हैं।

परमेश्वर के स्वरूप मे व्यापक होने के कारण कोई नाभि अर्थात् केन्द्र नही था किन्तु ईश्वर में एक नाभि नियत है और उसी नाभि के चारो ओर अगणित सूर्य या अगणित त्रैलोक्य फिरते हैं। इसी मे यह ईश्वर वर्तुलवृत्त, सीमाबद्ध एक परिच्छिन्न मूर्ति है उसके मन, प्राण, वाक् इन्ही तीनों द्रव्यो का बना हुआ रूप है, और वेद, यज्ञ, प्रजा इन तीनो से व्याप्त उसका शरीर है और बहुत से सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि पिण्ड उसके वित्त हैं इसीलिए उस ईश्वर को प्रजापति कहते हैं।

सृष्टिक्रम

यही परोरजाः अपने आकाश मे जिस रूप से व्याप्त होता है अर्थात् जिस रूप से अपनी सीमा का आकाश बनाता है वह उस का मुख्यरूप 'मन' है इस मन को चित इसलिये कहते हैं कि उसके चयन अर्थात् चुनाव से 'वाक्' मे प्राण विचित्र सृष्टियाँ सिरजा करते है। व्याकरण के नियमानुसार सृज्, धातु का अर्थ संसर्ग अर्थात् एक मे दूसरे का मिलना है वास्तव में जगत् की सृष्टि और कुछ नही केवल दो तीन या अधिक रूढ तत्वो के परस्पर मिलाव से नया रूप दीख आता है उसी को नई सृष्टि कहते हैं उन रूढतत्वों का परस्पर मे बिछुडने को प्रतिसृष्टि अर्थात् वस्तुओ का नाश होना कहते हैं सबसे प्रथम अनेक रूढतत्व कुछ न थे केवल ईश्वर आत्मा के मन, प्राण, वाक् ही थे। इसीलिए वाक् के ऊपर प्राण के द्वारा मन से ही चुनाव से अनन्तानन्त रूढतत्व उत्पन्न हुए हैं इसीलिए उस मन को "चित्त" कहते हैं।

यह चित्त प्राण के विना कदापि नही रहता है। इसी प्राण के द्वारा जो चित्त का चयन होता है उस चयन की न्यूनाधिकता के कारण वाङ्मय प्राण तीन प्रकार के हो जाते है १ स्वप्रकाश, २ परप्रकाश ३ रूपप्रकाश। यद्यपि चित्त स्वय अमृत रूप है किन्तु वल रूप मृत्यु के योग से उसका चयन हो जाता है। चयन होना मृत्यु का काम है उसी मृत्यु के सम्बन्ध के तारतम्य से चयन किये हुए प्राण, वे सब तीन प्रकार के हो जाते हैं इन तीनो को मर्त्य कहते हैं अमृत और मृत्यु इन दोनो के मेल से उत्पन्न हुए सब को ही मर्त्य कहते हैं। जब कि मन के चयन मे वल का अधिक जोर लगता है तो उसमे प्रकाश प्रकट हो जाता है उसी को स्वप्रकाश कहते हैं, यही प्रथम सृष्टि है। किन्तु वल का प्रभाव कम होने से परप्रकाश अर्थात् दूसरे के प्रकाश को ग्रहण करने की सामर्थ्यवाला द्रव्य उत्पन होता है यह दूसरी सृष्टि है। इससे भी कम वल का प्रभाव पडने पर रूप प्रकाश द्रव्य उत्पन्न होता है यह तीसरी सृष्टि है। ये तीनो द्रव्य आँख से देखे जाते हैं, किन्तु वल की कमी से एक चौथी सृष्टि और होती है जिसको हम आँख से नही देखते केवल ज्ञान से ही उसका अनुमान करते हैं। इस प्रकार ये चार सृष्टि हुई, जिनमे अदृश्य रूप जो देखा नही जाता उसमे आकर्षण की मात्रा रहने पर भी अत्यन्त कम होने के कारण उसको अमृत ही कहते हैं किन्तु शेष तीनो को मर्त्य कहते है।

इनमे स्वप्रकाश को अग्नि, परप्रकाश को सोम और रूपप्रकाश को आप् कहते है इन तीनो मे फिर से मृत्यु का सम्वन्ध होने के कारण दो-दो भाव से स्थिति होती हैं। अधिक मृत्यु के योग से इन तीनो मे घनता आकर तीस प्रकार के पिण्ड उत्पन्न होती हैं। अग्निपिण्ड का सूर्य, सोमपिण्ड को चन्द्र और आपोमयपिण्ड को पृथ्वी कहते हैं। इन तीनो पिण्डो मे विना पिण्ड के दूसरी अवस्था सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहती है उसमे मृत्यु वल कम होने के कारण उसको अमृत कहते है, किन्तु पिण्ड रूप को मर्त्य कहेंगे, इन्ही दोनो अवस्थाओ को चित्य और चितेनिधेय भी कहते हैं। इनमे अग्नि, फिर २ प्रकार का है—१-सोमसयोगी और २-सोमविरोधी। सोमविरोधी को यम कहते है। वह जब सोम को अग्नि से पृथक् करता है तो वस्तु का स्वरूप नष्ट हो जाता है इस प्रकार १—अग्नि, २—यम, ३—सोम,—आप् यही चार रूढतत्व सवसे प्रथम मन, प्राण, वाक् से उत्पन्न हुए और इन चारो के चयन अर्थात् परस्पर सयोग के तारतम्य से अनन्त प्रकार के रूढ, यौगिकरूढ और यौगिक पदार्थो के उत्पन्न हो हो कर इतने बड़े विशाल जगत् का रूप धारण कर लिया है। इनमे तीनो मर्त्य वाक् रूप हैं और चौथा अमृत का अन्न मनकर परस्पर के भोग से इस समस्त जगत् के रूपो का सर्वदा परिवर्तन होता रहता है यही ब्रह्म का विकास है। इसी से कहा जाता है कि यह सम्पूर्ण विशाल जगत् आत्मा मे ही उत्पन्न होने के कारण ब्रह्म ही ब्रह्म है।

२४ सत्यज्ञानरूप

अग्निमय पिण्ड जिसे सूर्य कहते हैं, सोममय पिण्ड जिसे चन्द्रमा कहते हैं और आपोमय पिण्ड जिसे पृथ्वी कहते हैं इन तीनो मे सूर्य और चन्द्र से जो ज्योति उत्पन्न होती है उनमे परमात्मा की ज्योति मिलकर जो रूप उत्पन्न होता है उसे ही ज्ञान कहते हैं। इस जगत् मे जो जहा कुछ ज्ञान का रूप दीखता है वह सब सूर्य चन्द्र को ज्योति से प्रत्येक वस्तु का रूप वनकर चक्षु के द्वारा मस्तिष्क मे जाकर मन से मिलता है उसके सयोग से ही जीवो का सब ज्ञान उत्पन्न होता है। सूर्य चन्द्र की ज्योति के विना रूप

के न होने से किसी प्रकार का भी ज्ञान उत्पन्न नही हो सकता, इसीलिये गाढ निद्रा की अवस्था मे मन का प्रकाश पूर्ण रहने पर भी किसी वस्तु के रूप का सम्बन्ध न होने से कुछ ज्ञान उत्पन्न नही होता। इस विज्ञान में भौतिक प्रकाश का सम्बन्ध है उसी के द्वारा इस विज्ञान मे आनन्द का अनुभव होता है इसलिये इस आनन्दमय विज्ञान को ईश्वर का स्वरूप कहते हैं।

इसी प्रकार आपोमय प्राण के साथ सयोग करके जो "परज्योति चित्" का रूप बनता है उसको सत्य कहते हैं। यह सम्पूर्ण विश्वमण्डल आपोमय है आप् के सम्बन्ध बिना कही कुछ नही बनता किन्तु इस आप् मे ही सत्य का भाग है इसीलिये सपूर्ण जगत् के प्रत्येक अर्थ मे यह सत्य पाया जाता है। यद्यपि जगत् के पदार्थ भिन्न-भिन्न अनन्त प्रकार के हैं तथापि उन सबमे यह एक ही सत्य भिन्न-भिन्न रूप होकर भिन्न-भिन्न कार्य करता है, यही सत्य प्रत्येक वस्तु को भिन्न-भिन्न रूप मे उत्पन्न करता है और उनमे भिन्न-भिन्न रूप से बैठकर भिन्न-भिन्न चेष्टा करता है। इस भिन्न रूप मे आये हुये सत्य को "वस्तुशक्ति" कहते हैं, इसी को अन्तर्यामी भी कहते हैं उसी के लिये यह गौतम ऋषि का वाक्य है—

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व ॥१॥

पृथ्वी, अग्नि, मेघ, जल, बिजली, दिशा, व्योम, वायु, आदित्य, चन्द्र, तारा, भूत, लोक, वेद, यज्ञ, वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वचा, रेत, तम्, तेज और आत्मा इत्यादि जो जहाँ कुछ वस्तु है सबके अन्दर इस प्रकार वह सत्य विद्यमान है कि जिसको ये सब वस्तु अपने अन्दर बैठे हुए को भी नही पहचानते है किन्तु जैसा वह करता है वैसा ही करते और उसको अपना करम समझते हैं। वह अन्दर बैठा हुआ सब का नियमन करता है (अर्थात् मर्यादा मे रखता है) इसीलिये उसको अन्तर्यामी भी कहते हैं किन्तु वही सत्य है, वही वस्तु का धर्म है, वही शक्ति है और वही नियति या प्रकृति है। नियति या वस्तुशक्ति का उल्लङ्घन करके न कोई कुछ कार्य करता है और न जीवन ही धारण कर सकता है इस सत्य के ही बल मे सूर्य और पृथ्वी आदि पिण्ड अपने-अपने स्थान पर स्थिर हैं। आग जलती है सूर्य तपता है, वायु चलती है तात्पर्य यह है कि सब कुछ सत्य के आधीन है। यही सत्य जो प्रत्येक वस्तु मे शक्तिरूप से प्रकट होता है वे इसके शक्ति रूप भिन्न-भिन्न अनन्त प्रकार के हैं उनमे से तीन अथवा अधिक यहा तक कि सब शक्तियो के समूह को ही सत्ता कहते हैं। जहा किसी वस्तु की सत्ता कही जाय वहा कितने ही प्रकार की शक्तियो का घनपुञ्ज समझना चाहिये। बस इस प्रकार एक सत्ता रूप सिद्ध हुआ और पूर्व मे विज्ञान रूप का वर्णन हो चुका है इन दोनो मे ही तीसरे आनन्द की मात्रा का भी अनुभव होता है वस्तु की मात्रा का भी अनुभव होता है वस्तु की सत्ता की कमी होने पर ही दुःख का अनुभव होता है, कहना होगा कि यह सत्ता आनन्दमय है। इस प्रकार विचार करने से आनन्द, विज्ञान और सत्ता ये तीनो ही भाव इस जगत् के सर्व व्यवहार के हेतु पाये जाते है इसलिये इन तीनो भावो को मिलाकर जो एक रूप उत्पन्न होता है उसे ही "सच्चिदानन्द" कहते है और वही हमारा ईश्वर है।

२४ प्राणसृष्टि

मन, प्राण, वाङ्मय जो परोरजा कहा गया है उसमे मन भाग से ज्ञान, वाक् भाग से [illegible] का निरूपण हुआ है इनमे तीसरा जो प्राण है उसकी सृष्टि जानना भी आवश्यक है। प्रथम तो यह प्राण, मन की इच्छा से नाना जाति का असख्य रूढतत्त्व के रूप मे उद्भूत हुआ। यह प्रत्येक [illegible] जो कि दूसरे रूढतत्व से बिना मिले पृथक् रूप धारण करते हैं इन सब को ऋषि कहते हैं। यद्यपि ऋषि प्राण ही को कहते हैं तथापि प्राण की दो अवस्थायें हैं १–रूढ, २–यौगिक। उनमे रूढ प्राण ही को ऋषि शब्द से व्यवहार होता है, इन्ही रूढ रूपी ऋषियो का यौगिक अवस्था होने पर स्वरूप परिवर्तन होता है, इसलिये उनको ऋषि नही कहते हैं, किन्तु ऋषि के पश्चात् ऋषियो के योग से पितर उत्पन्न होते हैं, फिर पितृ-प्राणो के योग से देव और असुर उत्पन्न होते हैं, उनके पश्चात् मनुष्य और गन्धर्व उत्पन्न होते हैं, ये ऋषि, पितर, देव, असुर, मनुष्य, गन्धर्व ये सब प्राण के ही भेद है। इनमे ऋषियो के भेद अनन्त होने पर भी प्राचीन विद्वानो ने जिन-जिन को पहचान कर परीक्षा करके निरूपण किया है उनमे मुख्य के नाम ये हैं—

१–भृगु	१२–अन्वेतोगण	२३–जमदग्नि
२–अङ्गिरा	१३–नारद	२४–विश्वामित्र
३–अत्रि	१४–पर्वत	२५–कश्यप
४–वशिष्ठ	१५–अयास्य	२६–कण्व
५–मत्स्य	१६–गौतम	२७–कौशिक
६–अगस्त्य	१७–घोर	२८–गृत्समद
७–पुलस्त्य	१८–प्रगाथ	२९–शयु
८–पुलह	१९–अथर्वा	३०–जरदष्टि
९–क्रतु	२०–भरद्वाज	३१–बृहस्पति
१०–मरीचि	२१–वामदेव	३२–च्यवन
११–सनकगण	२२–शुनक	३३–दक्ष

इत्यादि इन्ही ऋषियो के परस्पर योग से सोम को ग्रहण करने वाली वस्तु उत्पन्न हो जाती है जब उसमे ऊपर सोम रस भी मिल जाता है तब उसे पितर कहते हैं। इन पितरो की भी दो जातियाँ हैं १ अमूर्त जो निराकार है। २ मूर्त जो रूपवान् है इनमे अमूर्त के तीन भेद हैं–१ सोमसद् २ बर्हिषद् ३ अग्निष्वात्ता और ये तीनो वास्तव मे ३ ऋतुओ के नाम हैं–ऋतुओ मे ही सब उत्पन्न होते हैं इसलिये ऋतुओ को पितर कहते हैं। इनके अतिरिक्त ४ पितर मूर्त अर्थात् रूपवान् हैं १–[illegible] २–[illegible] ३–हविर्भुक्, ४–सुकाल। ये सातो पितर त्रिलोकी मे व्याप्त है और चन्द्रमा इनका मुख्य स्थान है।

इन्ही पितरो से देव और असुर उत्पन्न होते हैं जिनमे देवताओ के पाँच भेद हैं–१ अग्नि, २ वायु, ३ सोम, ४ आप् ५ उषा। इनमे अग्नि के ८ भेद है जिनको 'वसु' कहते हैं और वायु के ११ भेद, जिनको 'रुद्र' कहते है। इन रुद्रो से फिर दूसरे प्रकार के वायु उत्पन्न होते हैं जिनको मरुत् कहते हैं इन मरुतो के

सात-सात के सात थोक हैं अर्थात् ४६ भेद हैं और वरुण आदि १२ आदित्य के भेद हैं इनमे सव को अर्थात् ८ वसु, ११ रुद्र, ४६ मरुत, १२ आदित्य और २ अश्विनीकुमार ये सव ८२ अग्नि के ही प्रभेद हैं ये सभी देवता सूर्य से सम्बन्ध रखते हैं उन्ही के किरणो मे रहने के कारण प्रायः ये दिन मे ही पाये जाते हैं। किन्तु ये ही देवता जव रात्रि मे या अन्धकार मे आते हैं तो देवता भाव को छोडकर काले रूप मे हो जाते हैं। उनको ही असुर कहते हैं ये असुर चन्द्रमा या पृथिवी दोनो के काले भाग मे अर्थात् सूर्य की विरुद्ध दिशा में सर्वदा विद्यमान रहते हैं। देवताओ से ज्ञान की वृद्धि होती है और असुरो वल की वृद्धि होती है। असुरो की जाति आज तक ६६ पहिचानी गई है जिनमें वृत्त, नमुचि, जम्भ, वल, शम्वर आदि प्रधान है। इन देवता और असुरों के योग मे ही स्थावर जगम सव सृष्टियाँ उत्पन्न हुई हैं उनमे देवताओ की अधिकता से दैवी सम्पत्ति देखने मे आती है और असुरो की अधिकता से आसुरी सम्पत्ति जिनका वर्णन गीता आदि मे विस्तार पूर्वक है। इसी प्रकार गन्धर्व की सृष्टि है जो कि चन्द्रमा के उपग्रह होकर चन्द्रमा के चारो ओर फिरते हैं वे अभी तक २७ गिने गये है उन सव उपग्रहो के किरणो मे जो प्राण है वे भी गन्धर्व ही कहलाते है ये सव प्रकार के ऋपि, पितर, देव, असुर, गन्धर्व, ये पाचो पंचजन कहलाते हैं और ये सव प्राण के भेद है इन सव की सृष्टि उसी जगदीश्वर सच्चिदानन्द परोरजा से हुई है।

पञ्चस्कन्द

नाभि मे उठा हुआ मन, प्राण, वाक् जिसका रूप है और वेद, यज्ञ, प्रजा इन तीनो से जिसकी शरीर संस्था वनी है और वहुत से अनेक शाखावाले अनन्तग्रह जिसके चारो ओर वित्त के रूप मे विद्यमान हैं उसको हम ईश्वर कहते है। ये ऐसे ईश्वर सहस्रो से भी अधिक है इनमे ईश्वर जिसके शरीर के अन्तर्गत हमारी सत्ता है उसी का हम निरूपण कर सकते हैं। उसी प्रकार से अथवा कुछ भिन्न भाव से अन्यान्य ईश्वरो को भी जानना चाहिये।

हमारे ईश्वर में नाभि से लेकर भिन्न भिन्न वित्तो तक भिन्न-भिन्न शाखा पूरी होती है उनमे भी जिन शाखाओ मे हमारी सत्ता है उसी का हम वर्णन करेंगे। अन्यान्य शाखाओ का भेद भी उसी प्रकार अथवा कुछ न्यूनाधिक विशेष प्रकार से जानना चाहिये।

सभी शाखायें ईश्वर की नाभि से ही उठती है जो वास्तव मे ज्ञानमय ज्योति का घन है उसी स्थान से सभी शाखायें प्रतान के अनुसार चारो ओर फैलती है।

इनमें वह शाखा जिसमें हमारी सत्ता है वह पञ्चस्कन्ध का है। पहला स्कन्ध वही है जो ईश्वर की नाभि में ज्ञानमय ज्योति की रश्मि चारो ओर फैलती है। उसी शाखा मे कुछ दूर हटकर दूसरा स्कन्ध सूर्य कहलाता है जिससे प्राणमय ज्योति की रश्मि चारो ओर फैलती है उस सूर्य मे भी भिन्न दूरी के स्तर मे नाना उपशाखायें चारों ओर फैली हुई हैं जिनमे से एक उपशाखा वह है जिसमें हमारी पृथिवी है यह पृथिवी तीसरा स्कन्ध है। इसके भी चारो ओर प्रशाखा फैलती हैं जिन पर चन्द्रमा है यह चन्द्रमा चौथा स्कन्ध है। इस चन्द्रमा से भी चारो ओर सोममय रश्मियो की उपशाखा फैलती है जिन पर गन्धर्व रहता है यह गन्धर्व पांचवा स्कन्ध है। इस प्रकार पांच स्कन्ध वहुतो ने माना है किन्तु विचार

दृष्टि से देखने पर ईश्वर और सूर्य के मध्य मे एक और सूर्य जिसको 'अभिजित्' कहते है [illegible] स्कन्ध मानने से ६ स्कन्ध की शाखा हो जाती है। इनमे कितने ही विद्वान् अभिजित् स्कन्ध को मानते हुए गन्धर्व स्कन्ध को नही मानते हैं उनके मत मे भी पांच ही स्कन्ध है किन्तु जैसे सूर्य के चारो ओर के एक पृथ्वी घूमती हैं और उन पृथ्वियो के चारो ओर चन्द्रमा घूमता है इसी प्रकार चन्द्रमा के भी चारों ओर एक प्रकार के उपग्रह अवश्य घूमते हैं जिनको गन्धर्व कहते है ये गन्धर्व [illegible] होने के कारण नही दीखते किन्तु बहुतो का विश्वास है कि इन्ही गन्धर्वों के परस्पर घर्षण मे एक दूसरे गन्धर्व अपने मार्ग से च्युत होकर कभी-कभी पृथिवी तक गिरके आ जाता है और कभी आकाश मे ही विलीय-मान हो जाता है ऐसे ही गिरते हुए गन्धर्वों को उल्का या धिष्ण्या कहते हैं इन हुए छोटे-छोटे जीवों का होना भी सम्भव है, इनके पतन के साथ-साथ उन जीवो का भी नाश हो जाता है इसी कारण से भारत-वर्ष मे इन उल्का और धिष्ण्या के पतन को अमाङ्गलिक समझते हैं।

इस प्रकार छः स्कन्धो मे सूर्य और पृथिवी इन्ही दो स्कन्धो को लेकर त्रिलोकी कही जाती है जिसमे सूर्य को द्यौ लोक और पृथिवी को पृथिवी लोक कहते हुए इन दोनो के बीच के आकाश को अन्तरिक्ष के नाम से तीसरा लोक कहते हैं। चन्द्रमा गन्धर्व सहित इसी अन्तरिक्ष मे माना जाता है क्योंकि यह त्रिलोकी के अन्तर्गत है, किन्तु परोरजाः अभिजित् सहित इस त्रिलोकी मे बाहर माना जाता है अभिजित् और परोरजाः ये दोनो ही ब्रह्मलोक कहे जाते हैं। इनमे अभिजित् को कार्य ब्रह्मलोक या [illegible] कहते हैं और परोरजाः को कारण ब्रह्मलोक या परब्रह्म या उत्तम ब्रह्मलोक कहते हैं। जितने ही गन्धर्व पूगों से यह चन्द्रमा घिरा हुआ है, चन्द्र पूगो से पृथिवी घिरी हुई है, और पृथिवी पूगो से सूर्य घिरा हुआ है, इसी प्रकार सूर्य पूगो से अभिजित् और अभिजित् पूगो से परमात्मा या परोरजाः।

गन्धर्वों की श्रेणी जहा तक पूर्ण होती है वहा तक चन्द्रमा की महिमा अर्थात् प्रकाश मण्डल व्याप्त रहता है। इसी प्रकार चन्द्र श्रेणी भी पृथिवी की महिमा मे, और पृथ्वियो की श्रेणी सूर्य की महिमा मे सूर्य की श्रेणी अभिजित् की महिमा मे और अभिजित् की श्रेणी परोरजा. की महिमा मे अन्तर्गत है।

परोरजा की महिमा ज्ञानमय है, अभिजित् की महिमा प्राणमय, सूर्य की महिमा देवमय, पृथिवी की महिमा भूतमय, चन्द्र की महिमा सोममय, और गन्धर्वों की महिमा आपोमय है। इस प्रकार से सब पदार्थ इन्ही पिण्डो से उत्पन्न होकर या निकलकर इस विशाल जगत् मे सर्वत्र व्याप्त है यह ही ईश्वर की महिमा मे इन सब का समावेश होने के कारण ये सब पदार्थ परस्पर मिल जुलकर नाना प्रकार के पदार्थो को उत्पन्न करते रहते हैं।

ये सब यद्यपि अपनी अपनी महिमा मे स्वतन्त्र होते हुए भी अपने ऊपर वाली महिमा मे क्रमशः परतन्त्र है, जैसा गन्धर्व चन्द्रमा मे, चन्द्रमा पृथिवी मे, पृथ्वी सूर्य मे, सूर्य अभिजित् मे और अभिजित् परोरजाः के परतन्त्र हैं, अथवा अभिजित् आदि सब परोरजा के आधीन हैं। इसी प्रकार सूर्य आदि सब अभिजित् के, पृथिवी आदि सब सूर्य के, चन्द्र आदि पृथिवी के और केवल गन्धर्व चन्द्रमा के आधीन है।

जिस प्रकार परोरजाः मे नभ्य आत्मा विराजमान है उसी प्रकार वही एक नभ्य आत्मा अग्नि, सूर्य, पृथिवी, चन्द्र और गन्धर्व मे भी विराजमान होकर भिन्न सृष्टि की रचना करता है और प्रतिरूप, आत्मगुण, शरीर और वित्त इस प्रकार चतुर्व्यूह भिन्न-भिन्न रूप से सभी स्थानो मे उत्पन्न करता है। इस प्रकार छः स्कन्धो के छः चतुर्व्यूहो से अथवा यो कहिये कि अनन्त स्कन्धो के अनन्त चतुर्व्यूहो से भरी हुई परोरजाः की महिमा अथवा परोरजा का चतुर्व्यूह ही ईश्वर का स्वरूप सिद्ध है।

यह परोरजा ईश्वर, ज्ञान, क्रिया, और अर्थ इन तीनो से पूर्ण रहने के कारण सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और विश्वमूर्ति कहकर प्रसिद्ध है। यदि इस ईश्वर की स्तुति करते हुए भक्तिवश परमेश्वर कहे तो मिथ्या न होगा क्योंकि मुख्य एक परमेश्वर की आत्मा ही सब ईश्वर और सब जीवो के रूप मे प्रकट हुई है।

ईश्वर की पाँच आत्माये

प्रथम हम जीवका वर्णन करते हैं, इस जीव मे ५ कोश हैं, कोश वह है कि जिससे किसी वस्तु का (आवरण) ढकना हो, जैसे तलवार का म्यान, इसी प्रकार जीव आत्मा भी जिन म्यानो के भीतर रहता है उन्ही को जीव के पांच कोश कहते हैं। इन्ही पांच कोशो से चयन होकर आत्मा से शरीर तक जीव का स्वरूप बना हुआ है। अर्थात् प्रत्येक प्राणी के शरीर को लेकर भीतर आत्मा तक ६ भाग किये गये हैं, जिनमे सब के भीतर वाला एक आत्मा ही मुख्य द्रव्य है उसी के आवरण रूप ५ कोश एक के ऊपर एक चुने हुए हैं जिनमे सबसे बाहरी आवरण को अन्नमय कोश कहते है, जिसका नाम शरीर है। उसके भीतर क्रम से प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश इस प्रकार आत्मा के शरीर सहित ५ कोश हैं।

इस प्रकार जैसे जीव ५ कोशो का बना हुआ है वैसे ही ईश्वर मे भी ५ कोशों की सम्भावना की जाती है, किन्तु उसके अन्नमय कोश को 'वसुधान कोश' कहते हैं, इस कोश का स्वरूप डिब्बे के अनुसार है, जिसकी पृथिवी तो पैंदा है और द्यौ उसका ढक्कन है, अन्तरिक्ष उसका मध्य है और दिशायें उसकी कोर हैं। ब्रह्माण्ड के सारे पदार्थ उसमे रक्खी हुई वस्तु हैं। जीव के शरीर मे जिस प्रकार तीन लोक और प्राण समूह तथा देवता और भूत मण्डल परिव्याप्त हैं उसी प्रकार ये सब पदार्थ ईश्वर के 'वसुधान कोश' मे भी परिव्याप्त है। और ये सब पदार्थ ईश्वर के वसुधान कोश मे जीवो के अन्नमय कोश मे सर्वदा आया करते हैं और साथ ही यहां से वहां जाया करते हैं, ऐसा ऐतरेय ऋषि ने कहा है।

वह वसुधान कोश ईश्वर का वास्तविक शरीर है जिसमे ईश्वर का प्राण, मन, विज्ञान, आनन्दमय कोश जीव के अनुसार ही विद्यमान है और इसी ईश्वर के शरीर मे जीव शरीर के अनुसार आत्मा भी रहती है जिनका वर्णन क्रम से किया जाता है—

(१) परज्योति=चिदात्मा = परोरजा=परात्मा इस ईश्वर के 'परात्मा'—'सूर्य', 'चन्द्र', 'पृथिवी' देवता और भूत' ये सभी इस ईश्वर की आत्मा हैं। इनमे पृथिवी, चन्द्र और सूर्य इन तीनो से तीन लोक समझे जाते हैं किन्तु इस त्रैलोक्य मे बाहर जो 'परज्योति' है वह भी इन तीनो लोको मे होता हुआ जीव मे पहुँचता है, वह परज्योति इस त्रैलोक्य में और उसमे बाहर भी सर्वत्र व्याप्त होने के कारण

सबका साधारण (साधारण आत्मा) प्रातिस्विक (खास आत्मा) माना जाता है वह जिस [illegible] की आत्मा है उसी प्रकार जीव की भी आत्मा है। तात्पर्य यह है कि ईश्वर के शरीर में [illegible] रूप से सर्वत्र व्याप्त होती हुई वह चिदात्मा ईश्वर की मुख्य आत्मा होती है इसी '[illegible]' [illegible] के कारण जिस प्रकार मनुष्य के बुद्धि और मन उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार ईश्वर के भी उसी [illegible] के कारण बुद्धि और मन उत्पन्न होते हैं किन्तु विशेषता यह है कि मनुष्य के अनुसार ईश्वर की बुद्धि परिमित नही है और उसमे भूल नही हैं, सदा एक रूप परिपूर्ण तथा विज्ञान बना रहता है। ईश्वर का मन मनुष्य के अनुसार परिवर्तनशील नही है, तात्पर्य यह है कि मनुष्य के शरीर मे 'चिदात्मा' की मात्रा उसके शरीर के आयतन के अनुसार बहुत ही अल्प है इसी कारण भूल या मिथ्या ज्ञान आदि दोष आ जाते हैं, किन्तु ईश्वर उस चैतन्य से परिपूर्ण है वह ईश्वर मे सदा एक रूप बना रहता है इसीलिये उसमें भूल या मिथ्या ज्ञान होना असम्भव है यही चैतन्य आत्मा ईश्वर की प्रथम आत्मा है।

(२) क्षेत्रज्ञात्मा=विज्ञानात्मा जिस प्रकार जीव आत्मा कई इन्द्रियो से युक्त है उसी प्रकार ईश्वर के भी भिन्न-भिन्न बहुत सी इन्द्रियाँ हैं किन्तु वे इन्द्रियाँ मनुष्य के अनुसार न होकर भिन्न-भिन्न शक्ति घन के रूप मे संभव होते है, जैसा कि सूर्य, चन्द्र, बृहस्पति, शनि आदि जितने पिण्ड भिन्न-भिन्न रूप से इस ब्रह्माण्ड अन्तर्गत विद्यमान हैं, ये सब भिन्न-भिन्न रूप से एक-एक शक्तिघन हैं इन सब मे जो-जो शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं उन सब का प्रभाव उस सच्चिदानन्द ईश्वर की चेतना मे अवश्य ही पड़ता है क्योंकि ये सब ईश्वर के शरीर के अन्तर्गत हैं इसीलिये इन सब को ईश्वर की एक-एक इन्द्रियाँ कह सकते हैं। जिस प्रकार मनुष्य के प्रत्येक इन्द्रिय अपने स्वरूप से जड है यहाँ तक कि आंख कान को, कान त्वचा को, परस्पर अनुभव नही करते तथापि उन सबके ज्ञान का प्रभाव शरीर विशिष्ट वाले आत्मा पर पडने से सब का समूह रूप मनुष्य चेतन कहलाता है इसी प्रकार ईश्वर के शरीर मे भी सूर्य, चन्द्र आदि एक-एक पिण्ड चेतन नही है किन्तु उन सब की शक्तियाँ मिलकर सब के समूह रूप ईश्वर को चेतन अवश्य बनाते है इसी से हमारा विश्वास है कि जिस प्रकार हम एक चेतन है उसी प्रकार हमारा ईश्वर भी जो कि ब्रह्माण्ड रूप से सर्वदा अविचल भाव से स्थिर है वह भी चेतन है। विशेषता यह है कि जीव के शरीर मे इन्द्रियो की शक्ति अत्यन्त अल्प मात्रा में होने के कारण जीव अल्पज्ञ है किन्तु ईश्वर के शरीर मे सभी शक्तियाँ अप्रतिहत रूप से सदा पूर्ण विद्यमान रहती है इसीलिये ईश्वर 'पूर्णप्रज्ञ' कहलाता है।

ये सब शक्तियाँ जिस जिस पिण्ड से उत्पन्न होती है वे सब पिण्ड उन शक्तियों का एक एक क्षेत्र है और इन सब क्षेत्रो के समूह से बना हुआ यह शरीर भी एक क्षेत्र है इस क्षेत्र के भीतर सभी अवयव प्रत्यवयवो मे परिव्याप्त एक विज्ञान को क्षेत्रज्ञ कह सकते हैं। क्षेत्र के भेद से विज्ञान भिन्न हो जाता है क्योंकि एक क्षेत्र का अध्यक्ष वही एक विज्ञान है जो विज्ञान उस क्षेत्र को [illegible] करता है उसको क्षेत्रज्ञ आत्मा कहते हैं। इस विज्ञान को शरीर का अधिष्ठाता होने से [illegible] हैं और इसी इन्द्र के अधीन होने के कारण भिन्न शक्तिघनो को इन्द्रियाँ कहते हैं।

जीव के शरीर के अनुसार ईश्वर के शरीर मे भी तीनो लोको को ही [illegible] भी एक ही सूर्य अधिष्ठाता होता है इस कारण यह सूर्य ही ईश्वर के शरीर मे [illegible]। [illegible]

प्रकार के आग्नेय देवता है वे सब सूर्य मे सन्निविष्ट हैं और वे सब देवता एक केन्द्रवर्ती इन्द्र के अधीन मे हैं इसलिये सब देवता ही ईश्वर की इन्द्रियो की वृत्तियां हो सकते है। इस जगत् मे जहां जो कुछ देवताओं के व्यापार दीखते है वेही सब ईश्वर के व्यापार हैं अथवा ईश्वर अपने ज्ञान से जैसी इच्छा करता है वैसा ही उनके इन्द्रिय रूप देवताओं की वृत्तियां देखने मे आती हैं और यही सब ईश्वर के ज्ञानानुसार जगत् की वृत्तियां हैं यही ईश्वर का ज्ञान क्षेत्र आत्मा है या ईश्वर के क्षेत्रआत्मा का यही काम है।

(३) महान् आत्मा=षोड़शीआत्मा। जिस प्रकार जीव की या ईश्वर की क्षेत्रज्ञात्मा बुद्धि है उसी प्रकार जीव या ईश्वर का जो मन है उसे ही 'महान्' कहते हैं। महानात्मा ईश्वर की चित्त प्रकृति है—चित्त मे जितने विचार या विकार उत्पन्न होते रहते हैं उनकी प्रकृति ही 'मन' है—जैसी जिसकी प्रकृति या स्वभाव होता है वैसे ही उसके मन मे वृत्तियां उत्पन्न होती रहती है। जैसे कोई मनुष्य शान्त प्रकृति या कोई उग्र प्रकृति का होता है इसी प्रकृति को महानात्मा कहते है। यह प्रकृति दो प्रकार की होती है—१ उद्‌वुद्ध, २ निगूढ़ (पोशीदा) उद्‌वुद्ध उसी को कहते हैं कि जिसकी विकार रूप वृत्तियां जीवन दशा मे सर्वदा परिवर्तन होती हैं किन्तु निगूढ प्रकृति के अनुसार प्राणी की शरीर संस्था बनती है, जैसे हाथ से अन्न खाने की प्रकृति रखने वाले मनुष्य का होठ मुलायम होता है किन्तु चाबने के लिये भीतर सख्त दात होते है किन्तु जिसकी प्रकृति मुख से ही तोडकर खाने की होती है, ऐसे पक्षियो के दात की मात्रा होठ पर आकर सख्त चोंच उत्पन्न हो जाती है तात्पर्य यह है कि जिस जीव की शरीर गठन जैसी है वह उसकी अवश्य ही अपनी प्रकृति के अनुसार है उसकी आत्मा जिस प्रकार उठना, बैठना, खाना, पीना आदि अपनी प्रकृति के अनुसार चाहती थी वैसे ही उसके शरीर के सब अङ्ग प्रत्यङ्ग बन जाते है। बस इस प्रकार शरीर के गठन पर प्रभाव डालने वाली प्रकृति ही निगूढा महान् आत्मा है। इसीलिये गीता मे कहा है—

> "सर्व योनिषु कौन्तेय, मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
> तासां ब्रह्म महद्‌योनि, रहं बीज प्रदः पिताः ॥१॥
> ममयोनि महद् ब्रह्म, तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
> सम्भवः सर्व भूतानां, ततो भवति भारत" ॥२॥

जबकि प्रत्येक जीव की आकृति इस महानात्मा के प्रभाव से होती है तो उसी के अनुसार ईश्वर की भी आकृति का उसी महानात्मा के अनुसार सिद्ध होना सम्भव है। ईश्वर की आकृति स्वभाव से ही वर्तुलवृत्त है। इसीलिये कहना होगा कि ईश्वर का महानात्मा वर्तुवृत्त है। ईश्वर भी अनन्त हैं उनकी भी एक योनि कही जा सकती है उस योनि का मूल भी कोई प्रकृति अवश्य होगी वही ईश्वर की महानात्मा है।

जो सूर्य के अल्पल्प रस का और जो चन्द्रमा के अत्यल्प रस का सूत्रात्मा के द्वारा जीव मे आधान होने पर आत्मा उत्पन्न होती है उसकी मात्रा अवश्य ही अल्प हो सकती है किन्तु इस ईश्वर मे वह सूर्य या चन्द्रमा पूर्ण रूप मे स्वयं विद्यमान है इसलिये ईश्वर की बुद्धि और ईश्वर का मन दोनो ही अधिक मात्रा मे परिपूर्ण रूप से माने जाते हैं।

(४) भूतात्मा, (कर्मात्मा) क्षेत्रज्ञात्मा और चन्द्रमा से महानात्मा जिस प्रकार उत्पन्न होती है उसी प्रकार इस पृथ्वी से भूतात्मा की सृष्टि होती है किन्तु यह पृथ्वी जिस प्रकार अपने रस से [illegible] है उसी प्रकार इसमे सूर्य और चन्द्र के भी रस सम्मिलित है, अर्थात् सूर्य, चन्द्र और पृथिवी [illegible] रस पृथिवी मे हैं इसलिये जिस पृथिवी के रस से हमारा भूतात्मा बनता है उसमे पृथिवी रस के [illegible] रिक्त चन्द्रमा और सूर्य का रस भी सम्मिलित है। इसी कारण भूतात्मा क्रम से विकास [illegible] रूपों मे परिणत हो जाता है। सबसे प्रथम भूतात्मा का स्वरूप वैश्वानर है किन्तु वैश्वानर का परिपाक होने पर उसी मे तैजस आत्मा का विकास होता है। तैजस आत्मा का परिपाक होने पर उसमें से प्राज्ञ आत्मा का विकास होता है इसलिये जीवो के तीन वर्ग हैं किन्तु जीवों में केवल वैश्वानर ही भूतात्मा है जैसा कि हीरा, पन्ना, माणिक, घट, पट इत्यादि और कितने ही जीवों में वैश्वानर तैजस यह दोनों भूतात्मा है, जैसे वृक्ष लतादि में तथा कितने ही जीवों में वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ ये तीन भूतात्मा हैं। जैसे पशु, पक्षी, मनुष्यादि इन तीनों आत्माओं में वैश्वानर आत्मा का सम्बन्ध पृथिवी रस से है, तैजस का चन्द्रमा तथा वायु से है और प्राज्ञ का संबंध सूर्य से है, ये दोनों सूर्य, चन्द्र आकाश से साक्षात् नहीं आते किन्तु पहले से आकर जो पृथिवी में सम्मिलित हो चुके हैं वे पृथिवी रस के साथ ही पृथिवी में [illegible] मिलाते हैं। इसीलिये इनका स्वरूप महानात्मा और क्षेत्रज्ञात्मा से भिन्न प्रकार का होता है।

यह भूतात्मा भी जिस प्रकार जीवों में देखा जाता है उसी प्रकार ईश्वर में भी होना सम्भव है— विशेषता केवल इतनी ही है कि जीव में कहीं तीन कहीं दो एक ही भूतात्मा है, किन्तु ईश्वर में यह तीनो ही भूतात्मा नित्य अविकल रूप से विद्यमान रहते हैं क्योंकि उन तीनों रसों से पर्याप्त यह पृथिवी सम्पूर्ण ही ईश्वर में विद्यमान है किन्तु पृथक् व्यवहार के लिये इन तीनों भूतात्माओं का भिन्न नामों से व्यवहार किया जाता है वैश्वानर को वैश्वानर या विराट्, तैजस को हिरण्यगर्भ और प्राज्ञ को सर्वज्ञ कहते हैं। ये तीनों ही आत्मा वास्तव में अग्नि, वायु और इन्द्र इन्ही तीनों रूपों में जीव और ईश्वर दोनो स्थानों मे हैं। अग्नि, वायु और इन्द्र इन तीनों के रूप से पृथकता होने पर भी ईश्वर के शरीर में अर्थात् ब्रह्माण्ड में अन्यून: अनतिरिक्त (न कम न ज्यादा) वृत्ति से रहते हैं इसी कारण तीनों मिलकर एक ही रूप ईश्वर का सिद्ध होता है इसीलिये ईश्वर को जैसे वैश्वानर या विराट् कहते हैं। वैसे ही हिरण्यगर्भ और सर्वज्ञ भी कहते हैं। इस वैश्वानर का स्वरूप केकय देश के राजा अश्वपति ने ऋषियों से कहा था और उनसे भी पहले वशिष्ट ऋषि, भारद्वाज ऋषि वत्स और मूर्धन्वान् ने भी विस्तार पूर्वक वर्णन किया है और हिरण्यगर्भ का वर्णन प्रजापति ऋषि के पुत्र किसी हिरण्यगर्भ ऋषि ने किया है। यह हिरण्यगर्भ (आत्मा) वायु के प्रभाव से इस त्रिलोकी के सब पदार्थो की रचना करता है।

(५) सूत्रात्मा—सूर्य, चन्द्र, आदि सभी प्रकाशों को प्रकाश करनेवाले जो सच्चिदानन्द मूर्ति से इस त्रैलोक्य के बाहर महाब्रह्माण्ड के मध्य में विराजमान होकर अपनी किरणों को चारों ओर संपूर्ण आकाश में फैला रक्खा है वे उनकी रश्मियां सूत्र कही जाती हैं, उन्हीं सूत्रों में अनंत्य त्रैलोक्य और त्रैलोक्य के अनन्त पदार्थ बंधे हुऐ हैं। इस जगत् में जो जहां कुछ पदार्थ हैं वे सब सत्य और अमृत इन दोनों के मिलाव से बने हुऐ हैं। उन सब को सदा सर्वदा अपनी रश्मि रूपी सूत्रों में पिरोकर उस सच्चिदानन्द भगवान् ने अपने शरीर में धारण कर रक्खा है।

जैसे त्रैलोक्य, सूत्र में बँधे हुए जिस सच्चिदानन्द के चारो ओर फिरते है उसी प्रकार प्रत्येक त्रैलोक्य के तीनों लोक भी उसी सूत्र से बन्धे हुए होने के कारण क्रम से किसी सिलसिले मे जमे हुए हैं उसी सिलसिले में इधर-उधर नही होते ।

ये सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी ग्रादि पिण्ड भी जो एक ईश्वर के अङ्ग हैं ये भिन्न-भिन्न एक-एक उपेश्वर कहलाते है । ये सब उपेश्वर भी इसी सूत्र से आपस मे बद्ध होकर उस सूत्र के द्वारा ही अपने ईश्वर के साथ बँधे हुए है । व्यष्टि (एक) या समष्टि (सब) से जगत् के सम्पूर्ण पदार्थ इसी एक ईश्वर से पकडे हुए है ।

हमारा यह शरीर भी बहुत से भिन्न-भिन्न प्रकार के भूतो से तथा भिन्न-भिन्न तन्त्र रखते हुए अनेक देवों से बना हुआ दीखता है । इसमे इन सब भूतो के और देवो के जो अपने भिन्न-भिन्न तन्त्र रखते है उन सब तन्त्रों के मेल से जो शरीर के एक तन्त्र कायम होता हुआ दीखता है वह भी उसी सूत्र के प्रभाव से है ।

इस शरीर मे प्राण वायु जो सूर्य से आता है तथा अपानवायु जो पृथ्वी से आता है ये दोनो रस एक जगह बंधकर इस शरीर मे वैश्वानर अग्नि उत्पन्न करते हैं और दोनो एक के साथ एक बँधकर अलग नही होते यह भी सूत्र का ही प्रभाव है ।

इस शरीर मे क्षेत्रज्ञआत्मा जो विशेष कर शिर से सम्बन्ध रखता है, तथा महान् आत्मा जो शुक्र या रक्तसे सबन्ध रखता है इन दोनो आत्माओ का हृदय मे रहते हुए भूतात्मा के साथ जो घनिष्ट सबन्ध है यह भी सूत्रात्मा के प्रभाव मे हैं ।

इस शरीर में व्यानवायु इस सूत्रात्मा के प्रभाव से सब अंग प्रत्यङ्गो को सिलसिलेवार जमाये हुए रखता है और साथ ही प्रज्ञामात्रा, प्राणमात्रा और भूतमात्रा इन तीनो को भी आपस मे बांध रखता है ।

जिस प्रकार इस शरीर मे उसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड मे भी ईश्वर इसी सूत्र के प्रभाव से सत्य को अमृत के साथ बांधकर भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थों की सृष्टि करता है और सब पदार्थों को उसी सूत्र मे पकड कर चारों ओर जिधर जैसा चाहता है वैसा फिरता है, इसीसे यह ससार इस प्रकार चल रहा है ।

सूर्य, चन्द्र और पृथ्वी का परात्माके साथ और परस्पर भी योग दीखता है और तीनों लोको का परस्पर सम्बन्ध होकर एक त्रैलोक्य का भाव जो दीखता है यही सूत्रात्मा का मुख्य कर्म है । यह सूत्रात्मा एक प्रकार का प्राण वायु है जिसके द्वारा ये तीनों लोक और सभी भूत सिलसिलेवार परस्पर मे बन्धे हुए होकर स्थित है । इन सब पदार्थों मे परस्परका परस्पर के साथ एक बलवान आकर्षण है, इसी आकर्षण को सूत्रात्मा कहते हैं । यह आकर्षण किसी भी वस्तुका निजका धर्म नहीं है क्योकि धर्म से ही कोई वस्तु कुछ वस्तु बनी है इसलिये एक धर्म की इस जगत् मे एक ही वस्तु हो सकती है । यदि एक धर्म दो या अधिक वस्तुओ मे पाया जाय तो अवश्य ही विश्वास करना चाहिये कि वह शक्ति या धर्म उन वस्तुओं मे किसी एक का भी निज धर्म नहीं है । निज धर्म अव्यभिचारी होता है जो उस वस्तु को छोड

कर दूसरी किसी वस्तु मे पाया नही जाता, परन्तु यह आकर्पण शक्ति सभी भिन्न जाति पदार्थों मे समान रूप से पाया जाता है, इसलिये कहना होगा कि जैसे किसी वस्तु मे गर्मी प्रवेश करती है उसी प्रकार यह आकर्पण भी निज धर्म न होकर बाहर से आकर जगत् के सम्पूर्ण पदार्थो मे परिव्याप्त है यदि कोई प्रश्न करे कि यह आकर्पण कहाँ से आया है तो उत्तर मे कहना होगा कि इन तीनो लोको मे पर जो सच्चिदानन्द ईश्वर की मुख्य आत्मा परोराज है उसी ये रश्मियाँ सपूर्ण जगत् मे व्याप्त है। और प्रत्येक पदार्थ को आपस मे बांधने के कारण (इसी रश्मि मे इन सब पदार्थों के गुथे रहने के कारण उन परोराज की रश्मि को सूत्र कहते हैं) यही सूत्र प्रत्येक वस्तु में आकर्पण रूप मे हमे दीखते है।

ससार के पदार्थों के परस्पर बन्धन को यदि हम देखें तो विदित होता है कि जगत् के वर्तमान सभी भौतिक पदार्थ आप् अर्थात् पानी से ओत प्रोत हैं और यह 'आप्' वायु मे, वायु अन्तरिक्ष मे, अन्तरिक्ष गन्धर्वलोक मे, गन्धर्वलोक आदित्यलोक मे, यह लोक फिर चन्द्रलोक मे, यह नक्षत्र लोक मे, फिर यह देवलोक मे, यह फिर इन्द्रलोक मे, यह फिर प्रजापतिलोक मे और यह ब्रह्मलोक मे ओत प्रोत है। जिस मे जो व्यापक है वह उसमे ओत प्रोत है। इस प्रकार ओत प्रोत होना उसी सूत्रात्मा का काम है। द्यौलोक से ऊपर और पृथ्वी से नीचे और द्यौ, पृथ्वी के बीच मे जो जहाँ कुछ है और जो पहले हो चुका है और आगे को होगा यह सब आकाश मे ओत प्रोत है और यह आकाश अक्षरपुरुष मे और यह अक्षर परमेश्वर मे ओत प्रोत है।

क्षेत्रज्ञात्मा, महानात्मा, परमात्मा और तीन प्रकार के भूतात्मा इन सब को जिस प्रकार इस सूत्रात्मा ने जीव शरीर मे बांध रक्खा है उसी प्रकार ये चारो आत्मा ईश्वर के शरीर मे भी उसी सूत्रात्मा के प्रभाव से परस्पर सबद्ध होकर सर्वत्र परिव्याप्त हैं और जीव की अपेक्षा ईश्वर मे अधिक मात्रा मे है।

ईश्वर की उपासना

आराधना को उपासना कहते हैं, अपनी आत्मा मे परमात्मा के धर्म को प्रवेश करने के उपाय का नाम ही उपासना है।

यह उपास्य परमात्मा दो प्रकार का है एक परमेश्वर दूसरा ईश्वर, किन्तु हम ईश्वर के अन्तर्गत है। ईश्वर के द्वारा ही हम जीवो का सबन्ध परमेश्वर से हो सकता है। साक्षात् परमेश्वर से नहीं हो सकता इसीलिये ईश्वर की उपासना न करके साक्षात् परमेश्वर की उपासना हम नही कर सकते क्योंकि हम अवर अर्थात् अवर आत्मा है और परमेश्वर परमात्मा है। अवर का पर से सबन्ध करने के लिये बीच मे अक्षरआत्मा से सबन्ध करने की आवश्यकता है। यह अक्षरआत्मा जिसे ईश्वर कहते है 'पर' और 'अवर' दोनो से सबन्ध करने के कारण 'परावर' कहा जाता है और इसी अक्षर को अवर और पर दोनों के मध्य मे होने के कारण 'सेतु' भी कहते है। उसी के द्वारा अवर (इस पार) मे रहने हुए जीवो का पार मे विद्यमान परमेश्वर से सबन्ध होना सम्भव है और पार मे विद्यमान परमेश्वर के धर्म भी इस ईश्वर रूपी 'सेतु' के द्वारा अवर के जीवो मे आते है इसी धर्म्म के आने के उपाय को उपासना कहते है इस उपासना मे जीव को ईश्वर रूपी सेतु के साथ ही सबन्ध करना आवश्यक है क्योंकि उसी ईश्वर के द्वारा

परमेश्वर का धर्म जीवों मे आता है इसीलिये साक्षात् परमेश्वर की उपासना न करके हम ईश्वर की उपासना करते हैं।

उपासना को प्रचलित भाषा मे भक्ति भी कहते हैं इसका कारण यही है कि ईश्वर परमेश्वर की ही भक्ति अर्थात् एक भाग है इसलिये किसी मनुष्य की भक्ति अर्थात् हस्त पाद आदि किसी भी शरीर के भाग को पकड़ने से मनुष्य का पकड़ना सम्भव हो जाता है। उसी प्रकार परमेश्वर की भक्ति रूप ईश्वर के ग्रहण करने से परमेश्वर का पकड़ा जाना सभव है इसीलिये हम ईश्वर की उपासना करके भक्ति के द्वारा परमेश्वर की ही उपासना कर लेते हैं और उसी भक्ति के द्वारा परमेश्वर का अंश हम जीवो में आ जाता है उसी को भक्ति का फल कहते हैं और यही एक प्रकार की प्रतीक उपासना है।

अब उस ईश्वर के भी किसी न किसी प्रतीक की ही उपासना अर्थात् अवलम्बन करते हुए हम ईश्वर के भक्त बनते हैं अर्थात् ईश्वर के अङ्ग मे किसी मनोयोग क्रिया के द्वारा अपनी आत्मा को चिपका कर ईश्वर का ही अङ्ग या भाग हम बनते हैं। इस प्रकार भक्ति से उपासना होने के कारण उपासना को भक्ति भी कहते हैं।

जो शब्द किसी समुदाय के लिये आता है उसका उस अङ्ग मे भी प्रयोग होता है जैसे पूँछ को स्पर्श करता हुआ गौ के स्पर्श करने का अभिमान करता है, किसी मकान के कौने मे प्रवेश करता हुआ सारे नगर मे प्रवेश करने का अभिमान करता है इसी कारण वैश्वानर, हिरण्यगर्भ और सर्वज्ञ इन तीनो मे से किसी आत्मा से प्रेम करना अथवा ३३ देवताओ मे से किसी देवता मे प्रेम करना ईश्वर मे प्रेम करने के बराबर है क्योंकि यद्यपि एक एक आत्मा अथवा एक एक देवता साक्षात् ईश्वर नही है किन्तु ईश्वर का एक एक अङ्ग है तथापि ईश्वर का अङ्ग होने के कारण ही प्रत्येक उन सब आत्मा या देवताओं मे ईश्वर शब्द का प्रयोग किया जा सकता है इसीलिये अपनी इच्छानुसार इनमे से किसी एक अङ्ग की उपासना करना अर्थात् प्रेम करना ईश्वर की उपासना कही जा सकती है इसी कारण दीर्घतमा ऋषि ने अग्नि, वायु, आदित्य आदि कितने ही देवताओ का नाम लेकर उन सब को एक ही ईश्वर का स्वरूप होना कहा है। वह वेद की ऋचा यह है—

"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु, रथो दिव्याः ससुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति, अग्नियमं मातरिश्वान माहु:॥
तदेवाग्निस्तदादित्य, स्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेवा शुक्रं तद् ब्रह्म, ता आपः स प्रजापतिः"॥

जो जहा कुछ इस जगत मे ज्ञान की मात्राए है तथा बल की या अर्थ मात्राए है ये सब एक ईश्वर मे है अथवा यो समझिये कि यही सब मिल कर एक ईश्वर का रूप सिद्ध होता है इसलिये वह ईश्वर सम्पूर्ण जगत् का आधार सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है जब हम किसी की प्रार्थना करते हैं वह किसी न किसी शक्ति की ही प्रार्थना है और वे सब शक्तियाँ ईश्वर के अङ्ग हैं इसलिये किसी रूप मे

-किसी की प्रार्थना की जाय वह सब ईश्वर की प्रार्थना होती है—ईश्वर की एक रूप की यदि प्रसन्न [illegible] जाय तो उससे हमारी ही आत्मा प्रसन्न होती है प्रसन्नता का अर्थ स्वच्छता है जैसे कि पानी में से सब प्रकार के मैल दूर कर दिये जायें अथवा सब तरह की लहर सर्वथा बन्द हो जायें तो उस [illegible] पानी को प्रसन्न कहते हैं।

इसी प्रकार हमारी आत्मा मे से तमोगुण हटा दिया जाय और रजोगुण भी हटा दिया जाय तो जल के अनुसार वह आत्मा निर्मल और प्रशान्त हो जाती है और उसी को आत्मा की प्रसन्नता कहते हैं इस प्रसन्नता मे ज्ञान की मात्रा स्वभाव से ही बढ जाती है जिससे संसार का क्षोभ हटकर आत्मा के निज का स्वाभाविक आनन्द प्रकट होने का अवसर मिलता है और यही आनन्द प्राप्ति परम पुरुषार्थ है और यही ईश्वर की उपासना का फल है।

यद्यपि यह ईश्वर निरिन्द्रिय है अर्थात् जीव के अनुसार पृथक् पृथक् उसके नाक, कान, मुख आदि इन्द्रियाँ नही है-तथापि वह अत्यन्त उल्वण चेतन होने के कारण सर्वेन्द्रिय है अर्थात् उसके प्रत्येक अङ्ग से सब इन्द्रियो का काम करता है—

सर्वतः पाणिपादम् तत् सर्वतोऽक्षिशिरो मुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके, सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

इसी से वह सर्वशक्ति और सर्वज्ञ कहा जाता है सर्वशक्ति के होने के कारण तामस, राजस और सात्विक सभी प्रकार के भिन्न-भिन्न स्वभावो से उसकी आराधना हो सकती है।

जो कि गण्ड की नदी के तीर पर होने वाली शालग्रामी शिला है वह ईश्वर की साक्षात् प्रतिमा हो सकती है क्योंकि ईश्वर का मुख्य आत्मा परोरजा है वह मण्डल मूर्ति है और उसमे किसी प्रकार का वर्ण न होने के कारण कृष्ण माना जाता है। यद्यपि कृष्ण भी दो प्रकार का है एक वर्ण दूसरा अवर्ण इनमे परोरजाः अवर्णकृष्ण है किन्तु अवर्णकृष्ण प्रतिरूप ग्रहण करने योग्य जगत् मे कोई भी स्थूल मूर्ति नही है इसीलिये वर्णकृष्ण के द्वारा ही उस का उपलक्षण किया जाता है परन्तु वर्णकृष्ण वाले शालग्राम से भी उस अवर्णकृष्ण का ही तात्पर्य है और सूर्य का बिम्ब हिरण्मय कहा जाता है वह इस परोरजा के गर्भ मे है इसलिये ईश्वर की आत्मा हिरण्यगर्भ भी कही जाती है उसी प्रकार शालग्राम भी हिरण्यगर्भ है जिस प्रकार परोरजा के शरीर मे अनेक शाखा से सूत्रात्मा काम करता है उसी प्रकार शालग्राम के भी भीतर बहुत सी रेखाओ से सूत्र का चिह्न लक्षित होता है। तात्पर्य यह है कि ईश्वर के रूप का सादृश्य बहुत कुछ इस शालग्राम मे पाया जाता है इसलिये ईश्वर के रूप को हृदय पर लाने के लिये यह शालग्राम शिला योग्य साधन हो सकता है यदि इसको देखते हुए ईश्वर पर बुद्धि निरवच्छिन्न मनोयोग से लगाई जावे तो उसी को ईश्वर की उपासना कहते हैं इस उपासना से मन का ईश्वर के रूप मे [illegible] अभ्यास करने से मन शुद्ध होता है और उससे ज्ञान का विकास होने से मुक्ति होती है।

हमारी भूतात्मा जिसे जीव कहते है वह वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ के भेद से तीन प्रकार का है–इन तीनों के मूलभूत ईश्वर की तीन आत्मा है जिन्हें विराट, हिरण्यगर्भ, सर्वज्ञ कहते हैं। यद्यपि ये तीनो मिलकर एक ईश्वर है तथापि इन तीनो को पृथक् ईश्वर कहना भी अनुचित नही हैं इनमे उपासक लोग विराट् को विष्णु, हिरण्यगर्भ को ब्रह्मा और सर्वज्ञ को शिव कहकर पृथक्-पृथक् उपासना करते हैं किन्तु ये तीनों ही ईश्वर के प्रतीक होने के कारण किसी एक की उपासना से भी ईश्वर की पूरी उपासना हो सकती है किन्तु यदि तीनों मूर्तियो को मिलाकर तीनो की अभेद रूप से एक उपासना की जाय अर्थात् एक पर ही बुद्धि लगाई जाय तो वह उत्तम होगा।

ये तीनों पृथक्-पृथक् बुद्धि में लाये जाये अथवा एक रूप से उपासना किये जाये तो दोनो प्रकार से उपासना होने पर भी इन की उपासना अध्यात्म मे ही की जाती है न कि अधिदैवत मे, तात्पर्य्य यह है कि यह ईश्वर मुख्य रूप से वसुधान कोश मे अर्थात् ब्रह्माण्ड शरीर मे ही समझे जाते हैं इसी को अधिदैवत कहते हैं किन्तु उनकी उपासना करने से अधिक फल नही होता क्योंकि जो ईश्वर का भाग हमारे शरीर से बाहर है हमारे शरीर मे न आकर दूसरे किसी के शरीर मे प्रविष्ठ होता है, अथवा अन्तरिक्ष मे ही रहता है, उस भाग से हमारा सम्पर्क न होने के कारण उनकी उपासना अधिक लाभदायक नही है इसलिये जो ईश्वर का भाग व्यापक होने के कारण हमारे शरीर मे प्रविष्ट है वह हमारे जीवात्मा का अधिष्ठाता होकर हमारे शरीर का सचालन करता है उसकी उपासना से हमारे शरीर मे अधिक मात्रा से ईश्वर के अश का प्रवेश होता है और उसमे मन के संयोग से मन शुद्ध होता है और मन की ज्ञानशक्ति बढती है जिससे कषाय दूर होने के कारण हृदय ग्रन्थि के बन्धन का ढीला होना सहज हो जाता है जिससे निः श्रेयस की प्राप्ति होती है यही उपासना का फल है।

इस जगत् मे जो जहां कुछ है सब ईश्वर ही ईश्वर है। यहा तक कि हम भी ईश्वर के एक अंग हे किन्तु हमारी शक्ति की मात्रा परिमित और अत्यल्प होने के कारण ईश्वर के संपूर्ण रूप को सहसा ग्रहण नहीं कर सकते इसलिये आवश्यक है कि ईश्वर के किसी प्रतीक का हृदय में ग्रहण करें। ईश्वर की भक्ति के द्वारा सम्पूर्ण ईश्वर का साक्षात् करना ही ईश्वर की उपासना है।

यदि किसी मनुष्य को कोई देखना चाहे तो सम्भव है कि उस के शिर पर या उसके छाती पर या पाव पर उसकी दृष्टि अवलम्बित हो। तात्पर्य्य यह है कि किसी न किसी अङ्ग को ही देखकर सम्पूर्ण उस मनुष्य के देखने का अभिमान करता है न कि उस मनुष्य के बाहर शरीर अस्थि, मांस, नाड़ी वगैहरा सम्पूर्ण अङ्ग प्रत्यङ्ग को देखने का कोई साहस कर सकता है इसी प्रकार ईश्वर मे भी उसके किसी एक अङ्ग के द्वारा ही मनुष्य अपनी बुद्धि को प्रवेश करा सकता है इसीलिये विष्णु अर्थात् वैश्वानर आत्मा, ब्रह्मा, अर्थात् हिरण्यगर्भ आत्मा, शिव अर्थात् सर्वज्ञात्मा इन तीनों मे से किसी एक को भी ग्रहण करके अथवा इन शरीरवर्ती और किसी भी देवता का ग्रहण करके उपासना करने से ईश्वर की उपासना हो सकती है।

दूसरा मत यह है कि किसी समुदायक की भक्ति में आत्म समर्पण करके लीन होना अर्थात् उसके आश्रित होना उपासना से तात्पर्य्य है जैसे किसी महासमुद्र मे एक छोटी सी नमक की डली डाल दी

जावे तो वह पिघल कर सूक्ष्म होकर भी सम्पूर्ण समुद्र मे व्याप्त नही हो सकती तथापि समुद्र के जिस थोडे से प्रदेश मे वह व्याप्त हुई है उतने से ही समुद्र मे लीन होना कहा जा सकता है इसी प्रकार आत्मा जीवात्मा यदि विश्वव्यापी ईश्वर के सर्वाङ्ग मे व्याप्त न भी हो तथापि जितनी भी भक्ति से उसने आत्म-समपर्ण किया है उतने से ईश्वर मे लय होना कहा जा सकता है।

उपासना का तीसरा प्रकार जो प्रचलित सम्प्रदाय मे गन्ध पुष्पादि समपर्ण के द्वारा पूजन करना है इसका तात्पर्य यह है कि जिस आत्मा का मन ससार व्यवहार मे प्रवृत्त होने के कारण [illegible] है उसका मन बहुत विषयो मे फैलने के कारण दुर्बल हो रहा हो तो उसको ससार के विषयो से हटाकर एक ईश्वर मे वृत्ति की स्थिरता के लिये ससार के सब व्यवहार को एक ईश्वर की ओर लगाकर ईश्वर के अवलम्बन पर मन को ठहराना है यदि इसके द्वारा मन एक ईश्वर पर विश्रान्त हो जावे तो वह ईश्वर की उपासना हो सकती है।

दूसरी बात यह है कि इस जगत् मे जो वस्तु हमे अधिक प्रिय है उनमे मन के द्वारा स्वभावत मेरी आत्मा बसी रहती है इसलिये उन २ प्रिय वस्तुओ को ईश्वर मे समपर्ण करने से उन वस्तुओ के साथ फैला हुआ हमारा आत्मा भी समर्पित हो जाता है इस प्रकार यदि हम अपने सर्वस्व को ईश्वर के लिये समपर्ण करदें तो सभव है कि मेरी आत्मा का बहुत सा अश समर्पित हो जावे इस प्रकार ईश्वर मे जीवात्मा का आत्म समर्पण करना ही उपासना कही जाती है।

एक यह भी मत है कि जगत् मे जीव के लिये दो मार्ग हैं प्रवृत्ति और निवृत्ति जिनमे प्रवृत्ति कर्मप्रधान है और निवृत्ति ज्ञानप्रधान है। ज्ञान और कर्म दोनो ईश्वर के रूप हैं किन्तु दोनो का आधान एक साथ नही हो सकता इसलिये प्रथम वेद ने कर्मकाण्ड का विधान किया है और अन्त मे ज्ञानकाण्ड का उपदेश दिया है। ज्ञानकाण्ड मे सम्पूर्ण कर्मो का सर्वथा परित्याग करना पडता है, किन्तु जीवित दशा मे कर्मो का सर्वथा परित्याग कर देना असभव है इसीलिये प्रवृति मार्ग अर्थात् कर्ममार्ग से निवृतिमार्ग अर्थात् ज्ञानमार्ग पर चढने के लिये मध्य में दोनो से युक्त एक मध्यममार्ग का आलम्बन करना आवश्यक हो जाता है। इसी को उपासनामार्ग कहते है इस मार्ग मे पूर्ववत् सब प्रवृत्ति करते हुए भी वे सब प्रवृत्तियां निवृत्ति के लिये की जाती हैं जिस प्रकार किसी पात्र के मैल छुडाने के लिये मिट्टी से माजते हैं उसी प्रकार एक ईश्वर का अवलम्ब न करके सब प्रकार की प्रवृत्ति करना भी निवृत्ति के लिये हो जाता है—यही उपासना का रहस्य है।

अथ जीवदर्शनम्

परमेश्वर और ईश्वर से जीव धर्म्मभेद

जिसमे अविद्या के द्वारा क्लेश, कर्म और कर्मों का विपाक (फल) ये तीनो अपना आशय नियत करें उसी को जीव कहते हैं। किन्तु ईश्वर इन तीनो से अस्पृष्ट है–अर्थात् क्लेश, कर्म और विपाक इन तीनो के आशय मे और इन तीनो के द्वारभूत अविद्या मे जिसका कदापि स्पर्श नही होता उसी पुरुष को ईश्वर कहते हैं, वह विद्या का निधि है और छ उर्मियो से रहित है। शोक, मोह, जरा, मृत्यु, क्षुधा, पिपासा इन छओ को ऊर्मी कहते है। जीव मे ये छओ ऊर्मिया देखी जाती है किन्तु ईश्वर मे इनका सर्वथा अभाव है। इनके अतिरिक्त ईश्वर मे काम और सङ्कल्प ये दोनो सत्य हैं अर्थात् जिन भूत या विद्यमान पदार्थों की ईश्वर कामना करता है वे पदार्थ उसी क्षण उपस्थित हो जाते हैं और भविष्यत् के लिये जैसे करने का संकल्प करता है वह वैसा ही तत् क्षणात् हो जाता है। इस प्रकार ईश्वर अष्टगुणी कहलाता है और इन्ही आठ गुणो मे ईश्वर से जीव मे भेद है। इन दोनो के अतिरिक्त जो तीसरा परमेश्वर है उसमे न ईश्वर की तरह विद्या है न जीव की तरह अविद्या है इन के अतिरिक्त उस परमेश्वर मे न सम्भूति है न नाश है न उसमे जीव की तरह उर्मि है और न ईश्वर की तरह सकल्प और काम है।

परमेश्वर नीचे ऊचे पूरब पश्चिम उत्तर–दक्षिण चारो ओर सर्वत्र व्याप्त है जो जहा कुछ है सब वही परमेश्वर है, उसी मे अनन्त ईश्वर और अनन्तानन्त जीव उत्पन्न हो हो कर नष्ट होते रहते हैं। तात्पर्य यह है कि परमेश्वर असीम है और उसमे ईश्वर तथा जीव ससीम है। अखिल पदार्थों के कर्म रूप नाम जो जहा कुछ है और वेद, यज्ञ तथा अग्नि, सोम, यम, आप रूपी चारो प्रजायें सब उसी मे उत्पन्न विनष्ट हुआ करती हैं, उसी मे ईश्वर मे अवतीर्ण हो कर ईश्वर से जीव मे अवतीर्ण होती है और फिर व्युत्थान दशा मे जीव मे ईश्वर मे और ईश्वर से फिर उसी परमेश्वर मे सक्रान्त होती हैं। जिस प्रकार सूर्य की किरण पानी मे अवतीर्ण हो कर प्रतिविम्ब का रूप धारण करती हैं फिर व्युत्थान दशा मे वह प्रतिविम्ब सूर्य किरणों मे लीन हो जाता है। यद्यपि सब कुछ इसी परमेश्वर मे है परमेश्वर से अलग कभी कहीं कुछ नहीं है तथापि ये सब पदार्थ परमेश्वर की ही आत्मा मे निर्भर नही रहते किन्तु परमेश्वर के भीतर अनन्तानन्त नये व्यूह उत्पन्न होते हैं जिनको ईश्वर कहते है। जिन की नाभि मे अनिरुक्त आत्मा और दूसरा प्रतिष्ठा वा (अर्थात् सब शरीर मे फैला हुआ) आत्मा से सबन्ध रखते हुए भिन्न-भिन्न पदार्थ उत्पन्न विनष्ट होते हैं इसी प्रकार इन ईश्वरो मे भी नये-नये व्यूह उत्पन्न होते हैं जिन को जीव कहते है। इन जीव आत्माओ मे भी कितने ही पदार्थ सबन्ध रखते हुए उत्पन्न विनष्ट होते रहते हैं। कितने ही पदार्थ ईश्वर मे परमेश्वर मे आये हैं किन्तु अन्य कितने ही पदार्थ ईश्वर की दशा मे ही नये उत्पन्न होते रहते हैं। इसी प्रकार जीव मे भी परमेश्वर और ईश्वर मे आये हुये पदार्थों के अतिरिक्त इस जीव दशा मे ही कितने ही पदार्थ उत्पन्न होते हैं जिन की उत्पत्ति ईश्वर की आत्मा से नही थी। इतना होने पर भी सब जीव की आत्मायें ईश्वर की आत्मा मे और ईश्वर की आत्मायें परमेश्वर से उत्पन्न होने

के कारण सब पदार्थों का सबन्ध परमेश्वर कहा जा सकता है। अर्थात् देवगण, भूतगण [illegible] लोक और इन सब के सूत्र ये सब ईश्वर की दशा मे उत्पन्न होने के कारण [illegible]। परमेश्वर की भक्ति न होने पर भी परमेश्वर मे रहते अवश्य हैं। इसी प्रकार [illegible] तीन धातु और मल, नाडी, मस्तिष्क आदि शरीर सस्था, दो प्रकार के कर्म, उन के तीन प्रकार के [illegible] अविद्या, पाच प्रकार के क्लेश, छ प्रकार की ऊर्मया ये सब पदार्थ परमेश्वर तथा [illegible] इन दोनो की भक्ति नही है किन्तु जीव की ही भक्ति कही जाती है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रदीपों का प्रकाश या किरण आकाश मे फैले रहने पर भी वे गृहाकाश की भक्ति नही है, किन्तु भिन्न-भिन्न [illegible] भिन्न २ प्रदीप (दीपक) की भक्ति होने के कारण उसी प्रदीप की उत्पत्ति विनाश के साथ [illegible] विनष्ट होते रहते हैं। उसी प्रकार जीव ईश्वर में भी समझना चाहिये।

२ जीव का मुख्य स्वरूप लक्षण

आत्मा जोकि मन, प्राण, वाक्, इन तीनों का समुच्चय रूप है। उस में मन [illegible]। चित् का अर्थ चुनाव करने वाला है। यह चित् अपनी इच्छावृत्ति मे प्राण अर्थात् बल [illegible] के द्वारा वाक् पर चिति करता है। अर्थात् वाक् के ऊपर मन के व्यापार मे [illegible] अन्य वाक् का प्रचय (चुनाव) करता है। वही एक वाक् के, ऊपर दूसरी वाक् की चिति [illegible] है। यह चिति ३ बार होती है। बीजचिति, देवचिति, भूतचिति अर्थात् आत्मा के निज [illegible] वाक् के ऊपर जो प्रथम वार अन्य वाक् का प्रचय हुआ उस मे बल इन दोनो वाको [illegible] विलक्षण एक रूप देकर कृतकृत्य हो गया, वह स्वरूप बीजचिति के नाम मे प्रथम चिति [illegible] सिद्ध होती है। फिर इस आत्मा के मन की दूसरी इच्छा उठने पर दूसरा बल उन दोनो [illegible] ग्रन्थि पर तीसरी वाक् प्रचय करता है वह दूसरी चिति देवचिति के नाम से कही जाती है। इसी प्रकार तीसरी बार अन्य वाक् का प्रचय होने पर तीसरी चिति भूतचिति के नाम से प्रसिद्ध होती है। इस प्रकार इन तीन चितियो की चिति जो वाक् पर होती है उसका करने वाला आत्मा का मन [illegible] इसलिये वह चित् कहलाता है। इन तीन चितियो से बनी हुई चिति को ही माया कहते हैं। माया का अर्थ आश्चर्यमय अद्भुत तत्व है। जिसका वास्तव कारण समझ मे न आवे किन्तु प्रमाण से सिद्ध हो। ये तीनो चितियाँ माया इसलिये कही जाती है कि इन चितियो के लिये अथवा [illegible] चितियो के लिये आत्मा मे सर्वप्रथम इच्छा क्यो उठी और तीन ही बार इच्छा क्यो हुई, [illegible] इच्छा क्यो नही हुई इत्यादि-प्रश्न हो सकते हैं किन्तु इनका उत्तर कदापि दिया नही जा सकता [illegible] परीक्षा करने से जिस प्रकार जितनी चितिया स्पष्ट भासती हैं वे प्रमाण सिद्ध होने मे [illegible] जा सकती है। इसलिये जबकि ये दीखती है किन्तु इनका कारण नही जाना जाता [illegible] ये तीनो ही एक माया है। (माया नाप करने वाली, अपरिच्छिन्न करने वाली माया कहलाती है।) [illegible] प्रकार इस माया के इन तीनो भागो को हम तीन नाम से कहेंगे। बीजचिति, देवचिति और भूतचिति ये तीनो ही क्रम से आत्मा का आवरण होते है, इसलिये प्रथम आवरण बीजचिति को कारण शरीर, दूसरे आवरण देवचिति को सूक्ष्मशरीर और तीसरे आवरण भूतचिति को स्थूल शरीर कहते हैं।

इनमें प्रथम आवरण बीजचित में तीन भाग हैं। मन और प्राण के मिलने से एक नया रूप विज्ञानमय प्राण है, इसी को विद्या कहते हैं। इसी प्रकार वाक् और प्राण मिलने से दूसरा नया रूप उत्पन्न होता है जिसे ही अविद्या कहते हैं जो कि वास्तव में एक प्रकार का वाङ्मय प्राण है। इन दोनो प्राणो में क्रम से प्रथम में मन की और दूसरे में वाक् की मात्रा बढी हुई है किन्तु यदि प्राण में अन्य दोनो मात्रायें कम हो अर्थात् प्राण की मात्रा अधिक हो अर्थात् तीनो मात्रा सम हो तो उस मिलाव से सिद्ध हुए रूप को कर्म कहते हैं। यही कर्म तीन प्रकार का है—सम मात्रा होने से सत् कर्म्म और अल्प ज्ञान मिले हुए प्राण को विकर्म्म तथा अल्प-वाक् मिले हुए ज्ञान मात्रा रहित प्राण को अकर्म्म कहेगे। तात्पर्य यह है कि प्रथम बीजचिति के मन, प्राण, वाक् इन तीनो के विकार से विद्या, कर्म्म और अविद्या ये तीन रूप सिद्ध होते है ये तीनो आत्मा के अर्थात् शुद्ध मन, प्राण, वाक् के प्रथम आवरण होते है इसलिये इन्ही को कारण शरीर कहते हैं और इन्ही तीनो को साख्य वाले प्रकृति कहते हैं। प्रकृति का अर्थ कारण है। ज्ञानात्मक सब ही विकार विद्या से और क्रियात्मक सब ही विकार कर्म्म से और अर्थात्मक सब ही विकार अविद्या से उत्पन्न होते हैं। इसीलिये ये तीनो ही आत्मा की भोग सामग्री की प्रकृति कहलाते हैं। इनमे विद्या को सत्व गुण और कर्म्म को रजोगुण और अविद्या को तमोगुण नाम देकर साख्य शास्त्र मे व्यवहार किया गया है। किन्तु जिस आत्मा का यह बीजचिति प्रथम आवरण होता है उसी को साख्य मे पुरुष कहा है। इसके प्रथम आवरण विद्याकर्म और अविद्या के सम्बन्ध से ही यह आत्मा जीव कहलाता है। अर्थात् भूतचिति और देवचिति इन दोनो आवरणो के मिट जाने पर भी जब तक यह बीजचिति आत्मा से न हटे तब तक आत्मा आवरण से बद्ध रहता है और परिच्छिन्न होने से जीव या ईश्वर कहलाता है। परन्तु यदि किसी उपाय से यह बीजचिति का आवरण भी आत्मा से दूर हो जाय तो वह आत्मा आवरण से मुक्त होकर व्यापक हो जाता है परिच्छिन्न न रहने से जीव या ईश्वर न कहला कर परमेश्वर कहलाता है और संसार के बीजरूप उस बीजचिति के नष्ट होने से देवसृष्टि था भूत सृष्टि भी उस आत्मा मे नही होने पाती इसलिये उस आत्मा का बन्धन फिर कभी नही होने पाता इसी को अपवर्ग मोक्ष कहते हैं। किन्तु इसके विरुद्ध जब तक आत्मा मे बीजचिति का बन्धन है तब तक उस आत्मा को जीव कहते हैं यही जीव का मुख्य स्वरूप लक्षण है। भूतचिति के या स्थूलशरीर के नष्ट होने को मौत (मृत्यु) कहते हैं, देवचिति या सूक्ष्म शरीर के नष्ट होने मे सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य मुक्ति होती है किन्तु बीजचिति या कारणशरीर के नष्ट होने से अपवर्ग मुक्ति होती है जो सब से बढकर मुक्ति है स्थूलशरीर के नष्ट होने से मृत्यु, सूक्ष्मशरीर के नष्ट होने मे ईश्वर और कारण शरीर नष्ट होने से परमेश्वर होता है।

२ जीव का लक्षण— अविद्या

जीव की आत्मा के मन, प्राण वाक् मे से प्राण की वृति छ प्रकार की हैं। उत्पत्ति, विनाश, स्थिति, गति, अविद्या और विद्या ये छओ वृत्तिया यद्यपि प्राण की है तथापि इनका निमित्त मन है मन के संयोग के तारतम्य से ही प्राण मे उपयुक्त छ भेद उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार प्राण के सयोग के तारतम्य से मन मे भी भिन्न-भिन्न प्रकार के वृत्तिभेद उत्पन्न हो जाते है और ये पाच है—प्रमाण, निद्रा, स्मृति, विपर्यय, विकल्प। किसी वस्तु के भाव को अर्थात् सत्ता का अवलम्बन करती हुई मन की वृत्ति

को प्रमाण कहते हैं और अभाव को अवलम्बन करती हुई वृत्ति को निद्रा कहते हैं और [illegible] ([illegible])
जन्य सस्कार को अवलम्बन करती हुई वृत्ति स्मृति है और दूसरे भाव पर बैठ कर यदि मन दूसरे भाव
की वृत्ति उत्पन्न करे तो वह भ्रम है इसको ही विपर्यय कहते हैं। और किसी भाव का [illegible] न करे
तो उसे विकल्प कहते हैं। इन मन की पांच वृत्तियो मे से विपर्यय को भ्रम कहा है। [illegible]
अवस्था मे क्लेश कहते हैं। यह क्लेश पांच प्रकार के हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, [illegible]
तम को अविद्या कहते हैं अर्थात् अन्य वस्तु को अन्य वस्तु के रूप मे ग्रहण करना ही अविद्या है ॥१॥
मोह को अस्मिता कहते हैं अर्थात् जहां दृश्य और दृष्टि इनका भेद न हो अर्थात् देखना हुआ भी किसी
वस्तु को मैं देखता हूँ इस बात का ज्ञान न हो उसको अस्मिता कहते है ॥२॥ सुख को देते हुए किसी
अर्थ के साथ बँध जाना ही राग है। राग मे सुख की मात्रा ही हमारे मन को किसी वस्तु के साथ इस
प्रकार बांधती है कि जिससे मन परतन्त्र हो जाता है, अपनी स्वतन्त्रता को खो बैठता है और जिस वस्तु
के साथ बँधता है उससे कुछ लाभ नही उठाता किन्तु बन्धन के कारण अन्य वस्तुओं से [illegible]
कुछ लाभ नही उठा सकता, इसीलिये राग भी एक प्रकार का दोष है ॥३॥ इसी प्रकार दुःख को देते
हुए किसी अर्थ का तम से बँधना द्वेष है ॥४॥ अनिष्ट की सभावना से भय पाकर अपनी आत्मा के
बचाव के लिये छिपाने का प्रयत्न करना अभिनिवेश है ॥५॥ राग मे काम, लोभ, तृषा आदि होते हैं, ये
तीनो राग के ही विकार है। इसी प्रकार क्रोध, मद, मत्सरता ये तीनों द्वेष के विकार हैं और मोह,
अविवेक, अनवधान आदि अस्मिता के रूप हैं। ये सब मिलकर जीव आत्मा के बन्धन के लिए 'पाश'
(फांसी) कहे जाते हैं। इन्ही के द्वारा जीव आत्मा सर्वदा फँसा रहता है।

इस प्रकार जो पाँच क्लेश कहे गये हैं उन्ही से कर्म के आशयो की और कर्म के विपाको की उत्पत्ति
होती है। जिन मे कर्म दो प्रकार के हैं और कर्मो के विपाक तीन प्रकार के हैं। उन्ही कर्म और विपाकों
के योग से यह आत्मा बँध कर क्लेश पाता है। इसीलिये इन के मूलभूत अविद्या आदि पांचो को क्लेश
कहते है। इनमे अस्मिता, अभिनिवेश, राग, द्वेष ये चारो ही अविद्या से उत्पन्न होते हैं। अविद्याजन्य
हैं इसीलिये सक्षेप मे इन को अविद्या ही कहते हैं। इन सब क्लेशो की फिर पांच अवस्थाएं हैं—उदार,
तनु, प्रसुप्त, छिन्न, विप्लुष्ट और ये सब क्लेश जब पूर्ण ओज मे रहते हैं तो बन्धन आदि अपने कार्यों
को पूर्ण रूप से दिखाते हैं उसी अवस्था को उदार कहते हैं और ये सब यदि सूक्ष्मता की दशा मे [illegible]
हो जावें तो इन से जो कुछ बन्धनादि कार्य उत्पन्न होते हैं वे शिथिल होते हैं और वे दूसरे प्रबल कर्मो के
प्रभाव से दब जाते हैं, ऐसी अवस्था को तनु कहते है। और जब कि दूसरे किसी कर्म के दबाव से [illegible]
प्रभाव सर्वथा नष्ट हो जाय किन्तु इनकी जड बनी रहे और दबाव हटते ही ये फिर प्रबल हो जावें तो
ऐसी दबी हुई, सो जाने की अवस्था को प्रसुप्त कहते हैं और यदि ज्ञानशक्ति के प्रभाव से इनकी शक्ति ही
निर्मूल करदी जाय तो इनकी निज की सत्ता रहने पर भी ज्ञान का दबाव हटाने पर भी इन से कोई हानि
उत्पन्न नही होती जिस प्रकार जौ, गेहू, धान, आदि अन्न के बीजो को एक बार अग्नि मे तपा देने से उन
की उगने की शक्ति जाती रहती है। उन को जमीन मे बोने पर भी अंकुर उत्पन्न नहीं होते। इसी
प्रकार इन क्लेशो के जीव आत्मा मे रहने पर भी ज्ञानाग्नि से तप्त होने के कारण इन मे बन्धन की
उत्पादक शक्ति जाती रहती है, इसीलिये जीवनमुक्त की आत्मा मे सब कर्म करते हुए भी इन [illegible]

कोई भी फल संस्कार उत्पन्न नहीं होता। ऐसी जली हुई दशा को विप्लुप्ट कहते हैं। किन्तु यदि ज्ञान की प्रतिष्ठा से अथवा कर्म के भोग से कर्म सर्वथा ही निर्मूल नष्ट हो जाय तो उसे छिन्न कहते है। इसी दशा में जीव आत्मा को अशेष कर्म बन्धनो से सर्वथा मुक्त होकर परमेश्वर वा ब्रह्मता हो जाती है इस प्रकार उपरोक्त पांचों क्लेशों की पांच अवस्थायें होती रहती हैं।

उन्हीं क्लेशों से सत्व, रज, तम इन तीनो गुणो का आत्मा में अधिकार उत्पन्न होता है और उन्ही गुणों के अधिकार से फिर उसमे कारण कार्य का सिलसिला जारी हो जाता हे। कर्म से उत्पन्न कुछ अदृष्ट अतिशय, आत्मा मे संयुक्त हो जाते हैं। उन अतिशयो के द्वारा फिर कर्म उत्पन्न होता है और कर्मो से फिर दूसरे क्लेशों का सिलसिला जारी हो जाता है, इस प्रकार एक कर्म से दूसरे कर्म का अथवा प्रथम क्लेश से उत्तर क्लेश के उत्पत्ति विनाशक क्रम का चक्र अनादि काल से इस जीव आत्मा मे जारी हुआ दीखता है। यह सब से प्रथम चक्र कब प्रारम्भ हुआ यह कहना तो असभव है। किन्तु जीव आत्मा मे क्लेश पर क्लेश के सिलसिले का चक्र अवश्य देखते में आता है। वह चक्र जिस क्रम से बदलता है वह यहां ऊपर दिखलाया गया है।

क्लेश विशेष के द्वारा ही कर्म का आशय उत्पन्न होता है और क्लेश विशेष से ही कर्म का विपाक भी उत्पन्न होता है। कर्म का विपाक तीन प्रकार है—

१ किसी जाति विशेष मे जन्म लेना, २ जन्म लेकर नियत समय तक ठहरना जिसे आयु कहते हैं और ३ जब तक आयु रहे तब तक सुख या दुःख का भोगना अर्थात् जन्म, मृत्यु और इन दोनो के बीच का जीवन ये तीनों ही कर्म के विपाक कहलाते हैं। इस प्रकार जाति, आयु, और भोग इन तीनो के अतिरिक्त और कोई भी कर्म का विपाक नही है। किन्तु जिस प्रकार तुष निकालने पर धान के बोने से अङ्कुर उत्पन्न नही होता उसी प्रकार कर्मो की भी ज्ञान के द्वारा शक्ति नष्ट कर देने पर वह कर्म फिर अपने तीनों विपाको को उत्पन्न नही करता। जिस प्रकार धान के उगने के लिये तुष (भूस) सहकारी होता है उसी प्रकार कर्म से कर्मविपाक कहाने के लिये ये कर्मों के ऊपर क्लेश का आवरण भी आवश्यक है। अज्ञानी लोगो के स्वभाव मे ही कर्मो पर क्लेश का आवरण उत्पन्न विनष्ट होता रहता है इसलिये उनकी मुक्ति कदापि नहीं होती। जाति, आयु, भोग, ये तीनो ही सिलसिलेवार एक के पीछे दूसरे उन मे उत्पन्न होते रहते हैं किन्तु आत्मा के ज्ञान होने पर यह क्लेश का आवरण कर्मो पर से निकल जाता है इसलिये ज्ञान के साथ कर्मों के रहने पर भी विपाक उत्पन्न करने की शक्ति जाती रहती है इसलिये आत्मा जाति, आयु, भोग से छुटकारा पाकर बन्धन मुक्त हो जाता है।

ये पांचो क्लेश कर्माशय और विपाक आशय ये सब अविद्या के द्वारा ही जीव सम्बन्धी मन पर किसी कारण से उत्पन्न हो गये हैं, इन की स्थिति अविद्या के रहने तक अवश्य रहती है किन्तु इस अविद्या का विद्या से नाश होना प्रत्यक्ष दीखता है। उससे सभव है कि यदि विद्या का बल किसी प्रकार बढ़ाया जाय तो इस से अविद्या का पूर्ण नाश होने पर जीव का जीवपना सर्वथा मिट जावे और वह विद्या के प्रभाव से ईश्वर हो जावे।

क्लेश कर्म्म विपाकाशयै रपरा मृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः ॥
(पातञ्जल—योगसूत्र) ।

जो कुछ हम देखते हैं उसमे पृथक् पृथक् तीन भाव किये जा सकते हैं। द्रष्टा दृश्य और दृष्टि, इनमे द्रष्टा सदा एक रूप ही रहता है किन्तु दृश्य नाना प्रकार के बदलते रहते हैं और [illegible] उनकी दृष्टियां भी भिन्न भिन्न कही जाती हैं यहा प्रश्न यह उठता है कि इन दृष्टियों में जो भिन्न-भिन्न दृश्य अन्तर्गत होते हैं वे कहा से आ जाते हैं? उत्तर इस प्रश्न का यह है कि कोई वस्तु वास्तव में [illegible] है। किन्तु वस्तु का रूप ही दृष्टि से गृहित होकर होकर हमारी आत्मा में आता है और [illegible] के भेद से भिन्न भिन्न वस्तुओ की हम कल्पना कर लेते है। उन वस्तुओं के बाहर रहने पर भी हमारी आत्मा में केवल उनके रूप ही प्रवेश करते हैं किन्तु उन रूपो का अधिष्ठान वस्तु [illegible] ही ज्यो की त्यो ठहरी रहती है परन्तु उन वस्तुओ मे ये रूप प्रायः बदलते रहते हैं जो काष्ठ पहले [illegible] रहता है जलाने पर वही काला कोयला हो जाता है और अधिक जलाने पर सफेद भस्मी हो जाती है। यह काला रूप उसमे कहा से आया और सफेद होने पर कहा चला गया यही प्रश्न है तो इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यह कहीं से नही आते और न कही जाते हैं केवल यह आत्मा ही नाना विविध रूपो मे बदलता रहता है। यदि मान लिया जाय कि हमारे ज्ञान के बाहर भिन्न-भिन्न वस्तु [illegible] विद्यमान है। उन पर ही हमारी दृष्टि आक्रमण करती है। जब वे वस्तुए हमारी दृष्टि की सीमा में आ जाती है तो भी कहना होगा कि उन से दृष्टि के द्वारा सम्बन्ध होने पर द्रष्टा अर्थात् हमारी आत्मा ही उनके रूपो मे परिवर्तित होकर भिन्न प्रकार का ज्ञान उत्पन्न करती है। इस प्रकार द्रष्टा का दृश्य हो जाना और इस प्रकार एक द्रष्टा का भिन्न भिन्न अनेक दृश्य हो जाना और दृष्टि मे द्रष्टा और दृश्य का विपर्यय होना यही एक प्रकार का आत्मा मे बन्ध कहा जा सकता है, क्योंकि यद्यपि विचार करने में हम दृढ विश्वास करते है कि वहा द्रष्टा ही दृश्य हो गया है, द्रष्टा के अतिरिक्त कोई भी वस्तु हमारी आत्मा मे प्रविष्ट नही हुई है तथापि आश्चर्य से कहना पडता है कि हमारी व्यवहार बुद्धि और [illegible] कह रही है कि द्रष्टा से दृश्य भिन्न है। अर्थात् भिन्न भिन्न वस्तुओ को हम देख रहे हैं और इन [illegible] में द्रष्टा, दृश्य और दृष्टि ये इन तीनों की त्रिपुटी इस प्रकार प्रतीत होती है कि जिसमें इन तीनों की भिन्नता मे कुछ भी संशय नही रहता। बस इस स्थान मे जो इन तीनो की एकता प्रतीत [illegible] शक्ति है वही मेरी आत्मा मे विद्या का भाग है और जिससे कि ये तीनो भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं वह मेरी आत्मा मे अविद्या का भाग है। विद्या और अविद्या दोनो ही मेरी आत्मा में रहने के कारण हम व्यवहार दृष्टि से प्रत्येक ज्ञान मे तीन भाग देखते है और उन्ही मे विचार दृष्टि से एकता को भी [illegible] है। वास्तव रूप मे एकता ही के रहने पर भी जो तीन का भेद ज्ञान मे आता है वही अविद्या का वास्त-विक रूप है और यही अविद्या हमारी आत्मा का बन्धन है जिसके द्वारा एक ही हमारी [illegible] रूपो से बँधकर भिन्नता को धारण कर लेती है तथापि जगत् से बाहर भी वस्तु [illegible] जगत् के रूप मे आ जाता है। अर्थात् द्रष्टा होकर दृश्य के रूप मे आ जाना है और [illegible] कहते है इसलिये द्रष्टा होने के कारण जो जगत् न था सो दृश्य के रूप मे होने से [illegible] कहलाता है।

अथवा सिद्धान्त रूप से हम यहां दूसरा मत दिखायेंगे। ज्ञान से बाहर किसी वस्तु की भी सत्ता है जिस का ज्ञान होता है इस प्रकार ज्ञान से भिन्न ज्ञेय की सत्ता मानने की आवश्यकता नही क्योंकि कोई भी वस्तु है या नहीं है इसका साक्षी केवल ज्ञान ही कहा जा सकता है। अर्थात् जब कुछ दीख आता है तब हम वस्तु का होना मानते हैं, नही दीखता है तो न होना मानते हैं, तब किसी की सत्ता ज्ञान के ही अधीन कहनी पडेगी तो ऐसी दशा मे हमं कह सकते हैं कि कोई वस्तु है यह भी मेरा ज्ञान है और वस्तु नहीं है यह भी मेरा ज्ञान ही है। तात्पर्य यह है कि हम अपने ज्ञान ही से सारे जगत् का होना समझ रहे हैं और जो किसी के ज्ञान मे नहीं आया वह वस्तु ही नही है, क्योकि हम किसी वस्तु के होने में प्रमाण लेते हैं तो वह प्रमाग अपने या और किसी के ज्ञान ही को प्रमाण मे पेश करके उस वस्तु की सत्ता सिद्ध करते हैं तो इससे यह सिद्ध हुआ कि जिसका ज्ञान नही उसकी सत्ता भी नही इस प्रकार जब कि वस्तु की सत्ता ज्ञान के ही अधीन है और ज्ञान मे ही प्राप्त होती है तो पानी के बुलबुले के समान ज्ञान की भीतर वाली सत्ता को भी क्यो न ज्ञान ही माना जाय। इस पर यदि कोई प्रश्न करे कि यदि वस्तु न होती तो ज्ञान मे ज्ञान से भिन्न भिन्न दो वस्तुओ को एक ही ज्ञान कैसे दिखा सकता? क्योकि जब ज्ञान एक रूप है और ज्ञान के अतिरिक्त कोई वस्तु नही है तो भिन्न भिन्न प्रकार के दृश्य न दीखकर सर्वदा एक ही प्रकार का ज्ञान बना रहता तो इस प्रश्न के उत्तर मे हम स्वप्न का दृष्टान्त देंगे। यह सबको विश्वास है कि स्वप्न मे सिवाय मेरी आत्मा के जो कुछ दीखता है वे सब कुछ भी नही रहते केवल हमारी ही आत्मा जो ज्ञानरूप है वही सब दृश्यो के रूप मे परिवर्तित होकर आप ही अपने को नाना वैचित्र्य मे दीखता है तो इस से सिद्ध हुआ कि नाना दृश्य के रूप मे आने की शक्ति इस द्रष्टा मे है तो इसी शक्ति के बल से जाग्रत् मे भी कहा जा सकता है कि जो कुछ द्रष्टा से भिन्न नाना दृश्य दिखाई दे रहे हैं ये सब भी द्रष्टा की ही करामात है। अर्थात् हमसे बाहर अनन्तानन्त पदार्थों का जो हमे ज्ञान हो रहा है ये ज्ञानपुञ्ज ही मेरी आत्मा है वही मैं हूं और मुझ से अतिरिक्त कोई भी वस्तु कहीं भी कुछ नही है। यह मेरी विचार दृष्टि है और यही सत्य विद्या है किन्तु इतना होने पर भी जो मैं अपने से भिन्न अपने शरीर से बाहर नाना पदार्थों की सत्ता मान रहा हूँ यही अविद्या है अर्थात् विपर्यय है, भ्रम है, या मिथ्या ज्ञान है और इसी से आत्मा को क्लेश है, इसीलिये अविद्या को क्लेश कहते हैं। द्रष्टा, दृष्टि और दृश्य इन तीनो मे केवल एक दृष्टि ही तत्त्व है इसलिये अद्वैत ही कहा जा सकता है। यही दृष्टि पश्चात् द्रष्टा और दृश्य के भेद से दो खण्ड की हो जाती है। वह भाग जहाँ से दृष्टि आरम्भ होती है द्रष्टा कहलाता है किन्तु जो भाग बाहर के पदार्थ से अनुरक्त होकर बाहर की चीज के रूप मे अपना रूप पलटता है वही भाग दृश्य है। इस प्रकार द्रष्टा और दृश्य दोनो एक ही दृष्टि के दो खण्ड कहे जा सकते हैं। इन दोनो मे भेद हम प्रत्यक्ष देखते है किन्तु जब ये दोनो ही एक दृष्टि ही के रूप हैं तो इनमें भेद कहाँ से कैसे आगया अर्थात् इनका भेदक कौन है यह स्पष्ट नही जाना जा सकता इसीलिये इसको अविद्या नाम से एक पदार्थ मानना पडता है और वही अविद्या ने एक दृष्टि के द्रष्टा और दृश्य का भेद उत्पन्न कर दिया है यह संभवतः कहा जा सकता है। यहाँ यदि कोई प्रश्न करे कि द्रष्टा और दृश्य ये दोनो स्वतः ही भिन्न भिन्न दो वस्तु है इनका वास्तविक द्वैत ही भेदक हो सकता है तो फिर अविद्या क्यों मानी जाती है तो हम उत्तर में कहेंगे कि द्रष्टा और दृश्य ये दोनो भेद वास्तविक नही है क्योकि

आत्मा की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मोह मूर्छा, मुक्ति इन छः अवस्थाओं मे सर्वत्र ही [illegible] वनी रहती है किन्तु उनमे केवल जाग्रत् अवस्था मे ही दृश्य का भाग दृष्टि मे अनुरक्त हो [illegible] दृष्टि के शेष भाग को द्रष्टा कहने लग जाते हैं। इस प्रकार जाग्रत मे ही दो [illegible] सुषुप्ति आदि चार अवस्थाओं मे वाह्य वस्तु के संसर्ग न होने के कारण दृश्य का अनुराग दृष्टि मे नहीं होता इसी कारण शेष भाग को द्रष्टा भी नही कह सकते। इस दशा मे द्रष्टा और दृष्टि [illegible] नहीं जा सकता इसलिये उन चार अवस्थाओं मे अद्वैत रूप से केवल एक दृष्टि ही रहती है। [illegible] को भी लीजिये जिस समय हम किसी वस्तु का अनुभव करते रहते हैं उसी दशा मे [illegible] रहता है किन्तु वह दृश्य जबकि हमारी दृष्टि-धरातल से अलग हो जाती है तो मानो [illegible] उसकी सत्ता जाती-रहती है। फिर उसकी सत्ता के कहीं रहने मे कोई भी प्रमाण मिल नहीं [illegible] इस प्रकार छ आत्मा की अवस्थाओं मे दृष्टि के बने रहने पर भी दृश्य का सम्बन्ध सर्वदा [illegible] रहता इसी से कहा जा सकता है कि दृश्य वास्तव मे मिथ्या है। स्वप्न के अनुसार जाग्रत मे भी [illegible] ही दृश्य की कल्पना कर ली है तो ऐसी स्थिति द्वैत का भेदक मानना यथार्थ नही है। अतएव [illegible] दृष्टि के रहते द्रष्टा और दृश्य की भेद दिखाने वाली अविद्या अवश्य ही माननी पड़ेगी। जिस प्रकार जवा के पुष्प के सन्निधान से स्फटिक मे अनुराग होता है उसी प्रकार हमारी दृष्टि मे अविद्या [illegible] वाह्य वस्तु के रूप का अनुराग हो जाता है। अथवा जिनके मत मे वाह्य वस्तु कुछ है ही नहीं उनके मत मे इसी अविद्या के द्वारा हमारी दृष्टि का एक भाग दृश्य के मिथ्या रूप मे विवर्तित अर्थात् जिस प्रकार रस्सी सर्प के रूप मे वदल जाता है किन्तु किसी सर्प का उसमे संवन्ध नहीं है उसी प्रकार हमारी दृष्टि दृश्य के रूप मे वदल जाती है किन्तु किसी वाह्य दृश्य से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार विवर्त-वाद अथवा मतभेद से अनुरक्तवाद दोनों ही अविद्या के ही द्वारा होते हैं। इस प्रकार दृष्टि पर [illegible] का अनुराग तथा विवर्त इन दोनो ही को ज्ञान के असली स्वरूप का आवरण करने वाला [illegible] रूप समझना चाहिये। इसी आवरण को अविद्या कहते हैं। और यह विद्या से विलक्षण [illegible]। क्योंकि विद्या सती अर्थात् नित्य एक रूप बनी रहती है। किन्तु अविद्या सती असती दोनों [illegible] नियमानुसार सर्वदा सामान्यरूप से अर्थात् किसी न किसी विशेष रूप से बनी ही रहती [illegible] है। किन्तु यदि कोई आत्मा किसी उपाय से विद्या का वल बढ़ाकर अविद्या का बल घटाना [illegible] तो संभव है कि अनेक जन्म के प्रयत्न से यह अविद्या विशेष निर्मूल नष्ट हो जावे इस प्रकार नष्ट [illegible] से वह असती भी कही जाती है। ऐसी दशा मे वह अविद्या अनादि सान्त है। दृष्टि और दृश्य [illegible] मतानुसार इन दोनो का जो तादात्म्य योग है उसका कारण दृष्टि मे ठहरी हुई अविद्या है [illegible] के द्वारा यदि अविद्या का क्षय अर्थात् नाश कर दिया जाय तो ऐसी स्थिति मे वाह्य वस्तु [illegible] अर्थात् ज्ञान पर पूर्ण सम्बन्ध होने पर भी ज्ञान के असङ्ग निर्लेप होने के कारण उस वस्तु [illegible] कुछ नही होता प्रत्युत दृष्टि सब वस्तुओं को ग्रहण करती हुई भी न ग्रहण करती [illegible] रूप से बनी रहती है।

१—ऐसी दशा को विदेहमुक्ति अर्थात् जीवनमुक्ति कहते हैं।

२—यह अविद्या आठ प्रकार की समझी जा सकती है। प्रथम वाङ्मय बल अर्थात् वाक् और प्राण दोनों के घनिष्ट सम्बन्ध से जो प्राण का स्वरूप सिद्ध होता है वही अविद्या है, किन्तु दूसरी अविद्या वह है जिसने इस वाक् को प्राण के साथ मिलाकर इस प्रकार की अविद्या का स्वरूप संपादन किया अर्थात् इस प्राण और वाक् को मिलाने वाला बल भी अविद्या है। इसी प्रकार द्रष्टा, दृष्टि और दृश्य इस त्रिपुटी मे द्रष्टा अर्थात् ज्ञान के ऊपर जो दृश्य का अर्थात् ज्ञेय का रूप प्रतिविम्व होता है, अर्थात् ज्ञान से बाहर घटादि पदार्थों का जो ज्ञान के अन्दर छाया पडती है और जिस छाया, से ज्ञान का असलीरूप न दीखकर ज्ञेय का रूप ही प्रत्यक्ष होता है वही ज्ञेय रूपी छाया, ज्ञान मे भिन्नवस्तु होने के कारण अविद्या कहलाती है, यही तीसरी अविद्या है। किन्तु साथ ही जिस बल ने बाहर के वस्तु की छाया को ज्ञान के भीतर प्रवेश कराया और ज्ञान मे लाकर ज्ञान में ही ठहरा दिया और बाहर की वस्तु से उसका सम्बन्ध तोड दिया वह बल भी विद्या अर्थात् ज्ञान मे भिन्न वस्तु है इसलिये यह भी चौथी अविद्या है। इसी स्थल मे दूसरा मत है कि ज्ञान से रिक्त बाह्य वस्तु की कोई सत्ता ही नही है, इसलिये ज्ञान से बाहर के वस्तु की छाया का ज्ञान पर पडना सत्य नही माना जा सकता, किन्तु वास्तव मे हमारा ज्ञान ही भिन्न-भिन्न ज्ञेय के रूपो मे विवर्त (बदल) किया करता है तो इस मत में भी कहना होगा कि ज्ञान जिन-जिन रूपो मे बदल कर ज्ञेय बन गया है वह ज्ञेय का भाग अविद्या है। क्योकि एक प्रकार के ज्ञान मे भिन्न-भिन्न लाखो प्रकार का ज्ञेय बदलने पर भी वे सब रूप न ठहर कर बदलते रहते हैं इसलिये अविद्या कहने योग्य है। सत्य ज्ञान के भाग में इस प्रकार बदलता हुआ वह जितना मिथ्या भाग वही अविद्या है। इसको पांचवी अथवा मत भेद से तीसरी अविद्या कही जा सकती है। इस मत में भी जिस बल के सयोग से (४) यह सत्य ज्ञान मिथ्या रूप अज्ञान में बदल दिया जाता है वह ज्ञान पर लगा हुआ बल भी छठे, मत भेद से चौथी अविद्या कही जा सकती है। इनके अतिरिक्त इस अविद्या को साख्य वालो ने तम, मोह, महामोह तामिस्र, अन्धतामिस्र इस प्रकार पञ्चपर्वा माना है अर्थात् इन पाँचो को एक साथ ही अविद्या कहते हैं (५) इसी पञ्च पर्वा अविद्या को योग शास्त्रकार पतञ्जलि ने क्रम से अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेप, अभिनिवेश इन पाँचो क्लेशो को अविद्या नाम दिया है यह सातवी अविद्या कही जा सकती है अब इस सातवी अविद्या मे ही पांच क्लेशो मे से पहला क्लेश मुख्य करके अविद्या शब्द से ही कहा गया है। यही अविद्या अन्य चार क्लेशों का भी कारण है और यह तमरूप अर्थात् प्रकाश स्वरूप ज्ञान का या विद्या का विरोधी है इसलिये अविद्या कही जाती है, यह अविद्या आठवी है। इस प्रकार अविद्या का स्वरूप निरूपण आठ प्रकार से होने पर भी यथार्थ मे एकही स्वरूप का है क्योंकि मन के प्रकाश को ही विद्या कहते हैं। अब जिन-जिन कारणों से मन के प्रकाश को हानि पहुँचे या कभी-कभी दो आवरण हो वह सब विद्या, विद्या के विरोधी होने के कारण एक शब्द से ही अविद्या कही जा सकती है।

अविद्या भङ्ग सिद्धिः

सम्पूर्ण विश्वमण्डल का उद्गीथ अर्थात् जहा से उठता है जिसमे ठहरा रहता है और जिसमे लीन होता है उस मूलतत्त्व अव्याकृत को समझना चाहिये। इस अव्याकृत मे तीन प्रकार की प्रतिष्ठा उद्भूत होती है जिनमे अक्षर रहते हैं। इन्ही तीनो के ठहरने की जगह को पृथक्-पृथक् जीव, ईश्वर, परमेश्वर

कहते है । इन्ही तीनो प्रतिष्ठाम्रो पर यह सम्पूर्ण विश्वमण्डल प्रतिष्ठित (टिका हुआ) [illegible]
अन्तर से ईश्वर को और ईश्वर के अन्तर से परमेश्वर को जानने पर जीव परमेश्वर मे लीन [illegible]
हो जाता है और फिर उसका जगत् नष्ट हो जाता है अर्थात् जीव का जगत् जीव मे और [illegible]
ईश्वर मे लीन होता है, तथा जीव ईश्वर मे और ईश्वर परमेश्वर मे लीन होता है । [illegible]
स्थिति नही रहती । जो जहा कुछ देखते है ये सब व्यक्त है, इनमे सब मर्त्य है, इसलिये इनको [illegible]
है । इन सब क्षरो मे अव्यक्तरूप से अक्षर निगूढ रहता है, इसको अमृत कहते है । [illegible]
सर्वदा युक्त ही रहते है, इन दोनो के योग से ईश्वर का स्वरूप उत्पन्न होता है । ईश्वर [illegible]
शक्तिघन है जो सब शक्तियो के प्रभाव से स्वतन्त्र होकर यथेच्छ सृष्टि के पदार्थों पर [illegible] होता है किन्तु
यह जीव ईश्वर के समान स्वतन्त्र नही है । अविद्या के कारण कर्म जन्य संस्कारो से [illegible] रहता है ।

ईश्वर के सदृश प्रकाश स्वरूप होने पर भी इन कर्म जन्य संस्कारो से [illegible]
कलुषित होकर असमर्थ हो जाता है इसलिये ईश्वर नही कहला सकता । किन्तु [illegible] विद्या
प्रधान होने के कारण निवृत्ति मार्गीय कर्मो के संयोग से जो संस्कार उत्पन्न होता [illegible]
(निर्मली) के अनुसार स्वभाव से ही कर्मजन्य संस्कारो को दूर कर देता है [illegible]
निज के प्रकाश से ही वह जीव आत्मा प्रकाशित हो जाता है और इस प्रकार अविद्या के [illegible]
जीव ईश्वर का भेद भी जाता रहता है अर्थात् वह जीव साक्षात् ईश्वर हो जाता है इसी अवस्था को [illegible]
कहते है। ईश्वर विद्यामय होने के कारण सर्वज्ञ है, किन्तु जीव अविद्यामय होने के कारण [illegible] ।
जीव को पशु और ईश्वर को पशुपति और ईश्वर से जीव का भेद कराने वाली अविद्या को पाश कहते हैं ।
जीव और ईश्वर ये दोनो ही यद्यपि अज है और दोनो ही एक जाति के तत्त्व से बने है किन्तु जिस विद्या
और अविद्या से इन दोनो का भेद सभव है वे दोनो ही माया कही जाती हैं । और यह माया भी एक
दूसरी अजा है और यह नित्य जीव ईश्वर के साथ रहती है ।

अथवा दूसरा मत यह है कि विद्या और अविद्या इन दोनो मे से विद्या आत्मा से पृथक् कोई
वस्तु नही है विद्या ही को आत्मा या ईश्वर कहते हैं । उस ईश्वर को विद्यायुक्त न समझ कर विद्या
रूप ही से समझना चाहिये । किन्तु यह अविद्या अवश्य ही आत्मा से पृथक् वस्तु है । और यह
आत्मा मे अपने आप ही उत्पन्न होकर आत्मा के स्वरूप को अर्थात् विद्या को कलुषित करती है और
वह आत्मा से हटाई जा सकती है। ज्ञान के पेट मे ज्ञेय का प्रवेश होना ही भोग कहलाता है । [illegible]
भोग्य की भोक्ता के साथ एकता उत्पन्न हो जाती हैं । इसमे विद्या ही भोक्त्री है । [illegible]
अविद्या के साथ युक्त होती है उसके योगदान होने मे जो बल लगता है जो कि अविद्या का विद्या के साथ
योग करता है वह बल भी अविद्या ही है । ईश्वर के अनुसार जीव भी विद्या रूप ही है । उसके [illegible]
जीव पराधीन हो जाता है । जीव मे सयुक्त जो अविद्या है उसका जीव के साथ योग कराने [illegible]
भी अविद्या ही है । वह जब तक जीव मे रहता है तभी तक जीव, जीव कहलाता है । जिस प्रकार रज्जु
सर्प के रूप मे भासती है उसी प्रकार ज्ञान ज्ञेय से अपना रूप बनाकर भासता है वही [illegible] है और
वही अविद्या है उसमे ज्ञान अर्थात् भासना ही सच्ची वस्तु है । किन्तु इस ज्ञानने [illegible]
बना लिया है वह ज्ञय रज्जू के सर्पके समान मिथ्या है । ज्ञेय जो ज्ञान मे भासता है [illegible]

प्रकार का बल है, वह वाक् रूपी बल, सीमा रहित सदा एक रूप रहनेवाले ज्ञान मे प्रवेश करके अपने सीमाबद्ध विचित्र रूपों मे उनमें भी परिच्छिन्नता और नानात्व उत्पन्न करदेता है। बल आदि अविद्या अर्थात् ज्ञान मे भिन्न पदार्थों से जो यह विद्या अर्थात् ज्ञान एकता को पा जाता है उस एकता को देने वाला बल भी अविद्या ही है उस बल को प्राण विशेष कह सकते हैं। यह प्राण अर्थात् बल जीव मे ही उत्पन्न होता है, ईश्वर में कदापि नही होता क्योंकि ईश्वर मे माया का भाग विद्या ही है और माया का दूसरा भाग अविद्या जीव का ही लक्षण है। यह ज्ञान ज्ञेय रूपी बल को पाकर इस प्रकार एक रूप हो जाता है कि जिस से वास्तव मे अविद्या मे सत्ता न रहने पर भी वह सत्तावाली हो जाती है। यही कारण है कि ऋषि लोग इसी अविद्या को सती और असती दोनों दृष्टि से देखते हैं। असती इसलिये कि अविद्या में निज की सत्ता सर्वथा ही नही है, किन्तु वह अविद्या ज्ञेय के रूप मे होकर ज्ञान के साथ जो अभिन्न हो गई है दोनों भिन्न-भिन्न प्रतीत न होकर अभिन्न प्रतीत होते हैं इसीलिये ज्ञान की सत्ता ही ज्ञेय की सत्ता होजाती है, जिस से ज्ञेय ही सत्य प्रतीत होता है। किन्तु वास्तव मे ज्ञेय सत्य नही है क्योंकि जिस समय घट का ज्ञान था उस समय घट ज्ञान मे प्रत्यक्ष भासता हुआ सत्य ही प्रतीत होता है किन्तु जब घट के ज्ञान के उपरान्त मे पट का ज्ञान हुआ तो उस समय पहला विषय घट, ज्ञान के धरातल से उतरकर सर्वथा नास्ति हो जाता है उसकी सत्ता त्रिलोकी भर मे कहीं नही रहती। विचार का स्थान है कि यदि वह ज्ञेय वास्तव मे सत्य होता तो अपनी सत्यता के लिये ज्ञान के आयतन की अपेक्षा न रखता, ज्ञान का सम्पर्क छूटने पर भी उसकी सत्ता अवश्य कही रहती। जो दूसरे की सत्ता लेकर सत्ता वाली-वस्तु है वह अवश्य ही अवस्तु अर्थात् असती है। इस ही कारण ज्ञेय मात्र को असत्य कह सकते है। और ज्ञेय ही यह जगत् है इसलिये जगत् भी अविद्या है असती अर्थात् मिथ्या है यद्यपि अविद्या जीव मे ही होती है, ईश्वर मे नही होती ऐसा कहा गया है तथापि वाक् या बल ये दोनो ही ईश्वर मे भी अवश्य पाये जाते है। क्योंकि अर्थ और क्रिया इन दोनो से ईश्वर कदापि खाली नही रहता और ये वाक् और विद्या से भिन्न होने के कारण अविद्या कहे जा सकते है। इसलिये अविद्या ईश्वर मे भी अवश्य मानी जा सकती है किन्तु यह अविद्या जिस प्रकार जीव के स्वातन्त्र्य को नष्ट कर देती है उसी प्रकार ईश्वर के स्वातन्त्र्य पर कुछ भी बाधा नही डालती इसी से अविद्या के रहने पर भी अविद्या के बन्धन न रहने के कारण ईश्वर मे अविद्या का न होना ही माना जाता है। अब हम परमेश्वर को यदि देखे तो वह अनन्त आत्मा विश्वरूप है। न वह ज्ञान स्वरूप है न अज्ञान स्वरूप है अर्थात् विद्या और अविद्या दोनो ही उसमें नही है। न वह जीव के अनुसार भोक्ता है और न ईश्वर के अनुसार कर्ता है। ये तीनो अर्थात् परमेश्वर, ईश्वर और जीव की जो समष्टि है वह तीनों से भिन्न होने के कारण चौथा तुरीय ब्रह्म कहा जा सकता है।

बाहर क्षर और उसके भीतर अक्षर इन दोनो पर व्याप्त होकर इन दोनो के अतिरिक्त तीसरा ईश्वर इन दोनों का शासन करता रहता है। यदि जीव अर्थात् क्षर संयुक्त अक्षर ध्यान से, योग बल से, ईश्वर से मिल जावे तो अविद्या के क्षर होने से वह जीव भी ईश्वर ही हो जाता है क्योंकि ध्यान और योग से जीव का ज्ञान ईश्वर के रूप मे अधिक काल रहता है और ईश्वर मे अविद्या का अङ्ग नही इसलिये ध्यान योग मे जीव ज्ञान धीरे-धीरे अपनी अविद्या को छोड़ता रहता है। अन्त मे सर्वथा अविद्या हीन होकर ईश्वर रूप हो जाता है। अथवा यो समझो कि यदि जीव का मन ईश्वर मे लगता है तो

उस समय ज्ञान का ज्ञेय के रूप मे बदलने के नियमानुसार जीव का ज्ञान ईश्वर [illegible] कुछ काल के लिये ईश्वरमय बन जाता है। ईश्वर के स्वभाव मे कोई भी पाश नहीं [illegible] ईश्वर का ज्ञान होते समय जीव के मन मे भी सब प्रकार के पाश अर्थात् क्लेश, कर्म विपाक [illegible] के लक्षण नही रहने पाते। इसी से जीव ईश्वर के रूप मे आ जाता है और इसी को [illegible]। इसी को निर्विकल्पक, समाधि, योग कहते हैं। अर्थात् इस समाधि मे जीव जो ज्ञाता है [illegible] ईश्वर को अपने से पृथक् नही समझता। ज्ञाता, ज्ञेय का द्वैतभाव सर्वथा ही नहीं [illegible] सविकल्पक समाधियोग है। जिसमे ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैतभाव बना रहता है अर्थात् हम किसी [illegible] देख रहें हैं, इस प्रकार जीव को ज्ञाता, ज्ञेय का भेद ज्ञान भी बना रहता है [illegible] को सविकल्पक (विकल्प=खण्ड) कहेंगे। इस समाधियोग मे भी जीव यदि ईश्वर का ज्ञान [illegible] से भी क्लेश नष्ट हो जाते हैं। और उस जीव के जन्म मृत्यु नही होते किन्तु यह अवर मुक्ति है। [illegible] मान लीजिये कि निर्विकल्पक वा सविकल्पक दोनो प्रकार की समाधि नहीं हुई किन्तु केवल [illegible] से जीव दिव्य देह की प्राप्ति करके ऐसा ऐश्वर्य पाता है कि मानो ईश्वर की ओर [illegible]। [illegible] की आत्मा का ईश्वर की आत्मा के साथ समाधियोग न होने पर भी दोनो का [illegible] उस समय भी जीव मे ईश्वर की झलक या छाया पडने से जीव मे वह शक्ति उत्पन्न [illegible] से सकल्प मात्र के द्वारा जीव सब कामनाओ को प्राप्त कर लेता है। ये भी [illegible] मुक्ति मे जीव कदापि ईश्वर नही होता किन्तु ईश्वर से पृथक् रह कर ही ईश्वर के अनुग्रह [illegible] समान ऐश्वर्य पाता है और ईश्वर को अपना स्वामी समझता है।

जो जहा कुछ मै देख रहा हूँ ये सब ज्ञेय हैं। ये समस्त ज्ञेय मेरी आत्मा मे ठहरा [illegible] मेरी आत्मा ज्ञान रूप है अर्थात् जिस ज्ञान मे ये समस्त ज्ञेय अन्तर्गत होकर भासता है [illegible] आत्मा है पूर्वोक्त के अनुसार ज्ञान ही ज्ञेय रूप मे परिणित होता है इस कारण ये समस्त [illegible] का ही रूपान्तर है। ज्ञेय को ही जगत् कहते है। इसलिये अन्तर्जगत् जीव आत्मा से भिन्न नहीं [illegible] जीव ईश्वर का ज्ञेय रूप है इसीलिए जीव, ईश्वर का जगत् है उक्त नियमानुसार [illegible] नही है इस प्रकार जगत्, जीव और ईश्वर ये तीनो मिलकर त्रिवृत रूप ज्ञान ही [illegible] प्रकार तिल मे तेल और दूध मे घी व्याप्त रहता है। उसी प्रकार इस जगत् के [illegible] होकर व्याप्त इस जीव आत्मा को जानना चाहिए और उसी प्रकार जीवो मे [illegible] ईश्वर को समझना चाहिये। यद्यपि जीव को प्रत्येक पदार्थ मे हम विद्या के द्वारा जान [illegible] जीवो मे यह ईश्वर, विद्या, सत्य और तप के द्वारा देखा जा सकता है।

चाहे जीव हो या ईश्वर हो अथवा परमेश्वर ही ये तीनो ही ज्ञान के ही नाम [illegible] प्रधान है, ईश्वर अक्षर प्रधान है और जीव क्षर प्रधान है। ज्ञान तीन प्रकार का है। [illegible] क्षर और अक्षर इस प्रकार दो-दो धर्मो से बने हुए है। अर्थात् प्रत्येक स्वरूप मे [illegible] और उसके अन्तर्गत भाग अक्षर है ये दोनो ही एक के विना एक नहीं रह सकता [illegible] बने हुए जीव और ईश्वर तथा परमेश्वर ये तीनो मिलकर एक ब्रह्म का [illegible]

[illegible] जिसमें जीव, ईश्वर, परमेश्वर का भेद पृथक्-पृथक् उद्‌घट रूप से प्रतीत नहीं होता किन्तु [illegible] में एक अव्यक्त भाव माना जाता है वह सर्वथा शान्त स्वरूप है। ये सब विषय जो [illegible] देखते हैं उसी को हम ज्ञान कहते हैं। यह दीखना दो प्रकार से हो सकता है। १ अप्राप्यकारी इन्द्रियों से, २ प्राप्यकारी इन्द्रियों से। जब कि ये माना जाय कि इन्द्रिया और वस्तुएं आपस में मिलते नहीं केवल उन दोनों के बीच मे पर्दा आकर दोनो आमने-सामने रहे तो वस्तु दीख आता है। यह इन्द्रिय और वस्तु का स्वभाव है उसी को अप्राप्यकारी कहते हैं। किन्तु यदि यह माना जाय कि और इन्द्रियों में तो वस्तु के भाग ही इन्द्रियों के पास आते हैं, किन्तु आँख मे उलटा है, आँख ही वस्तु के पास जाकर वस्तु को देखता है। यदि ऐसा न होता तो काच मे मुँह न दीखता क्योंकि काच मे मुंह नहीं है केवल हमारी आँख काच पर जाकर उलट जाती है और उलटकर काच पर रहकर मेरे मुँह को देखता है। यह मुंह यद्यपि आदमी के धड पर है, काच पर बिलकुल नही है किन्तु आँख काच पर है। इसलिए अपनी जगह मुंह को देखता है यह इन्द्रिय की विषय देशगामिता है। दूसरा मत यह है कि जैसे अन्य २ इन्द्रियाँ विषय देश मे नही जाते उसी प्रकार आँख भी विषय देश मे नही जाती विषयो से निकलकर आते हुए सूर्य किरणों के साथ वस्तु का रूप आँख पर पहुचता है तब ही ज्ञान होता है, यही इन्द्रियों की वास्तविक प्राप्यकारिता है। (अर्थात् व्याप्त करने वाली) यह तीन सूरतें ज्ञान की उत्पत्ति के लिये ही मानी है। इन तीनों सूरतो मे ज्ञान उत्पन्न होने के लिए बाहर किसी वस्तु का होना बहुत ही आवश्यक है। यदि बाहर कोई वस्तु वास्तव मे न मानी जाय तो न ये तीनो सूरतें हो सकती हैं, न ज्ञान ही हो सकता है, इससे सिद्ध हुआ कि बाहर वस्तु की सत्ता रहने से ही ज्ञान उत्पन्न होता है वस्तु सत्ता न रहने से ज्ञान भी न होता तो जब ज्ञान-के लिये वस्तु सत्ता का होना मूल कारण है तो यह ज्ञान उस वस्तु सत्ता का प्रमाण अवश्य हो सकता है। अर्थात् उस वस्तु के ज्ञान होने से उस वस्तु की बाहर सत्ता का अनुमान कर सकते हैं इसलिये सिद्धात के अनुसार जब हमको जगत् की सब वस्तुओ का ज्ञान होता है तो उसी से उन सब वस्तुओ की सत्ता को भी निश्चित या सिद्धात रूप से कह सकते है।

उपरोक्त नियम के अनुसार समस्त दार्शनिको का यह सिद्धात है कि जगत् मे जिन-जिन पदार्थों का सब को ज्ञान हो रहा है उन पदार्थों की सत्ता ज्ञान के बाहर भी वास्तविक रूप मे कही पर है। किन्तु [illegible] वेदान्त के अनुसार यह तर्क (अर्थात् विवाद करने के लिए) किया जाता है कि ज्ञान से सत्ता का अनुमान करना असम्भव है। क्योंकि व्याप्ति रहने से अनुमान होता है। जैसे धूम से अग्नि का अनुमान हो जाता है। क्योंकि जहा-जहा धूम है तहाँ तहाँ सभी जगह अग्नि है। यह अन्वय व्याप्ति है और जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम भी नहीं है, यह व्यतिरेक व्याप्ति भी है। इस प्रकार दोनो व्याप्ति [illegible] से अनुमान हो सकता है। इसी नियम के अनुसार यहाँ भी जहाँ-जहाँ ज्ञान है [illegible] वस्तु रहती है और जहाँ वस्तु सत्ता नहीं है तहाँ ज्ञान भी नहीं है। इस प्रकार दोनो [illegible] ज्ञान से वस्तु सत्ता का अनुमान हो सकता है अन्यथा नहीं तो ऐसी स्थिति मे ज्ञान से [illegible] सत्ता का अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि व्याप्ति मे व्यभिचार है। जहाँ-जहाँ ज्ञान है तहाँ-तहाँ [illegible] वस्तु सत्ता का अभाव होना नहीं पाया जाता।

भ्रम की जगह और स्वप्न-सृष्टि की जगह ज्ञान रहने पर भी वस्तु सत्ता नहीं है [illegible] न रहने पर भी ज्ञान है तो ऐसी दशा में जबकि बिना सत्ता के भी ज्ञान होता है तो [illegible] का अनुमान अर्थात् ज्ञान के बाहर किसी वस्तु के होने का अनुमान नहीं कहा जाता। [illegible] केवल अपने ज्ञान पर ही निर्भर करना पडेगा। यह सब जगत् के सब मेरे ज्ञान [illegible] अथवा यो कहिये यह सब जगत् मेरा ज्ञान है ज्ञान के अतिरिक्त किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। [illegible] अपने ज्ञान की सत्ता को लेकर ही वस्तुओ की सत्ता बना रहा हूँ यही कारण है कि [illegible] उलट कर जब मै सच्चे ज्ञान पर आता हूँ तो मैं अपने पहले ज्ञान के [illegible] भी खारिज कर देता हू तो ज्ञान के साथही उस वस्तु की सत्ता भी नष्ट होजाती है। इसलिये ज्ञान की सत्ता ही वस्तु की सत्ता है ज्ञान के बाहर पृथक् वस्तु सत्ता कुछ नही है, यह सिद्ध हो गया है। [illegible] ऋषि ने जैसा उपनिषद् मे कहा है.—

उद्‌गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म । तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च ॥
अत्रान्तरं ब्रह्मविदोविदित्वा । लीना तत्परायोनिमुक्ता ॥

विद्या और कर्म का सहयोग

प्रत्येक जीव आत्मा की जीवन-यात्रा मे मुख्य दो कारण है– १ कर्म और २ विद्या, इन दोनो के तारतम्य से जीव आत्मा की स्थिति भिन्न-भिन्न प्रकार की बदलती रहती है। [illegible] तारतम्य से आत्मा मे जगत् का बन्धन तारतम्य से बढता रहता है। किन्तु कर्म के [illegible] से अपने आप विद्या उद्‌बुद्ध होकर आत्मा मे जगत् के बन्धन की मुक्ति होनी रहती है। कर्म के तारतम्य से विद्या की दशा छ प्रकार की हो जाती है।

१ प्रथम तो वह विद्या है जिसमे कर्म का लेश भी नही रहता।
२ दूसरी विद्या वह है जो अपने अनुकूल कर्म से युक्त रहती है।
३ तीसरी विद्या कर्म का मिश्रित हिलमिल है और दोनो बराबर [illegible] दूसरे का उपकार करते हैं जैसे जीव का जीव।
४ चौथी विद्या कर्म से दबी हुई होती है। वह मिश्रित कर्म है।
५ पाचवी विद्या वह है जिसके पश्चात् पतनीय (पापकर्मो) का भोग होता है।
६ छठी विद्या कर्म के दबाव से ढकी जाकर लुप्तसी हो जानी है।

इस प्रकार विद्या के सर्वत्र एक रूप रहने पर भी केवल कर्म के ही [illegible] उत्पन्न हो जाता है जिसके द्वारा जीव आत्मा की भी गति भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। [illegible] विद्या काम (कामना) और कर्म से सर्वथा रहित हो जावे तो उसकी [illegible] प्राण किसी लोक–लोकान्तर मे न जाकर यहाँ ही व्याप्त हो जाता है क्योंकि गति [illegible] काम है। इन दोनो के न होने से गति नही हो सकती किन्तु आत्मा [illegible] से जीव आत्मा व्यापक होकर ब्रह्म मे लीन हो जाती है। उनके देवयान, पितृयान [illegible]

(२) यदि जीव आत्मा ईश्वर की उपासना से धीरे-धीरे शुद्ध होकर सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य पाकर क्रम से ईश्वरता पा जावे तो इसे ही क्रममुक्ति कहते हैं, यद्यपि ईश्वर की उपासना भी एक प्रकार का कर्म है तथापि यह कर्म विद्या के अनुकूल होकर विद्या को बढाता है, जिससे जीव आत्मा स्वच्छ होकर ईश्वर मे लीन हो जाती है। उसके लिये गति, (जाने का मार्ग) देवयान है। वह प्रथम अग्नि मे, फिर वायु मे, फिर आदित्य मे, फिर चन्द्रमा मे, फिर विद्युत् में जाकर अशोकमहिम लोक मे जाता है पश्चात् ब्रह्म लोक मे पहुँचता है, जहाँ जाने से फिर पुनरावृत्ति नही होती।

(३) इसी प्रकार यज्ञादि कर्म देवलोक प्राप्ति मे निमित्त होता है। जिन कर्मो के बल से देवयानमार्ग होकर स्वर्ग पहुंचता है और वहां पूर्ण ऐश्वर्य पाकर प्राकाम्य की सिद्धि होती है अर्थात् इच्छानुसार सुख मिलता है किन्तु मुक्ति नही होती। स्वर्ग सुख भोगने के पश्चात् फिर पृथ्वी मे जन्म होता है।

(४) जब कि विद्या कर्मो से दबी हुई होती है तो वह जीवात्मा पितृयानमार्ग पर सवार होकर प्रथम पितृ-लोक मे जाती है, वहां सुख भोग करके कर्म क्षय होने पर पुनः पृथ्वी पर जन्म लेती है।

(५) जब विद्या पतनीय कर्मों से पृथक्-पृथक् युक्त होती है तो वह जीव-आत्मा पितृलोक मे जाकर चौरासी नरकलोको मे से कर्मानुसार कितने ही नरको मे दुःख भोग करके फिर पृथ्वी पर जन्म लेती है।

(६) जिनमे कर्म और विद्या दोनो ही पृथक्-पृथक् भाव से कुछ प्रभाव न रखते हो वो उस दशा मे भी शुक्रमार्ग यानि देवयान या कृष्णमार्ग अर्थात् पितृयान दोनो ही न होकर जीवात्मा की ऊर्ध्वगति नही होती केवल चन्द्रमा के नीचे चिरकाल तक अन्तरिक्ष मे गन्धर्व देह से रहती है, अथवा पृथ्वी मे डास, मच्छर आदि छोटे जन्तु होकर यहा ही जीती मरती रहती है।

इस प्रकार पाप या पुण्य कर्मों का जितना बल हो उसके अनुसार विद्या भी अपना प्रभाव करती है। इन दोनो मे जितना विद्या का बल होगा उतना ही अमृत भाग सम्पन्न होगा और जितना कर्म का बल होगा उतना ही मृत्यु भाग का प्रभाव जीवात्मा मे रहता है। इस प्रकार जीवात्मा की गति विद्या और कर्म इन्ही दोनो के अधीन है।

ब्रह्म गायत्री

मन, प्राण, वाक् के भेद से त्रिवृत् जो भूमा रस है वह सर्व जगत् मे व्याप्त आनन्द माना जाता है अर्थात् एक आनन्द ही भूमा अर्थात् सर्व जगत् व्यापक रस है उसी के मन, प्राण, वाक् ये तीनो भेद हैं। इन मे से वाक् दो प्रकार से जगत् मे काम आती है। एक तो वह "गायत्री" अर्थात् पदार्थो का सम्पादन

ॐस तु दीर्घ कालादर नैरन्तर्य सत्कार सेवितो दृढ़ भूमिः ।।योगदर्शन।। १।१।१४

मन का सयम (दीर्घकाल, आदर, लगातार) व्याकरण के अनुसार गायत् सम्पादन करता हुआ त्राण करने वाला जो हो उसी को गायत्र कहते हैं वही स्त्रीलिङ्ग मे गायत्री है।

करती है और फिर "त्रायते" अर्थात् सम्पादन किये को त्राण करती है, अर्थात् विगड़ने से बचाती है । इस "गायति" और "त्रायते" इन दोनो शब्दो के योग से वह वाक् गायत्री कहलाती है । जिसका अर्थ है बनाने वाली और बचाने वाली । इस प्रकार पैदा करना और रक्षा करना जो वाक् का धर्म [illegible] है वास्तव मे आनन्द का ही धर्म है । इस जगत् मे जहा जो कुछ उत्पन्न होता है वह आनन्द से ही होता है और आनन्द ही सदा रक्षा करता है । विश्वास करना चाहिये कि जिन स्त्री पुरुषो ने बालक उत्पन्न होता है वह उन दोनो के आनन्द मे मग्न होने पर ही होता है । ससार मे जो जहा कुछ जीता है वह उसका जीवन आनन्द का ही रूप है । जिस समय आनन्द की मात्रा घटते-घटते सर्वदा नष्ट हो जाती है, उसी को मृत्यु कहते हैं ।

मृत्यु से वढकर कोई भी दु:ख नही है । आनन्द के न होने को ही दु:ख कहते हैं । तो इससे सिद्ध हुआ कि सवसे वडा दु:ख मृत्यु अर्थात् वस्तु का नाश जब तक न होवे तब तक उस वस्तु मे अथवा जीव मे आनन्द की मात्रा अवश्य है । इससे कहना होगा कि मौत से वचाने वाला आनन्द ही त्राण करने वाला है, तो इससे सिद्ध हुआ कि आनन्द से ही जीव उत्पन्न होता है और आनन्द से ही प्राण होकर इसकी जीवन सत्ता बनी रहती है । इसलिये आनन्द को अर्थात् जगत् व्यापक भूमा रस को ही गायत्री कहते हैं वह भूमा रस ब्रह्म है, इसलिये गायत्री भी ब्रह्म है ।

जब कोई प्राणी किसी नवीन देश मे जाता है तो थोडे समय तक उसको निवास करना भले ही न रुचे, किन्तु जब चिरकाल तक वह निवास कर लेता है तो फिर वह स्थान उसको रुचने लगता है । जो प्राणी जिस शरीर मे रहता है वह शरीर उसको इतना रुचता है कि वह उस शरीर को छोड़ना नही चाहता । जो वस्तु उसके अधीन हो जाती है उसमे स्वभाव से ही प्रेम उत्पन्न हो जाता है और जो न भी प्राप्त है उसको प्राप्त करने के लिये प्रत्येक प्राणी इच्छा रखता है । इससे सिद्ध हुआ कि यह सम्पूर्ण जगत् के पदार्थ आनन्दमय हैं, इसी से रुचिकर हैं । क्षण भर भी कोई प्राणी जी नही सकता यदि इसके चारो ओर का आकाश दु:खमय होता । प्राय सभी प्राणी अपने स्वस्थ, शान्तिमय शरीर से ही जीवन धारण कर सकते हैं और शान्ति मे ही रहना चाहते हैं । इस प्रकार आनन्द सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करता है और रक्षा करता है । इसलिये इस आनन्द रस को भी गायत्री कह सकते हैं । इसी आनन्द से यह पृथ्वी उत्पन्न हुई है जो कि एक प्रकार की वाक् है । इसलिये इन भूतो को उत्पन्न करने वाली और धारण करने वाली पृथ्वी रूपी वाक् को भी गायत्री कह सकते हैं । इस पृथ्वी से प्राणियो का देह उत्पन्न हुआ है जो देह भी एक प्रकार की वाक् होने से गायत्री है क्योंकि इसी देह के कारण हमारी [illegible] उत्पन्न होकर रक्षित रहती है, फिर इस देह के कारण हमारी आत्मा उत्पन्न होकर रक्षित रहती है, फिर इस देह के रसो से हृदय उत्पन्न होता है यह हृदय भी वाक् है इसलिये गायत्री है क्योंकि हृदय से ही शरीर के देवता उत्पन्न होकर रक्षित रहते हैं । इस प्रकार आनन्द, पृथ्वी, देह, हृदय, ये चारो ही मिल-सिले चार परस्पर बँधे हुए एक रूप होकर चार चरण वाली एक ही गायत्री कही जाती है । जिसमे पृथ्वी, देह, हृदय ये तीन पाद जगत् के अन्तर्गत है किन्तु इसका तुरीय (चौथा) पाद [illegible] इस जगत् से बाहर मुक्तिरूप है । ये चारो पाद जो कि वास्तव में वाक् रूप है इनके [illegible] और प्राण भी नित्य ही रहते हैं जिनके मन से प्रवृत्त् हुए प्राण मे छन्द स्तोम नियम [illegible] ।

१—प्रथम त्रिवृत् जो अग्नि देवता से सवन्ध रखता है।
२—दूसरा पञ्चदश जो इन्द्र का संबन्धी है।
३—तीसरा एकविंश जो सूर्य का संबन्धी है।

ये तीनो अग्नि के ही भेद है। इनके आगे चौथा सप्तविंशस्तोम जो चन्द्रमा से संबन्ध रखता है। पाचवा त्रयस्त्रिंशस्तोम जो दिक् से सवन्ध रखता है। ये चौथा और पाचवा दोनो सोम के रूप हैं। इन तेतीस देवताओ का मध्य सप्तदश होता है। इसलिये छठा सप्तदश स्तोम प्रजापति का रूप है। इस प्रकार एक एक पाद मे प्राणो का छ-छ खण्ड वन जाता है, यही गायत्री के प्रत्येक पाद के छ-छ अक्षर हैं। छ-छ अक्षरो के चारपाद से चोवीस २४ अक्षर की गायत्री सिद्ध होती है जो जगत् से बाहर परब्रह्म परमात्मा आनन्द घन से आरम्भ करके पृथ्वी, देह, हृदय के द्वारा हृदय निवासी आनन्दकन्द हमारी आत्मा तक विद्यमान होती है इसी का नाम ब्रह्मगायत्री है। इस ब्रह्मगायत्री का यदि जीव सर्वदा ध्यान करता रहे तो इसके द्वारा जीवआत्मा का परमात्मा के साथ लगाव रहने से मुक्ति का द्वार सहज हो जाता है। इस ब्रह्मगायत्री के चारों चरण प्राण रूप हैं इन प्राणो की स्थिति के लिये चार ही प्रकार के आकाश कहे जाते हैं जो कि आपस मे दहरोत्तर रूप से है। अर्थात् पूर्व २ आकाश मे पर आकाश अन्तः प्रविष्ट रहता है। जिस प्रकार भौतिक वायु के लिये भौतिक आकाश आवपन होता है उसी प्रकार प्राण रूपी दैविक वायु के लिये यह आवपन रूप मन ही आकाश है। यह मन प्राण के लिये ठीक वैसा ही काम करता है जिस प्रकार वायु के लिये आकाश करता है इसलिये मन को भी आकाश ही कहते हैं। इनमे सबसे प्रथम आकाश वह मन है जिसमे आनन्द रूप भूमा रस परिपूर्ण रहता है। उस आकाश के अन्तर्गत पृथ्वी का आकाश है। इस प्रकार ये दो आकाश शरीर से बाहर रहते हैं। इसके अन्तर्गत शरीर का आकाश है और उसके अन्तर्गत हृदय आकाश है। इन चारो आकाशो मे प्राण, वाक् पर्याप्त रहते हैं और जिस प्रकार आकाश के अन्तर्गत आकाश भिन्न रूप से रहता है उसी प्रकार प्रत्येक आकाश के प्राण; वाक् भी भिन्न-भिन्न रूप से रहते हैं। किन्तु जितने धर्म महा आकाश मे हैं वे सब छोटे से छोटे हृदयाकाश मे भी पाये जाते हैं, केवल मात्रा मे उनका भेद है। यह हृदयाकाश अप्रवर्ति है इसलिये हृदयाकाश के अन्तर्गत फिर दूसरा आकाश उत्पन्न नही होने पाया। इस प्रकार चारो आकाशों मे विद्यमान चार प्रकार के प्राणो का सघात ही चार पाद बनकर गायत्री का स्वरूप सिद्ध होता है, जिसको ब्रह्मगायत्री कहा गया है यह पहली गायत्री हुई।

जिस प्रकार ब्रह्म अर्थात् आनन्द से प्रारम्भ करके हृदय तक चतुष्पाद ब्रह्मगायत्री सिद्ध होती है, उसी प्रकार सूर्य से आरम्भ करके भी वही पृथ्वी, शरीर, हृदय के भेद से चतुष्पाद सूर्य गायत्री जाननी चाहिये। प्रत्येक पाद मे छ छ स्तोम के छ छ अक्षर पूर्वोक्तरीति के अनुसार यहाँ भी जानो और चारो आकाश भी पूर्ववत् मानो। इसी प्रकार चन्द्रमा से आरम्भ करके पृथ्वी, शरीर, हृदय के द्वारा चन्द्रगायत्री भी सिद्ध होती है इस प्रकार ये तीनो गायत्री भिन्न-भिन्न तीन स्थानो मे से भिन्न-भिन्न तीन प्रकार के रसो को हमारे हृदय तक पहुंचाकर हमारी आत्मा के स्वरूप को संपन्न करती हैं। इन तीनों गायत्रियो के अतिरिक्त तीन गायत्रियाँ और भी हैं जिनका हमारी आत्मा से कोई संबन्ध नहीं। जैसा कि उसी ब्रह्म अर्थात् आनन्द मूर्ति से आरम्भ करके चन्द्रमा और वहाँ के भौतिकशरीर और उनके हृदय तक

-जो रसो की एक शाखा जाती है वह भी ब्रह्म गायत्री है। किन्तु उनमे चन्द्र निवासी जीवो की [illegible] सम्पन्न होती हैं। इसी प्रकार सूर्य से आरम्भ करके भी चन्द्रमा, शरीर, हृदय तक सूर्यगायत्री होती है, ऐन्द्रमण्डल मे ये दो ही गायत्री हैं। इनके अतिरिक्त एक और भी ब्रह्मगायत्री है जो आनन्द से [illegible] जाकर वहाँ के निवासियो के शरीर, और हृदय तक पहुच कर आत्मा सम्पन्न करती है इस प्रकार छः गायत्रियाँ हुई जिनमे पृथ्वी पर तीन, चन्द्रमा पर दो, सूर्य मे एक है ये छओ गायत्रियाँ इस [illegible] कही जाती है किन्तु सूर्य असख्य हैं, प्रत्येक सूर्य मे बहुत सी पृथ्वी और बहुत से चन्द्रमा हैं। [illegible] ब्रह्म अर्थात् आनन्द मूर्ति परमात्मा से इन गायत्रियो के ही द्वारा रस आकर भिन्न-भिन्न [illegible] आत्माओ का स्वरूप उत्पन्न होता रहता है और इन्ही गायत्रियो के द्वारा सभी जीवआत्मा प्रतिक्षण [illegible] आनन्दघन परमात्मा से सम्बन्ध करते रहते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के तीसरे प्रपाठक के [illegible] गायत्री का स्वरूप वर्णन हुआ है।

इनके अतिरिक्त वाजसनेयश्रुति मे महर्षि याज्ञवल्क्य ने एक और ही गायत्री का कथन किया है वह यह है–तीन लोक, तीन वेद, तीन प्राण, इस प्रकार तीन पाद के साथ तुरीयपाद परोरजा [illegible] आनन्द मूर्ति परमात्मा के मिलाने से चार पाद की गायत्री सिद्ध होती है। यह गायत्री [illegible] शरीर मे स्थित होकर शरीर के (गय) अर्थात् प्राणका त्राण करती है, इसी कारण यह [illegible] ब्रह्मरस गायत्री कहलाती है। यह याज्ञवल्क्य की गायत्री चौथे प्रकार की है।

इसी ब्रह्मगायत्री को यो भी दूसरे प्रकार से समझ सकते हैं कि ईश्वर से लेकर जीव तक जो सूत्र आ रहा है उसके छः भाग हैं। १ परोरजा, २ सूर्य ३ चन्द्र, ४ पृथ्वी, ५ शरीर, ६ हृदय, ये छः भाग ही छः अक्षर कहे जाते हैं। इन छओ भागो मे जितने पदार्थ हैं वे ४ भाग मे बटे हैं। १ लोक २ वेद, ३ देव, ४ चौथा भूत लोक अवस्था विशेष का नाम है। प्रत्येक पदार्थ तीन अवस्थाओ मे रहता है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण इन्ही को लोक कहते है वेद से तात्पर्य ऋक् यजु साम से है।

छओ स्थानो मे जितने पदार्थ है उनमे प्रत्येक के साथ ये तीनो वेद लगे रहते है। वेदो के बिना किसी वस्तु की मूर्तक या स्वरूप सिद्धि नही होती। देवो से तात्पर्य तीन अग्नि और दो सोम से है। छओ स्थानो मे कोई भी पदार्थ इन देवताओ के बिना नही बना है और इस प्रकार भूत से तात्पर्य तेज, आप्, अन्न से है। छओ स्थानो मे जितने विरल, तरल, घन पदार्थ है प्रत्येक मे दो-दो भाग होते हैं। बाहर मे भूत और उनके अन्तर मे देव। देव या भूत ये दोनो एक के बिना एक नही रहते और [illegible] भूतो की बनी हुई प्रत्येक वस्तु की तीन तीन अवस्था अर्थात् लोक होते हैं। और [illegible] तीन-तीन वेदस्वरूप बनाते है, इस प्रकार छओ स्थानो मे एक-एक वस्तु का स्वरूप इन चारो से [illegible] लोक, वेद, देव, भूत से बने होते है। इसलिये ईश्वर से जीव तक इन चारो का सिलसिला बराबर बना हुआ आता है जो छ स्थान मे हैं। इसलिये हर सिलसिले मे २४ भाग अर्थात् २४ [illegible] है। इसलिये इस सिलसिले को ब्रह्मगायत्री कहते है। इस ब्रह्मगायत्री से जीव आत्मा का परमात्मा से मिलाव सिद्ध होता है। तीसरे एक और प्रकार से भी ब्रह्मगायत्री समझी जाती है। वह यह प्रकार है कि इस जगत् मे जितने स्थूलपिण्ड है वे सब भूत है और भूतो की सृष्टि अत्यन्त सूक्ष्मभाग से [illegible]

किसी स्थूल दशा तक पहुंचती है। कल्पना करो कि यह पृथ्वी किसी समय बहुत दूर-दूर तक फैली हुई प्रथम वाक् रूप में थी इसी वाक् को आकाश कहते हैं। इस वाक् का केन्द्र भाग धीरे-धीरे घनतर में आकर वायु रूप में परिणत हो गया, वायु का भी केन्द्र भाग घनता मे आकर तेज हो गया, तेजका भी केन्द्र भाग घनता मे आकर जल हो गया, उस जलका भी केन्द्र भाग घन होकर पृथ्वी बन गई, जितनी घनता हो सकती थी उतनी होकर पृथ्वी हुई उसके अधिक घनता तात्विक दृष्टि में हो नही सकती इसलिये आगे की घनता बन्द होकर भूत की पाच जाति सिद्ध हुई। सब से बाहर १ वाक् है २ उसके भीतर क्रम से वायु, तेज, जल, पृथ्वी है।

सबसे बड़ा आकाश वाक् का है उसके अभ्यन्तर मे पृथ्वी का आकाश है। अब इस पृथ्वी का भाग लेकर शरीर बनता है इसलिये पृथ्वी आकाश के भीतर शरीर का आकाश है उसके भीतर हृदय आकाश है। इस प्रकार पृथ्वी के सम्बन्ध से चार आकाश सिद्ध हुए वाक्, पृथ्वी, शरीर, हृदय। जिस प्रकार पृथ्वी एक स्थूलपिण्ड है। उसी प्रकार जितने भूतपिण्ड हो उन सब में भी पृथ्वी के अनुसार ही सृष्टि-क्रम मानना पडेगा। इसलिये चन्द्रमा, सूर्य, परोरजा या अभिजित् तथा ईश्वर और परमेश्वर इन छओ मे भी वाक् आदि चार चार भाग होंगे उन सब भागो से हमारा शरीर बना है है इसलिये हमारा शरीर पाट्कौशिक है अर्थात् छः छः कोशो से बना हुआ है। और जिस प्रकार मेरा शरीर भिन्न भिन्न छ कोशों से बना है उसी प्रकार छः कोशो का केन्द्ररूप हृदय भी छ होगे। इस प्रकार से छः व्यूहो के प्रत्येक चार चार भाग लेने से २४ चौबीस खण्ड प्राप्त होते हैं। इस चौबीस खण्डो को अक्षर मानने से भी एक बडी ब्रह्मगायत्री सिद्ध होती है। जिस ब्रह्मगायत्री के अन्दर यह परम विशाल सपूर्ण जगत् ओत-प्रोत हुआ दीखता है। इस प्रकार जो छ हृदयो से बना हुआ एक हृदय है जिसमे मुख्य हृदय पर परमेश्वर सम्बन्धी वह हृदय है एक अद्भुत दिव्यज्योति विद्यमान रहकर इस सम्पूर्ण विशाल जगत् का प्रकाश करती हुई उसका आनन्द हमे दिखा रही है। वह सब ज्योतियो की ज्योति है। क्योकि उसी से हम जीव, सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतियो को और उनके अभाव मे अन्धकार को भी देखते हैं और दूसरी दूर की वस्तुओ को और अत्यन्त परोक्ष वस्तुओ को भी जिसके प्रकाश से हम देखते हैं और उसी के आश्रय मे पांच पञ्चजन विद्यमान रहते हैं। अर्थात् जिस प्रकार यह पृथ्वी सूक्ष्म वाक् से स्थूलरूप धारण करने के कारण पांच भूतो वाली बनी है। अर्थात् वाक्, वायु, तेज, जल, पृथ्वी इस प्रकार क्रम से स्थूल हुई है ऐसे ही इसी पृथ्वी के अनुसार चन्द्रमा, सूर्य, पर्जन्य, आकाश ये ४ चारो भी वाक् आदि पाँच पाँच अवयवो के द्वारा स्थूलरूप मे आये हैं। इसलिये पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, पर्जन्य, आकाश ये पाचो ही वाक्, वायु, तेज, जल, पृथ्वी रूप पांच पांच अवयवो के कारण पञ्चजन कहलाते हैं। ये पाँचो ही पञ्चजन उस छठे परमेश्वर के आधार मे अपनी अपनी सत्ता रखते हुए अपना कार्य करते हैं। अर्थात् इस शरीर के भिन्न-भिन्न चार कार्यों को पूरा करते हैं इन पाँचो के सम्मिलित पाँच हृदय इस जीव के हृदय में पृथक् पृथक् पांच प्राणों के पांच पात्र छिद्रों से निकलते हुए इस शरीर के भिन्न भिन्न चार कार्य पूरा करते हैं या सपादन करते हैं। एक एक स्रोत के प्रत्येक प्राण चार रूप मे होकर चार चार काम करते है। जिनके ये नाम है पाच अन्तश्चर प्राण है प्राण, व्यान, अपान समान, उदान ये पांचो ही शरीर के भीतर रहकर शरीर के ७ सात धातुओ को उत्पन्न करते हैं और उनको यथा स्थान सन्निवेश करके शरीर का स्वरूप

सगठन करते हैं और १ वाक् २ प्राण, ३ चक्षु ४ श्रोत्र, ५ मन ये पांचो वहिश्चर प्राण हैं। ये इन्द्रिय छिद्रो के द्वारा वाहर के भूतो में से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और विचारणीय विषयों को ग्रहण करके उस छठे परमेश्वर के प्रकाशमय हृदय मे पहुँचाया करते हैं।

२ अग्नि, चन्द्र, सूर्य, पर्जन्य, आकाश ये पाचो देवता स्वर्गचर पाच प्राण हैं ये सब इनके स्थान से अपने अपने रसो को लेकर जीव के हृदय तक पहुँचाते हैं और जीव शरीर के रसो को लेकर ऊपर स्वर्ग मे ले जाते हैं। इस प्रकार प्रतिक्षण मनुष्य के हृदय से स्वर्ग के पदार्थों का आगम निगम होता रहता है।

तीसरा और चौथा उपास्य प्राण है अर्थात सूर्य से तेज और चन्द्रमा से श्री और यश और पृथ्वी की अग्नि से ब्रह्मवर्चस तथा पर्जन्य से कीर्ति और व्युष्टि और आकाश से ओज और मह प्राप्त होते हैं। इनको उपास्य प्राण कहते हैं।

४ तात्पर्य यह है कि हृदय के पाच स्रोतो से पाच प्राण निकलकर प्रत्येक प्राण चार चार काम करते हैं एक तो शरीर के भीतर धातुओ को वनाते है, दूसरा वाहर भूतों से भूत गणों को भीतर लाता है, तीसरा स्वर्ग से देवो के रसो को भीतर लाता है और चौथा शरीर को उत्तम करने के लिये अर्थात् अच्छे बुरे का भेद दिखाने के लिये शरीर पर कितने ही उत्तम गुणो का आधार करता है। यह चौथा काम सव जीवो के शरीर पर रखते हैं साधारण तौर से नही होता, किन्तु कहीं अधिक कहीं कम और कही सर्वदा अभाव भी होता है वह सुन्दर न होकर खराव माना जाता है। ये पांचो प्राण जो चार-चार काम करते हैं उन सब मे उस छठे परमेश्वर की भी सत्ता विद्यमान रहती है। इसलिये उस की भी चारों क्रिया मानी जा सकती है। इस प्रकार छ आत्माओ की चार चार क्रिया सिद्ध होने से २४ सिद्ध होती है। इन्ही को २४ अक्षर मानकर इस जीव आत्मा की जीवन क्रिया को गायत्री कह सकते हैं, अर्थात् गायत्री से ही इस जीवन का जीवन है, ऐसा सिद्ध होता है।

छान्दोग्य उपनिषद् में तीसरे अध्याय के १३वें खण्ड में निम्नलिखित विवेचन है—

	अन्तश्चर	वहिश्चर	स्वर्गचर	उपास्य
अथवा	शरीरचर	भूतचर	देवचर	देहचर
हृदय के पूर्व सुपिर	प्राण	चक्षु	आदित्य	तेज
" दक्षिण "	व्यान	श्रोत्र	चन्द्र	श्रीयश
" पश्चिम "	अपान	वाक्	अग्नि	ब्रह्मवर्चस
" उत्तर "	समान	मन	पर्जन्य	कीर्ति व्युष्टि
" ऊर्ध्व "	उदान	वायु	आकाश	ओज मह

(सुपिर=सुख, क्षत्री का आजस, वैश्य का द्युम्न, देव का सुम्न)

वायु अव्यवथित है अर्थात् न थका हुआ। इस वायु को अनन्तमिता देवता भी कहते हैं। (जो अस्त नही होता।)

यद्यपि इस प्रकार छ मूलतत्त्वो के प्रत्येक चारपाद कल्पना करने से २४ अक्षर की गायत्री कही गई है तथापि सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर हृदय, शरीर, पृथ्वी और वाक् इन चारो का आकाश पृथक्-पृथक् चार न होकर एक है, और उस आकाश मे वाक् से लेकर हृदय तक समानभाव से सजातीय पदार्थ परिव्याप्त हैं। जितने पदार्थ जिस प्रकार से वाक् के आकाश मे हैं उतने ही पदार्थ उसी प्रकार से हृदय आकाश मे भी हैं तो सिद्ध हुआ कि पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य्य आदि छओ देवताओ अपने-अपने भिन्न-भिन्न असाधारण पदार्थ अपने-अपने वाक् के आकाश से आरम्भ करके अपने-अपने हृदय आकाश तक विद्यमान हैं इसलिए जीव के हृदय मे जो कि छ हृदयों का एक समूह है उसमे छ देवताओ के भिन्न-भिन्न पदार्थ सम्मिलित हैं। अर्थात् भौमहृदय के कारण शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाचो तत्त्व उस हृदय मे रहते हैं। अर्थात् सौम्य हृदय के कारण सङ्कल्प और काम उस हृदय मे हैं। सौर हृदय के कारण ३३ देवता और कर्म्म इस हृदय मे है। अभिजित् अर्थात् ब्रह्मा हृदय के कारण सब वेद और यज्ञ इस हृदय मे हैं औह ईश्वर हृदय के कारण यह हृदय इन सबको पकड़े हुये मन, प्राण, वाक् सयुक्त है और सत्ता, चेतना व आनन्द युक्त है और परमेश्वर के हृदय के कारण यह वाङ्मनस के अगोचर है। इस प्रकार ये छ प्रकार के भिन्न-भिन्न धर्म भिन्न–भिन्न स्थानो से आकर पृथक्–पृथक् छः हृदयो मे सन्निविष्ट हैं। किन्तु ये छओ हृदय एक ही किसी विन्दु मे आकर इस प्रकार वँध गये हैं कि उनकी एक गाठ सी हो गई है इसी से उसको हृदयग्रन्थि कहते हैं। इसी हृदयग्रन्थि के कारण भिन्न भिन्न छ हृदय मिलकर एक हृदय के अनुसार प्रतीत होते है इसीलिये जो हमारी आत्मा परमेश्वर और ईश्वर से आई हुई शुद्ध सच्चिदानन्द रूपा है उसी आत्मा से सब देवता सकल्प, काम या गन्ध, रूप, रस आदि भूत धर्म सब विद्यमान से प्रतीत होते हैं परन्तु यदि यह हृदयग्रन्थि मुक्त हो जाय अर्थात् खुल जाय तो पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, ब्रह्मा के धर्म सब अलग होकर हम शुद्ध सच्चिदानन्द रूप रह जावें यह ही परम पुरुपार्थ है और इसे ही मुक्ति कहते हैं। अथवा दूसरा प्रकार मुक्ति का क्षीणोदर्क यह है कि जिस प्रकार चार पादो के चार आकाशो को एक एक आकाश समझा जाता है उसी प्रकार इन छः देवताओ को भी वास्तव रूप मे एक ही देवता समझे क्योकि चन्द्रमा पृथ्वी से, पृथ्वी सूर्य से, सूर्य ब्रह्मा से, ब्रह्मा ईश्वर से और वह परमेश्वर से उत्पन्न हुए हैं। इसलिये सब भी वास्तव मे एक ही परमेश्वर हैं। ऐसा विश्वास होने पर गन्ध, रस, रूप आदि भिन्न पदार्थो के ज्ञान से भिन्नता नष्ट हो जाती है। ये सब ज्ञान ही ज्ञान समझ मे आने लगते हैं, जिसमे द्वैतभाव मिटकर हृदयग्रन्थि अपने आप मुक्त हो जाती है और एक ही सच्चिदानन्द के रहने से कैवल्यमुक्ति हो जाती है और यही परम पुरुपार्थ है इसको भूमोदर्क मुक्ति कहते हैं।

क्षीणोदर्क या भूमोदर्कमुक्ति की सिद्धि तप से ही हो सकती है तप का अर्थ योगाभ्यास है। योग यद्यपि तीन प्रकार का है, कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग जिनमे भक्तियोग भी चार प्रकार का है, हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग और राजयोग इनमे प्रथम दो सामान्य कक्षा के है, किन्तु अन्तिम दो उच्च कक्षा के हैं, इन दोनो मे भी राजयोग मुख्य है। मन्त्रयोग मे मूर्तियो का पञ्चोपचार या पोडसोपचार पूजन आदि ही योग का मुख्य वहिरङ्ग साधन है और मन्त्र, पुरश्चरण, जप आदि अन्तरङ्ग-साधन हैं।

इसी प्रकार राजयोग के चार पाद हैं। प्रथम वहिरङ्गसाधन आसन, प्राणायाम, यम, नियम आदि हैं और द्वितीय अन्तरङ्गसाधन है जिनमे धारण, ध्यान, समाधि आदि हैं। समाधि भी दो प्रकार की होती है सविकल्पक और निर्विकल्पक। इसी कारण मे योग के फल भी दो प्रकार के हैं। विभूति और कैवल्य। सविकल्पक समाधि से विभूति सिद्ध होती है जो लौकिक फलप्रद है और निर्विकल्पक समाधि से कैवल्यमुक्ति होती है और यही निर्विकल्पक समाधि ज्ञानयोग के नाम से प्रसिद्ध है। निर्विकल्पक समाधि के द्वारा ज्ञान के उदय होने पर ही मुक्ति होती है। ज्ञान के अतिरिक्त किसी भी उपाय से मुक्ति नही होती ऐसा वेद का सिद्धान्त है।

तमेव विदित्वा अति मृत्यु मेति नान्यः पन्था विद्यते अनाय

यह ब्रह्मगायत्री शाण्डिल्यविद्या है और शाण्डिल्य के उपदेशानुसार यह जीव विद्या है अतः इसे ही ब्रह्मगायत्री विद्या भी कह सकते हैं।

(क) जीव परिचय

जहा जो कुछ हैं वह सव दो भाग मे वाटा जा सकता है। १–सचेतन जीव, २–अचेतन जीव। जिनमे इन्द्रियाँ पाई जाती हैं उनको सचेतन और निरिन्द्रियो को अचेतन कहते हैं। ये दोनों ही ईश्वर के जगत् हैं, किन्तु इनमे सचेतन को ही सर्व साधारण लोग जीव कहते हैं। जो कुछ ईश्वर मे धर्म दीखते हैं ये सव थोड़ी–थोड़ी मात्रा मे इन जीवो मे भी पाये जाते हैं। जिस प्रकार ईश्वर अपने रूपों से अनु-व्यूहित है उसी प्रकार यह जीव भी है। विशेषता यह है कि ईश्वर मे असंख्यात त्रिलोकियाँ सन्निविष्ट हैं किन्तु इस जीव के शरीर मे एक ही त्रिलोकी दीखती है, वह भी कम मात्रा मे। इसी कारण से यह जीव ईश्वर की अपेक्षा वहुत ही कम ज्ञान रखता है। उस ईश्वर मे भिन्न प्रकार से ही इन्द्रियों का सन्निवेश है और सव प्रकार का ज्ञान भी ईश्वर मे सदा सर्वदा एक रूप से विद्यमान रहते हैं किन्तु जीव में इन्द्रियाँ भी परिमित स्थान मे परिमित मात्रा में हैं और उनसे ज्ञान भी परिवर्तनशील अर्थात् नित्य नही रहता, टूटती हुई दशा मे होता रहता है और उसमे संशय, भ्रम आदि ही सर्व साधारण लोग अज्ञानो का भी सन्निवेश रहता है। ईश्वर का ज्ञान जैसा नित्य है उस प्रकार जीव का ज्ञान नित्य न होकर किसी नियत क्रम से उत्पन्न होता है। वह क्रम यह है–

(ख) ज्ञानोत्पत्ति क्रम

(वस्तु, सूर्य और चक्षु जन्य ज्ञान सविकल्पक है)

स्वच्छ जल जिस प्रकार लवण, कटु, तिक्त, अम्ल, कषाय, मिष्ट आदि के योग से वैसे ही स्वाद का हो जाता है। इसी प्रकार स्वच्छ हमारी इन्द्रियाँ भी जिस रङ्ग की जिस वस्तु से योग करती हैं वैसी ही हो जाती है। वहुतो का खयाल है कि चक्षु इन्द्रिय वाहर विषय के देश तक जाकर विषयों को ग्रहण करती है और दूसरो का विश्वास है कि वाहर के विषय ही चक्षु पर आकर योग करते हैं। वस्तुतः ऐसा

कहना है कि न इन्द्रियाँ विपय देश मे जाती हैं और न विषय चक्षु मे आता है, किन्तु सूर्य के किरण किसी वस्तु पर टकराकर परिवर्तित होते हैं और वही परिवर्तित किरण चक्षु पर आकर उन वस्तु की मूर्ति वना देता है। ऐसी दशा मे वाहर के घटादि पदार्थ जो वास्तव मे परमेश्वर मे विद्यमान हैं और तीसरी चक्षु जो जीव में विद्यमान है, इन तीनो के सयोग होने पर जो नई वात पैदा होती है उसी को ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान आत्मा के स्वरूप निर्विकल्पक ज्ञान निर्विषयता होने से किसी विषय का अवलम्बन नही करता किन्तु सविकल्पक ज्ञान सर्वदा विपय की अपेक्षा रखता है विना विषय के उसका स्वरूप ही सिद्ध नही होता। निर्विकल्पक ज्ञान जगत् का आधार है और सवका कारण हैं। किन्तु सविकल्पक ज्ञान घटादि वाह्य पदार्थ और सूर्य किरण तथा इन्द्रिय इनके योग से ही उत्पन्न होता है।

(पांच गुणों का पांच शरीर वाले इन्हीं पांच देवताओं से संयोग ही ज्ञान है)

इन्द्रियां=नासिका, जिह्वा, चक्षु, त्वचा, श्रोत्र।
अर्थ=गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द।
देवता = पृथ्वी, वरुण, आदित्य, वायु, इन्द्र।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांचो ही भूत गुण ईश्वर से उत्पन्न हुए अर्थ हैं। यही शरीर के भीतर पञ्च देवता के रूप से विद्यमान रहते हैं। जव ये वाहर के पांचों द्रव्य गुण शरीर वाले इन्हीं पाच देवताओ से संयोग करते जो देवता कि इस शरीर मे पहले से प्रज्ञा मे मिले हुये हैं तव दोनो के मेल से जो वात पैदा होती है उसे ही ज्ञान कहते हैं।

व्यूह तीन प्रकार के कहे गये हैं—परमेश्वर, ईश्वर, जीव इन तीनो की आत्माओ को क्रम से ओम्, अहः, अहम् कहते हैं। इन तीनो आत्माओ मे भिन्न-भिन्न मन, प्राण, वाक् ये तीनो रहते हैं। इनमे से ओम् की वस्तु की वाक् से प्रेरित होकर अहः रूपी सूर्य के किरण की वाक् लौटकर अहम् की चक्षु रूपी वाक् मे आती हैं और इन तीनो वाको के तीन प्राण परस्पर मिल जाते हैं। जिनके मिलने से जो तीनो मन का मेल होता है उसी मेल को ज्ञान कहते हैं।

मन दो प्रकार का है। एक इन्द्रिय, दूसरा अनिन्द्रिय। इसमे इन्द्रिय मन से सुख, दु ख, मोह का ज्ञान होता है और वह इन्द्रिय मन शोणित मे या शोणित का केन्द्र हृदय मे रहता है। किन्तु अनिन्द्रिय मन इन्ही ग्यारह इन्द्रियो मे रहता है, इस मन के विना कोई भी इन्द्रिय अपना काम नही कर सकती अथवा इन्द्रियों के काम होने पर भी वे (काम) निष्फल हो जाते हैं। अर्थात् उनसे ज्ञान या क्रिया कुछ नही होते इसी अनिन्द्रिय ज्ञान को प्रज्ञा कहते हैं।

यह मस्तिष्क (भेजा) से निकल कर सव इन्द्रियो मे सर्वथा व्याप्त रहता है। जव कभी सूर्य किरण के द्वारा किसी वस्तु का रूप चक्षु इन्द्रिय में आता है तो वह चक्षु इन्द्रिय एक वस्तु की आकृति उत्पन्न करके उसी प्रज्ञा रूपी मन मे अर्पण कर देता है। इतना ही करके कृतकृत्य होकर शान्त हो जाता है। अव वह मन उस आकृति को लेकर आत्मा मे अर्पण करता है। यदि वह आत्मा आत्मा मे स्थिर हो जावे तो

उसी को अवगम ज्ञान कहते हैं। यही अवगमज्ञान मुख्य ज्ञान है। किन्तु इसमें ४ प्रकार हैं—१ अवग्रह २ ईहा ३ अवाय, ४ धारणा इन मे इन्द्रिय जन्य ज्ञान को अवग्रह कहते हैं, मनोजन्य ज्ञान को ईहा कहते है, आत्मजन्य ज्ञान को अवाय कहते हैं, और अवाय की स्थिरता को धारणा कहते है।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु में द्रव्य, गुण, क्रिया इन तीनो पदार्थों की सत्ता रहती है जिनमे क्रिया आगन्तुक है वह उत्पन्न, विनिष्ट होता रहता है, किन्तु द्रव्य और गुण ये दोनों स्थिर रहते है नैयायिको का मत है कि चक्षु इन्द्रिय पहले द्रव्य को ग्रहण करती है पीछे द्रव्य के सम्बन्ध से गुणों को भी ग्रहण कर सकती है। किन्तु यहां इसके विपरीत कहना है। कोई भी इन्द्रिय किसी भी द्रव्य को ग्रहण नही करती। विचार कर देखने से समझ मे आता है कि पाचो ज्ञानेन्द्रिया पाचो इन्द्रियार्थ अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इनमे से अपने-अपने गुण को ही केवल ग्रहण कर सकती है। ये इन्द्रिय अपने गुण के अतिरिक्त द्रव्य को कदापि नही जानती। गुणो का ज्ञान ही इन्द्रियो का ज्ञान है और इतने ही से इन्द्रिया कृतकृत्य हो जाती है इसी ज्ञान को अवग्रह कहते हैं। इस अवग्रह होने पर वह अवग्रह ज्ञान मनमे पहुचता है, उस समय मन उन गुणो को ग्रहण करके उन गुणो का गुणी द्रव्य का स्वरूप निश्चय करता है। अर्थात् द्रव्य का ज्ञान करना मन का काम है किन्तु यदि कोई प्रश्न करें कि इन्द्रिय के द्वारा गुण का ज्ञान होने पर पश्चात् मन किसी द्रव्य के जानने के लिये व्यापार ही क्यो करता है तो उसके उत्तर मे हम कहेंगे कि जब इन्द्रिय अपने विषय को अर्थात् गुण को ग्रहण करके मनमे समर्पण करती है तब उस मनमे पहले का आये हुए भिन्न-भिन्न द्रव्य वाले भिन्न-भिन्न कितने ही गुणो के सस्कार उद्बुद्ध हो जाते है। उनके उद्बोधन से मन मे एक प्रकार का तरङ्ग उठता हैं। अर्थात् उन गुणो के आश्रय वाले अनेक द्रव्यों का स्मरण कराता है जिससे एक प्रकार का सशय ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अर्थात् चक्षु के द्वारा लाल रङ्ग देखने पर मन इस द्विविधा मे आ जाता है कि यह लाल रङ्ग कपडे पर है या पोटे पर। इस बात के जानने के लिये मन यत्न करने लगता हैं। इसी प्रकार मरुस्थल मे कटी धूप पडने पर जमीन की बालू से टकराकर सूर्य की किरणें ऊपर को फैंकी जाती हैं। उस समय ऊपर से आते हूये किरणो के साथ धक्का खाते हुए इस प्रकार हिलने लगते हैं जैसे किसी सरोवर मे पानी की लहरें होती हो। उस समय चक्षु केवल लहर को ही देखती है किन्तु मन मे सब प्रकार की लहरो का सस्कार उद्बुद्ध होने पर झट विचार उत्पन्न होता है कि ये लहरें जल की है या वायु की है या सूर्य की किरण की है।

इस प्रकार सन्देह ज्ञान को लेकर जब मन आत्मा मे पहुँचता है तो उसी क्षण आत्मा उस मन को आज्ञा देता है कि इस लहर के द्रव्य का वह यथार्थ निर्णय करें। यह आज्ञा पाते ही मन व्यापार करने लगता है और सहकारी गुणो को देखने के लिये इन्द्रियो को प्रेरणा करता है, कुछ अपने आप भी कल्पना करता है। जिस द्रव्य का उन गुणो के साथ बाधक पाता है उसको तब छोड़ जाता है और जिन गुणों का जिस द्रव्य का साधन पाता है उस द्रव्य को पकड कर उस पर स्थिर हो जाता है। इस प्रकार इस,

---

❀ प्रज्ञान मे विज्ञान और विज्ञान मे चेतना है।
महान् आत्मा, क्षेत्रज्ञआत्मा, चिदात्मा।

तरङ्ग बन्द हो जाता है और कुछ छोडकर कुछ लेकर किसी एक वस्तु का स्वरूप बनाकर आत्मा मे पहुँचा देता है। प्रत्येक इन्द्रिय जन्य ज्ञान के पश्चात् नियम से यह मन कई विकल्पो को पैदा करके साधक, बाधक के अनुगम से अन्वीक्षण (टुकडे) करके एक वस्तु का ज्ञान करता है। इस सम्पूर्ण व्यापार को दुबारा देखने को ईहा कहते हैं। यह ईहा कही कम कही ज्यादा कही शीघ्रकाल मे यत्न कही देर तक होता है। उसके समय का या मात्रा का तो नियम नही हो सकता किन्तु यह ईहा सर्वत्र होता अवश्य है। यदि कल्पना करो कि जिस मनुष्य मे पहले किसी प्रकार का सस्कार उत्पन्न हुआ ही नही है तो उस समय इन्द्रिय जन्य ज्ञान को ही ज्यो का त्यो लेकर मन आत्मा मे पहुँचा देता हैं। वहाँ पर किसी प्रकार के सस्कारो का उद्बोधन, होने के कारण सदेह नही होता इसलिये आत्मा भी मन को निर्णय करने के लिये प्रेरणा नही करता। इसलिये उस मूर्ख मनुष्य के दृष्टि मे किसी प्रकार का विचार न उठकर इन्द्रिय जन्य ज्ञान ही मन का ज्ञान भी हो जाता है। वहाँ ईहा का स्वरूप विशेप प्रकार नही होता है जब कि मन निःसशय रूप से किसी एक ही विपय को लेकर आत्मा मे पहुँचाता है तो वह विषय सत्य हो या मिथ्या हो मन के दिये हुए को आत्मा ले लेता है उसी का नाम अवगम है। अवगम मे आत्मा उस विषय को श्रद्धा से पकडता है। यह श्रद्धा शब्द, श्रत् और धा से बना है। श्रत् का अर्थ है सत्यता, उससे किसी विपय की धारणा करना श्रद्धा होती है। तात्पर्य यह है कि किसी विपय को सत्य समझकर उसके विपरीत आत्मा का भाव न होना अथवा अभिमुख होना ही श्रद्धा है, इस प्रकार श्रद्धा से धारणा करना भी दो रूप से होता है। उपेक्षा बुद्धि से और अपेक्षा बुद्धि से इनमे उपेक्षा से अवगम होने पर आत्मा मे उसका सस्कार दृढता से उत्पन्न नही होता। जिस प्रकार काच पर मुख का प्रतिबिम्ब होकर भी बिना कुछ चिह्न किये ही काच पर से निकल जाता है। उसी प्रकार ज्ञान होने पर भी वह विषय आत्मा से निकल जाता है। किन्तु यदि अपेक्षा बुद्धि से अवगम हो तो आत्मा मे उसका सस्कार हो जाता है। आत्मा मे उसका चिह्न मुद्रित हो जाता है वही सस्कार धारणा या वासना कहलाती है इस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति मे क्रम से अवग्रह, ईहा, अवगम और धारणा मे चार कक्षा उत्पन्न होती हैं। इन चारों के होने पर ज्ञान का स्वरूप वास्तव मे सिद्ध होता है।

जीव ईश्वर का अन्तरान्तर भाव

एक अगुल का सोवा हिस्साभर भी कोई प्रदेश ऐसा नही है जहा कि कोई जीव न हो। स्थूल या अतिस्थूल, सूक्ष्म या अतिसूक्ष्म जीवो से यह जगत् सर्वत्र व्याप्त है। यह वायु जो सर्वत्र आकाश मे व्याप्त है, यह वायव्य (वायु शरीरी) जीवो से पर्याप्त है। इसी प्रकार आग्ने (अग्नि शरीरी) जीवो से अग्नि भरा है और जलीय (जल शरीर वाले) जीवो से जल तथा पार्थिव शरीरी जीवो से यह पृथ्वी सर्वत्र पर्याप्त है।

यह जीव दो प्रकार के देखे गये हैं। एक तो अनन्त जीवो से पर्याप्त अङ्गो का धारण करता हुआ जीव का प्रभेद है जैसा कि मनुष्य शरीरी जीव के अङ्ग प्रति अङ्ग, शोणित, मांस, अस्थि इत्यादि असख्यात जीवो से बने हुए होते हैं। किन्तु दूसरे प्रकार के जीव हैं कि जिनके शरीर सङ्गठन मे किसी अन्य जीव का प्रवेश नही होता। जो इसी मनुष्य शरीर मे सबसे छोटा से छोटा सूमर नाम का जीव है वह बिना

अन्य जीवो के मिलाव के अपना शरीर रखता है। इन सब जीवो मे प्रथम प्रकार के [illegible] दूसरे प्रकार के जीव जो सृमर कहे गये हैं अव्यूढ हैं क्योंकि इनमे और दो जीवों [illegible] किया गया है। किन्तु मनुष्य आदि जीवो का शरीर व्यूढ इसलिये है कि इनमे अनेक जीवों [illegible] मे एक प्रकार का व्यूह किया गया है।

व्यूढ आत्मा तीन प्रकार का कहा गया है। १–जीव, २–ईश्वर, ३–परमेश्वर। इनमे जिस प्रकार अनेक क्षुद्र जीवो से मनुष्यादि व्यूढ आत्मा के शरीर मे व्यूह है उसी प्रकार इन मनुष्यादि जीवों से ईश्वर के शरीर मे व्यूह होता है और इसी प्रकार अनन्तानन्त ईश्वरो से भी परमेश्वर के शरीर मे व्यूह होता है, इस परम्परा के एक छोर मे अव्यूढ जीव अर्थात् सृमर है और दूसरे छोर मे परमेश्वर है। बस चेतन की सृष्टि इतनी ही है, इसी चेतन की सृष्टि के शरीर बनकर भीतर बाहर अचेतन सृष्टि [illegible] है यह अचेतन भाग गौण है। किन्तु चेतन भाग प्रधान है क्योंकि चेतन के ही शरीर के लिये [illegible] सृष्टि दीख पडती है।

परमेश्वर, ईश्वर और जीव ये तीन व्यूह है। इनमे जीव तीन प्रकार के है। [illegible] तीन प्राण वाला है, उद्भिज जो दो प्राण वाला है, खनिज व्यूह वाला जो एक प्राण वाला है। [illegible] यदि हम व्यूढ सृष्टि को देखें तो एक छोर मे परमेश्वर है और दूसरी छोर मे खनिज है। [illegible] बाहर देवता और भूत है। कोई भी देवता बिना भूतो के नही है, भूतो से देवता अपना शरीर बनाते हैं और भूत और देवता दोनो से खनिज का शरीर बनता है, खनिजो से उद्भिज का शरीर बनता है [illegible] और उद्भिज दोनो से अव्यूढ जीवो का सृमर शरीर बनता है। अव्यूढ जीवो से भ्रूण जीव बने है, और भ्रूणो से स्थूल जीवो का शरीर बना है, और स्थूल जीवो से ईश्वर शरीर और ईश्वरो से परमेश्वर बना हुआ है।

जिस प्रकार सृमर या भ्रूण आदि अनेक जीवो के शरीर से एक स्थूल जीव का शरीर बना है। उसी प्रकार कई उपेश्वरो के शरीर से एक-एक ईश्वर का शरीर बना है। और कितने ही दूसरे उपेश्वरो से एक-एक उपेश्वरो का भी शरीर बना है तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार परमेश्वर के शरीर मे [illegible] ईश्वर है उसी प्रकार ईश्वर में भी कितने ही क्षुद्र ईश्वर है और उनमे भी कितने ही क्षुद्रातिक्षुद्र [illegible] है। और इन सबमे स्थूल या सूक्ष्म जीवो की सत्ता का कर्म वर्तमान है, कितने ही गन्धर्व परिवार [illegible] आकाश मे विचरते है, उन गन्धर्वो से परिवारित चन्द्रमा है, चन्द्रमाओ से परिवृत पृथ्वी है, [illegible] परिवृत सूर्य है यह सूर्य एक उपेश्वर है। एक-एक सूर्य का एक-एक त्रैलोक्य है। ऐसे [illegible] असख्य त्रैलोक्य से परिवृत एक ईश्वर है, ऐसे अनेक ईश्वरो से परिवृत एक परमेश्वर है।

इन सब का तात्पर्य यह है कि जो जहा कुछ हम देख रहे है ये सब एक ही परमेश्वर का [illegible] हैं। उस परमेश्वर की महिमा के साथ जब अणिमा का ध्यान करते है तो उस अणिमा की [illegible] शाखाओ मे बट जाती है प्रत्येक शाखा मे एक व्यूह के अन्तर्गत दूसरे अनेक व्यूहों का [illegible] है। जब कि अनेक व्यूहों का होना सभव न होकर सूक्ष्म कोई एक रूप शेष रह जाता है तो [illegible]

भाग समाप्त होती है। प्रत्येक अणिमा की अन्तिम सूक्ष्मता से आरम्भ करके यदि भूमा की ओर बढ़ें तो सभी धाराओं के अन्त में वही एक परमेश्वर मिलता है कि जिससे परे कही कुछ नही है। वह परमेश्वर भूमा है यह भूमा देश से असीम या अनन्त है किन्तु सख्या मे एक है। इसके विपरीत अणिमा संख्या मे असीम या अनन्त है। किन्तु देश मे ससीम है परन्तु काल मे दोनो असीम या अनन्त हैं, अणिमा प्रवाह धारा मे काल मे असीम है।

आरम्भक तारतम्य उपादान कारण

परमेश्वर, ईश्वर और जीव के उपादान कारण जो मन, प्राण, वाक् हैं उनमें आपेक्षिक कमी-बेशी

यह परमेश्वर मन, प्राण, वाक् से विभक्त है। मन तीन प्रकार का होता है–१ प्राणो का प्रभाव अर्थात् सभी प्रकार के प्राण इसी मन मे से निकलते हैं। २ यही मन सब प्राणो की प्रतिष्ठा है, अर्थात् प्राण रूपी वायु के लिये यह मन आकाश रूपी आधार है। ३ और तीसरा इन सब प्राणो का यही मन प्रलय स्थान है। अर्थात् यह प्राण बल रूप से क्रिया करके अन्त मे इसी मन मे लीन हो जाता है।

इनमे आधार रूप आकाश जो मन है वह भूमा है। उस भूमा की कोई भी सीमा नही। उसी अनन्त मन रूपी आकाश मे यह सब कुछ जो जहा दीखता है विद्यमान है। और जहा तक यह मन है वही परमेश्वर का रूप है। यह मन प्राण के बिना कभी नही रहता। प्राण को बल कहते हैं। वह बल मन मे ही उठता है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि मन के गिरजाने पर सर्वाङ्ग शरीर शिथिल हो जाता है। सब अङ्गो मे दुर्बलता आ जाती है। बोलने मे भी कष्ट होता है परन्तु यह बल अणिमा रूप अनेक खण्डो के मिलने मे अपना रूप रखता है। यह बल के अनन्तानन्त खण्ड अखण्ड मन मे व्याप्त रहता है। जिस प्रकार अखण्ड मन को परमेश्वर कहा है उसी प्रकार इन अनन्तानन्त बल के खण्डो की समष्टि को भी परमेश्वर समझना चाहिये। ये प्राण भी बिना वाक् के नही रहते। मन से प्रेरित होकर प्राण वाक् मे ही क्रिया रूप मे व्यक्त होता है। वेद, यज्ञ और देवता या भूत रूपी प्रजा इन तीनो को प्राण, वाक् से ही उत्पन्न करता है। जिस प्रकार प्राण खण्डो की समष्टि को भी परमेश्वर समझना चाहिये। जो जहा जितने वेद या यज्ञ है या जितने देवता या भूत हैं या जितने इनके विकार हैं ये सब इस परमेश्वर मे ही विद्यमान हैं।

जिस प्रकार जिन-जिन तत्वो से यह परमेश्वर पर्याप्त है उसी प्रकार उन्ही समस्त तत्वो से उसी परमेश्वर मे भिन्न-भिन्न कई एक ईश्वर उत्पन्न हो गये हैं। विशेषता यही है कि परमेश्वर के मन, प्राण, वाक् असीम है किन्तु ईश्वर स्वय ससीम है और उसके मन, प्राण, वाक् भी ससीम है और परमेश्वर एक है किन्तु उसमे ये ईश्वर अनन्त है। जिस प्रकार परमेश्वर मे ईश्वर उत्पन्न हुए हैं उसी प्रकार एक-एक ईश्वर मे अनन्त जीव उत्पन्न होते है और ईश्वर के अनुसार इन जीवो मे भी प्रत्येक २ भिन्न-भिन्न मन, प्राण, वाक् अपने विकारो के साथ विद्यमान रहते है। किन्तु जैसे ईश्वर मे परमेश्वर की अपेक्षा न्यूनमात्रा मे ये सब है उसी प्रकार इन जीवो मे ईश्वर की अपेक्षा भी न्यूनमात्रा मे यह सब है जो

विकार अधिक मात्रा के सापेक्ष है वे ईश्वर मे होने पर भी जीवो मे न्यूनमात्रा के [illegible]
होते अर्थात् अधिक मात्रा होने से हो सकता है इसलिये ईश्वर का ज्ञान या शक्ति या [illegible]
रूप से रहती है। किन्तु जीवो मे यह सब अत्यन्त अल्प होती है यही ईश्वर मे जीवो मे [illegible] है।

भूमोत्तर या अणिमोत्तरवाद

(बड़े से छोटे या छोटे से बड़े सृष्टि क्रम का विचार)

(क) भूमोत्तर या विकासवाद

सृष्टि क्रम मे इस बात का सशय विद्वानो मे चल रहा है कि यह सृष्टि भूमोत्तर है या अणिमोत्तर है। अर्थात् सब से प्रथम छोटी से छोटी चीजें बनी फिर उनके समुदाय से धीरे-धीरे [illegible] बन गई हैं यह भूमोत्तरवाद है। इसके विपरीत अणिमोत्तरवाद वह है कि जिसमे सबसे प्रथम [illegible] वस्तु बनी फिर उससे धीरे-धीरे छोटी वस्तुए बनते-बनते अन्त मे सब से छोटी वस्तुएं [illegible] गई हो। भूमोत्तरवादी कहते हैं कि सभवत सब से प्रथम परमाणुओ की सृष्टि समझ मे आती है। दो परमाणुओ के योग से द्वयणुक बना और तीन अणु से त्र्यणुक बना और तीन से ज्यादा तीन परमाणु [illegible] मिलने से छोटे बडे कई प्रकार के त्रसरेणु उत्पन्न होते हैं और त्रसरेणुओ से भूत, महाभूत और भौतिक सृष्टिया क्रम से होती है। भौतिक मे भी सबसे प्रथम खनिज सृष्टि होती है, उसमे भी प्रथम छोटी और धीरे-धीरे बडी सृष्टि होना सभव है। खनिजो के पीछे उद्भिजो की सृष्टि है। जिसमे भी प्रथम [illegible] पत्तेवाले कई सृष्टि के अनन्तर दूर्वा, पौदे, लता, वृक्ष होते हुए अन्त मे पीपल, वट आदि [illegible] की सृष्टि हुई। उद्भिजो के पश्चात् जीवजसृष्टि होती है उसमे भी प्रथम अत्यूर्धक्रिमि, [illegible], कीट, [illegible], मसक, पतङ्ग, पक्षी, पशु, मनुष्य आदि जीवो की सृष्टि क्रम से हुई सब प्रकार के जीव सृष्टि के [illegible] उन्ही सब ईश्वर का स्वरूप बना और ईश्वरसृष्टि के बाद उन्ही सब ईश्वरो से परमेश्वर [illegible]। परमेश्वर मे आकर सृष्टि समाप्त होती है क्योकि वह भूमा है। उससे अधिक बढने का [illegible]।। इसलिये इस प्रकार सृष्टि क्रम को भूमोत्तरसृष्टि कहेंगे।

कितनो ही ने जीवो की गणना १४ भेदो मे की है। जिनमे वृक्ष, कृमि, कीट, पक्षी, पशु [illegible] अधम कक्षा के तमोविशाल जीव हैं और मनुष्य एक ही मध्यम कक्षा का रजोविशाल जीव है। [illegible], यक्ष, विद्याधर, गन्धर्व, पितर, देव, इन्द्र और ब्रह्म ये आठ उत्तम कक्षा के सत्व [illegible] और कितने ही दूसरे प्रकार से १४ भेद जीवसृष्टि के माने है। १ स्थिरपाद, २ अपाद, ३ [illegible] ५ बहुपाद, ६ षोडशपदी कीट, ७ अष्टापद, ८ षट्पद पक्षी, ९ षट्पद पशु, १० चतुष्पाद पशु, ११ [illegible] पक्षी, १२ द्विपद हस्तवान, १३, उत्थित पद, १४ अपाद इन चौदहो मे भूमोत्तरवादी [illegible] होगा कि आदि मे वृक्ष बने फिर कृमि, कीट, आदि होते हुए पशु से मनुष्य बना मनुष्यो मे [illegible]। धीरे-धीरे आत्मा छोटी सी अवस्था से विकास पाकर ब्रह्म तक बढ गया है इसीसे इसको [illegible] कहते हैं। प्रायः अधिकतर नास्तिको का या अनार्यों का यही सिद्धान्त है। [illegible] छोटे-छोटे जलकण मिलकर महाविशाल मेघ बना है। छोटे-छोटे शिलाखण्ड [illegible]।

वृक्षों की छोटी टहनियों से बड़ा पुष्प निकलता है और छोटे से बीज से विशाल वटवृक्ष होता है। पेट में छोटा सा बच्चा होकर धीरे धीरे बढ़ कर जवान होता है। तात्पर्य यह है कि सर्वत्र प्रकृति-नियम को देखते हुए यह सहज मे सिद्ध हो जाता है कि सृष्टि क्रम मे प्रथम छोटा है पीछे बड़ा है, इसलिये सृष्टि भी दिन-दिन बढ़ती ही जाती है। पृथ्वी भी बढती है, पृथ्वी पर जीवो की संख्या भी बढती जाती है।

(ख) अणिमोत्तरवाद

चतुर्वर्ग सृष्टिक्रम

दूसरा मत यह है कि यह परमेश्वर सदा सर्वदा नित्य सनातन मूर्ति है। ऐसा कभी विश्वास नही करना चाहिये कि परमेश्वर या यह उसका जगत् किसी दिन सर्वथा न था। पीछे से उत्पन्न हुआ है प्रत्युत यह मानना उचित जचता है कि यह जगत् और जगदाधार परमात्मा परमेश्वर सदा सर्वदा इसी प्रकार विद्यमान रहते है। केवल उसके अवयव प्रत्यवयवो में ही सृष्टि क्रम कभी कही प्रवृत्त होता है और कभी कही विलुप्त होता है। जो यह नित्य सनातन परमेश्वर सदा सर्वदा विद्यमान रहता है उसके चार वर्ग है १-आत्मा, २-रूप, ३-शरीर, ४-वित्त। इनमे आत्मा जो अव्याकृत है वह वास्तव मे भूमा है, निर्विशेष निर्विकल्प है, न वह उत्पन्न होता है न कभी नष्ट होता है। उस आत्मा के ३ रूप है। मन, प्राण, वाक् ये तीनो ही एक साथ भूमा होने से असीम है। उनमे मन की इच्छा से, प्राण की क्रिया से जो वाक् मे वेद, यज्ञ, देवभूत विकार उत्पन्न होते हैं जिनसे इस आत्मा का शरीर बना है वह भी भूमा होने से असीम है। ये त्रिवर्ग (आत्मा, रूप, शरीर) परमेश्वर का कभी लुप्त नही होता, किन्तु इसी परमेश्वर का वित्त समय-समय पर नष्ट भी होता है, किन्तु उसकी जगह दूसरा वित्त उत्पन्न हो जाता है। विना वित्त के परमेश्वर की तन्त्र सस्था खाली नही रहती। परमेश्वर का वित्त अनन्तानन्त ईश्वर है ये उत्पन्न विनष्ट होते रहते है। प्रत्येक ईश्वर के भी पृथक्-पृथक् तन्त्र सस्था होती रहती है और उनमे भी चार-चार वर्ग होते है, जिनके त्रिवर्ग की सत्ता ईश्वर की स्थिति के साथ है। किन्तु उसका वित्त जो उपेश्वर कहलाता है उत्पन्न विनष्ट होते रहते है। इन जीवो मे भी भ्रूणादि जीव वित्त रूप हैं, जो प्रधान जीव के जीवन काल मे ही उत्पन्न विनष्ट होते रहते है। इस प्रकार विचार करने से जाना जाता है कि बडे के शरीर मे छोटा और उसके शरीर मे भी और छोटा उत्पन्न होता रहता है यही सृष्टिक्रम है और यह वास्तव मे अणिमोत्तर है।

(ग) जीव और ईश्वर के अपने अङ्गो का जानना न जानना

यहाँ एक प्रश्न यह भी उठता है कि इस चतुर्वर्ग मे जो वित्त का भाग है उसमे जिस प्रकार ज्ञान की और बल की प्रवृत्तियां होती है उनको उस वित्त का स्वामी आत्मा जानता है या नही और उसके जितने चित्त है उनको भी जानता है या नही तो इस प्रश्न के उत्तर मे हम प्रथम अपनी परीक्षा करेगे। जिस प्रकार परमेश्वर या ईश्वर के चतुर्वर्ग सस्था मे वित्त है उसी प्रकार हम जीवो मे भी वित्त हैं। हम लोगो के शरीर के भीतर बहुत से कीटाणु कीट जीव हैं, उनका ज्ञान या बल आदि की प्रवृत्तियां हमारे

ज्ञान बल से भिन्न हैं उनको भूख, प्यास लगती है, परस्पर युद्ध करते हैं, [illegible] हैं, [illegible] हैं। तात्पर्य यह है कि हमारे अनुसार वे सब भी बहुत कुछ ज्ञान रखते हैं और [illegible] हैं। किन्तु हम उनके ज्ञानो को या उनकी चेष्टाओ को किंचित् मात्रा भी नहीं जानते [illegible] जाते हैं, कितने ही नये उत्पन्न होते हैं जिनकी मुझको कुछ खबर नही और [illegible] जानते है या भिन्न-भिन्न चेष्टाऐं करते हैं इन सब का ज्ञान उन कीटो को भी नहीं है [illegible] अनुमान कर सकते हैं कि हमारे शरीर के कीटो के अनुसार हम सब जीव भी [illegible] विनष्ट होते रहते है। उन कीटो के अनुसार हमारे ज्ञान और चेष्टाओ को भी [illegible] और उसकी ज्ञान चेष्टा की हमको भी खबर नही है।

अथवा दूसरा विचार यह हो सकता है कि अण्ड और पिण्ड मे समान ही [illegible] के रहने पर भी मात्रा का भेद अवश्य है। जिस प्रकार हमारे शरीर के कीटो के मन, प्राण [illegible] अल्प मात्रा के होने से उनमे ज्ञान इन्द्रियाँ और कर्म इन्द्रियाँ उनके शरीर के [illegible] मात्रा मे बने हैं उसी प्रकार हमारे शरीर मे भी मन, प्राण की अल्पता के कारण से ही ज्ञान इन्द्रिय, और कर्म इन्द्रिया अति अल्पभाग मे ही बने हैं। हम आँख से ही देख सकते है, कान, [illegible] जीवो मे ज्ञान-मात्रा की कमी है। हम नियत इन्द्रियो के अतिरिक्त कुछ भी ज्ञान [illegible] और आँख, कान से चल नही सकते। किन्तु अण्ड रूपी ईश्वर के शरीर मे यह [illegible] गया है कि जीव के अनुसार ईश्वर के शरीर मे भिन्न भिन्न नियत इन्द्रिया नहीं हैं। [illegible] के भागो से सब इन्द्रियो का काम लेता है, इसलिये उसके कोई ज्ञान कदापि बन्द नहीं होता। भीतर बाहर प्रत्येक अङ्ग से प्रत्येक ज्ञान सर्वदा होता रहता है। इसलिये जिस प्रकार हम [illegible] शरीर के भीतर शोणित, अस्थि, मज्जा आदि मे या उनके कीटो मे अपने चक्षु का दल न [illegible] देख सकते हैं न उनको जान सकते है, उस प्रकार ईश्वर की बात नही है। क्योंकि [illegible] से ज्ञान या क्रिया होती रहती है। इसलिये यह बहुत सम्भव है कि वह ईश्वर हम [illegible] शरीर स्थिति की सभी ज्ञानो को सभी चेष्टाओ को सदा सर्वदा बिना [illegible] हो यही अश जीवों से ईश्वर मे अधिक है।

विस्फोटवाद

सबसे प्रथम परमेश्वर का होना ही संभव होता है। वह परमेश्वर स्वभाव [illegible] ही परिणत होता रहता है। जिस प्रकार समुद्र मे छोटे बडे सहस्रो तरङ्ग, [illegible] इत्यादि उत्पन्न विनष्ट-होते रहते है। उसी प्रकार महाविशाल परमेश्वर के [illegible] विकार उत्पन्न होते है उनको ही ईश्वर कहते हैं। इन ईश्वरो की सृष्टि के पीछे [illegible] विकार उत्पन्न हुए उन्हे सूर्य कहते है। वैसे ही सूर्य का विकार पृथ्वी है और पृथ्वी [illegible] है। मनुष्य शरीर मे भी कितने ही कीट और कृमि उत्पन्न हुए और कृमि के पश्चात [illegible] मे रोमवाली और केश आदि उद्भिज के रूप है वे ही पृथ्वी मे पहुँचकर [illegible] रूप से परिणत होते हैं और उन वृक्षो के वल्कल, फूल, फल, लकड़ी, गुठली आदि [illegible]

वृक्ष के ऊपर किसी दूसरे वृक्ष के लिए बीज बनते है। इसी प्रकार बड़े बडे वृक्षो के अङ्ग प्रत्येङ्ग ऊपर धीरे धीरे सहस्रावधि भिन्न भिन्न प्रकार के वृक्षो का बीज बनकर नई नई जाति के वृक्ष उत्पन्न बन रहे हैं। इसी प्रकार मनुष्य के अवयव और वृक्ष के अवयव मिल मिलाकर पृथ्वी मे नाना प्रकार के खनिजो की उत्पत्ति के कारण होते है इस प्रकार परमेश्वर से लेकर छोटी से छोटी वस्तु तक एक जाति के अवयव से पृथ्वी मे सरदी गरमी के परिपाक से बदल कर भिन्न-भिन्न प्रकार के दूसरी वस्तुओ के बीज बनते जा रहे हैं यही सृष्टिक्रम है।

जिस प्रकार ये सब पदार्थ अपने सजातियों को उत्पन्न करते हैं। उसी प्रकार विजातीय नई-नई वस्तुओ के लिये भी यही बीज हो जाते हैं। जैसे मिट्टी किसी वस्तु के सयोग से विकार पाकर काच बनता है और वह काच फिर पृथ्वी मे गिरकर कितने और खनिज धातुओ के उपादान बनता रहता है। जीव जाति का जीव के शरीर मे जो भौतिक विकार था वही स्वाती नक्षत्र के जलविन्दु मे सम्मिलित होकर मोती जैसी खनिज वस्तु को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार मिट्टी या लकड़ी काल पाकर पत्थर होना है, पत्थर भी काल पाकर कोयला होता है, कोयला भी काला पाकर हीरा जैसा खनिज वस्तु होती है। इत्यादि सर्वत्र जानना चाहिये। तात्पर्य यह है कि खनिजों की उत्पत्ति का बीज उद्भिज और जीवो के अवयव से मिलता है। और उद्भिजों का बीज जीवो के अवयव से बना है। जीवो का बीज ईश्वर के अवयव मे और ईश्वर परमेश्वर से निकला है। इस प्रकार बडे के अवयव फूट कर छोटी वस्तु की उत्पत्ति का कारण होता है। इस मत को विस्फोटवाद कहते हैं।

युगपत् सृष्टिवाद

कितने ही विद्वान् एकदम सृष्टि क्रम मे भूमोत्तरवाद अर्थात् छोटे से बडे होने का क्रम मानते हैं। और कितने ही अणिमोत्तरवाद अर्थात् बडे से छोटे होने का क्रम मानते हैं। परन्तु मेरा विचार है कि सृष्टि मे भिन्न-भिन्न स्थलो मे ये दोनो ही क्रम दीखते है। प्रायः चीन देश मे एक काठ की मञ्जूषा मे मेवे खूब भरकर हवा वन्द करके कुछ रोज तक धूप मे रखते हैं, सब मेवे सड़कर हजारो कीडे हो जाते हैं। उनमें एक दूसरे को खाने लगता है। इसी तरह पर खाते २ अन्त मे एक कीडा मंजूषा के आकार का बन जाता है, उसको निकाल के काट २ कर अमीर लोग खाते हैं। वहा पर हजारो छोटे कीडो से एक ही बडे कीडे का होना देखा गया है इससे तो भूमोत्तरवाद सिद्ध होता है। किन्तु मनुष्य आदि किसी प्राणी का शरीर यदि पानी के समीप कही छोड दिया जाय तो सारा शरीर सड़कर हजारो कीड़ो मे परिणत हो जाना है। यहां पर एक बडे जीव शरीर से छोटे-छोटे सहस्रो जीवो के शरीर उत्पन्न हुए यह अणिमोत्तर क्रम सिद्ध होता है। इस प्रकार दोनो क्रम दीखने से एक कोई क्रम निश्चित नही किया जा सकता इसमे तो यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म रूप भूमा ही पूर्व में था उसी का स्फोट होना यह जगत् है।

अथवा मनुष्यादि प्राणियो की शरीरसृष्टि के अनुसार जगत् की सृष्टि जाननी चाहिये। माता के उदर में शुक्र शोणित मिलकर जो विकार पैदा होता है उसकी प्रकृति कोई एक नही है। प्रत्युत उस द्रप्सके अणु भाग मे एक साथ भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक विकार होना शुरू हो जाता हैं। एक ही समय मे किसी

अंश से माया बनता रहता है और दूसरे किसी अंश से घट या हाथ, पांव इसी तरह [illegible], मास, स्नायु, मज्जा, शोणित आदि भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तु बन जाती हैं। [illegible] क्रम नहीं है। लकडी मे घुन के शरीर, बेर आदि फल मे कीडो के शरीर बनने समय [illegible] माथे से पांव तक सब अङ्ग प्रत्यङ्ग एक साथ ही बन जाते हो इसी प्रकार [illegible] शरीर है। इस शरीर के भी यही सम्भव है कि सब अङ्ग प्रत्यङ्ग छोटे से [illegible] अनुसार एक साथ हो। मनुष्य के शरीर मे जिस प्रकार अनेक भाव कफ, पित्त, [illegible] रहते हैं, वे नष्ट होकर फिर उत्पन्न होते हैं। ठीक उसी प्रकार परमेश्वर के शरीर [illegible] सदा सर्वदा कुछ न कुछ अवश्य ही उत्पन्न-विनष्ट होता रहता है। किन्तु समष्टिरूप से शरीर [illegible] होना एक साथ ही सब अङ्गो की उत्पत्ति से होता है, उसमे अग्र पश्चात् का क्रम नहीं है। [illegible] के जितने अवयव हैं, सब असत्य हैं क्योकि सब नष्ट हो सकते है। इसी प्रकार यह भी [illegible] है कि ये सब सत्य हैं क्योकि इसका मूल उपादान तत्व सत्य है, वह कभी नष्ट नहीं होता। [illegible] प्रत्यङ्ग सर्वदा बदलते रहते है, किन्तु समष्टि रूप से शरीर सदैव कायम रहता है। इसलिये [illegible] मे सृष्टि का भाव सदा एक साथ होता रहता है। उसमे भूमोत्तरवाद अथवा [illegible] कोई क्रमवाद की कल्पना करना मिथ्या है। यह परमेश्वर नित्य सनातन अविनाशी [illegible] है।

॥ इति जीव दर्शनम् ॥

आत्म-परिच्छेद

(आत्म भेद विचार)

आत्मा के संबन्ध में ५ मत सिद्ध हैं

अब यहा से आत्मा का विचार करते हैं। यह आत्मा क्या वस्तु है? आत्मा [illegible] इसी का यहाँ विचार करना है। यद्यपि प्रजापति प्रकरण मे यह कहा जा चुका है कि जो जिसका [illegible] हो अर्थात् उत्थान का प्रभव हो और जो जिसका ब्रह्म हो अर्थात् अपने मे धारण करने वाला हो और [illegible] जिसका साम हो अर्थात् अनेक प्रकार के कार्यो मे समान भाव से देखा जाता हो, [illegible] जैसे घटका, मृत्तिका, उक्थ है, ब्रह्म है और साम है इसीलिये मृत्तिका घट की आत्मा है। [illegible] आत्मा का लक्षण यद्यपि सिद्ध हो जाता है तथापि यह तटस्थ लक्षण है किन्तु [illegible] यह है कि जिसको उक्थ, ब्रह्म, साम होने से जगत् की आत्मा समझा गया है, [illegible] प्रश्न के उत्तर मे विचार करने पर ६ मत आज तक सिद्ध हुए हैं, १-प्रत्यगात्मवाद, [illegible]

त्मवाद, ३–कोशात्मवाद, ४–कोशवदात्मवाद, ५–यज्ञमयात्मवाद, ६–चिदात्मवाद। इनका क्रम से निरूपण इस प्रकार है।

१–प्रत्ययात्मवाद

बहुतो का विचार है कि सभी प्राणी जन्म काल से आरम्भ करके इन्द्रियों के द्वारा बाहर से कुछ न कुछ विषय प्रतिक्षण ग्रहण करते रहते हैं और वह संग्रह प्रतिक्षण बढता ही रहता है इस प्रकार इन्द्रियों मे या मन से जो ग्राह्य अर्थों का भीतर ज्ञान उत्पन्न हो-हो कर संग्रहित होता रहता है और बढता रहता है, उसे ज्ञान का प्रत्यय कहते हैं और यही प्रत्यय प्राणियो की आत्मा है जो कि जन्म काल से लेकर बाल्य, तारुण्य, वार्धक्य के क्रम से बढता रहता है। प्रत्यक्ष हम देखते है कि बहुत छोटे बालक की आत्मा छोटी होती है और वृद्ध की बढी हुई किन्तु यह भी विश्वास करने योग्य बात है कि यदि इन्द्रिय न हो और इन्द्रिय जन्य कोई ज्ञान उत्पन्न हुआ हो तो उस प्राणी मे आत्मा की भी सत्ता नही मानी जा सकती। मान लीजिये कि कोई बालक अन्धा, बहरा आदि सब इन्द्रियो से हीन कही उत्पन्न हो जाय तो हम उसमे किसी प्रकार की आत्मा होने का विश्वास नही कर सकते। इसीलिये सिद्ध हुआ कि यह प्रत्यय ही आत्मा है।

२–प्रत्ययातिरिक्तात्मवाद

यह ऊपर का प्रत्ययात्मवाद तब ठीक हो सकता था जब कि जीवो ही मे आत्मा का सत्ता मानी गई होती परन्तु जीवो से अतिरिक्त ईश्वर मे भी आत्मा की प्रतिष्ठा है। बहुत सी ऐसी युक्तिया हैं जिनसे जीवों के अतिरिक्त ईश्वरो को भी विद्वानो ने देखा है और उनमे भी जीवो के अनुसार आत्मा का होना पाया गया है किन्तु जिस प्रकार जीवो मे चक्षु, कर्ण आदि इन्द्रियो का सन्निवेश है उसी प्रकार इन्द्रिया न होकर सर्वाङ्ग शरीर से सब इन्द्रियो का काम होता है और वह भी मनुष्य या जीव के अनुसार कदाचित् न होकर एकान्त निरवच्छिन्न होता है तो ऐसी दशा मे इन्द्रियो से भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रत्यय होने से बढती हुई आत्मा का होना ईश्वर मे नही माना जा सकता, ऐसी स्थिति मे ईश्वर मे आत्मा का मानना विरुद्ध होगा। इसलिये इन्द्रिय जन्य प्रत्ययो के संग्रह को आत्मा मानना ठीक नही जचता है ॥१॥

दूसरी बात यह है कि इन्द्रियो से उत्पन्न होने वाले प्रत्ययो को आत्मा कहना अनुचित है क्योकि बाहर के पदार्थों का इन्द्रियो पर आने से ही प्रत्यय नही होता किन्तु बाहर से आते हुए रूपो को ग्रहण करने वाला इन्द्रियो मे कोई तत्व पहले ही से विद्यमान अनुभूत होता है क्योकि कोई तत्त्व इन्द्रियो मे बैठा हुआ पहले ही से देखने, सुनने, समझने के लिये उत्कण्ठा करता है और बाहर से आये हुए पदार्थों को बडे यत्नों से परीक्षा करके ग्रहण करता है यदि वह उत्कण्ठा करने वाला उस बाहरी अर्थ को ग्रहण करने के लिये तैयार न हो तो बाहरी अर्थों के इन्द्रियो पर आने पर भी प्रत्यय उत्पन्न नही होता। जिसका मन किसी दूसरी ओर खिचा हुआ रहता है तो उसकी आख खुली रहने पर भी सामने जाता हुआ मनुष्य नही दीखता, किसी की आवाज भी नही सुनता, इससे सिद्ध हुआ कि प्रत्यय होने के लिये बाहरी अर्थों के भीतर जाने से पहले ही किसी तत्त्व का भीतर होना आवश्यक है ॥२॥

कोई कह सकता है कि पहले देखी हुई सुनी हुई वातो का जो प्रत्यय भीतर उपस्थित है वही मन अब फिर ग्रहण करता है, न कि किसी नये तत्व की मानने की आवश्यकता है तो इसके उत्तर मे कहना होगा कि यह उत्तरोत्तर जीवन दशा मे यद्यपि सम्भव है किन्तु जीवन के प्रारम्भकाल मे जब कि कोई भी प्रत्यय भीतर उत्पन्न नही हुआ था उस समय बाहरी अर्थों को जो इन्द्रियो पर आये थे उनको भीतर प्रवेश करने वाले किसी अन्दरुनी तत्व को न मानने मे प्रत्यय का होना असम्भव है और प्रथम बार असभव होने से एक भी प्रत्यय न होने पर उत्तरोत्तर जीवन दशा मे भी प्रत्ययों का होना और उन प्रत्ययो से आत्मा का होना असभव ही ठहरेगा। इसलिये शरीर के भीतर जन्म न पाते ही किसी तत्व का प्रवेश मानना उचित है जिसकी उत्कण्ठा से इन्द्रियो पर आये हुए बाहरी अर्थों का भीतर प्रवेश होकर सामञ्जस्य होता है उसी तत्व को आत्मा कहना चाहिये ॥ ३ ॥

किसी का कहना है कि बाहरी अर्थों को ग्रहण करने के लिये जो भीतर उत्कण्ठा होती रहती है वह प्रत्येक इन्द्रियो की ही हो सकती है इसलिये एक-एक इन्द्रिय ही एक-एक आत्मा मानना उचित है तो इसके उत्तर मे कहना होगा कि इन्द्रियो का समूह यदि एक आत्मा होवे तो सभव है कि आंख का काम कान से और कान का काम आंख से भी होने लगे परन्तु ऐसा नही होता इसलिये सिद्ध है कि सब इन्द्रिया मिलकर एक आत्मा नही है और यदि भिन्न-भिन्न इन्द्रियो को भिन्न-भिन्न अनेक आत्मा माना जाय तो यह भी ठीक नही है क्योंकि किसी एक ही तत्व को देखना सुनना आदि अभिमान पाया जाता है। मैंने देखा, मैंने सुना, मैंने ही कहा इत्यादि-इत्यादि सभी इन्द्रियो के भिन्न-भिन्न कर्मों का एक ही किसी "मैं" पदार्थ मे आश्रित होना पाया जाता है। यदि भिन्न-भिन्न आत्मा होते तो देखने वाला आत्मा सुनने का अभिमान कदापि नही करता इससे सिद्ध होता है कि सब इन्द्रियो मे अतिरिक्त सब इन्द्रियों का आश्रय सब इन्द्रियो के भिन्न-भिन्न कर्म्मों का फल भोगता कोई भिन्न ही एक तत्व है वही इस शरीर में आत्मा है ॥ ४ ॥

मन, प्राण, वाक्, श्रोत्र ये पाचो ही इन्द्रिया आपस मे कोई किसी से सम्बन्ध नही रखते कोई भी इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय को उसके काम के लिये प्रेरणा करते मालूम नही होते तो भी इन्द्रियो का उनके कामो के लिये कुछ अन्दरुनी प्रेरणा होना मालूम पडता है, सुनने के लिये कान को उत्तेजना और उनका है और सुनी हुई वातो को देखने के लिये मन मे इच्छा होती है और जिसकी प्रेरणा से उसको आंख देखना चाहती है और देखी हुई वस्तु को वाक् कहना चाहती है। तात्पर्य यह है कि किसी तरह की विषय के सम्बन्ध से एक इन्द्रिय के पीछे दूसरी, तीसरी इन्द्रिय अपने-अपने काम के लिये तत्पर होती है। इस पर यह प्रश्न उठता है कि मन किस की प्रेरणा से उस खास विषय की ओर भुकता है और साधारण सब विषयो की ओर न जाकर किसी खास विषय पर ही कैसे पहुँच जाता है। यदि मान लिया जाय कि उस विषय को पहले कान से सुना था तथापि यह कान अपना काम करके कृतकृत्य हो जाता है तब मन को या दूसरी इन्द्रियों को अपना विषय नही जानता है और न मन को मन के काम के लिए प्रेरणा ही कर सकता है फिर यह मन इस संसार समुद्र मे अनन्तानन्त विषयो को छोडकर उसी खास विषय पर कैसे दौड जाता है उसकी कौन प्रेरणा करता है, इसी प्रकार अन्यान्य इन्द्रियो को भी कौन प्रेरणा करता है,

इन सब प्रश्नों का उत्तर तब तक नही हो सकता जब तक कि इन सब इन्द्रियो के ज्ञानो का कोई एक ही आश्रय नहीं माना जावे और वही आश्रय जो सब ज्ञानो का आधार है और सब इन्द्रियो का प्रेरक है वही आत्मा है ॥ ५ ॥

वाक् इन्द्रिय से शब्द निकलता है पर शब्द को ग्रहण नही करता । इसी प्रकार जो इन्द्रिय सुनती है वह बोलती नहीं, न समझती, न देखती है पर यह जो अभिमान होता है कि मैंने ही सुना, मैंने ही देखा, मैंने ही समझा और मैंने ही कहा यह एक ही का अभिमान सिद्ध करता है कि सुनने, देखने, समझने, बोलने वाला इन इन्द्रियो के अतिरिक्त कोई एक ही है वो ही आत्मा है ॥ ६ ॥

किसी वस्तु को देखने की इच्छा से कोई मनुष्य उस वस्तु के पास जाना चाहता है परन्तु प्रश्न यह है कि देखने की इन्द्रिय खुद चलती है न चलने वाले पाव को चलाते हैं इसी प्रकार चलने वाला पाव देखने की इच्छा रखता है और न वह देख सकता है फिर यह देखने की इच्छा से गमन की इच्छा या गमन कैसे हुआ, पाव को किसने उठाया । इसके उत्तर मे हम को कहना होगा कि यह देखने की इच्छा आंख मे नही है और न पाव ही अपने आप चलता है किन्तु ये सब किसी अन्य अध्यक्ष के आज्ञाकारी सब सम्बद्ध किङ्कर हैं जिसकी इच्छा से और जिसकी हां करने वाली प्रेरणा से ये सब इन्द्रिया अपना-अपना काम करने लगती हैं, वही आत्मा है ।

हाथ से हम अपने पाव को स्पर्श करते है या उसकी खुजली मेटते हैं परन्तु हमारा विश्वास हैं कि न यह हाथ पाव को, न पाव इस हाथ को पहचानता है, न पाव की खुजली मेटने से हाथ को कोई गरज है परन्तु ऐसा होने पर भी जो यह मानता है कि पाव से खुजली चल रही है इसको हाथ के नाखून से मिटाना चाहिये यह विचार कर जो हाथ को उसी खुजली पर पहुचाता है और हाथ से खुजली मिटाकर जिसको संतोष मिलता है वही आत्मा है ॥८॥

यही आत्मा चक्षु का चक्षु श्रोत्र का श्रोत्र हैं, वाक् का वाक् है, मन का मन है, प्राण का प्राण है । ये सब इन्द्रिया यद्यपि भिन्न-भिन्न अनेक हैं तथापि सबको पृथक्-पृथक् शक्ति देने वाला और सब इन्द्रियों मे सर्वदा विद्यमान और सब का अभिमान करने वाला वह सर्वथा एक ही है ॥९॥

इन भिन्न-भिन्न इन्द्रियो के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता रहता है उसे प्रत्यय कहते है । प्रतिक्षण असंख्य ऐसे प्रत्ययों के आते रहने पर उन सब प्रत्ययो को संग्रह करने वाला वही आत्मा है वह इन इन्द्रियों से अतिरिक्त है । यदि वह आत्मा सब इन्द्रियो मे रहने पर भी सब इन्द्रयो से अतिरिक्त एक भिन्न पदार्थ न माना जावे तो परस्पर विरुद्ध धर्म वाले इन इन्द्रियो का एकाधिकरण्य अर्थात् एक ही मे सब का अभिमान होना नहीं बन सकता है । इसलिये प्रत्ययों के साधन इन सब इन्द्रियो का भिन्न-भिन्न नदियो के लिये समुद्र के अनुसार "एकायन" है अर्थात् सब की गति जिस एक ही स्थान मे है वही आत्मा है । जिस प्रकार एक ही समुद्र का जल आकाश मे उठकर भिन्न-भिन्न दिशाओ मे जाकर भिन्न देशो मे बरस कर भिन्न-भिन्न प्रकार की नदियो मे परिणत होता है । और उन नदियो के जल, नाम रूप, गति, स्वाद, गुण आदि गुणों मे भिन्न होकर भी चलकर फिर एक उसी एक समुद्र मे लीन हो जाते हैं । उनका नाम,

रूप, गति, स्वाद आदि सब गुण सर्वथा नष्ट होकर केवल एक समुद्र ही रह जाता है। [illegible] ये इन्द्रिया उसी एक आत्मा के रस से उत्पन्न होकर भिन्न-भिन्न नाम, रूप, गुण, [illegible] किन्तु पश्चात् उसी आत्मा मे लीन होकर अपने नाम, रूप, गुण, कर्मों को छोड़ देते है। [illegible] कह सकते है कि यह मेरी वाक् इन्द्रिय बोलती है यह भी आत्मा बोलती है। क्योंकि [illegible] स्वत. यह वाक् इन्द्रिय र, आ, म् आदि नियमानुसार अग्रपश्चात् अक्षरो को [illegible] समर्थ नही हो सकती है।

वाक् इन्द्रिय मे स्थान और कारण के स्पर्श और विचार रूप सयोग [illegible] वर्ण निकलते है किन्तु यह सयोग अभ्यन्तर प्रयत्न से होता है और वह प्रयत्न [illegible] वह प्रयत्न वायु का व्यापार है वह वायु शरीर की अग्नि के आघात से उठता है। [illegible] फरक मन के कारण होता है और मन बोलने की इच्छा से भिन्न-भिन्न प्रकार का [illegible] की इच्छा भिन्न प्रकार के ज्ञान से उठती है। इस सविकल्पक ज्ञान के उदय का स्थान [illegible] का समुद्र है वही ज्ञान-समुद्र मेरी आत्मा है यही आत्मा इस वाक् इन्द्रिय के अनुसार [illegible] भी अपने स्थान से धीरे-धीरे बल पहुचाकर उन इन्द्रियो मे भिन्न-भिन्न प्रकार का काम [illegible] यह कोई भी इन्द्रिया अपने काम मे भी स्वतन्त्र नहीं हैं, बिना आत्म बल के [illegible] है इसलिये इन इन्द्रियो से या इन इन्द्रिय जन्य सब ही प्रत्ययो से अतिरिक्त कोई एक [illegible] उचित है। उसी आत्मा मे ये सब प्रत्यय जन्मकाल से लेकर मृत्यु काल तक जमा होते रहते [illegible] बढने से उस आत्मा को भी बढा हुआ दिखाते रहते हैं किन्तु जिस प्रकार तिल का ज्ञान और [illegible] ज्ञान छोटा बडा होने पर भी केवल तिल, पर्वत ही छोटे बडे समझे जाते हैं किन्तु ज्ञान छोटा [illegible] जचता है इसी प्रकार प्रत्ययो के न्यूनाधिक होने पर भी मूर्ख और विद्वान की आत्मा [illegible] आभास होने पर भी वास्तव मे केवल प्रत्ययो ही की न्यूनाधिकता समझनी चाहिये किन्तु [illegible] यह आत्मा कदापि छोटा बडा नही होता। यह ज्ञान स्वरूप दिक्, देश, काल आदि से [illegible] विलक्षण तत्व है।

३ कोशात्मवाद

कितनो ही का विचार है कि इन्द्रिय से उत्पन्न हुए सभी प्रत्यय भीतर [illegible] सञ्चित होते हैं उस कोश को ही आत्मा कहते है। यह कोश उन प्रत्ययों के बढने से [illegible] प्रत्ययो के घटने से घटता है उसमे इन्द्रियजन्य प्रत्यय जितने बढते जाते है उन्ही को [illegible] जिस मनुष्य को किसी बात का विश्वास हो जाता है तो वह अभिमान करता है। [illegible] ही धारणा है तो इस कहने का तात्पर्य यही हो सकता है कि मेरी आत्मा मे किसी प्रकार [illegible] रक्खा हुआ है। प्रत्ययो का रक्खा जाना किसी पात्र मे ही हो सकता है और उसी पात्र [illegible] कहते हैं और वही कोश मेरी आत्मा है। वह कोश यद्यपि एक ही प्रकार का है किन्तु [illegible] भिन्न-भिन्न निधेय पदार्थों के भेद से भिन्न-भिन्न पाच प्रकार के कोश कहे जाते हैं। [illegible] अन्नमय है जिसमे प्राणादि ४ पदार्थ निधेय है। अन्नकोश के भीतर प्राणमयकोश है [illegible] पदार्थ निधेय है। इस प्राणमयकोश के भीतर मनोमयकोश है जिसमे विज्ञान आदि पदार्थ [illegible]

मनोमयकोश के भीतर विज्ञानमयकोश है जिसमे आनन्द निधेय हैं इस आनन्दमयकोश के भीतर वही आनन्दनिधेय है। कदलीस्तम्भ के अनुसार उस आनन्द के भीतर आनन्द के अतिरिक्त और कोई निधेय नहीं हो सकता। इसलिये इस प्रकार अन्तरन्तरीभाव से सन्निविष्ट ये पांच कोश ही शरीर के आकार का एक कोश कहा जाता है और यही पञ्चकोश का बना हुआ कोश मेरी आत्मा है।

४—कोशवदात्मवाद

बहुतों का विचार कि कोश आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि कोश कहने ही से किसी ऐसी वस्तु का ख्याल होता है जो इन कोशो मे रहता हो जो कि प्रत्ययो के रखने का कोश कहा गया है वह भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्ययो के रहने का कोश केवल एक विज्ञानमयकोश ही हो सकता है। ५ कोशो में से विज्ञान के अतिरिक्त एक भी कोश ऐसा नहीं है जिसमे ज्ञान स्वरूप यह प्रत्यय प्रवेश कर सकें और न इन प्रत्ययों के रहने के लिए एक कोश के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न पाच कोश मानने की कोई आवश्यकता ही प्रतीत होती है और ये प्रत्यय सब पीछे से पैदा हुए है और होते रहते है। अन्न, प्राण आदि कोश बहिश्चर हैं इनके प्रत्येक का दूसरा कोश मानना उचित नहीं जचता जबकि ये पाचो ही कोश है तो कोश का कोश न मानकर उचित है कि इन पांचो से अतिरिक्त कोई ऐसी वस्तु मानी जाये कि जिसके ये पाचो रहे जायें इसलिए जिस अन्य वस्तु के ये पाचो कोश हैं वही आत्मा हो सकता है ॥ १ ॥

दूसरी बात यह है कि कोश का अर्थ आवरण है किन्तु आत्मा स्वय प्रकाश स्वरूप है। वह किसी वस्तु का आवरण नहीं कर सकता है। यह मानी हुई बात है कि अनात्मिक द्रव्य तमः प्रधान है उसी से आवरण हो सकता है न कि प्रकाश स्वरूप वस्तु से इसलिए जिससे आवरण होता है वही कोश कहा जाता है इसी से वह अनात्मिक वस्तु है किन्तु इन कोशो से जिसका आवरण होता है वही आत्मा हो सकता है ॥ २ ॥

जब कि कोश नाम आवरण का है तो अन्न से प्राण का, प्राण से मन का, मन से विज्ञान का, विज्ञान से आनन्द का आवरण भी माना जाय तो भी आनन्दमयकोश कहने के कारण उस आनन्द के भी भीतर किसी वस्तु के होने की आवश्यकता प्रतीत होती है। अर्थात् जिस वस्तु का आवरण करने वाला यह आनन्दमयकोश है वह इन पाचो से अतिरिक्त होकर इन सब की आत्मा हो सकती है उसमे इन कोशों की विशेषता यह है कि वह निर्विकल्पक है, निर्विशेष है, निष्कल है, निरञ्जन है और इन पांच कोशों से ढके रहने के कारण स्पष्ट रूप से प्रतीत नहीं होता ॥ ३ ॥

इस आत्मा के सम्बन्ध मे यहा पर छः आत्मा का व्यवहार किया जाता है। मुख्य रूप से तो इन पांच कोशों से अतिरिक्त जो इन सब के भीतर कोई एक निगूढ तत्त्व है वास्तव मे वही आत्मा है उसी आत्मा को इन पाचो मे खोज निकालने के लिए सारा उपनिषद् शास्त्र प्रवृत्त हुआ है किन्तु आनन्द-कोश से आवृत उस आत्मा को भी आनन्दमय आत्मा कहते है यह दूसरा व्यवहार है। इस आत्मा सहित विज्ञानमयकोश को भी विज्ञानमय आत्मा कहते हैं और इसके इसके सम्बन्ध से मन को भी मनोमय आत्मा कहते हैं, उसके सम्बन्ध मे प्राणकोश को भी प्राणमय आत्मा कहते हैं, इसी प्रकार उसके सम्बन्ध

से अन्नकोश को भी अन्नमय आत्मा कहते हैं तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार बत्ती के ऊपर की लौ ही वास्तव मे दीपक है किन्तु उस लौ के सम्बन्ध से रुई की वत्ती को, मोमवत्ती को, लालटेन आदि को भी दीपक कह सकते हैं उसी प्रकार एक अव्यक्त निर्विशेष कोई तत्त्व जो आत्मा है उसी के सम्बन्ध से इन पाचो कोशो को भिन्न–भिन्न पाच आत्मा और इनसे अतिरिक्त वह अपनी मुख्य आत्मा, इस प्रकार छः आत्मा माने जाते हैं। किन्तु विचार कर देखने से ये पाचो कोश वास्तव मे आत्मा नहीं हैं। इन पाचों से अतिरिक्त ही कोई तत्त्व आत्मा है उसी के ये पाँच कोश हैं।

५—यज्ञमयात्मवाद

बहुतो का विचार है कि यह आत्मा यज्ञ स्वरूप है। यज्ञ दो प्रकार का है—१—अग्नि का चयन करना या पुनश्चयन करना प्रथम यज्ञ है। २—किन्तु अग्नि मे सोम की आहुति होना दूसरा यज्ञ है। इनमे प्रथम यज्ञ से आत्मा का स्वरूप बनता है और दूसरे यज्ञ से उस आत्मा की जीवन यात्रा की स्थिति रहती है ॥ १ ॥

सबसे प्रथम कोई एक शान्त आनन्दमय क्षेत्र है उसको चयनविद्या अग्नि की परिभाषा कहते हैं। क्योकि अग्नि का अन्नादगुण इसमे भी पाया जाता है और चयन विद्या मे चयन के लिये जो भूमि का क्षेत्र नियत किया जाता है उसको भी अग्नि शब्द से कहने की परिभाषा है। उस अग्नि पर पाच चितिया होती रहती हैं जिस प्रकार किसी दीवार में एक क्षेत्र पर ईंटो की चितिया होती हैं उसी प्रकार एक आत्मा मे इस आनन्द पर भी अग्नि मयी ईंटो की चितिया होती हैं, वे चितिया पांच हैं—१—आनन्द २—विज्ञान, ३—मन, ४—प्राण, ५—अन्न इन्ही पाच चितियो से बना हुआ स्वरूप यज्ञ है और इसी को आत्मा कहते है इन पाचो मे सबसे पीछे की जो प्राण और अन्न दो चिति है उन्ही पर पुनश्चिति होती है ॥ २ ॥

जब कभी स्त्री-पुरुष का सयोग होता है तब उसी समय यह चयन यज्ञ सम्पन्न होता है। स्त्री का जो गर्भाशय है वही पृथ्वी है और वही यज्ञ की वेदी है उस वेदी पर सबसे प्रथम (रुधिर) शोणित और शुक्र ये दोनो मिलकर अन्नमय पहली ईंट की चिति होती है इस अन्न के चयन करने के लिये जो बल लगाया जाता है वही प्राण रूपी इष्ट का (ईंट) है। और दोनो ही दोनो को उस समय मन से चाहते हुए काम के साथ सयोग करते हैं यह मन की इष्ट का है और दोनो ही दोनो को जानते हैं कि वह मुझसे अनुराग रखता है या सयोग करना चाहता है तो यह दोनो का विज्ञान मय इष्टका है। और यह दोनो ही परस्पर हृष्ट रहते हैं उन दोनो का यह आनन्द आनन्दमय इष्टका है इस प्रकार दोनो ओर से अन्न, प्राण, मन, विज्ञान, आनन्द इन पाँचों का एक साथ जो दो गुणा संयोग होता है उसी से आगे होनहार एक बालक रूपी आत्मा का बीज जमता है। इन पाचो मे से एक के भी न होने से पाच प्रकार की चिति पूरी नही होती इसलिये उस समय निश्चय ही वहां गर्भाधान नही होता। स्त्री और पुरुष दोनो साथ मिलकर पाच-पाच 'इष्टका' उपादान (चयन) करते हैं यही इस शरीर के लिये पहली चिति कही जाती है। इनमे पहली अन्नचिति जितने अवकाश मे होती है। उतने ही अवकाश मे अन्य २ चारों चितिया भी चुनी जाती हैं। इसलिये ये पाचो ही इस शरीर मे समान प्रदेश में हैं, न न्यून हैं, न अतिरिक्त है।

१—चयनयज्ञ आदि पंचचिति

पुनश्चिति

पूर्वोक्त पाच चितियो मे अन्त की २ चितियाँ-प्राण और वाक् हैं। इन दोनो पर फिर से तीन चितियाँ होती हैं। सबसे प्रथम बीज-चिति जो कि वाक् पर स्वभाव के कारण स्वतः ही हो जाती है उसके पश्चात् उसी के ऊपर उसी बीजचिति के कारण देवचिति और भूतचिति के साथ-साथ होती है इनमें विद्या, अविद्या और कर्म ये तीनो बीज कहलाते हैं क्योकि आत्मा में शुभ (सुख) या अशुभ (दुःख) जितने भोग होते हैं या भोग की निवृत्ति होती हैं तथा आत्मा बद्ध या मुक्त होता है इन सबके ये ही तीन कारण हैं क्योंकि केवल विद्या से आत्मा का मोक्ष होता है और विद्यायुक्त कर्म से स्वर्ग अर्थात् सुख भोग होता है और अविद्या युक्त कर्म से नरक अर्थात् दुःख भोग होता है। दुःख या सुख भोग ये दोनों बन्धन हैं क्योंकि आत्मा में दूसरी वस्तु का मिलाव है किन्तु आत्मा में सुख भोग न होकर आत्मा का सुख रूप ही मोक्ष है इसलिये बीज कहलाता है। इनमे विद्या शब्द से निर्विकल्पज्ञान, सविकल्पज्ञान और वेद अर्थात् वस्तु ज्ञान ये तीनों समझे जाते हैं और अविद्या शब्द से पाँच क्लेश कहे जाते हैं कर्म से पुण्य, पाप और इनके तीन विपाक जाति, आयु, भोग और कर्म जन्य अतिशय जिसे शुक्र कहते है और जिसे बार-बार क्लेश की समृद्धि हुआ करती है ये ही तीन विद्या, अविद्या और कर्म प्राणमय वाक् पर रहने से बीजचिति कही जाती है। इसी बीजचिति के सम्बन्ध से जीवात्मक वाक् पर दिव्यलोक से पाँच दिव्य प्राण जो अमृत रूप हैं वे पाँच मर्त्य वाक् के साथ आकर चीयमान हो जाते हैं। ये पाँचों ये हैं—१ आकाश २पर्जन्य, ३ सूर्य, ४ चन्द्र, ५ पृथ्वी। इनमे जितने प्राण हैं उन्ही से देवचिति होती है और उनमें जितने भूतप्राण हैं उनमें ही भूतचिति होती है। यहाँ जो पर्जन्य कहा गया है वह वास्तव मे एक प्रकार का वायु है उसी को कोई ब्रह्मा कहते हैं, कोई उसको अभिजित तारा कहकर वर्णन करते हैं। इसी ब्रह्मा को हमारा सूर्य परिक्रमा करता है उसके परे आकाश है जिसको कही इन्द्र शब्द से कहा है और कही दिक् शब्द से। ये पांचों ही देवता प्राण रूप से शरीर में प्रवेश करके ४ प्रकार कर्म करते हैं। अन्तश्चर होकर शरीर के धातुओं का निर्माण करके शरीर का स्वरूप संघटन करते हैं तथा बहिश्चर होकर शरीर के बाहर भौतिक पदार्थों में से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध रूपी भूतरसो को ग्रहण करके शरीर के भीतर आत्मा में पहुँचते हैं। और स्वर्ग मे चार होकर स्वर्गादि स्थान से देवताओ के रसो को लेकर उनको शरीर के भीतर आत्मा मे पहुँचाते हैं और उपास्य रूप से इस शरीर की या आत्मा की पुष्टि करते हैं। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, ये पांच अन्तश्चर प्राण हैं और मन, वाक्, प्राण, चक्षु,श्रोत्र ये पाँच बहिश्चर प्राण हैं और आकाश, पर्जन्य, सूर्य, सोम, अग्नि ये पांच स्वर्गचर प्राण हैं और तेज तथा श्री, यश, तथा कीर्ति और व्यप्टि तथा ओज और महः और ब्रह्मवर्चस ये पांचो उपास्य रूप हैं इस प्रकार ये पांच देवचितियाँ हुई किन्तु इस प्रकाश से भी परे जो परोरजा कहकर निष्कल, निरञ्जन कोई ध्रुव पदार्थ है जिसके आश्रय से ही ठहर कर ऊपर के पाँचों देवता अपना-अपना कार्य करते हैं।

वह इन ज्योतियों की ज्योति भी मेरे शरीर मे प्रवेश करती है और वही इस देवचिति की मुख्य चिति है जो कि विज्ञान आत्मा कहलाता है वही 'मैं' ईश्वर हूँ। इसी पर ज्योति के आश्रय से जो पाँच

देवचिति कही गई हैं उनके प्रत्येक के साथ भूतभाग भी आकर यह भूतचिति भी [illegible]
से आकाश, पर्जन्य से वायु, सूर्य से तेज, चन्द्र से आप और पृथ्वी से पृथ्वी ये पांचों [illegible]
से हमारी इस आत्मा मे सन्निविष्ट होते हैं, उनका रूप शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांचों [illegible]
मे इनके ज्ञान होने के लिये यह बीजरूप से ग्राहक होकर आत्मा में रहते हैं यदि उनमे से कोई [illegible]
सम्भव है कि उसका ज्ञान भी न हो क्योकि इन्ही के बल से इच्छा उत्पन्न होकर उन पांचों [illegible]
करने वाली पांच इन्द्रियाँ होती हैं। किन्तु उस भूतचिति पर दूसरे प्रकार की और भी [illegible]
चितियाँ होती हैं जो यह—१—भूतात्मचिति, २—पुरुषचिति, ३—वेदचिति, ४—[illegible]
पाँचो भूतचिति भी प्रथम भूतचिति के ऊपर ही होती हैं इसलिये पांचों चितियां भी तीन [illegible]
अन्तर्गत है जिससे यहाँ तक पुनश्चिति पूरी होती है पहले की पञ्चचिति और उस पर तीन [illegible]
करने से जो रूप सिद्ध होता है वही अग्निचयन यज्ञ है और यही यज्ञ मय आत्मा है।

२—अन्तिम पञ्चभूतचिति

१—भूतात्मचिति

प्रज्ञान, तैजस, वैश्वानर इस प्रकार ३ आत्मा मिलकर एक आत्मा होती है, जिसमें [illegible]
पृथ्वी का रस और सूर्य का रस इन दोनो के परस्पर घर्षण से शरीर मे एक प्रकार की अग्नि [illegible]
होती है, वह हमारे शरीर के सभी भूत भागो मे सर्वत्र व्याप्त होती है, यह पहली चिति है। [illegible]
के शरीर मे रहने योग्य मात्रा से बढने पर उसी वैश्वानर के भाग से तैजस आत्मा [illegible]।
जिसका काम इन भूतो को तनाव मे डालकर पसारना है, अर्थात् छोटे को फैलाकर बड़ा [illegible]। [illegible]
तैजस मात्रा के अनुसार शरीर की वृद्धि होती है, वृक्षादि भी ऊँचे चढते हैं और [illegible]
शिशु, पौगण्ड, किशोर, तरुण, युवा, प्रौढ, जरा, वार्धक्य, स्थविर रूपों मे शरीर की [illegible]
हैं। इस तैजस की भी शरीर मे रहने योग्य सीमा से अधिक मात्रा होने पर इन [illegible]
उत्पत्ति होती है जिसके द्वारा भी जड, मूर्ख, प्रौढ, प्रवीण आदि भेद ज्ञान सम्बन्धी [illegible]
प्रकार भूतो मे वैश्वानर की और उसमें तैजस की और उसमे प्रज्ञान की चितियां [illegible]
भूत आत्मा इन भूतो मे सन्निविष्ट होती है यही भूतात्म-चिति है।

२—पुरुषचिति

शरीर के भूतो मे प्राण सर्वत्र व्याप्त है यह प्राण स्वभाव से ही सात अवयवों में [illegible]
उन अवयवो को पुरुष कहते हैं। इस प्रकार सात पुरुषो का एक पुरुष [illegible]
होकर व्याप्त रहता है। इन सातो मे से ४ पुरुष आत्मा होते हैं, अर्थात् [illegible]
रहता है और दो पुरुष दो पक्ष होकर दोनो ओर मे, एक पुरुष पुच्छ होकर नीचे की ओर [illegible]
आत्मा का अङ्ग होकर उस आत्मा की सहायता करता है। जिस प्रकार पक्षी का [illegible]
बनता है। हृदय के ऊपर बाई दहनी दोनो छाती दो प्राणो से और हृदय के नीचे [illegible]
दो प्राणो से इस प्रकार चार प्राणो से धड बना हुआ है जो इस शरीर का [illegible]

मे टो दस बनकर वह घड़ इधर-उधर चलाया जाता है और प्राण के एक भाग से पक्षी का पूँछ भाग बनकर वह सम्पूर्ण शरीर को हिलाने मे या स्थिर रखने मे मदद देता है। इसी प्रकार मनुष्य के शरीर मे भी बीच के घड़ मे जितनी प्राण की मात्रा है उसकी आधी मात्रा से दोनो हाथ और दोनो पाँव मे प्राण है और उसकी चौथाई मात्रा का प्राण कमर मे और कूल्हे मे रहता है इसी प्रकार पुरुष, कीट, कृमि या वृक्ष आदि प्राणी मात्र मे सात प्राणो के रहने का नियम हैं, यहाँ तक कि वृक्षो के एक-एक पत्ते मे भी जो कि वृक्ष की आत्मा से भिन्न अपनी आत्मा रखते हैं उनके भीतर का डांड जितने प्राण से बना है उनके आधे प्राण से डांड के दोनो ओर पत्ते का पसार बनता है और उसके चौथाई प्राण से डांड के अन्त मे पत्तो की नोक बनती है। इस प्रकार जिन सात प्राणो से शरीर बनता है उन्ही सातो के सात रस से सबका शिर भाग भी बना करता है अर्थात् सिर मे पृथक् सात प्राण की सत्ता रहती है। परन्तु ये सिर के सात प्राण शरीर के सात प्राणो मे मात्रा मे बहुत कम होते हैं अर्थात् एक पुरुष के बराबर होते हैं। मनुष्य के शरीर मे यद्यपि पुच्छ भाग स्पष्ट नही दीखता तथापि मेरुदण्ड के नीचे तीन अस्थियो का बना हुआ एक त्रिकुट पुच्छ भाग अवश्य बना हुआ है। उसकी प्राण मात्रा का परिवर्तन होकर कुछ भाग नीचे रहकर शेष अधिक, भाग उसके सिर मे चलाया गया है जिसके कारण ज्ञान के नीचे की ओर गिराव (गिराव) से जो पशु पक्षियो मे मन्द बुद्धि रहती है वही पुच्छ न होकर ज्ञान की नाडी सिर के ओर बढने से ज्ञान की वृद्धि होकर मनुष्यो मे पशु की अपेक्षा विलक्षणता देखी गई है। यद्यपि इस प्रकार मनुष्य के शरीर मे सात प्राणो की स्थिति का व्यभिचार अवश्य हुआ है तथापि सात प्राण की मात्रा मनुष्य के शरीर मे अवश्य है जो कि स्थानान्तरित होकर दूसरे स्थान मे प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि प्राणी मात्र के शरीर इस प्रकार सात प्राण या आठ प्राणो की चिति से व्याप्त रहता है।

३—वेदचिति

जो आत्मा का स्वरूप ३ भागो मे विभक्त हैं अर्थात् मन, प्राण, वाक् इनमे से वाक् ही वेद के रूप मे परिणत होती है और वेद से यज्ञ और यज्ञ से ये सब प्रकार की प्रजायें उत्पन्न होती हैं। इसलिये ऐतरेय आदि श्रुतियो मे सिद्धान्त रूप से यह कहा गया है कि—

"अथो वागेवेदं सर्वम्" अर्थात् वाक् ही यह सब कुछ है ॥१॥

वह वाक् वास्तव मे जो व्यापक है वह किसी बिन्दु मे बल की ग्रन्थि पाकर अकस्मात उसके बन्धन मे आजाती है जिस प्रकार किसी जलाशय मे वायु के सम्बन्ध से आवर्त (भवर) उत्पन्न होकर जल को चक्कर मे डाल देता है, उसी प्रकार वाक् को बन्धन में डालने वाला बल जितने परिणाम में होता है अर्थात् जिस सीमा के बाहर वह बल नही है उसी सीमा पर ग्रंथि बनाकर वह बल अपने से पकड़े हुए वाक् को सीमाबद्ध करदेता है। जिससे व्यापक असीम यह वाक् भी ससीम होकर दिक्, देश, काल से परिच्छिन्न होकर एक वस्तु के रूप मे आ जाता है इसी प्रकार छोटे बडे भिन्न बलो के कारण छोटे बडे अनन्त वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं ॥२॥

इन सब वस्तुओ में असंख्य भिन्न-भिन्न प्रकार के बलो को अपने गर्भ मे धारण करते हुए तीन बलो पर अधिकार रखने वाला एक बल मुख्यतया रहता है। भिन्न-भिन्न बलो के कारण यद्यपि वस्तुओ

मे नाम, रूप, कर्म भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं तथापि उन सब भिन्न-भिन्न रूपों मे भी [illegible]
समान रूप से रहते हैं और उन तीनों को परस्पर सम्बन्ध कराने वाला एक प्रधान [illegible]
मे समान रूप से ही रहता है ॥३॥

यह प्रधान वल जितने परिमाण का होता है उतन ही सीमा तक वाक् [illegible]
एक नाभि अर्थात् केन्द्र नियत करता है और उस नाभि से प्रधि तक उस वाक् की सीमा [illegible]
एक ही रूप से सर्वत्र व्याप्त रहता है। वह बल भीतर वाले तीनों बलों को [illegible]
नियत करता है इसलिये प्रत्येक वस्तु मे यही वल प्रधान है और इस [illegible]
कहते है।

इस प्रधान वल के भीतर जो तीन वल हैं उनको ही "वेद" कहते हैं उन तीनों [illegible]
वल जलावर्त के अनुसार वाहर से भीतर की ओर जाता हुआ उत्तरोत्तर छोटा-छोटा [illegible]
नाभि मे पहुच कर उन वलो की ग्रन्थि उत्पन्न करता है यही उस प्रथम बल [illegible]
जितना अधिक होगा उतनी ही ग्रन्थि वडी होगी उसी ग्रन्थि की सीमा के अनुसार वस्तु के [illegible]
आयतन सिद्ध होता है इसी प्रथम वल को "ऋग्वेद" कहते हैं (ऋक्, रिच धातु से बना [illegible]
प्रस्ताव है या शुरूआत करता है)।

जिस प्रकार यह प्रथम वल प्रधि से नाभि तक आता हुआ ग्रन्थि [illegible]
उत्पन्न करता है उसी प्रकार उसी के साथ-साथ एक दूसरा बल उस मूर्ति की नाभि से [illegible]
जाता हुआ उस मूर्ति का सगठन करने वाली ग्रन्थि को धीरे-धीरे उधेडता हुआ [illegible]
कारण उस मूर्ति का आयतन वा व्यास केन्द्र स्थान की अपेक्षा धीरे-धीरे घटता हुआ प्रधि [illegible]
बारगी घटजाता है यहा तक उस प्रधि से वाहर वह मूर्ति परमाणु मात्र भी अपना [illegible]
रखता तब उस सीमा से वाहर दृष्टि रखने पर वह वस्तु नही दीखती यही मूर्ति [illegible]
वाला यही वल "साम" कहलाता है। जिस प्रकार इन दोनो वलो को ऋक् और साम [illegible]
प्रकार जिन-जिन वाको मे होकर यह बल सचार करते हैं वे वाक् भी ऋक् और साम [illegible]
कारण ऋक् और साम ये दोनो दो प्रकार के होते है। बल के अनुरोध से केन्द्रवाली मूर्ति के [illegible]
वाह्य प्रधि तक जो दो रेखा जाकर समाप्त करती हैं उससे जो त्रिकोण क्षेत्र [illegible]
और उन रेखाओ से परिच्छिन्न मूर्ति रूप वाक् भी ऋक् है इसी प्रकार केन्द्र वाली मूर्ति [illegible]
उधेडकर वाहर की प्रधि मे पहुचकर जितने अश तक पसरते है उतने प्रदेश की दोनों [illegible]
रेखाये निकल कर वस्तु मूर्ति केन्द्र मे समाप्त करते हैं, वे दोनों रेखाये या उन रेखाओं से [illegible]
कहलाता है। इनके अतिरिक्त एक तीसरा ऋक् साम के केन्द्र और प्रधि के बीच मे [illegible]
उत्पन्न होता है वो भी वाह्य प्रधि के समान ही ऋक् साम के स्वरूप कहा [illegible]
और साम ये दोनो ही मूर्ति से सम्बन्ध रखते हैं, एक मूर्ति को बनाता है, दूसरा उधेडता है, [illegible]
से केन्द्र के स्थान में साम की समाप्ति है और अधिक स्थान मे ऋक् की समाप्ति है। [illegible]
नाभि से प्रधि तक या प्रधि से नाभि तक इस प्रकार विरुद्ध गति हुए भी दोनो [illegible]
तक व्याप्त होकर समान देश में रहकर परस्पर बद्ध रहते है। [illegible]

नाभ्र की भ्रवधि तक जितना आकाश है असत्य मूर्तियो से संवन्ध करते हुए ऋक् सामो के समुद्रवत् वर्तमान रहता है। ऋक् नाम वस्तु की नाभि से इस प्रकार वद्ध हैं कि जव तक यह नाभि न हटाया जाय तब तक ये ऋक्, साम अचल और अटल अपने स्थान पर स्थिर रहते है उनको अपने मार्ग से अणुमात्र भी विचलित करने वाला, हटाने वाला कोई वल आज तक उत्पन्न नही हुआ, अलवत्ता किसी दूसरी वस्तु की मूर्ति का नाभि स्थित वल ही कुछ समय के लिये ऋक् साम के वल को मोड सकता है ।

हमारी दृष्टि के धरातल मे प्रत्येक वस्तु की मूर्ति की धारा जिस साम से परिच्छिन्न होकर पहुँची है उतनी ही आयतन की छोटी वडी मूर्ति दिखाई देती है ।

हमारी दृष्टि का धरातल एक परमाणु रूप है उसी दृष्टि विन्दु पर चारो ओर से सहस्रावधि छोटी वडी मूर्तियो का ऋक् प्रवाह पहुँचर उन प्रवाहो के आरम्भ स्थान मे वस्तुओ की ठहरी हुई दिखाती है। यह एक आश्चर्य का विषय है किन्तु इस से यह सिद्ध होता है कि अनन्तानन्त ऋचाएं एक ही किसी विन्दु पर सामञ्जस्य सुभीते के साथ रह सकती है उनमे स्थान विरोध का गुण सर्वथा नही हैं ।
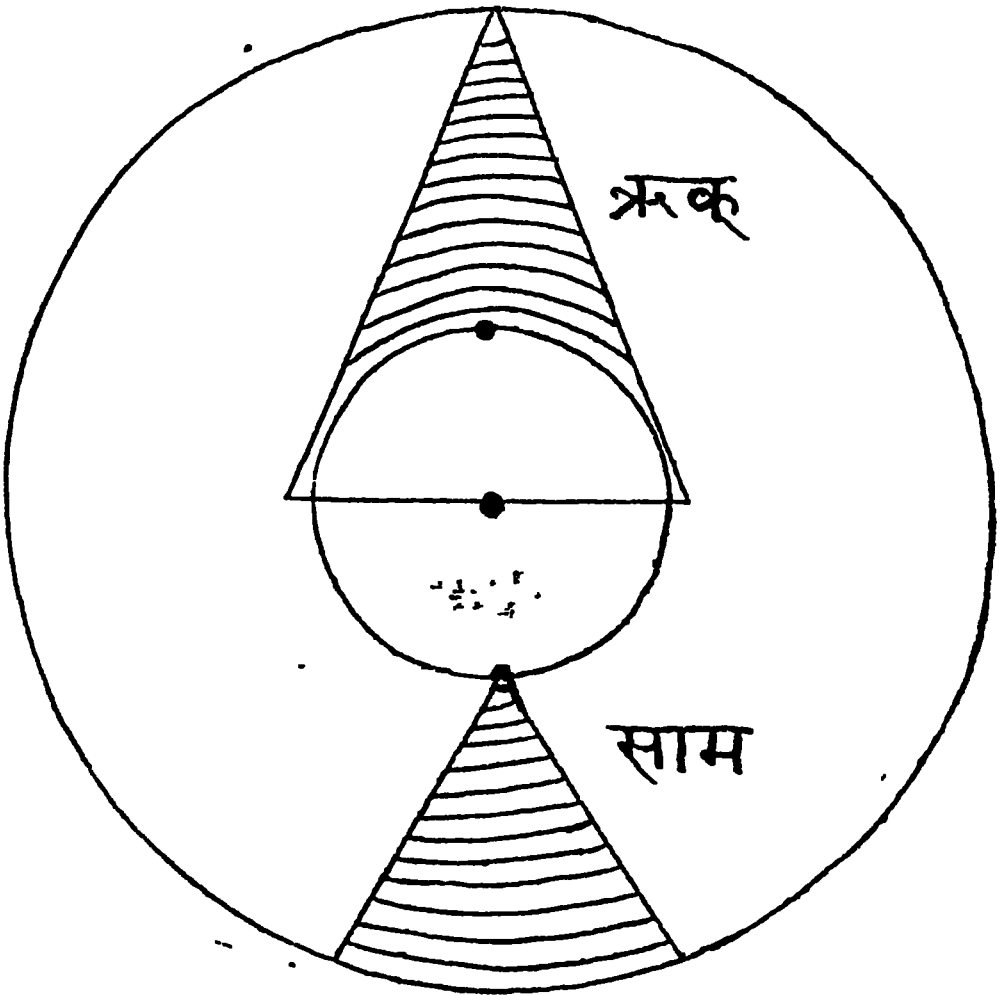
यजु

इस प्रकार दो बल कहे गये हैं। इन्ही दोनों के मध्य मे तीसरा बल [illegible] करता है इस तीसरे बल को ही यजुः कहते हैं। यही प्रधान वेद है, इसी मे [illegible] रहते है ॥१॥

ऋक् और साम की सीमा के अन्दर नाभि मे प्रधि तक और प्रधि से नाभि [illegible] हुई एक प्रकार की वाक् सर्वदा आती जाती रहती है, इस वाक् को यजु: कहते हैं और [illegible] की सब प्रकार की सृष्टिया हुई हैं ॥२॥

नाभि से प्रधि तक जाने वाली वाक् को सोम कहते हैं। अग्नि और सोम [illegible] इन दोनो के परस्पर सयोग विशेष को यज्ञ कहते हैं। इसी यज्ञ से सब प्रकार की प्रजा ([illegible]) उत्पन्न होती है। यह यजुः शब्द वास्तव मे यजु से बना है उस शब्द मे दो भाग हैं ॥३॥

यत्-जूः इनमे यत् का अर्थ चलने वाला अर्थात् गति स्वभाव वाला वायु [illegible] स्थिति स्वभाव वाला आकाश है। इस प्रकार आकाश और उसमे रहने वाला वायु [illegible] यजुः का स्वरूप होता है। इनमे वायु पहले ही अग्नि और सोम कहकर दो [illegible] आकाश का सम्बन्ध दोनो वायुओ से होकर चार तत्व सिद्ध हुए। आकाश, अग्नि और [illegible] और सोम दो-दो प्रकार का है—अमृत और मृत्यु—जिनमे अमृतअग्नि को अग्नि और मृत्युअग्नि [illegible] कहते हैं इसी प्रकार सोम भी अमृत, मृत्यु के भेद से दो प्रकार के है जिनमे अमृत [illegible] आप् कहते है इस प्रकार छ पदार्थ सिद्ध हुए-आकाश, अग्नि, यम, आकाश, सोम और [illegible] ॥४॥

इनमे भी अग्नि के आकाश को इन्द्र कहते है जो सर्वव्यापक है उसमे [illegible] है और वे विरल वायु आदि पदार्थ हैं (इसी इन्द्र को पाश्चात्य विद्वान् "[illegible]" [illegible] वाले आकाश को वाक् या शब्द कहते है यह भी सर्व व्यापक है किन्तु इस आकाश से [illegible] पर आकाश का स्थिर स्वभाव होते हुए भी वायु के द्वारा चलकर कानो मे धक्का मारता है [illegible] रूप मे वह कान से गृहित होता है। उपर्युक्त छः पदार्थो मे इन्द्र, अग्नि, यम, ये तीनों [illegible] हैं और सदा अन्न के ऊपर आक्रमण करके अन्न को अपने पेट मे लेते हैं और शब्द, सोम, [illegible] ही अन्न हैं ये अग्नि मे पडकर उसकी अवस्था बदलकर नाना प्रकार के पदार्थ [illegible] अग्नि उठकर प्रधि तक जाता है उसमे प्रधि से नाभि तक आते हुए सोम की आहुति [illegible] आहुति यज्ञ है। इस यज्ञ से सब प्रजा उत्पन्न होती है और इसी यज्ञ से उसकी [illegible] रहती है ॥ ५ ॥

इन्द्र आकाश मे रहने वाला जो अग्नि, अन्नाद और अन्न [illegible] है वही पृथ्वी, [illegible] तीनो लोको मे रहने के कारण तीन प्रकार का हो जाता है जिसे अग्नि, वायु, [illegible] -देवता के भेद है। इसी प्रकार शब्द आकाश मे रहने वाला सोम ही बनता [illegible]

हो जाता है, जिसे तेज, अप्, अन्न कहते हैं और ये तीनो भूत के भेद हैं। उपर्युक्त तीनों देवता तीनो भूतो में नित्य रहते हैं, इस प्रकार यजु. के १० भेद सिद्ध होते हैं—इन्द्र, अग्नि, वायु, सूर्य, य प्रकार ये पांच भेद अन्नाद के हैं और शब्दाकाश, तेज, अप्, अन्न और आप् ये पांच भेद अन्न के हैं और साम के अन्यान्य कितने ही भेद और भी हैं जिनका विस्तार रजोवाद आदि अन्य प्रकरण दिखाया गया है। तात्पर्य यह है कि देवताओं से और भूतों से होने वाली जितनी सृष्टियां हैं सब य से ही होती हैं और यजुः एक वेद है इसलिये वैदिक ग्रन्थो मे बहुधा वेदो से ही सब सृष्टि का होना लिखा गया है इसी आधार पर मनु भगवान् भी कहते हैं—

"वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे"

आदि में वेद के शब्दो ही से पृथक्-पृथक् संस्थायें बनाई।

इस प्रकार व्यापक जो वाक् तीन बलो के पेट मे धारण करने वाले एक बल से परिच्छिन्न तब नाना मूर्तियां पृथक् पृथक् अपना नाम, रूप, कर्म धारण करती है यदि मूर्तियां न बनती व्यापक वाक् का नाम, रूप, कर्म कुछ नही कहे जा सकते थे और न उनका पृथक्-पृथक् वस्तु कहक विज्ञान ही होता इसलिये मूर्ति बनाने वाले बलो से ही सब वस्तुओ का पृथक्-पृथक् विज्ञान होता में उस बल को वेद कहते हैं और जिसका विज्ञान होता है वही वस्तु "विद्यते" अर्थात् 'है'। इ जिसके द्वारा 'विद्यते' अर्थात् वस्तु सत्ता की प्रतीति होती है वही बल वेद है। तात्पर्य यह है कि ही वस्तु की सत्ता है और वेद से ही वस्तु का भान है अथवा यो समझें कि जगत् की प्रत्येक वस्तु भासती है और सत्ता रखती है वही वेद कहा जा सकता है—वह वास्तव मे विचित्र बलो से पूर्ण वा ही नाम है। इस प्रकार बलो से विभिन्न रूप धारण करके जो वाक् आत्मा पर व्याप्त हो जाता ही वेदनिधि कहते हैं।

इस जगत् के सब पदार्थ पाच भागो मे बँटे हैं—१ परतत्व, २-औदयिक, ३-योगरूढ, ४- ५ तारतम्यिक। परतत्व वह मूलतत्व है जिससे ये सब कुछ बना है और उसी को ब्रह्म कहते हैं-वह अव्याहृत, निर्विशेष, निष्कल, निरञ्जन है ॥ १ ॥

इसी परतत्व मे बिना दूसरे मिलाव के जो अपने आप कुछ तत्व उदभूत हुए वे सब औदयिक तत्व हैं वे सब भी परतत्व के अनुसार ही अखण्ड, निरवयव और निर्वंभिक है। किन्तु विशेष यह परतत्व एक था, निर्विशेष था, किन्तु ये सब अनेक हैं और सविशेष हैं ॥ २ ॥

इन्हीं औदयिक में से भिन्न-भिन्न, २ या अधिक तत्वो के परस्पर योग से जो एक नय उत्पन्न होता है इसी को योगरूढ कहते हैं यद्यपि यह दो के योग से उत्पन्न हुआ है तथापि इसके होने पर अब दो भाव नहीं रहते है, दोनो का स्वरूप मिटकर एक ही कोई अखण्ड रूप उत्पन्न हो है ऐसी अवस्था को योगरूढ तत्व कहेंगे ॥ ३ ॥

किन्तु इन्हीं औदयिको का अथवा योगरूढो का अथवा औदयिक योगरूढ़ो का कोई ऐसा है कि जिसमे दृढ योग होने पर भी उन दोनो तत्वो का नाश न होकर अपनी दशा से दोनो ज्यो

बने रहें जैसे लवण, जलका, शर्करा (खाड), गन्धवायु का घनिष्ट योग होने पर भी तीनों, [illegible]
बने रहकर एक नई दशा मे आ जाते हैं उसी अवस्था को यौगिक कहते हैं [illegible]
जाता ॥ ४ ॥

परन्तु जब इन तत्वो का चेतन शरीर मे ज्ञानेन्द्रियो के संयोग से उसी [illegible]
कोई नया भाव उत्पन्न हो तो वह उस संयोगकाल मे ही उत्पन्न होकर उतने ही काल स्थिति [illegible]
हो जाता है। इसीलिये उस भाव को तात्कालिक (क्षणिक) कहते हैं ये पांच प्रकार के हैं—शब्द, स्पर्श,
रूप, रस, गन्ध। इन सबकी उत्पत्ति व स्थिति क्षण मात्र के लिये इन्द्रियो ही पर होती है। इसलिये हम
कह सकते हैं कि इन पाचो की वास्तविक सत्ता हमारे इन्द्रिय स्थान के अतिरिक्त जगत् भर मे और कहीं
भी नही है। हम अपने ज्ञान के भ्रम से अपनी इन्द्रिय के धर्म्मो को वस्तु धर्म [illegible] के
पदार्थो में मिथ्या आरोप करते हैं। वास्तव मे बाहर के पदार्थो के कोई अदृश्य सूक्ष्मतत्व [illegible] है जो कि
हमारे इन्द्रिय तत्वो से मिलकर शब्द, स्पर्श आदि तात्कालिक भावो को उत्पन्न कर देते हैं। ये सब यद्यपि
वास्तव मे क्षणिक हैं तथापि जगत् मे स्थिर रूप से इन्ही पाचो को देखकर हम जगत् के सभी ही पदार्थों
को स्थिर समझ रहे हैं। इस पर यही प्रश्न उठता है कि जब ये सब क्षणिक हैं तो इन सब पदार्थो म
स्थिरता जो प्रतीत होती है वह कहा से आई तो उत्तर मे कहना होगा कि यह स्थिरता इन [illegible] की
व्यक्तिगत नही है किन्तु उनकी सन्तान के कारण स्थिरता का अनुभव होता है और यह [illegible]
वेद से (यजुः) सम्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि वेद के द्वारा ही प्रत्येक वस्तु की स्थिरता कायम होती
है जो वस्तु दीखती है या जो वस्तु नही दीखती है उन दोनो मे यही सत्ता प्रतीत होती है जो [illegible]
ही चयन के द्वारा या सोमहवन के द्वारा यज्ञ अवश्य होता है, इसलिये जिस प्रकार चयन यज्ञ से वस्तु की
आत्मा बनती है और हवन यज्ञ से उस आत्मा का जीवन निर्वाह होता है, इसी प्रकार इन दोनो यज्ञो के
सन्तान से उस आत्मा की आत्मा के शरीर की और उस आत्मा के जीवन की स्थिरता सिद्ध होती है।
परन्तु यह यज्ञ वेद बिना सम्पन्न नही होता इसलिये कहना होगा कि वेद ही इन सबका [illegible] है।

इस यजुः के स्वरूप मे जो छ प्रकार के तत्व बताये गये हैं उनमें अग्निपक्ष के आकाश को [illegible]
कहा गया है और सोमपक्ष के आकाश को वाक् कहते हैं यद्यपि इन दोनो मे ही स्थिरता समान है किन्तु
इस स्थिरता के स्वरूप मे अथवा स्थिरता के कारण मे भेद है। इसको यो समझना चाहिये कि इस
जगत् में जितने पदार्थ है उनमे गति और स्थिति दोनो धर्म्म पाये जाते हैं। यथा [illegible]
वृक्ष तथा पर्वतादि जिन-जिन को हम स्थिर समझ रहे हैं उन सब की कुछ काल के अनन्तर [illegible]
बदलते दीखते हैं। इससे मानना होगा कि उन सब स्थिरो मे भी धीरे या तेजी से परिवर्तन का प्रकार
अवश्य जारी है अर्थात् उनके प्रत्येक अवयव मे गति रहती है इसी प्रकार जितने चलने [illegible]
देखते हैं उनमे भी सभी जगह वेग की कमी वेसी अनुभव मे आती है। [illegible]
करें तो ज्ञात होगा कि गति वाले सभी पदार्थो मे स्थिति भी साथ-साथ रहती है। [illegible]
कता को धीरापन कहते है और उसकी अपेक्षा दूसरे चलने वालो मे जितनी [illegible]
को वेग कहते हैं। वेग का हमे अनुभव होता है वह बिना स्थिति के कायम नही होता [illegible]
गति के साथ-साथ स्थिति का होना भी हमे मानना पडता है, [illegible]

जब हम एक पदार्थ या तीर को कहीं फैंकते हैं तो वह अपने नियत स्थान पर पहुंचने के लिये कुछ समय लेता है उस समय का यदि विभाग किया जाय तो प्रत्येक विभाग मे उस भिन्न-भिन्न आकाश के प्रदेशो मे भिन्न प्रतीत होगी—यदि बीच के आकाश मे उसकी स्थिति न होती तो जिस क्षण मे वह तीर फैंका गया था उस क्षण में अपने पहुचने के स्थान मे वह दीखता परन्तु ऐसा नही होता इसलिये कहना होगा कि यह ठहरता-ठहरता जाता है यह ठहराव गति में है या गति ठहराव में है यह स्पष्ट प्रतीत नही होता किन्तु मिलमिल हुए दोनो ही उस वस्तु मे अवश्य प्रतीत होते हैं—साराश यह है कि प्रत्येक वस्तु मे गति और स्थिति दोनो ही तारतम्य से अवश्य ही रहते हैं। कितनी ही वस्तुओ मे गति अपेक्षिक स्थिति की बनिस्बत अधिक पाई जाती है और स्थिति बहुत कम होती है इसके विपरीत कितनी ही वस्तुओ मे स्थिति की मात्रा अधिक रहती है और गति की मात्रा कम। जब ऐसी वस्तु धर्म है तो हम यहां तक विचार में ला सकते हैं कि यह स्थिति की मात्रा बढते-बढते किसी वस्तु मे इतनी बढ सकती है जहाँ गति की मात्रा कम होते-होते सर्वथा शून्य हो गई हो इस प्रकार स्थिरता जिस वस्तु में होगी उसे ही हम "वाक् आकाश" कहते हैं। अथवा इस वाक् आकाश की स्थिरता गति का अत्यन्त अभाव रूप है वह यद्यपि स्वभाव मे स्थिर है तथापि वायु के द्वारा शब्द मे लहर और गति प्रतीत होती है किन्तु यदि न रहे तो शब्द स्वयं नही चलता इसलिये वाक् रूपी आकाश सर्वथा गति रहित हम स्थिर समझ सकते हैं। इसी प्रकार इसके विपरीत यह गति बढते-बढते अवश्य ही किसी वस्तु मे जाकर इतनी बढ़ सकती है जहां स्थिति की मात्रा कम होते-होते सर्वथा ही शून्य हो गई हो उस वस्तु मे यद्यपि गति परिपूर्ण हो गई है तथापि उसमे गति कदापि प्रतीत नही हो सकती इसके दो कारण हैं—एक चली हुई वस्तु किसी एक रूप नहीं जाती क्योंकि उसमें गति की पूर्णमात्रा होने के कारण किसी भी गति का अभाव नहीं है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर नीचे सब ओर एक साथ गति सर्वथा समान भाव से होती रहती है जिसमे गति प्रतीत न होकर उन सब गतियो का समूह रूप स्थिरता प्रतीत होती है। दूसरा कारण यह है कि कल्पना करो कि उस वस्तु की गति किसी एक ही दशा मे हुई तो भी उसकी गति मे साथ-साथ यदि स्थिति नही है तो वह मध्य मे न ठहर कर जिस क्षण चली उसी क्षण मे दूसरे अन्त स्थान मे प्रतीत हो सकती है अर्थात् एक ही क्षण मे वह यहा से वहा तक पाई जा सकती है जिसके कारण गति प्रतीत न होकर स्थिरता ही प्रतीत होती है। इसी स्थिरता के अभिप्राय से वेद मन्त्र मे एक स्थान पर यह लिखा है कि—

> अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
> तद्धावतोऽन्यानत्येतितिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।।
>
> (यजु० उ० अ० ४०।४)

तात्पर्य यह है कि इस जगत् स्थिति और गति में दोनो ही दीखती हैं ये दोनो ही इन्द्र और वायु इन्हीं दोनों के रूप हैं जहां कहीं इन्द्राकाश का संबन्ध उद्भट है वहां गति प्रतीत होती है और जहा वायु आकाश का सबन्ध अधिकता मे हो जाता है वहां स्थिति प्रतीत होने लगती है किन्तु जगत् के जितने पदार्थ हैं वे सब इन दोनों ही आकाशो मे रहते हैं इसलिये उन सबको इन दोनो आकाशों की गति स्थिति

से संबन्ध कुछ न कुछ बना ही रहता है किन्तु जब उन दोनो को जब [illegible] वाक् आकाश स्थिति घन है और इन्द्राकाश गतिघन है ऐसा कहना होगा [illegible] आकाश के अनुसार अविचारी, कूटस्थ, व्यापक, स्थिर ही प्रतीत होता है।

४—लोकचिति

इस प्रकार जो चितिया कही गई है प्रत्येक उन चितियो मे उनसे [illegible] है। यह लोक शब्द ब्रह्माण्ड के तीन भागो को बतलाता है, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ [illegible] मिलकर एक ब्रह्माण्ड कहलाता है, इस ब्रह्माण्ड मे जहाँ जो कुछ जितने पदार्थ हैं [illegible] मात्राओ को लेकर प्रत्येक प्राणी के शरीर बनते हैं, इसलिए ब्रह्माण्ड के जितने भाग [illegible] उतने सब भाग इस शरीर के भी होते हैं। प्रथम ब्रह्माण्ड के दो भाग ही मुख्य माने [illegible] पृथ्वी कहते है। इनमे द्यावा भाग देवता से सम्बन्ध रखता है और पृथ्वी भूतो से [illegible] से दोनो ही मे देवता और भूत दोनो रहते हैं।

जिस प्रकार ब्रह्माण्ड के द्यावापृथ्वी ये दो भाग हैं उसी प्रकार इस शरीर के भी [illegible] शरीर ये भाग हैं। शिर भाग मे भूत मात्रा रहने पर भी द्यौ के अनुसार देव मात्रा ही प्रधान [illegible] शिर भाग ही चेतन है। उसी के सम्बन्ध से शरीर भी चेतन होता है। ऐसे ही शरीर भाग मे देव मात्रा रहने पर भी भूत मात्रा ही प्रधान है। इसीलिए शिर से शरीर नीचे रहता है। इस प्रकार [illegible] इसकी शरीर मे चिति सिद्ध होती है।

प्रकारान्तर से ब्रह्माण्ड के तीन भाग है जिनको तीन लोक कहते है। दूसरा [illegible] शरीर मे तीन भाग दीखते हैं अर्थात् योनि से नाभि तक पृथ्वी भाग है नाभि से हृदय तक अन्तरिक्ष भाग है और हृदय से कण्ठ तक द्यौ भाग है। इन तीनो लोको का इस प्रकार एक-एक [illegible] साढे दस २ अङ्गुल प्रमाण के प्राण होकर शरीर के एक-एक भाग को परिच्छिन्न करते [illegible] त्रिलोकी के रस से शरीर के तीन प्राण तीन भागो को उत्पन्न करते हैं। किन्तु [illegible] उससे परे जो परोरजा चिदात्मा है उसके रस से शरीर मे भी त्रिलोकी के ऊपर शिर का भाग [illegible] होता है जिसमे चेतना प्राण ही प्रधानरूप से रहता है और वही शरीर रूपी [illegible]

यह शिर भाग भी शरीर के अनुसार तीन लोक के रसो को लेकर उत्पन्न होता है [illegible] के ऊपर कपाल जिसमे मस्तिष्क अर्थात् भेजे का स्थान वह द्यौ भाग है और [illegible] जहा तक ऊपर गई है वह पृथ्वी का भाग है इन दोनो के मध्य मे पाचो इन्द्रियों का [illegible] अन्तरिक्ष भाग है। तात्पर्य यह है कि शरीर के अनुसार शिर भाग मे भी तीन लोक की चिति है।

हस्त मे— भुजा, प्रकोष्ठ, प्रतल इसी प्रकार पाद मे—ऊरु, जङ्घा, प्रपद इस प्रकार [illegible] है यहा तक कि प्रत्येक अङ्गुली मे भी प्रत्येक तीन-तीन पर्व दीखते हैं—इन सब मे [illegible] के भिन्न-भिन्न रस ही हैं। अग्नि सहित पृथ्वी प्रथम लोक है, चन्द्रमा और [illegible] अन्तरिक्ष है और सूर्य द्यौलोक है। सूर्य से भी परे जो परज्योति है वह [illegible]

शरीर का जो मध्यम भाग है उसके तीन विभाग उस तुरीय परज्योति के रस से बने हुए हैं उस शिर मे उस पर ज्योति मे चेतना आई है वह इस शरीर मे मन रूप से विद्यमान है वही मन अपनी इच्छा से प्राण को प्रेरणा करके जैसी चेष्टा कराता है वैसा ही भूत भाग चेष्टा करते हैं। यही तीन लोक और चौथा परज्योति का उस शरीर मे विभक्त होकर चेष्टा कराना ही लोक चिति है।

५–धातुचिति

पूर्व मे जो पञ्चकोश चिति कही गई है जिसमे सबसे बाहर अन्न कोश है उसके अन्दर प्राण है–यह प्राण अन्नाद है यह बाहर से अन्न को ग्रहण करके अपने ऊपर व्यापक अन्नमयकोश उत्पन्न करता है। यह अन्नमयकोश सात चिति का है। ये सातो ही शरीर के धातु हैं अर्थात् धारण करने वाले है इसीलिए इन सातो को धातु चिति कहते हैं। ये सातो बाहर के क्रम से अन्दर को जाते हुये इस प्रकार चीयमान हैं—लोम, त्वचा शोणित, मास, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र। इनमे लोम को त्वचा के ऊपर नियम से रहने पर भी शरीर का अवयव बहुत से विद्वान् नही मानते। इसी कारण त्वचा से शुक्र तक क्रम से सात ही विभाग कहे गये हैं इनमें त्वचा अर्थात् चर्म चार प्रकार का है। शोणित का वेष्टन, चर्म वसा का वेष्टन, मास का वेष्टन, और अस्थि का वेष्टन–वसा, मांस, कोमलास्थि, दारुणास्थि ये चारो एक दृढ सूत्र के जाल पर चीयमान है, अर्थात् इन चारो के भीतर भिन्न वस्तुओ के गुथे हुए जाल है अस्थि मे मज्जा, मज्जा मे शुक्र चीयमान है इनके अतिरिक्त बड़ा अन्त्र छोटा अन्त्र (आत) शिरा अर्थात् वाहिनि नाड़ी धमनी अर्थात् वायु वाहिनी नाड़ी और स्नायु (nerve) अर्थात् ज्ञानवाहिनी या चेष्टा वाहिनी नाडी इस प्रकार के भिन्न–भिन्न सूत्र भी शरीर मे चीयमान हैं। इनके अतिरिक्त कितने ही सूत्र ग्रन्थि भी शरीर मे है। शोणित, पित्त वात, कफ ये चार धातु और रस तथा मल ये दो धातु भी शरीर मे चीयमान है। हम देखते हैं कि एक फल मे त्वचा, गूदा, नाड़ी, कठिन भाग और मज्जा मे पांच भाग क्रम से रहते हैं—ठीक इसी प्रकार प्राणी के शरीर मे भी त्वचा, मास, नाड़ी, अस्थि और ये ही पांच चिति मुख्य है और शेष सब इसी के मददगार हैं।

इसी प्रकार यह अन्नमय कोश ही भूत आत्मा कहलाता है इस भूत आत्मा मे मुख्यतया तीन रस आते हैं। भौम, दिव्य और पर, इनमे भौम रस मे ही त्वचा, अस्थि आदि चिति समझनी चाहिए जिस प्रकार अन्न मय कोश मे यह धातु चिति कही गई है उसी प्राणमय कोश में पहले कही हुई पुरुष-चिति या लोकचिति जाननी चाहिए। प्राण के आधार से ही अन्नमय कोश मे धातुचिति भी हो सकती है अन्यथा नहीं क्योकि सब प्रकार की क्रियाए प्राण से ही उत्पन्न होती है, प्राण के बिना अन्न या धातु आदि सब पगु हैं क्रिया नहीं कर सकते इसलिए बिना प्राण के कोई चिति नही हो सकती। अन्नचिति मे जब प्राणचिति होती है तभी उसमे मन, विज्ञान, आनन्द ये तीनो प्रकार की मनश्चिति भी होती है। इस मनश्चिति के मन या विज्ञान भाग को लेकर वेदचिति जाननी चाहिये। कोई–कोई वेदचिति और यज्ञ-चिति ये दोनो भी प्राणचिति के ही भेद समझते हैं। इस प्रकार सब चिति मिलकर एक प्राणी का शरीर या आत्मा का स्वरूप सिद्ध होता है।

तात्पर्य यह है कि धातुचिति अन्न मे अर्थात् वाक् मे सम्बन्ध रखती है और मन मे ज्ञान, विज्ञान और आनन्द ये तीन अन्तश्चितिया सम्बन्ध रखते हैं। इन दोनो के अतिरिक्त [illegible] चिति, पुरुषचिति, लोकचिति, देवचिति और बीजचिति भी केवल प्राण मे ही [illegible] है। इस प्रकार सब चितियो को सग्रह करके मन, प्राण, वाक् ये तीन तत्त्व वाली आत्मा शरीर [illegible] है और शरीर या शारीरक कहलाता है।

सवनयज्ञ तथा यज्ञमय आत्म जीवन

सबसे प्रथम आनन्दादि पाच कोशो से जो पाच चिति कही गई, उनके ऊपर [illegible] पुनश्चिति कही गई है इन दोनो चितियो से आत्मा की स्वरूप सिद्धि होती है। यह [illegible] होकर जो चिरकाल तक अपनी जीवन स्थिति बनाये रखता है यह दूसरा यज्ञ है।

आत्मा का वह अन्न जिसके उसका जीवन निर्वाह होता है दो प्रकार का है—१-दैव, २-भौत— इनमे आकाश पर्जन्य, सूर्य, चन्द्र आदि पिण्डो के द्वारा द्यौ स्थान से अनवरत [illegible] रहते है वही दैव अन्न है। किन्तु इनके अतिरिक्त पृथ्वी मे से सात प्रकार के अन्न [illegible] है वे भौत अन्न है। वे ये है—अन्न, जल, गर्मी, वायु, शब्द, प्रकाश बल या क्रिया और ज्ञान। इनमे गर्मी और प्रकाश इन दोनो को ही तेज शब्द से कह सकते है, इसलिये श्रुति मे ७ ही अन्न है।

जो अन्न भोजन किया जाता है वह दैविक हो अथवा भौतिक वह आत्मा मे [illegible] बन जाता है इस प्रकार आत्मा का बनते रहना ही आत्मा का जीवन है किन्तु इन दोनो प्रकार के अन्न को शरीर स्थित अग्नि ग्रहण करता है। इनमे द्यौ स्थानी प्राण आकर पृथ्वी स्थानी प्राण से [illegible] घर्षण पाकर के अग्नि की उत्पत्ति होती रहती है, किन्तु भौतिक अन्न पाकर [illegible] उत्पन्न होता है उससे उस अग्नि की पुष्टि और रक्षा तथा स्थिति बनी रहती है, यद्यपि ये दोनो प्रकार के अन्न अग्नि की स्थिति के लिये अत्यन्त आवश्यक है किन्तु इन दोनो मे भौतिक की अपेक्षा दैविक अन्न प्रधान है, क्योकि कितने ही योगियो के शरीर मे समाधि साधन की अवस्था मे अनशन (न खाना) व्रत धारण करके अनेक वर्षों तक जीवन की स्थिति देखी गई है वहा यद्यपि भौतिक [illegible] तथापि केवल दैविक अन्न ही प्रचुर (अधिक) रूप से आने के कारण शरीर की अग्नि [illegible] है। अग्नि ही वैश्वानर आत्मा है और उसके कारण तैजस आत्मा और तैजस के कारण प्राज्ञात्मा [illegible] है, किन्तु यह अवश्य है कि बिना योग बल के साधारण मनुष्यो के शरीर मे भौतिक [illegible] पर केवल दैविक अन्न मात्र से अग्नि का बल कम हो जाता है जिससे [illegible] प्रबल हो जाने से द्यौलोक से आते हुए रस का आगमन विच्छिन्न हो जाता है इस कारण द्यौ प्राण और पार्थिव प्राण के घर्षण बन्द हो जाने से शरीर की अग्नि सर्वथा नष्ट हो जाती है, [illegible] जीवन सर्वथा नष्ट हो जाता है। तात्पर्य्य यह है कि जिस प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध [illegible] तात्कालिक है उसी प्रकार द्यौ प्राण और पार्थिव प्राण इन दोनो के योग से उत्पन्न होती हुई [illegible] अग्नि जिसमें गरमी भासती है वह भी तात्कालिक है जिस समय दोनो का योग [illegible]

जाता है उस समय शरीर की गरमी नष्ट हो जाती है और शरीर छूटने से प्राणी मरा हुआ कहा जाता है। इस मृत्यु में अन्न की हानि ही कारण है। इसलिये अन्न भोजन ही आत्मा की जीवन सत्ता का कारण है। जिसमें दैविक अन्न का आते रहना ही आयु शब्द से कहा जाता है—स्थूल मान से १४४ वर्ष या १०८ तक इन दैविक अन्न का शरीर मे आना स्वभाविक सिद्ध हुआ है। इसलिये यही मनुष्य की आयु है और इससे कम समय मे मनुष्य की मृत्यु वैकारिक है, वह स्वभाव सिद्ध है और यह विकार कृत है।

६—चिदात्मवाद

अन्तिम मत यह है कि चित ही एक आत्मा है चित का अर्थ है जो चयन करे अथवा जिस पर चयन हो अथवा जो चीयमान हो उसको चित कहते हैं—तात्पर्य्य यह है कि तीन प्रकार की चिति कही गई है पहली पञ्चचिति, दूसरी त्रिचिति और तीसरी पुनश्चिति इन तीनो मे पुनश्चिति मध्यवाली त्रिचिति के ऊपर होती है और यह मध्यम त्रिचिति भी प्रथम पञ्चचिति पर होती है किन्तु यह प्रथम पञ्चचिति भी अवश्य ही किसी न किसी पर होनी चाहिये क्योकि कोई भी विना क्षेत्र अर्थात् विना आधार के नही हो सकती। इसलिये मानना पड़ेगा कि कोई न कोई अव्यक्त और अव्याकृत, निर्लक्षण, निर्विशेप, निदान, निरञ्जन, अखण्ड, निरयव तत्त्व है जो नित्य सनातन है उसी के आधार पर ये चितिया होती रहती है। इन चितियो का करने वाला भी दूसरा नही हो सकता क्योंकि उस तत्त्व के अद्वैत होने से दूसरा कोई चयन करना सम्भव नही। वही अव्याकृत स्वयम् पाच रूप से उदय होकर उन्ही औदयिको को अपने आधार पर चीयमान कर लेता है और जबकि उसी मे से उदय होकर उस पर चिति होती है तो कहना होगा कि चीयमान पदार्थ भी तीनो चितियो के जो जहां कुछ है यह भी उस मूलतत्व से भिन्न नही है तो इससे सिद्ध हुआ कि जिस पर चिति है, जिन पदार्थो की चिति है जो चिति का कर्ता है इस प्रकार तीनो रूप मे वह एक ही तत्त्व समझा जाता है इसीलिये उसको चित् कहते हैं।

इस प्रकार इस चित् तत्व को परात्पर शब्द से समझना चाहिये। यही परात्पर मूलतत्त्व इन तीनों चितियो के कारण तीन अन्य अवस्था करता है जिन अवस्थाओ के भेद से वह पर, अक्षर, क्षर कहलाता है। तात्पर्य्य यह है कि यदि तीनो प्रकार की चितियो से अलग करके यदि विशुद्ध उस मूलतत्त्व का विचार करें तो वह परात्पर कहावेगा, क्योकि वह आगे के तीनो विशेषो मे सबसे प्रधान 'पर' है उससे भी यह निर्गुण, निर्विशेप परे है इसीलिये परात्पर कहलाता है और वह अक्षेय अनिर्वचनीय है। यह 'परात्पर' अपने औदयिक भावों मे पाञ्चचिति करके उन पाचो से विशिष्ट अपना रूप बनाता है तो उसे अव्यय कहते है, यही अव्यय इन क्षर, अक्षरो से परे है इसीलिये 'पर' कहलाता है और इन तीनों पुरुषो मे यह पर उत्तम है इसलिये पुरुषोत्तम कहलाता है। यही पर पुरुष जबकि तीन चिति से भी युक्त होता है तो पञ्चचिति और त्रिचिति इन दोनो चितियो से विशिष्ट होकर भिन्न रूप धारण करता है तो उसको अक्षर कहते हैं, यह सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान् है यद्यपि पर पुरुष मे भी आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक् के रहने के कारण सब ज्ञान और सब शक्तियो की निधि होना सम्भव है तथापि बीज उद्बुद्ध न होने के कारण उसमे सृष्टि नही होती, वह केवल साक्षी चेता है। उसके आधार से ही अक्षर

सृष्टि करता है। इस अक्षर मे बीजचिति, देवचिति, भूतचिति का सन्निवेश है [illegible] इन [illegible], [illegible]-चिति सामग्रियो के द्वारा वह सब प्रकार की सृष्टि करने मे समर्थ होता है, [illegible] —

यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः ।
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ॥
तथाऽक्षराद् विविधाः सौम्यभावाः ।
प्रजायन्ते तत्र चैवा पियन्ति ॥

इस प्रकार यह अक्षर अपने शरीर से जिन भावो को उत्पन्न करता है वे सब भाव [illegible] के अनुसार उसी अक्षर पर चीयमान हो जाते हैं और वे चिति पाच प्रकार की १–[illegible], २–[illegible]-चिति, ३–देवचिति, ४–लोकचिति, ५–धातुचिति इन पाचो चितियो को [illegible] पर रखकर जब इनकी मात्रा अधिक हो जाती है तो स्वभाव मे ही [illegible] चाहता है और इनमे जो व्यापक अपना रस्ता खीच लेता है जिसमे जिस प्रकार वृक्ष के पत्ते [illegible] के कारण अपने आधार से अलग होकर झड जाते हैं उसी प्रकार अक्षर के [illegible] पिण्ड उडकर उस अक्षर से अलग हो जाता है, इसीलिये उसे क्षर कहते हैं। [illegible] मे क्षर पदार्थ हैं इनकी चिति होने पर इनसे विशिष्ट होकर जो अक्षर अपना [illegible] को क्षरपुरुष कहते हैं।

यह जो जहा कुछ दीखता है वह सब क्षर है अर्थात् नाशवान् है किन्तु [illegible] विद्यमान है और उस अक्षर के भीतर परपुरुष विद्यमान है और उस पर के भीतर भी [illegible] यह स्थूल रीति से भीतर बाहर का व्यवहार किया जाता है। वास्तव मे क्षर के भीतर [illegible] व्यापक होकर अक्षर रहता है और अक्षर के भी बाहर भीतर पर है और [illegible] इसीलिये ईशावास्य श्रुति कहती है—

तदेजति, तन्नैजति, तद्दूरे, तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥

तात्पर्य्य यह है कि जिन क्षरो को आप सर्वत्र देख रहे हैं वे अक्षर की, [illegible] भी साक्षात् मूर्तिया हैं इनमे जो सबका मुख्य आधार परात्पर है वही [illegible] वही सबकी मुख्य प्रतिष्ठा है। इसलिये वही चिद् सब आत्माओ की आत्मा है।

त्रिशरीर विवेक
(कारण, सूक्ष्म, स्थूल)
१–कारण शरीर

तीन प्रकार के बीज जो पहले कहे गये है अर्थात् विद्या, कर्म और अविद्या [illegible] कारण शरीर कहलाता है और इन पर जितने देवता युक्त होते हैं वे सब [illegible]

इसी प्रकार इन पर जितने भूतों का संसर्ग होता है वे सब मिलकर स्थूलशरीर कहलाते हैं। ये तीनों भिन्न भिन्न प्रकार के तीन ढेर होते है इसलिये देह कहलाते है। क्योकि देह का अर्थ ढेर हैं, ऐसे ही ये तीनों चय अर्थात् समुच्चय या समूह हैं, इसी से इनको काय कहते है। क्योकि चयन से काय बनता है और ये तीनों फिर मुख्य आत्मा से शीर्ण होकर अलग हो जाते हैं इसीलिये शरीर कहाते हैं। इन तीनो को आत्मा विविध प्रकार से अथवा विशेष रूप से ग्रहण करता है इसलिये इनको विग्रह कहते हैं। ये तीनों आत्मा पर वपन किये जाते है अर्थात् बोये जाते है इसीलिये वायु कहाते हैं। इन तीनो के कारण मे आत्मा का विस्तार होता है इसलिये तनाव होने के कारण इनको तनु कहते हैं। ये आत्मा पर मूर्छित रहते हैं इसलिये मूर्ति कहलाते हैं। इस प्रकार ये तीनो समूह रूप होने के कारण पुरी भी कहे जाते हैं। इन्ही पुरियो मे वसने के कारण आत्मा पुरुष कहलाता है. (पुर=बस,उप=बसना) इन तीनों शरीरों मे (बीज, देव,भूत) जो कारण शरीर हैं वह २ प्रकार से होता है एक तो आत्मा के वाक् भाग मे स्वयम् आत्मा मे से उत्पन्न होने वाले होकर उस वाक् पर नित्य रूप से विद्यमान रहता है, अर्थात् आत्मा के मन, प्राण, वाक् सम्बन्ध से वह वाक्, विद्या, कर्म और अविद्यारूप से स्वय परिणत हो जाता है यह पहला रूप है और ये सदा नित्य है ॥१॥

किन्तु दूसरा इस जीव आत्मा के कर्म करते रहने से उस कर्म जन्य जो अतिशय उत्पन्न होता है जिसे गुरु कहते है वही बीज रूप से वाक् पर आसक्त हो जाता है अर्थात् विद्या पर विद्या, कर्म पर कर्म, अविद्या पर अविद्या आकर उनको पुष्ट करता है और ये तीनों ही कृत्रिम उत्पन्न होकर भोगने से नष्ट होते रहते है और फिर २ से उत्पन्न होते रहते हैं जब तक मुक्ति न हो तब तक इनका विनाश उत्पत्ति क्रम नष्ट नही होता इसलिये ये दोनो प्रकार के कारणशरीर नित्य ही विद्यमान रहते हैं किन्तु इनमे विशेष यह है कि पहला औदयिक कारण शरीर अक्षर आत्मा मे ही अवश्य रहता है इसीलिये ईश्वर का भी शरीर माना जाता है और उसी शरीर से अक्षर आत्मा अर्थात् ईश्वर सब सृष्टियो को करता है।

किन्तु दूसरा आसङ्गिक (योग से) कारण शरीर क्षर जीव शरीरो मे ही जो अक्षर भाग है उसी पर रहता है। क्षर के सम्बन्ध से ही आसङ्गिक कारणशरीर अक्षर पर उत्पन्न होता है और उसी आसङ्गिक कारणशरीर के द्वारा इस जीव का जन्म, मरण, भुक्ति, मुक्ति इत्यादि निर्भर है। औदयिक और आसङ्गिक दोनो कारणशरीर जब अक्षर पर उत्पन्न हो जाते है तब वही अक्षर ईश्वर न कहा कर जीव कहाने लगता है और वही जीव अपने पर नई पञ्चचिति वाले स्थूलशरीर को ग्रहण करता छोडता रहता है परन्तु वही ऐसा करे कि जिससे विद्या की उन्नति हो तो उससे विद्या बढकर अविद्या को घटाते हुए, किसी समय मे उसको सर्वथा नष्ट कर देता है तो जीव लक्षण अविद्या के नष्ट होने से वही अक्षर विशुद्ध ईश्वर रूप हो जाता है यही जीव की सगुण मुक्ति कही जाती है।

२—सूक्ष्मशरीर

सूक्ष्मशरीर तीन प्रकार से उत्पन्न होता है—१-औदयिक, २-आसङ्गिक, ३-जैव- या हार्द ये तीनों ही जीव के अक्षर आत्मा के आश्रय से रहते हैं ॥१॥

ईश्वर की वाक् से स्वय उत्पन्न होकर देवता और भूत ये दोनो ही ईश्वर के [illegible] कहते हैं। अक्षर में भी नियम से रहते हैं, किन्तु उपेश्वर जो सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि [illegible] अक्षर मे औदयिक देव भूत के अतिरिक्त आगन्तुक देव भूत भी उत्पन्न होते हैं [illegible] भूत के अतिरिक्त ईश्वर से आये हुए देव, भूत भी आसक्त हो जाते हैं किन्तु पृथ्वी आदि [illegible] जीव उत्पन्न हुए हैं उनके शरीर मे स्वयं उत्पन्न हुए देव, भूतों के अतिरिक्त ईश्वर या [illegible] हुए देव, भूत आसङ्गिक रहते हैं। इनके सिवाय जीवो के हृदय मे हृदय के कारण जो [illegible] गायत्री का वर्णन पहले किया गया है उस रूप मे भी देव और भूत हृदय मे [illegible] ष्ठित होकर चार प्रकार के कर्म करते हैं यह तीसरे प्रकार का देव और भूत जीव के शरीर के हृदय के सम्बन्ध से ही उत्पन्न होते हैं इसलिये इनको जैव कहते हैं। इस प्रकार देव और भूतो [illegible] हैं उनमे देवता को लेकर सूक्ष्मशरीर कहा जाता है।

३—स्थूलशरीर

किन्तु इन्ही तीनो भेदो मे तीनो भूत भागो को लेकर तीन स्थूलशरीर भी जीवों मे [illegible] हैं। इन तीनो स्थूलो के अतिरिक्त एक चौथा और भी स्थूलशरीर उत्पन्न होता है यह माता-पिता के [illegible] शोणित से बनकर उन तीन स्थूल शरीरो मे शामिल हो जाता है। इसी चौथे स्थूल शरीर को हम [illegible] स्पष्ट रूप से देखा करते हैं इसी चौथे के अन्तर्गत जैव, आसङ्गिक और औदयिक भी स्थूलशरीर विद्यमान रहते हैं। परन्तु इन चारो स्थूल शरीरो मे माता-पिता से आये हुए चौथे स्थूलशरीर का [illegible] सम्बन्ध दुर्बल रहता है इसलिए इस चौथे स्थूलशरीर के जीर्ण होने पर जैसे सर्प अपनी [illegible] छोडकर निकल जाता है उसी प्रकार चौथे स्थूलशरीर को छोड़कर जीव आत्मा बाहर निकलता है और अपनी गति को जाता है इसी को मृत्यु कहते हैं। किन्तु इस जीव आत्मा के [illegible] ही सूक्ष्मशरीर और दो कारण शरीर मरने के पश्चात् भी बने रहते है और [illegible] जीव आत्मा की भिन्न—भिन्न लोको मे गति होती है और जन्म लेते समय भी इन [illegible] हुआ जीव आत्मा चौथे प्रकार के नये स्थूलशरीर मे प्रवेश करता है।

त्रिविध—शरीर—समन्वय

इस प्रकार विचार करने से जीव आत्मा मे १—कारणशरीर, २—सूक्ष्मशरीर, ३—स्थूलशरीर [illegible] भेद से सिद्ध होते है। जिनमे स्थूलशरीर ये हैं—१—औदयिक, २—आसङ्गिक, ३—जैव, ४—[illegible] जिनमे माता—पितृज ही शरीर को प्रायः साधारण बुद्धि से मुख्य स्थूलशरीर समझते हैं [illegible] रूप से दीखता है और ऊपर कही हुई आत्मा अन्तिम पाच चितियां भी [illegible] उत्पन्न होकर आत्मा के तीसरे उपसर्ग होते है। तीनो प्रकार के [illegible] के विन्यास का भेद और ७ धातुओ का विन्यास और ७ प्रकार के प्राण [illegible] इस स्थूलशरीर के होने पर ही स्पष्ट रूप से भासते हैं इसलिए यह स्थूलशरीर [illegible] उपसर्ग है। इसी उपसर्ग बन्धन से विरक्त होकर आत्मा इस स्थूलशरीर [illegible]

है और इसी को मृत्यु कहते हैं। इस मृत्यु से यद्यपि यह चौथा स्थूल शरीर सर्वथा छूट जाता है तथापि अवशिष्ट तीनों स्थूल शरीर आत्मा से नही छूटते उनका बन्धन मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा स्वप्न अवस्था के अनुसार शरीर धारण किये हुए रहता और उसमे २ कारणशरीर ३ सूक्ष्म या ३ ही स्थूल शरीर भी बने रहते हैं। कितने ही शङ्का करते हैं कि हृदय विन्यास इस चौथे स्थूल शरीर में ही हो सकता है इसलिए इसको छूटने पर मृत्यु के पश्चात् हृदय नही रहता इसलिए हार्दस्थूलशरीर या हार्दसूक्ष्मशरीर नहीं होना चाहिये किन्तु विचार से सिद्ध हुआ है कि हृदय का भाग उन तीनो स्थूलशरीरों मे भी होना सम्भव है क्योंकि वह शरीर वासनामय है मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा जिस शरीर को छोड़ जाती है उसकी वासना रहने के कारण उसी प्रकार का शरीर उन तीनो भूतचितियो से भी बना लेता है यह बात केवल कल्पना ही नहीं है प्रत्युत स्वप्न अवस्था में इसका वाह्य शरीर के अनुरूप ही बना हुआ नया शरीर प्रत्यक्ष में देखा जाता है और वह शरीर जाग्रत न रहकर स्वप्न मे ही दीखता है इसलिए स्वप्न-काल में ही वासना से उसका बनाया जाना पाया जाता है। इसलिये श्रुति भी स्वप्न मे उसका बनाना स्वीकार करती है।

इसी स्वप्न के अनुसार मृत्यु के पश्चात् भी इन्ही भूत सामग्रियों से उसी वासना द्वारा उसी प्रकार शरीर का बनाया जाना संभव है अब देखना चाहिये कि जब स्वप्न के शरीर मे हृदय है और उसी हृदय के द्वारा हर्ष, विषाद, चिन्ता, शोक आदि जगत् के सब व्यवहार किये जाते हैं तो मृत्यु के पश्चात् भी उसी प्रकार के शरीर से आत्मा का चलना, फिरना, हर्ष, शोक आदि सब व्यवहार होना संभव है इसका विस्तार पूर्वक वर्णन आगे आत्म गति के प्रकरण मे किया जायगा, यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि यदि स्वप्न के भौतिक शरीर मे हृदय है मृत्यु के पश्चात् भी भौतिक शरीर मे है और हृदय होने से हार्द सूक्ष्म या हार्दस्थूल दोनो ही शरीर हो सकते हैं। ये सूक्ष्म या स्थूल दोनो ही शरीर दृढ़ बन्धन होने के कारण आत्मा मे चिरकाल तक रहते हैं। अर्थात् आत्मा की मुक्ति न होने तक रहते हैं अथवा यों समझें कि इन्हीं दोनों शरीरो के बन्धन के छूटने को मुक्ति कहते हैं इस मुक्ति के पश्चात् भी औदयिक सूक्ष्मशरीर या स्थूलशरीर बना ही रहता है। उसी शरीर से वह आत्मा सार्वकाम्य परमैश्वर्य का परमानन्द भोग करता है इसलिये इस मुक्ति को सगुणमुक्ति कहते हैं। किन्तु यदि किसी कारण से यह औदयिक तीनों शरीर भी आत्मा से छूट जावे तो वह सच्ची मुक्ति अर्थात् जिसको परम धाम कहते हैं प्राप्त हो जाता है और वह आत्मा आनन्द का भोग न करके स्वयं आनन्द रूप हो जाता है इस अवस्था मे आत्मा अशरीर होकर क्षर, अक्षर दोनो से अतीत पर पुरुषोत्तम अव्यय हो जाता है वही सगुणमुक्ति ईश्वर (अक्षर) की उपासना से सिद्ध होती है। उपासना के सब शास्त्र इसी मुक्ति के लिए सब उपाय बनाते हैं किन्तु निर्गुण मुक्ति इन उपासना के उपायो से सिद्ध नही हो सकती उसके लिए ज्ञानकाण्ड का आश्रय लेना होता है। ज्ञान शास्त्र ही निर्गुण मुक्ति के उपायो को दिखाता है और वह उपाय केवल आत्मज्ञान है और कुछ नहीं इसलिए श्रुति कहती है—

'तमेवविदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'

अर्थात्—इसको ही जानकर मुक्ति को प्राप्त होता है और कोई रास्ता जाने को नही है।

यह निर्गुणमुक्ति एक ही प्रकार की है जिस प्रकार सगुणमुक्ति को नि [illegible] निर्गुणमुक्ति को अपवर्ग कहते हैं ।

पञ्चात्मसंस्था

भृगुवल्ली कठश्रुति या तैत्तिरीयक श्रुति के अनुसार पांच कोश या पांच [illegible] मे पाच विभाग किये गये हैं उनमे आनन्द, विज्ञान, मन इन तीनों को मन शब्द मे ही [illegible] तो आत्मा के तीन ही विभाग सिद्ध होते हैं इसीलिए वृहदारण्यक श्रुति मे आत्मा को मनोमय, [illegible] वाङ्मय ही कहते हैं इनमे मन दिव्यात्मा है। द्यौ मे जो कुछ उत्पन्न होते हैं वे प्रायः मन प्रधान [illegible] हैं। दूसरा प्राण आन्तरिक्ष आत्मा है, अन्तरिक्ष के सब पदार्थ प्राण प्रधान होते हैं और तीसरा वाक् पार्थिव आत्मा है अर्थात् पृथ्वी पर सब पदार्थ वाक् प्रधान ही उत्पन्न होते हैं इस प्रकार [illegible] या पाच रस कहे ये सब मिलकर एक ही आत्मा सिद्ध होता है। परन्तु यह आत्मा १–वाक् प्रधान, २–प्राण प्रधान, ३–मन प्रधान, ४–विज्ञान प्रधान और ५–आनन्द प्रधान होने के [illegible] से विभक्त किया जा सकता है। इन पाचो के क्रम से नाम ये हैं—१–भूतात्मा, २–[illegible], ३–महानात्मा, ४–क्षेत्रज्ञात्मा, ५–परमात्मा ये पाचो ही परस्पर संश्लिष्ट (मिले हुए) रहते हैं।

इस आनन्दमय आत्मा को १–परोरजाः, २–विरजा, ३–सत्यस्यसत्य, ४–भूमा, ५–[illegible] भी कहते हैं ॥ १ ॥

विज्ञानमय क्षेत्रज्ञ आत्मा को १–हार्द आत्मा, २–सत्यात्मा, ३–महान् [illegible] ४–[illegible] वान् भी कहते हैं ॥ २ ॥

मनोमय महानात्मा को १–षोडशी भी कहते हैं ॥ ३ ॥

प्राणमय सूत्रात्मा को १–तेजन और २–वामन भी कहते हैं ॥ ४ ॥

पाचवी अन्नमय भूतात्मा को १–हिरण्मय भी कहते हैं ॥ ५ ॥

इनमे पूर्व २ आत्मा का पर २ आत्मा शरीर बना रहता है इस प्रकार पांच आत्मा [illegible] इस शरीर मे अपना काम करते हैं। इनमे सूत्रात्मा और चिदात्मा ये दोनों ही [illegible] अव्यभिचारी रूप से सर्वत्र ही विद्यमान रहते हैं—यह स्वतः ही सर्वत्र उपलब्ध होते हैं, [illegible] बहुत से ऋषियो ने विशेष रूप से इनकी चर्चा न करके मुख्यतया तीन ही आत्मा [illegible] है—क्षेत्रज्ञ, महान् और भूतात्मा इन तीनो को मिलाकर किसी ने जीवात्मा माना है और [illegible] और महान् को पृथक् करके केवल भूतात्मा को ही जीवात्मा माना है। [illegible] देह का अभिमान रखते है अर्थात् देह के भेद से ये भिन्न-भिन्न हो जाते हैं [illegible] देह का कुछ धर्म सक्रान्त नही होता इसलिये ये तीन ही आत्मा विशेष रूप से [illegible] इस जीव शरीर मे चिदात्मा और सूत्रात्मा भी अवश्य ही नियम से विद्यमान [illegible] भूतात्मा पृथ्वी से आता है महानात्मा चन्द्रमा से, क्षेत्रज्ञात्मा सूर्य से, [illegible] तीनो लोको से बाहर जो परोरजाः जा कर दिव्य ज्योतिमय कोई महासूर्य है उससे [illegible]

परमात्मा

यह कहा गया है कि जो लोकत्रयातीत कोई महासूर्य है उससे जो रस हमारे शरीर मे आता है उसको चिदात्मा या परमात्मा कहते हैं उसका क्रम यह है कि हम जिस पृथ्वी पर वसते हैं और उसके चारों ओर जिस प्रकार चन्द्रमा परिक्रमा करता है वैसे ही यह पृथ्वी भी सूर्य की परिक्रमा और इस प्रकार के बहुत से सूर्य एक अभिजित् तारे को जिसको ब्रह्मा कहते हैं, और भी विद्युत, इन्द्र, सोम, वरुण जितने ही उस अभिजित् की परिक्रमा करते हैं। उन सबको साथ लिये हुए यह ब्रह्मा एक दूसरे ज्ञानमय ज्योति वाले महासूर्य की परिक्रमा करता है, वह अभिजित् सूर्य, चन्द्रमा आदि सभी आकाशो का प्रकाशक है, इसीलिये ज्योतिषांज्योति कहलाता है। उसकी यह दिव्यज्योति जहा तक जाती है वही एक महान जगत् है उस जगत् का प्रभु होने के कारण उसी महासूर्य को ईश्वर कहते है। उस ईश्वर की जो किरणें हैं वे आयु और अमृत कहलाती है और वे ज्ञानमय हैं आनन्दमय है, सत्तामय है। जगत् के प्रत्येक पदार्थ मे जो सत्ता दीखती है वह वहीं से आती है और जितने ज्ञान जगत् के स्वरूपो का प्रकाश करते हैं, प्रकाश या अन्धकार का भेद दिखाते हैं वे सब ज्ञान भी वही से जगत् मे आते हैं। जितना आनन्द प्रत्येक वस्तु मे हमको मिलता है वह आनन्द भी वहीं से आकर सर्वत्र व्याप्त हुआ है। जितने भूत या देवता जहा कहीं हैं वे सब उसी मूल कारण से उत्पन्न हुए हैं और उसी से पकडे हुए उसी के चारो ओर उसी की उपासना करते हुए यत्र तत्र विद्यमान है। भूत और देवताओ के आश्रय होने के कारण यद्यपि वह अक्षर आत्मा है तथापि पर आत्मा का सब रस उसमे विद्यमान है अर्थात् आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक् इन सब का भी वह घन है। इतना ही परात्पर का रस भी जगत् मे हमको जहां कुछ मिलता है इसी के द्वारा उपलब्ध होता है।

तात्पर्य्य यह है कि हमारे लिये वह ईश्वर परात्पर आत्मा, पर आत्मा और अक्षर आत्मा इन तीनो आत्माओ को हमे एक साथ देता है इसलिये हम इस एक परमात्मा को तीन रूप से विभक्त करके देखते हैं। अर्थात् परात्पर आत्मा पर या अव्यय जिसे सत्य या अन्तर्यामी भी कहते हैं और तीसरा अक्षर आत्मा इन तीनो मे परात्पर आत्मा का सत्ता, चेतना, आनन्द इन तीनो के अतिरिक्त जो एक शान्त आनन्द है वही उसका मुख्य और समृद्धानन्द, चेतना, अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान और सत्ता ये तीनो अव्यय आत्मा का रस है इसी अव्यय आत्मा को सत्य कहते हैं। सत्य उसी को कहते हैं जो प्रत्येक वस्तु मे एक प्रकार की नियति (नियम) पाई जाती है जो पानी को नीचे झुकाती है, आग को ऊंचे चढाती है, हिरण के दोनो सींग मस्तक के मध्य भाग से दोनो छोर समान मिति और समान क्रम से झुकाती है, वदरफल के एक ही स्थान से निकले हुए दो कण्टक एक सीधा जाता है और दूसरा मुडजाता है इत्यादि इत्यादि इस तरह के अनन्त उदाहरण हैं। यह सत्य प्रत्येक वस्तु के अन्दर वैठा हुआ उस वस्तु का नियमन करता है अर्थात् उसको उस वस्तु के नियम पर चलाता है, इसलिये उसको अन्तर्यामी कहते हैं, यह अन्तर्यामी उसी अव्यय आत्मा सत्य का नाम है और तीसरा अक्षर आत्मा से नाम, रूप, कर्म जगत् के प्रत्येक वस्तु में आते रहते हैं, इस प्रकार उन चिदात्मा को भिन्न भिन्न तीन आत्मा समझना चाहिये, अपर आत्मा सत्य या अन्तर्यामी आत्मा और शान्त आत्मा ये तीनो जिस ईश्वर से हमारे पास आते हैं उनकी स्तुति मे वेद कहता है—

"यस्मादर्वाक् संवत्सरो अहोभिः परिवर्तते ।
तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥" [illegible]

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्म विदोविदुः ॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥
ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् दक्षिणत श्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥
न जायते म्रियते वा कदाचिन् नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्नव्येति तदव्ययम् ॥
दिव्योह्यमूर्तः पुरुषः स वाह्याभ्यन्तरोह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रोह्यक्षरात् परतः पर ॥

शान्तात्मा

ऊपर लिखे अनुसार जो चिदात्मा तीन रूप से कहा गया है उन तीनों का नाम [illegible] झना चाहिये :—शान्तात्मा, सत्यात्मा, शारीरिक आत्मा । इनमें शान्तात्मा आनन्द स्वरूप है । [illegible] का है पूर्व और पर इनमे पूर्व तो वह है कि जिसका सृष्टि के पूर्व में होना अनुमान किया जाता है [illegible] जिस शान्ति रूप मे अकस्मात क्षोभ उत्पन्न होकर यह सृष्टि का रूप उत्पन्न हुआ है [illegible] किन्तु यह क्षोभ उत्पन्न होकर जो जगत् का रूप इस समय दीखता है [illegible] वही अवस्था पर शान्त है । शान्तात्मा से उत्पन्न जो प्रथम पर आत्मा है उनके तीन [illegible] और वाक् इनमे मध्यवर्ती प्राण किया करता है मन और वाक् ये दोनों [illegible] के साथ सयुक्त होता है तब प्रवृत्ति रूप किया करता है अर्थात् एक से दो, दो [illegible] बदलकर वस्तुओ के नाना भेद उत्पन्न करते हैं जिससे जगत् की वृद्धि होती है । [illegible] मे आकाश के अनुसार मन भी व्याप्त हो जाता है यही आत्मा की जाग्रत अवस्था है और [illegible] कहते है और इस प्रवृत्ति समय के आत्मा को समृद्धानन्द कहते हैं ।

किन्तु वह प्राण यदि मन के साथ संयुक्त होता है तो निवृत्ति क्रिया करता है [illegible] भिन्न भिन्न उत्पन्न हुये थे उनकी स्वरूप बनने वाली क्रिया को निरोध [illegible]

प्रकार उनकी सृष्टि स्वरूप को नष्ट करके प्राकृत स्वरूप अर्थात् उनके कारण का स्वरूप देते हुए ये भेद बुद्धि का नष्ट करता है। इस प्रकार धीरे धीरे एक रूप मे आकर भिन्न भिन्न अपने नाम रूप कर्मों को छोड़ देते हैं। जिस प्रकार भिन्न भिन्न नाम रूप कर्मवाली सहस्रो नदिया समुद्र मे जाकर अपने नाम रूप कर्मों को छोड़ कर समुद्र मे लय हो जाते हैं उसी प्रकार इस जगत् के सब भाव जिस महा समुद्र मे जाकर अपने नाम रूप कर्मों को खो बैठते हैं वही पर शान्तात्मा है वास्तव मे यह शान्तात्मा एक ही है वही इस जगत् का प्रभव, प्रतिष्ठा, परायण है किन्तु प्रतिष्ठा की दशा मे वह समृद्धानन्द कहलाता है और प्रभव को पूर्व शान्ति और परायण को परशान्त कह करके बल व्यवहार किया गया है। वास्तव मे यह शान्तात्मा तीनो अवस्था मे एक है इसी शान्तानन्द की स्तुति मे आनन्दवल्ली कठश्रुति कहती है कि—

आनन्दाद्धयेव खल्विमानि, भूतानि जायन्ते।
आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्द प्रयन्त्यभि संविशन्ति" ॥

और भी वाजसनेय श्रुति कहती है कि—

"अस्यैवानन्दस्य अन्धानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति"

सत्यात्मा

सत्यात्मा जो वास्तव मे अव्यय आत्मा का स्वरूप है वह तीन प्रकार से हमारे पास अर्थात् जगत् मे व्याप्त होता है। सत्ता, शक्ति और अर्थ इनमे वस्तुतः शक्ति ही एक मुख्य धर्म है ये शक्तियाँ अनन्त होने पर भी उन सपूर्ण अनन्त शक्तियो को घिलमिल करके यदि एक रूप मे हम देखे तो उसी का सत्ता यह नाम दिया गया है, अर्थात् सर्व शक्ति घन को ही सत्ता कहते हैं, जो कि सर्व जगत् मे सर्वदा व्यापक है। उन्ही सत्ता रूपी अपरिमित शक्तियो के घन मे से कितने ही शक्तियो को छोडकर तथा कितनो ही को लेकर जो भिन्न भिन्न एक एक वस्तु उत्पन्न हुए है उनके वे परिमित शक्तियाँ ही शक्ति कहलाती हैं और वे परिमित शक्तियाँ जिस पात्र मे पाई जाती है उस आश्रय या आधार को अर्थ कहते है। तात्पर्य यह है कि यह सत्यात्मा प्रथम कोई अर्थ का रूप धारण करता है वह अर्थ कितनी ही शक्तियो का आश्रय होता है यद्यपि यह अर्थ भी शक्तियो का ही पुञ्ज रूप है तथापि वे शक्तियाँ उस वस्तु के रूप बनाने मे काम आकर मूर्छित हो गई हैं, अब वे दूसरे अर्थ पर कुछ प्रभाव नही डालते इसलिये अर्थ के नाम से भिन्न कहे जाते हैं। किन्तु कितनी ही परिमित शक्तियाँ उस वस्तु मे जाग्रत रहकर कितने ही प्रकार के काम करती हैं उनको ही शक्ति के नाम से कहते हैं किन्तु इन सब वस्तुओ की सब शक्तियाँ जितनी इस जगत् मे हैं वे सब एक दृष्टि मे देखे जाकर सत्ता के नाम से कहे जाते है। इस प्रकार शक्ति ही के ये तीन भेद सिद्ध होने हैं यही शक्ति सत्य कहलाता है। कल्पना करो कि कुछ शक्तियाँ व्यापक सत्ता मे से अलग होकर एक जगह मिल गये तो एक वस्तु का स्वरूप सिद्ध हो गया। उस वस्तु मे ये तीनो सत्य विद्यमान हो गये। कुछ शक्तियाँ तो उस वस्तु के स्वरूप बनाने मे विना युक्त हुए और कुछ शक्तियाँ उस बने अर्थ मे रहकर अपना काम करने लगी। किन्तु ये दोनो प्रकार की शक्तियाँ उस व्यापक शक्ति घन से

निकलने के कारण अब भी उससे सम्पर्क रखती हैं। जिस प्रकार [illegible]
कर उस महाघन पानी से सम्पर्क रखते हुए रहते हैं। इसी प्रकार [illegible]
शक्तियो को लेकर स्वरूप धारण किया है उस सत्ता से अवश्य सम्पर्क [illegible]
सत्ता का ग्रहण करने से उत्पन्न हुआ कहा जाता है और सत्ता-वाला होने से [illegible]
है और यह 'है' अपना ही उस वस्तु की सत्यता है।

अक्षर आत्मा

पाँच प्रकार की आत्माओ मे से सबसे प्रथम और मुख्य जो चिदात्मा [illegible]
भेद कहे गये थे। १ शान्त, २ सत्य और ३ अक्षर जिनमे शान्त और सत्य का विचार [illegible]
तीसरा अक्षर आत्मा वही है जिसके अन्तर्गत परात्पर को लिये हुये पर [illegible]
यिक तीन शरीर है, और जिसके आधार पर भूतात्मा रहता है, और [illegible]
तीन तीन शरीर नये उत्पन्न होते हैं। वह अक्षर आत्मा हमारे शरीर मे इसी [illegible]
है इस तरह तीनो प्रकार की चिदात्माओ का निरूपण करके अब हम सूत्रात्मा का विचार करते हैं।

सूत्रात्मा

उस ज्योतिषा ज्योति परज्योति से रश्मियाँ आकर हमारे शरीर मे [illegible]
ओत प्रोत हो रही हैं उसका कारण सूत्रात्मा है। दिव्य ज्योति असङ्ग होने पर भी [illegible]
के कारण यह सपूर्ण जगत् उस दिव्या ज्योति की रश्मि मे गुथा हुआ है। इसी सूत्रात्मा [illegible]
दिव्य ज्योति भी सूत्र बन गया है। जिसके लिये गीता मे कहा है।

मयि सर्व मिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।

अर्थात् सूत्र मे मणियो के अनुसार मुझमे अर्थात् चिदात्मा मे [illegible]
हुआ है ॥१॥

इसी प्रकार सत्य, अर्थात् नाम, रूप, कर्म ये तीनो अमृत [illegible]
वस्तु का स्वरूप बनाते है। इनमे सत्य और अमृत को परस्पर बाँधने वाला सूत्रात्मा [illegible] ॥२॥

इसी प्रकार ये तीनो लोक परस्पर मे इसी सूत्रात्मा से [illegible]
हुई है ॥३॥

और ऐसे अनन्तानन्त त्रैलोक्य किसी एक सूत्र मे [illegible]
का रूप उत्पन्न करते है ॥४॥

जीव उपेश्वर मे तथा उपेश्वर परात्पर मे अथवा सब उपेश्वर [illegible]
से बँधे हुए है और ईश्वर से ये सब अनुगृहीत हैं ॥५॥

इसी प्रकार यह देह भी भिन्न भिन्न अपने तन्त्र रखते हुए नाना प्रकार के देवताओ से और भूतो के परस्पर से बन्धन पाकर एक निकाय बन गया है। इनमे सब पदार्थों की भिन्न भिन्न जाति (ढेर-ढांक) के होते हुए भी जो सबको मिलाकर एक तन्त्र से हो रहा है यह भी इसी सूत्रात्मा का प्रभाव है ॥६॥

सूर्य के प्राण पृथ्वी से अपान दोनो भिन्न भिन्न जाति के दो रस इस शरीर में आकर जो इस तीसरे स्थान पर निबद्ध होता है जिसके कारण इस शरीर मे से वायु एक दम निकल न जाकर नियमानुसार श्वास-प्रश्वास की क्रिया करता है यह भी सूत्रात्मा ही का प्रभाव है ॥७॥

इस शरीर मे क्षेत्रज्ञात्मा सिर मे रहता है और शुक्र और शोणित मे महान् आत्मा रहता है। भिन्न भिन्न स्थानों मे रहने वाले इन दोनो आत्माओ का हृदय मे रहने वाले भूतात्मा के साथ जो घनिष्ट सम्बन्ध पाया जाता है यह भी सूत्रात्मा ही के कारण से है ॥८॥

यह सूत्रात्मा व्यान रूप से इस शरीर में हृदय स्थान मे बैठकर अपने भिन्न भिन्न प्रकार के सूत्रो से सपूर्ण अङ्ग प्रत्यङ्गो को सपूर्ण भूतमात्रा, प्राणमात्रा, प्रज्ञमात्राओ को यथा स्थान सनिवेश करके स्वतन्त्र और सम्बन्ध रखता है। यही सूत्रात्मा इस शरीर से अथवा इस जगत् मे प्रधान आत्मा कहना चाहिये क्योंकि इसी के कारण अन्यान्य कोई भी आत्मा अपने अपने स्थान से विचलित न होकर वह एक दूसरे से परस्पर-मिलकर इस देहचक्र को अथवा ससारचक्र को भली प्रकार से चला रहे है। यह सूत्रात्मा सर्व-जगत् व्यापक है। यह किसी खास पिण्ड से न आकर अन्तरिक्ष से आता है ॥९॥

इसी सूत्रात्मा के प्रभाव से यह चिदात्मा जो ज्ञान स्वरूप है वह चयन के द्वारा ४ स्थान पर सम्बन्ध रखता है अर्थात् इस चेतना के चार स्वरूप होते हैं। शान्त, बुद्ध, मत भूत इनमे चिदात्मा जो शुद्ध अपने रूप मे है वह चिति-होने से प्रथम शान्त कहलाता है। वह ज्ञान रूप होने पर भी निर्विषयक होने से अपरिच्छिन्न और स्वतन्त्र है। किन्तु यही चेतना किसी न किसी किसी विषय का अवलम्बन करके विज्ञान का रूप धारण करता है। किन्तु विषय के ऊपर आरूढ होकर भी असङ्ग स्वभाव होने के कारण विषय के धर्मो से उसका कुछ भी सम्पर्क नही होता। विषय से बन्धन न होने के कारण वह सहज ही भिन्न भिन्न विषयों को ग्रहण करता और छोडता रहता है, इसी विज्ञान को बुद्ध कहते हैं। यह विज्ञान भी एक दूसरे प्रज्ञान पर प्रतिबिम्बित होता है। जिस प्रकार जल या दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थ सूर्यादि बिम्बों को ग्रहण करने मे समर्थ होते है, उसी प्रकार चन्द्रमा के रस रूपी प्रज्ञान भी स्वच्छ होने के कारण उस विज्ञान के बिम्ब को ज्यो का त्यो ग्रहण कर लेता है। उसी प्रतिबिम्ब को चिदाभास कहते है। जिस प्रकार जल मे प्रतिबिम्ब, अक्लेद्य, अशोष्य, अच्छेद्य, अदाह्य, अहस्तनेय है उसी प्रकार यह चिदाभास भी है। यह प्रज्ञान-मन शब्द से प्रसिद्ध है, इसलिये मन पर आये हुए चिदाभास को मनज्ञान कहते है और यह विषय मत कहा जाता है। यह प्रज्ञान ही साख्यशास्त्र के अनुसार सत्त्व कहा जाता है। यह सत्त्व दो प्रकार का है। विशुद्ध सत्त्व अर्थात् जिसमे रज, तम का ससर्ग नही है वह सत्त्व महदात्मा मे अर्थात् ईश्वर के ज्ञान मे पाया जाता है। किन्तु दूसरा कलुषित (मलिन) सत्त्व अर्थात् जिसमे रज, तम का मेल है वह जीव के ज्ञान मे देखा जाता है और वह विचाली है अर्थात्

अपने ही ज्ञान का अपने पर विश्वास नही होता। अथवा अपने निश्चय को [illegible] यह तीसरा 'तमज्ञान' हुआ। इन दोनो मे अर्थात् बुद्ध ज्ञान, मन ज्ञान [illegible] मे भासता है। किन्तु शान्त दशा मे वह ज्ञान होने पर भी उस रूप में नहीं भासता। [illegible] भूत रूप में भी यह चेतना ज्ञान के रूप नही भासता। किन्तु [illegible] इसलिये ज्ञान का स्वरूप स्पष्ट नही होता। किन्तु भूत को दशा मे इन [illegible] कारण ज्ञान स्पष्ट नही भासता। जिस प्रकार पानी मे अधिक मृत्तिका [illegible] जाता रहता है, उसी प्रकार इन भूतो मे भी भूतमात्रा की अधिकता मे [illegible] है। तात्पर्य यह है कि भूत दो प्रकार का है। एक बाह्यभूत जैसे लोष्ट (ढेला) [illegible] दूसरा शरीरभूत जो प्राणी के शरीर में अस्थि, मास, मज्जा, त्वचा आदि रूप मे [illegible] चेतना के सम्बन्ध के उत्पन्न नही होता। इनमे चेतना का अंश रहने पर भी [illegible] भासती किन्तु प्राणी के देह त्याग होने पर जब उन अवयवों मे से धीरे धीरे [illegible] ये अस्थि, मास, मज्जा आदि भी बाह्यभूत के अनुसार मिट्टी हो जाते हैं [illegible] रहता है तब तक इन अवयवों मे मिट्टी का रूप न दीखकर [illegible] सम्बन्ध के कारण से ही है। यही उस चेतना का चतुर्थरूप है। [illegible] स्वरूप से धीरे धीरे कलुषित होकर बुद्ध, मन, भूत तक आकर [illegible] इसी सूत्रात्मा के प्रभाव से होता है॥१०॥

क्षेत्रज्ञ आत्मा

सत्यात्मा का वर्णन हो चुका है, अब यहा से क्षेत्रज्ञ आत्मा कही जाती है। [illegible] है अर्थात् भूतो को पकडने वाली है, किन्तु भूतो से पकडा हुआ नहीं है। यह [illegible] है किन्तु किसी से लिप्त नही होता। यह हम को सूर्य मे मिलता है [illegible] जिस प्रकार आकाश मे वा द्यौ मे जितने देवता है सब सूर्य की रश्मि मे [illegible] उसी प्रकार इस शरीर मे जितने देवता हैं सब इसी के आश्रित रहते हैं।

इसी क्षेत्रज्ञात्मा को सांख्य मे पुरुष कहा है और महान् आत्मा [illegible] पुरुष की प्रकृति स्थिर किया है। प्रकृति का जिस प्रकार जिन धर्मों से [illegible] महान् आत्मा से समझना चाहिये किन्तु पुरुष के लिये जिस प्रकार का वर्णन [illegible] क्षेत्रज्ञ के लिये समझना चाहिये। उसका वर्णन विस्तार के कारण यहा नही [illegible] श्रुति मे इक्ष्वाकुवंशी राजा शरत् को शाकायन्य महर्षि ने जिस प्रकार [illegible] है वा कपिलदेव के सांख्य दर्शन मे पञ्चशिखादि आचार्यों ने जिस प्रकार [illegible] सब उन्ही के ग्रन्थो से देखना आवश्यक है। उनकी यहा पुनरावृत्ति करना [illegible]

१—योनि, प्रतिष्ठा, आशय

इस क्षेत्रज्ञात्मा को 'महाजन' वा (हृद) कहते हैं। इसकी योनि [illegible] है, और हृदय के भीतर मनोमय दहराकाश और हितानाडी [illegible]

यह भी जीवात्मा का छोटा भाग है तथापि जिन के मत मे भूतात्मा ही जीव कहा जाता है उनके विचार में यह प्रत्येक जीवात्मा के हृदय मे विराजमान स्वतन्त्र ईश्वर है। यह अपनी माया से यन्त्रारूढ़ जीवों को परिभ्रमण करता हुआ इस भूतात्मा जीव पर वा उसके शरीर पर पूर्ण आधिपत्य रखता है।* जो कुछ मेरा विज्ञान ज्ञानमण्डल है, जिस ज्ञानमण्डल मे मेरे शरीर सहित यह संपूर्ण चराचर जगत् जाग रहा है, यही ज्ञान विकास इस क्षेत्रज्ञात्मा का साक्षात स्वरूप है और जितने भिन्न-भिन्न प्रकार की मेरी बुद्धियाँ हैं वे इसी क्षेत्रज्ञ रूपी सूर्य की रश्मियाँ हैं।

२—आलम्बन

सर्वव्यापक चिदात्मा सूर्य के रस पर आकर उसी रस के परिच्छिन्न होता है। और रस के संयोग मे चिदात्मा का स्वरूप भी बदल जाता है। वही उन दोनो का सम्मिलित स्वरूप विज्ञान के नाम से कहा जाता है। उस विज्ञान का परिच्छिन्न बिम्ब ही इस शरीर के भीतर चन्द्रमा के रस से उत्पन्न हुए महान् आत्मा पर प्रतिबिम्बित होता है और उसी को सत्वगुण कहते है। यह महान् आत्मा सोम रस होने के कारण जल वा काच के अनुसार स्वच्छ होता है उस महान् आत्मा का सत्व भाग भूतात्मा के प्रज्ञान भाग मे मिलकर उस प्रज्ञान आत्मा को इतना स्वच्छ कर देता है कि जिस से उस प्रज्ञान पर वह पहला विज्ञान आत्मा प्रतिबिम्बित हो जाता है। प्रतिम्बि की रश्मि भी बिम्ब के अनुसार फैलने का स्वभाव रखती है तथापि जिस ओर उसका आलम्बन जल दर्पण आदि द्रव्य रहता है उस ओर रश्मियाँ प्रतिरुद्ध रहती है। इसी नियम के अनुसार शरीर मे भी प्रज्ञान रूक जाता है प्रतिबिम्बित विज्ञान आत्मा की रश्मियाँ पीठ की ओर जाकर सामने की ओर ऊपर नीचे चारो ओर व्याप्त होती है। जिसमे हमारे ज्ञान की प्रवृति जिन इन्द्रियो से होती हैं वे सब ज्ञानेन्द्रियाँ मस्तक के एक ही छोर मे देखी जाती है। यद्यपि हमारा ज्ञान इन्द्रियो से होता दीखता है तथापि उन इन्द्रियो मे प्रज्ञान भासित होता है और उस प्रज्ञान मे विज्ञान प्रतिबिम्बित है। वह विज्ञान सूर्य का वह रस है कि जिसमे चिदात्मा का अंश भरा हुआ है। उसी चिदात्मा के बल से विज्ञान आत्मा और प्रज्ञान आत्मा भी ज्ञानमय होकर हमारे हृदय मे वा इन्द्रियो मे निवास करता है। इसी से हम चेतन कहलाते हैं और प्रज्ञान पर जो विज्ञान का प्रतिबिम्ब है उसी को चिदाभास कहते है, और इस चिदाभास को ही बहुत से विद्वानो ने जीव-आत्मा शब्द से कहा है।

३—नाड़ी संचार

ऊपर आकाश मे सूर्य मण्डल मे जो हिरण्मय चमकता या टिमटिमाता हुआ पुरुष है, वही आत्मा मेरे इस शरीर की भी आत्मा है। जिस प्रकार सूर्य पुरुष इस ब्रह्माण्ड शरीर की आत्मा है। उसी प्रकार यही सूर्य पुरुष छोटे रूप मे मेरे हृदय मे हार्द पुरुष होकर मेरे शरीर की आत्मा होता है वही मैं हूँ अर्थात् मैं शब्द से उसी का व्यवहार होता है। जिस प्रकार बडे सूर्य पुरुष का प्रकाश ब्रह्माण्डमण्डल मे सर्वत्र व्यापक है उसी प्रकार हमारे शरीर को हार्दपुरुष का भी प्रकाश संपूर्ण शरीर मे व्यापक है इस

---

* भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया। (गीता)

शरीर स्थित प्रकाश का कभी कभी हम साक्षात्कार भी कर लेते है। [illegible]
अपने एक नेत्र के कोण को दबाकर वा उसमाकर बारबार वक्र (टेढा) [illegible]
ऊपरी टक्कन के नीचे प्रकाश का चक्र विजली के अनुसार [illegible]
प्रदेश है, वही ज्ञान का मुख्य स्वरूप भासित होता है। उस श्याम [illegible]
चाहिये। उसके चारो ओर कुण्डल के अनुसार प्रकाश मण्डल दीखता है [illegible]
हरी झाइ को लिये हुए श्वेत है।

किसी किसी का मत है कि वह प्रकाश चक्र तो प्राज्ञ आत्मा [illegible]
जो श्यामछिद्र है उसी का ज्ञान विकास जो हमारे शरीर से बाहर न होता [illegible]
है जो हमारे आंख के श्याम तारे पर रहकर भी सम्पूर्ण जगत् के [illegible]
भी सूक्ष्म नेत्राग्र प्रदेश मे दिखा रहा है वह विशाल ज्ञान प्रकाश ही [illegible]
यद्यपि वह भी मेरे सर्वाङ्ग शरीर मे व्याप्त है तथापि प्राज्ञात्मा के अनुसार [illegible]
के भीतर दीख आता है। अथवा जगत् का रूप दिखाने वाला ज्ञान प्रकाश [illegible]
आख मे ही भासता है। इसलिये प्राज्ञ के अनुसार क्षेत्रज्ञात्मा [illegible]
वेद मे वर्णन किया गया है। अर्थात् वेद बार बार कहता है कि [illegible]
दक्षिणनेत्र का इन्द्र पुरुष ये दोनो एक ही हैं और बायें आंख की ज्योति [illegible]
दोनो आंखो के प्रकाश का हृदयस्थान मे मिलाव है। इसलिये यह भी [illegible]
आत्मा और सूर्य ये दोनो एक ही वस्तु है। वेद मन्त्र है—

"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" अर्थात् स्थावर और जङ्गम दोनो की आत्मा [illegible]।

जिस प्रकार सूर्य के चारो ओर सूक्ष्मातिसूक्ष्म रश्मिनाडी फैली हुई [illegible]
क्षेत्रज्ञात्मा का भी प्रतिष्ठा स्थान इस हृदय मे चारो ओर सूक्ष्मातिसूक्ष्म [illegible]
किरणें हिता नाम की नाडिया चारो ओर शरीर मे फैली हुई है जिस प्रकार [illegible]
रक्त, पीत, हरित आदि सात वर्णों की है उसी प्रकार इस हार्द सूर्य की भी [illegible]
वर्णो की देखी गई है। उन नाडियो मे १०१ नाडी हृदय मे [illegible]
ऋचा मे लिखा है—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति, विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥

अर्थात् इन १०१ नाडियो मे एक नाडी ठीक मस्तक रेखा मे [illegible]
नाडी के द्वारा आत्मा उत्क्रमण करे अर्थात् मृत्युकाल मे इसी नाडी होकर [illegible]
वह जीव अमृतत्व अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है। किन्तु इससे [illegible]
विष्वङ् अर्थात् इधर उधर नाना प्रकार के स्वर्गों मे जाता है यहा से [illegible]

जिस प्रकार दो नगरो को मिलाने वाला मध्य मे बहुत विस्तृत राज मार्ग फैला हुआ होता है, जिसके द्वारा इस नगर से उस नगर तक जीव आते जाते रहते हैं उसी प्रकार द्यावा पृथ्वी अर्थात् सूर्य पृथ्वी को मिलाने वाला रश्मि नाडियो का वना हुआ एक माहमार्ग समझना चाहिये। जिसके द्वारा सूर्य का रस क्षेत्रज्ञात्मा मे और क्षेत्रज्ञ का रस सूर्य आत्मा मे प्रतिक्षण आते जाते रहते हैं, और सूर्य की आत्मा इसी मार्ग मे आकर क्षेत्रज्ञात्मा बना है वा क्षेत्रज्ञात्मा भी मृत्युकाल मे उसी मार्ग से जाकर सूर्य आत्मा में सम्मिलित हो जाता है। इस प्रकार सूर्य से फैलकर हितानाड़ी में रश्मियाँ आती है, और हृदय से फैलकर सूर्य में चली जाती है। मृत्युकाल मे यह क्षेत्रज्ञात्मा उल्टे जाते हुए उन्ही रश्मियो के साथ मनोवेग के अनुसार एक दक्षिण में सूर्य तक पहुँच जाता है। यदि उसमे विद्या का प्रबल संवन्ध हो किन्तु मलिन विद्या जिसे काम कहते हैं, और काम-जन्य, कर्म और अविद्या का बोझ आत्मा पर अधिक हो तो वह आत्मा इतनी शीघ्रता से सूर्य तक नही पहुँचने पाती। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सूर्य के चारो ओर किरणें है, उसी प्रकार इस हार्द सूर्य के भी चारो ओर किरणे है, उन्ही किरणो के बल मे यह क्षेत्रज्ञात्मा इस शरीर को अत्यन्त हलका बनाकर शरीर को उठाये रहता है।

४-क्षेत्रज्ञात्मा से संवन्ध रखने वाले देवता

आकाश के सूर्य मे सम्बन्ध रखने वाले प्राणप्रधान तत्वो को देवता कहते है। उन देवताओ के प्रथम विभाग को ऋषि कहते हैं, जो शुद्ध अमिश्रित प्राण स्वरूप हैं उनके अनेक भेद हैं, इन ऋषियो से उत्पन्न होने वाले दूसरे विभाग में पांच तत्व हैं—पितर, देव, असुर, मनुष्य, गन्धर्व। इनमें यद्यपि पितर तत्व चन्द्रमा के प्रकाश में, देवतत्व पृथ्वी के प्रकाश में, असुर तत्व पृथ्वी और चन्द्रमा के पीछे की ओर अन्धकार भाग में, मनुष्यतत्व पृथ्वी के दोनो सन्ध्या की छाया में और गन्धर्व चन्द्रमा की दोनों सन्ध्या की छाया में रहते हुए प्राणतत्व को कहते हैं तथापि ये सब प्राण सूर्य से संवन्ध रखते हैं। सूर्य से ही आकर इन सब में व्याप्त हुए हैं, इसलिये ये विभाग सूर्य मे भी माने जाते हैं। इनमें देवता से उत्पन्न होने वाले तीसरे विभाग मे पाच तत्व हैं। ३-अग्नि और २-सोम जिनको क्रमशः अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और दिक् कहते हैं। ये पाचों सूर्य में रहते हैं। इन पाचो मे से जो प्रथम तीन देवता है उनसे उत्पन्न होने वाला चौथा विभाग है, जिसमें ३३ तत्व भी सूर्य की किरणों मे व्याप्त रहते है। अथवा यो समझना चाहिये कि ऋषि से लेकर अश्विनीकुमार तक ४ कक्षाओ मे जितने देवता कहे गये हैं इन्ही सब के पिण्ड का नाम सूर्य है। इनके अतिरिक्त सूर्य और कुछ नही हैं तो ऐसी स्थिति में जब उस सूर्य का रस आकर प्राणी के हृदय में प्रतिष्ठित होकर यह क्षेत्रज्ञात्मा बना है तो आवश्यक है कि वे सब चारो कक्षाओ के देवगण ज्यों के त्यों थोडी-थोडी मात्राओ में इस क्षेत्रज्ञात्मा का अङ्ग होकर प्राणी के शरीर में रहते हैं, इस शरीर में प्राणी की जो जहा चेष्टा हो रही है, जिन-जिन भूतो मे गति वा कुछ क्रिया हो रही है वे सब इन्ही देवताओं का स्फुरण (फड़कना) या जृम्भण (फैलाव) है।

५-विवर्तृता

जिस प्रकार पञ्चभूतो मे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांच गुण नियम से रहते हैं उसी प्रकार प्राण मे विवर्त्तन का गुण है। यह प्राण अपने से मिले हुए दूसरे पदार्थ को पकड़ कर अपने ऊपर धारण-कर लेता है। इसी प्राण का घन और प्रभव वह सूर्य है। वेद मे कहा है कि—

प्राणः प्रजानामुदयतोय सूर्यः

प्राण होने के कारण यह सूर्य विधरण धर्मा है। इसी को विधरण धर्म से ... हुई यह संपूर्ण पृथ्वी कही आकाश मे निराधार पकडी हुई है, या तीनो ... हैं, अपने नियतस्थान से विचलित नही होते। इसी प्रकार इस शरीर मे ... विधरणधर्मा हैं। उसी क्षेत्रज्ञ की रश्मि से विधृत होकर यह शरीर ... और इस शरीर मे भी तीनो लोको के भाग आपस मे घिलमिल न होकर यथास्थान ...।

६—सेतुता

जहा कही पार और अवार का व्यवहार होता है, वहा कोई वस्तु मध्य मे ... इस पार और उस पार का व्यवहार होता है, वहाँ पर पार और अवार इन दोनो ... तीसरी वस्तु इस पार से उस पार तक दोनो भागो मे स्पर्श करे तो उसे सेतु कहते हैं। ... किसी नदी के उस पार का प्राणी इस पार आता है और इस पार का प्राणी उस पार ... इसी प्रकार ससार प्रवाह के मध्य मे यह क्षेत्रज्ञ सूर्य है। इस क्षेत्रज्ञ से अर्वाक् महान् या ... कर्म की परतन्त्रता है। किन्तु उसी क्षेत्रज्ञ सूर्य से अन्तर्यामी चिदात्मा है, जहा ज्ञान के ... मे स्वातन्त्र्य होता है, कर्म का पारतन्त्र्य नष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि इस क्षेत्रज्ञ सूर्य ... भाग में ससार बन्धन की सामग्री है और उसी से दूसरी ओर ससार से छूटने अर्थात् मुक्ति ... है। मध्य मे यह क्षेत्रज्ञात्मा है, इसलिए इसको सेतु कहते हैं। इसी के द्वारा ... पार के भूतात्मा मे यज्ञात्मा बनती है, और प्रज्ञात्मा भूतात्मा भी जो जीव कहा जाता है ... पहुँचकर शुद्ध चिदात्मा बन जाता है। ससार से मुक्त होकर उस पार चला जाता है। ... से उस पार जाने मे इस क्षेत्रज्ञात्मा को सेतु समझना चाहिये। वेद ने इसके लिये कहा है—अमृतस्यैष सेतुः। अर्थात् मृत्यु के अमृत भाग मे जाकर अमृत बनने के लिये यही विज्ञान आत्मा सेतु है।

७—प्रयोजकता

इस शरीर मे काम करने वाला प्राज्ञआत्मा है। किन्तु वह चन्द्रमा मे उत्पन्न ... प्रकाश है,। स्वत ज्योतिष्मान् नही है। इसलिए स्वत. उससे ज्ञानरूपी प्रकाश ... है। यद्यपि उस प्राज्ञ मे इसी विज्ञान आत्मा क्षेत्रज्ञ का प्रतिबिम्ब पडने से चिदाभास होकर ... चेतन हो गया है। तथापि प्राज्ञ की चेतनता इसी विज्ञान आत्मा क्षेत्रज्ञ के आधीन ... प्रकार बिम्ब मे कोई क्रिया या परिवर्तन होता है उसी से प्रतिबिम्ब मे क्रिया और परिवर्तन ... गया है। इसीलिए यह माना जाता है कि यह प्राज्ञआत्मा जो कुछ क्रिया करता है उसका ... प्रवर्तक यही विज्ञानमय क्षेत्रज्ञआत्मा है। जिस प्रकार नेत्र देखने की क्रिया करता है ... क्रिया का प्रवर्तक सूर्य ही है। यदि सूर्य का प्रकाश न आवे तो यह चक्षु ... सकता। इस प्रकार बिना क्षेत्रज्ञ की सहायता के प्राज्ञ आत्मा कुछ क्रिया नही कर सकता।

यह क्षेत्रज्ञ आत्मा प्राणमय है। प्राण से ही सब क्रिया उत्पन्न होती है, वे सब प्राण दो प्रकार के हैं। मन वाले मुख्य प्राण को इन्द्र कहते हैं और शेष उसके अनुयायी प्राणो को देवता कहते हैं। ये ही देवता सब उस इन्द्र की इन्द्रिया हैं, जिन इन्द्रियो से प्रेरित होकर प्राज्ञ आत्मा सब काम करता है ॥२॥

इस क्षेत्रज्ञ आत्मा का स्वरूप मनोमय है, और प्राणशरीर है, इसका जो मन है उसे ही महान् आत्मा कहते हैं। यह महानात्मा उस क्षेत्रज्ञ की प्रकृति है। लोक मे जो व्यवहार किया जाता है कि मेरी प्रकृति अच्छी नही है, वह प्रकृति यही महान् आत्मा है। वह महानात्मा, सत्व, रज, तम इन तीनो गुणो के स्वरूप हैं। ये आपस मे एक दूसरे के आघात से बदलते रहते हैं। जब कभी सत्व अधिक हो जाता है तब सुखदाई अच्छी प्रकृति होती है। रज की अधिकता मे दुःखदाई खराब प्रकृति होती है, और तम की अधिकता मे मोहदाई स्तम्भित प्रकृति होती है। ये तीनो क्षेत्रज्ञआत्मा के ऊपर उसके आश्रय से रहकर बदलते रहते हैं। वे तीनो गुण जिस अवस्था मे रहे उसी अवस्था मे उनमे क्षेत्रज्ञआत्मा की विज्ञान किरणें प्रविष्ट होकर उन गुणों को ज्ञानमय बनाते हैं। जिससे सुख दुःख मोह का अनुभव हुआ करता है जब दुःख का होना है तभी प्रकृति अच्छी नही है कहा जाता है। क्षेत्रज्ञ का विज्ञान स्वतन्त्ररूप से बिना किसी गुणो के मेल के हमे कभी प्रतीत नही होता। क्षेत्रज्ञ पर आवरण रूप इन तीनो गुणो मे होकर ही ज्ञान की किरणें निकलती हैं, वे उन्ही गुणो के रङ्ग से रङ्गा हुआ दीखता है। किन्तु यदि वास्तव मे विचार कर देखें तो यह क्षेत्रज्ञ का विज्ञान अपने स्वरूप से असङ्ग और निर्लिप्त है। न यह साधु कर्म से बड़ा होता है और न पाप कर्म से छोटा होता है, वह चारो ओर समानभाव से व्याप्त रहा है। किन्तु उन्नति मार्ग मे आए हुए छोटे कर्मो मे उस कर्म के आयतन के अनुसार छोटा दीखता है और बड़े कर्मो मे बड़ा दीखता है। किन्तु अवगुणो मे छोटे बडे होने का परिवर्तन या सब प्रकार की क्रिया इसी क्षेत्रज्ञ आत्मा के प्राणरूप देवताओ के सयोग वियोग मे हुआ करते है वही क्षेत्रज्ञआत्मा मेरे इस शरीर मे मुख्य आत्मा है, वही इस शरीर का कर्ता, हर्ता, विधाता ईश्वर है। यदि उसको उसकी गति को सम्यक् प्रकार से जाना जाय तो किसी कर्म से भी लिप्त नही होता और न पाप पुण्य का परिणाम होता है और सर्व बन्धन से छूट जाने के कारण यह जीव मुक्त माना जाता है।

इसीलिये श्रुति कहती है कि—

> एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य, न वर्धते कर्मणा नो कनीयान् ।
> तस्यैवस्यात् पद वित्तं विदित्वा, न लिप्यते कर्मणा पापकेन ॥

८—निर्लिप्तता

यह क्षेत्रज्ञ-आत्मा असङ्ग होने के कारण किसी मे आसक्त नही होता। अग्राह्य होने से किसी से गृहीत नहीं होता। यह अशीर्ण (न टूटने योग्य) होने जैसे तेज की रश्मियाँ शीर्ण नही होता। यह अव्यथित है किसी रोग मे इसको व्यथा या थकान नही होती और इसमें किसी प्रकार का सडना इत्यादि विकार नहीं होता, यह अभय और पवित्र आत्मा है, इसके असङ्ग होने के कारण कोई भी ज्ञान किसी भी विषय के रङ्ग मे रङ्गा नही जाता, गुड का मिठास, नीम की तिक्तता, जल की शीतता, अग्नि की

उष्णता इत्यादि इत्यादि कोई भी धर्म इसमे लागू नहीं होते । [illegible]
मे शुद्ध निर्विषय रूप का ज्ञान चला जाता है ।

९–अवस्थात्रय

यह विज्ञानआत्मा क्षेत्रज्ञ, सर्वदा प्राज्ञ आत्मा से सन्निविष्ट (मिला हुआ) [illegible]
प्राज्ञ के साथ ही यह अपनी तीन अवस्था धारण करता है । बुद्धयन्त, स्वप्न [illegible]
से विचार किया जाता है ।

जाग्रत या बुद्धयन्त अवस्था

जब कि प्राज्ञ आत्मा वहिरिन्द्रियो के द्वारा शरीर मे वाहर के विषयो [illegible]
समय विज्ञान आत्मा प्रज्ञानआत्मा और इन्द्रियें ये तीनो एक साथ मिले रहते [illegible]
आत्मा भी प्रज्ञान के साथ वहिश्चर हो जाता है, उसी अवस्था को जाग्रत [illegible]
मे यह विज्ञान आत्मा पञ्चज्योति से ज्योतिष्मान् रहता है । अर्थात् सूर्य, चन्द्र, [illegible]
अतिरिक्त सुना हुआ शब्द और उस विज्ञान की निज की ज्योति, [illegible]
चार से या पाँचो से काम लेती है । अपनी ज्योति के अतिरिक्त बाहर [illegible]
ज्ञान मे इसकी सहायता करती है ।

२–स्वप्न या सन्ध्य अवस्था

यह विज्ञानमय क्षेत्रज्ञ आत्मा जब कि वाहर की चारो ज्योतियो से [illegible]
अपनी ही ज्योति से काम लेता है उस समय को स्वप्न अवस्था कहते हैं । [illegible]
प्रज्ञान आत्मा को साथ लेकर यह विज्ञान आत्मा अपनी रश्मियो मे प्रज्ञान [illegible]
के अनुसार भिन्न भिन्न इन्द्रियो से देखा करता है । यद्यपि स्वप्न मे [illegible]
तथापि प्रज्ञान के बनाये हुए उनको अपने प्रकाश से देखता रहता है । [illegible]
अपनी विज्ञान रश्मियो को शरीर के बाह्य चर्मतक फैलाये नहीं रखता [illegible]
रश्मियो को और सब इन्द्रियो को खींचकर केवल, हृदय मे ही पर्यवसन्न (सङ्कुचित) [illegible]
प्रकार सूर्यास्त काल मे सब रश्मियो अस्त जाते हुए मण्डल के साथ [illegible]
जाते है, उसी प्रकार विज्ञान-आत्मा के हृदय-मानाकाश मे सङ्कुचित होते ही [illegible]
उस हृदयाकाश मे सकुचित हो जाती हैं । इन्द्रिया भी सब हृदय मे ही [illegible]
हृदयाकाश मे स्वप्न के सब दृश्य देखे जाते है । प्रज्ञान आत्मा भी [illegible]
इन्द्रिय स्थित अपने किरणो को हृदय मे ही खींच लेता है, किन्तु [illegible]
पूर्णतया नही खींच लेता है तब कभी कभी सोता हुआ-आदमी [illegible]
स्वप्न के दस्त, पेशाब, मैथुन मे वास्तव मे ही तीनो विकार निर्गत [illegible]
आक्रमण मे भय से छाती मे धडकन वास्तव मे ही हो जाती [illegible]
से प्रज्ञानात्मा की रश्मियाँ अच्छी तरह खिंची न जाने से ही [illegible]
प्रज्ञान की रश्मियाँ बलात्कार से हृदय मे खिंच जाती हैं तो [illegible]
होते । इन मे से जो जो नाडी जिस की दुर्बल होगी उसी से [illegible]

स्वप्न में जितने पदार्थ दीखते हैं उनको विज्ञान आत्मा ही प्रज्ञान से बनाता बिगाडता रहता है। उन में भी कफ, वात, पित्त आदि शरीर धातुओ का सवन्ध अवश्य रहता है। हृदय की नाड़ी दुर्बल अवस्था में जिन धातुओ से मिली रहती है। उस धातु का संवन्ध स्वप्न दृश्य में अवश्य हो जाता है अर्थात् पित्त की वृद्धि में अग्नि का, कफ की वृद्धि मे जल का, वायु की वृद्धि मे उडने या भय का अधिक दृश्य देखा जाता है। इन सब की अधिकता भी नाड़ी की दुर्वलता ही से होती है। हिता नाम की नाडिया जो हृदय स्थान से सर्वाङ्ग शरीर मे फैली हुई हैं जिन की सख्या ७२००० हैं, उन्ही नाडियो मे किसी किसी की दुर्वलता के कारण भिन्न भिन्न प्रकार के अद्भुत अद्भुत स्वप्न दृश्य दिखाई दिया करते हैं। कल्पना करो कि किसी मनुष्य के यह हृदय से फैली हुई हितानाडी वहुत कम दुर्बल है, अथवा सर्वथा दुर्बल नहीं है तो ऐसे मनुष्य या तो स्वप्न देखते नही, अथवा स्वल्प-काल मे स्वल्प-मात्रा में देखते हैं। किन्तु यह सब स्वप्न-दृश्य हृदय के आकाश मे ही होते हैं और जाग्रत के अनुसार हृदय में ही बैठा हुआ विज्ञान आत्मा उसे देखा करता है। जाग्रत अवस्था मे यह विज्ञान आत्मा इन्द्रिय मे जगत् के दृश्यों को देखता है और ध्यानस्थ होकर विचार करने मे विचारित पदार्थो को स्वप्न के अनुसार प्रज्ञान में ही वनाकर हृदयस्थान मे ही देखता है। इस जाग्रत मे दोनो स्थानो से काम लेता है, किन्तु स्वप्न में इन्द्रियो को छोडकर केवल हृदय से ही काम लेता है।

३—सुषुप्ति या स्वप्नान्त अवस्था

जबकि न जाग्रत के अनुसार न स्वप्न के अनुसार कुछ देखता है, न सोचता है जबकि सभी इन्द्रियां मन किसी विषय को ग्रहण नही करती तो उस समय यह विज्ञान आत्मा निर्द्वन्द अर्थात् अकेला रहता है, उसी अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं।

हृदय में प्रथम १०१ नाडी मुख्यता से निकलती हैं फिर उनके एक-एक मे से सौ-सौ नाडियाँ (शाखा) निकली हैं फिर उनके एक-एक मे से ७२००० नाडियाँ प्रति शाखा हुई है। इन सब नाडियो को जो सर्वाङ्ग शरीर में फैली हुई है इनको हितानाडी कहते हैं। इनमे व्यान वायु विचरता हुआ रहता है इस प्रकार नाडियो की व्याख्या पिप्पलाद ऋषि ने की है। जिस समय विज्ञानआत्मा जाग्रत् या स्वप्न में न रहकर सुषुप्ति मे रहता है उस समय इन्ही नाडियो मे व्याप्त हो जाता है वह तेज पित्त से प्रज्वलित होकर इस प्रकार तीव्र हो जाता है कि उसके उस समय कोई भी वस्तु यहाँ तक कि नाडियो के चर्म भी स्पर्श नही करते। उसके तेज से विकीर्ण होकर (धक्का पाकर) सव पदार्थ दूर हो जाते हैं, और वह अपने स्वरूप मे स्वच्छ निर्विकल्पक रहता है, अर्थात् अपने निज स्वरूप मे रहता है ये हिता-नाडियाँ हृदय से ऊपर नीचे चारो ओर फैली हुई हैं, उन सव मे जवकि ज्ञान व्याप्त रहता है तभी जाग्रत होता है। किन्तु जवकि शिर की ओर जाने वाली ऊपर की नाडियो मे न रहकर हृदय और हृदय के नीचे नाडियों मे रहता है तव स्वप्न होता है। किन्तु जवकि हृदय को भी छोड देता है अर्थात् जो नाडियाँ हृदय से नीचे पुरीतत (छोटी वडी आंते) नाडियो की ओर जो ७२००० शाखायें गई हैं उनके द्वारा पुरीतत नाडी तक पहुँचकर शान्त हो जाता है उसी को सुषुप्ति कहते हैं। इन्द्रियो के स्नायु हृदय मे गये हैं इसीलिये हृदय में प्रज्ञातम इन्द्रियो के रसो को लेकर विज्ञान आत्मा के प्रकाश में नाना

प्रकार के दृश्यो को दिखा सकता था, किन्तु जबकि ज्ञानआत्मा हृदय [illegible]
है तो हृदय मे अन्धकार होने से वहाँ इन्द्रियो का कोई भी भाव प्रज्ञान मे नहीं [illegible]
मे कोई परिवर्तन नही होता । इसलिये हृदय आकाश मे जो स्वप्न [illegible]
हृदय के नीचे पुरीतत नाडी मे ज्ञान का प्रकाश रहने पर भी इन्द्रियो के [illegible]
भी इन्द्रिय के धर्मो को प्रज्ञान आत्मा ग्रहण नही करता, इसलिये विज्ञान [illegible]
ही नही आती जो उस विज्ञान से प्रकाशित होती । इसलिये उस समय कोई भी [illegible]
होती इससे वह विज्ञानआत्मा उस समय देखता हुआ भी नही देखता, [illegible]
अर्थात् उसकी शक्ति प्रकाश करने की जाग्रत् स्वप्न के अनुसार उस समय भी [illegible]
किन्तु सामने दूसरी वस्तु के न होने से किसी विषय का भी ज्ञान नही होता ।

अजातशत्रु काशीराज ने ही पहले-पहल प्रज्ञान आत्मा से सश्लिष्ट विज्ञान [illegible]
द्वारा पुरीतत मे जाना निरूपण किया है । विज्ञानआत्मा का हृदय छोडकर पुरीतत मे [illegible]
ने असम्भव समझकर हृदय का परिवेष्टन कल्पना करके उसका नाम पुरीतत रखा है । [illegible]
कि जिस प्रकार एक परकोटे से घिरे हुए नगर मे बडे भवन मे एक छोटी कोठरी मे [illegible]
लिये तीनो प्रकार से व्यवहार किया जाता है । वह आदमी एक ही समय मे [illegible]
भवन मे है, और नगर मे है, इसी प्रकार पुरीतत नाम के हृदय के अन्दर जो [illegible]
वाला विज्ञान आत्मा एक ही समय मे तीनो स्थान मे कहा जा सकता है । [illegible]
है, पुरीतत मे है । पुरीतत मे जाना कहने से हृदय का छोडना नही माना जा सकता । [illegible]
काल मे असङ्ग होकर विषयो को स्पर्श नही करता इतने ही से सुषुप्ति हो जाती है, [illegible]
का मत है । परन्तु दहराकाश मे रहते हुए विज्ञान आत्मा का सुषुप्ति काल मे हृदय के [illegible]
मे जाने का वर्णन करना व्यर्थ ही दीखता है । क्योकि यदि हृदय वेष्टन ही पुरीतत है तो [illegible]
वह तीनो अवस्थाओ मे समान भाव से रहता है, फिर खासकर सुषुप्ति काल मे ही [illegible]
कोई तात्पर्य नही हो सकता । दूसरी बात यह है कि हृदय वेष्टन की कल्पना करना [illegible]
हृदय खुद चर्ममय है उसका कोई वेष्टन प्रत्यक्ष मे नही देखा जाता । तीसरी बात [illegible]
आदि कोश गन्थो मे आतो का ही नाम पुरीतत कहा है । हृदय वेष्टन के लिये पुरीतत [illegible]
नही आया इसलिये असली अर्थ पुरीतत का छोड़कर मिथ्या पुरीतत कल्पना करना [illegible] है ।

पिप्पलाद आदि ऋषियो ने इस विज्ञानमय आत्मा को अशरीर और [illegible]
वह कहलाता है कि जिसके शरीर का कोई परिमाण नियत न हो जैसे हवा, पानी, [illegible]
और वह विज्ञान है । अच्छा ये शुभ्र (चमकदार) है वह जाग्रत स्वप्न मे [illegible]
अपने मे लेकर भिन्न-भिन्न दृश्यो को विकासित करता है । किन्तु सुषुप्ति काल मे [illegible]
स्पर्श नही करता और न किसी सस्कार को लेकर स्वप्न ज्ञान ही बनता है । [illegible]
ज्ञान भी नही होता उस समय निष्काम शोकातीत निज के आनन्द मे मग्न रहता है । [illegible]
दशा होना परा सम्पत्ति है, परागति है । यह उसका परमलोक कैवल्यानन्द है ।

मतान्तर (दूसरा या तीसरा)

किसी किसी का मत है कि इस सूर्य मे जो पुरुष दीखता है वह मृत्यु है, उसके भीतर अमृत है। मृत्यु और अमृत दोनों अत्यन्त ओतप्रोत हैं जैसा कि श्रुति कहती है—

अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम् ।
मृत्युर्विवस्वन्तंवस्ते, मृत्योरात्मा विवस्वति ।।

इसी अमृत और मृत्यु के सम्मिलितरूप से हमारी विज्ञानआत्मा बनती है। उस आत्मा के मृत्युभाग में आसक्ति हो सकती है, इसलिये उसी भाग मे विज्ञानआत्मा के साथ अज्ञानआत्मा सम्मिलित होती है और अज्ञान के साथ इन्द्रियो का सम्बन्ध है, सब इन्द्रिया अपने-अपने विषय को जिस प्रकार प्रज्ञान आत्मा मे पहुँचाती है वही विज्ञान आत्मा के मृत्यु भाग मे पहुँचकर विज्ञान आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। इसी को जाग्रत् ज्ञान या स्वप्नज्ञान कहते है। किन्तु यह विज्ञान का मृत्युभाग अपने स्वभाव से ही जब अन्तर्मुख अथवा बाहर के विषयो का ग्रहण करने से थक जाता है तो कुछ समय तक विश्राम के लिये शान्ति की इच्छा से वह मृत्युभाग अन्तर्मुख हो जाता है। अन्तर्मुख होते ही वह मरकर अमृत मे लय हो जाता है। उस अवस्था मे विना मृत्यु केवल अमृतभाग विज्ञानआत्मा का रह जाता है और वह असङ्ग है इसलिए उस भाग मे प्रज्ञात्मा का सङ्ग नही होता इसीलिए प्रज्ञानआत्मा के सम्बन्धी इन्द्रियो के भी विषयो का सङ्ग नही होता ऐसी अवस्था मे हृदय के दहराकाश मे ही उस विज्ञान आत्मा के रहने पर भी और वहा ही प्रज्ञात्मा के रहने पर भी और उस प्रज्ञान मे सब इन्द्रियो के विषय जाने पर भी किसी विषय का ज्ञान नही होता, इसी को सुषुप्ति अवस्था कहते है।

१०—उत्क्रमण

यह विज्ञानात्मा यद्यपि असङ्ग है तथापि उसका मृत्युभाग जो आसक्तिमान् है उसमे प्राज्ञ आत्मा परिष्वक्त (परा हुआ) अर्थात् अलिङ्गित रहता है उसी के कारण से यह विज्ञानआत्मा भी शरीर के भीतर प्रवेश करके शरीर बनता है और शरीर मे रहने के कारण कितने ही परम्परा (गदला करने वाला) अर्थात् ज्ञान विरोधी जड़ धर्म अर्थात् जिसके संसर्ग से ज्ञान कलुषित होकर मलिन हो जावे ऐसे धर्मों मे संसृष्ट हो जाता है। जब तक प्राणी का जीवन रहे तब तक यह (मिला हुआ) विज्ञानआत्मा इसी प्रकार कलुषित होकर अल्पज्ञ रहता है। किन्तु जब यह विज्ञान शरीर को छोड़कर मुक्तिकाल मे उत्क्रमण करता है तो उस समय कलुषित करने वाले इन जड धर्मो को जो शरीर मे संसृष्ट हो गये थे। उनका सर्वथा त्याग करता है और शुद्ध निज रूप से निकल जाता है जिस प्रकार फल अपने बन्धनो से मुक्त हो जाता है उसी प्रकार यह विज्ञान आत्मा भी जो प्रत्येक अङ्गो से बधा हुआ था सबसे बन्धन तोड़कर सङ्कुचित होकर प्राज्ञआत्मा सहित सब इन्द्रियो को साथ लिये हुए केवल एक हृदय के अग्रभाग मे आ ठहरता है। उस समय शरीर के किसी अङ्ग मे यदि स्पर्श करें तो बोध नही होता, न बोलता है, न देखता है, न सुनता है किन्तु केवल उसका हृदय छूने से धड़-धडी का कम्प ज्ञात होता है। अर्थात् उस समय सब प्राणों को साथ लिये हुए विज्ञानमय मुख्य प्राण केवल हृदय मे अपना व्यापार करता है।

मुमूर्षु (मरनेवाला) के मरण से कुछ पूर्व तक हृदयमात्र में अन्तर्बोध रहता है। [illegible] सब इन्द्रिया प्राणो को लिये हुए मुख्य प्राण ब्रह्मरन्ध्र के छिद्र से निकलती है। [illegible] हुए प्रज्ञात्मा मे पापरूपी दुर्वासनायें भरी हो, तो उसी दुर्वासना की मात्रा के अनुसार [illegible] विज्ञानमय प्राण नीचे की ओर झुक जाता है। इसलिए ब्रह्मरन्ध्र के [illegible] से या और किसी शरीर के भाग से निकलता हुआ देखा गया है। मृत्यु [illegible] निकलता है उस अङ्ग मे कुछ न कुछ विकार अवश्य हो जाता है। [illegible] ज्ञानेन्द्रिय, सब कर्मेन्द्रिय, मुख्य प्राण, विज्ञानआत्मा और प्रज्ञानआत्मा और [illegible] होकर सम्मिलितरूप मे उत्क्रमण करता है। स्वप्नकाल मे जिस प्रकार [illegible] रहता है, उसी प्रकार का उतना ही बोध उत्क्रमण के पीछे भी रहता है। [illegible] सूर्य, चन्द्रमा और चिदात्मा के रसो से बनी हुई होती है, वह [illegible] तक वह आत्मा शरीर मे रहता है तब तक शरीर के अपवित्र भागो को भी पवित्र [illegible] मास, शोणित आदि सब शुद्ध रूप मे अनुभूत (ज्ञात) होते हैं। किन्तु ये [illegible] करने पर अपवित्र हो जाते हैं और शरीर से आत्मा के उत्क्रमण होने से [illegible] सभी अङ्ग प्रत्यङ्ग उसी समय सडने लगते हैं। थोडे ही समय मे [illegible] दुर्गन्ध [illegible] वायु तक को गन्दा कर देती है। यह सडना या दुर्गन्ध होने की क्रिया जीवितदशा मे भी [illegible] रहती होगी। किन्तु इसी पवित्र आत्मा के कारण ये सब दोष दूर होकर [illegible] और पवित्र बना रहता है। इस शरीर की पवित्रता से उस आत्मा की पवित्रता [illegible]

महान् आत्मा

पिप्पलाद ऋषि ने कहा है कि यह आत्मा षोडशी है, अर्थात् सोलह [illegible] कलायें ये हैं। १ प्राण, २ श्रद्धा, ३ से ७ तक पञ्चभूत, ८ इन्द्रिय, ९ मन, १० [illegible] ११ [illegible] वीर्य, १२ तप, १३ मन्त्र, १४ लोक, १५ नाम, १६ कर्म। जिस प्रकार [illegible] अरे जुडी रहती है, उसी प्रकार इस पुरुष मे ये १६ कलायें चारो ओर [illegible] उत्पन्न होकर उसी के चारो ओर फैली हुई उसी मण्डल मे लीन हो जाती है [illegible] इस आत्मा मे उत्पन्न होकर उसी के चारो ओर फैली हुई उसी आत्मा मे लीन हो जाती है। [illegible] बहुत सी नदियाँ समुद्र मे लीन होकर अपने नाम रूप को खो देती हैं, उसी प्रकार [illegible] इन सोलह कलाओ के नाम रूप भी नष्ट हो जाते हैं। केवल यह शुद्ध आत्मा [illegible] करने से ये सोलहो पदार्थ इस शरीर मे पाये जाते है। किन्तु इनका विशेष वर्णन [illegible] नही किया है। और किसी ऋषि ने भी इनका उल्लेख नही किया है। [illegible] विद्वान् शरीर का विचार करते हुए इस शरीर मे सोलहो पदार्थ मानते हैं। [illegible]

१—ऑक्सीजन	(अम्लजन)	Oxygen
२—हाइजन	(यद्रुजन=रहती हुई)	Hydrogen
३—नाइट्रोजन	(नक्तद्रुजन=स्याही)	Nitrogen

४—कार्बन	(अङ्गार=कोयला)	Carbon
५—सल्फर	(गन्धक)	Sulphur
६—फास्फोरस	(पस्पर्श)	Phosphorus
७—सोडियम	( )	Sodium
८—पुटासियम	( )	Potassium
९—कैलसियम	(चूना)	Calcium
१०—मैग्नीशियम	( )	Magnesium
११—लीथियम	( )	Lithium
१२—फ्लोरिन	( )	Florin
१३—क्लोरिन	( )	Chlorine
१४—आयोडीन	( )	Iodine
१५—सिलीकन	(शिलाकण)	Silicon
१६—आयरन	(लोह)	Iron

इस शरीर के मूलतत्त्व ये ही १६ बताये गये हैं। हड्डी, मास, त्वचा, वसा (चर्बी) मूत्र, शुक्र, आदि सभी पदार्थ इन्ही १६ मूल तत्वो के आवाप (कुछ मिलाना) उद्वाप (निकालना) से बने हुये हैं। इस प्रकार आधुनिक परीक्षा से भी शरीर मे १६ ही तत्व सिद्ध होते हैं और प्राचीन महर्षियो ने भी इस शरीर मे १६ तत्व माने है, परन्तु इन नामो के परस्पर सवन्ध ठीक नही जचते है, इसलिए उनका विचार केवल इतना ही किया जाता है, इस षोडशी आत्मा को इन्द्र कहते है।

महान् आत्मा का जन्म प्रकार

१—पांच कोशो मे से तीसरा जो मनोमय कोश है अर्थात् प्राणो से भरा हुआ प्रकाशवान् आकाश के सदृश मनोमय आत्मा है। वह प्राण शरीर प्रकाश रूप और सदृश आत्मा है।

२—चन्द्रमा का रस जो अमृत और मृत्यु दोनो का सम्मिलित रूप है, उसी से यह आत्मा बना है।

३—कौषीतकीय ब्राह्मण मे कहा है कि जो आत्मा इस पृथ्वी से निकल कर जाता है वह अवश्य ही चन्द्रमा मे जाता है। भूतात्मा महान् आत्मा से समिलित होकर चन्द्रमा से फिर चाहे मुक्ति मार्ग मे जाय या स्वर्ग मार्ग मे जाय और नरक मार्ग मे जाय या वापिस पृथ्वी मे जन्म लेवे इन मे चन्द्रमा से लौटकर जब पृथ्वी मे आता है तब श्रद्धामय रहता है। श्रद्धा यह नाम सोम मे रहने वाले पानी का है। यह श्रद्धा सूर्य के रश्मिस्थित देवताओं के द्वारा द्यौ मे हवन किया जाता है। अब तक वह श्रद्धा (जो आपोमय था) सोम हो जाता है। उस सोम की पर्जन्य (बरसाती हवा) के शरीर मे आहुति होने से वर्षा होती है। वर्षा जल की पृथ्वी मे आहुति होने से अन्न होता है। अन्न की पुरुष के उदराग्नि मे आहुति होने से शुक्र होता है उस शुक्र की स्त्री के गर्भाशय मे आहुति होने से गर्भ होता है। इस प्रकार से श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न, शुक्र, इन पांच आहुतियो के द्वारा इसी मार्ग से चन्द्रमा से लौटती हुई आत्मा

गर्भ मे प्रवेश करती है जिसका छठे मास मे विकास होने से चेतन [illegible] मे जन्म लेता है। यही चान्द्र आत्मा महान् कहलाता है, यही मनोमय [illegible] वर्ष मे सोलहो कलाओ का विकास या परिपाक होकर पूर्णता होती है [illegible] के शोणित रूपी अग्नि मे पुरुष का शुक्र रूपी सोम आहुत होता है। [illegible] उत्पन्न होता है। उसका क्रम यह है—

चन्द्रमा जिस समय उदय होता है उसी समय से [illegible] किरण लगातार डालता रहता है। अस्त होने पर फिर उदय तक उन [illegible] आई हुई किरणो का एक थोक बनकर बिन्दुरूप हो जाता है। वह चन्द्रमा [illegible] जाता है। जिससे फिर चन्द्रोदय मे आए हुए किरणो के कच्चे रस का [illegible] इसलिये २८ दिन के चान्द्रमास मे २८ नक्षत्रो का भिन्न-भिन्न रस चन्द्रमा [illegible] शुक्र मे २८ प्रकार के बिन्दु उत्पन्न कर देते है। २८ दिन के पश्चात् फिर [illegible] में आ जाता है और उसी पहले नक्षत्र से मिलकर जो शुक्र मे नया बिन्दु [illegible] वाले पहले बिन्दु के सजातीय ही होता है, नयेरूप का नही होता। [illegible] बिन्दु उत्पन्न होते रहते है। उन २८ बिन्दुओ का एक एक पिण्ड बनता है [illegible] हुए चतुर्थ आहुति वाले शुक्रमय आत्मा का स्वरूप है। यह पिण्ड [illegible] नक्षत्रो के रस से युक्त होता है, जिस नक्षत्र मे पुरुष का जन्म होता है उसी नक्षत्र [illegible] से इस पिण्ड का आरम्भ होता है, वही महान् का मुख्य है। यह पिण्ड शुक्र के [illegible] जाकर अग्नि से सयोग करके शुक्र शोणित से शरीर का सङ्गठन होने पर [illegible] पाकर छठे मास में विकसित होता है, अर्थात् छठे मास मे सब अङ्ग विकसित होकर [illegible] स्वरूप धारण करता है इसी महान् के विकसित या स्पष्ट होने पर विज्ञानमय आत्मा [illegible] भी उद्‌बुद्ध होते है।

इस प्रकार जिस शुक्र मे महान् आता है वह शुक्र जिस एक स्थायी महान् [illegible] स्थायी महान् आत्मा के एक एक अङ्ग मे से रस निकलकर उसी स्थायी महान् के आकार [illegible] शुक्र बनता है। उस शुक्र का बना हुआ जो स्थायी महान् का आकार है उसमे [illegible] से आगन्तुक (आया हुआ) महान् अङ्ग अङ्ग से जडकर जहा के तहा सन्निविष्ट [illegible] मे आकर एक ही महान् आत्मा बन जाता है। यही इस चन्द्रमा से आगन्तुक [illegible] का पृथ्वी मे पहला जन्म है, वह स्त्री मे जाकर शोणित मे मिलकर दूसरी बार [illegible] मे स्त्री की आत्मा और वह आत्मा एक होती है, फिर स्त्री की आत्मा से [illegible] है, वह उसका तीसरा जन्म है। मरने के पश्चात् जब अग्निदाह करते है [illegible] उस आत्मा का दिव्ययोनि-मे जाने के लिये चौथा जन्म होता है। [illegible] पृथ्वीलोक मे चार बार तक जन्म होता है। पिता के गर्भ मे, माता के गर्भ मे, [illegible] और अग्नि के गर्भ मे ये चारो जन्म तो इस पृथ्वीलोक मे प्राकृतिक है। [illegible] के गर्भ मे ब्राह्मण का जन्म माना जाता है यह जन्म [illegible]

का अन्त मे दाह नही होना ऐसे प्राणियो के तीन जन्म होना स्वाभाविक है। किन्तु जो अयोनिज शरीर है उनके नाडी मे पुन उनका एक ही वार जन्म होता है। इस प्रकार इस महान् आत्मा के रहते हुए भूतात्मा का एक वार, तीन वार, अथवा पांच वार पृथ्वी मे जन्म लेना सम्भव है।

सपिण्डविचार

किसी मनुष्य के शरीर मे जो शुक्र मे चन्द्रमा से २८ दिन का रस आकर २८ बिन्दु का एक पिण्ड बनता है। वह पिण्ड स्त्री के गर्भ मे प्रवेश करते समय सब नही जाता, किन्तु उसमे से २१ विन्दु का एक भाग स्त्री के गर्भ मे जाकर उस से पुत्र उत्पन्न होता है और ७ विन्दु का भाग पिता के शरीर मे स्थायी रूप मे रहता है इसी प्रकार वह २१ विन्दु का भाग जो पुत्र मे गया है उस से १५ विन्दु का भाग निकलकर पौत्र बनता है और छ भाग पुत्र के शरीर मे स्थायी रूप से रहता है। उस १५ भाग मे से १० भाग निकलकर प्रपौत्र का शरीर बनता है और ५ भाग पौत्र के शरीर मे स्थायी रूप से रहता है। १० भाग मे से ६ भाग निकलकर वृद्ध प्रपौत्र बनता है और ४ भाग स्थायी रूप से प्रपौत्र मे रहता है। ६ भाग मे से तीन भाग निकलकर अति वृद्ध प्रपौत्र बनता है और ३ भाग वृद्ध प्रपौत्र मे रह जाता है। ३ भाग मे से १ भाग से वृद्धातिवृद्ध प्रपौत्र बनता है और दो भाग अति वृद्ध प्रपौत्र मे रह जाता है। फिर वह १ भाग भी वृद्धातिवृद्ध पौत्र मे ही रह जाता है। आठवी पुश्त मे उस २८ विन्दु का कुछ भी भाग नही जाता इसलिये २८ विन्दु के पिण्ड का ७–६–५–४–३–२–१ इस क्रम से सात पुरुष (पुश्त) मे सन्तान अर्थात् फैलाव होता है, इसलिये इन सात को सन्तान कहते है, और इन सातो मे एक ही पिण्ड के भाग विभक्त होकर रहते है। इसलिये इन सातो को सपिण्ड कहते हैं। इस पिण्ड का आठवी पुश्त मे कुछ भी भाग नही रहता, इसलिये वह सपिण्ड नही कहला सकता। इसके लिये शास्त्र का वचन है—

"सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम्– अर्थात् सपिण्डता सात पुरुष तक है।

प्रत्येक मनुष्य किसी के अनुरोध से ७ वी पीढी का है और किसी के ६ ठी पीढी का और किसी के ५वीं, ४थी, ३री, या दूसरी का है। इसलिये पिण्ड का एक विन्दु किसी के दो या तीन, चार, पाच, छ सात जिसका यह पुत्र है उसका २१ वा अश, उसके प्रतिमाह का १५ अश, और उसके प्रतिमाह का १० अंश, और वृद्ध प्रपितामह का ६ अश और अतिवृद्ध प्रपितामह का ३ अश, और वृद्धातिवृद्ध प्रपितामह का १ अंश इस प्रकार ४६ अश पितरो को लेकर प्रत्येक मनुष्य उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् उसमे २८ अंश खुद का उत्पन्न होता है। इस प्रकार दो भाग पितरो का और एक भाग निज का कुल मिलाकर सब मे चौरासी अंश प्रत्येक महान् आत्मा मे होता है। किन्तु जब वह पुत्र उत्पन्न करता है तो २८ मे से ७, २१ मे से ६, १५ मे से ५, १० मे से ४, ६ मे से ३ और ३ मे से २ और १ पूरा अपने पास रखकर कुल २८ अंशमय पितरो के और निज के मिलाकर स्थायी रूप से रख लेता है बाकी ५६ अंश अपने पुत्र के शरीर के लिए समर्पण कर देता है ये २८ अश जो उसमे शेष रह जाते है उनको जब उसकी मृत्यु होती है तब वह आत्मा चन्द्रमा मे जाकर चन्द्रमा मे रहते हुए छः पुरुषो को क्रम से १, २, ३, ४, ५, ६ देकर सात अंश अपने पास रख लेता है, इसी को सपिण्डीकरण क्रिया कहते है।

अर्थात् जिन पितरो का जितना पिण्डभाग हमने अपने शरीर के लिए [illegible]
को समर्पण करके पितृऋण से मुक्त हो जाता है। उन पितरो के [illegible]
के सब भाग जब तक वापस न मिल जायें तब तक उनके [illegible]
के कारण पृथ्वी आकर्षण बना रहता है। इसी से वे पितर चन्द्रमा से [illegible]
सकते। अर्थात् उनकी मुक्ति नही हो सकती। इस प्रकार पितर का [illegible]
इसी अभिप्राय से शास्त्र मे लिखा है—

"अपुत्रस्यगतिर्नास्ति" अर्थात् विना सन्तान के पितरो का [illegible]
होती। किन्तु मरकर मनुष्य जब चन्द्रलोक मे पितरो का उनके पिण्ड [illegible]
जिसको अर्थात् वृद्धातिवृद्ध प्रपितामह को जो सातवी पीढी मे [illegible]
२८ अश के सब भाग पूरे आ जाते हैं। अब उनका कुछ भी अश पृथ्वी पर [illegible]
उनके सूत्र का वन्धन टूट जाता है और वह एक पितर उसी समय [illegible]
जाते हैं और उनकी मुक्ति हो जाती है। इस प्रकार पितरो की मुक्ति [illegible]
पुत्र धर्म है।

२८ विन्दु के पिण्ड का जो महान् आत्मा उत्पन्न हुआ था [illegible]
रहकर वाकी २१ अश लेकर पुत्र रूप से उत्पन्न होता है। उस उत्पन्न हुए पुत्र [illegible]
भाग शामिल रहता है। इस प्रकार कह सकते है कि छ पितरो की [illegible]
से एकत्र होकर एक पुरुष (मनुष्य) उत्पन्न होता है। उन छओं अवयवो [illegible]
मे रहते है ये श्रद्धा सूत्र से सवन्ध करते हैं। इस प्रकार पैतृक [illegible]
करके सातवां कोश स्वय उत्पन्न करता है। इस प्रकार सात कोश का [illegible]
है। इसी प्रकृति की अधीन क्षेत्रज्ञ आत्मा की परिस्थिति रहती है। प्राय [illegible]
शुक्र विशेष कर तिर्यक् स्रोता होता है। उसके सातो कोशो के [illegible]
नित्य क्षीण होते है। और फिर नित्य ही उत्पन्न होते रहते हैं। यदि कोई पुरुष [illegible]
तो उसके सव शुक्र ओज मे परिणत होते ही तत्काल मन मे परिणत हो जाता है। [illegible]
विचार या चिन्ता करता है उस मे यह मन खर्च होता रहता है। किन्तु [illegible]
हैं उनके वे सातो कोशवाला शुक्र स्त्री के गर्भ मे आहुत होकर अपत्य (सन्तान) [illegible]
उन सातो कोशो के पूर्वोक्त नियमानुसार दो दो भाग होकर ८४ भाग मे से २८ [illegible]
है। और ५६ भाग से पुत्र का शरीर वनता है। जो २८ भाग पिता मे [illegible]
किरणो के रस आकर फिर ८४ अश पूर्ण हो जाते हैं। फिर पुत्र उत्पन्न [illegible]
जाते है जिन के फिर ८४ अश हो जाते हैं। इसी प्रकार आजीवन होता रहता है।

पितृस्वधा

पितृगण जो अट्ठाईस २ अशो का पिण्ड बनाकर अपना [illegible]
कुछ कुछ अश अपने सात पीढी के सन्तानो मे सम्मनन (फैलाते है) [illegible]

वह 'स्वधा' कहलाते हैं। क्योंकि वे अंश पितरो के "स्व" है, अर्थात् निज का अंश है। वे "स्व" अंश महान् में धारण कराये गये हैं। इसलिये स्वधा कहलाते हैं। और उन पितरो को स्वधायी कहते हैं। अथवा "स्व" नाम आत्मा का है। क्षेत्रज्ञ आत्मा महान् आत्मा मे रहकर इस "स्व" को धारण करता है, इसलिये पितर गण भी स्वधायी कहलाते हैं। और उनका अंश स्वधा कहलाता है। इसी प्रकार "स्व" का अर्थ आत्मा है। क्षेत्रज्ञआत्मा मे सम्पूर्ण देवतागण व्याप्त रहते है, उन्ही देवताओं के अंशों को व्याप्त करते हैं। + ("स्व"=क्षेत्रज्ञ, आहा=व्याप्त) अथवा स्व का अर्थ क्षेत्रज्ञ आत्मा उसको महान अर्थात् न छोड़ने वाला अर्थात् क्षेत्रज्ञ से पहुँचने वाला जो अन्न है उसको स्वाहा कहते हैं।

महान् का ४ प्रकार से शरीर में रहना

यह महान् आत्मा श्रद्धामय है। यह श्रद्धा चन्द्रमा से उत्पन्न होने वाला एक प्रकार का (तरल वस्तु) आप है। यही मनुष्य के शरीर की योनि (साचा) है। यह महान् इस शरीर मे ४ प्रकार से रहकर अपना काम करता है। आकृति, प्रकृति, आत्म वृत्ति और अहकृति, इन्ही चारो महान् का आगे विचार करते हैं।

१—आकृतिमहान्

सभी योनियों मे जो भिन्न भिन्न प्रकार की मूर्तियाँ दीखती है उन्ही को आकृति कहते हैं। अर्थात् मनुष्य, हाथी, घोड़ा, बैल, भैंस, इत्यादि योनियो के आकार अनादि काल से नियत हैं। मनुष्य की जिन्दगियाँ १०० वर्ष से अधिक नहीं रहती, परन्तु मनुष्य की आकृति अजर, अमर है। लाखो वर्ष पूर्व मनुष्य की यह आकृति मौजूद थी और लाखो वर्ष पश्चात् भी ऐसे ही रहेगी, और उन मनुष्य का स्वभाव आदि शरीर गत सभी धर्म पूर्व काल मे जैसे थे उत्तर काल मे भी वैसे ही रहेगें। पक्षी जैसे उड़ने में सदा उड़ते रहेंगे। तात्पर्य यह है कि जिस आकृति के साथ जैसा शरीर धर्म नियत हो चुका है वह उस आकृति के साथ अवश्य ही लागू रहता है। (नित्य सम्बन्ध) ये आकृतियाँ अवश्य ही प्रकृति का निर्माण करती हैं, अर्थात् जैसी प्रकृति होती है वैसी ही आकृति बनती है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि शृंगार, वीर, करुणा, अद्भुत, हास्य, भयानक, वीभत्स, रौद्र, शान्त इत्यादि मनोवृति के बदलने पर शरीर की आकृति मे अन्तर पड जाता है। इसी नियम के अनुसार सर्व प्रथम योनि की आकृति बनते समय जैसी उस आत्मा की प्रकृति थी उसी के अनुसार काम करने योग्य उसकी आकृति बन गई अर्थात् मनुष्य हाथ से अन्न उठा कर मुख में रखने की प्रकृति रखता है और मुख मे उस अन्न को चबाना चाहता है, इसलिये मनुष्य की आकृति मे होंठ मुलायम होकर होठो के भीतर दांत उत्पन्न हुए किन्तु पक्षी के समान आत्मा की प्रकृति ऐसी न थी वह अपने अन्न को मुख मे ही उठाकर तोडना चाहती है इसलिये उसके होंठ कड़े हो गये। और दांतो के लिये जो रस आये थे उनका होठो पर खिचाव होकर दांत बनकर पैने हो गये अन्न के काटने योग्य हो गये अर्थात् चोंच बन गई। इसी प्रकार सब योनियो मे

+ नमस्कार (मनुष्य) हन्तकार (प्रेत) स्वधाकार (पितर) स्वाहाकार (देवता) वषट्कार (इन्द्र)

जैसी जिसकी आकृति बनी है वह अवश्य ही उसकी वैसी प्रकृति से [illegible]
करना चाहता है इसलिये उसका दाँत नोकीले हुये। किन्तु बैल, हिरण, [illegible]
रखते हैं इसलिये ऊपर दाँत बनाने वाले सब रस माथे की ओर [illegible]
रसों से नोकीले सींग बन गये। इसी प्रकार सभी प्राकृतियों में [illegible]
की परीक्षा हुई है।

मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जीवों का जो भिन्न भिन्न [illegible]
आत्मा है। जितने भूत, भविष्यत्, वर्तमान मनुष्य हैं सब में जो समानता [illegible]
महान् का स्वरूप है। इसी प्रकार अश्व महान् के धर्म सब समान [illegible]
होगे। किन्तु मनुष्य आदि एक एक जातियों में जो यहाँ कुछ थोड़ा [illegible]
वह विज्ञान आत्मा, प्रज्ञान आत्मा के संसर्ग से महान के श्रद्धाभाग में [illegible]
का संसर्ग मिटने पर फिर श्रद्धा ज्यों की त्यों हो जाती है। जाति स्वभाव [illegible]
किसी बल या उपचार से सर्वथा श्रद्धा बदलने का अभ्यास कराया जाय तो [illegible]
की आकृति भी बदल जायगी और वह दूसरी योनि का महान् दूसरी योनि [illegible]
कि मनुष्य श्रद्धा परिवर्तन के कारण किसी दूसरी योनि का महान् [illegible]
दूसरे जन्म में उसी योनि में जन्म लेवे और उसका मनुष्य महान् [illegible]
जावे यह परिवर्तन इसी जन्म में नहीं होने पाता इसका कारण भूत आत्मा का भौतिक [illegible]
है। महान् के अत्यन्त कोमल श्रद्धामय शरीर की अपेक्षा भूतात्मा का भौतिक [illegible]
कठिन होता है। इसलिये श्रद्धा के परिवर्तन से भौतिक सन्निवेश का परिवर्तन [illegible]
कहीं कहीं ऐसा भी अनुभव हुआ है कि भृङ्गकीट की प्रबल भावना से [illegible]
भृङ्ग की आकृति में बदल जाता है। इसी प्रकार यह भी सम्भव है कि मनुष्यों में [illegible]
के योग बल से श्रद्धामय भावना के द्वारा मनुष्य का शरीर भी पशु पक्षी [illegible]
कर दिया जावे तो यह आन्तरिक श्रद्धामय महान् शरीर के परिवर्तन से [illegible]
परिवर्तन का प्रभाव पड़ता है उसी से होना सम्भव है कितने ही भूत प्रेत के शरीरों [illegible]
भिन्न शरीर बदलने की बात देखी सुनी गई है वे भी नितान्त निर्मूल [illegible]

इस प्रकार के महान् जो कि नाना जातियों में बटे हैं उन [illegible]
गिनकर विद्वानों ने ८४००००० स्थिर की है। जगत् में कुल योनिया [illegible]
प्रकार की जीवों की आकृतिया है। उनके व्यक्तिगत आकृति भेद [illegible]
वे गौण हैं और एक-एक आकृति में जो अनन्तानन्त व्यक्तियां [illegible]
अण्डज, पिण्डज (जरायुज) ऊष्मज (स्वेदज), उद्भिज्ज ये चार प्रकार [illegible]

जितने महान् हैं इनकी आकृतियां योनिभेद के अनुरोध से [illegible]
आकृतियों की ऊँचाई भी नियत है। पीपल, गूलर आदि वृक्ष [illegible]
ऊँचाई पर अवश्य पहुँच जाते हैं। परन्तु एक तुलसी के वृक्ष [illegible]

ऊँचाई तक नहीं ले जा सकते। मनुष्य का शरीर भी आठ प्रादेश का होता है। अर्थात् १०॥ अगुल के प्रादेश के हिसाब से ८४ अंगुल का मनुष्य शरीर होता है। यह इसकी नियत सीमा १२ अङ्गुल से न्यूनाधिक होती है। अर्थात् कम से कम ७२ अङ्गुल का और अधिक से अधिक ९६ अङ्गुल का होता है। यह शास्त्रीयमान है किन्तु अपने अगुल से मनुष्य का शरीर ९६ अङ्गुल का-होता है। यह मध्यम मान भी थोड़े-थोड़े अङ्गुल से न्यूनाधिक होता है। कम से कम ८४ अङ्गुल का और अधिक से अधिक १०८ अङ्गुल का। इससे ऊँचाई मे मनुष्य का शरीर कदापि ऊचा नही जा सकता। मनुष्य की पूरी ऊँचाई अर्थात् पाद से खड़े होकर हाथ ऊचा करके किसी का स्पर्श करें तो यह उसकी ऊँचाई १२० अंगुल की होगी। यह पुरुषमान मनुष्य के शरीर की परमसीमा है। इस प्रकार ३॥ हाथ ४ हाथ या ५ हाथ ये तीन मनुष्य के नियत नाप है। इसकी न्यूनाधिक भी एक नियत मान से ही कही गई है। इसी प्रकार हाथी, घोड़ा, सिंह, शशक, मूषक आदि सभी महान् की भिन्न-भिन्न ऊँचाई देखी गई है। एक हाथ का मनुष्य अज्ञानी बालक होता है। उसका ज्ञान, वल इन्द्रिय शक्ति सब अल्प होती हैं। किन्तु उतनी ही ऊँचाई का वानर पूर्ण तरुण माना जाता है उसका ज्ञान, वल, इन्द्रियो की शक्ति सब पूर्णता को पाजाती है यह ज्ञान और बल का परिमाण उतने ही वडे मनुष्य बालक मे क्यो नही होते अथवा वानर के तरुण शरीर मनुष्य के अनुसार ३॥ हाथ की ऊँचाई पर क्यो नही जाते। इन सब प्रश्नो का उत्तर क्या है केवल "नियति" है किन्तु यह शरीर उत्पन्न विनिष्ट होते रहते हैं। इनकी स्थिरता न रहने से इनके साथ कोई नियम पूर्व-मान मे सदा के लिये नियत नही हो सकते। इसलिये अवश्य कोई स्थायी शरीर है जिसके साथ ये ऊँचाई के नियम सब लागू हुए हैं। वही शरार महान् आत्मा कहलाता है जो कि ८४००००० योनियो मे विभक्त है। शरीर की आकृति की यही नियति महान् आत्मा का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

प्रकृति

मनुष्य मात्र की प्रकृति भिन्न-भिन्न देखी जाती है, परन्तु यह भिन्नता शरीर के भेद से होती ही है, किन्तु एक शरीर मे भी एक ही आत्मा की प्रकृति भिन्न-भिन्न कारणो से भिन्न-भिन्न अवस्था मे भिन्न-भिन्न काल मे भिन्न-भिन्न हो जाती है, यह प्रकृति स्वभाव कहलाती है। स्वभाव का अर्थ है आत्मा का भाव या वृत्ति। इसका तात्पर्य यह है कि क्षेत्रज्ञ आत्मा जो "स्व" कहलाता है उसको जो कुछ सुख दुःख मोह का भोग अर्थात् अनुभव होता है उसका कारण यही महान् है। कारण को प्रकृति कहते है। इसलिये यह महान् क्षेत्रज्ञ की प्रकृति कहा जाता है। क्षेत्रज्ञ की प्रकृति कहने से क्षेत्रज्ञ आत्मा के सब भोगो की प्रकृति जाननी चाहिये।

क्षेत्रज्ञ आत्मा की जितनी वृत्तियां होती हैं, जितने भोग होते हैं या जो कुछ वह करता है ये सब बातें प्रकृति अर्थात् महान् मे ही सभव होते हैं। क्षेत्रज्ञ आत्मा कुछ नही करता। वह केवल साक्षी रूप से निर्विकार एक रस प्रकाश मात्र बना रहता है। किन्तु महान् के क्षेत्रज्ञ की प्रकृति होने के कारण महान् के सब कर्मों का क्षेत्रज्ञ पर अभिमान हो जाता है। इसलिये क्षेत्रज्ञ आत्मा न कुछ करता हुआ भी अपने को सब काम का कर्ता मानता है। इसलिये गीता मे लिखा है:—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकार विमूढात्मा, कर्ताऽहमिति मन्यते ॥

अर्थात् प्रकृति के गुणों से सभी काम किये हुए होते हैं [illegible] क्षेत्रज्ञ की प्रकृति के तमोमय अहंकार के योग मे मोह पाकर वह क्षेत्रज्ञ आत्मा [illegible] लेता है ।

चलता हुआ मनुष्य जल्दी-जल्दी ओमरे मे दोनो पांवो को आगे पीछे [illegible] एक पैर के आगे पीछे करने के लिए उस समय ध्यान नही करता, केवल [illegible] पांव आगे पीछे होने लगते हैं ॥ १ ॥

बालक जन्मते ही हाथ पांव हिलाने लगता है या रोता है । किन्तु [illegible] यत्न नही करता, बिना चाहे भी ये सब काम अपने आप होते हैं । [illegible] प्रज्ञात्मा पर प्रकृति का प्रभाव पडता है । उसके कारण विज्ञान आत्मा [illegible] प्रज्ञान आत्मा प्रकृति से अर्थात् स्वभाव से वैसा करने लगता है ॥ २ ॥

किसी शिक्षा या उपदेश आदि के द्वारा विज्ञानमय आत्मा बढाया जा सकता है । [illegible] -कारण प्रकृति नही बदलती । जिस प्रकार महा मूर्ख साधु स्वभाव या क्रूर स्वभाव [illegible] प्रकार महाविद्वान् भी हो सकता है । विज्ञान बढाने की शिक्षा का प्रकार [illegible] यदि प्रकृति को बदलना चाहे तो उसके लिए भिन्न ही उपस्कार करना पड़ेगा । [illegible]—

मित्रों की शिक्षा, राजशासन, विशेष प्रकार का सात्त्विक या तामसिक [illegible] अवस्था या कालभेद इत्यादि इत्यादि, इनके द्वारा प्रकृति क्रम से बदल [illegible] विज्ञान का कुछ सबन्ध नहीं है, किन्तु प्रज्ञान का अवश्य सबन्ध है । [illegible] का भाग उसमे अनुस्यूत (शामिल) रहता है । वह ज्ञान का भाग विज्ञान [illegible] -है । प्रकृति के बदलने से प्रकृति के अनुसार काम करने वाला प्रज्ञान आत्मा [illegible] आदत के अनुसार काम करने लगता है । हम देखते है कि किसी मनुष्य को [illegible] क्रिया का कौशल होता है । जैसे अर्जुन मे एक क्षण मे ही १०० बाण [illegible] था, जो साधारण मनुष्य नही कर सकता । राजा ऋतुपर्ण को घोडे हांकने का [illegible] कितने ही मनुष्य किसी काम करने मे अन्य मनुष्यों की अपेक्षा स्फूर्ति रखते है । [illegible] सभा-चातुरी वाक्चातुरी देखी जाती हैं । इस प्रकार के जो गुण [illegible] -धर्म है । इनका क्षेत्रज्ञ आत्मा से या महान् से भी कोई सबन्ध नही है ।

स्वत प्रकाश न रखता हुआ स्वच्छ रस का चन्द्रमा जिस प्रकार [illegible] भाव उत्पन्न करता है । सूर्य के सम्मुख भाग उसका ज्योतिष्मान् होता है । [illegible] वर्ण है, और इन दोनो की सन्धि मे छायामय रहता है ठीक इसी प्रकार [illegible]

मान न होकर क्षेत्रज्ञ आत्मा की रश्मि से तीन भाव का हो जाता है। क्षेत्रज्ञ का समुख भाग ज्योतिष्मान् होता है, उसे सत्वगुण कहते हैं। उसके विपरीत तमोमय रहता है उसे तमोगुण कहते हैं, और दोनो का सन्धिभाग जो छायामय है उसे रजोगुण कहते हैं। ये ही तीन गुण महान् आत्मा का निज स्वरूप है। ये तीनो गुण तेन (तम), वत्ती (रज) लौह (सत्त्व) के अनुसार परस्पर के आश्रित हैं। परस्पर का अभिभव (दवाव) करते हैं। और परस्पर को उत्पन्न करते हैं। इस प्राणी के शरीर मे अथवा इस जगत् मे सभी भाव इन्ही तीनो गुणो मे व्याप्त हैं। इन तीनो गुणो का विस्तार से वर्णन साख्यशास्त्र मे, पुराण-शास्त्र मे और मनुस्मृति मे किया गया है। जिस प्रकार चन्द्रमा पृथ्वी के सनिहित रहकर उसी का अनुगामी होकर सूर्य का भी अनुगामी है उसी प्रकार यह महान् आत्मा भी भूतात्मा अर्थात् प्रज्ञात्मा के सन्निहित रहकर उसी का अनुगामी होकर क्षेत्रज्ञ आत्मा का भी अनुगामी होता है।

स्वयं यह महान् आत्मा वायु, मेघ, जल आदि के अनुसार अशरीर है। किन्तु भूतात्मा का संसर्ग पाकर उसी के शरीर से बद्ध होकर शरीरी हो जाता है, और शरीर के कितने ही दोषो से ससृष्ट (मिल-जाना) होकर भूतात्मा के साथ कर्मों का फल भोक्ता होता है। इनमे महान् आत्मा जो शरीर के दोषों के संयोग मे सत्व, रज, तम गुणो मे विषमता या क्षोभ पाजाता है उसी के कारण उस महान् आत्मा से संसृष्ट भूतात्मा उन गुणो के अनुसार सुख दुःख या अच्छे बुरे भोगो को पाया करता है। यदि उस भूतात्मा मे महान् आत्मा का मिलान होता तो निर्गुण होने से प्रवृत्ति निवृत्ति रहित होकर पुण्य, पाप से रहित हो यह भूतात्मा शुद्ध और मुक्त ही रहता। किन्तु महान् के कारण से ही गुणो के अनुसार सब कर्म करता हुआ यह भूतात्मा सब कर्मों का फल भोक्ता होता है। यह श्रुति मे लिखा है:—

गुणन्वयोयः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव, सचोपभोक्ता।
सविश्वरूपस्त्रिगुण स्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः॥

आत्मवृत्ति

इस क्षेत्रज्ञआत्मा की प्रकृति जब जिस प्रकार की होती है उस आत्मा मे उसी प्रकृति के अनुसार वैसे ही विकार परवश उत्पन्न होते रहते हैं उन विकारो को रोकने का कोई भी कारण नही है, न वे विकार कदापि रुक सकते हैं, इन्ही विकारो को आत्मा की वृत्ति कहते है। दिन रात प्रतिक्षण यह क्षेत्रआत्मा अपनी वृत्ति के अनुसार काम करता रहता है। कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी सोचता है, कभी सोता है, कभी जागता है, और कभी जानता है और कभी चलता है, इत्यादि २ इन सब वृत्तियो मे श्रद्धा ही मुख्य कारण है। जिस भाव की ओर श्रद्धा झुक जाती है ठीक उसी भाव के अनुसार महान् आत्मा अपनी आकृति बदल लेता है। यद्यपि महान् की आकृति मनुष्याकार है, यह आकृति हमारी जीवनभर स्थिर रहती तथापि श्रद्धा के कारण जैसे-जैसे भावो का इस पर प्रतिबिम्ब पड़ता है तत्काल उस आकृति को अवश्य धारण कर लेता है। किन्तु ग्रहण की हुई ये आकृतियां स्थिर नहीं रहती एक के पश्चात दूसरी बदलती रहती है किन्तु यदि विशेष प्रयत्न से उस भाव का रूप स्थिर किया जाय तो यह रूप इस मनुष्य की आकृति से पृथक् होकर थोड़ी देर के लिये प्रत्यक्ष दीख आती है।

योगाभ्यास आदि सिद्धि क्रियाओं में उसी हमारे आत्मा की उसी [illegible] थोडी देर के लिये साक्षात्कार हो जाती है और मनोनुकूल [illegible] श्रद्धा की ही बनी होती है।

सत्व रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्।
महतोऽहंकारः, अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि ॥

इसलिये अधिक काल न बैठकर वे हमारी ही महान् आत्मा में [illegible] मनोयोग के दीर्घकाल आदर अर्थात् प्रेम और निरन्तर में दृढ़ भूमि होने [illegible] किन्तु विचार के भीतर विचार के अनुसार हमारी आत्मा की ही [illegible] बिगडती रहती है। इनमे हमारी आत्मा की श्रद्धा ही कारण है। [illegible]—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

अर्थात् यह महान् पुरुष श्रद्धामय है, जिस भाव की उत्कण्ठा श्रद्धा होती है [illegible] बन जाता है अर्थात् उसी की आकृति का हो जाता है।

श्रद्धा से भिन्न-भिन्न आकृति बनने में विज्ञानमय क्षेत्रज्ञात्मा भी [illegible] किसी विषय को न जाने तब तक उस विषय की श्रद्धा नहीं होती। विज्ञान [illegible] बदलती रहती है, किन्तु मरती समय जिस आकृति में आकर महान् आत्मा [illegible] छोडकर निकल जाता है वह आकृति फिर नहीं बदलने पाती। इसलिये पुनर्जन्म [illegible] बनी रहती है और सम्भवतः उसी योनि में उस भूतात्मा को जन्म लेना पडता है [illegible] कहा है—अन्तेमति सागतिः।

अहकृति महान्

"अह" अर्थात् "मैं" यह बुद्धि जिसके लिये होती है वह शरीर है। [illegible] का ही इशारा किया जाता है। यह शरीर जड होने पर भी जिस धातु के [illegible] उस धातु को श्रद्धा जानना चाहिये, वही धातु अहकार है। किन्तु [illegible] उसे महान् कहते हैं। महान् ही अहकार के रूप में परिणत होता है। [illegible] प्रकार का माना है, वैकारिक, तैजस, भूतादि, सानुमान, निरनुमान। [illegible] अध्यात्म कही जाती हैं। इनके ५ शब्दादि विषय आदिभूत हैं। अग्नि, [illegible] पाचो अधिदैवत है। इन देवताओं की क्रिया ही ५ प्राण हैं*। [illegible] होती है। जिस इन्द्रिय में भूत का जो गुण रहता है वह इन्द्रिय उसी [illegible]

---

* वैदिक भाषा में इन्द्रियों को प्राण कहते हैं।

अहकार से भौतिक ५ गुण उत्पन्न होते है। वैकारिक अहकार से इनके पाचो देवता उत्पन्न होते है। ये देवता सूक्ष्म शरीर मे आकर जो इन्द्रियरूप मे परिणत होते है इस अहकार रूप महान् का काम है। प्रज्ञात्म में इन्द्रियों का सञ्चालन करने वाला अहकार यदि शरीर मे न रहे तो भूत गुण या देवता इनके संयोग होने पर भी इन्द्रियो से ज्ञान उत्पन्न नही होता, इस प्रकार वैकारिक अहकार से इन्द्रियो के देवताओ की सिद्धि होती है। तैजस अहंकार से इस शरीर मे तेजोमय प्राण उत्पन्न होता है। अर्थात् सूर्य, चन्द्र, विद्युत ये तीनो तेजोमय देवता हैं। इन तीनो के तीन तीन परिवार देवता हैं। द्यौः, प्राण, आकाश ये तीनो विद्युत से सम्बन्ध रखते हैं। नक्षत्र, दिक् और आप् इनका चन्द्रमा से सम्बन्ध है। इन परिवार देवताओ के साथ तीनो तेजो देवता शरीर मे आकर एक १२ का सघ उत्पन्न करते है उसे ही तैजस प्राण कहते हैं। जिस प्रकार इन्द्रियो का सचालन करने वाला प्रज्ञात्मा एक भूतात्मा है, उसी प्रकार यह तैजस आत्मा भी दूसरा भूतात्मा है। ये दोनो ही भूतात्माये जिस महान् से उत्पन्न होते है या जिस महान् से मिले जुले रहते हैं वही महान् अहकार है। वैकारिक तैजस के अतिरिक्त तीसरा अहङ्कार भूतादि है, वह पांच प्रकार के है अनपर, सश्लेषण, शुक्लपीत सूत्र, द्रव द्रव्य, और इन्द्रिय, ये पाचो ही जिस अहङ्कार से उत्पन्न होते है, उसे भूतादि कहते हैं।

इस शरीर मे मास, अस्थि, मज्जा, अन्त्र, (आत) वसा, शोणित,मेद, शुक्र इत्यादि कितने ही धातु जो भिन्न-भिन्न प्रकार के दीखते हैं ये सब भिन्न-भिन्न प्रकार के कीटो से ही बने हुए है। उन्ही कीट जीवो को अनपर कहते है। ये भिन्न-भिन्न आकृति के अत्यन्त सूक्ष्म जीव हैं। उनके शरीर जिन भूतो से बने है, वही भूतादि अहङ्कार हैं। ये असख्य होने पर भी एक से एक सब आपस मे चिपके हुए रहते है। जिस रस से ये चिपके हैं उसी को सश्लेषण रस कहते हैं। ये भी भूतादि अहङ्कार से उत्पन्न होता है। इस सश्लेषण से ही अस्थि, मज्जादि धातुओ के भिन्न रूप हो जाते हैं। इन धातुओ मे इन कीटो के रहने योग्य एक प्रकार का जाल रहता है। यह जाल सफेद और पीले सूत्रो से बना हुआ होता है। ये सूत्र (सूत) वायु, मृत्तिका और मन इन तीनो के योग से बनते हैं। इनमे सश्लेषण द्रव्य भरे रहने से सब सूक्ष्मकीट अन्न पाते हुए चिपके रहते हैं। इन तीनो के अतिरिक्त इस शरीर मे बहुत से बहते हुए द्रव्य हैं उनकी उत्पत्ति भी सोम से हैं और, प्राणमय इन्द्रियो के रहने योग्य जो शरीर मे स्थूल भौतिक इन्द्रिया आँख, कान, नासिका आदि है इनकी उत्पत्ति भी भूतादि अहङ्कार से होती है। पाचो ही भूतादि अहङ्कार के कार्य हैं, ये सब स्थूल भूतमय जड है।

भूतादि अहङ्कार के उपरोक्त ५ कार्यो मे जो अनपर जीव कहे हैं वे दो प्रकार के हैं। भ्रूण व सूमर। इनमे भ्रूण कीट शुक्र मे रहता है और सूमर कीट अन्यान्य धातुओ मे रहते है। इनका भेद इसलिये है कि भ्रूण स्त्री के गर्भ मे जाकर विकसित होना है, और उससे एक विस्तृत शरीर उत्पन्न होता है, किन्तु सूमर से दूसरा उत्पन्न नही होता, वह अपने धातुओ मे रहकर भी एक से अनेक होते रहते हैं और वही (धातुओं मे) उनका जीवन मरण होता है। इन दोनो को अव्यूढ जीव कहते हैं। अर्थात् इनके शरीर मे दूसरे जीवो से सङ्गठन (बनावट) नही होता वे स्वय एक जीव रूप है। उनके शरीरो की वैसी बनावट आकृति देने वाला उस शरीर के भीतर रहने वाला जीव आत्मा है वह जिस प्रकार की आकृति करता है उसी प्रकार के भूत रस उस पर सञ्चित होकर उनके वैसे शरीर बन जाते है। इस प्रकार अव्यूढ शरीरो

के वे जीव आत्मा सब निरनुमान अहङ्कार से उत्पन्न होते हैं । ये भी [illegible]
आत्मा है । अब इन असंख्य अव्यूढ जीवों के व्यूह [illegible]
शरीर की वैसी आकृति देने वाला एक बहुत बड़ा भिन्न ही महान् आत्मा [illegible]
का है उसके वैसी ही आकृति होने के कारण से ही इन पर भूत [illegible]
आकृतियां बनी हैं । यह व्यूढ जीव का बड़ा महान् आत्मा जिस सोम [illegible]
है । इस प्रकार इन पांचों अहंकारों से भिन्न-भिन्न महान् की आकृतियां उत्पन्न होती [illegible]
महान्" कहते हैं ।

यह अहङ्कार या महान् सोम से बनता है । यह सोम [illegible]
दिक् सोम अद्रव है, अग्नि, वायु के समान रूखा और कुछ [illegible]
पड़ता । किन्तु चन्द्र सोम श्रद्धारूप हैं श्रद्धा एक प्रकार का आप् है अर्थात् [illegible]
स्निग्ध (मुलायम) और अत्यन्त स्वच्छ है इसी से यह प्रतिबिम्बता है । [illegible]
तैजस और भूतादि ये दोनों दिक् सोम से उत्पन्न हैं, [illegible]
अत्यन्त स्वच्छ है । जो चिदात्मा का या विज्ञान आत्मा का प्रतिबिम्ब [illegible]
तीसरा वैकारिक जिससे इन्द्रिय और प्रज्ञात्मा का सम्बन्ध है वह [illegible]
रूप है, इसीलिये उससे उत्पन्न हुए इन्द्रिय या प्रज्ञा स्थूल भूतमय होने पर भी [illegible]
से या प्रज्ञात्मा से ही विशेषकर हमारे सब प्रत्यय ज्ञान उत्पन्न होते हैं ।

पृथ्वी के चारों ओर कुछ दूर पर चन्द्रकक्षा अर्थात् चन्द्रगति [illegible]
पूर्व और पश्चिम है उन दोनों सीमाओं को स्पर्श करते हुए सूर्य के किरण [illegible]
जाते हैं, उसको सुषुम्णा नाडी कहते हैं । उसका व्यास पृथ्वी के पास [illegible]
करता हुआ है, उसके मध्य में पृथ्वी पड़ती है पृथ्वी पर जो सूर्य का प्रकाश [illegible]
का प्रकाश है और चन्द्रमा पर जो सूर्य का प्रकाश है वह भी सुषुम्णा [illegible]
कि—"सौषुम्णश्चन्द्ररश्मिः" अर्थात् चन्द्रमा में प्रकाश सुषुम्णा का है । [illegible]
और पृथ्वी के जीवों का सम्बन्ध होने से जीव आत्मा के शरीर में पृथ्वी [illegible]
भी अपना मुख्य भाग लेता है । दोनों रसों का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध [illegible]
साथ पृथ्वीरस भी मिला जुला हुआ चन्द्रमा तक जाता है । पृथ्वी [illegible]
पहला स्थान चन्द्रमा ही है । चन्द्रमा को छोड़कर बाहर नहीं जा सकता । [illegible]
रस आता है वही महान् आत्मा है । वह महान् ८४ सहस्र का बनता है अर्थात् [illegible]
खण्ड है । जिनमें ५६ खण्ड पितरों के नाम से प्रसिद्ध हैं [illegible]
८४ सहस्र अथवा बिन्दु मिलकर जो एक चन्द्ररस उत्पन्न होता है वह [illegible]
अङ्ग में प्रथम व्याप्त होता है, पश्चात् प्रत्येक अङ्ग से रस अनुस्यूत [illegible]
के अनुसार एक छोटा शरीर बनता है उसे ही भ्रूण कहते हैं । [illegible]
है तथापि प्रत्येक अङ्ग से अनुस्यूत होने के कारण उसमें [illegible]
भाग से भ्रूण का शरीर भौतिक होता है ।

ऐसे भ्रूण नक्षावधि (लाखो की सत्या मे) एकत्र होता है तो उसे ही द्रवरूप मे शुक्र कहते हैं। स्त्री रज मे शुक्र के जाने पर कोई एक ही भ्रूण पूर्ण बल पाकर औरो को खाता है, जिससे उसका शरीर क्रमश: बढ़कर जन्म लेने लायक हो जाता है। जन्म के उत्तर अन्न भोजन करने पर भौतिक शरीर बहुत विस्तृत हो जाता है उसमे वह महान् आत्मा भी उसी के अनुसार विस्तृत होकर शरीर मे व्याप्त हो जाता है। शरीर छूटने पर वह महान् आत्मा चन्द्र मार्ग मे जाता है। किन्तु जाती समय वह केवल २८ अश को लेकर चन्द्रमा मे जाता है, और ५६ अश उसके ७ सन्तानो मे सन्तानित होकर पृथ्वी पर रह जाता है चन्द्रमा पर गये हुए या पृथ्वी पर रहे हुये दोनो अशो मे नित्य निरन्तर दृढ सम्बन्ध बना रहता है। वह सम्बन्ध श्रद्धा सूत्र कहा जाता है। इसी श्रद्धा सूत्र के द्वारा सन्तानो के किये हुए पिण्डदानों का चन्द्रमा मे गये हुए पितर आत्माओ मे प्राप्ति होती है इसलिये उन पिण्डदानो को श्राद्ध कहते हैं। अष्टम वंशधर मे उत्पन्न होने पर यह श्रद्धा सूत्र टूट जाता है और वह ५६ अश जो पृथ्वी पर शेष रह गये थे वे सातो सन्तानो के चन्द्रलोक मे जाने से चन्द्रमा के द्वारा पितरो को मिल जाते है। इसलिये ८४ अश पूर्ण होने पर पृथ्वी की लाग मिट जाने से चन्द्रमा का महान् आत्मा उसी सुषुम्णानाड़ी के द्वारा अपने मूल कारण सूर्य ज्योति मे सम्मिलित होकर लीन हो जाता है यहा महान् आत्मा की उत्पत्ति और समाप्ति है।

सूर्य

५

पू. ० प.

५

सुषुम्णा
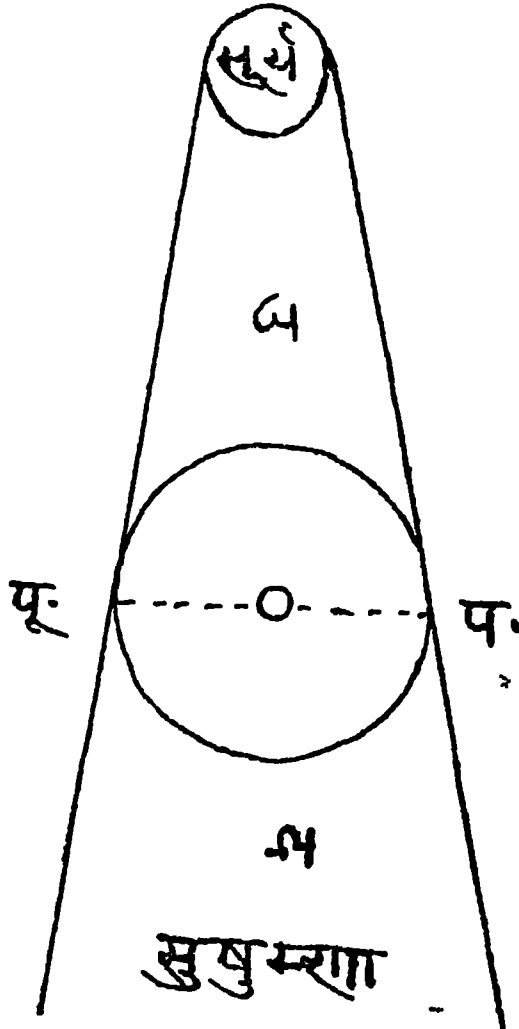
अव्यूढ सत्वो मे प्राणी जिसे सूमर कहते हैं वे भी दो प्रकार के हैं। [illegible]
व्यूढ सत्वो के अनुसार जिनका शरीर दूसरे जीवों को शरीर मे [illegible]
हैं। किन्तु जिनमे एक ही कोश है उनके शरीर शुद्ध एक ही कोश से बने हुए [illegible]
जीवों मे आदि जीव हैं, अथवा जीव संस्था के मूल जीव स्वरूप हैं। [illegible]
जीवों के शरीर की अपेक्षा विलक्षण है। उनका शरीर द्रवप्राय कुछ धातुओ से बना है [illegible]
को प्रसारण आकुञ्चन कर सकते हैं। शरीर के मध्य मे एक घन और कठिन विन्दु है [illegible]
है। वह वहुत सूक्ष्म है, उसके चारो ओर जो चिपटाकार शरीर है उसमे [illegible]
उसका चक्षु है वहुतो के शरीर मे एक छोटा सा सूक्ष्म छिद्र होता है सम्पूर्ण शरीर [illegible]
कभी-कभी रस निकलकर उस छिद्र मे जमा होता है, पीछे उसको त्याग कर देता है [illegible]
चाहता है तो उसके चिपटवृत शरीर ही कुछ लम्बे होकर एक ओर बढ़ जाता है, [illegible]
मस्तक विन्दु सरक कर शरीर को गोल वना लेता है। इसी प्रकार बिना पाँव के भी [illegible]
चला करता है। जब उसकी तरुण अवस्था होती है तो सूक्ष्म मस्तक विन्दु भी धीरे-धीरे [illegible]
होकर वीच मे से टूटकर दो हो जाते हैं। कुछ दिन दोनो शिर शरीर मे रहते हैं [illegible]
क्रमशः हटकर उन दोनो शिर के विन्दु को केन्द्रमान कर शरीर के दो भाग हो जाते हैं। [illegible]
दोनो शिर फिर वढते २ दो दो भाग होकर फिर अन्य जीवो को उत्पन्न करते हैं। [illegible]
शरीर वाले ये जीव केवल शिर के दो दो भाग होने से एक से अनेक सैकड़ो उत्पन्न होते हैं [illegible]
का उत्पत्ति क्रम है। जिस समय इनको भोजन की इच्छा होती है तो किसी [illegible]
स्पर्श करते ही अपने शरीर को मोडकर इस प्रकार उसको लपेट लेते हैं, कि [illegible]
चर्म भागो से पकडा जाकर थोडी देर मे लग जाता है। और वह रस उनके शरीर मे [illegible]
तत्पश्चात् फिर अपने मुडे हुए शरीर को गोल वना लेता है। इस प्रकार के सूमर [illegible]
प्रकार के देखे गये हैं। इन सवका मस्तक भाग जो चिपटे शरीर के केन्द्र मे रहता है [illegible]
रूप है वह श्रद्धा के आप् से ही उत्पन्न होता है। इसी से उसमे मन का [illegible]
उत्पन्न करके इच्छानुसार प्राणों द्वारा उसके शरीर मे भिन्न २ चेष्टायें होती रहती हैं। [illegible]
आत्मा और मनुष्य का महान् आत्मा एक नही भिन्न-भिन्न है। इसीलिये उनके शरीर मे मेरा अहंकार [illegible]
है। और मेरे शरीर मे उनका अहकार नही है।

उपसंहार

इस प्रकार अहकार, आत्मा की वृत्ति, प्रकृति और आकृति ये चारो ही [illegible]
होते हैं। इस महान् से आकृति, प्रकृति, अहंकार आदि वनने मे विज्ञानमय [illegible]
आवश्यकता होती है विना विज्ञान के कोई भी महान् इन चारो भावो मे [illegible]
लिये गीता मे कहा है—

मम योनिर्महत्ब्रह्म, तस्मिन् गर्भं दधाम्यहं।
सम्भवः सर्व भूतानाम्, ततोभवति भारत ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय, मूर्तयः सम्भवन्तियाः ।
तासां ब्रह्म महद्योनि, रहंबीजप्रदः पिता ।। इत्यादि—

इस प्रकार यद्यपि महान् आत्मा से मूर्तियां उत्पन्न होने मे विज्ञानमय क्षेत्रज्ञआत्मा के विज्ञान रस का मिलाप अवश्य ही माना गया है । तथापि महान् आत्मा विकारी है और क्षेत्रज्ञआत्मा निर्विकार है । जिस प्रकार मृत्तिका से ईंट, या पात्र बनाने मे पानी का मिलाना आवश्यक है । बिना जल के मिट्टी मे लोच और मुलायम भी आदि गुण नही आते उन गुणो को मिट्टी मे उत्पन्न करके ईंट, या पात्र बनजाने पर वह जल मृत्तिका से अलग हो जाता है, केवल मृत्तिका ही का वह पात्र बना रहता है । जल मिलकर भी महान् मे मिलकर नाना प्रकार के भावो को उत्पन्न करता है किन्तु वह विज्ञान विशुद्ध निर्विकार ही महान् विकारो से अलग रहता है ।

भूतात्मा

जिस प्रकार सूर्य के रस मे क्षेत्रज्ञआत्मा उत्पन्न होता है, जिस प्रकार चन्द्रमा के रस से महान् आत्मा उत्पन्न होता है, उसी प्रकार पृथ्वी के रस से भूत-आत्मा उत्पन्न होता है । जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा दोनो इस पृथ्वी पर अपना रस बरसाते हुए इस पृथ्वी से नित्य संबन्ध रखते हैं, उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ और महान् दोनो अपना रस अर्थात् प्रकाश देते हुए भूतात्मा से नित्य संबन्ध रखते हैं । जिस प्रकार चिदात्मा क्षेत्रज्ञआत्मा मे प्रकट होता है, उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ आत्मा मे भी महान् मे और महान् आत्मा भूतात्मा मे प्रकट होता है । इन चारो आत्मा-चिदात्मा, क्षेत्रज्ञ, महान् और भूतात्मा का परस्पर संबन्ध सूत्रात्मा से होता है और भूतात्मा मे भी वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ ये जो तीन अवान्तर भेद हैं उनका परस्पर संबन्ध भी इसी सूत्रात्मा के द्वारा बना हुआ है । भिन्न-भिन्न अपने तन्त्र रखते हुए भी पाँचो आत्माओ का एक तन्त्र बनकर प्राणी का शरीर चेतन बनकर चेष्टा करता है । इस एक तन्त्र मे चिदात्मा और सूत्रात्मा ये ही दो अङ्गी या प्रधान हैं इतर तीन अंग हैं अर्थात् गौण आत्मा हैं । प्रज्ञापराध से मिथ्या आहार विहार होता है, अर्थात् आहार और विहार का सुयोग न होकर, हीनयोग, अतियोग, मिथ्यायोग होते हैं । जिनसे कफ, वात, पित्त और शोणित इनकी विषमता हो जाती है इसी को रोग (व्याधि) कहते हैं । इसी प्रकार काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य ये छः सूक्ष्म शरीर के धातु हैं । इन की विषमता से आधिरोग उत्पन्न होते हैं ये मानस रोग है जो उपदेशादि से शान्त हो सकते हैं ।

भूतात्मा परिचय

पञ्च महाभूत का पिण्ड जो मृत्युधर्मा है, उसमे अधिष्ठात्री होकर जो उसका अभिमानी देवता-गण हैं और जो अमृत हैं, उन देवताओ के समूह को भूतात्मा कहते हैं ।।१।।

द्यौ और पृथ्वी इन दोनो के तेजोमय अमृतरस जिनमे लोकत्रयातीत दिव्यज्योति का तीसरा अमृतरस (अर्थात् चिदात्मा का रस) ये तीनो सम्मिलित होकर अन्नकोश के आपोमय मृत्युपद मे सम-

दोनों का समन्वय करा कर शरीर का सङ्गठन करने के लिये माता के हृदय से एक प्रकार का वायु उत्पन्न होता है। इस वायु के दो रूप हैं–एक विश्वकर्मा, दूसरा सूत्रात्मा। इनमे विश्वकर्मा वायु शिर से पाद तक प्रत्येक अङ्ग प्रत्यङ्ग का निर्माण करता है किन्तु निर्माण किये हुए अङ्गो को नियमानुसार जहां का तहां रखकर उनको अपने स्थान से हटने न देकर सबको पकड़े हुए केन्द्र मे, अर्थात् हृदय मे स्थिर हो जाता है। दीपक के अनुसार उसके दो स्वरूप होते है। एक मध्य मे पिण्डरूप और दूसरा रश्मिरूप। इनमे रश्मिरूप मे यह वायु सर्वाङ्ग शरीर मे व्याप्त रहता है, किन्तु मध्य का पिण्डरूप केवल हृदय मे ही रहता है, इसी सूत्रात्मा वायु को शारीरिक परिभाषा मे व्यान वायु कहते हैं। इसका आयतन एक प्रादेश (१०॥ अङ्गुल) है। यह व्यान मुख्य प्राण है, और यही जीवन का आधार है। इसी के उत्क्रमण (निकल जाना) मे प्राण और अपान भी उत्पन्न (जगह छोडना) हो जाते है। इसीलिये श्रुति कहती है—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेता वुपाश्रिता॥

अर्थात् प्राण से या अपान से कोई भी प्राणी नही जीता है, इन दोनो के अतिरिक्त तीसरा कोई देवता है, जिसके ये दोनो आश्रित है, वही सब प्राणियो का जीवन आधार है। हृदय मे विद्यमान यह व्यानवायु अन्तरिक्ष से प्राप्त होता है। इसी व्यान पर पृथ्वी से अपानवायु और सूर्य से प्राणवायु आकर सम्मिलित होते हैं। यह व्यानवायु सूर्य से आते हुए प्राणवायु का प्रतिष्टम्भन (रोकना) करके उलटा प्रतिक्षेपण (धक्का देना) करता है। जिससे प्राणवायु उलटा ऊपर जाता हुआ उदान वायु कहलाता है। इसी प्रकार वह व्यानवायु नीचे पृथ्वी से आते हुए वायु को प्रतिष्टम्भन करके उलटा प्रतिक्षेपण करता है, जिससे उलटा नीचे को जाता हुआ वह अपानवायु कहलाता है। किन्तु जो उसका भाग शरीर मे रहकर अन्नादि का पाचन आदि का काम करता है वह समानवायु कहलाता है। इस प्रकार तीन लोक के तीन रस मिलकर पाँच प्राण उत्पन्न करते हैं। इन्ही पाँचो प्राणो के आधार पर प्राणियो की जीवन सत्ता निर्भर है।

—

जिस प्रकार एक शिलापर लोढी से पेषण (पिसान) करते हुए हाथ से लोढी को आगे पीछे करते हैं, उसी प्रकार व्यान रूपी शिला पर प्राण और अपान दोनो वायु एक दिन रात मे २१६०० बार आना जाना करते हैं। यज्ञ की परिभाषा मे सोमलता के कूटने या पीसने की शिला को उपांशु सवन कहते हैं और उस पर पीसने के समय लोढी का बाहर जाना उपांशु है, और अपनी ओर आजाना अन्तर्याम है। इसी उपांशु अन्तर्याम क्रिया से प्राण, अपानवायु की उपमा दी गई है। व्यानरूपी उपांशुसवन पर प्राण और अपानवायु के उपांशु अन्तर्याम क्रिया से जो २१६०० बार घर्षण होता है, उससे एक यौगिक अग्नि उत्पन्न होती है, उसी को वैश्वानर अग्नि कहते हैं। यह वैश्वानर अग्नि प्राण, अपान और व्यान इन तीनों भौतिक अग्नियों के मेल मे या घर्षण से उत्पन्न होती है, इसलिये यौगिक है। जब तक व्यानवायु हृदय में दृढ बद्ध होकर स्थिर रहता है, तब तक प्राण और अपान का उपांशु अन्तर्याम क्रिया के बन्धन होने से वैश्वानर भी जाग्रत रहता है। व्यानवायु के उत्क्रमण होने पर उपांशु अन्तर्याम क्रिया भी बन्द हो जाती

[illegible] मे [illegible] नहीं जाता । इस प्रकार ये चार वैश्वानर चार शब्दो से कहे जाते है ❀ १—शरीर के अन्तर्गत निज का वैश्वानर भुवनपति है । २—निज का संवत्सर भूतपति है । ३—पृथ्वी का सवत्सर शरीर मे आया भूपति कहलाता है । ४—सूर्य का सम्वत्सर शरीर मे आया हुआ नारायण कहा जाता है । सामवेदियो के लिए कौथुमी शाखा के गोभिलसूत्र मे इन्ही चारो अग्नियो के लिये भोजन करते समय आरम्भ मे चार नैवेद्य देना विहित किया गया है । यद्यपि ये चारो अग्नि वैश्वानर ही है, तथापि इनका योनि और कर्म पृथक् होने से पृथक् पृथक् व्यवहृत होते हैं शरीर के निज के वैश्वानर से शरीर मे सब प्रकार के धातु बनते रहते है और निज के सम्वत्सर भूतपति से दर्पण मे मुख दीखता है, या दूसरा मनुष्य दूसरे मनुष्य को दूर से दीखता है, जल मे प्रतिबिम्ब पडता है, फोटो खीचा जाता है, पृथ्वी से आये हुए भूपति से यह शरीर पृथ्वी से पकडा हुआ रहता है और सूर्य से आये हुए नारायण अग्नि से शरीर मे यज्ञ क्रिया होती है, जिनमे यह प्राणी नित्यप्रति वार वार अन्न खाया करता है, अङ्ग प्रत्यङ्ग वढते रहते है, और कृमि, कीट से लेकर मनुष्य तक क्रमिकधारा मे शिर ऊँचा होता रहता है । और शिर की अग्नि निकलते रहने पर भी यह शरीर अग्नि से खाली नही होता, यह सब नारायण अग्नि का प्रभाव है किन्तु [illegible]ना होने पर भी शरीर मे मुख्य अग्नि भुवनपति है । उसकी सत्ता से भूतपति, भूपति और नारायण शरीर मे काम करते हैं । यह वैश्वानर शरीर मे एक प्रादेश (१०॥ अगुल) के प्रमाण से विभक्त होकर शरीर मे व्याप्त होता है, मनुष्य का शरीर नियम से ८ प्रादेश का है, ब्रह्मरन्ध्र से कण्ठ तक, हृदय से कण्ठ तक, हृदय से नाभि तक और नाभि से योनि तक क्रम से चार प्रादेश से मुख्य शरीर वनता है, और कटि से जानु तक दो प्रादेश और जानु से एडी तक दो प्रादेश । इस प्रकार ८ प्रादेश की अर्थात् ८४अगुल की ऊचाई सिद्ध होती है एक एक प्रादेश को एक २ अक्षर मानने से ८ अक्षर की गायत्री सिद्ध होती है यह गायत्री ही अग्नि का निज छन्द है इसलिए अग्नि ८ भाग मे विभक्त होकर शरीर मे व्याप्त होता है । दोनो भुजाये भी एक अगुली से दूसरी अगुली तक ८ प्रादेश की सिद्ध होती है । कण्ठ से दोनो हथेली तक चार प्रादेश होता है इस प्रकार एक पाद हाथो मे और एक पाद दोनो पावो मे और एक पाद शिर मे योनि तक वामपार्श्व और दक्षिणपार्श्व इन दोनो पार्श्वो मे सिद्ध होकर त्रिपदी गायत्रीछन्द से यह वैश्वानर अग्नि सर्वाङ्ग शरीर मे व्याप्त है ।

२—तैजस आत्मा

भूतात्मा जो वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ के भेद से तीन प्रकार का है, उनमे वैश्वानर का वर्णन हो चुका, अब दूसरा तैजस का निरूपण किया जाता है ।

जिस प्रकार वैश्वानर आत्मा तीनो लोक के तीन रसो का विलक्षण सवन्ध पाकर उत्पन्न होता है उसी प्रकार तैजसात्मा भी सूर्य, चन्द्र, विद्युत् इन तीनो तेजो का इस शरीर मे चयन होकर एक भाव [illegible] होने के कारण ही यह प्राण तैजस कहलाता है । इस प्राण के द्वारा इस शरीर के प्रत्येक अङ्ग प्रत्यङ्ग प्रतिक्षण [illegible] रहते है ।

❀ १—ॐ भुवनपतये नम , २—ॐ भूताना पतये नमः, ३—ॐ भूपतये नम , ४—ॐ नमो नारायणाय ।

इन तीनो तेजो के साथ तीन तीन परिवार देवता भी [illegible] —

१–सूर्य,	अग्नि,	पृथ्वी,	[illegible],
२–चन्द्र,	नक्षत्र,	आप्,	[illegible],
३–विद्युत्,	प्राण,	द्यौ,	आकाश

इस प्रकार भिन्न-भिन्न परिवारो मे मिश्रित होकर ही तीनो [illegible] कारण यह तैजसप्राण बारह तत्वो का बना हुआ होता है, [illegible] छान्दोग्य उपनिषद् के चौथे प्रपाठक मे कहा गया है कि जाबाल [illegible] ने स्वय इस अग्निविद्या का उपदेश किया था।

१–जो अन्न भोजन किया जाता है, उसको यह तैजसप्राण ही अग्नि [illegible] खीचता है। जिस अग्नि से शरीर के धातु उत्पन्न होते रहते है, और [illegible] जाता है, यही धातु तैजस का पृथ्वी भाग है। इस प्रकार अग्नि, पृथ्वी [illegible] शरीर मे होते रहते हैं। किन्तु इन तीनो का टिकाव सूर्य मे होता है।

२—नक्षत्र से आर्तव शुक्र, लोम, कूप आदि उत्पन्न होते है। [illegible] और पसार होता है और आप् से शरीर का बढना मुलायमी (नर्मी) [illegible] होते रहते है। किन्तु इन तीनो का टिकाव चन्द्रमा मे होता है।

३—प्राण से क्रिया, चेष्टा होते हैं, और आकाश से शरीर मे [illegible] वस्तिगुहा आदि भिन्न-भिन्न आकाश उत्पन्न होते हैं। [illegible] दहराकाश इस प्रकार आकाश उत्पन्न होते है और द्यौ के सम्बन्ध से [illegible] आते रहते है। जैसे सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत् आदि कितने ही रस द्यौ से [illegible] है। इन सबका टिकाव शरीर मे बीजली के द्वारा होता है।

सूर्य और चन्द्रमा के रस यद्यपि क्षेत्रज्ञात्मा और महान् [illegible] और महान् इन दोनो मे सूर्य और चन्द्र के रस मूलानुगत रूप मे [illegible] सूर्य को न छोडकर इस शरीर म भी आधार विज्ञानमय [illegible] कहते है। इसी प्रकार चन्द्रमा से भी अपना नित्य सबन्ध [illegible] आत्मा बनता है। किन्तु तैजस मे ऐसा नही है, यहा पर सूर्य और [illegible] हुआ) अर्थात् अपने मूल को छोडकर शरीर मे आता है। [illegible] और ताप दोनो पाये जाते है। किन्तु प्रकाश रश्मि [illegible] इसी से सायकाल को सूर्य के छिपते ही सम्पूर्ण प्रकाश मण्डल [illegible] किसी पत्थर, बालू, पानी आदि द्रव्यो मे प्रविष्ट हो जाता है। [illegible] होकर रात्रि मे भी अधिक समय तक उन द्रव्यो मे बना रहता है [illegible]

व प्राण रूप सूर्य और चन्द्र का रस छिन्नमूल होकर रहता है इसलिये क्षेत्रज्ञ और महान् के अनुसार उनकी स्थिरता नहीं रहती। इन दोनो के साथ तीसरा विद्युत् भी आकर तीनो शरीर के मन में प्रविष्ट होता है, इसलिये तीनो का मिला हुआ रूप, मानव आत्मा बनता है। तात्पर्य यह है कि हृदय मे जो विज्ञानमय क्षेत्रज्ञ आत्मा है, वही मन कहलाता है, उसकी हिरण्यवत् कान्ति है और सूक्ष्म है। विज्ञानमय होने के कारण अपने विवेक और विचार शक्ति से प्रज्ञात्मा रूपी जीव आत्मा को प्रतिक्षण शासन करता है उसे ही मनु कहते हैं। उस मनु मे आत्म समर्पण करने के कारण ये तीनो (सूर्य, चन्द्र, विद्युत्) मिलकर मानवआत्मा हो जाता है। किन्तु इनमे विशेपता यह है कि सूर्य चन्द्ररस खनिजो मे नही जाते इसलिये वहाँ तैजस का पूर्ण रूप उत्पन्न नही होता। किन्तु विद्युत् रस उनमे भी नही रुकता, यह सब पदार्थों मे निम्न रूप से विद्यमान रहता है। यही कारण है कि जब प्राणी मर जाता है तब उसी की भूतआत्मा मे से वैश्वानर, प्राज्ञ, ये दोनो बने रहकर लोकोन्तर मे जाते हैं। किन्तु उनमे तैजस के सूर्य, चन्द्ररस दोनो ही तत्क्षणात् अपने-अपने प्रभव मे चले जाते है, जिससे तैजस का वास्तव रूप नष्ट हो जाता है। इसलिये मरने के पश्चात् जब तक वह पुनर्जन्म न ग्रहण करें तब तक उसका शरीर बढने नही पाता। बच्चा, जवान, बूढा जिस अवस्था मे गया था उसी अवस्था मे कर्म फल भोगता हुआ बना रहता है। यद्यपि उसके भी भोग शरीर हैं, किन्तु उनमे तैजस न होने के कारण घटने बढने की क्रिया बन्द हो जाती है इतना होने पर भी तैजस का विद्युत भाग नष्ट नही होता, किन्तु वह केवल अपनी अवस्था मे इन्द्र कहलाता है। प्रज्ञात्मा के साथ-साथ बराबर लोकान्तर मे भी बना रहता है। वह सूर्य लोक से पार जाने पर वह विद्युत् पुरुष इन्द्र वरुण आदि लोको में जाने में जिस प्रकार सहायता करता हैं वह आगे आत्मगति विद्या मे विशेष रूप से कहा जायगा।

३—प्रज्ञात्मा
(१ योनि और २ आशय)

गुणत्रयातीत चेतना (चिदात्मा) सूर्य रश्मियो मे व्याप्त होता है, और उसी सूर्य-रश्मि से हमारा विज्ञानमय क्षेत्रज्ञ आत्मा बनता है और सूर्य, चन्द्र, विद्युत् इन तीनो के छिन्नमूल रसो से जो रूप बनकर हमारे शरीर मे आत्मा बनता है, उस आत्मा मे क्षेत्रज्ञ के सयोग होने पर उसके द्वारा चिदात्मा उस पर व्याप्त हो जाता है। इस प्रकार सूर्य, चन्द्र विद्युत् के साथ क्षेत्रज्ञ और चिदात्मा के सयोग से जो रूप सिद्ध होता है उसे ही प्रज्ञा कहते है। वास्तव मे यह प्रज्ञा चिदाभास कहलाता है। आभास प्रतिविम्ब को कहते हैं। सूर्य, चन्द्र, विद्युत् के रसो के समन्वय से जो जल के समान एक स्वच्छ द्रव्य उत्पन्न होता है, उस पर क्षेत्रज्ञ के द्वारा जो चिदात्मा का प्रतिविम्व होता है वह चिदाभास है, और उसे ही प्रज्ञा कहते हैं और जिस रस पर चिदाभास हुआ है उस विशिष्ट का नाम प्राज्ञ आत्मा है।

शारीरकभाष्य मे शङ्कराचार्य ने प्रज्ञान आत्मा को विज्ञानमय क्षेत्रज्ञआत्मा से भी ऊँची कक्षा का माना है। उनकी दृष्टि मे विज्ञानमय आत्मा सगुण, सविकार और नाना धर्मो करके युक्त हैं। किन्तु प्रज्ञान आत्मा निर्गुण, निर्विकार, निर्विशेष, अव्याकृत विशुद्ध चेतना रूप हैं, वह धर्म, अधर्म, कार्य कारण इनसे परे है। तात्पर्य यह है कि विज्ञानमय आत्मा ही जीव आत्मा है और वह जगत् के भीतर है, किन्तु

प्रज्ञान आत्मा विशुद्ध चिदात्मा वह जगत् मे बाहरी तत्त्व है, परन्तु [illegible]
के मूल इन्द्र रूपी प्राण को प्रज्ञा कहा है और देह मे बसता हुआ देह [illegible]
और मृत्यु के समय मे देह से उत्क्रमण होने वाला कहा गया है। [illegible]
नही सकता, उसके व्यापक होने से देह मे पश्चात् प्रवेश करना, और [illegible]
धारण करना, और किसी समय शरीर को छोडकर बाहर निकल जाना, [illegible]
सिद्ध है कि उपनिषद् के मत मे प्रज्ञान आत्मा ही वह जीव आत्मा [illegible]
प्रज्ञात्मा कई रसो का बना हुआ एक ऐसा स्वच्छ पदार्थ है, कि जिस पर [illegible]
विशिष्ट उस प्रज्ञा प्राण को ही हम प्राज्ञ आत्मा कह सकते है, यही जीव आत्मा [illegible]
गमन होता है। जो दक्षिण नेत्र मे ज्योति स्वरूप लक्षित होता है, [illegible]
किन्तु सूर्य रूपी क्षेत्रज्ञ आत्मा उस ज्योति स्वरूप से मिला हुआ प्रकाश [illegible]
निषदो मे विज्ञानमय क्षेत्रज्ञ का भी दक्षिण नेत्र मे होना कहा गया है। [illegible]
मे दोनो ही आत्मा भासित होती हैं जाग्रद् अवस्था मे चक्षु मे जो प्रकाश [illegible]
जगत् का भान करता है वह ज्योति विज्ञानमय क्षेत्रज्ञात्मा है। किन्तु [illegible]
की कोण को दबने पर भीतर की ओर प्रकाश का चक्र क्षणमात्र भासित हो जाता है [illegible]
आत्मा का है। चक्षु के इसी प्राज्ञ प्रकाश को "मयद्दाम" कहते हैं, [illegible]
यह प्राज्ञ वास्तव मे विद्युत् रूपी इन्द्र है, जिसमें चिदात्मा का प्रवेश होकर [illegible]
चिदाभास के चिदात्मा और विद्युत् ये दोनो इस प्रकार मिलकर [illegible]
के भीतर पानी पृथक् नहीं दीखता, किन्तु पानी का विकार उनमें होता रहता है। [illegible]
भास मे विद्युत् का भान पृथक् नही होता, किन्तु विद्युत् की चञ्चलता से [illegible]
अवश्य होता रहता है। यह विकार चेतना का नही है, किन्तु विद्युत् का [illegible]
आत्मा है। उस विद्युत् का यहाँ बना रहना ही आयु कहलाता है। [illegible]
भास ने हमारे शरीर मे लोम और नख को छोडकर शेष सम्पूर्ण प्रदेशो मे [illegible]
धारण कर रक्खा है और इस शरीर की सम्पूर्ण इन्द्रियो पर अपना प्रभुत्व [illegible]
की योनि चिदाभास है, और आशय इस विद्युत् या इन्द्र है।

२—प्रज्ञात्मा की प्रतिष्ठा

(प्रज्ञात्मा के टिकाव का जरिया)

इस प्रज्ञात्मा की प्रतिष्ठा ज्योति है, जो कि सूर्य, चन्द्र, अग्नि व तारागणो से [illegible]
ज्योति इस प्रज्ञात्मा का अन्न है, जिसको पाकर यह प्रज्ञात्मा इस शरीर मे [illegible]
रहता है। यदि इन ज्योतियो मे से एक भी ज्योति इसको न मिले तो [illegible]
होते होते सर्वथा नष्ट हो जा सकता है।

चित् का प्रतिविम्ब

इसी ज्योति मे ही लोकत्रयातीत चिदात्मा सक्रान्त (प्रविष्ट) होकर प्रतिविम्वित होता है और वही चिदाभास प्राज्ञ कहलाता है। इन ज्योतियो के अतिरिक्त और किसी भी वस्तु पर चिदात्मा प्रतिविम्वित नही होता। यही कारण है कि उस चिदात्मा के सर्वत्र व्यापक होने पर भी सभी वस्तु चेतना नही दीखते।

इन पाँच ज्योतियो द्वारा वाहर के पदार्थों का हमारी आत्मा के साथ-संयोग होता है। अर्थात् इन ज्योतियो के किरण वाहर के पदार्थों पर पड़कर प्रत्येक परमाणु के रूप मे आकर उस वस्तु के रूप मे आ जाते हैं। फिर उस वस्तु मे पलट कर उसी वस्तु के रूप मे आँख तक पहुचते हैं। आँख से मस्तिष्क के केन्द्र तक व्यापक प्रज्ञात्मा मे वह रूप अङ्कित हो जाता है, यही उस वस्तु का ज्ञान कहलाता है। इस प्रकार प्रज्ञात्मा मे जो ज्ञान की मात्रा इन पाँचो ज्योतियो के द्वारा आकर वढती रहती है, वही उन वाहर की ज्योतियो के भीतर विद्यमान चिदात्मा के भाग का अनुग्रह है। अर्थात् हमारी प्रज्ञात्मा रूपी ज्योति वाहर से उन वस्तुओ के रूप मे आई हुई ज्योतियो को ग्रहण कर लेती है और वह वस्तु रूप वाली ज्योति हमारी प्रज्ञात्मा की ज्योति मे मिलकर हमारी क्षेत्रज्ञात्मा वन जाती है। यह इन्द्रिय जन्य ज्ञान प्रत्यय कहलाता है।

इस प्रत्यय के तीन भेद स्थूल रीति से हो सकते हैं। १ रूप प्रत्यय जो सूर्य, चन्द्र और अग्नि इन तीन ज्योतियो से उत्पन्न होता है, इसका द्वार चक्षु इन्द्रिय है और २ शव्द प्रत्यय जो वाक् से उत्पन्न होता है, उसका द्वार श्रोत इन्द्रिय है। और ३ मानस प्रत्यय है जो कि क्षेत्रज्ञात्मा की ज्योति से शरीर के भीतर ही उत्पन्न होता है, और जिसका द्वार सपूर्ण शरीर मे व्याप्त शोणित मे घुला हुआ मनु इन्द्रिय है। इन तीनो इन्द्रियों मे प्रज्ञात्मा ही इन्द्रिय कहलाता है, जिसका स्थान भेद से नाम भेद हो गया है। जो कुछ स्पर्श करता है, सूघता है इस का स्वाद लेता है, या सोचता है, या ध्यान करता है, ये सव ज्ञान मन इन्द्रिय के द्वारा ही प्रज्ञात्मा में पहुचकर क्षेत्रज्ञात्मा वनती है। जव कि ये पाँचो ज्योति भीतर प्रवेश न करे तो क्षेत्रज्ञात्मा नष्ट होकर प्रज्ञात्मा भी नष्ट हो जायेगे। और कोई भी इन्द्रिय का ज्ञान अर्थात् प्रत्यय नही हो सकेगा। इन पाँचो ज्योतियो का प्रज्ञात्मा के साथ जो सवन्ध है, वह महाराजा जनक को महर्षि याज्ञवल्क्य ने ऊपर के अनुसार विशद रूप से वर्णन किया है।

३—प्राज्ञ का आयतन

इस शरीर मे प्रधानता से ५ देवताओ का अधिकार है-अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा और दिक्। ये पाँचो ही देवता अधिदैवत मे जिस प्रकार सूर्य के आश्रित हैं, उसी प्रकार अध्यात्म मे क्षेत्रज्ञात्मा के आश्रित रहते हैं। इन पाँचो देवताओ के द्वारा प्रज्ञात्मा विभक्त हो जाता है। इस प्रकार प्रज्ञा के पाँचो विभागों को पञ्च प्राण या पञ्च इन्द्रिय कहते हैं। जिनमे अग्नि देवता वाक् होकर मुख मे रहता है और वायु प्राण अर्थात् घ्राण रूप से नासिका मे, सूर्य चक्षु रूप से नेत्र मे और दिग् देवता श्रोत रूप से कर्ण मे और चन्द्रमा मन रूप से स्नायु और शोणित मे व्याप्त रहता है। इनमे मन इन्द्रिय अन्य चार इन्द्रियो से प्राधान्य के अनुसार स्थान होता है, अर्थात् वाक् प्राण, चक्षु, श्रोत्र ये चारो ही मन रूपी प्रज्ञा के

आधार पर काम करते हैं। इन चारो मे मन भी मात्र रहता है। [illegible]
रूप मे भी मनन आदि सकल्प विकल्प किया करता है। [illegible]
मन इन्द्रिय का रूप है जिसके मध्य मे मुख, नाक, आँख, कान ये चारो [illegible]
इस प्रकार अध्यात्म मे परिणत पाचो देवताओ मे सर्व [illegible]
रखते हुए एक एक चक्र बनाते हैं। अर्थात् इन पाँचो इन्द्रिय प्राणो [illegible]
अपने देवताओ मे जाते रहते हैं, और अधिदैवत मे देवताओ के [illegible]
पूरी होती रहती हैं। जब तक बाहर वाले प्राणो से भीतर वाले प्राणो का [illegible]
इन्द्रियाँ कोई भी अपना काम नही कर सकती। बाहर के देवता [illegible]
पहुँचाते हैं। तब इन अर्थों को भीतर वाली प्रज्ञा ग्रहण करके [illegible]
वह जीवित रहता है। बाहर के देवताओ से सबन्ध टूट जाने पर [illegible]
हो जाता है, और इसीसे अर्थों का ज्ञान उत्पन्न न होकर प्रज्ञात्मा के पाँचो [illegible]
मे अर्थात् *क्षेत्रज्ञ आत्मा मे लीन हो जाते हैं। चिरकाल तक [illegible]
सभव हो जाता है। इस प्रकार इस प्रज्ञात्मा की ये पाँचो इन्द्रियाँ [illegible]
इन पाँच स्थानो मे बैठकर बाहर वाले देवताओ से सबन्ध करना [illegible]
स्थानो को आयतन कहते है।

४—इन्द्रियों का देवतापन

इस शरीर मे जितनी इन्द्रियाँ हैं, वे सब एक ही प्राण के स्वरूप हैं, [illegible]
कारण पाँच भेद हो गये हैं। ये पाँचो देवता सूर्य से आकर इस शरीराभिमानी [illegible]
होते हैं और फिर इस क्षेत्रज्ञ से निकल कर सूर्य से मिलते रहते हैं। जिस प्रकार [illegible]
बिम्बित सूर्य मे आकाश के सूर्य की किरणें प्रतिक्षण नयी-नयी आती रहती हैं [illegible]
किन्तु उनका सिलसिला न टूटने के कारण जिस प्रकार आकाश के सूर्य मे [illegible]
स्थिर दीखती हैं, उसी प्रकार पानी के सूर्य में भी वे स्थिर ही दीखती हैं, परन्तु [illegible]
रहती है। उसी प्रकार हमारे शरीर के अन्दर क्षेत्रज्ञ आत्मा भी [illegible]
किरणो से चारो ओर चमकती रहती है, परन्तु उसकी वे किरणें वास्तव मे [illegible]

जिस प्रकार बाहर के सूर्य मे (आकाश) अन्दर एक प्राण इन्द्र नाम का [illegible]
इस क्षेत्रज्ञआत्मा मे एक मुख्य प्राण इन्द्र नाम का है वह प्रज्ञामय है और [illegible]
है। उन देवताओ से पाच रूप मे परिणत हुई प्रज्ञा ही उस मुख्य प्राण इन्द्र की [illegible]
अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, दिक् इन पाच देवताओ के भेद से वाक्, प्राण, [illegible]
नामो से कहा जाता है।

---

* क्षेत्रज्ञ—कारयिता (काम कराने वाला) दीपक के समान।
महान्—न कर्ता न कारयिता
प्राज्ञ—कर्ता, चक्षु के समान।

सूर्य आदि प्रत्येक पिण्ड से जहाँ तक रश्मियाँ जाती है, वहाँ तक उन रश्मियो के पाच विभाग होकर उन पाच देवताओं का स्वरूप बनता है। उनके ५ विभाग इस प्रकार हैं कि यदि उन रश्मियो को ३३ भागो में बाट दें तो आदि के ३ भागो को आत्मा या ब्रह्म कहा जायगा। उन तीनो के सोम पर ६ मिलाने से त्रिवृत्स्तोम होता है। (त्रिवृत् ९ को कहते है) और उसे ही अग्नि कहते है। १–त्रिवृत् पर ६ भाग मिलाने पंचदशस्तोम होता है, इसे ही वायु या इन्द्र देवता कहते हैं। २–पञ्चदश पर ६ भाग मिलाने से एकविंशस्तोम होता है, इसे ही आदित्य या सूर्य कहते हैं। ३–एकविंश पर ६ भाग मिलाने से त्रिणवस्तोम अर्थात् सप्तविंशस्तोम होता है, और उसे ही चन्द्र कहते हैं। ४–त्रिणवस्तोम पर ६ भाग मिलाने से त्रयस्त्रिंशस्तोम कहते हैं उसे ही दिक्सोम कहते हैं। ५–ये ही पाच देवता हैं। ३३ का केन्द्र सप्तदशस्तोम है, वही प्रजापति देवता है। जो कि दोनो ओर सोलह २ भागो को ग्रहण किये हुए ३३ भागो पर शासन रहता है। इसी कारण पाचो देवता जिस प्रकार मूलआत्मा के अधीन रहते हैं उसी प्रकार इस मध्यप्रजापति के भी आश्रित हैं। इस प्रकार सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी अर्थात् स्वयंज्योति, परज्योति या अज्योति, या रूपज्योति कोई भी पिण्ड क्यो न हो सभी मे ३३ भागवाले प्राण तत्व सर्वदा निकलकर एक मण्डलरूप बनाते हैं। जिनके पांच विभागो को ही पाच देवता कहते है। जबकि सूर्य का ही रस हमारे शरीर मे आकर क्षेत्रज्ञआत्मा बनता है, तो संभव है कि उससे भी ३३ भाग वाले प्राण विकसित होकर एक मण्डल बनावें और उपर्युक्त के अनुसार उसमे भी ५ देवता हो इन्ही ५ देवताओ का थोक एक रूप मे आकर प्रजापति कहलाता है। जो कि इस सर्वांग शरीर मे नख और केश को छोडकर सर्वत्र व्याप्त है। वह प्रजापति ५ देवताओ की ५ शक्तिवाला होने के कारण ५ इन्द्रियो का काम कर सकता है, और वह जाग्रत अवस्था मे नियत ५ स्थानो से अपना अन्न अर्थात् बाहर के भूतो का सस्कार ग्रहण किया करता है और स्वप्न अवस्था मे भीतर आये हुए सस्कारो को ही उलट पुलट किया करता है। किन्तु सुषुप्ति अवस्था में बाहर से अन्न ग्रहण करना बन्द हो जाता है, क्योकि इनकी सब शक्तिया अर्थात् पाचों देवता मूलआत्मा में उस समय लीन हो जाते हैं। तथापि अग्नि, वायु, सूर्य, इन तीनो का जिस प्रकार लय होता है उसी प्रकार सोम या दिक् का लय होने पर भी कुछ २ अंश शरीर के प्रत्येक भागो मे भी बना ही रहता है। जिस प्रकार रात्रि के घोर अन्धकार मे सूर्य, चन्द्र, अग्नि के प्रकाशों का अत्यन्त लोप होने पर भी आकाश मे टिमटिमाते हुए ताराओ की कुछ झलक उस अन्धकार मे भी सर्वत्र व्याप्त रहती है। उसी प्रकार इस शरीर के सर्वाङ्ग मे ज्ञान प्रकाश का अधिकाश लोप होने पर भी बहुत थोडा अंश सर्वत्र व्याप्त रहती है। यही कारण है कि घोर निद्रा में सोते रहने पर भी दो चार मनुष्यो मे से जिस मनुष्य का नाम लेकर आवाज देते हैं तो उसी नाम वाला मनुष्य उठ बैठता है, और मनुष्य सोते रहते हैं। किसी समय यह भी देखा गया है, कि गहरी नीद मे सोता हुआ मनुष्य जब बर्राने लगता है तो उस समय पूछने पर कभी २ वह मनुष्य उत्तर भी देता है और सूई चुभाने से, पानी डालने से, आग तपाने से वह बेखबर मनुष्य भी जाग पड़ता है।

इससे सिद्ध हुआ कि शरीर के चर्म भाग मे भी कुछ ज्ञान का भाग उस गाढ निद्रा मे भी बना ही रहता है, जिसके कम्पन से मुख्य आत्मा मे गये हुए पाचो देवता भी आघात पाकर एकाएक अपने स्थान इन्द्रियों मे दौड आते हैं, जिसमे वह मनुष्य तुरन्त जाग उठता है। इस प्रकार सूई इत्यादि से

आघात पहुँचाना पाँव से सिर तक प्रत्येक अङ्ग में किया जा सकता है। [illegible] देवता वाला प्रजापति एक रूप से पाँव से सिर तक सम्पूर्ण शरीर में [illegible], [illegible] नाम की मेरी आत्मा है।

५—प्राण का भिन्नरूप धारण करना

ज्ञान को उत्पन्न करने में किसी इन्द्रिय को भी स्वातन्त्र्य नहीं है। [illegible] करने का पद अर्थात् स्थान मात्र हैं, भिन्न २ काम करता है, इन्हीं नामों से [illegible] कितने ही विद्वान् प्राण को ही मुख्य कहकर शेष सब इन्द्रियों को उसी का भेद मानते हैं। [illegible] कोई वाग् ही को या चक्षु ही को मुख्य इन्द्रिय कहकर मानते हैं। परन्तु [illegible] की उपासना करते हैं। क्योंकि इन्द्रियों से जो भिन्न २ प्रकार के ज्ञान [illegible] सकते है न चक्षु ही कह सकते हैं। क्योंकि जिस समय वह प्राण है उस समय न [illegible] जब चक्षु है तब वह न प्राण है न वाक् है। तात्पर्य यह है कि ये सब दूसरे नाम [illegible] केवल एक ही एक काम के भाव है, इसीलिये अधूरे है। किन्तु ये पाँचो ही [illegible] हैं जो कि वाक् प्राण, चक्षु आदि पाँचो नामो से कहा जा सकता है उस [illegible] चक्षु आदि का नाम न देकर आत्मा इस पद से व्यवहार किया जाता है। [illegible] है कि श्वास लेते समय प्राण, बोलते समय वाक्, देखते समय चक्षु, सुनते समय [illegible] मन, कहा जाता है। अर्थात् ये पाँचो ही एक ही आत्मा तत्व के पाँच नाम हैं। [illegible] समय भिन्न २ नाम से कहा जाता है, परन्तु वास्तव में वह आत्मा एक है। [illegible] यद्यपि परस्पर एक से एक भिन्न है, किन्तु आत्मा से ये पाँचो ही भिन्न नहीं है। [illegible] है, आत्मा ही प्राण है, आत्मा ही चक्षु है, आत्मा ही श्रोत्र है और आत्मा ही मन है।

६—इन्द्रिय प्राणों का एक ही प्रज्ञा की ओर झुकाव

वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन ये पाँचो भिन्न भिन्न देवता होने पर भी [illegible] से प्रज्ञा में ठहरे हुए रहते है। प्रज्ञा और ये पाँचो देवता इनके मेल से ज्ञान की उत्पत्ति [illegible] ज्ञान की उत्पत्ति मे एक प्रज्ञा और दूसरा पाँचो देवताओ में से एक देवता ये दोनों [illegible] तथापि इन्द्रियो के भिन्न-भिन्न ज्ञान को प्रज्ञा ही कहना चाहिये, क्योंकि देवता पाँचों [illegible] किन्तु प्रज्ञा चिदाभास के कारण चेतन है, किन्तु यह अवश्य कहना होगा कि प्रज्ञा [illegible] शेष है, प्रज्ञा के एक रूप होने पर भी जो भिन्न-भिन्न पाँच रूप के पाँच ज्ञान [illegible] यह प्रज्ञा मे विशेषता उसमे पाँच देवताओ के मिलाव के कारण से ही है [illegible] मुख्यता है इसीलिये कौषीतक ने इन्द्रिय प्राणो को "एकभूयता" कहा है। [illegible] साथ पाँचो काम नही करते है, एक क्षण मे एक ही इन्द्रिय का काम होता है। [illegible] देखते समय बोलना कोई भी दो इन्द्रियो का काम साथ नहीं होता। अर्थात् [illegible] इन्द्रियो काम बन्द हो जाता है। अथवा यो भी कह सकते है कि सब देखना [illegible] देखने ही के लिये प्रज्ञा की पुष्टि करते है। इसी प्रकार सुनने के समय [illegible]

इतना प्रज्ञा की पुष्टि करते हैं। इसी प्रकार सब इन्द्रिय प्राण एक समय मे एक ही कर्म करते हुये पूर्ण रूप से प्रज्ञा मे मिल जाते है। इसीलिये प्रज्ञा पाँच ज्ञानो मे बटकर प्रत्येक ज्ञान मे अधूरी नही रहने पाती। किन्तु प्रज्ञा की जितनी मात्रा क्षेत्रज्ञ विज्ञान मे रहती है, उस पूर्ण प्रज्ञा मात्रा से एक एक ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इसलिये ऐतरेय आदि ऋषियो ने यह कहा है कि प्राणी श्वास लेते समय बोल नही सकता, और बोलने की दशा मे श्वास नही ले सकता। क्योकि श्वास लेने मे सब प्राणो का उपयोग होने के कारण बोलने के लिये प्राण की मात्रा नही बचती इसी अभिप्रायः को लेकर वेद मे एक मन्त्र कहा है कि—

एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश, स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे।
तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्तितस्त माता रेढि स उ रेढि मातरम् ॥ऋ. स. ८।६।१६

उसी अभिप्राय से कौपितक आदि ऋपियो ने प्राणाग्निहोत्र कहा है। अर्थात् प्रत्येक जीव इस प्राण के द्वारा प्रतिक्षण अग्निहोत्र करता रहता है। अर्थात् जब बोलता है तब वाक् मे प्राण (श्वास) को होमता है और जब श्वास लेता है तब प्राण मे वाक् को होमता है। तात्पर्य यह है कि देवताओ के पाँच होने पर भी प्रधान प्रज्ञा एक होने से एक समय एक ही काम होता है वही प्रज्ञा वाक् की वाक् है, प्राण का प्राण है, चक्षु का चक्षु है, श्रोत्र का श्रोत्र है और मन का मन है।

७—इन्द्रियों मे प्राण की मुख्यता

इन्द्रियो मे प्राण इन्द्रिय चारो से श्रेष्ठ है। मन इन्द्रिय शेप चार इन्द्रियो का आयतन है। चक्षु इन्द्रिय शेप चार इन्द्रियो की प्रतिष्ठा है। वाक् इन्द्रिय शेप चार इन्द्रियो मे वरिष्ठ है, और श्रोत्र इन्द्रिय शेप चार की सम्पत्ति है तात्पर्य यह है कि पाँच इन्द्रियो मे प्रत्येक इन्द्रिय शेप चार इन्द्रियो से उपयोग रखता है और सहकारी होता है। क्योकि ये पाँचो ही इन्द्रियाँ कुछ न कुछ किया करती है। कुछ व्यापार करके ही ज्ञान का उत्पादन करने मे समर्थ होती है। यह क्रिया करना प्राण के सम्बन्ध से है, ज्ञान अक्रिय है। यदि इन पाँचो मे प्राण का सम्बन्ध हटा दिया जाय तो किसी भी इन्द्रिय से कोई भी ज्ञान उत्पन्न नही हो सकता, इससे पाँचो ही इन्द्रिय प्राण के आश्रित हैं। इसलिये प्राण को सब इन्द्रियो मे श्रेष्ठ कहते है ॥१॥

इसी प्रकार मन सबका आयतन है। क्योकि मन के सम्बन्ध बिना किसी इन्द्रिय से भी कोई ज्ञान उत्पन्न नही होता। मन का स्थान हृदय से आरम्भ करके मस्तिष्क तक है, उसके अन्तर्गत मध्य मे वाक्, प्राण, चक्षु और श्रोत्र इन चारो का सन्निवेश है अर्थात् मन के आधार पर शेप चारो इन्द्रियाँ ठहरकर और मन को साथ लेकर इन्द्रियाँ काम करती है इसलिये मन चारो का आयतन कहा गया है ॥२॥

इसी प्रकार चक्षु मे जगत् के सब पदार्थ देख कर ही ज्ञान के तीन पाद उत्पन्न होते हैं। उसी से शरीर भाग मे ज्ञान उत्पन्न होकर उसी ज्ञान के विषय पर विचार करने के लिये मन उसी को कहने के लिये वाक् प्रवृत्त होती है। यदि चक्षु किसी वस्तु को न दिखाती तो मन को विचार के लिये वाक् को

कहने के लिये अवसर ही न मिलता। और श्रोत्र जो शब्दों को सुनना है [illegible]
एक शब्द का और दूसरा उसके अर्थ का। इनमें निरर्थक शब्द ज्ञान [illegible]
होता है, वह देखी हुई वस्तुओं से सम्बन्ध रखता है। इसलिये श्रोत्र ज्ञान में [illegible]
और प्राण की क्रिया है वह भी इस रूप द्रव्य शरीर से सम्बन्ध रखती है। [illegible]
प्रतिष्ठा है ॥३॥

इसी प्रकार वाक् सब इन्द्रियों के काम को कहकर ज्ञान का स्वरूप [illegible]
जो समझते हैं, उस समझ को मन नहीं कह सकता, चक्षु को देखने को [illegible]
सुनने को श्रोत्र नहीं कह सकता, केवल वाक् ही कहती है, कि मैंने समझा, [illegible]
उन चारों का ज्ञान इस वाक् को अपने पेट में लेकर स्वरूप धारण करता है। [illegible]
का विशिष्ट है (जोरदार है) और गूंगा भी ❀परा या पश्यन्ती वाक् के द्वारा [illegible]
है। इसलिये उसके भी ज्ञान में वाक् का प्रवेश है ॥४॥

इसी प्रकार श्रोत्र अन्तिम सीमा है। जिस प्रकार आत्मा की आत्मा [illegible]
चार भाग हैं, उसमें वित्त ही अन्तिम सीमा है। उसी प्रकार इन्द्रिय जन्य ज्ञान में [illegible]
है, इसलिये वह वित्त है, उसीसे उसको धन सम्पत्ति कहा है ॥ ५ ॥

इन प्राणों में मुख्यता के अनुरोध से यों क्रम है कि श्रोत चक्षु, वा[illegible]
कि श्रोत की अपेक्षा चक्षु की मुख्यता है क्योंकि श्रोत केवल शब्द मात्र [illegible]
शब्द, स्पर्श, रूप इन गुणों को ग्रहण करने का सामर्थ्य रखती है। वास्तव में [illegible]
विषय है, तथापि रूप द्रव्यों में अन्यान्य कितने ही गुणों को भी यह ग्रहण [illegible]
से पुस्तक बाँचने पर लिखित अक्षरों को देखता हुआ यह चक्षु शब्द [illegible]
शुक्र वाली वस्तु को नेत्र के समीप देखने से नेत्र पर आघात पहुँचता है। [illegible]
के तीव्र स्पर्श अनुभव करता है। और किसी वस्तु में चिकनापना व [illegible]
केवल चक्षु से ही ग्रहण किया जाता है। किसी खम्भे की गोलाई दूर से [illegible]
संख्या परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व आदि कितने ही [illegible]
इसलिये चक्षु, श्रोत्र की अपेक्षा प्रधान है। अब चक्षु की अपेक्षा वाक् प्रधान है। [illegible]
वाली आत्मा में ही ज्ञान उत्पन्न होता है किन्तु वाक् से उस आत्मा को वा [illegible]
ज्ञान कराया जा सकता है। वाक् की अपेक्षा मन प्रधान है। क्योंकि प्रथम मन [illegible]

❀वाक् ४ प्रकार की है—

१—परा (मन में),

२—पश्यन्ती (प्राण में),

३—मध्यमा } हवा में

४—वैखरी } हवा में

है जिससे यह वाक् प्रकाश करती है जो विषय मन पर नहीं आता है, उसका अभिनय यह
नहीं करती। इसलिये यह वाक् मन की कृतानुकरा (मन की कृति को अनुकरण करने वाली) है
मन के द्वारा किये हुए को ग्रहण करने वाली, इसलिये मन प्रधान है। मन की अपेक्षा प्राण प्र
क्योंकि प्राण यदि क्रिया न करे तो मन आदि सभी इन्द्रियो का काम बन्द हो जावे। यह देख
कि बिना कान का बधिर, और बिना चक्षु का अन्धा, बिना वाक् का मूक और बिना मन का
बालक जगत में जीवित रह सकता है, किन्तु प्राण के जाने से सब इन्द्रियाँ चली जाती हैं। इससे वि
सब इन्द्रियाँ प्राण बन्धन से बद्ध हैं इसीलिये वैदिक ऋषि गण पाचो इन्द्रियो को पञ्च प्राण क

८—प्रज्ञान का विज्ञान से सम्बन्ध

प्राणियो का शरीर पञ्च भूतो का बना हुआ है। उन भूतो के बने हुए शरीर के
शोणित ही प्रधान है। उस शोणित मे * अङ्गिरा व्याप्त रहता है उसके आधार से वैश्वान
रहता है, उसके आधार से तैजस आत्मा और उसके आधार से प्रज्ञान आत्मा रहती है। प्रज्ञान
भूतमात्रा, प्रज्ञामात्रा और प्राण-मात्रा ये तीनो मात्रा सबन्ध रखती हैं। कोई भी ज्ञान इन तीनो
के बिना स्वरूप नहीं रखता। प्रत्येक ज्ञान मे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, और प्रत्येक वस्तुओ क
जो भासता है वह भूतमात्रा है। किन्तु उनके स्वरूप को दिखाने वाला भिन्न-भिन्न इन्द्रियो का
मे चक्षु का ज्ञान, श्रोत का ज्ञान इत्यादि भिन्न प्रकार के ज्ञानो का भेद प्रतीत होता है वही ज्ञान
और जो इन ज्ञानो मे ज्ञान होने की भिन्न-भिन्न क्रियायें प्रतीत होती हैं वह प्राणमात्रा है।
श्रुति मे कहा है कि जिस प्रकार रथ के चक्र मे अधि (भूत) अरे (ज्ञान) और अरा धुरी से (प्र
है, उसी प्रकार भूतमात्रा प्रज्ञामात्रा से और प्रज्ञामात्रा प्राणमात्रा से बद्ध है। प्राणमात्रा ही इन
प्रधान है यह प्रज्ञा की प्राणमात्रायें क्षेत्रज्ञ के भीतर मुख्य प्राण से सबन्ध रखते हैं, और इस मु
मे चिदात्मा की चेतना व्याप्त है। इसलिये वह विज्ञानमय क्षेत्रज्ञात्मा है, और ये सब महान्
आधार से है। स्त्री पुरुष के अनुसार क्षेत्रज्ञ का महान् के साथ घनिष्ठ सयोग सबन्ध है, जि
आत्मा मिलकर एक आत्मा इस शरीर का धारण और सञ्चालन करता है।

९—प्राज्ञ की देह-भेद से भिन्नता

वैश्वानर और तैजस इन दोनो आत्माओ के साथ मिलकर रहता हुआ प्राज्ञात्मा प्रत्येक
भिन्न-भिन्न होता है। यही शरीर का अभिमानी है, इसलिये शरीर कहलाता है। जो प्राज्ञात्मा जि
का अभिमानी है उस शरीर की इन्द्रियो से ज्ञानवन् है, सुखी दुःखी है, और उस शरीर से किये
के द्वारा पापी पुण्यात्मा है। वास्तव मे शरीरावच्छिन्न यही प्राज्ञात्मा शरीर के भेद से भिन्न-भि
है क्षेत्रज्ञात्मा एक है, वह अनन्त नहीं है, किन्तु उसका इस प्राज्ञात्मा से सम्बन्ध रहता है और प्रा
अनन्त है। इसलिये प्राज्ञ के सम्बन्ध से क्षेत्रज्ञ आत्मा भी शरीर मे बद्ध प्राय (प्रतिबिम्ब बद्धप्रा

---

* अग्नि, यम, आदित्य इन तीनो मिले हुए रूपो को अङ्गिरा कहते हैं, और अ

होकर भिन्न भिन्न सा प्रतीत होता है। किन्तु यदि प्राज्ञ [illegible]
अभिमान भी छूट जाता है। इसीलिये इस शरीर के [illegible]
इसमे नही होती। यह क्षेत्रज्ञ शुद्ध मे प्राज्ञ मे अलग होकर [illegible]
कर्म्म जन्य सस्कारो के वशीभूत होकर छोटे बडे अनन्त योनियों मे [illegible]
मे उसका महान् शरीर क्षुद्र योनि मे क्षुद्र शरीर पाता है। क्षुद्रयोनि [illegible]
ज्ञान भी अल्प होता है, और इन्द्रियो की शक्तियां भी अल्प होती है। [illegible]
या शक्ति मे अपेक्षाकृत अधिकता होती है। चींटी-कीटो की अपेक्षा मनुष्य मे [illegible]
इन्द्रियशक्ति अधिक है, उसी प्रकार मनुष्य की अपेक्षा भी देवयोनि मे अधिक है। [illegible]
या १४ इन्द्रियां है। किन्तु देव योनि मे १७ अधिक इन्द्रियां है। [illegible]
लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व) और ९ निधियां है।

इस प्रकार इन्द्रियो की न्यूनाधिकता प्राज्ञ मे योनि के भेद से होती है। [illegible]
प्राज्ञ आत्मा जब छोटी योनि मे जाती है तो उसकी इन्द्रियां और इन्द्रियों की [illegible]
से कम हो जाती है और छोटी योनि की प्राज्ञ आत्मा यदि बडी योनि मे जाती है [illegible]
से इन्द्रियां या इन्द्रिय शक्ति बढ जाती है। प्रत्येक प्राज्ञ मे ज्ञान और कर्म के प्रकार मे [illegible]
परिवर्तन होता रहता है। उस प्रकृति मे जैसा सस्कार वासना स्थिर हो [illegible]
उस प्राज्ञात्मा को उस छोटी-बडी योनि मे जाने के लिये विवश कर देते है। यदि मनुष्य [illegible]
प्रेम या अधिक सहवास करे तो सम्भव है कि मनुष्य की प्रकृति मे श्वान [illegible]
करे और उसके कारण उस मनुष्य को श्वान योनि मे जाना पडे। [illegible]
का प्रभाव पडता है तो उस आत्मा की प्रकृति मे अधम सस्कार [illegible]
प्रवेश करना ही पुण्य है।

१०—प्रत्यय की वृद्धि से विज्ञान की वृद्धि

इन्द्रिय जन्य ज्ञान को 'प्रत्यय' कहते हैं। इन प्रत्ययो का [illegible]
अधिक होता जाता है, त्यो त्यो प्राज्ञ आत्मा की वृद्धि प्रतीत [illegible]
बैठा हुआ विज्ञान आत्मा बढता रहता है। सूर्य, चन्द्र, विद्युत् इन तीनों [illegible]
वैश्वानर को बढाकर साथ ही एक एक अग को बढाता रहता [illegible]
बढने से प्राज्ञात्मा भी बढा हुआ प्रतीत होता है। विज्ञानमय [illegible]
दोनो ही रहते हैं। मुख्य प्राण से कर्म इन्द्रियो का साक्षात् सम्बन्ध है, [illegible]
सम्बन्ध है। क्योकि विना ज्ञान की सहायता के कोई भी कर्म इन्द्रिय [illegible]
प्रकार प्राज्ञात्मा से ज्ञान इन्द्रियो का साक्षात् सम्बन्ध है, [illegible]
क्योकि विना क्रिया किये कोई भी ज्ञान इन्द्रिय ज्ञान उत्पन्न नहीं [illegible]
का अर्थ ग्रहण किया जाता है, उसमे अर्थ पर [illegible]
उस परमाणु के परिमाण से दृष्टि पर आता है, तो तैजस [illegible]

विज्ञान गर्भ के आकार मे आजाता है। वही चन्द्र रस धीरे धीरे तैजस आत्मा के चन्द्र भाग मे सचित होता रहता है वही सचित भाग विद्युत् के द्वारा विज्ञान के सम्मुख जब जब आता है तो उसकी 'प्रत्यभिज्ञा' या स्मरण रूप ज्ञान हुआ करता है। अर्थ रूप मे आया हुआ चन्द्र रस विज्ञान से जब तक जाता रहता है, तब तक उसको प्राज्ञात्मा कहते हैं। यद्यपि यह प्राज्ञात्मा स्वयं कुछ नही बढता, तथापि उसके सामने का स्थान जो अर्थ के आकार मे आया हुआ चन्द्र रस है वह अवश्य बढता है। उसके बढने से प्राज्ञात्मा का भी बढना प्रतीत होता है। यही प्राज्ञात्मा का बन्धन के लिये शुक्राधान सस्कार है। यह सस्कार दृढ मूल हो जाता है, जबकि उसकी कामना की जाती है। कामना ही बन्धन के लिये रस्सी या सूत का काम देती है। किन्तु यदि निष्काम ज्ञान होता है तो प्राज्ञात्मा मे आया हुआ शुक्र दृढमूल नही होता। इसलिये दृढ सस्कार न होने से प्राज्ञात्मा बद्ध नही होता। बद्ध होने पर प्राज्ञात्मा उस शुक्र के अनुसार भिन्न भिन्न गति मे जाता है। किन्तु यदि अबद्ध होकर प्राज्ञात्मा बढता रहे तो प्रज्ञान अन्त मे विज्ञान रूप होता हुआ पृथक् स्वरूप बनकर विज्ञान आत्मा मे लीन होता रहता है। इससे विज्ञान आत्मा के साथ सूर्य मे लीन होकर मुक्त हो जाता है।

११—स्वर्ग में नित्य जाना

यह प्राज्ञात्मा, आनन्द, विज्ञान, मन, और अन्न इन पाचो से कदापि शून्य नही होता, और सभी कामनाये उसकी सत्य ही होती हैं। यह सत्य सकल्प ही यहा से जाता है। तात्पर्य यह है कि लोक अतीत चिदात्मा मे आनन्द की मात्रा, सूर्य से विज्ञान की मात्रा, चन्द्रमा से मन की मात्रा अन्तरिक्ष से प्राण की मात्रा, और पृथ्वी से अन्न की मात्रा–आकर यह प्राज्ञ आत्मा पञ्च कोश का बनता है। सब से बाहर अन्नमयकोश, उसके भीतर प्राणमयकोश, उसके भीतर मनोमयकोश, फिर भीतर विज्ञानमयकोश, उसके भीतर आनन्दमयकोश और उसके भी भीतर हमारी प्राज्ञआत्मा है। इन पाचो कोशो के भीतर प्राज्ञात्मा पर भिन्न २ स्थान मे ये पाचो धर्म आकर सचित हुए है। परन्तु ये पाचो ही इस प्राज्ञ आत्मा मे स्थिर नही रहते। प्रतिक्षण ये पाचो अपनी २ योनि पर जाया करते हैं, यह जाना इनका सत्यसकल्प है। अर्थात् प्राज्ञ मे एक ही स्थान मे रहकर भी नियम से परिवर्तित (उलटकर) होकर भिन्न २ स्थानो मे भिन्न २ मार्ग मे गति करने में ये कदापि चूकते नही, अवश्य ही अपने प्रभव स्थान पर पहुँचते है, यही इनके सकल्प की सत्यता है। इस प्रकार पृथ्वी, अन्तरिक्ष, चन्द्रमा, सूर्य और परोरजा इन पाचो स्थानो मे जाना ही स्वर्ग मे नित्य जाना है। परन्तु इस जाने से यह कल्पना नही करना चाहिये कि प्राज्ञआत्मा इन पाचों मे कभी शून्य हो जाता है। जिस प्रकार एक जलपूर्ण पात्र जिसमे चन्द्रमा का प्रतिविम्ब है, यदि उसको एक कोस ले जायें तो भी उस जल मे चन्द्रमा का प्रतिविम्ब दीखता ही रहेगा। परन्तु विज्ञान कहो कि चन्द्रमा की वह रश्मि जिससे पहले प्रतिविम्ब बना था प्रत्येक पद मे बदलता जा रहा है। तथापि अविच्छिन्नगति मे संयोग, वियोग होते रहने के कारण जल मे प्रतिविम्ब स्थिर सा प्रतीत होता है। इसी प्रकार यहा प्राज्ञ मे भी ये पाचो धर्म अविच्छिन्नगति से प्रतिक्षण आते जाते रहते हैं। इसी कारण नित्य स्वर्ग जाने पर भी प्राज्ञआत्मा नित्य, पञ्चकोशमय बना रहता है। जिस कारण सत्य के सत्य या उदर मे अनृत मे प्राज्ञ मे उन पञ्च कोशो का व्यभिचार नही और प्रज्ञा के अर्थो का भोग इन पाचों रूपो मे प्रतिक्षण होता रहता है। इसी मे इन पांचों का स्वर्ग मे नित्य जाना हमारे विज्ञान मे नही

आता । जैसे किसी हौद मे समान दो मार्गों मे पानी आना जाना रहे और [illegible]
तो हौद का जल स्थिर प्रतीत होगा । इसी प्रकार ये पाचों धर्म [illegible]
ये पाचों ही जब अपने २ प्रभव से मौलिक रूप आते हैं, तब वे सत्य है और [illegible]
अपने प्रभव मे जाते हैं तो उस समय भी मौलिक रूप होने के कारण वे सत्य है । [illegible]
प्राज्ञात्मा मे आकर एकत्रित होकर मिश्रित रूप मे होते है । तब उनका रूप मौलिक [illegible]
या मिथ्या है । इसी बात की सूचना के लिये 'सतिय' शब्द या सत्य शब्द होता [illegible]
शब्द मे 'स' पूर्ण रूप है और 'य' पूर्ण रूप है । किन्तु 'त' बिना स्वर के होने से [illegible]
है, इसीलिये उसको 'ति' रूप मे कहना अनृत या मिथ्या है । तात्पर्य यह है कि [illegible]
करता है, कि इस जगत् की प्रत्येक वस्तु आदि मे पूर्णरूप या मौलिक सत्य थी और [illegible]
मौलिक सत्य ही रहेगी । मध्य मे जो कुछ यह जगद् रूप दीखता है सब मिथ्या है ।

१२—प्राज्ञ आत्मा का मुख्य स्वरूप

(क) इस शरीर मे अन्तरिक्ष से वायु आकर इस शरीर का निर्माण करता है । [illegible]
मे व्याप्त होकर केन्द्र की शक्ति से अधिक मात्रा मे वह वायु सर्वाङ्ग शरीर को [illegible]
है । किन्तु केन्द्र इस शरीर मे पाच है—ब्रह्मरन्ध्र, कण्ठ, हृदय, नाभि, योनि या [illegible]
केन्द्रो का भी केन्द्र 'हृदय' है । इस हेतु सब केन्द्रो की अपेक्षा हृदय मे अधिक मात्रा मे [illegible]
प्रकार बद्ध और स्थिर हो जाता है । इसी वायु को जो कि सर्वाङ्ग शरीर मे व्याप्त होता [illegible]
अधिक मात्रा से है उसको व्यान कहते हैं । इस व्यान मे स्वभावत. विशेषता [illegible]
आये हुए प्राणवायु को अपने आघात से उलटा द्युलोक मे फेंकता है । इसी प्रकार [illegible]
वायु को अपने आघात से पृथ्वी की ओर फेंक देता है । इस प्रकार तीन लोकों के [illegible]
सिद्ध होते हैं । प्राण आता हुआ और उदान उलटा जाता हुआ ये दोनो दिव्य वायु है, [illegible]
हुआ समान और पृथ्वी मे उलटा जाता हुआ अपान ये दोनो पृथ्वी की वायु है और [illegible]
वाला अन्तरिक्ष का मध्यवर्ती वायु व्यान है । इन पाचो वायुओ मे व्यानवायु [illegible]
जो घर्षण होता है उसी से एक नयी यौगिक अग्नि उत्पन्न होती है इसे 'वैश्वानर' [illegible]
को तीन विश्व कहते हैं । इन तीनो लोको के भिन्न २ तीनो प्राण वायुओ को [illegible]
अर्थ सञ्चालन करनेवाला है । तीनो प्राणवायु तीनो विश्वो का सञ्चालन [illegible]
को विश्व का नर अर्थात् विश्व के चलाने वाले को विश्वानर कहते हैं । [illegible]
मेल से यह शरीराग्नि उत्पन्न होती है इसी से इसको वैश्वानर कहते हैं । [illegible]
का गरमी मालूम होती है, वह उस पिण्ड का वैश्वानर अग्नि है [illegible]
भूतआत्मा है ।

(ख) यह वैश्वानरअग्नि हिरण्यरेता है अर्थात् इसके परमाणु [illegible]
यह वैश्वानर अग्नि अपने परिमाण के अनुसार जहाँ तक व्याप्ति करता है [illegible]
जाता है । अर्थात् अण्डे के आकार मे सुवर्ण का गोला [illegible]

है। उस हिरण्मय अण्ड के केन्द्र में अग्नि की प्रबलशक्ति के कारण जो एक प्रकार का प्राण वायु स्थिर रहता है, उसे ही ब्रह्मा कहते हैं। वैश्वानर के हिरण्यमय पिण्ड मे सूर्य, चन्द्रमा और विद्युत ये तीनो ही तीन २ परिवारों के साथ व्याप्त होकर जो अण्ड के केन्द्र मे अपनी शक्ति का आधान करते हैं वही शक्ति तीन तेजो से उत्पन्न होने के कारण तैजस कहलाता है। ब्रह्माण्ड रूपी अण्ड में जो हिरण्यगर्भ कहा जाता है, वही प्राणियो के शरीर मे तैजस कहलाता है और इसी को पौराणिक भाषा मे ब्रह्मा कहते है। यही ब्रह्मा हिरण्यगर्भ या तैजस रूप में प्रत्येक प्राणियो का दूसरा भूतआत्मा है।

(ग) उस हिरण्यगर्भ या तैजस रूपी ब्रह्मा मे विद्युत् के कारण सूर्यरस और चन्द्ररस विभक्त होकर दो स्वरूप धारण करते हैं। एक सूर्य प्रधान जिसमे चन्द्ररस गौण है, वह स्वरूप पुरुष की शक्ति रखता है और दूसरा चन्द्र या सोम प्रधान जिसमे सूर्यरस गौण (सहकारी) रहता है, वह स्त्री का स्वभाव रखता है। इस प्रकार एक ही ब्रह्मा स्त्री और पुरुष के स्वरूप में दो हो जाता है। ये दोनो ही नित्य सयुक्त रहते हैं, यहा तक कि प्रत्येक पुरुष या प्रत्येक स्त्री के शरीर मे ये दोनो स्वरूप मिलकर रहते हैं। दाहिना भाग पुरुष का है और वाम भाग स्त्री का है पुरुष भाग को इन्द्र कहते हैं और स्त्री भाग को 'विराट्' किन्तु पुरुष के शरीर मे इन्द्र अर्थात् पुरुष भाग प्रधान रहता है। इसी प्रकार स्त्री के शरीर मे विराट् अर्थात् स्त्री आत्मा ही प्रधान रहती है। इसी प्रधानता के कारण जगत् मे स्त्री पुरुष कहकर दो स्वरूप के जीव दिखाई पडते हैं। स्त्री या पुरुष इन दोनो मे से प्रत्येक के शरीर में स्त्री आत्मा या पुरुष आत्मा मिलकर एक तीसरा स्वरूप उत्पन्न करते हैं जिस को भी 'विराट्' ही कहते हैं। 'विराट्' यह शब्द एक छन्द का नाम है, जिसमें १० अक्षर अर्थात् १० अवयव मिलकर कोई स्वरूप बनता हो वह विराट्छन्द का होता है इसीलिये विराट् कहलाता है। स्त्री आत्मा या पुरुष आत्मा दोनो मिलकर जो नया स्वरूप उत्पन्न होता है वह स्वभाव से ही १० धर्मों का ग्रहण करने वाला होता है, इसी से इसे विराट् कहते हैं ये १० धर्म ये हैं—१—प्राण, २—देवता, ३—ऋतु, ४—दिक्, ५—छन्द, ६—स्तोम, ७—पृष्ठ, ८—साम, ९—ग्रह १०—ऋषि।

जगत् मे कोई भी ऐसी वस्तु नही है जो इन दसो का धारण किये हुए न हो अथवा यो कहिये कि इन दसो के व्यूह को ही वस्तु कहते हैं। सभी वस्तुएं इन्ही दसो धर्मों से बनी हुई हैं।

१—प्राण

इनमे भी प्राण १० प्रकार का चेतन शरीर मे देखा जाता है, कान, आंख, घ्राण ये तीनो दो-दो होने से छः हो गये, वाक्, नाभि, शिश्न और गुदा इन चारो के योग से १० प्राण होते हैं। इन से आत्मा भिन्न २ प्रकार के अन्नो को ग्रहण करता है। किन्तु अचेतन धातु इत्यादि इन १० प्राणों को न रखते हुए भी ये प्राण अवश्य रखते हैं। जिससे वे भी अग्नि, सोम आदि पदार्थों को खाया करते हैं। जगत् में ऐसी कोई भी वस्तु नही है जो बाहर से अन्न को ग्रहण न करता हो या अपने शरीर के धर्मो को बाहर न निकलता हो, इनमे अन्न ग्रहण करना प्राण का काम है, और निकलना अपान का काम है। इससे प्रत्येक वस्तु मे प्राण, अपान का होना सिद्ध है। (दो प्राणो के सिद्ध होने से पांच प्राण सिद्ध होते हैं)

२—देवता

इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु मे पाच जाति के देवता रहते है—अग्नि, वायु, सूर्य, [illegible] अग्नि ८, वायु ११, आदित्य १२, चन्द्र ३, दिक् ३ इनके अतिरिक्त [illegible] रहते है प्रत्येक वस्तु मे जो एक प्रकार का बल अथवा वस्तु भार होता है [illegible] प्रत्येक वस्तु के जो अङ्ग प्रत्यङ्ग नियतरूप से जमाव है या जो उनमे [illegible] और इन वस्तुओ मे जो (अन्न का ग्रहण) आदान करना और मल का निकालना [illegible] क्रिया होती है उसका कारण इन मे सूर्य है।

अन्न, ऊर्क, प्राण इनके परस्पर परिग्रह से जो चक्कर बनता है [illegible] हम अन्न खाते हैं उसको प्राण ही भीतर ले जाता है, अर्थात् प्राण मे अन्न [illegible] जाता है। अन्न के रस से एक प्रकार का बल होता है, जिसे ऊर्क कहते हैं। [illegible] है, और प्राण से फिर अन्न खाया जाता है। यह चक्र की क्रिया जड, चेतन सभी [illegible] है। यही सूर्य का अंश है। ये तीनो ही देवता गरम हैं, किन्तु [illegible] वस्तु मे घनता उत्पन्न होती है और जिनसे सूक्ष्म आत्मा के ऊपर स्थूल [illegible] भिन्न वस्तुओ का स्वरूप बन जाता है। जो कुछ इन वस्तुओ मे वस्तुओ के [illegible] देवताओं के बल से उत्पन्न हुए हैं। अर्थात् दोनो प्रकार के सोम से स्थूल [illegible] अग्नि से इनके भीतर सूक्ष्म भाग बने हुए हैं। इसीलिये यह सिद्धान्त [illegible]

'अग्निषोमात्मकं जगत्' अर्थात् सम्पूर्ण जगत् अग्नि और सोम से बना हुआ है।

३—ऋतु

प्रत्येक वस्तु मे ऋतु का सयोग है। यानि ऋतुधर्म जड, चेतन दोनो मे समान [illegible] और चेतन जीवो मे ऋतु के समय सन्तान उत्पन्न होता है यह ऋतुधर्म उनमे [illegible] है जैसा कि गरमी के दिनो मे आम का फल होता है, शीतकाल मे नही होता। [illegible] ऋतुओ मे होते है। अर्थात् जब ऋतुधर्म उनमे आता है तब उत्पत्ति [illegible] अभाव मे ऋतुधर्म के अभाव से उत्पत्ति नही होती। इससे सिद्ध हुआ [illegible] प्रवेश निर्गम (निकलता) होता रहता है। ऋतु यद्यपि प्रत्येक वस्तु [illegible] वे सब भिन्न २ है। किन्तु सर्व साधारण ऋतु ६ ही प्रकार की है। १—[illegible] ऋतु हैं जिनमे अग्नि की मात्रा बढती जाती है तत्पश्चात् ४—शरद, ५—हेमन्त, ६—शिशिर [illegible] वे है, जिनमे अग्नि की मात्रा गिरती जाती है इस प्रकार [illegible] दिन की मानी जाती है, किन्तु पदार्थों मे इनका असर ५ प्रकार से [illegible] जाती है, जो कि एक एक ७२ दिन की होती है। इन पाचो ऋतुओ [illegible] छत्तीस २ दिन के १० ऋतु सिद्ध होते हैं, इनका सम्बन्ध प्रत्येक वस्तु मे [illegible]

४—दिक्

प्रत्येक वस्तु चारो ओर से दबा या घिरा हुआ प्रतीत होता है। अर्थात् प्रत्येक वस्तु मे मुटाई होती है जो कि सीमा से बाहर जिन धर्मों से उसकी मुटाई जुदा होती है उन्ही धर्मो को दिक् कहते हैं। यद्यपि मुटाई वाले वस्तु मे अन्तिम पृष्ठ के परमाणु के अनुरोध से ये दिक् अनन्त हो सकती है, तथापि समझने मे सौकर्य (आसानी) के लिये १० दिशा मानी जाती है। ४—प्रदिशा। ४—उपदिशा और २—अधः ऊर्ध्व। इन दस दिशाओ से प्रत्येक वस्तु जिनमे मुटाई है अवश्य ही घिरे हुए होते हैं। जिनमे ये १० दिशा नही हैं उनमें मुटाई भी नही होती और वे पृथक् कोई वस्तु कहकर समझे नही जाते, इसलिये वस्तु की दिशा भी साधारण धर्म है।

५—छन्द

प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई परिमाण होता है यह परिमाण दो प्रकार का है—१—वय और २—वयोनाध। जिन द्रव्यो से वस्तु बनी हुई होती है उसे 'वय' कहते है। वय की न्यूनाधिकता या उसकी जाति से वस्तु के स्वरूप मे भेद होता है। इसी प्रकार उस वस्तु के आयतन को 'वयोनाध' कहते हैं उस भेद से भी वस्तु मे भेद होता है जैसे कोई वस्तु गोल है या त्रिकोण या चौकोर है। इन्ही दोनो परिमाणो को छन्द कहते हैं। किन्तु इसमें 'वय' को वर्णछन्द और 'वयोनाध' को मात्रा छन्द कहते है। वेद मे अधिकतर वर्णछन्द का ही निदर्शन है। कोई वस्तु आग्नेय धर्मो से बना होता है उसे गायत्री छन्द कहते हैं और ऐन्द्र ११ धर्म वाले को त्रिष्टुप्छन्द और आदित्य धर्म वाले को जगती १२ छन्द इत्यादि इत्यादि कहते है। तात्पर्य यह है कि कोई भी वस्तु इन दोनो छन्दो से रहित नही है इसलिये छन्द भी सब वस्तुओं का साधारण धर्म है।

६—स्तोम (प्राणराशि)

प्रत्येक वस्तु मे प्राणमय देवो की राशि जिन संख्याओ मे प्रायः सन्निविष्ट (जमी हुई) हुआ करती है उन्ही प्राण राशियो को स्तोम कहते हैं। यह स्तोम ४ प्रकार का होता है—१—अभिप्लव स्तोम, २—पृष्ठ्यस्तोम*, ३—छन्दोमस्तोम, ४—अविवाक्यस्तोम। अभिप्लवस्तोम ३ प्रकार का है। १—ज्योतिष्टोम [देवता], २—गोष्टोम [भूत], ३—आयुष्टोम [आत्मा]। पृष्ठ्यस्तोम ६ प्रकार का है—१—त्रिवृत्त (९), २—पञ्चदश (१५), ३—सप्तदश (१७), ४—एकविंश (२१), ५—त्रिणव (२७) ६—त्रयस्त्रिंश (३३)। छन्दोमस्तोम तीन प्रकार का है। १—चतुर्विंश (२४) २—चतुश्चत्वारिंश (४४) ३—अष्टचत्वारिंश (४८), अविवाक्यस्तोम एक ही प्रकार का हैं। पञ्चविंश (२५) इनमे अभिप्लवस्तोम से तात्पर्य प्राण की जातियो से है। तीन ही प्रकार के प्राणों से जगत् के सब पदार्थ बने हैं। इन्ही तीनो प्राणो की समष्टि यह सूर्य है। इसमें ज्योतियों मे देवताओं की सब जाति और गौ से भूतो की सब जाति और आयु से आत्मा के सब भेद इन तीनों पदार्थों के अतिरिक्त इस त्रैलोक्य भर मे कहीं कुछ नही है, इन्ही तीनो के जमाव को

* पृष्ठ्यस्तोम का सम्बन्ध वषट्कार (जो वास्तव मे वौषट्कार) से है।

अभिप्लोवस्तोम कहते हैं। इसके सन्निवेश (जमने) मे प्राणो की संख्या प्रायः १० [illegible]
जिनमे ६ को पृष्ठ्य कहते हैं, क्योंकि उनसे तीन अग्नि और दो सोम और [illegible]
नियत होती हैं। आगे की तीन छन्दोमा इसलिये कहे जाते हैं कि उनकी संख्या [illegible]
हुई है जैसे चतुर्विंश गायत्रीछन्द से, चतुश्चत्वारिंश त्रिष्टुपछन्द से और अष्टचत्वारिंश [illegible]
होता है। शेष पञ्चविंश किसी वस्तु या छन्द की संख्या से तुल्य नहीं होता। [illegible]
इस प्रकार १० स्तोम प्रत्येक वस्तु मे नियत होते हैं इसलिये स्तोम भी प्रत्येक वस्तु [illegible]

७—पृष्ठ

प्रत्येक वस्तु मन, प्राण, वाक् का बना हुआ होता है। उसके मन, प्राण, [illegible]
पृष्ठ कायम करते हैं। १–अन्तःपृष्ठ जो स्थूल, दृश्य और स्थानावरोधक होता है और [illegible]
स्थानानभिमानी होता है। इस दूसरे पृष्ठ मे वस्तु के केन्द्र से लेकर अन्तिम [illegible]
नियत रहते हैं, जिनको त्रिवृत्, पञ्चदश, आदि स्तोम कहते है। ये छओं पृष्ठ [illegible]
कार' कहलाता है। यह 'वषट्कार' 'वौषट्' को कहते हैं। वौषट् से तात्पर्य [illegible]
है। यहां पर*'अ' और 'उ' मिलकर 'ओ' बनता है। वाक् के उदर मे ओ [illegible]
जिसका तात्पर्य उस वाक् से है जिसके उदर मे मन और प्राण प्रविष्ट हो। [illegible]
लिये हुए वाक् के छः विभाग को वौषट् या वषट्कार कहते है। यद्यपि सभी [illegible]
छः पृष्ठ हुआ करते हैं। तथापि उन छः पृष्ठो मे अन्तिम वहि पृष्ठ सब वस्तुओं मे [illegible]
जाता। किसी किसी वस्तु मे वह पृष्ठ छोटा होता है, और किसी मे बड़ा और [illegible]
इसलिये उन सबका नाम भिन्न भिन्न प्रकार का है। जैसा कि पृथ्वी के वहि पृष्ठ [illegible]
हैं। सूर्य के वहि पृष्ठ को वृहत् पृष्ठ कहते हैं। चन्द्रमा के वहि पृष्ठ को [illegible]
वस्तु भेद से ये वहि पृष्ठ नाना प्रकार के हैं और उनके भिन्न-भिन्न नाम है।

रथन्तर भी ३ प्रकार का होता है—१–रथन्तर, २–वैरूप, ३–[illegible]
प्रकार के वाक् प्राणो को अपने शरीर से निकालती है–१–वाक्, २–गौ, ३–[illegible]
सीमाओ को रथन्तरादि कहते है। इसी प्रकार सूर्य से भी ज्योति, गौ, आयु [illegible]
जिनकी भिन्न भिन्न सीमाओ को क्रम से वृहत्पृष्ठ, वैराजपृष्ठ, रैवतपृष्ठ कहते हैं [illegible]
ही भेद है।

यद्यपि पृष्ठ शब्द साम का नाम है और एक साम एक प्रकार का [illegible]
मे एक के ऊपर दूसरा इस प्रकार सहस्र होते हैं, किन्तु उन सहस्र मे अग्नि, [illegible]
की सीमा के अनुरोध से जो खास खास सीमावृत्त नियत कर लिये गये हैं उन [illegible]
किन्तु जो चरम (आखिरी) सीमा नियत होती है उन्हीं वहिपृष्ठो के लिये [illegible]

---

*यहां पर 'अ' से मन का और 'उ' से प्राण का संकेत है।

[illegible] में पाते हैं। यद्यपि यह पृष्ठ अनन्त हैं तथापि उनमे से कोई न कोई प्रत्येक वस्तु में [illegible] रहता है, इसलिये वहि पृष्ठ भी प्रत्येक वस्तु का साधारण धर्म है।

८–साम

प्रत्येक वस्तु का जीवन, देश और काल से परिच्छिन्न होता है। अर्थात् किसी प्रदेश मे रहकर [illegible] जिस प्रकार अपनी सीमा बहिःपृष्ठ तक नियत करता है उसी प्रकार कालिक परिच्छेद में [illegible] कुछ समय के पीछे उसका अभाव हो जाता है। इसी कारण से उसके जीव के अवसान को [illegible] कहते हैं। जीवन काल से लेकर अवसान काल तक यदि उसकी अवस्था देखी जाय तो असंख्य होगी, [illegible] ७ अवस्था उस साम की भक्ति कही जाती है—

१–हिंकार, २–प्रस्ताव, ३–आदि, ४–उद्गीथ, ५–प्रतिहार, ६–उपद्रव, ७–निधन। किसी वस्तु [illegible] मे जो वस्तु का सम्भार (सामान) एकत्र होने लगता है वह हिंकार है। जब उस सम्भार से [illegible] बनने का उद्योग किया जाता है वह प्रस्ताव है उसके अनन्तर जब वस्तु का स्वरूप बन जाता है तो [illegible] आदि है, उस वस्तु के जीवन काल की प्रौढ अवस्था उद्गीथ है, उसकी गिराव की दशा प्रतिहार है, [illegible] स्वरूप में विघ्न होना उपद्रव है' और उसके स्वरूप का नाश होना निधन है। इस प्रकार ७ [illegible] प्रायः होती हैं इन्ही सातो से मिक्त उस वस्तु का साम होता है।

यदि इस साम को संक्षेप से देखें तो ५ अवयव भी कह सकते हैं—१–हिंकार, २–प्रस्ताव, ३–उद्गीथ, ४–प्रतिहार, ५–निधन, और भी संक्षेप से देखें तो तीन अवयव हो सकते हैं—१ प्रस्ताव [illegible]–उद्गीथ, ३–प्रतिहार। इनमे उद्गीथ को मुख्य साम का अवयव कह सकते हैं, क्योकि वस्तु का स्वरूप [illegible] यहीं पूर्णता को प्राप्त होती है यह उस वस्तु की पूर्णमासी है, और हिङ्कार निधन ये दोनो अमावास्या [illegible]। इसी उद्गीथ को ओंकार अर्थात् ओम्कार को ऋग्वेद आदि वेदो मे जिस प्रकार प्रणव कहते हैं उसी [illegible] सामवेद मे उसे उद्गीथ कहते हैं। उद्गीथ मे ही उस वस्तु की प्रतिष्ठा है उसी प्रकार ओकार ही [illegible] की प्रतिष्ठा है। इस सामके उद्गीथ आदि अवयवो के बहुत से उदाहरण छन्दोग्य उपनिषद् [illegible] मे दिये हुए हैं वे सब कालिक उदाहरण हैं। किन्तु प्रत्येक वस्तु के दैशिक परिच्छेद मे भी उसी [illegible] तीन या पांच या सात या असंख्य साम की भक्तिया हो सकती हैं। इसलिये यह साम भी पैदा [illegible] प्रत्येक परिच्छिन्न वस्तु का साधारण धर्म है।

९—ग्रह

प्रत्येक वस्तु मे अग्नि प्रज्वलित रहती है, उन्ही पात्रो को ग्रह कहते हैं। वह अग्नि तीन प्रकार [illegible]। १–गार्हपत्याग्नि जो पृथ्वी की अग्नि है, २–आहवनीयाग्नि जो सूर्य की अग्नि है, और ३–[illegible] जो अन्तरिक्ष की अग्नि है। इन तीनों मे गार्हपत्य के सम्बन्ध से आहवनीय उत्पन्न होता है, [illegible] आहवनीय मे सोम की आहुति रूप यज्ञ होता रहता है, और वही यज्ञ हमारा जीवन है।

इस प्रकार ये ४० ग्रह जिनमे १३ आदि के अथवा ऋतुग्रहो को १२ गिनने से आदि के १८ ग्रह ये प्रातः सवन के हैं और पीछे ६ ग्रह मध्याह्नसवन के हैं और शेष ६ ग्रह सायसवन के हैं। तात्पर्य यह है कि विज्ञानमय मनुष्य के शरीर में ४० पदार्थ ऐसे हैं जिनमे चन्द्रमा आदि से सोमरस संचित होता है। अर्थात् स्वभाव से ही आकाश से सोमरस को ग्रहण करके अपने भीतर भर लेते हैं, और फिर आहव-नीय कुण्ड में अर्थात् हमारे विज्ञानमय और आत्मा मे सवन अर्थात् डालते रहते हैं। जिससे सोम रूपी घृत द्वारा यह विज्ञानमय हमारी आत्मा प्रज्वलित रहती है। यदि इस प्रकार सोम की आहुति इसमे न होती तो यह विज्ञानमय-आत्मा निरन्तर १०० वर्ष तक शरीर मे विद्यमान नही रह सकती।

यद्यपि मनुष्य के शरीर मे ही इस प्रकार ४० ग्रह देखे जाते हैं। किन्तु अचेतन वस्तुओ मे भी इन ४० ग्रहो मे से न्यूनाधिक कितने ही ग्रह अवश्य पाये जाते हैं इसलिये ये ग्रह भी सब वस्तुओ के साधारण धर्म हैं।

१०—ऋषि

प्रत्येक वस्तु मे जितने कार्य होते हैं, उनका कारण उस वस्तु मे सन्निविष्ट देवता और असुर हैं ये देवता और असुर भी यद्यपि प्राण है, तथा ये यौगिक रूप होने से कार्य हैं। अर्थात् ये सब भिन्न-भिन्न प्राणो से मिलकर उनका मौलिक रूप नष्ट होकर नये रूप धारण करने से देव और असुर ये नाम पड़ते है। इनके मौलिक प्राणो को 'पितर' कहते हैं, किन्तु ये पितर भी यौगिक प्राण हैं। इनके भी कोई मौलिक भिन्न-भिन्न प्राण हैं, जिनको ऋषि कहते हैं इसीलिये भगवान् मनु कहते हैं।

ऋषिभ्यः पितरो जाताः, पितृभ्यो देवदानवाः।
देवेभ्यश्च जगत् सर्वं चरंस्थापवनु पूर्वशः ॥

ये ऋषिगण अयौगिक होने से ये सर्वदा असंपृक्त (बेमिले हुये) शुद्ध रूप मे रहने वाले भिन्न-भिन्न प्राण है, जगत् के मूलरूप हैं। यद्यपि ये ऋषि अनन्त है तथापि उनमे से १० ऋषि विशेष उपयोगी माने जाते हैं। १ भृगु, २ अङ्गिरा, ३ अत्रि, ४ पुलस्त्य, ५ पुलह, ३ क्रतु, मरिचि, ८ वशिष्ठ, ९ दक्ष, १० कौशिक (विश्वामित्र) इन्ही १० ऋषि प्राणो मे जगत् के संपूर्ण कार्य प्रातः उत्पन्न होते है। इसीलिये ये ऋषिगण भी प्रत्येक वस्तु के साधारण धर्म हैं।

इस प्रकार ये १० पदार्थ प्राण, देवता, ऋतु, छन्द, दिक्, सोम, पृष्ठ, साम, ग्रह, ऋषि, सभी वस्तुओ मे समान रहते हैं। अर्थात् इन्ही १० धर्मों के समुदाय को वस्तु कहते है। जिस वाक् मे १० अक्षर हो उसको विराट् छन्द कहते हैं। जगत् के प्रत्येक पदार्थ वाक् मे बने हुए वाक् रूप हैं, और उनके प्रत्येक रूप मे उपरोक्त १० अवयव होते हैं। इसलिये उनको भी विराट् कहते हैं। जगत् की प्रत्येक वस्तु एक एक विराट् है। और उन सब की समष्टि रूप सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भी एक वस्तु है और उसमे भी ये ही १० धर्म समान हैं इसलिये वह भी एक विराट् है।

ब्रह्मा जो स्वभाव से ही दो शरीर धारण करता है उनमें एक [illegible] दूसरी मूर्ति भूतधात्री स्त्री रूपा है। पुरुष स्वरूप सूर्य में या द्यौ में मुख्यतया [illegible] व्याप्त रहता है। इसी प्रकार स्त्री मूर्ति वह भूतधात्री मुख्यतया पृथ्वी में [illegible] व्याप्त है। इसी प्रकार शरीर में भी पुरुष आत्मा नाभि में ऊपर और स्त्री [illegible] मुख्यतया रहकर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। एक प्राण प्रधान है, दूसरा भूत प्रधान है। [illegible] पौराणिक-परिभाषा में पुरुष को स्वयम्भू मनु और स्त्री को शतरूपा कहते हैं। [illegible] पुरुषों के योग से मैथुनीसृष्टी अर्थात् यौगिक सृष्टी प्रारम्भ होती है। इन दोनों [illegible] पुरुष उत्पन्न हुआ उसे ही विराट् कहते हैं। विराट् का अर्थ १० अवयव वाला है। [illegible] वर्णन ऊपर हो चुके हैं। इस विराट् पुरुष को भी मनु कहते हैं। इस विराट् मनु [illegible] शतरूपा के सयोग से वैराजमनु उत्पन्न होता है। उस वैराज मनु में १० ऋषियाँ [illegible] अयौगिक अथात् मौलिक रूप मे प्राण है। इन्ही ऋषियों के परस्पर सयोग से [illegible] पितर उत्पन्न होते हैं, उनमे ३ के नाम ये हैं—१ सोमसत, २ बर्हिषत, ३ अग्निष्वात्ता [illegible] के नाम ये हैं—१ अविर्मुक्, २ आज्यपा, ३ सोमपा, ४ सुकाला—

इन्ही सात पितरो के परस्पर सयोग से देवता और असुर उत्पन्न होते हैं, और [illegible] के सयोग से जगत् के सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं ये सब प्राण पुरुष रूप है। प्रत्येक पुरुष [illegible] के सयोग से पञ्च महाभूतो का सयोग होता रहता है, जिसके प्राणो का आधार यह शरीर [illegible] है, यही सर्वत्र सृष्टि का क्रम है।
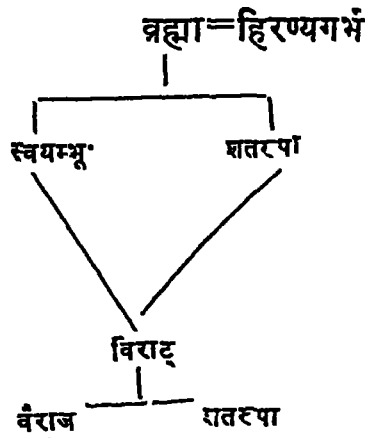
३ देवा —असुराः

४ भूतग्राम विग्रहा·

५ गन्धर्वा

इनके समष्टि से जो वैराज आत्मा उत्पन्न हुआ उसे ही प्राज्ञ कहते हैं। इसमें १० ऋषि या अन्यान्य अनन्त ऋषियों का संग्रह रहता है। इसलिये जिन ऋषियो का उसमें समावेश हो गया है उनकी वृत्तियां प्राज्ञात्मा मे उत्पन्न होती है। किन्तु जिन ऋषियो का समावेश नही हुआ उनकी वृत्तिया भी न्यूनाधिक उत्पन्न होती है। ये वृत्तिया यद्यपि ऋषि के भेद से अनन्त हैं, तथापि निदर्शन (बानगी) के लिये १० ऋषियो की १० वृत्तिया इस प्रकार कही गई हैं—

१ मरीचि	—	मभूति=उत्पादन शक्ति।
२ भृगु	—	ख्याति=यश।
३ अङ्गिरा	—	स्मृति।
४ अत्रि	—	अनुसूया=गुणो को अवगुण करके कहना।
५ पुलस्त्य	—	प्रीति।
६ पुलह	—	क्षमा।
७ क्रतु	—	सतति=उत्साह शक्ति।
८ दक्ष	—	अनुरक्ति=तत्परता।
९ वसिष्ठ	—	ऊर्जा=काम कैसा ही कठिन हो उस से पीछे न हटना।
१० नारद	—	कलह=पिशुनता, चुगली।
(गौमित)		(बृहती) = बोलने का माद्दा।

प्राज्ञआत्मा की ७ अवस्था

इस प्राज्ञआत्मा की ७ अवस्था होती है। १ जाग्रत्, २ स्वप्न, ३ सुषुप्ति, ४ मोह, ५ मूर्छा, ६ मृत्यु, ७ मुक्ति। ये सातो अवस्था इस प्राज्ञआत्मा की उपाधि संयोग के वश होती है। यह प्राज्ञआत्मा इन्हीं सातों में से किसी न किसी अवस्था मे रहता है। इनसे अतिरिक्त यह प्राज्ञआत्मा कभी नही रहता। इनका विचार इस प्रकार है—

१—जाग्रत्

जाग्रत् अवस्था, जबकि यह प्राज्ञआत्मा इन्द्रियो के द्वारा अथवा सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वाक् और आत्मा इन पाच ज्योतियो के द्वारा बाहर से अन्न ग्रहण करता है और उसी से उसका स्वरूप बनता है तो उस अवस्था को जाग्रत् कहते हैं। यद्यपि यह प्राज्ञआत्मा विज्ञानमय क्षेत्रज्ञआत्मा से एक क्षण भी दूर नहीं रहता, तथापि जाग्रत् अवस्था मे विज्ञान को साथ लिये हुए यह इन्द्रियो के द्वार पर विद्यमान रहता है और वहा पर पञ्चज्योति के द्वारा आये हुए अन्नो को लेकर उनके संस्कारो को विज्ञान मे पहुंचाया करता है। इस क्रिया की दशा को ही जाग्रत् अवस्था कहते है।

२—स्वप्न

विज्ञानमय क्षेत्रज्ञआत्मा प्राणी के ही हृदय मे सन्निविष्ट रहता है। किन्तु उसका प्रकाश, प्रदीप प्रकाश के अनुसार सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त रहता है उसी विज्ञान के साथ यह प्रज्ञानआत्मा भी विज्ञान

कीलो के साथ हृदय मे बद्ध रहकर अपनी रश्मियो को सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त रखता है। प्रज्ञान की रश्मियाँ विशेषकर शोणित मे और इन्द्रियो मे व्याप्त रहती है। जब कि पूर्ण अन्न होता है। [illegible] रस से उत्पन्न हुए विज्ञानआत्मा से भी अन्न ग्रहण की कमी के कारण दुर्बलता प्राप्त हुए [illegible] है, जिससे उसकी किरणें सकुचित होने लगती हैं। विज्ञान रश्मि के सकोच के कारण उस मे रही हुई प्रज्ञानरश्मिया भी सकुचित होकर इन्द्रियो से और शोणित से हटकर बुझने हुए दीपक के अनुसार [illegible] हृदयमात्र मे रह जाती है। उस समय विज्ञान और प्रज्ञान दोनो एक होकर विज्ञान का रूप हो जाता है। किन्तु प्रज्ञान ने जाग्रत् अवस्था मे बाहर से अन्न ग्रहण करके जो कुछ सस्कार उत्पन्न किया था [illegible] अपना सम्बन्ध न छोड़कर विज्ञान मे लीन होता है। उस समय चक्षु आदि इन्द्रिया भी [illegible] प्राण जो क्षेत्रज्ञआत्मा का स्वरूप है उसी के प्राणो से बने हुए होने के कारण उस समय विज्ञान की [illegible] अवस्था मे बाहर नष्ट हो जाते हैं। उस समय इस शरीर मे कही भी प्रकाश न रहकर केवल हृदयाकाश मे प्रकाश रहता है। उस प्रकाश मे यह प्राज्ञआत्मा अपने उपार्जित सस्कारो मे से वायु प्राणो के द्वारा से जिन २ को ऊपर उठाकर प्रकाश के क्षेत्र मे लाया करता है, वही स्वरूप विज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित होकर देखा करते है, उसी देखने को स्वप्नज्ञान कहते हैं। उस समय सब पाचो इन्द्रियो के प्राण सकुचित होकर हृदय मे विद्यमान रहते हैं। इसलिये प्रज्ञान के लाये हुये संस्कारों मे से शब्दो का सुनना, रूप का देखना, सूघना, चखना, सोचना, विचारना आदि सभी इन्द्रियो का काम उसी हृदय स्थान मे होते रहते हैं। इन्द्रियो के अनुसार जाग्रत् अवस्था मे जिस प्रकार सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतियो की प्रवेश होती थी वे बाहर की ज्योति या अब इन्द्रियो के द्वारबन्द होने से भीतर नही आते। किन्तु पाचवी विज्ञानमय आत्मा की ज्योति जो भीतर ही रहती है वह इस समय इन्द्रियो की सहायक होती है, और उसी ज्योति से स्वप्न के सब पदार्थ दीखते रहते हैं।

विज्ञानमय क्षेत्रज्ञआत्मा को 'स्व' कहते है उसमे प्रज्ञान आत्मा का 'स्वाप्यय' [illegible] 'स्वाप्यय' कहते हैं। इसी स्वाप्यय शब्द से स्वाप और स्वप्न शब्द की उत्पत्ति हुई है। तात्पर्य यह है कि यह प्राज्ञआत्मा जाग्रत् अवस्था की सारी मात्राओ को साथ लेकर 'स्व' मे अर्थात् विज्ञानात्मा मे '[illegible]' अर्थात् लीन हो गया है। इसी अभिप्राय से 'स्वपिति' अर्थात् सोता है ऐसा व्यवहार किया जाता है।

स्वप्न दृष्टि मे जो कुछ हम देखते हैं, वे सब वास्तव मे कुछ भी नही है न रथ है, न हाथी है न घोडे है, न सडक है किन्तु केवल प्राज्ञात्मा ही उन सबका निर्माणकर्ता है यह अपने मन को प्रेरित करके और भूतमात्राओ को लेकर उन सब स्वप्न के पदार्थों को बनाता है यहा [illegible] प्रकार अन्यान्य पदार्थों की सृष्टि करता है उसी प्रकार स्वय अपने स्वरूप की भी सृष्टि करता है [illegible] सभी पदार्थ वैज्ञानिक है भौतिक नही। इसी से आग मे जलने पर जलने के कष्ट का अनुभव होता है, किन्तु शरीर जलता नही। यदि प्रज्ञान आत्मा देखें सुने संस्कारो मे अपने आप को प्रवेश न कराये तो वे सब पदार्थ विज्ञान के प्रकाश मे आ नही सकते। किन्तु प्रज्ञान विज्ञान से मिला हुआ है। [illegible] प्रज्ञान जिन जिन रूपो मे बदलता रहता है वे सब रूप विज्ञान के प्रकाश मे आते रहते है यही स्वप्न दृष्टि का रहस्य है।

इस स्वप्न दृष्टि मे जिन जिन पदार्थों की सृष्टि होती है उनका रचने वाला जीव है या ईश्वर। इस बात के विचार मे रामानुजस्वामी का मत है कि स्वप्न अवस्था मे जीव सर्वथा अयोग्य और असमर्थ रहता है। उसकी इन्द्रियाँ और अन्यान्य शक्तियाँ भी कम हो जाती हैं, इसलिये यह स्वप्न सृष्टि केवल ईश्वर की ही हो सकती है। यदि यह सृष्टि जीव की होती तो कोई भी स्वप्न देखने वाला जीव शत्रु के पास से न भाग जाता या हाथी से न डरता। स्वप्न मे बहुत से अनिष्ट ऐसे भी दीखते है कि जिनका अनिष्ट परिणाम जाग्रत् मे भी बना रहता है इस से स्पष्ट सिद्ध है कि जीव परवश है। ईश्वर की इच्छा से ऐसी बुरी सृष्टि स्वप्न मे उसके सामने आती है, उसको उसे भोगना पड़ता है, इत्यादि।

इस मत को यदि स्थूलदृष्टि से देखें तो इसमे बहुत कुछ सत्यता प्रतीत होती है। किन्तु सूक्ष्म विचार करने से यह जीव की ही सृष्टि प्रतीत होती है, क्योंकि इस स्वप्न सृष्टि मे तीन दोष है। १ विशृ-ङ्खलता, २ अन्वयभेद, ३ बाध।

हम देखते हैं कि स्वप्न मे कभी कभी पानी मे ज्वाला उठती है, विना पक्ष का मनुष्य आकाश मे उड़ता है, और पुत्र कभी पिता का अभिमान करने लगता है इत्यादि बाते बेजोड तोड की कभी हो जाती है और भी ज्ञान शृङ्खलाबद्ध अर्थात् सिलसिलेवार बहुत समय तक स्वप्न मे नही दीखती इसलिये स्वप्न-सृष्टि मे विशृङ्खलता है।

दूसरा अन्वयभेद है। जब कभी घोडे पर चढता है तो थोडे ही समय पश्चात् वह घोडा हाथी प्रतीत होने लगता है। इसी प्रकार एक वस्तु क्षण क्षण मे भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतीत होती रहती है।

तीसरा दोष बाध है (अस्ति को नास्ति कहना) अर्थात् जागने पर वे सब स्वप्न के पदार्थ नष्ट हो जाते है और वे थे ही नहीं ऐसा दृढ विश्वास होने लगता है, यही उन सब पदार्थों का बाध है

ये तीनों ही दोष ईश्वरी सृष्टि के नियम के विरुद्ध हैं। परमेश्वर का कोई भी काम ऐसा नही हो सकता कि जिसमे विशृङ्खलता हो सब कार्य नियमानुसार ही होते है। जिस पर्वत को आज हम जहा देखते हैं वर्षों पीछे भी वह वही दीखता है। तात्पर्य यह है कि परमेश्वर की सृष्टि व्यवस्थानुकूल नियमबद्ध निर्बाधा होती है। किन्तु स्वप्नसृष्टि ऐसी नही है। इससे सिद्ध है कि यह स्वप्नसृष्टि अल्पशक्ति, अल्पज्ञ, परतन्त्र इस जीव की ही निर्मित है न कि ईश्वर की।

जो यह कहा जाता है कि यदि जीव ही सृष्टि करता है तो दुःखमय आदि अपनी अनिष्ट-सामग्री क्यों बनाता है, तो इसके उत्तर मे हम कहेंगे कि जाग्रत अवस्था मे बहुत से कामो मे जीव स्वतन्त्र है। इच्छा से भोजन करता है, इच्छा से विहार करता है, भिन्न-भिन्न सामाजिक व्यवहार करता है, किन्तु इन सब मे किसी भी दशा मे इष्ट ही चाहता है, अनिष्टपाने की न उसकी वासना है न प्रयत्न है। और तथापि विरुद्ध आहार विहार के कारण ही वह बहुधा दुःख, भय पाया करता है। यह क्यो? स्वतन्त्रतापूर्वक भोजन करने पर भी जिस प्रकार भोजन दोष से रोग आदि नाना अनिष्ट पाता रहता है। इसी प्रकार स्वप्न मे भी स्वतन्त्र होने पर भी अज्ञानता के कारण ऐसी सामग्रिया वह अपने आप बना लेता है जिसके द्वारा उसको भय हो जाता है। तात्पर्य यह है कि चाहे जाग्रत् हो या स्वप्न अवस्था हो

इस जीव के साथ एक अविद्या अवश्य लगी रहती है जिस प्रकार विद्या मे ईश्वर की सृष्टि है, [illegible]
अविद्या से जीव की सृष्टि है। इसलिये विना अविद्या के जीव का स्वरूप यथार्थ नहीं [illegible]।
विद्या के नाश होने पर जीव, जीवपने से निर्मुक्त होकर ईश्वर हो जाता है। [illegible]
यह अविद्या कितना ही प्रज्ञा दोष इस जीव से कराया करती है जिसके [illegible]
अनिष्ट के लिये सामग्री वनाया करता है। इसी कारण स्वप्न मे भी उस प्राज्ञात्मा के [illegible]
कितने ही सस्कार पहले से आकर सञ्चित रहते हैं उनके इष्ट या अनिष्ट होने के [illegible]
अवस्था इस प्राज्ञ जीव की स्वप्नकाल मे परवश हुआ करती है इसमे प्राज्ञ जीव [illegible]
उसके सस्कार के कारण से है, किन्तु यह कहना वडी भूल है कि ये शुभ अशुभ स्वप्न [illegible]
जीव के सामने ईश्वर उपस्थित करता है क्योकि इसमे ईश्वर को दोषी करना पडता है। [illegible]
वह किसी जीव को भयङ्कर स्वप्न दिखाकर भय देवें या कोई अनिष्ट करे, यह सम्भव नहीं है। [illegible]
सिद्ध है कि यह स्वप्न सृष्टि प्राज्ञ जीव की अपनी, अपनी ही अविद्या मे निमित्त [illegible]।
इसलिये वेद मे भी कहा है कि—

स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो, रूपाणि देवः कुरुते वहूनि।
उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो, जक्षदुते वापि भयानि पश्यन्॥
([illegible])

प्रश्न यह है कि स्वप्नसृष्टि मे जो प्राणी दीखते है उनमे इन्द्रिया है या नहीं [illegible]
सम्वन्ध ५ देवताओ से है, अर्थात् १—अग्नि, २—वायु, ३—सूर्य, ४—चन्द्र और ५—दिक्। [illegible]
से वाक् प्राण, चक्षु, मन और श्रोत्र वनकर शरीर मे स्थित हैं।

इन देवताओ का इस स्थूल शरीर के साथ जैसा सवन्ध सम्भव है वैसा [illegible]
शरीर से उत्पन्न नही है क्योकि वे शरीर कल्पित है। उनका किसी द्वारा से सम्बन्ध [illegible]
से लगाव सम्भव नही ठहरता। इसलिये कह सकते है कि उनमे इन्द्रिया नही है। [illegible]
वे सव प्राणी भी हँसते, रोते, कहते, सुनते, खाते, पीते हैं, विना इन्द्रिया ये सब नहीं [illegible]
अनुसार उनकी इन्द्रिया सव ज्यो की त्यो दीखती भी हैं, इसलिये कह सकते है कि उनके [illegible]
है। ऐसी स्थिति मे निश्चय नही होता कि वे सव अनिन्द्रिय है या इन्द्रियगुक्त है। उत्तर [illegible]
कि वास्तव मे जाग्रत् पुरुषो के अनुसार उनमे स्पष्ट इन्द्रिया नही है। किन्तु जिस प्रकार [illegible]
शरीर है वे भौतिक नही है उसी प्रकार उनकी इन्द्रिया भी जाग्रत् जीवो के अनुसार [illegible]
वैज्ञानिक है उन्ही से उनके इन्द्रिय जन्य सव व्यवहार उत्पन्न हो गये है। [illegible]
यह स्वप्न जगत् सत्य है या मिथ्या, इसमे वहुत विद्वानो का विचार है कि [illegible]
मात्र है अर्थात् केवल मेरी वुद्धि का दोष है परमार्थ मे कोई वस्तु नही है। इसके [illegible]
वहुभिन्नकालत्व, अनिन्द्रियत्व, प्रतिवाध।

अर्थात् स्वप्नसृष्टि मे जितने मनुष्य या अन्यान्य जीव जितने वडे क्षेत्र [illegible]
सडको से कोसो जाते है उतने क्षेत्र या उतने लम्वे मार्ग इस हृदय के [illegible]
सकते। इसलिये देशाधिकत्व से स्वप्न को मिथ्या कहते हैं।

दूसरा जितने ही वृद्ध मनुष्य अपने को या दूसरे वृद्धको अकस्मात् स्वप्न मे तरुण या बालक की अवस्था मे देखते है जो कि असम्भव है। घोर अन्धकार की अर्धरात्रि मे कदाचित् स्वप्न देखता हुआ प्रभात दिन का अनुभव करता है, जोकि उस समय नही है ऐसे भिन्नकालत्व मे भी स्वप्न मिथ्या ठहरता है।

३–इसी प्रकार स्वप्नावस्था मे सोनेवाले की सब इन्द्रिया शिथिल और मुद्रित (वन्द) हो जाती है। वे अपना काम नही करती तथापि अनिन्द्रियत्व विना इन्द्रिय के सब काम देखना सुनना इत्यादि होते रहते है इसलिये स्वप्न मिथ्या है।

जितने ही पदार्थ स्वप्न मे दीखकर पुनः स्वप्नकाल मे ही दीखते है। अर्थात् दीखता हुआ हाथी कही देशान्तर मे न जाकर दीखते दीखते ही नही दीखता है यह उसका प्रतिबाध है। और स्वप्न के उपरान्त जागृति होने पर एक साथ सम्पूर्ण स्वप्न सृष्टि का सर्वथा अभाव हो जाता है यह दूसरा प्रतिबाध है। वेदान्तियो का सिद्धान्त है—

नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्त्वदर्शिभिः ।।

अर्थात् सत् कभी असत् नही होता और असत् कभी सत् नही होता इस नियम के अनुसार यदि स्वप्न के पदार्थ सत् होते तो जागृतिकाल मे भी वे कदापि असत् नही हो सकते। जब कि हम उनको जागृति मे असत् देखते है तो इसी से यह निश्चित है कि स्वप्नकाल मे भी वे असत् थे और मिथ्या थे।

दूसरा मत इसके विपरीत है। कुछ विद्वानो का ऐसा भी विचार है, कि स्वप्न सृष्टि भूल भुलैयो नही, मिथ्या नही, वह जैसा दीखता है वैसा ही पारमार्थिक सत्य है। जब वह सृष्टि दीखती है तो उसको असत् कहना ही भूल है, क्योकि मिथ्या किसको कहते हैं इसी का विचार करना प्रथम आवश्यक है। यदि यह कहे कि वस्तु दो प्रकार की है–सत्तासिद्ध और भातिसिद्ध हो। वह भाति सिद्ध हो या न हो तो भी सत्य कहा जाता है, किन्तु जो सत्तासिद्ध न होकर केवल भातिसिद्ध हैं वही मिथ्या है। यदि कोई मिथ्या का यही लक्षण मानता हो तो हम कहेंगे कि यह भूल है क्योकि संख्या, परत्व (दूरी) अपरत्व [illegible] (नजदीकी) ऊंचा, नीचा इत्यादि कितने ही भाव केवल भातिसिद्ध होने पर भी मिथ्या नही माने जाते। इसलिये मिथ्या का लक्षण यदि वादी के कथनानुसार वे ही चार बाते मानी जावे जिनका निर्देश ऊपर हो चुका है तो वे भी मेरे विचार से मिथ्या के लक्षण नही हो सकते। ये चारो ये है– देशाधिकत्व, कालभिन्नत्व, अनिन्द्रियत्व और प्रतिबाध, इन चारो मे देशाधिकत्व मिथ्या का लक्षण नही हो सकता क्योकि जागृत अवस्था मे भी अत्यन्त सूक्ष्म कनीनिका प्रदेश या कृष्णतारा अर्थात् नेत्र के एक बिन्दु पर मनुष्य हाथी पर्वत और नगर, मैदान आदि अधिक प्रदेश वाले पदार्थ बिना सकोच के शुद्ध प्रकाश मे प्रवेश करते हुए भासते है। यह एक प्रकृति कि माया सभव है कि इसी प्रकार हमारे हृदय के अन्तर्गत दहर आकाश मे भी अधिक प्रदेश वाले पर्वत नगर आदि पदार्थ असकोच से सुव्यवस्था से प्रतिबिम्बित होते तो यह विचार अधिक वैज्ञानिक नही है कि हमारे समझ मे न आने के कारण हम किसी

वस्तु को मिथ्या कह दें। इसलिये देशापित्व होने पर भी दृष्टि के अनुसार [illegible] सभव है इसलिये मिथ्या नही हो सकती। इसी प्रकार '[illegible]' भी मिथ्या [illegible] है। इसके लिये हम एक आख्यायिका कहेगे।

एक समय नारद ने भगवान् से कहा कि मुझको आप अपनी माया दिखाइये। [illegible] कि तुम मेरे भक्त हो हम हमारे भक्तों को माया मे फँसाना नहीं चाहते। नारद [illegible] आपकी माया कैसी भी हो मेरे ऊपर उसका कोई प्रभाव नही पड सकता। भगवान् ने [illegible] होना चाहिये। कुछ आमोद-प्रमोद के पश्चात् नारद जी अपनी कुटी मे [illegible] स्नान करने को गये। तटपर वस्त्रो को रखकर शिष्यों को तटपर [illegible] डुबकी लगाई। फिर बाहर सिर निकालते ही १६ वर्ष की स्त्री प्रतीत हुए और देखा कि [illegible] राजा अपने परिकर वर्गों के साथ गंगा स्नान के लिये तट पर उपस्थित है। [illegible] आदमी भेज के वस्त्र पहराकर अपने महलो मे दाखिल कराया उस से ५ पुत्र और कन्यायें [illegible] हुईं। ठीक ४० वर्ष खूब आनन्द से राज्य भवन का सुख किया पश्चात् समय के फेर से स्वामी पुत्र और कन्या आदि अचानक किसी सक्रामक रोग से रोगी होकर एक साथ मरगये जिस से [illegible] अनेक परिचारिका स्त्रियो के साथ रोती हुई वह रानी शुद्धिस्नान के लिये उसी गङ्गा तटपर [illegible] राजाने उसे ग्रहण किया था। गङ्गा मे डुबकी लगाकर सिर ऊँचा करने ही पूर्ववत [illegible] और वस्त्र लिये उसी प्रकार शिष्य लोग खडे थे। अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि [illegible] वही था जिस समय नारदजी ने पहले डुबकी लगाई थी। नारदजी को अत्यन्त विस्मय हुआ, [illegible] माया का प्रभाव समझकर अत्यन्त लज्जित होकर चुपचाप कुटी चले गये और भगवान् [illegible] लवलीन होकर क्षमा मागी।

तात्पर्य यह है कि एक ही क्षण में ४० वर्ष से भी अधिक समय [illegible] न था। नारदजी जाग्रत् अवस्था मे थे जिस प्रकार माया ने उस एक क्षण मे इतना [illegible] तुलित हो गया उसी प्रकार स्वप्न मे भी बहुभिन्नकाल होना सम्भव है कदाचित् कोई [illegible] थी, मायामिथ्या होती है, इसलिये स्वप्न के अनुसार वह ४० वर्ष भी मिथ्या है तो [illegible] माया जब काम कर रही है और उस काम का माया का साथ कार्य कारण भाव का [illegible] उसको मिथ्या कहना साहस मात्र है। असम्भव समझकर ही मिथ्या नही कह सकते क्योंकि [illegible] कर माया लक्षण है कि असम्भव को सम्भव कर दिखादे। जब उसकी यही शक्ति या प्रभाव [illegible] ही अपना काम कर रही है तो उसे हम सर्वदा मिथ्या नही कह सकते इसी से पुराने [illegible] विषय मे यह कहा है कि—

न सतीसा, ना सतीसा, नोभयात्मा, विरोधतः।
एतद्विलक्षणा, काचिद्वस्तु, भूतास्ति, सर्वदा ॥

इसी प्रकार अइन्द्रियत्व भी मिथ्या लक्षण नहीं है। क्योंकि [illegible] के प्राणी भी प्रत्येक इन्द्रियो से काम करते हुए पाये जाते है तो ऐसे दशा मे [illegible]

अनुचित है। यदि उनका शरीर भौतिक है तो उनमे इन्द्रिया भी दैविक ही होनी चाहिये। यदि उनका शरीर वैज्ञानिक माना जावे तो उनकी इन्द्रिया भी वैज्ञानिक होगी, दोनो प्रकार से उनमे इन्द्रिया सिद्ध मानी है। यदि उनके प्रत्यक्ष होने से वे सत्य माने जा सकते हैं, तो उनकी इन्द्रिया भी सत्य हो सकती हैं तो किसी दशा मे उन प्राणियो को अनिन्द्रिय कहकर अथवा स्वप्न देखनेवाले को अनिन्द्रिय कहकर स्वप्न-सृष्टि को मिथ्या कहना ही मिथ्या है और जो उनको प्रतिबाध (न होना) के कारण मिथ्या माना जाता है, सो यह भी मिथ्या है। प्रत्येक जायमान वस्तु मे तीन अवस्था होती है उत्पत्ति स्थिति, और नाश। उत्पत्ति से पहले या नाश के पश्चात् उस वस्तु का अभाव है केवल मध्य दशा मे उसकी स्थिति को देख-कर हम उसको सत्य कहते हैं। तो उसी प्रकार स्वप्न सृष्टि के प्राणी भी स्वप्न से पूर्व अथवा स्वप्न के पश्चात् न होने पर भी केवल स्वप्न काल मे उसकी स्थिति को देख कर उसे हम सत्य कह सकते है। जिसकी उत्पत्ति होती है उसका उत्तर काल मे अवश्य ही नाश होता है वह नाश ही उसकी सत्ता का प्रतिबाध है। ऐसे प्रतिबाध के रहने पर भी कोई भी जगत् की वस्तु मिथ्या नही मानी जाती तो स्वप्न सृष्टि ही जागृति होने पर प्रतिबाध के कारण मिथ्या कैसे मानी जाती है। वास्तव मे यदि विचार कर देखा जाय तो यह जागृत् अवस्था की वाह्य सृष्टि जिस प्रकार सूर्य की ज्योति मे भासती है, उसी प्रकार स्वप्न की अन्तर सृष्टि भी मनोमय चन्द्रमा की ज्योति मे भासती है। यह एक जो किसी का मत है वही सत्य प्रतीत होता है। सर्वथा यह स्वप्न सृष्टि मिथ्या न होकर भातिसिद्ध और सत्तासिद्ध दोनो हैं, और इसलिये स्वप्न सृष्टि पारमार्थिक सत्य है।

अब एक प्रश्न यह भी होता है कि यह स्वप्न सृष्टि शरीर के भीतर है या शरीर के वाहर। यद्यपि यह कहा जा चुका है कि शरीर के भीतर हृदय के सूक्ष्म दहराकाश मे यह स्वप्न सृष्टि होती है, तथापि इसमे संदेह है कि जब स्वप्न मे दीखते हुए पदार्थो के प्रदेश बहुत विस्तीर्ण दीखते हैं तो उनको सूक्ष्म हृदय प्रदेश मे न मानकर शरीर के वाहर ही क्यो न माना जाय।

इस पर बहुतो का विचार है कि यदि यह स्वप्न शरीर के वाहर माना जाय तो इस स्वप्न को देखने वाली मेरी आत्मा को भी अवश्यमेव वाहर जाना पडगा। किन्तु यह निश्चित है कि यदि आत्मा शरीर को छोडकर क्षणभर भी वाहर चला जाय तो यह शरीर तत् क्षण अपवित्र होकर मृतक के अनुसार सडने लगेगा और दुर्गन्धयुक्त होगा किन्तु ऐसा नही होता इससे सिद्ध है कि हमारी आत्मा स्वप्न अवस्था मे भी शरीर के भीतर ही रहता है, और उसके कारण यह शरीर भी पवित्र रहता है। जिस प्रकार सीप मे मिथ्या चादी भ्रम से प्रतीत होती है, उसी प्रकार इस प्रज्ञात्मा मे मिथ्या ही स्वप्न जगत् भ्रम से प्रतीत होता है। यही याज्ञवल्क्य आदि बडे-बडे महर्षियो का सिद्धान्त है।

किन्तु कितने ही पुराने विद्वानो का यह भी विचार है कि यह स्वप्नसृष्टि शरीर के भीतर न होकर शरीर के बाहर ही होती है। यह आत्मा के वाहर जाने पर जो शरीर की अपवित्रता का प्रश्न उठाया गया है वह असङ्गत है (गलत है) कारण कि इस शरीर के भीतर भूतात्मा दो प्रकार का है— १-प्राज्ञात्मा, २-शुक्रआत्मा। उनमे प्राज्ञआत्मा ऊपर चन्द्रमा मे आये हुये देवलोक, पितृलोक, स्वर्ग, नर्क आदि नाना मार्गो मे भ्रमण करने वाला और चन्द्रमा पर महान्आत्मा से सम्मिलित होता हुआ पृथ्वीपर

स्त्री पुरुष के शुक्र, शोणित के बने हुए डिम्भ (लोथड़ा) में प्रवेश करके [illegible] प्राज्ञआत्मा लोकान्तर चारी इस शरीर में आगन्तुक है।

किन्तु इस प्राज्ञआत्मा के आने के पश्चात् सूर्यरस, वायुरस और विद्युत इन तीनों [illegible] भौतिक शरीर के सम्पूर्ण भूतानुशयो को ग्रहण करके उन्ही अनुशयो में अपना शरीर [illegible] आत्मा उत्पन्न होता है जिसे हस आत्मा कहते हैं। यह हस इस शरीर के रस से बनने [illegible] शरीर का अभिमानि होकर भी इस शरीर को छोडकर बाहर हजारो कोस चला जाता है [illegible] स्थानो मे रमता रहता है। किन्तु जिस प्रकार एक बडे लम्बे सूत्र के एक छोर को हाथ में [illegible] दूसरे छोर मे बधी हुई चिडिया को आकाश मे उडा दिया जाय वह पक्षी आकाश में इधर-उधर [illegible] हुआ भी उस हाथ के सूत्र की पकड से पकडे हुए के कारण पुनः हाथ पर आता रहता है। [illegible] यह हस आत्मा भी शरीर से बाहर दूर-दूर तक भ्रमता हुआ भी प्रतिक्षण इस शरीर [illegible] रखता है न कभी इस शरीर को भूलता है और न जीवन पर्य्यन्त इस शरीर में [illegible] सम्बन्ध मे किसी ऋषि ने कहा है—

स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्या सुप्तः सुप्तानभिचाकशीति।
शुक्रमादाम पुनरेतिस्थानं, हिरण्मयः पुरुष एकहंसः ॥१॥
प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं, वहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा।
स ईयतेऽमृतो यत्र कामं, हिरण्मयः पुरुष एकहंसः ॥२॥
(बृ. उ. अ. ४ ब्रा. ३।११-१२)

१—अर्थात् इस शरीर का एक हस पुरुष जो वास्तव मे हिरण्मय है वह स्वप्न की दशा में [illegible] अर्थात् शरीर मे ही रखने वाला प्राज्ञआत्मा से सम्बन्ध तोडकर उस से अलग हटकर [illegible] जागता हुआ, सोते हुए अर्थात् विज्ञानआत्मा मे लवलीन होते हुए प्राज्ञआत्मा और [illegible] चौकसी करता है। बाहर से जो कुछ शुक्र अर्थात् बल या रस उसको मिलता है उसको [illegible] अवस्था मे फिर अपने स्थान पर अर्थात् शरीर के भीतर प्राज्ञआत्मा मे चला आता है।

२—यह हिरण्यमय हस पुरुष इस अवर कुलाय की अर्थात् हीन दशा मे आये हुए ([illegible] हुए) शरीर की प्राण से रक्षा करता हुआ स्वय अमृतरूप अर्थात् [illegible] कुलाय अर्थात् अपने शरीर रूपी घोसले से बाहर इधर उधर विचरता हुआ, [illegible] जाता है।

तात्पर्य यह है कि यह प्राज्ञआत्मा शरीर के भीतर ही रहने वाला है [illegible] शरीर को पकडे हुए शरीर से बाहर दूर दूर भ्रमण करता है। वहां जो कुछ [illegible] लेकर फिर अपने स्थान शरीर के प्राज्ञआत्मा मे चला आता है [illegible] दशा मे दूर देशान्तर मे न जाकर भी इस शरीर के बाहर रहकर [illegible] इस शरीर की चौकसी करता रहता है।

आत्मा तीन प्रकार का है—सहजात्मा, मानुषात्मा और देवात्मा। इनमे सहजात्मा तीन प्रकार का है। चिदात्मा, सूत्रात्मा, विज्ञानमय क्षेत्रज्ञआत्मा। ये तीनो प्रत्येक शरीर मे और प्रत्येक अवस्था में जन्म अवसर मे प्राप्त हो जाते हैं इसीलिये इनको सहजात्मा कहते हैं। अव्यभिचरितरूप से शरीर मे रहते हुए भी ये तीनो शरीर के अभिमानी नही हैं। शरीर का कोई भी संस्कार इनमे सक्रान्त नही होता इसीलिये गीता मे कहा है—

कुर्वन्नेवेह् कर्माणि, न करोति न लिप्यते ॥

अर्थात् शरीर मे सब काम करता हुआ भी कुछ नही करता और न क्रियाजन्य सस्कारो से लिप्त होता है।

इन से अतिरिक्त जो दूसरा मानुषआत्मा है वह दो प्रकार का है—महान्आत्मा और भूतात्मा इन दोनों मे भूतात्मा फिर तीन प्रकार का है—वैश्वानरआत्मा, तैजसआत्मा और प्राज्ञात्मा। ये तीनो प्रत्येक शरीर भी भूतात्मा है और तीनो मिलकर के भी भूतात्मा है। ये तीनो भूतात्मा भी महान्आत्मा के साथ सम्मिलित ही होकर रहती हैं। यही सम्मिलित आत्मा शरीर मे प्रवेश करने से जन्म होता है और इनके निकलने से मृत्यु होती है, यही नाना लोको मे जाता है, कर्म का भोग करता है, इसी आत्मा को मनुष्य कहते हैं, इसलिये इसे मानुषआत्मा कहते हैं। यही आत्मा मुख्य है। इसी आत्मा के लिये शास्त्र के सब विधि निषेध है। ये दो आत्मा—प्राज्ञ और महान् तथा ऊपर के तीन-चिदात्मा, सूत्रात्मा, क्षेत्रज्ञआत्मा यही पाचो आत्मा मुख्य हैं और प्रत्येक जीव मे पाये जाते है। इन पाचो के अतिरिक्त दो आत्मा कृत्रिम हैं—इन दोनों को दैव कहते हैं। उनमे दैव दो प्रकार का है याज्ञिक और हस—इनमे याज्ञिक को सुपर्ण भी कहते है, और हस को गन्धर्व आत्मा भी कहते हैं। इनमे यज्ञ आत्मा यज्ञ करने से उत्पन्न किया जाता है, यह आत्मा मानुष आत्मा पर ही उत्पन्न होता है, और उसी पर अधिकार रखता है। जिस प्रकार घोडे का सवार अपनी इच्छा को घोडे की इच्छा से मिलाकर चलने से जिधर जैसा सवार चाहता है उधर वैसे ही घोडा जाता है। उसी प्रकार मानुष आत्मा पर याज्ञिक आत्मा सवार होकर एक जीव हो जाता है। और यज्ञ आत्मा स्वभाव से सूर्य के ओर जाता हुआ वलात्कार से प्राज्ञआत्मा को साथ ले जाता है। जिस से प्राज्ञ आत्मा अन्यान्य लोको मे न जाकर सूर्य के सप्तलोको मे से 'सातवें नाकलोक मे ही जाता है। उसी प्रकार इस मानुषआत्मा मे से वायु के द्वारा यह वायव्य आत्मा उत्पन्न होता है, जिस को हंस या गन्धर्व आत्मा कहते है।

जिस प्रकार विज्ञान आत्मा पर मानुष आत्मा अर्थात् महान् सहित प्रज्ञानआत्मा मिला हुआ रहता है, उस प्रकार उस प्रज्ञान आत्मा के ऊपर यह हस आत्मा भी सवार रहता है। प्रज्ञानआत्मा मे प्रज्ञानात्मा चन्द्रमा और पृथ्वी का रस है। उसी प्रकार इस हंस आत्मा मे मध्यलोक अर्थात् अन्तरिक्ष से आया हुआ व्यानवायु का रस है। इन तीनो रसो मे मिले हुये होने के कारण सम्पूर्ण शरीर के भूतो में का का सचार और वायु का सचार मिला हुआ होता रहता है। जिस समय हस आत्मा शरीर से बाहर निकलता है, तो उस समय पृथ्वी रस और सोम रस से वायु रस के विच्छेद होने के कारण हमारे शरीर के अङ्गो का अनुसन्धान नही रहता। किन्तु इसी कारण शिरोभाग मे रक्त की गति शिथिल हो जाती है

और सज्ञा वह स्नायु मे मूर्छना होने से इन्द्रियो मे ज्ञान का सम्बन्ध नही होता [illegible]
इन्द्रियो के अवरोध (रुकाव) से आत्मा के सहायक बाहर वाले [illegible]
रखते, इसी से निद्रा अवस्था मे ज्ञान नही होता। किन्तु यह हसग्रात्मा [illegible]
का अनुशय लेकर बाहर आता हुआ जाग्रत् के अनुसार ज्ञान रखता है। [illegible]
पर भी भूतानुशय से भौतिक शरीर बनाता है, और प्राज्ञ के अनुशय से [illegible]
बाहर जाने पर भीतर वाला प्राज्ञ अन्धकार मे भौतिक प्रकाश न होने के [illegible]
देखता। इसीलिये हृदयग्राकाश मे विज्ञानमय आत्मा के प्रकाश मे [illegible]
हुआ भी बाह्यज्ञान कुछ नही रखता, इस कारण उसकी अज्ञानता नही है, किन्तु [illegible]
अभाव के कारण से है। जिस प्रकार समुख घट न होने से घट का प्रत्यक्षज्ञान नही होता, [illegible]
निद्रा के समय भौतिक ज्योतियो के न होने के कारण भौतिक ज्ञान नही होता। [illegible]
कुछ हम स्वप्न देखते हैं वह उस समय हस आत्मा देखता है। और जिन [illegible]
गन्धर्व जगत् के सच्चे पदार्थ हैं। जो जगत् पृथ्वी से ऊपर चन्द्रमा से नीचे [illegible]
से बना है उन प्राणियो की भी जन्म मृत्यु होती है। किन्तु उनका शरीर [illegible]
इसलिए सूर्य के प्रकाश मे वे बहुधा नही देखे जाते। किन्तु अष्टसिद्धि [illegible]
अधिक होने के कारण वे कभी मनुष्य शरीर धारण करके सूर्य के प्रकाश मे भी [illegible]
बहुधा दुर्बल प्राणियो के शरीर मे प्रवेश करके जाग्रत अवस्था मे भी जीवो [illegible]
किन्तु यह व्यवहार उनका विजातीय जगत् होने के कारण विषम होता है। [illegible]
गन्धर्व होने के कारण उसके साथ उन गन्धर्व जीवो का व्यवहार सजातीय [illegible]
पडता है।

जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश मे ये जाग्रत् के सब पदार्थ भासते हैं, उसी प्रकार [illegible]
पदार्थ सूर्य के प्रकाश को स्पर्श न करते हुए चन्द्रमा के प्रकाश मे ही भासते हैं। [illegible]
जीवो के हसग्रात्मा पितृलोक या देवलोक या अन्य किसी स्वर्ग नरक मे नही [illegible]
चन्द्रमा के बीच अन्तरिक्ष मे वायु धारा तक पर विचरते हुए गन्धर्व जीवो का [illegible]
शरीर वायव्य होने के कारण परिवर्तनशील होता है। अर्थात् मोटा, पतला, [illegible]
पक्षी आदि स्वरूपो मे अपने स्वरूप को बडी शीघ्रता से बदल सकते है और [illegible]
शरीर मे भी प्रवेश कर सकता है बहुरुपिये के समान गन्धर्व के आवेश मे प्राणी का स्वभाव [illegible]
बदल जाते है। उसमे प्रथम स्वभाव का आवरण हो जाता है। उस प्राणी [illegible]
के प्रथम हस को छोडकर इस आगन्तुक गन्धर्व की आज्ञाकारी हो जाती है।

किन्तु स्वप्न मे पृथक् रहकर ये गन्धर्व बातचीत करते है। इन गन्धर्व जीवो [illegible]
महानुभाव या कितने दुर्जन धूर्त होते है। जाग्रत् के आवेशकाल मे अथवा [illegible]
गन्धर्वो की कही हुई सब बाते ज्यो की त्यो सत्य होती हैं। किन्तु दोनो ही [illegible]
मिथ्या होती हैं। इन गन्धर्वो के कुल १८ भेद चरक, सुश्रुत आदि वैद्य [illegible]
सज्जन भूतो का या दुष्ट भूतो का लक्षण भी पृथक् पृथक् दिखलाया है और [illegible]

जाग्रत के अनुसार ही होती है। किन्तु १७ इन्द्रियां अधिक होने के कारण बहुत सी बातो में विशेषता होती है। जैसा कि एक क्षणभर मे स्वप्न के जीव बहुत दूर देश जा सकते हैं, और एक घड़ी के स्वप्न काल मे कितने ही दिन रात बीत जाने का अनुभव होता है। यह सब बाते यद्यपि मिथ्या प्रतीत होती है, तथापि स्वप्न जगत् की विलक्षणता यदि मानी जावे तो जाग्रत् के विरुद्ध होने पर भी उनको हम सत्य मान सकते हैं। इसलिये ये स्वप्न के जगत् सत्य हैं। इस प्रकार पूर्ववत और इस मत मे दो बातो का बहुत विशेष वैषम्य (अनमेल) है प्रथम मत मे स्वप्न के पदार्थो को देखने का प्रकाश क्षेत्रज्ञात्मा का विज्ञानमय प्रकाश है, और उस प्रकाश मे दीखते हुए सब पदार्थ प्राज्ञआत्मा के कल्पित हैं और मिथ्या है। किन्तु इस द्वितीय मत मे स्वप्न के पदार्थों को देखने के लिये विज्ञान का न होकर चन्द्रमा का प्रकाश है और उस प्रकाश मे दीखते हुए सब पदार्थ नित्य सिद्ध सर्वदा विद्यमान रहते हैं और ज्यो के त्यो सत्य हैं।

यद्यपि यह हसआत्मा माता पिता के शुक्र शोणित के भ्रूण की चेतना से नया ही उत्पन्न होता है। तथापि वह हस इतना प्रधान हो जाता है कि प्राज्ञ आदि सभी आत्मा और यह शरीर भी सूत्र के द्वारा उसी हस मे गुथा हुआ रहता है। हस के वायुमय होने के कारण वायुमय सूत्र से इस शरीर को पकडे रहकर इस शरीर से बाहर बहुत दूर धावा करता है उस समय प्राज्ञआत्मा अपनी सञ्चालक वायु के न रहने के कारण निर्व्यापार (बेकार) होकर वैश्वानर मे गिरकर रह जाता है वह बाहर नही जा सकता किन्तु हस के आने पर उसी हस वायु के कारण उस प्राज्ञ आत्मा मे हल-चल होने की चेष्टा हो जाती है। किन्तु किसी कारण से जब वह हसआत्मा वायुरूपी सूत्र को तोडकर इस शरीर से बाहर निकलता है तो फिर उसको इस शरीर मे प्रवेश करने का द्वार बन्द हो जाता है और वह इस शरीर से पृथक् रहने लगता है। वह उस समय +प्रेत की दशा मे होता है। इस प्रकार हस के चले जाने पर शरीर के वैश्वानर प्राज्ञ आदि सभी आत्मायें उत्क्रान्त (उछट जाना) हो जाते है। उन सबका बन्धन जिस सूत्र से था, उसके टूटने से प्राज्ञ आदि आत्मा भी शरीर मे नही रह सकते उसी को मृत्यु कहते है। यही हस-आत्मा जिसके आधार से शरीर मे वैश्वानर, प्राज्ञ आदि सभी आत्मा बडे सौकर्य (सुभीते) से रहते थे उसी हसआत्मा के दूसरे किसी प्राणी के शरीर मे प्रवेश होने पर उस प्राणी के प्राज्ञ आदि सभी आत्माओं का दबाकर आवरण कर देता है, और उन पर अपना प्रभाव जमा लेता है।

३—सुषुप्ति

पाच प्रकार की प्रज्ञा जिनको श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण कहते है, इन पाचो के साथ पाच प्रकार के प्राण और इनके अतिरिक्त पाच प्रकार के कर्मेन्द्रिय रूपी पाच प्राण और पाचो प्रज्ञाओ के विषयभूत पाच अर्थ जिनको शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध कहते है। इन पाचो अर्थो के सम्बन्ध से पाच प्रकार के भूत जिनको आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी कहते हैं। इस प्रकार इन २५ पदार्थो की समष्टि [illegible] तथा जन्म समय से आरम्भ करके मरण पर्यन्त जो कुछ यथार्थ ज्ञान, अज्ञान और अन्यथा ज्ञान (यह ज्ञान व्यावहारिक है) होता है उसका सस्कार सञ्चित होता रहता है उसी को काम

+ प्र=बिल्कुल, इत=गया हुआ। प्रेत = बिलकुल गया हुआ।

कहते हैं। उन संस्कारों के उत्पन्न होने में अपेक्षा बुद्धि अर्थात् इच्छा ही कारण होती है, [illegible] उन संस्कारों को काम कहते हैं इसी प्रकार जन्म से मृत्यु तक जो सुकर्म विकर्म और अकर्मों [illegible] करते हैं उनका भी संस्कार उत्पन्न होकर संचित होता रहता है, जिनको शुक्र कहते हैं। काम और शुक्र ये दोनों जन्म जन्मान्तर में और मृत्यु के पश्चात् लोकान्तर में भी आत्मा के साथ-साथ [illegible] दोनों की समष्टि को भी मिलाने से प्राज्ञआत्मा का स्वरूप सिद्ध होता है। अर्थात् [illegible] महान् आत्मा अर्थात् योनिका आकार जो सोम रस का बना हुआ है मिला रहता है [illegible] आत्मा पर जो पञ्चप्रज्ञा आदि २५ मात्रा समष्टि मिली रहती है उसे ही प्राज्ञआत्मा [illegible] वह प्राज्ञआत्मा काम और शुक्र से कदापि शून्य नहीं रहता। इसीलिये ऋषियों का सिद्धान्त [illegible]—

"काममय एवाय पुरुष" इति—अर्थात् सम्पूर्ण प्राणमय और भूतमय होने पर भी [illegible] प्राज्ञआत्मा को काममय ही कहना चाहिये। क्योंकि—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते, कामायेऽस्य हृदिस्थिताः।
अथमर्त्योऽमृतो भवति, अत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

अर्थात् जबकि कभी कामनायें जो कि इसके हृदय में ठहरे थे सर्वथा [illegible] यह मरणधर्मा प्राज्ञआत्मा अमृत हो जाता है और उस समय वह ब्रह्म को प्राप्त [illegible] ब्रह्मरूप होकर मुक्त हो जाता है। तो इससे सिद्ध हुआ कि काम और शुक्र के [illegible] रोक्त २५ मात्राओं की समष्टि भी नहीं रहने पाती जिसके कारण प्राज्ञ का स्वरूप ही [illegible] और उस प्राज्ञ का काम और शुक्र के नष्ट होने से ही प्राज्ञ आत्मा का जन्म लेने [illegible] भी टूट जाता है इसीलिये महान्आत्मा का सम्बन्ध भी नहीं रहता तो ऐसी दशा में [illegible] आत्मा ही बचा रहता है इसी को कैवल्य (अकेलापन) मुक्ति कहते हैं। वह [illegible] रस से उत्पन्न होता है, इसलिये सभी प्रकार के 'कषाय (मैल) दूर होने पर [illegible] प्रभव सूर्य में ही लीन हो जाता है इसी को सूर्यभेदी (मिलने वाली) मुक्ति कहते हैं।

इस प्राज्ञ आत्मा में से काम और शुक्र ये दोनों प्राज्ञ में रहकर भी प्रकृति [illegible] के कारण प्रकृति में ही अपना आशय बनाते हैं इसी से काम और शुक्र ये दोनों [illegible] दोनों आत्माओं से सम्बन्ध रखते हैं। इनमें से यह प्रज्ञानआत्मा विज्ञान [illegible] है क्योंकि प्राज्ञआत्मा इन्द्रियों से सम्बन्ध रखता है, और इन्द्रिया देवताओं से बना [illegible] मय आत्मा से निकलते हैं, इसलिए प्रज्ञान और विज्ञान का अन्तरङ्ग सम्बन्ध है। [illegible] से सम्बन्ध रहने पर भी इन दोनों का संयोग मात्र है, समन्वय सम्बन्ध नहीं है। [illegible] प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध है, उसी प्रकार विज्ञान का महान् से सम्बन्ध है। [illegible] लवण का सम्बन्ध है, उसी प्रकार विज्ञान में प्रज्ञान का सम्बन्ध है। वह [illegible] है। इसी कारण से सूर्य के अस्त होने पर या सूर्य रस के प्रतिबिम्ब [illegible]

शरीर के गोरिन में से सूर्य का रस न्यून हो जाता है, तो उस दशा में इस विज्ञानमय आत्मा की रश्मियां चारों ओर से संकुचित होकर केवल हृदय मात्र में आ ठहरती हैं। उस समय हृदय आकाश में केवल प्रकाश रहता है। प्रज्ञानआत्मा उससे सम्बन्धित होने के कारण वह भी हृदय मात्र में आ ठहरता है इन्द्रियगोलकों में उसकी रश्मियां नहीं रहतीं, किन्तु हृदय में प्राज्ञ के साथ सब इन्द्रियां विद्यमान रहती हैं, काम और शुक्र भी रहते हैं, उसी अवस्था को स्वप्न कहते हैं।

किन्तु संकुचित होते होते ज्वकि विज्ञानमय आत्मा हृदय आकाश को भी छोड़ देता है, तो उस समय उसकी स्थिति पुरीतत नाड़ी में आ ठहरती है। यह पुरीतत नाड़ी हृदय से नीचे के भाग में होती है। हृदय से चारों १०० नाड़ियां निकलती हैं, आगे चलकर एक-एक में सौ-सौ नाड़ी होती हैं। फिर उनके प्रत्येक में से बहत्तर-बहत्तर हजार नाड़ियां निकलती हैं। ये इतनी सूक्ष्म हैं कि सूक्ष्म दर्शक यंत्रों से भी कठिनता से दीखती हैं। उन्हीं सूक्ष्म नाड़ियों के अग्रभाग से रोमावली निकलती हैं। इन नाड़ियों से सर्वाङ्ग शरीर जाल के अनुसार गुंथे हुए हैं। इन नाड़ियों में कितनी ही लाल, पीले, नीले आदि रङ्ग की हैं, इन नाड़ियो को हितानाड़ी कहते हैं। इन हितानाड़ियों में जो नाड़ी हृदय के नीचे पेट की ओर गई हैं उनमें होकर यह विज्ञानमयआत्मा प्रज्ञानमय आत्माओं को साथ लेकर पुरीतत नाड़ी में चला जाता है, किन्तु महानआत्मा जो सर्वाङ्ग शरीर मे व्याप्त रहता है, जो इस शरीर का एक प्रकार का सांचा है, वह सकुचित न होकर ज्यों का त्यों बना रहता है। इसलिए महान् के आश्रय में जमे हुए काम और शुक्र भी ज्यों के त्यो हृदयस्थान में ही रह जाते हैं। काम शुक्र के बिना ही प्राज्ञआत्मा को साथ लेकर विज्ञानआत्मा पुरीतत नाडी के भीतरी चर्म को भी स्पर्श न करता हुआ उस नाड़ी के आकाश में बेलाग स्थित रहता है, इसी अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं। इस अवस्था में काम, शुक्र न रहने के कारण यह विज्ञानआत्मा प्रज्ञान के साथ रहकर भी मुक्तिदशा के अनुसार सब संसार के मृत्युरूप जञ्जाल से रहित हो जाता है। उस समय वह आत्मा न स्त्री है न पुरुष है, न बाप है न बेटा है, न गृहस्थ है न सन्यासी है न दीन है न धनाढ्य है केवल स्वरूप से रहकर आनन्दमय है। उसी आनन्द को हमारी प्राज्ञआत्मा अनुभव किया करती है, उस समय वह प्राज्ञआत्मा देखता सुनता हुआ भी देखता सुनता नहीं है। अर्थात् देखने सुनने आदि इन्द्रियो की शक्ति जाग्रत के अनुसार उसमे ज्यों की त्यों बनी हुई है किन्तु केवल विषय के समीप न होने के कारण किसी विषय का ज्ञान नहीं होता, यह उस आत्मा की परमाशान्ति कही जाती है।

दूसरा मत है कि यह विज्ञानआत्मा हृदय मे ही रहकर सर्वाङ्ग शरीर में अपनी रश्मि फैलाती है। किन्तु सर्वाङ्ग शरीर से इसकी रश्मियां संकुचित भले ही हो जाय, किन्तु यह हृदय को कभी नहीं छोड़ती। हृदय के छोड़ने को ही मृत्यु कहते हैं।

यह विज्ञानमय आत्मा सूर्य से उत्पन्न होती है, इसलिए हृदय को छोड़ने पर भी यह हृदय से ऊपर ही नाड़ियों से जा सकती है नीचे की ओर इसका जाना ठीक नहीं जचता। इसलिए मानना होगा कि मृत्यु के समय हृदय से उत्क्रान्त होकर (छोड़कर) ऊपर की नाड़ियों के द्वारा यह सूर्य में चली जाती है। किन्तु जीवन के सुषुप्तिकाल में ऊपर नीचे कहीं न जाकर केवल हृदय में ही संकुचित होकर रहती है।

स्वप्न से इसकी विशेपता यह है कि स्वप्नकाल में सम्पूर्ण हृदय के बाहरी परिवेष्टन [illegible] होकर प्रकाश करती है। किन्तु सुपुप्तिकाल मे हृदयाकाश के भीतर और भी [illegible] नाम की ब्रह्मपुरी कहकर एक आकाश है उसमे चारो ओर के चर्मों का [illegible] विश्राम करता है, उसको सुपुप्ति कहते हैं। जो कि श्रुति सुपुप्तिकाल मे [illegible] नाडी मे जाना कहती है उसके मतानुसार यह पुरीतत नाडी उदर मे न [illegible] कहते हैं। जो हृदय के भीतर बाहरी परदे मे जाली के समान एक प्रकार की [illegible] चारदिवारी के अन्दर उस दहराकाश मे रहने से ही उस श्रुति का तात्पर्य है [illegible] नही आता। शङ्कराचार्य ने भी शारीरक भाष्य मे इस पुरीतत शब्द का यही अर्थ माना है।

इस विज्ञानआत्मा के साथ प्रज्ञानआत्मा का जो सम्बन्ध है उसमे भी [illegible] कहा गया है कि सुपुप्तिकाल मे काम, शुक्र को छोडकर केवल इन्द्रियो की ही [illegible] उस विज्ञानआत्मा मे अनुपक्त (चिपका हुआ) रहता है। उसकी कुछ भी रश्मि शरीर [illegible] आदि मे नही रहती। सोते हुए पुरुष का नाम लेकर पुकारने से जो वही पुरुष जाग [illegible] आत्मा का काम है। यह हसआत्मा सुनता है, सुनकर शरीर मे प्रवेश करता है, और [illegible] प्रज्ञान को खीचकर इन्द्रियो की ओर त्वचा तक ले आता है यही पहला मत है। [illegible] कि सुपुप्तिकाल मे भी जाग्रत् के अनुसार ही प्रज्ञानआत्मा की स्थिति रहती है। [illegible] विज्ञानआत्मा के साथ बधा हुआ प्रज्ञानआत्मा सर्वाङ्ग शरीर में अपनी रश्मि व्याप्त [illegible] सुपुप्ति मे भी रखता है। केवल विशेपता यही है कि विज्ञानआत्मा सकुचित होकर [illegible] (बैठ जाता है) हो जाता है। उसकी रश्मि बाहर त्वचा तक न रहने से प्रज्ञानआत्मा [illegible] निष्फल हो जाता है। जिस प्रकार दीपक न रहने से घोर अन्धकार मे देखती हुई [illegible] निष्फल हो जाता है उसी प्रकार विज्ञान का प्रकाश न रहने से देखता हुआ प्रज्ञान भी [illegible] लिए घोर निद्रा मे काटे चुभाये जाय, ठण्डा पानी डाला जाय, शरीर पर आग की [illegible] जाय तो अवश्यमेव वह प्राणी जाग उठता है। उसका उठानेवाला इतना तक [illegible] है। यदि हसात्मा पृथक् न भी मानी जाय तो भी काटे, जल, अग्नि से त्वचा मे [illegible] उत्पन्न होता है, उसका प्रवाह हृदय तक पहुचकर निरालम्ब आकाश मे विद्यमान [illegible] हृदय के चर्म से स्पर्श कराकर बाहर त्वचा तक फैला देता है जिससे वह प्राणी [illegible] मे हसआत्मा को न मान करके भी काम चल सकता है इस मत मे [illegible] की सृष्टि या उसका दर्शन भी शरीर से बाहर न होकर शरीर के भीतर हृदय मे ही [illegible]।

४–५–मोह और मूर्छा

शारीरकसूत्र मे वेदव्यासजी ने मोह और मूर्छा अवस्था मे [illegible] यह है कि आधा जाग्रत् और आधी निद्रा क्योकि मोह और मूर्छा [illegible] भी स्तम्भन (रुकावट) के कारण निद्रा के अनुसार ही बोध नही होता। [illegible] जाग्रत् के सदृश कहते है। किन्तु जाग्रत् के अनुसार उसमे किसी प्रकार [illegible]

लिए निद्रा के सदृश कहते हैं। इस प्रकार ज्ञान का अभाव दो प्रकार से होना है, मोह से और मूर्छा से इन दोनो मे विशेषता इस प्रकार है, कि जैसे कोई तीरन्दाज तीर की बारीकी बनाने मे इतना एकाग्रचित्त हो जाय कि उसके सामने आते जाते जीवो का ज्ञान न हो। इसी प्रकार अत्यन्त शोक या अत्यन्त आनन्द की मात्रा आकस्मिक, अविचारित, सहसा आ पडने से हृदय पर इस प्रकार आघात पडे कि उसकी चित्त वृत्ति एकदम ही रुक जाय तो उसे मोह कहते हैं। मोह मे प्रज्ञा के जाग्रत् रहने पर भी प्रज्ञा की गति का स्तम्भन है। न बुद्धि की वृत्ति होती है न किसी विषय का ज्ञान होता है, यहा तक कि अपनी आत्मा का भी बोध नही होना। किन्तु प्रज्ञा नष्ट नही होती केवल प्रज्ञा की वृत्ति नष्ट होती है। किन्तु मूर्छा वह है कि जिसमे आत्मा के सामने अधेरा छा जाता है मृत्यु के समान आत्मा के सामने घोर अन्धकार है। यहा केवल बुद्धि या प्रज्ञा की केवल वृत्ति ही नष्ट नही होती प्रत्युत प्रज्ञा का भी पूर्ण आवरण हो जाता है, प्रज्ञा रहते भी न रहने के बराबर है। मोह मे प्रज्ञा के रहने से प्रकृति के नियम के अनुसार प्रथम से ही प्राण पर प्रज्ञा का जो अधिकार प्रेरणा करने की जन्मकाल में प्रवृत्ति हो चुकी थी उसका निरोध न होने के कारण शरीर का प्राण इस शरीर करने में जाग्रत् के अनुसार ही समर्थ रहता है। इसी से मोह की दशा में बैठा, खडा जैसा भी हो वैसा ही निश्चल रहकर भी शरीर को सम्हाले रहता है। किन्तु मूर्छा की दशा मे उस प्राण पर आज्ञा करने वाले प्रज्ञात्मा पर ऐसा आवरण आता है कि जिससे प्राण की क्रिया भी केवल मूलस्थान अर्थात् हृदय मे ही रह जाती है, शोणित चलता रहता है किन्तु और सब प्राण की क्रिया रुक जाती है जिससे श्वास भी अच्छे प्रकार नही आता। इस प्रकार प्राण के हरने पर भी शोणित के अतिरिक्त शरीर पर उसका अधिकार न रहने से शरीर गिर पडता है, इसी दशा को मूर्छा कहते हैं। यद्यपि इस मूर्छा की दशा और सुषुप्ति की दशा मे अज्ञानता बराबर है, अन्धकार बराबर है तथापि यह मूर्छा सुषुप्ति नही है। क्योकि सुषुप्तिकाल मे यह विज्ञानआत्मा और प्रज्ञानआत्मा निज प्रकाश मे रहती है, आनन्द में मग्न रहती है। जगत् के जितने प्रकार के दु ख हैं सब से उस समय छुटकारा पा जाता है, यहा तक कि थकान भी मिट जाती है किन्तु मूर्छा मे इसके विपरीत स्थिति है, यहा निज प्रकाश भी नही रहता। घोर अन्धकार है और आनन्द की मात्रा बिलकुल नही प्रत्युत सभी दुःखो की मात्रा में रहता है, (डूब जाता) है। उसमें थकान मिटने के बदले थकान की मात्रा अधिक होती है। सुषुप्ति में नासिका से श्वासोच्छ्वास इस प्रकार शान्ति से निकलता है, कि जिससे सोनेवाले का सुख दूसरे मनुष्यो को भी जान पडता है। सुषुप्ति मे शान्ति में प्रसन्नता है। किन्तु मूर्छा में श्वासोच्छ्वास इस प्रकार बन्द रहता है कि उसकी दशा देखकर उसके दु.ख का अनुभव दूसरो को भी होता है, उसके मरजाने का भय रहता है उसके मुख और नेत्र की चेष्टा भयङ्कर हो जाती है।

दूसरा मत है कि मूर्छा ये दोनो ही नई अवस्था नही है अर्थात् प्रज्ञा की ७ अवस्था न होकर ५ अवस्था ही है। क्योकि मोह और मूर्छा इन दोनो का स्वप्न और सुषुप्ति मे अन्तर्भाव हो सकता है। यह प्राज्ञआत्मा बाहर की इन्द्रियो पर बैठकर पाचो प्रकार की ज्योतियो से ससर्ग करके जब कि बाहर के विषयो का भोग करता है, अर्थात् उनके आकाश मे आकर सस्कार ग्रहण करता है, वही जाग्रत् अवस्था है। किन्तु जब इन्द्रियो का ससर्ग छोडकर केवल स्वरूप मात्र मे स्थिर होकर केवल आत्मा की ज्योतिमात्र के ससर्ग से केवल आनन्द का ही अनुभव करता है और किसी विषय का अनुभव नही करता

उसे सुषुप्ति कहते हैं। इन दोनो के बीच की अवस्था को स्वप्न कहते हैं। [illegible]
अवस्थायें है। इन तीनो मे से जाग्रत् की अवस्था मे वे तीनो अवस्थायें [illegible]
के रहने से जाग्रत् है। जाग्रत् मे भी जब प्राणी दूसरे से बात न कर अपने आप ही [illegible]
रता रहता है उस समय उसकी सारी वृत्तिया स्वप्न की दशा है। किन्तु जब [illegible]
करता है तो क्षणभर दूसरे किसी भी विषय का अनुसधान नहीं करता, [illegible]
है। किन्तु स्वप्न की दशा में केवल जाग्रत् का लक्षण नष्ट हो जाता है। [illegible]
समावेश हो जाता है, क्योकि स्वप्न मे भी प्रज्ञानाआत्मा की सुषुप्ति के अनुसार [illegible]
से जो कुछ आत्मा का आनन्द प्रज्ञान मे हुआ करता है वह स्वप्न मे सुषुप्ति है।

इस प्रकार जाग्रत मे ३ अवस्थाओं का और स्वप्न मे २ अवस्थाओं का [illegible]
सुषुप्ति मे अवस्था का द्वन्द्वभाव नष्ट होकर अद्वैतभाव हो जाता है। इन तीन [illegible]
अनुसार मोह में भी प्रज्ञा अपने हृदय-स्थान में स्तब्ध रहती है। बाहर उसकी [illegible]
लिये मोह को भी यदि जाग्रत् अवस्था का स्वप्न कहें तो अनुचित होगा। [illegible]
जाग्रत् अवस्था की सुषुप्ति में अन्तर्भाव कर सकते हैं। क्योंकि पित्त क्षोभ के [illegible]
के कारण अथवा मस्तिष्क के दोष से जो हृदय पर अन्धकार का धक्का लगता [illegible]
दोनो में बराबर है। इसलिये ३ अवस्था जीवनकाल में और मृत्यु, मुक्ति २ अवस्था [illegible]
प्रकार ५ ही अवस्था हैं। इन दोनो का वर्णन आगे किया जायगा।

६—७—मृत्यु, मुक्ति

आत्मा की १० अवस्था पुराने आचार्यों ने कही हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मोह, [illegible]
मृत्यु, सगुणमुक्ति, निर्गुणमुक्ति, लय। इन १० अवस्थाओं में प्रथम ५ का वर्णन [illegible]
पाचो में से मृत्यु, मुक्ति आदि के विषय अधिक होने के कारण पृथक् प्रकरण में [illegible]
पर केवल थोडा सा आत्मा के सम्बन्ध मे परिशिष्ट विषय निरूपण करके [illegible]
समाप्त करेगे।

आत्मा का परिशिष्ट भाग

प्रज्ञान [आत्मा का समन्वय प्रकरण है]

यद्यपि आत्मा अनेक हैं, तथापि उनमें प्रज्ञात्मा ही सबसे अधिक उत्कृष्ट ([illegible]) [illegible]
भी कहती है—

"नून जनाः सूर्येणप्रसूताः" जिनका जन्म है वे अवश्य सूर्य से ही उत्पन्न हैं। [illegible]
ने बृहद्देवता ग्रंथ में कहा है—

> भवद् भूतं भविष्यच्च जङ्गम स्थावरं च यत्
> अस्यैके सूर्यमेवेकं, प्रभवं प्रलयं विदुः ॥

अर्थात् जो कुछ मौजूद है, जो हो चुका है, और जो होने वाला है स्थावर या जङ्गम जो जहा कुछ है इन सबका एक सूर्य ही प्रभव और प्रलय है।

इसलिये यह पृथ्वी भी सूर्य से ही उत्पन्न हुई है और इस पृथ्वी मे जो धारणा शक्तिवाला अग्नि देवता है वह भी सूर्य का ही रूपान्तर है सौनिक ऋषि ने भी ऐसा ही कहा है—

"सूर्य प्रसूता वग्नी तु हष्टौ पार्थिवमध्यमौ"

अर्थात् पृथ्वी का अग्नि और अन्तरिक्ष का अग्नि ये दोनो भी सूर्य से ही उत्पन्न हुए है।

तो ऐसी स्थिति मे जिस प्रकार सूर्य की अग्नि के साथ अग्नि, वायु, सूर्य, दिक्, चन्द्र ये पांच देवता हैं उसी प्रकार पृथ्वी का अग्नि मे भी इन पाचो का मेल है। किन्तु ये पाचो जिसके आधार से मिले हैं वह शुद्ध सूर्य का रस है। किन्तु इन देवो के मिलने के कारण उसके रूप मे परिवर्तन होकर मृत्यु और अमृत के भेद से दो रूप हो गये है। मृत्यु रूप को पृथ्वी और अमृत रूप को अग्नि कहते हैं। यह अग्नि पृथ्वी के केन्द्र से निकलकर पृथ्वी के पृष्ठ पर नाना औषधि या सभी प्रणियो के शरीरों को पृथ्वी से उठाकर बनाता है, और उनमे प्रवेश करता है इसी नियम के अनुसार यह अग्नि पृथ्वी से निकलकर मनुष्य के शरीर मे प्रवेश करता हुआ प्रपद (पाव) के द्वारा धीरे-धीरे हृदय तक जाकर सूर्य से साक्षात् आये हुये पाचो देवताओ से मिलता है। जिससे यह पृथ्वी की अग्नि मे निगूढ पांचो देवताओं मात्रायें विकसित हो जाती है और सूर्य के खिचाव के कारण हृदय से सिर तक उठकर शिरोभाग मे ही उद्भूत होती हैं। जिनको वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन के नाम से पाच इन्द्रियां कही जाती हैं। ये पाचो ही इन्द्रिया जिसके आधार से मिलती हैं और जिसमे वृद्ध हैं वह पृथ्वी का प्राण इन पाचों के भीतर निगूढ है और वास्तव मे वह सूर्य का ही रस है। इसलिये हृदय मे आकर सूर्य से साक्षात् आये हुए सूर्य का रस या उसके पाचो देवता इनसे मिलकर घिलमिल हो जाते हैं। इसी पृथ्वी से आये हुए पञ्चदेवता युक्त प्राण को प्रज्ञात्मा कहते हैं। जो कि सूर्य के रस रूप विज्ञानआत्मा के साथ बद्ध रहती है। यह प्राज्ञआत्मा जो वास्तव मे पृथ्वी का प्राण है, वही इस शरीर की आत्मा है। अर्थात् इस शरीर रूपी रथ का वही रथी है और रथ के वाहन के लिये जिस प्रकार अश्व की आवश्यकता है वही काम यहां पर पाचो इन्द्रिया या विशेषकर मन, प्राण, करते हैं। वाक् बोलने के लिये घ्राण गन्ध, श्वास के लिये, चक्षु दृष्टि या सत्यता के लिये, श्रोत्र श्रवण के लिये और मन सकल्प या विचार के लिये द्वार मात्र हैं। किन्तु इन पाचो के अतिरिक्त जो एक ही पाचो का अभिमान करता है, अर्थात् मैंने कहा, सूँघा, देखा, सुना और उन पर विचार किया, इस प्रकार पाचो का अपने मे एक ही स्थान मे अभिनय करती है, वही इन पाचो से भिन्न और पाचो की प्रेरक प्राज्ञआत्मा है और वही अहमस्मि (मैं हूँ , ऐसा अभिमान करती है।

इस प्राज्ञआत्मा रूपी मुख्य प्राण के ऊपर सात प्रणो का आवरण है। मन, वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, कर्म और अग्नि। इनमें श्रोत्र तक ५ प्राण चेतन शरीर मे ही उद्भूत होते हैं। वृक्षादि स्थावर जीवों के प्राज्ञ पर कर्म, अग्नि ये दो ही आवरण हैं, किन्तु प्रस्तरादि जड़ जीवो की आत्मा पर केवल

अग्नि ही आवरण है। इस प्रकार निःसंग जीवों मे एक आवरण और अन्तः संग जीवो मे दो आवरण और ससग जीवो मे ७ आवरण हैं।

इन सातो आवरण रूपी प्राणो की मात्रा छत्तीस हजार हैं। इन सब को ग्रहण करने वाली प्राज्ञ प्राण की मात्रा भी ३६००० ही हैं। उनमे से एक-एक मात्रा सूर्योदय से सूर्यास्त तक जितना प्राण सूर्य से आता है उसे अहः कहते हैं। प्रत्येक मात्रा इस प्रत्येक अहः प्राण का भोजन करती है। एक बार खाने के उपरान्त पक्व होने के कारण पुनः भोजन नही करती इसलिये प्राज्ञ प्राण के ३६००० मात्रायें बारी-बारी से सूर्य के अह. का सम्बन्ध करके १०० वर्ष मे नि शेष हो जाती है, इसी से मनुष्य की आयु १०० वर्ष की नियत है। इसी प्रकार यह प्राज्ञ प्राण अपनी जीवन सत्ता को रखता हुआ उक्थ कहलाता है, इस उक्थ से चारो ओर अर्क प्राण निकलकर अन्न का ग्रहण और सचय करता है। उन अन्नों को अशिति कहते है। उक्थ, अर्क, अशिति इन तीनो का समन्वय आत्मा का स्वभाव है। जिस प्रकार आकाश में सूर्य का विम्ब एक उक्थ है, क्योकि उससे चारो ओर रश्मिया उठती हैं ये रश्मिया चारो ओर फैली हैं, अर्क कहलाती हैं। यह अर्क चारो ओर से सोम और आप् को खीचकर अपने में लेलेते है यही उनकी अशिति या अन्न हैं। ठीक इसी प्रकार हमारे शरीर मे प्राज्ञ प्राण एक उक्थ है। उसमें उठे हुए मन, प्राण, वाक् इत्यादि ७ अर्क हैं, ये ही जगत् के नाना विषयो को ग्रहण करके उस प्राज्ञात्मा में पहुँचाते हैं यही उनकी अशिति है। इसका उक्थ , अर्क, अशिति का सम्बन्ध होकर शरीर मे रहना ही आयु है। इन सातो अर्कों को ऐतरेय ऋषि ने अपने आरण्यक मे ब्रह्मगिरि कहा है। इन सातो ब्रह्म (प्राणो) की रक्षा करना अर्थात् व्यर्थ व्यय करके नष्ट न करना ही ब्रह्मचर्य है। इस प्राज्ञ प्राण पर जो ७ प्राण हैं उनमे सातवा अग्नि प्राण दो प्रकार का है। अमृत और मृत्यु-इनमे मृत्यु अग्नि चित्य हैं, जिसका शुक्र, मज्जा, अस्थि, मेदा, मास, शोणित, चर्म और लोम इस प्रकार चयन होकर शरीर का रूप बनता है, किन्तु अमृत अग्नि चितेनिधेय होकर लोम भिन्न सातो चयनो पर व्याप्त होकर पृथ्वी के प्राज्ञात्मा रस को या सम्पूर्ण आत्माओ को भी धारण करता है। इस प्रकार इस अग्नि प्राण के द्वारा यह प्राज्ञ आत्मा रूपी मुख्य प्राण सशरीर हो जाता है, परन्तु अपने स्वरूप से वह अशरीर है। इस प्रकार प्राज्ञात्मा की दो अवस्था होती है। सशरीर, अशरीर इनमे सशरीर की दशा मे यह प्राज्ञात्मा द्वन्द्वो के नियम से सयुक्त होता है। प्रिय और अप्रिय काम और शुक्र, विद्या और कर्म। किन्तु अशरीर दशा मे केवल विद्या को रखकर वह आत्मा निर्द्वन्द्व हो जाता है, क्योकि उसके प्रिय और अप्रिय कुछ भी नही रहते। किन्तु सशरीर दशा में आत्मा इन दोनो से विनिर्मुक्त नही होता। इसी प्रकार काम रहने से नाना प्रकार की क्रिया करता है, जिससे नाना प्रकार के शुक्र उत्पन्न होते है और उन शुक्रो से फिर नाना प्रकार के काम उत्पन्न होते है। इस प्रकार के धारा प्रवाह मे पड़कर आत्मा परतन्त्र हो जाता है। जब तक सब कामो या कामनाओं को न छोडे तब तक शुक्र के अधीन होकर नाना लोको मे आत्मा को परिभ्रमण करना पड़ता है। ये ही काम और शुक्र दोनो कर्म के बीज रूप है। काम से कर्म और कर्म से शुक्र और शुक्र से फिर काम होते रहते हैं। इस प्रकार कर्म की धारा आत्मा मे काम से उत्पन्न होती है। किन्तु विद्या की धारा आत्मा की स्वाभाविक धारा है। इसलिये जब कोई कर्म नही रहता तब भी विद्या विद्यमान रहती है। विद्या और कर्म ये दोनो आत्मगति के लिये रथ चक्रवत् हैं, क्योकि कर्म के द्वारा आत्मा की ससार गति होती रहती

है। वह संसार की ओर बढता जाता है—जन्मता है, मरता है, सन्तान उत्पन्न करता है और अपनी सासारिक उन्नति करता है। परन्तु कर्म से आत्मा मे कषाय पड़ता है और आत्मा कलुषित हो जाती है किन्तु इसके विपरीत विद्या से आत्मा की ब्रह्म गति होती है। वह ब्रह्म की ओर बढ जाता है और परम शान्ति मे आता है आत्मा मे कषाय दूर होकर आत्मा शुद्ध स्वरूप मे आती है। यही आत्मा की दो गतिया है जिनको ससार या मोक्ष कहते हैं।

जबकि आत्मा तीनो द्वन्द्वो से निर्मुक्त होकर विद्या के प्रभाव से शुद्ध स्वरूप मे आता है, उसी समय आत्मा मे अष्ट गुणो का उदय होता है। इसलिये वह जीव अष्ट गुणी ईश्वर के समान हो जाता है, और यही सगुण मुक्ति है। इसी को रामानुज मानते हैं वे गुण ८ ये विपाप्मा, विमृत्यु, विजर, विशोक अविजिघित्सा (न खाने की इच्छा) अपिपासा, सत्यसल्प, सत्यकाम। रामानुज के मत मे इन ८ गुणो के आने से जीव भी ईश्वर तुल्य हो जाता है। किन्तु फिर भी वह जीव जगत् की रचना, रक्षा, संहार करने की सामर्थ्य नही रखता इसलिये वह वास्तव मे ईश्वर नही बनता केवल मुक्त आत्मा कहलाता है। ऐसे मुक्तात्मा असख्य हो सकते है। किन्तु ईश्वर सदा एक है।

इस मत के विरूद्ध दूसरा मत यह है कि जीव जब विद्या के अतिशय होने से सर्वथा विशुद्ध हो जाता है तो वह अपने प्रभाव ज्योति मे जा मिलने से एक रूप हो जाता है जिस प्रकार पानी मे बना हुआ प्रतिविम्व पानी की सत्ता से पृथक् अपना स्वरूप धारण करता है। वह अल्प आयतन अल्प वीर्य (शक्ति) रखता है किन्तु पानी की सत्ता नष्ट होने पर वह केवल सूर्य के सदश ही बनता है। प्रत्युत ज्योति मे ज्योति मिल जाने से लय होकर सूर्य ही वन जाता है। ठीक उसी प्रकार काम, कर्म, शुक्र ये तीनो अविद्या के सयोग से यह जीव ईश्वर से पृथक् वन कर अपना स्वरूप धारण करता है। किन्तु वह अविद्या की सत्ता नष्ट होने पर ज्योति मे ज्योति मिल जाने से लय होकर यह जीव भी साक्षात् ईश्वर हो जाता है। जैसे पृथ्वी से वृक्ष, पृथक् स्वरूप धारण करके भी अन्त मे वृक्ष के स्वरूप से मुक्त होकर पृथ्वी हो जाता है। उसी प्रकार ईश्वर से ये सब जीव पृथक स्वरूप धारण करके भी अन्त मे जीव स्वरूप से निर्मुक्त होकर ईश्वर ही वन जाते है। क्योकि यदि ईश्वर से पृथक् जीव की सत्ता मानी जाये और ईश्वर की शक्ति से उसकी शक्ति न्यून मानी जाय तो उसको अपनी आत्मा की अल्प शक्ति पर अवश्य ही ग्लानि होगी इससे वह अशोक नही रह सकता, और उसने ससार की दशा मे ईश्वर मे मुक्त होने का सकल्प किया था। वह सकल्प उसका पूर्ण न होने से उस सायुज्य मुक्ति दशा मे भी वैसा सकल्प होना निश्चित है, तो यदि वैसा सकल्प रहते भी वह साक्षात् ईश्वर नही हुआ तो उसका सत्य सकल्प होना मिथ्या ठहरेगा। इसलिये मुक्ति की दशा मे भी ससार दशा के अनुसार जीव की ईश्वर से पृथक् दशा मान कर द्वैत मानना सर्वथा भूल है। सभी जीव ईश्वर से ही उत्पन्न होकर अन्त मे ईश्वर मे ही लीन हो जाते है, और वह एक ही ईश्वर सदा विद्यमान रहता है, यही सिद्धान्त है।

महान्

यह प्रज्ञात्मा कृमि से लेकर ब्रह्मा तक प्रत्येक जीव मे एक ही रूप है। यद्यपि यह प्रज्ञात्मा प्रत्येक शरीर मे शरीर भेद से भिन्न है। शरीरावच्छिन्न है, और शरीरो के अनन्त होने से संख्या मे भी अनन्त

है। तथापि यह आत्मा निज के स्वरूप मे सर्वत्र एक ही प्रकार का है। ६ ऊर्मिया और आदान (ग्रहण) विसर्ग (निकालना) जाग्रत् स्वप्नादि १० अवस्थायें जैसे मनुष्य में हैं। इसी प्रकार कृमि आदि नीचे के जीवो मे और देवता आदि उत्कृष्ट जीवो मे भी समान हैं। किन्तु फिर इन जीवों की प्रत्येक [illegible] मे जो बहुत सी बातो मे विशेषता प्रतीत होती है, उसका कारण क्या है ?

उत्तर यह है कि इन जीवो मे परस्पर जो भेद प्रतीत होता है वह दो ही प्रकार का है। एक आकृति का दूसरा प्रकृति का। आकृति का भेद दो प्रकार का है। एक सजाति भेद और दूसरा विजाति भेद। मनुष्य, मनुष्य मे, वृक्ष, वृक्ष मे परस्पर विजातीय भेद हैं। इनमे सजातीय भेदों का कारण देश, काल आदि पाचो का वैषम्य है, किन्तु विजातीय भेद और प्रकृति भेद होना अवश्य ही एक प्रधान कारण से है। वह कारण महान् आत्मा हैं। यह महान् ही भिन्न-भिन्न जाति का है जिसे योनि कहते हैं। और इन योनि सख्या की प्राचीन काल मे ऋषियो ने ८४ लाख की गणना की है। यह ८४ लाख महान् भिन्न-भिन्न आकार मे होने पर भी कर्मो के द्वारा परस्पर परिवर्तनशील हैं। अर्थात् हाथी घोड़ा हो सकता है और घोड़ा मनुष्य। इस प्रकार महान् की आकृति भिन्न होने से ही जीवों मे विजाति आकार दीखते हैं। किन्तु प्रकृति भेद का कारण केवल महान् ही नही है, किन्तु महान् और क्षेत्रज्ञ का सम्बन्ध भी कारण है। यह महान् आत्मा चन्द्रमा के रस से बना हुआ काच और जल के सदृश स्वच्छ होने पर भी स्वय प्रकाश नहीं है। जिस प्रकार काच का गोला दीपक के सम्मुख रखने से उसका सामने का अर्ध भाग प्रकाशमान हो जाता है। किन्तु उसके विरुद्ध दिशा मे अर्ध भाग तमोमय रहता है। किन्तु प्रकाश और तम दोनों के सन्धिस्थान मे मन्द प्रकाश रहता है। इस प्रकार वह एक ही गोलक तीन रूप मे परिणत हो जाता है। प्रकाश, छाया और तम। इसी प्रकार यह स्वच्छ महान् आत्मा भी स्वय प्रकाशमान विज्ञान आत्मा के समीप रहकर तीन स्वरूप धारण करता है। विज्ञान विशिष्ट उसका भाग प्रकाशित होकर सत्वगुण कहलाता है और छाया भाग रजोगुण और शेष अन्धकारमय भाग तमोगुण है। इस प्रकार सत्व, रज, तम इन्ही तीनो गुणो को महान् कहते हैं। किन्तु इनकी दो अवस्था होती हैं। एक तीनो गुणो की समता जो इस महान् का वास्तव रूप है उसको पुराने आचार्यो ने प्रकृति, प्रधान और अव्यक्त शब्दों से कहा है। किन्तु यह समता रूप जगत् के आदि मे या प्रलयकाल मे कदाचित् सम्भव होता है। किन्तु जगत् की अवस्था मे कभी क्षुब्ध होकर विषय अर्थात् न्यूनाधिक हो जाता है, और अन्योन्य, (परस्पर) अभिभव (दबाना) आश्रय, जनन (पैदा करना) मिथुन वृत्ति का होता है, यही विषमता जगत् का [illegible]। इस विषम अवस्था को ही महान् कहते हैं। क्योंकि इस अवस्था मे वे तीनों गुण व्यक्त अवस्था में [illegible] सूक्ष्म की अपेक्षा महान् हो जाते हैं। यही महान् किसी समय अव्यक्त था वही [illegible] सुख, दुःख, मोह नाम से त्रिविध भोगो की जो जहा कुछ सामग्री उत्पन्न होती हैं उन सबकी प्रकृति [illegible] कारण ये ही महान् के ३ गुण हैं। इसलिये वे गुण प्रकृति कहलाते है। जिस आत्मा मे यह प्रकृति जिस [illegible] मे जैसी होती है वैसा ही भोग उस आत्मा को मिलता है, इसलिये लक्षण से यह प्रकृति शब्द स्वभाव का वाचक हो गया है। ये ही तीन गुण आत्मा के स्वभाव हैं। "स्व" करके विज्ञान आत्मा के [illegible] प्रज्ञान आत्मा समझी जाती है। उसका "भाव" अर्थात् अवस्था विशेष का होना ही "स्वभाव" है।

स्वभाव या प्रकृति के अनुसार जो भाव प्रज्ञान मे उद्बुद्ध होता है वैसा ही भोग प्रज्ञान आत्मा मे हो जाता है। उस भोग को प्रज्ञान आत्मा कदापि रोक नही सकता, उसके परतन्त्र है इसलिये गीता मे लिखा है कि—

प्रकृत्या क्रियमाणानि, गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार विमूढात्मा, कर्ताऽहमिति मन्यते ।।अ ३, श्लोक २७।।

यद्यपि इस प्रकार प्राज्ञात्मा परतन्त्र है, किन्तु उसको प्रेरणा करने वाली दूसरी आत्मा विज्ञानमय क्षेत्रज्ञ स्वतन्त्र है। वह प्रकृति को अवश्य दवा सकती है किन्तु मात्रा की आवश्यकता अवश्य है। प्रज्ञान की प्रकृति महान् आत्मा की मात्रा यदि विज्ञान आत्मा से अधिक है तो विज्ञान आत्मा के कहने पर भी प्रकृति दुर्निवार होगी, विचार शक्ति व्यर्थ होगी। किन्तु विज्ञान की मात्रा यदि महान् से अधिक है तो वह प्रकृति को दवा कर क्रम-क्रम से अपने स्वभाव का परिर्वतन कर लेगा। प्राय. ऐसा भी देखने मे आया है कि अपनी विज्ञान आत्मा की विशेपता (लियाकत) विशेप वल न रहने पर भी दूसरे किसी महापुरुप की प्रबल विज्ञान आत्मा एकाएक क्षणभर मे किसी दुर्वल मनुष्य की प्रकृति का परिवर्तन कर देती है। इसी विज्ञान आत्मा के प्रभाव से प्रकृति परिवर्तन होते-होते दुराचार करते हुए आत्मा उन्नति पथ पर अग्रसर होता है। और कई जन्म के अनन्तर सर्वथा विशुद्ध होकर मुक्ति पा जाता है। जैसा कि गीता मे लिखा है—

अनेक जन्म संसिद्ध, स्ततोयाति परांगतिम्।
बहूनां जन्मनामन्ते, ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।।१।।

महान् आत्मा के सत्व, रज, तम ये तीनो गुण जगत् के सभी भावो के मुख्य कारण है। सभी आत्माओ की सभी वृत्तिया इन्ही तीनो गुणो के कारण प्रतिक्षण वदलती रहती हैं। गुण यद्यपि तीन ही है, तथापि उनसे उत्पन्न होते हुए भाव अनन्त प्रकार के हे। उन सबमे सत्वगुण से उत्पन्न होते हुए जितने भाव या वृत्तिया है वे सव विज्ञान आत्मा के अनुकूल हे, पोपक हैं, किन्तु रजो गुण से उत्पन्न होते हुए भाव और वृत्तिया विज्ञान के प्रतिकूल हैं, विक्षेपक है। किन्तु तीसरे तमोगुण से उत्पन्न हुए भाव और वृत्तिया विज्ञान के आवरण (ढकनेवाले) होते हैं। विज्ञान मे सत्वगुण से शान्ति, रजोगुण से क्षोभ, तमोगुण से स्थम्भन हुआ करते हैं। जिनके कारण विज्ञान मे न्यूनातिरेक (कमोवेश) विशेपता होती रहती है। अर्थात् सत्वगुण की अधिकता से विज्ञान वढता है, रजोगुण की अधिकता से विज्ञान मे हल चल उत्पन्न होकर विज्ञान की कमी न होने पर भी विज्ञान की शक्ति कम हो जाती है, तमोगुण की अधिकता से विज्ञान के वहुत अश आवृत होकर कम हो जाते हैं। इसलिये विज्ञान की वृद्धि के लिये तम और रज की वृत्तियो को घटाकर के सत्व की वृत्ति वढानी चाहिये। इस प्रकार महान् के द्वारा विज्ञान की विशेपता जैसे होती है, उसी प्रकार विज्ञान के द्वारा महान् मे भी विशेषता होती रहती है। केवल इन दोनो मे मात्रा और वल की अधिकता मे ही निर्भर है। इस प्रकार जैसे प्रकृति के द्वारा विज्ञान मे विशेषता उत्पन्न होती है, वैसे ही आकृति के द्वारा भी विज्ञान मे विशेपता पाई जाती है। इसलिये कृमि, कीट

आदि जीवो के शरीरायतन कम होने से विज्ञान की मात्रा कम होती है, किन्तु मनुष्य में अपेक्षाकृत बहुत होती है। हाथी का शरीर आयतन अधिक होने पर भी बुद्धिनाशक मेद (चर्बी) और श्लेष्मा आदि दोषो की अधिकता के कारण विज्ञान की मात्रा कम है। इसलिये उसका सिर मनुष्य के समान ऊँचा न होकर पशु के समान तिरछा है, दो पांव पर खडा न होकर चार पांव पर खडा है। यही प्रमाण है कि पशु योनि के महान् की अपेक्षा मनुष्य योनि की महान् स्वभाव से ही अधिक विज्ञान रखते हैं।

इनके अतिरिक्त विज्ञान की मात्रा अधिक होने पर भी महान् के रजोगुण से उत्पन्न काम और शुक्र की धारा यदि बढ जावे तो जिस प्रकार 'उल्व' (झिल्ली) से गर्भ और मल से दर्पण और धूम से दीपज्योति आवृत होकर अपनी शक्ति का अपकर्ष कर लेते हैं, उसी प्रकार उस काम से विज्ञान भी अपकर्ष पा जाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि किसी भी वृत्ति की अधिकता होने पर उसके आक्रमण से बडे-बडे महानुभाव विद्वानो की प्रबल विज्ञान की विचार शक्ति पर परदा पड जाता है। जिससे विचार न कर वे भी कितने ही अनाचार कर बैठते हैं।

इनके अतिरिक्त सत्सगति, कुसगति, सुशिक्षा, कुशिक्षा का भी प्रबल प्रभाव विज्ञान पर पडता है इसलिये जो प्राज्ञात्मा जीव अपनी आत्मिक उन्नति के लिये अपने विज्ञान की उन्नति चाहे तो उसको चाहिये कि अपनी प्रकृति मे सत्त्वगुणो के भावो की वृद्धि करने का अभ्यास करे, और सुशिक्षा लाभ करे, सत्सगति करे, इन सबसे प्राकृतिक नियमानुसार अपने आप ही विज्ञान शक्ति धीरे धीरे बढकर प्रकृति के रजोगुण, तमोगुण, के प्रभाव को दबाकर अत्यन्त कल्याण गुण प्राप्ति का कारण होगा और सत्वगुण की वृद्धि से धीरे धीरे प्रज्ञान आत्मा विशुद्ध होता हुआ अन्त मे विज्ञानमय हो जायगा। यही प्रज्ञान जीव-आत्मा की मुक्ति है, यही उसको परम लाभ है, यही परम पद और पराशान्ति है और परमानन्द है।

आत्मशास्त्र समन्वय

आत्मा के निरूपण मे जितने शास्त्र प्रचलित हैं वे आचार्य पृथक् होने के कारण भिन्न-भिन्न भले ही प्रतीत होते हो परन्तु वास्तव मे वे सब शास्त्र किसी एक ही आत्म ग्रन्थ के भिन्न-भिन्न प्रकरण हैं। सब प्रकरणो के समन्वय से किसी एक ही आत्मा का अथवा उस एक आत्मा के भिन्न भिन्न स्वरूपों का निरूपण समझना चाहिये।

दर्शनो मे प्राय तीन शास्त्र मुख्य हैं। वैशेषिक, प्राधानिक और शारीरक। इनमें वैशेषिक शास्त्र केवल भूतात्मा का निरूपण करता है और प्राधानिक अर्थात् सांख्य शास्त्र क्षेत्रज्ञआत्मा का निरूपण करके महान् आत्मा को उस क्षेत्रज्ञ की प्रकृति कहकर निरूपण करता है। तात्पर्य यह है कि सांख्यशास्त्र में प्रकृति पुरुष नाम से जिन दो तत्वो का निरूपण है, उनमे पुरुष तो क्षेत्रज्ञ है और प्रकृति महान् है। और और तीसरा शारीरक जिस आत्मा का निरूपण करता है, वह ऊपर की तीनो आत्माओं से पृथक् परोरजा चिदात्मा है। इस प्रकार तीनों शास्त्र सत्य हैं, किन्तु आत्मा का एक स्वरूप उनका विषय है।

किन्तु नवीन नैयायिक जीव ईश्वर दो भिन्न मानकर दो आत्मा कहते हैं। किन्तु उनका [illegible] आत्मा एक क्षेत्रज्ञ है, अथवा ब्रह्माण्ड का अधिष्ठाता शरीर से बाहर की आत्मा है, जो [illegible]

यद्यपि ऊपर के तीनों शास्त्र जिन-जिन आत्माओं का जिस प्रकार निरूपण करते है, वह उन्ही २ आत्माओं के सम्बन्ध मे सत्य ही प्रतीत होते हैं। किन्तु एक आत्मा को मान कर दूसरे का खडन करना साहस है। अर्थात् क्षेत्रज्ञ और महान् को मानता हुआ साख्य यदि भूतात्मा चिदात्मा को व्यर्थ कहता हो तो यह अनुचित है, और भूतात्मा को मानता हुआ वैशेपिक यदि क्षेत्रज्ञ, चिदात्मा, महान् इन तीनो को व्यर्थ कहे, तो अनुचित है। इसी प्रकार शारीरक अर्थात् वेदान्त शास्त्र भी केवल चिदात्मा ही को मानता हुआ यदि क्षेत्रज्ञ, महान्, भूतात्मा इन तीनो की उपेक्षा करें तो वह भी अनुचित है। तात्पर्य यह है कि चिदात्मा सूत्रात्मा, क्षेत्रज्ञ, महान्, भूतात्मा ये पाँचो ही आत्मा हमारे शरीर मे भिन्न-भिन्न तन्त्रो की प्रकृति करके शरीर की स्थिति नियत करते हैं। उनमे किसी एक ही आत्मा पर निर्भर करके अन्यान्य आत्माओ का तिरस्कार करना विचार सम्मत नही है।

समन्वय

जगत् मे प्रत्येक पदार्थ को देखने से यह सिद्ध हो चुका है कि जो जहाँ कुछ पदार्थ दीखता है वह सब पाञ्च भौतिक है। अर्थात् पाँच भूतो से बना है। वाक् अर्थात् आकाश से पैदा होने के कारण इन पाँचो भूतो को वाक् भी कहते हैं। प्रत्येक वाक् के भीतर प्राण रहता है, और प्राण के भीतर मन रहता है। इस प्रकार मन, प्राण, वाक् इन तीनो की जो समष्टि है वह मन के भीतर विद्यमान एक अन्तर्यामी चिदात्मा के आश्रय से है। इसलिये कोई चित्त को अथवा कोई मन, प्राण, को प्रधान आत्मा भले ही मानता हो किन्तु जबकि ये सब आत्मा वाक् अर्थात् भूत मे ही मिलते हैं। भूत मे उनकी सबकी समष्टि है तो इस एक भूत को ग्रहण करने से इसके अन्तर्गत वे सभी आत्मायें ग्रहीत हो जाते हैं। कोई भी आत्मा पृथक् अवशिष्ट नही रहता इसलिये एक भूतात्मा ही को मानना उचित है। इस प्रकार के विचार से कणाद भगवान् यदि केवल भूतात्मा ही को मुख्य आत्मा मानकर सन्तुष्ट हो गये हो और किसी आत्मा को इस भूतात्मा से पृथक् न देखकर उनका निरूपण न किया हो तो यह उनका विचार सर्वथा उचित और सत्य ही प्रतीत होता है।

इसी प्रकार साख्यशास्त्रो मे भी विचार करने से विरोधाभाव प्रतीत होता है, क्योकि जिस प्रकार क्षेत्रज्ञ के प्रकाश से महान् की तीन अवस्था होकर तीन गुण कहे जाते है, और वही महान् क्षेत्रज्ञ पुरुप की प्रकृति माना जाता है। उसी प्रकार मन, प्राण, वाक् इन तीनों की समष्टि को यदि सांख्य का महान् मान लिया जाय तो वह समष्टि मन अश मे प्रकाशमय होने के कारण सत्व है। प्राण अश मे क्रिया प्रधान होने के कारण रज है। वाक् अश मे ज्ञान क्रिया भिन्न अर्थ स्वरूप होने के कारण तम है। इस गुणसूत्र समष्टि को यदि चिदात्मा पुरुप की प्रकृति मानी जावें तो भगवान् कपिल के माने हुए प्रकृति पुरुप इन्ही दो तत्वो मे चिदात्मा, क्षेत्रज्ञ, महान्, भूतात्मा इन चारो आत्माओ का सग्रह हो जाता है। यदि इसी अभिप्राय से भगवान् कपिल ने दो ही तत्व मानकर सन्तोप किया हो और इन दोनो से पृथक् कोई आत्मा न मानते हो तो यह उनका विचार सर्वथा उचित है और सत्य है।

अब तीसरे शारीरक अर्थात् वेदान्तशास्त्र ने ब्रह्म और माया ये दो तत्व मानकर ब्रह्म को नित्य सद्रूप और माया को अनिर्वचनीय या असद्रूप मानकर अद्वैत माना है। उसमे चिदात्मा ही एक मुख्य

ब्रह्म है, और उसी की माया द्वारा मन, प्राण, वाक् ऐसे ३ भेद अथवा क्षेत्रज्ञ, महान् भूतात्मा ऐसे ३ भेद उत्पन्न होने से इन तीनो को माया मय माना जावे, और इन भेदो को अनिर्वचनीय मिथ्या समझकर शुद्ध एक चिदात्मा को ही माना हो तो यह भगवान् बादरायण का विचार सर्वथा उचित और स्पष्ट है। इस प्रकार विचार दृष्टि से देखने पर वैशेषिक, प्राधानिक, शारीरक इन तीनो दर्शनो मे त्रिकोणाकार रीति से समन्वय प्रतीत होता है, और तीनो मतो के अनुसार एक ही अव्याकृत आत्मा सिद्ध होता है, जिसके चिदात्मा, क्षेत्रज्ञ आत्मा, महान् आत्मा, भूतात्मा इस प्रकार ४ व्याकरण हैं।

इन तीन दर्शनो के अतिरिक्त आजकल के नवीन विद्वन्मण्डली मे और भी तीन दर्शनो की प्रसिद्धि पाई जाती है। न्याय, योग, मीमासा। किन्तु इन तीनो को दर्शनशास्त्र मानना उनका केवल साहस है। क्योकि दर्शन उस शास्त्र को कहते हैं जो कि सामान्य रूप से सम्पूर्ण जगत् का एक क्रम से निरूपण करे। जिसके नियम त्रैलोक्य के पदार्थो पर और उसके बाहर भी सर्वत्र ही एक रूप मे लागू हो। किन्तु यदि जगत् के किसी विशेष स्कन्ध पर विशेष रूप से निरूपण किया जाय, जैसा वनस्पति विज्ञान, शरीर-विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान, दकार्गल विज्ञान तो वह एकदेशी विज्ञान होने के कारण सार्वदेशिक विज्ञान रूप-दर्शन होने के योग्य नही है। यह न्यायशास्त्र जिसको तर्क का न्याय कहते हैं, वह तर्क अर्थात् अनुमान विषय मे कई कारणो से उसका यथार्थता निश्चय करने के लिये जो ऊहा (बुद्धि का ले जाना) उसके न्याय को अर्थात् मार्ग को तर्कन्याय कहते है। इस कारण वह तर्कन्याय केवल कथाशास्त्र (वाद, जल्प,-वितण्डा) हैं। यह न्याय जगत् का निरूपण न होकर जगत् का एक देशी कथा का निरूपण है, इसलिये उसको दर्शन कहना अनुचित है। इसी प्रकार पूर्व मीमासा भी वाक्यार्थ निरूपण है, अर्थात् एक वाक्य का दूसरे वाक्य के साथ क्या सम्बन्ध है और वाक्यो का किस प्रकार के अर्थ होने मे सामर्थ्य है, इसके न्याय को ही मीमांसा कहते हैं, और यह भी एकदेशी होने के कारण दर्शन नही है।

प्रत्येक मनुष्य की प्रवृत्ति मे तीन कक्षायें होती है। दर्शन, विज्ञान, चरित्र प्रत्येक मनुष्य किसी विषय की ओर प्रथम अपनी दृष्टि डालता है, उस दृष्टि का कोई ढग होता है उसी ढग या दृष्टि के प्रकार को दर्शन कहते है। किन्तु देखते-देखते परीक्षा के द्वारा जो विषय निर्धारित होकर ज्ञान मे स्थिर हो जाता है, अर्थात् देखने के विषय का एक स्वरूप स्थिर हो जाता है वह उस विषय का विज्ञान है। दर्शनकाल मे ज्ञान के लिये प्रयत्न था, विज्ञान होने पर वह यत्न रुक जाता है। किन्तु उस ज्ञान से जो मनुष्य अपना कुछ उपयोग सिद्ध करता है, अर्थात् उस ज्ञान के द्वारा जो जैसा बर्ताव करता है वही उसका चरित्र है। परमेश्वर न दीखने पर भी है कि नही इसका निश्चय करने के लिये जो गुरुद्वारा सुना जाय, शास्त्रो के वचन देखे जाय या स्वय कुछ अनुमान किया जाय, विद्वानो से तर्कानुसार किया जाय, इत्यादि-इत्यादि विचार करना दर्शन का विषय है।

किन्तु ईश्वर है ऐसा विश्वास हो जाना विज्ञान और ईश्वर के होने के विश्वास पर उसमें प्रार्थना करना, जप करना और उसके प्राप्ति करने का काम करना ही चारित्र्य है। इस नियम के अनुसार ध्यान विज्ञान का पूर्वाङ्ग है और उपाय है किन्तु चारित्र्य उस विज्ञान का उत्तराङ्ग है और फल है। दर्शन या

है कि यह चारित्र्य भाग दर्शन न होकर दर्शन के फल विज्ञान का भी फल है, इसी कारण इन तीनो को यदि एक ही शास्त्र के ३ विभाग माने जाय तो अनुचित नही। इसी कारण से साख्य और योग इन दोनो शास्त्रो को एक ही शास्त्र समझकर दोनो का एक ही नाम सांख्य प्रवचन कहा है। गीता मे भी कहा है :—

सांख्य योगौ पृथग्बालाः, प्रवदन्ति न पण्डिताः। (५,४)
एकं सांख्यं च योगं च, यः पश्यति स पश्यति ॥ (५,५)

तात्पर्य यह है कि इसी साख्य दर्शन का अथवा उसके विज्ञान का चारित्र्य भाग ही योग है। यह न तो दर्शन भाग है और न यह साख्यशास्त्र से भिन्न शास्त्र है।

वास्तव मे दर्शन का विषय यह है कि इस विशाल जगत् को देखकर प्रत्येक मनुष्य के विचार मे प्रायः स्वभाव से ही यह शका उठा करती है। यह जगत् कब से हुआ, कैसे हुआ, किसी ने बनाया या अपने आप ही हो गया। यदि आप ही हुआ तो नियमानुकूल विज्ञान सिद्ध सब काम कैसे हुए हैं, अस्त-व्यस्त (उलट-पुलट) क्यो नही होता। और यदि इसका कोई नियन्ता पूर्ण ज्ञानवान् इसका अध्यक्ष माना जाय तो वह कहाँ है, जगत् के भीतर या बाहर। जगत् के भीतर रहने पर जगत् पहले ही सिद्ध होता है ईश्वर से जगत् की रचना असम्भव होगी। यदि वह जगत् से बाहर है तो भी असम्भव है, क्योंकि जगत् देश और काल दोनो से अनादि अनन्त दीखता है। इसलिये जगत् से बाहर कोई स्थान ही सम्भव नही है, और वहाँ ईश्वर का रहना भी सभव नही है, इत्यादि इत्यादि इस जगत् के विषय मे शतशः प्रश्न उपस्थित होते हैं। इन्ही प्रश्नो पर विचार करके इनका समुचित समाधान करना ही दर्शनशास्त्र का विषय है। इस प्रकार के दर्शन यद्यपि अनन्त हैं तथापि उनमे से छः बहुत प्रसिद्ध हैं :—लौकायतिक १, वैनाशिक २, स्याद्वादिक ३, वैशेषिक ४, प्राधानिक ५, शारीरक ६।

इनमे प्रथम तीन जगत् कर्त्ता ईश्वर को "नास्ति" कहते हैं, इसलिये तीनो नास्तिक दर्शन हैं। शेष तीनो इस जगत् के बनाने वाले एक ईश्वर को अस्ति कहते हैं, इसलिये ये तीनो आस्तिक कहे जाते हैं। इस प्रकार दर्शन के दो भाग है। यह विभाग जगत् के कर्त्ता के अनुरोध से है। किन्तु जगत् के उपादान द्रव्य के अनुरोध से इन दर्शनो के तीन विभाग है। १ कर्मदर्शन, २ ब्रह्मदर्शन और ३ उभयदर्शन तात्पर्य यह है कि इस जगत् की रचना मे दो भाव स्पष्ट दिखाई देते हैं, एक प्रत्येक पदार्थ मे परिवर्तन और दूसरा अनादिकाल से जगत् का एक ही प्रकार से स्थिर रहना इन्ही दोनो बातो से दो तत्व सिद्ध होते है। एक परिवर्तनशील क्षणिक, विनश्वर और दूसरा सर्वदा, एक रस, शाश्वतिक अविनाशी। इन दोनो तत्वों में प्रथम को कर्म और द्वितीय को ब्रह्म कहते है। इन दोनो मे ब्रह्म को न मानकर विनश्वर तत्व से ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति देखना "कर्म दर्शन" है उसे ही वैनाशिक कहते हैं। माध्यमिक, सौत्रान्तिक, वैज्ञानिक, वैभाषिक आदि कितने ही अवान्तर भेद नास्तिक दर्शनो के है, वे सब वैनाशिक की शाखा हैं। इन सबके विरुद्ध जो दर्शन इन परिवर्तनशील क्षणिक विनश्वर पदार्थों के भीतर निगूढ़ रूप से एक अविनाशी ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानता है, वही आस्तिकदर्शन है। वैशेषिक

आदि सब इसी विभाग मे हैं। वे दोनो ब्रह्म और कर्म-दर्शन अद्वैत पक्ष मे है। किन्तु जितने ही अन्य दर्शन ब्रह्म और कर्म अर्थात् अविनाशी और विनश्वर दोनो तत्वो के मेल से जगत् की सृष्टि मानते हैं। वे भक्ति दर्शन वा उपासना दर्शन कहे जाते हैं वे सब द्वैत पक्ष के हैं। उनके मत मे परिवर्तनशील विनश्वर पदार्थो मे नित्य विद्यमान एक सच्चिदानन्द सदा एक रस अविनाशी आत्मा भी है, वही मेरी आत्मा है। इसीलिये हम उन नास्तिको के अनुसार असद्रूप न होकर सदा सद्रूप नित्य परमानन्द हैं। इसी अभिप्राय को लेकर एक महर्षि कहते हैं।

असन्नेव स भवति, असद् ब्रह्मेति वेदचेत्।
अस्ति ब्रह्मेतिचेद्वेद सन्तमेन ततोविदुः॥

अर्थात् वह स्वय असत् अपने को बनाता है, जो कि ब्रह्म को असत् मानता हुआ आत्मा को असत् मानता है। किन्तु जो ब्रह्म को अस्ति कहता हुआ आत्मा की सत्ता मानता है उसकी आत्मा सदा के लिये नित्य अविनाशी और स्थिर है। इसीलिये ब्रह्म मानने वाले पुरुष को सन्त अर्थात् सदा रहने वाला कहते है।

आत्मसार समुच्चय

इस प्रकार इस आत्म प्रकरण मे कुल ७ आत्मायें दिखाई गई हैं। १—चिदात्मा, २—सूत्रात्मा ३—क्षेत्रज्ञआत्मा, ४—महानात्मा, ५—भूतात्मा, ६—हसआत्मा, ७—दैवआत्मा। इन सातो मे दैवात्मा कृत्रिम है जो कि यज्ञ करने से क्षेत्रज्ञात्मा मे ही विशेष रूप से उत्पन्न होता है, और यह भी क्षेत्रज्ञात्मा का ही रूपान्तर है। किन्तु यह दैवात्मा सभी प्राणियो मे नही पाया जाता केवल धार्मिक मनुष्यो मे ही उत्पन्न होता है। और इस आत्मा के उत्पन्न होने पर वह पुरुष मनुष्य न कहा जाकर देव कहलाता है। प्राचीन समय मे भूमि स्वर्ग के नाम से जो उत्तराखण्ड मे स्वर्ग स्थान नियत था वहाँ के बसने वाले सभी पुरुष प्राय इस दैवआत्मा के प्रबल होने से 'भूमिदेव' कहे जाते थे। ऐसे देवो की आत्मा देहावसान के उत्तर नियम से सूर्यमण्डल के देव लोक मे ही जाती थी। वह आत्मा पितृलोक मे अन्य मनुष्य के अनुसार नही जाती थी। यह आत्मा तीन प्रकार की है परब्रह्मपथ, अपरब्रह्मपथ, देवपथ। परब्रह्मपथ की आत्मा निराकार ब्रह्म मे लीन होकर अपने परिच्छिन्न स्वरूप से निर्मुक्त हो जाती है। और भूमा होकर आनन्दघन बन जाती है, और दूसरे अपरब्रह्मपथ की दैवात्मा अपने परिच्छिन्न स्वरूप से निर्मुक्त न होकर भी ससार यात्रा से निर्मुक्त हो जाती है, और साकारब्रह्म मे सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य के भेद से प्रपन्न हो जाता है। इन दोनो गतियो को अपवर्ग मोक्ष कहते हैं। इन गति मे जाने वाली आत्मा का पृथ्वी मे आवागमन नही होता, किन्तु तीसरी दैवात्मा देवपथी होने से देवलोक मे जाती है और वहाँ स्वर्ग का आनन्द भोग करके किञ्चित् अवशिष्ट कर्म को लेकर फिर पृथ्वी मे जन्म लेती है। इस प्रकार दैवआत्मा के तीन भेद सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार हस आत्मा भी भूतात्मा का ही रूपातर है। और वह इस जन्म मे ही नहीं उत्पन्न होकर देहावसान के पश्चात् इस स्थूलशरीर से सम्बन्ध छोडकर गन्धर्वयोनि मे प्रविष्ट होकर दूसरी और

चन्द्र के मध्याकाश मे गन्धर्वलोक मे मनुष्यो के अनुसार ही सुख दुःख भोगती हुई अपना जीवन निर्वाह करती है। इस आत्मा मे मनुष्यो के ११ इन्द्रियो के अतिरिक्त १७ इन्द्रिया अधिक होती है, जिनके द्वारा योगियो के सब धर्म उसमे स्वभाव से ही विद्यमान रहते हैं। यह आत्मा सात्विक, राजस, तामस के भेद से तीन प्रकार के हैं। सात्विको को देवता, राजसो को गन्धर्व और तामसो को भूत कहते हैं। किन्तु साधारण बोलचाल की भाषा मे इन तीनो को तीनो शब्दो से प्रायः व्यवहार करते है। इसीलिये इन तीनो भेदो के अवान्तर भेदो को लेकर १८ भेद आयुर्वेद के चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट ग्रथो के भूतोपशमनीयाध्याय मे विशेष रूप से निरूपण किया है। इस प्रकार ये दोनो आत्माये क्षेत्रज्ञ और भूतात्मा के ही रूपान्तर होने से गौणआत्मा है।

इन दोनो के अतिरिक्त पाँच आत्मा सभी प्राणियो के शरीर मे सामान्य रूप से पाई जाती है। जिनमे भी चिदात्मा और सूत्रात्मा ये दोनो शरीर का अभिमान न रखने से देही, शरीरी, शारीरक नही कहलाते और शेष तीनो शरीर भेद से भिन्न होने के कारण शरीराभिमानी या शरीरी कहलाते है। (सांख्य क्षेत्रज्ञ को अनेक और वेदान्त इसको एक ही समझता है) इन पाँचो मे प्रथम चिदात्मा उस बड़े महासूर्य उत्पन्न होता है। जिस महासूर्य के चारो ओर यह हमारा सूर्य परिक्रमा करता है और जिसे ब्रह्मा या अभिजित् का तारा कहते हैं, उस चिदात्मा के तीन भेद हैं। आभु, अम्व और सहस्र—इनमे आभु उस आधार को कहते हैं जो अखण्ड रूप से सम्पूर्ण जगत् मे व्यापक है और प्रशान्त है। और जिस धरातल पर इस सम्पूर्ण जगत् की चिति अर्थात् चुनाव हो रहा है इसलिये उसको चिदात्मा कहते है, और वह सर्वत्र विभु अर्थात् व्यापक है इसलिये आभु (चारो ओर) कहते है और यह ज्ञान स्वरूप है। इस चित्र या ज्ञान मे सर्वत्र एक प्रकार का बल व्याप्त है, जो जल, अग्नि, वायु के अनुसार खण्ड २ वाला है: उन्ही बल खण्डो के न्यूनाधिक परिमाण से चयन होने पर प्रथम गुणो की उत्पत्ति और फिर गुणो के चयन से भिन्न-भिन्न द्रव्यो की उत्पत्ति हुआ करती है। जो जहा हम कुछ देखते हैं वह सब कुछ भिन्न-भिन्न बलो का ढेर है। जिन बलो के मेल से वस्तु बनती है उससे अधिक बल आधीन करने पर उस वस्तु की हृदयग्रन्थि उघड जाती है और वह वस्तु नष्ट हो सकती है, इन्ही बलो को अम्व कहते हैं। जो असत् होकर भी बांधनेवला, आत्मा को परतन्त्र करनेवाला एक महा-भयानक तत्व है। इन्ही अम्वो के भिन्न-भिन्न मात्रा मे चिति अर्थात् चुनाव होने से भिन्न-भिन्न वस्तु के स्वरूप बनते हैं, इसलिये अम्व को भी चिदात्मा कहते है। इन दोनो के अतिरिक्त तीसरा सहस्र है जो कि प्रत्येक वस्तु मे पिण्ड और किरण का भेद उत्पन्न करता है। जैसा कि सूर्य का विम्व या दीपक की लौ एक पिण्ड है उसके चारो ओर एक किरण मण्डल जो दीखता है उसे ही सहस्र कहते हैं। यह सहस्र प्रकाशवान पदार्थ मे ही नही होते बल्कि अप्रकाश आदि सभी पदार्थो मे समान रूप से अपना किरण मण्डल बनाते है, वे सब सहस्र है। उसमे उस पिण्ड से किरण मण्डल की परिधि तक पिण्ड रस का चुनाव होता है, इसलिये सहस्र को भी चिदात्मा कहते हैं। हमारे शरीर के हृदय मे जो तिल की बराबर ज्योति रखता हुआ हमारी क्षेत्रज्ञात्मा का पिण्ड है उस पिण्ड से शरीर के चर्म तक या बाहर के पदार्थो तक जो आत्मरश्मि निकलकर अपना मण्डल बनाता है उसे ही विद्वानो ने विज्ञान कहा है। हमारे विज्ञान या बुद्धि हमारी आत्मा का रश्मि मण्डल है, जो घट-पट आदि बाहर के विषयो पर जाकर उनका प्रकाश करता है। इसलिये उस आत्मा के सहस्र

को विज्ञान कहने से विज्ञान, चेतना, चैतन्यचित्, संवित् आदि शब्दो से व्यवहार करते हैं। इस प्रकार ये ही तीन चिदात्मा के स्वरूप हैं इन तीन रूपो मे चिदात्मा सम्पूर्ण जगत् मे व्यापक है।

दूसरा सूत्रात्मा है जो कि एक को दूसरे से जोडता है यह तत्व सर्वत्र व्यापक होकर भी चिदात्मा से भिन्न है, और चिदात्मा, क्षेत्रज्ञआत्मा आदि सभी आत्मा जो कि अपना भिन्न-भिन्न [illegible] रखते हैं, उन सब आत्माओ पर अपना प्रभाव रखता है। इस सूत्रात्मा के द्वारा एक आत्मा दूसरी आत्मा से बद्ध हो जाती है। जिस प्रकार चिदात्मा ईश्वर रूपी सूर्य से या जिस प्रकार क्षेत्रज्ञआत्मा आकाश के सूर्य से और महान् चन्द्र से आते हैं, उस प्रकार यह सूत्रात्मा किसी घन पिण्ड मे नहीं आता किन्तु यह इस महान् विशाल आकाश मे सर्वत्र व्यापक होकर एक ब्रह्माण्ड को दूसरे ब्रह्माण्ड मे भी जोडता रहता है, अथवा यो कहिये कि यह अन्तरिक्ष से आता है, और वायु स्वरूप है। यह सूत्रात्मा अनन्त प्रकार का होने पर भी मुख्यतया ३ प्रकार का है सत्य, योजक, श्रद्धा इनमे सत्य वह सूत्रात्मा है जो मृत्यु को अमृत से और अमृत को मृत्यु से जोडता है। तात्पर्य यह है कि जगत् के सभी पदार्थ अमृत और मृत्यु इन दो तत्वो के समुच्चय रूप है। जिन भूतो को हम देखते हैं वे सब मृत्यु रूप है। किन्तु इन सब मे पृथक्-पृथक् अभिमानी रूप से अमृत देवता रहता है जिसके कारण उस वस्तु की सत्ता रहती है और वह अमृत अग्नि, वायु, इन्द्र रूप हैं। इन तीनो अमृतो का मृत्यु से जो बन्धन ग्रन्थि बनी है वह सूत्रात्मा के कारण है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु मे कुछ न कुछ शक्ति पाई जाती है उन शक्तियो और शक्तिमानो का परस्पर सम्बन्ध भी इसी सूत्रात्मा के कारण है। इस प्रकार अमृत, मृत्यु और शक्ति से शक्तिमान् का सम्बन्ध कराने वाले दोनो सूत्रात्माओ को 'सत्य' कहते हैं। इसी प्रकार अमृत को अमृत से जोडने वाला और मृत्यु को मृत्यु से जोडने वाला योजक सूत्रात्मा है। जैसा चिदात्मा, क्षेत्रज्ञ, महान्, भूतात्मा इन सब अमृतो का परस्पर एक सूत्र मे बाँधकर जो प्राणी का शरीर रूपी एक सत्ता बनी है यह अमृतो को अमृतो से योजक (जोडनेवाला) सूत्रात्मा है, और सूर्य का पृथ्वी मे, पृथ्वी का चन्द्रमा से जो परस्पर बन्धन है अथवा प्रत्येक वस्तु मे प्रत्येक परमाणुओ का जो परस्पर सम्बन्ध है ये सब मृत्यु से मृत्यु का योजक सूत्रात्मा है।

तीसरा सूत्रात्मा अवयवो को अवयवी से नित्य सम्बन्ध कराता है, जैसा सूर्य की किरणों का सूर्य से बन्धन है। मिट्टी के ढेले पर पृथ्वी का आकर्षण है इत्यादि-इत्यादि सभी ऐसे बन्धन जिस सूत्रात्मा से होते हे उसे श्रद्धान कहते है। इस ही श्रद्धान के द्वारा चन्द्र मण्डल मे रहते हुए पितरो की आत्माओ का भूमण्डल पर रहते हुए पुत्रो की आत्माओ के साथ सात पीढी तक सम्बन्ध बना रहता है। और उसी श्रद्धान के द्वारा पुत्रो के दिये हुए अन्न पिण्डो का रस चन्द्रकिरण मार्ग से ऊपर [illegible] पितरों के आत्मा मे पहुँच जाता है। इस प्रकार सूत्रात्मा के तीन भेद सिद्ध होते है। इन दोनो आत्माओ के अतिरिक्त जो तीन आत्मा शरीरी माने जाते है, अर्थात् शरीर के भेद से भिन्न-भिन्न होते है, वे भी प्रत्येक तीन-तीन प्रकार के है। जैसा कि विज्ञान, इन्द्र अर्थात् मुख्य प्राण और विराट् ये तीनो [illegible] क्षेत्रज्ञात्मा है। जब क्षेत्रज्ञ सूर्य से आता है उस सूर्य मे तीन तत्व हैं। ज्योति, गौ, आयु इनमे ज्योति से विज्ञान, आयु से इन्द्र और गौ से विराट् की उत्पत्ति है।

आकाश के सूर्य मे ज्योति आदि तीन तत्वो के अनुसार शरीर के सूर्य में विज्ञान, इन्द्र और विराट् ये तीन तत्व होते हैं। इनमे भी ज्योति मनोमय है। आयु प्राणमय है और गौ वाङ्मय है। इसी प्रकार महान् आत्मा जो चन्द्रमा से आता है वह भी तीन प्रकार के हैं। आकृति, प्रकृति और अहकृति। तात्पर्य यह है कि आत्मा के आवरण स्वरूप यह शरीर तीन प्रकार के है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण। इनमे स्थूलशरीर को ही आकृत कहते हैं, यह सबके बाहर है और स्पष्ट दीखता है, इसी स्थूल साँचे को योनि स्वरूप महान् कहते है। किन्तु इसके भीतर जो सूक्ष्म शरीर है उसे ही प्रकृति कहते है वह गुण स्वरूप महान् है और उसके भी अन्तर्गत कारणशरीर है, उसे ही अहकृत कहते हैं, वह अविद्या स्वरूप है, महान् है। ये तीनों ही महान् तीनो शरीरो के तीन साँचे हैं जो कि कर्म सूत्र द्वारा भूतात्मा मिले रहते हैं। अब तीसरी भूतात्मा जोकि पृथ्वी के रस से उत्पन्न होता है, वह भी तीन प्रकार के हैं–वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ इनमे कही केवल वैश्वानर ही रहता है जिन्हें असंज्ञ जीव कहते हैं जैसा प्रस्तर-पत्थर आदि और कही पर वैश्वानर, तैजस ये दो आत्मा होती हैं, उनको अन्तःसज्ञक कहते हैं। जैसे वृक्षादि और कही वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ ये तीनो आत्मा होते है उनको ससज्ञ जीव कहते हैं–जैसे मनुष्य आदि। इनमे वैश्वानर सबसे अधिक व्यापक है, उससे कम तैजस और उससे भी कम प्राज्ञ का उद्बोध है।

इस प्रकार चिदात्मा, सूत्रात्मा, क्षेत्रज्ञ, महान्, भूतात्मा, दैवआत्मा, हंसआत्मा इन सातो आत्माओ के तीन तीन भेद होने से कुल २१ आत्मा सिद्ध होते हैं। इन सबका अधिष्ठान स्वरूप यह शरीर बाईसवी आत्मा है। इन्ही बाईस आत्माओ की गतिविद्या आगे के प्रकरण मे दिखाई जावेंगी।

आत्मागति परिच्छेद

इस आत्मागति परिच्छेद में ८ प्रकरण हैं—१–गतिस्वरूप, २–गतिप्रभेद, ३–गतिनिमित्त, ❀४–प्रेत्यस्थिति, ५–गतिमार्ग, ६–गन्तव्यलोक या स्थान, ७–भोग और ८–अर्थवाद।

१–गतिस्वरूप

आत्मा दो प्रकार का है, १ अखण्ड और २ यौगिक।

❀बिलकुल चले जाने पर आत्मा की दशा अर्थात् शरीर से बाहर निकलने पर आत्मा की दशा।

इनमे अखण्ड आत्मा दिक्, देश, काल से❀ अनवच्छिन्न होने के कारण गति नही रखता। गति परिच्छिन्न की ही होती है। एक देश को छोडकर दूसरे देश का ग्रहण करना ही गति है। इसलिये जो तत्व सर्वदेश मे एक रस व्याप्त है उसकी गति कहना असभव है। इसमे जो आत्मा सब आत्माओं मे मुख्य है उसके लिये यह गतिविद्या सम्वन्ध नही रखती। किन्तु दूसरी जो यौगिक आत्मा है जिनके अनेक भेद गत प्रकरण मे कहे जा चुके हैं उन्ही के सम्वन्ध से यहाँ पर गतिविद्या दिखाई जाती है।

यहाँ यह जानना चाहिये कि इन यौगिक आत्माओ मे मौलिक या यौगिक जिन तत्वो के योग से यौगिक आत्मसृष्टि हुई है वे सव तत्व जो कि यौगिक आत्मा के अशरूप हैं, भिन्न-भिन्न स्थानो से आकर एकत्र सम्मिलित होकर यौगिक आत्माओ का रूप बनाते हैं। वे सब अश जिन जिन स्थानो से आते हैं उन स्थानो को उन अशो का प्रभव या योनि कहते हैं। इन यौगिक आत्माओ मे से जब ये भिन्न-भिन्न अश किसी कारण से पृथक् होते हैं तो वे अश तत्क्षण प्रकृति नियमानुसार अपनी योनि मे जा मिलते हैं। इस प्रकार किसी यौगिक आत्मा के भिन्न-भिन्न अशो का भिन्न-भिन्न अपनी योनि मे जाना ही आत्म-गति है, और यही गति इस आत्मगति परिच्छेद मे दिखाई जायगी।

२—गतिप्रभेद

आत्माओ की गति सव मिलाकर यद्यपि अनेक प्रकार की होती है। किन्तु उनमे से केवल सव से प्रथम, सवसे प्रधान भूतात्मा की ही गति यहाँ दिखाई जाती है। भूतात्मा की गति सब मिलाकर १० प्रकार की हैं। १—ससारगति, २—अतिमुक्ति, ३—अतिमृत्यु, ४—पञ्चत्व, ५—ब्राह्मी, ६—दैवी, ७—ऐन्द्री, ८—नारकी, ९—अगति, १०—समवलय। इन दशो मे से कोई न कोई गति भूतात्मा की अवश्य होती है। यद्यपि क्षेत्रज्ञआत्मा, महान्आत्मा, दैवआत्मा, हसआत्मा इन चारो के लिये ये १० गति नही कही गई हैं। किन्तु हसआत्मा भी भूतात्मा का रूपान्तर होने के कारण गतिमान् अवश्य है। किन्तु उसका एक ही लोक (गन्धर्वलोक) नियत होने के कारण एक ही गति नियत है। इसी प्रकार दैवात्मा की भी एक ही गति नियत है। क्षेत्रज्ञ और महान्आत्मा इन दोनो की निज स्वरूप से यद्यपि एक ही गति है, किन्तु भूतात्मा के साथ रहने से उन दोनो की अन्यान्यगति भी कितनी ही हो सकती है जिनका विशद वर्णन आगे होगा और चिदात्मा सूत्रात्मा की गति नही है।

१—संसारगति

भूतात्मा की सव गति मिलकर दो प्रकार की हैं। १—ससारगति और २ सपरायगति। इस भूतात्मा के यात्रा सचार के लिये तीन ही लोक नियत है। १ मनुष्य लोक, २ देवलोक, ३ पितृलोक। इनसे अतिरिक्त ब्रह्मलोक आदि लोको मे गई हुई आत्मा स्थिर हो जाती है, फिर वहा से अन्यत्र लोका-न्तर मे नही जाती, और उसका इस पृथ्वी मे पुनरावर्तन होता है। इसलिए वे सब इस आत्मा के सचार योग्य लोक नहीं है। जब तक आत्मा की मुक्ति न हो तव तक यह आत्मा मनुष्य लोक-आदि तीनो लोको

❀अन=निर+अवच्छिन्न।

में कही न कही अवश्य रहती है। उन तीनों मे से देवलोक, पितृलोक के जिस प्रकार बहुत से भेद हैं, उसी प्रकार इस मनुष्यलोक मे भी ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब-पर्यन्त बहुतसी योनिया है समास और व्यास, १४ भूतसर्ग अथवा ८४ लाख योनि जिनमे यह जीवात्मा जनमकर, मरकर एक योनि मे भ्रमण करता रहता है यही योनि "परिवर्तन" मनुष्यलोक मे इस जीवात्मा की संसारगति हैं। ससार का अर्थ संसरण अर्थात् जन्म मृत्यु के द्वारा एक योनि से दूसरी योनि मे नियति (नियम) के साथ सरकना ही संसार है।

जिन-जिन कर्मों के द्वारा जिन-जिन योनियो में जिस-जिस प्रकार यह आत्मा संसार गति पाता है, वह ससार गति की कर्मगति मनुस्मृति १२ अध्याय मे विशद्रूप से दिखाई गई है। इस ससार गति के अतिरिक्त भूतात्मा की जितनी गतियां हैं उन सब को * सम्परायगति कहते हैं।

(नित्यगति)

सम्परायगति सब मिलकर दो प्रकार की है। नित्यगति और कालगति। नित्यगति को संसृति और कालगति को देहान्त कहते हैं। तात्पर्य यह है कि इस प्राणी का शरीर भिन्न-भिन्न नाना पदार्थों के एकत्र मिलने से या उनके परस्पर बन्धन से उत्पन्न होता है। इस बन्धन को हृद्ग्रन्थि बन्धन कहते हैं। इसी हृद्ग्रन्थि के उघड़ने से या इस बन्धन के खुलने से आत्मा की मुक्ति कही जाती है। परन्तु स्मरण रहे कि इस हृद्ग्रन्थि की गाठ मे जो तत्त्व गठे हुए हैं, और जिनका बन्धन है वे सब तत्त्व प्रतिक्षण ग्रन्थि से उघडकर बन्धन से मुक्त होकर अपनी अपनी योनि मे जाते रहते हैं और उनकी जगह दूसरे तत्व आ-आ कर उनके बन्धन या ग्रन्थि स्थान को पूर्ण करते हैं। जिस प्रकार दीपक की लौ मे अङ्गिरा की धारा तेल से आकर सूर्य से आते हुए आदित्य प्राण के साथ ग्रन्थि मे बद्ध होता है उसी ग्रन्थिबन्धन से प्रकाश का स्वरूप 'लौ' के रूप मे उत्पन्न होता है। परन्तु जिन का बन्धन होता है वे प्रतिक्षण निकलते रहते हैं, किन्तु उनका स्थान दूसरे अङ्गिरा और आदित्यप्राण पूरा करते रहते हैं। काच या पानी में सूर्य का बिम्ब जिन-जिन रश्मियो से उत्पन्न होता है, वे रश्मिया प्रतिक्षण बदलती रहती हैं किन्तु उनका स्थान दूसरी रश्मियों से पूर्ण होते रहने के कारण प्रतिबिम्ब स्थिर दीखता है। किसी नदी के किसी तीर्थ पर या उसके घाट पर जिन जलो को इस समय देखते हैं वे जल दूसरे ही क्षण मे नही रहते। किन्तु उनका स्थान जलो से पूरा रहने के कारण सहस्रो वर्षो से उस तीर्थ मे उस धारा की स्थिति मानी जाती है। तात्पर्य यह जिस प्रकार राजा बदलता है, पहरायती बदलता है, किन्तु गद्दी या पहरे का नियम नही बदलता उसी प्रकार इस शरीर मे भी शरीर के बनाने वाले भूत और देवता अपने-अपने ग्रथिबन्धन से निर्मुक्त होकर प्रतिक्षण गति करते रहते हैं। किन्तु दूसरे भूत और देवताओ से स्थान की पूर्ति होने के कारण शरीर की स्थिति ज्यो की त्यों बनी हुई दीखती है। तात्पर्य यह है कि बधे हुए पदार्थ प्रतिक्षण छूटते रहते हैं। किन्तु ग्रन्थि या बन्धन नही छूटता, बस इसी कारण दो गति सिद्ध होती है। यदि ग्रन्थि या बन्धन छूट जाय तो उसे कालगति या देहान्त कहेगे। किन्तु ग्रन्थि या बन्धन न छूटकर बधे हुए तत्व ग्रन्थि मे छूटते हैं तो उसी गति को नित्यगति या संसृप्ति कहते हैं।

---

* मनुष्यलोक से अन्य लोको मे जाना।

२–अतिमुक्ति = भूतगति

यह नित्यगति दो प्रकार की है। भूतगति और देवगति। क्योंकि प्रत्येक प्राणी आत्मा और शरीर इन दोनो के सयोग से बना हुआ है। इनमे आत्मा पाच देवताओं मे और शरीर पाच भूतों से बना हुआ है। इस आत्मा और शरीर का जब तक परस्पर घनिष्ठ सबन्ध बना रहता है, तभी तक प्राणी का जीवन है। इन दोनो मे प्रतिक्षण नित्यगति हुआ करती है, जिसके कारण शरीर मे पञ्चभूत, आत्मा के देवताओ से पृथक् होकर निकलते रहते हैं। और वे वायु मे जाकर क्रम से पाचो भूत पृथ्वी के पाचों भूतो मे मिलते रहते हैं। इसी प्रकार आत्मा के पाचो देवता भी शरीर के पाचों भूतों से पृथक् होकर आकाश के पाचो देवताओ मे सम्मिलित होते रहते है। किन्तु इस नित्यगति मे विशेषता यह होती है कि शरीर के धातु पञ्चभूतमय होने पर भी शरीर मे उनके स्वरूप आध्यात्मिक हो जाते हैं, जो कि लोम, त्वचा, रक्त, मास, वसा, अस्थि, मज्जा, शुक्र ये सब देवता से सम्बन्ध छोटने पर अपने आध्यात्मिक स्वरूपो से च्युत होकर पृथ्वी के पञ्चभूतो के स्वरूप मे आ जाते है। इस प्रकार शारीरक धातुओं का देवताओ से सम्बन्ध छूटकर पृथ्वी वाले भूतो के स्वरूप मे आ जाने को अतिमुक्ति कहते हैं।

(३–अतिमृत्यु=देवगति)

देवता और भूत इन दोनो के सयोग से जैसे भूतो का आध्यात्मिक रूप भिन्न होता है, उसी प्रकार पञ्चदेवताओ का भी यह आध्यात्मिक रूप भिन्न हो जाता है। वह अग्नि, वायु, सूर्य, दिक्, चन्द्र इन पाँचो देवताओ का आध्यात्मिक रूप क्रम से इस प्रकार है। वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत और मन इन पाँचो इन्द्रिया नित्य गति के कारण शरीर के भूतो से पृथक् होते हैं, तो उनका उस समय वह आध्यात्मिक रूप का भी सङ्गठन निवृत्त हो जाता है और वाक् अग्नि के रूप मे आ जाता है। इसी प्रकार प्राण आदि भी वायु आदि देवताओ के रूप मे परिवर्तित हो जाते हैं। इस प्रकार इन्द्रियो के देवता रूप मे परिवर्तन होने को ही ❀ "अतिमृत्युगति" कहते हैं। मृत्युरूपी भूत के बन्धन मे आसक्त रही देवताओं का अतिक्रान्त (छुटकारा) होना ही अतिमृत्यु कहलाता है।

(४–पंचत्व = भूतगति)

पूर्व मे सपरायगति के नित्यगति और कालगति इस प्रकार दो भेद कहे गये थे। जिनमे नित्यगति के दो भेद जिस प्रकार ऊपर दिखायें गये हैं उसी प्रकार कालगति के भी दो भेद हैं, भूतगति और आत्म-गति। पञ्चभूतो का बना हुआ शरीर और पञ्चप्राणो से बनी हुई आत्मा इन दोनो का परस्पर जो सूत्रा-त्मा के द्वारा सबन्ध है वह सूत्रात्मा के शिथिल होने से टूटकर जब पृथक्-पृथक् दोनो हो जाते हैं तो इस शरीर के पाचो भूत इस पृथ्वी के पाचो भूतो मे जुदे २ मिलकर लीन हो जाते हैं। अर्थात् तब शरीर पाच जगह बट जाता है। इसी एक के पाच होने को 'पञ्चत्व' कहते हैं। पञ्चत्व होने पर इसकी बुद्धि एक नही रहती, इसलिये इस पञ्चत्व को देहान्त भी कहते है।

❀ अति=परेजाना

(प्राणगति–उत्क्रान्ति के ४ भेद हैं)

अब दूसरी प्राणगति को उत्क्रान्ति कहते हैं। जिस प्रकार पञ्चत्व मे पाचो भूतो का शरीर आत्मा से पृथक् हो जाता है, उसी प्रकार पाँचो देवो की आत्मा भी शरीर से पृथक् हो जाती है। किन्तु यह विशेष है कि शरीर के पाँचो भूत अलग होकर पाँच जगह बट जाते हैं। परन्तु आत्मा के पाँचो देवता अलग होकर भी अपने प्रभव के रूप मे पाँच जगह नही बटते। हमारी इस भूतात्मा मे काम कर्म, शुक्र आदि अविद्या के द्वारा जो पाँचो देवताओ की हृदग्रन्थि बन्धन हो रहा है वह मुक्ति के पहले अविद्या का निवृत्ति न होने से टूटने नही पाता, इसलिये वह पाँचो देवताओ की बनी हुई आत्मा शरीर से पृथक् होकर भी पूर्ववत् परस्पर जुडे हुए रूप मे कर्मगति से कही की कही परिभ्रमण करती रहती है। वह पृथ्वी को छोडकर ऊपर को देवलोक या पितृलोक मे जाती है, इसलिये उस जाने को प्राण की उत्क्रान्ति गति कहते है।

यह उत्क्रान्तिगति दो मार्गो मे होती है। देवयाण, पितृयाण। किन्तु देवगण के दो शाखाऐं हैं। १–ब्रह्मपथ, २–देवपथ। ब्रह्मपथ मे जाने से मुक्ति होती है और देवपथ मे जाने से दैवत स्वर्ग होता है। इसी प्रकार पितृयाण की भी २ शाखाऐं है ३–पितृपथ और ४–नरकपथ। इनमे पितृपथ से पितृस्वर्ग को जाता है और नरकपथ से नरक को। इसी भेद के कारण उत्क्रान्ति ४ प्रकार की होती है।

(५–ब्रह्मगति, ६–दैवीगति, ७–पैत्रीगति, ८–नारकीगति, ९–अगति)

अब यहाँ यह विषय जानना आवश्यक है कि आत्मा मे विद्या और कर्म इन दोनो धर्मो का इस गति से अधिक सवन्ध है। विशेषतः इस आत्मा मे जितना कर्म का कषाय बढता जाता है, उतनी ही आत्माकषाय के परतन्त्र होकर उसी के अनुसार न्यूनाधिक ऊपर नीचे गति पाता है। किन्तु विद्या या ज्ञान की वृद्धि से वह कषाय निवृत होकर आत्मा को विशुद्ध बनाता है, तो उस समय आत्मा का निज स्वरूप जो विद्या है वह प्रवल होकर आत्मा व्यापक बन जाती है, जिससे आत्मा का गति क्रम भी जाता रहता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा मे विद्या और कर्म इन दोनो का न्यूनाधिक से समुच्चय रहता है, तब तक आत्मा की गति होती है। जिसमे विद्या की अधिकता से ऊर्ध्वगति या स्वर्गगति और कर्म की अधिकता से अधोगति या नरकगति होती है। किन्तु दोनो दशा मे आत्मा विद्या और कर्म से युक्त रहता है। किन्तु यदि इस प्राणी के इन्द्रिय युक्त चेतन ससार मे जन्म होने की क्षुद्रतम (बहुत छोटी) निकृष्ट कर्मो की इतनी प्रवलता हो जावें कि जिसे आत्मा की विद्या का अत्यन्त न्यून आभास होता हो अथवा नष्ट हो गया हो तो इन दोनो दशाओ मे आत्मा अत्यन्त दुर्बल और कर्म के कषाय का भार अत्यन्त प्रवल हो जाने से भी आत्मा की ऊर्ध्वगति या अधोगति दोनो वन्ध हो जाती हैं। इन दोनो मे विद्या का आभास रहने की दशा मे नीचे के वे क्षुद्र जीव उत्पन्न होते हैं, जिनमे अस्थि नही होती जैसे दश (डाँस) मशक (मच्छर) यूका (जू) लिक्षा (लीख) मत्कुण (उटकण) आदि और दूसरे जिनमे विद्या का कुछ भी आभास नही है। कर्म के दवाव से सर्वथा विद्या का आवरण रहता है वह सोती हुई आत्मा औषधि फल देने पर मर जाता है वनस्पति आदि इन दोनो प्रकार के जीवो की अगति होती है। अर्थात् ये जीव

इसी पृथ्वी मे जन्मते, मरते, योनि बदलते रहते हैं। किन्तु पृथ्वी को छोड़कर ऊपर तो नहीं सूर्य-चन्द्रमा मे भी नही जाते और न कही नीचे के लोको मे जाते हैं। यदि ये अगति वाले जीव भी दैवयोग-से ऐसा सुयोग प्राप्त करें कि धीरे-धीरे ऊँचे वृक्ष गुलर इत्यादि उत्पन्न होकर कुछ-कुछ अंगों से युक्त कृमि, कीट बन जाय और फिर उसी सुयोग कर्म से अस्थि वाले जीव की दशा आ जाय तो फिर गति के मार्ग मे ऊपर या नीचे जाने योग्य हो जाता है। किन्तु जब तक वृक्ष की या अनस्थि की दशा रहती है तब तक उनकी गति को अगति ही कहते हैं।

(१०–समवलय)

पहले कहा जा चुका है कि विद्या और कर्म ये दोनो आत्म धर्म आत्म गति के कारण है। विद्या और कर्म ये दोनो परस्पर के तारतम्य से आत्मा मे रहते हैं। कभी विद्या बढ जाती और कभी कर्म बढ जाता है। दोनो ही दोनो के परम विरोधी प्रबल शत्रु हैं, तथापि ये दोनो प्राय: अव्यभिचार से सम्बन्धित ही आत्मा मे रहते है, इतना विशेष है कि विद्या आत्मा का स्वरूप है, किन्तु कर्म उसमे आगन्तुक है। विद्या की विरोधी अविद्या जो कि अनिर्वचनीय रूप से आत्मा मे अकस्मात् उत्पन्न होती है और जो आत्मा से भिन्नाभिन्न हैं उसी के द्वारा आत्मा मे क्लेश, कर्म, विपाक, आशय उत्पन्न हो जाते हैं। यही सब उस अविद्या का मुख्य स्वरूप हैं। इसलिये विद्या इन का विरोध करती है। जितनी ही विद्या बढती है उतना ही कर्म का बल घटता रहता है। यदि विद्या का प्रभाव आत्यन्तिक पराकष्ठा को पहुंच जाय तो सब कर्म नि: शेष विलुप्त हो जाते हैं, और आत्म विशुद्ध हो जाता है। किन्तु इसके विपरीत कर्म कितना भी बढजाय विद्या का नाश नही होता। केवल कर्म जन्य, कषाय से उसका आवरण होता है। आवरण की मात्रा बढते-बढते सभव हो जाता है कि विद्या पूर्ण आवृत्त होकर विलुप्त प्राय: हो जाय ऐसी अवस्था मे यद्यपि उसमे किसी प्रकार का ज्ञान अणुमात्र भी नही होता तथापि वह दूसरे के ज्ञान का प्रमेय अवश्य रहता है। ज्ञान का विषय होकर विद्या से विषय संबन्ध अवश्य रहता है, किन्तु उसमे स्वत बुद्धि न होने से विद्या काल लोप कह सकते हैं। इस प्रकार इस आत्मा की तीन अवस्था सिद्ध होती है। एक वह जिस मे कर्म ही कर्म हैं, कर्म के आवरण से विद्या लुप्तवत् हो गई है दूसरी अवस्था वह है, जिसमे विद्या और कर्म दोनो तारतम्य से विद्यमान दीखते हैं। और तीसरी अवस्था वह है, जिसमे कर्म सर्वथा लुप्त होकर विशुद्ध विद्या रूप आत्मा रहता जाता है। इन तीनो मे दूसरी जो मध्यम अवस्था है, जिसमे विद्या और कर्म इन दोनो का समुच्चय है केवल उसी अवस्था मे आत्मा की गति होती है। जिसमे भी विद्या की अधिकता से उर्ध्वगति या स्वर्गगति होती है और कर्म की अधिकता मे अधोगति या नरकगति होती है। इस मध्यम अवस्था को छोडकर शेष दोनो प्रान्त (छोर) मे आत्म गति शून्य हो जाती है। कर्म की अधिकता मे कषाय के भार से आत्मा इतनी भारी हो जाती है कि उसमे स्तम्भन (ठहराव और रुकाव) होने से गति रहित हो जाती है, उसको भी उपरोक्त अनुसार अगति ही कहते हैं। किन्तु दूसरी ओर से जब कर्म का सर्वथा लोप होकर आत्मा विशुद्ध हो जाता है तो उस व्यापक आत्मा को सीमा बद्ध परिच्छिन्न बनाने वाला कर्म नष्ट हो जाता है। इसलिये घडा फूटने से घटाकाश के अनुसार कर्म आवरण के नष्ट होने से जीवात्मा भी अपने स्वरूप में लय होकर व्यापक हो जाता है। व्यापक की गति होना असम्भव है, इसलिये उसकी गति नही होती। इसी अभिप्राय से उस निष्कर्म आत्मा के लिये वेद कहता है—

न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति, अत्रैव समवलीयन्ते

अर्थात् उस आत्मा का उत्क्रमण नही होता, यहाँ ही वह आत्मा परमात्मा मे मिल जाता है। इस प्रकार स्वर्ग या नर्क किसी भी लोक मे ऊपर या नीचे कही न जाकर जो परिच्छिन्न क्षुद्र यह जीवात्मा अपने ही स्थान में सर्वजगत् व्यापकता को पा जाता है, उसी को समवलय गति कहते हैं। (सम=अच्छी तरह) अव=वहाँ का वहाँ, लय=(लीन होना)।

अभी यह कहा गया है कि कर्म से विद्या नष्ट नही होती, किन्तु विद्या से कर्म आत्यन्तिक नष्ट हो जाता है, किन्तु यह एक मत है। इसके विरुद्ध दूसरा मत यह है, कि जिस प्रकार कर्म से विद्या नष्ट नही होती, उसी प्रकार विद्या से कर्म भी नष्ट नही होता। विद्या और कर्म ये दोनो आत्मा के नित्य धर्म हैं, इन दोनो से आत्मा कदापि शून्य नही होता। इन दोनो का परस्पर सहचार भी नित्य है। एक के विना दूसरा कदापि नही रह सकता, तो ऐसी स्थिति मे आत्मा की मुक्ति कैसे होती है? यह प्रश्न है। इसके उत्तर के लिये दूसरे मत का स्वरूप विशद रूप से दिखाया जाता है इस मत मे आत्मा दो भाग से वना है, जिसका एक भाग अमृत और दूसरा मृत्यु है। अमृत को विद्या और मृत्यु को अविद्या कहते हैं। विद्या और अविद्या दोनो मिलकर एक आत्मा का स्वरूप सिद्ध होता है। इन मे विद्या जिस प्रकार ज्ञान स्वरूप है, उसी प्रकार अविद्या भी ज्ञान स्वरूप है। विशेपता यह है कि विद्या अविनाशी, अखण्ड व्यापक, अनवच्छिन्न एक तत्व है। किन्तु अविद्या विनश्वर, सखण्ड, दैशिक, परिच्छिन्न तत्व है ससार मे एकत्व अनेकत्व ये दोनो भाव प्रत्येक वस्तु मे देखे जाते हैं, क्योकि १०० वर्ष की आयु मे, वाल्य, युवा, जरा आदि अवस्थाओ के द्वारा अनेक भेद रहने पर भी वह एक ही मनुष्य माना जाता है।

३—गतिनिमित्त
(४—ज्ञानरूपी विद्या—अविद्या)

इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु मे एक विद्या के सवन्ध से एकत्व और अविद्या की अनेकता से अनेकत्व सर्वत्र देखे जाते हैं इन दोनो मे परिच्छिन्न अविद्या के सयोग से अपरिच्छिन्न विद्या मे भी परिच्छेद हो जाता है। अखण्ड विद्या भी खण्ड-खण्ड हो जाती है उन प्रत्येक खण्डो को मन कहते है। विद्या पर यह अविद्या का पहला प्रभाव है, जिस से अपरिच्छिन्न भी परिच्छिन्न हो जाता है। फिर इस मन पर अविद्या का आघात होता है जिसके द्वारा प्रकाशवान् मन अप्रकाश हो जाता है। प्रकाश की अवस्था मे जो मन शान्त था वह अव अप्रकाश की दशा मे अशान्त अर्थात् क्षुव्ध हो जाता है। इसी प्रकार भिन्न स्वभाव होने के कारण वह मन न कहला कर प्राण कहलाता है। इस प्राण पर तीसरी वार अविद्या का आघात पड़ने पर दो प्राण अथवा अनेक प्राण परस्पर मिलकर एक दूसरे को मार कर एक नया मृतक तत्व वन जाता है। अर्थात् जिस प्रकार प्राण कुर्वद्रूप था (करती हुई हालत) प्रतिक्षण चेष्टा करता था वैसा अव न रह सर्वथा अकर्मण्य, निश्चेष्ट हो गया इस दशा को वाक् कहते हैं। अर्थात् जो व्यापक आत्मा थी वह खण्ड-खण्ड होकर प्रथम मन, फिर प्राण और अन्त में वाक् हो गयी। अविद्या के प्रभाव से एक ही विद्या के मन, प्राण, वाक् के तीन रूप हो गये। अव इन तीनो के प्रभाव से अविद्या के भी तीन रूप हो

जाते हैं। जिस अविद्या पर मन का संसर्ग हुआ वह काम कहलाता है और प्राण के संसर्ग से वही अविद्या कर्म कहा जाता है। और वाक् के संसर्ग से वही अविद्या शुक्र या क्लेश कहलाता है। जब कि विद्या और अविद्या ये दोनो एक ही आत्मा के दो भाग हैं तब विद्या के तीनो भेद मन, प्राण, वाक् और अविद्या के तीनो भेद काम, कर्म, शुक्र ये छओ धर्म आत्मा के स्वरूप से पृथक् नही हो सकते। इसलिये मुक्ति की दशा मे यह कहना कि विद्या के प्रभाव से काम, कर्म, क्लेश तीनो आत्मा मे से सर्वथा छूट जाते हैं यह भूल है, मिथ्या है। तो ऐसी दशा में जिस प्रकार ससार में जीव आत्मा छः धर्म वाला है तो मुक्ति दशा मे भी वैसा ही रहेगा तो फिर मुक्ति किसे कहना चाहिये, इसका उत्तर इस प्रकार है।

२-कर्मरूपी विद्या, अविद्या

विद्या और अविद्या जो आत्मा के दो भाग कहे गये हैं उनमें व्यापक होने से अविद्या छोटी बडी कम ज्यादा हो सकती है। उसी के प्रभाव से विद्या भी छोटी बडी कम ज्यादा हो जाया करती है। कम अविद्या होने से आवरण थोडा होता है, इसलिये विद्या भाग अधिक और अविद्या कम ऐसी दशा मे आत्मा को ईश्वर या परमात्मा कहते हैं। किन्तु यदि अविद्या का प्रभाव अधिक हो तो आवरण अधिक होने से विद्या के छोटे २ खण्ड हो जाते हैं उनमे विद्या की अपेक्षा अविद्या अधिक होने से उस दशा मे आत्मा को जीवात्मा कहते हैं। जीवआत्मा मे सृष्टि की इच्छा की अपेक्षा भोग की इच्छा अधिक होती है क्योंकि अपूर्ण होने से वह आत्मा पूर्णता के लिये जो अपने मे बाहर से सामग्री लेने की इच्छा करता है वही भोग का इच्छा है। किन्तु ईश्वर या परमात्मा मे जीव की अपेक्षा पूर्णता अधिक है, इसलिये भोग की इच्छा कम होकर उदारता से अपनी शक्ति का फैलाव करके नई २ वस्तु की सृष्टि की ईच्छा अधिक होती है। जीव मे अविद्या और ईश्वर मे विद्या अधिक होती है, इसलिये अविद्या के सम्बन्ध से जो काम, कर्म, शुक्र या क्लेश बताये गये थे वे जीव मे ही समझने चाहिये किन्तु रचने वाले ईश्वर मे विद्या अधिक होने से सृष्टि के अनुकूल तीन भाव उत्पन्न होते हैं। इच्छा, तप और श्रम ये तीनो भी मन, प्राण और वाक् इन तीनो से सम्बन्ध रखते है। आत्मा के वाक् भाग मे मन के प्रभाव से इच्छा और उसी वाक् मे प्राण के प्रभाव को तप, और इच्छा और तप के सम्बन्ध से वाक् की शान्ति भङ्ग होकर नये रूप धारण के लिये जो क्षोभ है उसे ही श्रम कहते हैं। इच्छा, तप, श्रम इन तीनो के बिना कोई भी सृष्टि नहीं होती। वाक् खण्ड रूप होने से अनन्त मात्रा मे होती है। प्रत्येक मात्रा मे आत्मा के मन के संयोग से इच्छा उत्पन्न होती है, उसको अशनाया कहते हैं। अर्थात् एक एक वाक् का परमाणु अन्यान्य सब परमाणु को अपने उदर मे लेने के लिये अपनी ओर आकर्षण करता है। यही आकर्षण शक्ति वाक् के प्रत्येक परमाणु मे अशनाया कहा जाता है इस की इच्छा के कारण प्रत्येक परमाणु दूसरे परमाणुओं पर आक्रमण करके जो परस्पर का सघर्षण पैदा करता है, उस से सब परमाणु गर्म हो जाते हैं इसी अवस्था को तप कहते है। इसी तप से जो उन मे परिपाक होने लगती है, वह जब तक प्रथम रूप को छोड़कर दूसरे रूप की पूर्ण रूप से धारण करले तब तक बीच की अवस्था के क्षोभ को ही श्रम कहते हैं। इसी परि-पाटी (तरीके) से ईश्वर अपने वाक् से अनन्तानन्त प्रकार की सृष्टिया करता रहता है, जिसमें वाक् समवायि कारण है, प्राण असमवायि कारण है और मन निमित्त कारण है। इन सृष्टियों में क्रमपूर्वक

(पहले) नही था नया कोई अर्थ नही उत्पन्न होता केवल वाक् के खण्डो का जो परस्पर ससर्ग (एक होना) होता है वही नया रूप धारण कर लेता है। इसीलिये नई वस्तु की रचना को ससर्ग या ससृष्टि कहने के अभिप्राय से सर्ग या सृष्टि कहा करते हैं।

यह ससर्ग दो प्रकार का है। एक सयोगरूप जिसमे कोई नई चीज नही बनती और यह सयोग वाक् के प्रत्येक परमाणु का नित्य ही बना रहता है। क्योकि वाक् के सब परमाणु एक ही आत्मा मे एकत्र मिलकर ही सदा रहते है। किन्तु दूसरा ससर्ग दो तत्त्वो का एक विलक्षण सयोग है जिसमे दोनो तत्त्वों के प्राचीन रूप नष्ट एक नया रूप आ जाता है। इस ससर्ग को हम चिति या चयन शब्द से व्यवहार करते हैं। जब वाक् के एक परमाणु के स्थान मे ही दूसरा परमाणु रख दिया जाय तो वह परमाणु पर परमाणु की चिति कही जायगी। एक ही स्थान पर दो परमाणु का रहना असभव होता है, किन्तु बल दोनो परमाणुओ की एक परमाणु के स्थान मे रखना चाहता है। इसीलिये पुराने दोनो रूप नष्ट हो कर नया एक ही ऐसा परमाणु बन जाता है जो उस सकुचित परमाणु स्थान मे बैठ सकें यही चिति या चयन सपूर्ण नई वस्तुओ की उत्पत्तियो का अर्थात् तात्विक सृष्टियो का मूल कारण है। शब्द, वायु, तेज, जल, पृथ्वी इन पाचो तत्वो की सृष्टिया ऐसी प्रकार की चितियो से हुई है और इस प्रकार के तत्वो से जब कि वर्धमान् अर्थात् बढने वाली चिति की जाती है, तो उससे यौगिक सृष्टियां होती हैं जैसे वृक्ष, वस्त्र आदि। हम सृष्टि के पदार्थों को अनन्तरूप मे देखते हैं इसलिये अवश्य ही ये चितिया भी अनन्त प्रकार की कही जा सकती हैं किन्तु उनमे से यहा केवल तीन ही ऐसी चितिया कही जायँगी जिनसे जीव की सृष्टि हुई है और जिनसे जीव आत्मा की गतियो का सम्बन्ध है वे तीन चिति ये हैं। जीव चिति, देव चिति, भूत चिति।

पहले ज्ञान के रूप में विद्या और अविद्या कही गई है, जिनमे विद्या विशुद्ध ज्ञान स्वरूप है, निर्विकल्पक है वह किसी भी विषयो को ग्रहण नही करता इसलिये निर्विषयक है और वास्तव मे वही ब्रह्मस्वरूप है। उसके साथ की अविद्या भी ज्ञान स्वरूप है, किन्तु विशेष यह है कि विद्या अखण्ड है और यह अविद्या सखण्ड है। विद्या शुद्ध है, अविद्या मलिन है—विद्या निःसग, निर्लेप और एक रस एक रूप है। किन्तु अविद्या सगवाला, भिन्नरस नाना रूप हैं। किन्तु अब हम यह उस विद्या अविद्या का वर्णन करेंगे जो कर्म रूप हैं। आत्मा के मन, प्राण, वाक् मे मन और वाक् दोनो निष्क्रिय है, प्राण के ही द्वारा उनमे क्रिया होती है। यदि प्राण मन के पेट मे जाता है तो कुर्वद्रूप वाक् ही अविद्या कहलाती है।

इन दोनो विद्या और अविद्या मे अविद्या तीन प्रकार की होती है, काम, कर्म और शुक्र या क्लेश इन तीनो अविद्या धर्मो का आरम्भण, (उत्पादन) बन्धन और स्थिति इसी कर्म रूपी अविद्या के द्वारा जीव आत्मा मे ये तीनो धर्म आरब्ध (पैदा होना) होते रहते हैं। और उनका आत्मा का साथ सम्बन्ध होता रहता है और जब तक मोक्ष न हो तब तक जीव आत्मा में उन काम, कर्म शुक्रो की स्थिति का सिलसिला बना रहता है। किन्तु साथ ही दूसरी विद्या इन तीनो का निरोध (रोकना) उद्बन्धन (उघडना) और क्षय करती रहती है जिनके कारण जीव आत्मा में काम, कर्म, क्लेशो की प्रवृत्ति, निवृत्ति दोनो साथ ही निरन्तर होते रहते हैं। अविद्या की अधिकता से जीव आत्मा अधिकतर फसता रहता है। किन्तु विद्या की अधिकता से धीरे-धीरे इन तीनो से मुक्त भी हो जाता है। इस प्रकार प्रवृत्ति और

निवृत्ति इस प्रकार जटिल (फँदे हुये) हैं, कि उन दोनो में कब, कौन, कितनी होगी यह निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता। किन्तु ये दोनो जीव आत्मा मे तारतम्य से रहते अवश्य हैं। इन्ही काम, कर्म, क्लेशो के द्वारा जीव आत्मा में षट् ऊर्मिया (जन्म मृत्यु, आदान, विसर्ग, सुख, दुःख) पैदा होते है। इस प्रकार ६ ऊर्मिया को पैदा करने वाले काम, कर्म, क्लेश ये तीनो जीव आत्मा में जिन विद्या अविद्या के द्वारा उत्पन्न हो-हो कर विनष्ट होते रहते हैं, वही दोनो इस आत्मा में बीज चिति हैं। इसके अतिरिक्त इस आत्मा में गायत्री रूप से देव चिति होती है। अर्थात् चित् ईश्वर, ब्रह्म, सूर्य, चन्द्र पृथ्वी इन ६ [illegible] वाक्, पिण्ड, शरीर, हृदय इन चार पादो से गायत्री का रूप सिद्ध होता है। जैसे पृथ्वी का रथन्तर साम है, चन्द्रमा का राजन साम है, सूर्य का बृहत् साम है, इस साम मण्डलो को ही वाक् कहते है। किन्तु पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य आदि गोलो को पिण्ड कहते हैं और हमारा शरीर उन छओं वाक् या पिण्डो, से [illegible] साक्षात् सम्बन्ध् रखते है। शरीर के द्वारा फिर हृदय में उन छओ का सम्बन्ध होता रहता है। ये छः साम मण्डल अपने-अपने बिम्ब मण्डलो के अर्थात् पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य आदि पिण्डो के छाया मण्डल है। इस प्रकार हृदय में ६ देवताओ का सर्वदा सचय होना ही देव चिति कहलाती है। इसके उपरान्त शुक्र, मज्जा, अस्थि, मेदा, मास, रक्त, रस, त्वचा और लोम इस प्रकार भूत चिति होकर आत्मा ने शरीर धारण करलिया है। यह शरीर स्थूल है, इसके भीतर देव चिति सूक्ष्म शरीर है, उसके भीतर बीज चिति कारण शरीर है इन तीनो आवरणो से परिवेष्टित (घिरा हुआ) भीतर ही भीतर को जीव की आत्मा है इसमें बीज चिति के कारण ही जीव आत्मा की सृष्टि होती है। अर्थात् स्वरूप बनता है और उसमें देव चिति से उन छओ देवताओ के पास इस आत्मा का चला जाना ही गति है यदि आत्मा में देव चिति न होगी तो इस आत्मा की किसी भी देवता के लोक मे गति नही हो सकती। इसलिये देव चिति ही जीव आत्मा की गति का निमित्त है।

ज्ञानस्वरूप विद्या और अविद्या ये दोनो ही इस मत में नित्य माने जाते है। अर्थात् विद्या के अनुसार अविद्या का भी नाश कदापि नही होता, ये दोनो ही सदा मिले रहते है और इन दोनो के मिले रूप को ही ब्रह्म कहते हैं। किन्तु विशेषता यह है कि विद्या और अविद्या इन दोनो भागो का ससर्ग सदा बने रहने पर भी उस ससर्ग की स्थिति दो प्रकार की होती रहती है। सहचर ससर्ग और स्थिति ससर्ग, सहचर ससर्ग मे अविद्या के स्वरूप काम, कर्म, शुक्र, क्लेश, आदि (ऊर्मि) ये सब एक साथ रहने से विद्या भाग मे भी कहे जा सकते है। किन्तु उनका प्रभाव किंचित् भी विद्या पर नही पड़ता। स्थिति ससर्ग है कि विद्या और अविद्या इन दोनो के ससर्ग मे जो न्यूनाधिकता होती रहती है, उसमे एक ऐसी सीमा ऐसी नियत है कि उस सीमा से न्यून अविद्या रहने पर उसका प्रभाव विद्या पर नही पड़ता, किन्तु इस नियत सीमा से अधिक अविद्या की मात्रा होने से उस अविद्या के स्वरूप काम कर्म, शुक्र या क्लेश [illegible] प्रकार का बीज भाव उत्पन्न हो जाता है, जिसके कारण उन तीनो की विद्या रूपी आत्मा के साथ [illegible] और स्थिति का सिलसिला उत्पन्न हो जाता है। उस अवस्था मे अविद्या के विद्या के साथ ससर्ग को स्थि[illegible] ससर्ग कहते हैं, जिससे जीव आत्मा की सृष्टि होकर उसमे क्लेश भोग का सिलसिला प्रारम्भ होने से [illegible] जारी हो जाता है, और इसी को बीज चिति कहते हैं। इसी बीज से देव और भूत का चिति [illegible] उत्पन्न हो जाता है और इस त्रिचित्या चिति से विद्या रूपी आत्मा अपना स्वरूप, ज्ञानी स्वरूपता का

करके अल्पज्ञ और परतन्त्र हो जाता है। इस अवस्था मे यदि विद्या और विज्ञान का अभ्यास करके उसकी वृद्धि की जाय तो वह विद्या आत्मा के स्वरूप को बढाती हुई उपर्युक्त नियत सीमा को पार करके उस अविद्या मे उत्पन्न हुए बीजाभाव को नष्ट कर देता है। जिससे विद्या मे अविद्या का संसर्ग ज्यो का त्यो बने रहने पर भी उसका बीज भाव नष्ट होने से काम, कर्म, क्लेशो की चिति नही होती, और न देव चिति, भूत चिति होती है, जिससे विद्या रूपी आत्मा अविद्या के साथ रहते हुए भी नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव या निरञ्जन बना रहता है इसी को मुक्ति अवस्था कहते है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस मुक्ति की अवस्था मे भी अविद्या का नाश नही होता, केवल अविद्या का बीज भाव नष्ट हो जाता है जिससे पट् ऊर्मिया और ससार आत्मा मे नही होने पाता। यही बात स्मृतिकारो ने पुराणो मे स्पष्ट लिखी है—

बीजान्यग्न्युप दग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः।
ज्ञानदग्धैस्तथाक्लेशैर्नात्मा सम्पद्यते पुनः ॥१॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥२॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते ॥३॥

काम

आत्मा की गति के सम्बन्ध मे यह प्रश्न उठता है कि आत्मा की गति क्यो होती है। अर्थात् आत्मा अपनी इच्छा से फिरना डोलना चाहती है अथवा परवश, गति क्रिया उत्पन्न होती है। इसके उत्तर मे कहा जा सकता है कि यदि आत्मा अपनी इच्छा से गति करती तो उसकी अधोगति या नरक गति न होती। जैसे परवश वह नरक के लिये यात्रा करती है तो सभव है कि उर्ध्वगति या स्वर्गगति आदि गतियाँ भी उसमे परतन्त्रता से ही उत्पन्न होती हैं, तो ऐसी दशा मे यह प्रश्न उठता है कि उस आत्मा मे किस का पारतन्त्र्य है। आत्मा के स्वाभाविक धर्म के कारण गति होती है, अथवा आत्मा से भिन्न किसी पदार्थ की नोदना (प्रेरणा) से होती है तो इसके उत्तर मे नोदना से ही गति माननी पड़ेगी, क्योकि आत्मा के स्वाभाविक धर्म से गति होना विचार सिद्ध नही होता क्योकि आत्मा पाच है जिनमे चिदात्मा, सूत्रात्मा इन दोनो मे व्यापक होने के कारण गति नही। शेप तीन आत्माओ मे क्षेत्रज्ञ आत्मा सूर्य मे और महान् आत्मा चन्द्रमा मे इस प्रकार अपने प्रभव मे गति करते हैं। ऐसा ही वैदिक ऋषियो का सिद्धान्त है। तो ऐसी दशा मे उन दोनो आत्माओ की लोकगति नही हो सकती। अर्थात् अपने किये कर्म भोगने के लिये नीचे भिन्न-भिन्न लोको मे अनियम से यातायात (आना जाना) करना सभव नही होता, शेप एक भूतात्मा की ही लोकगति मानी जाती है उसके लिये भी क्षेत्रज्ञ महान् के अनुसार उसके प्रभव मे ही नियम से गति हो सकती है। क्योकि जिस प्रकार क्षेत्रज्ञ सूर्य से, महान् चन्द्रमा से उत्पन्न

होता है उसी प्रकार भूतआत्मा पृथ्वी से उत्पन्न होती है। तो सम्भव है कि पूर्वोक्त [illegible] भूतात्मा जीवित दशा मे जिस प्रकार पृथ्वी मे बद्ध होकर पृथ्वी मे रहती है उसी प्रकार मृत्यु के [illegible] भी पृथ्वी का रस होने से पृथ्वी मे ही रहेगी। वह पृथ्वी को छोडकर भिन्न-भिन्न लोको मे जाने का [illegible] भाव कैसे रख सकती है। यदि उसमे स्वाभाविक धर्म के अनुसार गति मानी जावे तो पृथ्वी मे [illegible] ही गति मानी जा सकती है किन्तु यदि आप इस भूतात्मा की मृत्यु के पश्चात् पृथ्वी को छोडकर भिन्न-भिन्न लोको मे गति होना स्वीकार करते हैं तो अवश्य नोदना से ही परवश गति माननी पडेगी। तो ऐसी दशा मे यह प्रश्न उठता है कि वह नोदना इस आत्मा मे किसकी है कि जिसके कारण इस भूत-आत्मा को अपना प्रभव पृथ्वी लोक को छोडकर भिन्न-भिन्न लोको मे परवश जाना पडता है। इसका उत्तर यही कहा जाता है, कि विद्या और अविद्या ये दोनो जो आत्मा के अंश उनमे अविद्या [illegible] विद्या भाग मे प्रथम मन, प्राण, वाक् इन तीनो रूपो की सृष्टि कही गई है और विद्या रूपी आत्मा के इन्ही तीनो रूपो को लेकर अविद्या मे भी तीन रूप उत्पन्न हो जाते है। मन से काम, प्राण से कर्म और वाक् से क्लेश, अविद्या के इन्ही तीनो रूपो की आत्मा परिच्छिन्न बनकर गतियुक्त हो जाती है। इन तीनो मे भी काम ही मुख्य कारण है, क्योकि काम अर्थात् इच्छा के द्वारा ही प्राणी शुद्ध कर्म करता है और उस कर्म से आत्मा मे जो अतिशय या सस्कार उत्पन्न होता है वही बन्धन रूप होकर आत्मा के लिये क्लेश बन जाता है। जिस क्लेश को हिरण्यगर्भ, पतञ्जलि आदि योगाचार्यो ने अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश नाम से ५ प्रकार का कहा है। इन सब का कारण कर्म है और कर्म का कारण काम है। जब तक प्राणी के हृदय मे काम रहता है तब तक वह आत्मा कामवश होकर काम की ही नोदना से नानालोको मे भ्रमण करता है। इसलिये आत्मगति का कारण काम की ही नोदना (प्रेरणा-प्रत्याघात) है, यह सिद्ध हुआ।

अब यहा यह प्रश्न होता है कि यह काम जो अविद्या का अंश है विद्या और अविद्या [illegible] ससर्ग से तो सदा रहते ही है, किन्तु इन दोनो की जब चिति (ससर्ग) होती है तब सृष्टि होती है और अखण्ड आत्मा सखण्ड हो जाती है। विद्या रूपी आत्माओ मे कही गई है, किन्तु वह विद्या रूपी आत्मा पाँच आत्माओ मे से पहली आत्मा है। अर्थात् चिदात्मा, सूत्रात्मा, क्षेत्रज्ञात्मा, महान् आत्मा और भूता-त्मा इन पाँचो मे चिदात्मा ही विद्या रूपी है। किन्तु उस चिदात्मा की गति न होना कहा गया है और जिस भूतात्मा की गति कही गई है वह विद्या रूप नही है जिस विद्या के कारण काम कर्म इत्यादि [illegible] होते है। तो फिर काम, कर्म, क्लेश के द्वारा गति किस आत्मा मे मानी जाय। इसका उत्तर [illegible] जिस विद्या को चिदात्मा कहते है, उसमे जब तक विद्या का ससर्ग नही है तब तक वह शुद्ध [illegible] से गतिहीन मानी गई है। किन्तु जब वही विद्या रूपी चिदात्मा चितिसर्ग मे विद्या, और अविद्या [illegible] चर ससर्ग से तो सदा रहती है किन्तु इन दोनो की जब चिति (ससर्ग) होती है तब सृष्टि होती है और अखण्डआत्मा सखण्ड हो जाती है, अविद्या शवलित (मैली) हो जाती है तब उसे अविद्या [illegible] कारण वही क्षेत्रज्ञ महान् या भूतात्मा के रूप मे आ जाती है इन रूपो के होने मे भी यह काम [illegible] है जब काम, कर्म क्लेशो की अधिकता हो जाती है तब अधिक आवरण वाला भूतात्मा बनती है। [illegible] क्लेश की मात्रा अधिक होती है और उसी कारण यह भूतात्मा नाना भोग भोगती है। [illegible]

चिदात्मा रूपी विद्या ही अविद्या की अधिकता से भूतात्मा नाम धारण करके गति योग्य बन जाती है। अब यहां यह प्रश्न होता है कि अविद्या के तारतम्य से क्षेत्रज्ञ, महान्, भूतात्मा आदि नाना रूप उत्पन्न होते हैं उन सबो मे काम, कर्म, क्लेश बराबर हैं या न्यूनाधिक ? यदि बराबर होने तो सब एक रूप समान धर्मा बन जाते। किन्तु यदि हम उनमे भेद देखते हैं तो अवश्य ही उन तीनो मे अविद्या के चिति ससर्ग की न्यूनाधिक्ता माननी होगी तो ऐसी अवस्था मे काम, कर्म, शुक्र कितनी मात्रा की अविद्या से किस आत्मा मे कितने उत्पन्न होते हैं इस प्रश्न पर विचार या परीक्षा करने से यह सिद्धान्त हुआ है कि काम और कर्म दो प्रकार के हैं। एक सृष्टि का काम और सृष्टि का कर्म और दूसरा भोग का कर्म। इन दोनो मे सृष्टि सम्बन्धी काम और कर्म तो चिदात्मा से लेकर भौतिक सृष्टि के प्रत्येक परमाणु मे उसके आयतनानुसार बराबर है। प्रत्येक वस्तु सृष्टि की इच्छा रखती है और सृष्टि के लिये कुछ न कुछ कर्म करती रहती है। किन्तु इन कर्मों से जो अतिशय सस्कार उत्पन्न होता है वह बन्धन, बन्धन रूप न होने के कारण शुक्र होने पर भी क्लेश नही है। इसी कारण सृष्टि करता हुआ ईश्वर जैसे जन्म, मृत्यु के बन्धन मे नही आता, उसी प्रकार ससार के अन्यान्य आत्मा या पदार्थ कुछ न कुछ सृष्टि करते हुए रहने पर भी उसके द्वारा बन्धन मे नही आते। किन्तु दूसरे काम और कर्म जो भोग सम्बन्धी हैं, उससे जो सस्कार उत्पन्न होता है वह बन्धन होने के कारण क्लेश कहलाता है और वह बीजरूप होकर आत्मा की भोग सामग्री उत्पन्न करता रहता है। इन दोनो प्रकार के काम और कर्मो मे से भोग सम्बन्धी काम, कर्म, चिदात्मा, सूत्रात्मा और क्षेत्रज्ञआत्मा इन तीनो मे न होकर केवल महान् आत्मा मे देखा गया है। भूतात्मा मे प्रज्ञा होने पर भी तीनो गुणो के न होने से भोगने का काम नही हो सकता क्योंकि भोग सामग्री मे प्रीति अप्रीति और विषाद होना आवश्यक है। इन तीनो के न होने से कोई भी वस्तु भोग के योग्य नही हो सकती। सुख दुःख मोह साक्षात्कार को ही भोग कहते हैं। सो प्रीति अप्रीति विषाद के बिना हो नही सकते। किन्तु ये तीनो (प्रीति, अप्रीति, विषाद) सत्व, रज, तम इन तीनो गुणो से ही उत्पन्न होते हैं और ये तीनो गुण महान्आत्मा के लक्षण हैं जिसे प्रकृति कहते हैं। इसलिये भूतात्मा में भी काम, कर्म, जो भोग की सामग्री है नही हो सकते। ऐसी दशा मे फिर यह प्रश्न उठता है कि काम, कर्म महान् आत्मा मे है, किन्तु गति भूतात्मा की कही जाती है जब कि इस भूतात्मा मे भोगने का काम नही है तो काम की नोदना से भोग के लिये भूतात्मा की नानालोक मे गति कैसे सभव हुई, इसका उत्तर इस प्रकार है।

यह महान्आत्मा चन्द्रमा के रस से उत्पन्न होता है। इस चन्द्रमा का सूर्य और पृथ्वी दोनों से घनिष्ठ सम्बन्ध है चन्द्रमा में जो प्रकाश है वह सूर्य से ही आता है। सूर्य के प्रकाश का ही रूपान्तर है, इसलिये सूर्य से उसका सम्बन्ध अधिक है। किन्तु यह चन्द्रमा सूर्य से बहुत दूर रहकर इस पृथ्वी के बहुत सन्निहित (निकट) है और सूर्य से जो सुषुम्णा नाडी इस पृथ्वी पर आती है उसी के अन्तर्गत यह चन्द्रमा सदा रहता है। इसलिये उस सुषुम्णा नाडी के द्वारा इस चन्द्रमा और पृथ्वी का बहुत सन्निकट सम्बन्ध है। इन्ही दोनो सम्बन्धो के कारण सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी इन तीनो के रस परस्पर मे इतना मिलकर इस शरीर मे आते है, कि उन तीनो के रस से भिन्न-भिन्न तीन आत्मा बनने पर भी तीनो के रस से भिन्न-भिन्न तीन आत्मा बनने पर भी तीनो एक ही हृदयाकाश मे सम्मिलित रूप मे एक ही आत्मा बने

हुए है। यही कारण है कि हम इन तीनो आत्माओ का भिन्न-भिन्न होना अनुभव नही करते। प्रत्युत तीनो आत्माओ के भिन्न-भिन्न धर्मों को एक ही अपनी आत्मा मे होना अनुभव करते है। सांख्य के आचार्य भगवान् कपिलदेव ने भूतात्मा को न मानकर सब धर्मों को दो ही आत्मा मे निर्भर करके क्षेत्रज्ञ को पुरुष और महान् को उसकी प्रकृति माना है। अर्थात् तीनो गुणो के द्वारा महान् रूपी प्रकृति मे जितने विकार उत्पन्न होते हैं वे सब अत्यन्त स्वच्छ ज्ञान स्वरूप क्षेत्रज्ञ पुरुष मे प्रतिबिम्बित होते है उसी इसी को साक्षात्कार कहते हैं, और यही क्षेत्रज्ञ आत्मा का भोग कहलाता है। इसी महान् प्रकृति के द्वारा उत्पन्न हुए लिङ्ग शरीर मे बद्ध होकर क्षेत्रज्ञात्मा की नाना लोको मे गति होती है और यहा भी उसी महान् प्रकृति के द्वारा सुख दुःख साक्षात्कार रूपी भोग क्षेत्रज्ञ आत्मा मे हुआ करता है। इस प्रकार साख्य के मत से प्रकृति पुरुषभाव भी महान् और क्षेत्रज्ञ के सम्मिलित रूप के कारण से ही होता है। किन्तु जो वैशेपिक आदि आचार्यो ने जीव आत्मा का स्वरूप वर्णन किया है उनमे क्षेत्रज्ञ, महान, भूत-आत्मा के भेद न करके एक ही आत्मा मानी है और उसमे बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म ये आठ वैशेषिक गुण माने हैं। इसके अनुसार महान् या क्षेत्रज्ञ के सब धर्म इस भूतात्मा मे मान लिये गये है, और उसी भूतात्मारूपी जीवात्मा की धर्म अधर्म के अनुसार नाना लोकों मे गति कही गई है। तात्पर्य यह है कि ऐसे ऐसे मत भेद होने का मुख्य कारण यही है, कि ये तीनो आत्मा (क्षेत्रज्ञ, महान्, भूतात्मा) सर्वथा सम्मिलित होकर एक ही रूप मे सदा रहते है। यही कारण है कि राग, कर्म और क्लेश ये तीनो महान् मे होकर भी उनका प्रभाव भूतात्मा मे पड़ता है।

महान् आत्मा का प्रभाव भूतात्मा मे दो प्रकार से होता है। प्रथम तो यह भूतात्मा पृथ्वी के उस रस से बना है जिसमे चिदात्मा, सूर्य और चन्द्र आदि अनेक रस सम्मिलित हैं। सूर्य, चन्द्र मे जो रस पृथ्वी के केन्द्र मे जाते हैं, उनके साथ पृथ्वी का रस घुलकर बाहर आता है और उसमे मेरी आत्मा बनती है। उसमे जो चन्द्रमा का रस है वह भी एक प्रकार महान् का भाग है उसमे भी सत्व, रज तम इन तीन गुणो के अश हैं, जिनके कारण राग, द्वेष, मोह भूतात्मा मे भी प्राकृतिक रूप मे विद्यमान रहते हैं। इन तीनो से भूतात्मा का वियोग नही होता किन्तु ये उस भूतात्मा मे बीजरूप मे ही विद्यमान रहते हैं। इनका उद्‌बोध या विशेष प्रभाव दूसरे महान् के ससर्ग से ही होता है। यह दूसरा महान् वह चन्द्रमा का रस है, कि जो माता-पिता के शुक्र शोणित के मिलने पर उसमे सीधा चन्द्रमा से आता है। इस महान् के सत्व, रज, तम इन तीनो गुणो से जितने प्रभाव उत्पन्न होते हैं उनसे महान् मे सम्मिलित यह भूतात्मा पूर्ण आवृत हो जाता (घिर जाता) है। जिससे यह भूतात्मा ही गुणमय विशिष्ट हो जाता है इसी अभिप्राय से भगवान् ने गीता में कहा है—

धूमेना व्रियते वह्निर्यथा दर्शो मलेन च।
यथोल्वेनावृतोगर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥

अर्थात् जैसे धूम से अग्नि व्याप्त रहती है, जैसे दर्पण नाक की भाप से मलिन हो जाता है और जैसे उल्व (ओनाल=जर) से बच्चा पेट मे घिरा रहता है उसी प्रकार अज्ञान से घिरा हुआ ज्ञान मलिन हो जाता है।

आवृतं ज्ञानमेतेन, ज्ञानिनोनित्य वैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणा नलेन च ।।

यह काम, कर्म, और शुक्र अविद्या से उत्पन्न हुए हैं, इसलिये ये सब अविद्या स्वरूप हैं। विद्या का विरोध करना अविद्या का स्वभाव है, इसलिये काम से आक्रांत (घिरा हुआ) आत्मा अविद्यामय हो जाता है और खण्डवत् होने से जो अपूर्णता उसमे आती है उसी से चारो ओर शून्यता समझकर आत्मा उस अपूर्णता या शून्यता को भरकर पूर्ण या व्याप्त होने के लिये आत्मा उसी प्रकार उद्विग्न (उचाट) हो जाता है। जैसे केवल सहस्र मुद्रावाले दरिद्री के पास सब चोरी हो जाने से उसको चारो ओर शून्यता दीखती है और उद्विग्न हो जाता है। यही उद्विग्नता अविद्या के कारण जगत् के प्रत्येक जीव आत्मा मे पाई जाती है। क्योंकि प्रत्येक आत्मा जन्मकाल से लेकर यावत् जीवन अपनी उन्नति के लिए भरपूर यत्न करता रहता है और सदा अपनी सम्पत्ति को कम समझता है इसी आत्मोन्नति की इच्छा को काम कहते हैं। जो कि विद्या रूपी आत्मा पर अविद्या का प्रवल आक्रमण (आवरण) स्वरूप है। इस काम का विरोधी तृप्ति है, और तृप्ति ज्ञान का मात्रा विशेष है। ज्ञान तृप्त पुरुप होने पर काम का प्रभाव न्यून होता है, इसी तृप्ति के लिये विद्याभ्यास करके आत्मा मे ज्ञान की वृद्धि करना प्रत्येक जीव का आवश्यक कर्त्तव्य है। इस तृप्ति वढाने के दो उपाय हैं। एक तो निष्काम होकर सगुण विद्या की उपासना करना और दूसरा निष्काम होकर निर्गुण विद्या का उपार्जन करना। पहले को भक्तिमार्ग और दूसरे को ज्ञानमार्ग कहते हैं। भक्तिमार्ग से अर्थात् सगुण आत्मज्ञान से आत्मा स्वर्गलोक अथवा साकार या सगुण ब्रह्मलोक जाकर प्राकाम्य (इच्छा सिद्धि) पाकर अनन्त सुख भोग भोगता है और जन्म मृत्यु के वन्धन मे न आने से मुक्त समझा जाता है। किन्तु दूसरे ज्ञानमार्ग से निराकार ब्रह्म की प्राप्ति होती है और वह आत्मा स्वय ब्रह्म होकर मुक्त हो जाता है इसी को परागति कहते हैं, और ये दोनो ही मार्ग उत्तम है। किन्तु निष्काम होने से इन मार्गो से उत्तमगति प्राप्त होती है अन्यथा नही, यही वात श्रुति भी कहती है—

कामान् यः कामयते मन्यमानः, सकामभिर्जायते यत्र तत्र ।
पर्याप्त कामस्य कृतात्मनस्तु, इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ।।

ज्ञात्वादेवं सर्वपाशापहानिः, क्षीणैः क्लेशैर्जन्म मृत्युप्रहाणिः ।
तस्याभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे, विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ।।

यं यं लोकं मनसा संविभाति, विशुद्ध सत्वः कामयते यांश्चकामान् ।
तं तं लोकं जायते तांश्चकामान्, तस्मादात्मज्ञंह्यर्चयेद् भूतिकामः ।।

सर्वदैतत्परमं ब्रह्मधाम, यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।
उपासते पुरुषं येह्यकामा, स्ते शुक्रमे तदति वर्तन्ति धीराः ।।

विद्यया तदा रोहन्ति यत्र कामाः परागताः ।
न तत्र दक्षिणायन्ति ना विद्वांसस्तपस्विनः ॥

(कर्म)

विद्यारूपी आत्मा मे अनिर्वचनीय अविद्या का अनिर्वचनीय सम्बन्ध है जिसके कारण [illegible] दो अवस्थायें होती हैं । एक शुद्ध विद्यारूप और दूसरी अविद्या शबलित (घिचमिच) विद्यारूप । इनमें शुद्ध विद्या होना आत्मा की मुक्तावस्था है और वह जगत् से पार है । किन्तु दूसरी अवस्था [illegible] में भोग्य या जगत् की अधिष्ठाता (मालिक) कर्त्ता, भोक्ता होता है । वह अविद्या शबलित आत्मा [illegible] नियम से काम, कर्म शुक्र से युक्त रहता है । इन तीनो मे काम का स्वरूप ऊपर दिया गया है, अब कर्म के सम्बन्ध मे कहा जाता है । यह कर्म आत्मा मे चार प्रकार का होता है । १–विद्या सापेक्ष (आत्मज्ञान की जरूरत रखता है) २–विद्या निरपेक्ष, ३–विद्या विरोधी, ४–अप्रयोजक । इनमें पहले दोनों को सत्-कर्म या कर्म कहते है, तीसरे को विकर्म और चौथे को अकर्म कहते है । इन्ही तीनों भेदों को लेकर श्री-भगवान् ने गीता मे कहा है—

कर्मणोह्यपि बोद्धव्यं, बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणोपि बोद्धव्यं, गहना कर्मणो गतिः ॥

इस प्रकार इन तीन भेदो मे पहला कर्म दो प्रकार का है । जिससे कर्म के चार भेद सिद्ध होते हैं । उन चारो मे विद्या सापेक्ष वह कर्म है जो भूतात्मा के प्रज्ञान द्वारा ही केवल न होकर विज्ञान [illegible] की भी सहायता ली जाती है और उस कर्म से विज्ञान ही अन्त मे फल उत्पन्न होता है । [illegible] विज्ञान के द्वारा उत्पन्न होकर जो कर्म विज्ञान को ही उत्पन्न करे वह कर्म विद्या सापेक्ष है, ऐसे कर्म से आत्मा का अभ्युदय होता है । अर्थात् आत्मा अपनी विद्यमान कक्षा से उन्नति की ओर चलता है और [illegible] निरपेक्ष वह कर्म है जो विज्ञान के द्वारा उत्पन्न होकर भी उससे विज्ञानमय क्षेत्रज्ञ आत्मा का [illegible] सस्कार न होकर केवल प्रज्ञानमय भूतात्मा का ही सस्कार करता है । ऐसे कर्मों से आत्मा का न [illegible] होता है न प्रत्यवाय (अवनति-उल्टा नीचे की ओर झुकना) अर्थात् अपनी विद्यमान कक्षा मे [illegible] त्यो बना रहता है । किन्तु इससे आत्मा की अवनति नही होती, इसलिये यह भी [illegible] है और तीसरा विद्या विरोधी कर्म है जो विज्ञान से उत्पन्न होने पर भी रजोगुण, तमोगुण [illegible] विज्ञान होने के कारण उससे जो कर्म उत्पन्न होता है, उस कर्म का सस्कार विद्या का विरोधी [illegible] विद्या का आवरण करता है । अपने बल के तारतम्य से कही मलिन और कहीं लुप्त [illegible] है और इस कर्म के सस्कार को प्रत्यवाय (पाप) कहते हैं । अर्थात् उस सस्कार से आत्मा [illegible] की ओर गिरता है और चौथा अकर्म है, जो विना विज्ञान के ही केवल भूतात्मा के प्रज्ञान से उत्पन्न [illegible] है और वह निरर्थक है । वह प्रज्ञान का विनोद करने (दिल बहलाव) पर भी विज्ञान [illegible] वह भी नेष्ट है ।

(१–विद्या सापेक्ष कर्म)

इन चार कर्मो मे विद्या सापेक्ष कर्म दो प्रकार का है। ज्ञान विशेषक और देवलौकिक। जिन कर्मों से विद्या ज्ञान रूप मे परिणत होकर नाना भेद वाला हो जाता है उन कर्मों को ज्ञान विशेषक (भेद करने वाला) कहते हैं। नारद पाञ्चरात्र मे नारदने पांच प्रकार का भेद करने वाला ज्ञान बताया है—

१–नित्य विशुद्ध ब्रह्मज्ञान, २–निर्गुण ब्रह्मज्ञान, ३–सगुण ब्रह्मज्ञान, ४–दिव्यज्ञान, ५–इन्द्रिय ज्ञान। विद्या को ही ब्रह्म कहते हैं उसमे कर्म का कुछ भी प्रभाव न हो, न कर्म का स्पर्श हो तो वह प्रथम दोनो प्रकार का ज्ञान होगा। दोनो मे विशेपता यह है कि जो स्वतन्त्ररूप से कर्मो को स्पर्श न करता हुआ जो सर्व जगत् व्यापक भूमा रूप पर ब्रह्म है वह परमतत्व पहला नित्य विशुद्ध ब्रह्मज्ञान है। किन्तु यदि जीव आत्मा ऐसा कर्म करे कि जिस कर्म से कनक, रज के अनुसार सब कर्मों की निवृत्ति होती हो तो वह कर्मजन्य आत्मा की विशुद्धि होने से दूसरे प्रकार का ज्ञान अर्थात् निर्गुण ब्रह्म ज्ञान उत्पन्न होता है, जिस से जीव आत्मा की परामुक्ति होती है और तीसरा कर्म वह है कि जिस से ब्रह्म के गुण निवृत्त नही होते किन्तु अविद्या के दोप बहुत से निवृत्त हो जाते हैं तो उन कर्मो को उपासना कहते है। इन उपासना कर्मो से अवरमुक्ति होती है। अर्थात् दास-स्वामी की बुद्धि रहने से ऊँचे नीचे का भाव अपनी आत्मा का तिरस्कार स्वामी के प्रसन्नता का अनुरोध (लिहाज) आदि कितने ही भाव मुक्ति दशा मे भी जीव आत्मा मे बने रहते हैं। जिससे कितने ही दुःख के भावो का उस जीव आत्मा मे रहना अनिवार्य माना जा सकता है। इसलिये जन्म मृत्यु बन्धन छूटने से मुक्ति होने पर भी उसको अवर मुक्ति कहते है।

अब चौथा कर्म यह है जिससे इस जीव आत्मा मे इन्द्रियजन्य ज्ञान सामर्थ्य के अतिरिक्त १७ प्रकार के अपूर्वज्ञान विशेप रूप से उत्पन्न हो जाते है। उन्ही ज्ञानो को दिव्य ज्ञान (अष्टसिद्धि) कहते है। वे इस प्रकार हैं—

१ अणिमा—छोटा शरीर धारण करने की शक्ति।
२ महिमा—महाविशाल शरीर धारण करने की शक्ति।
३ लघिमा—परमलघु अर्थात् हलके होने की शक्ति।
४ गरिमा—परमगुरु अर्थात् भारी होने की शक्ति।
५ व्याप्ति—बहुत देश मे पसरने की शक्ति।
६ प्राकाम्य—इच्छा सिद्धि अर्थात् चाहते ही तत्काल प्राप्ति होना।
७ ईशित्व—सहस्रो प्राणियो पर प्रभुत्व जमाना।
८ वशित्व—सर्प, व्याघ्र, राक्षस आदि वशीभूत होना।

(९–तुष्टि या निधन)

९ भूत भविष्यत् ज्ञान—अवधान (खयाल) करते ही भूत, भविष्यत् को जान लेना।

१० दूर परोदृष्टि —दूर-दूर सैकड़ो हजारो कोसो तक देखना।
११ दूर श्रवण —दूर देशस्थ बातो का सुनना।
१२ परकाय प्रवेश —दूसरे के शरीर मे प्रवेश करना।
१३ कायव्यूह —एक ही समय अनेक रूप धारण करना।
१४ जीवदान —मरे को जिलाना।
१५ परजीव हरण —जीन्दो को मार देना।
१६ सर्ग कारण —नई सृष्टि रचना।
१७ सर्ग हरण —सृष्टि का संहार करना।

इसके अतिरिक्त पाचवा ज्ञान वह है जो प्रत्येक प्राणी के पाचो इन्द्रियो के द्वारा हुआ। इसे विषय ज्ञान कहते हैं। इन पाचो ज्ञानो मे विषय ज्ञान के लिये किसी विशेष कर्म की आवश्य है। प्राकृतिक कर्मों के अनुसार प्रत्येक प्राणी मे नियम से यह होता है और सबसे प्रथम जो नि ज्ञान हैं उसमे किसी प्रकार के कर्म का अणुमात्र भी संसर्ग नही है इन दोनो से अतिरिक्त मध्य ज्ञानो मे व्यवसायात्मक बुद्धि के द्वारा ज्ञान के साथ कर्म समुच्चय रहता है, और इन तीनो प्रकार का संस्कार आत्मा मे उत्पन्न होता है। जिसकी वासना का आत्मा मे जन्म मृत्यु क्रम और उत्पत्ति मे विशेष सम्बन्ध है। इन तीनो कर्मो को निवृत्ति कर्म, उपासना कर्म, योग कर्म, क्रम हैं। इस प्रकार ज्ञानो मे विशेषता उत्पन्न करने वाले विद्या सापेक्ष कर्म कहे गये हैं।

अब देवलौकिक कर्म कहे जाते हैं। जिन कर्मों के करने से देव-स्वर्ग नाम के देवलोको मे शक्ति पैदा करने वाला संस्कार आत्मा में उत्पन्न होता है वे ही देवलौकिक कर्म है और ये तीन हैं। यज्ञ, तप, दान-मनुष्य की आत्मा दो प्रकार की होती हैं। १-मानुष्य आत्मा, २-दैव आत्म मनुष्य की आत्मा एक ही होती है और उसमे विशेष कर चार आत्मा मिली होती हैं। भूतात्मा उसके अन्दर महान् आत्मा उसके भीतर क्षेत्रज्ञ आत्मा और उसके भी भीतर चिदात्म ही अपना-अपना तन्त्र या संस्था रखते हुए भी सूत्रात्मा के द्वारा परस्पर बद्ध होकर एक ही तन्त्र बना लेते हैं तथापि इस जन्म और जीवन की प्रक्रिया से दो विशेषतायें उत्पन्न होती हैं। अर्थात् के मेल से उत्पन्न हुई जो एक आत्मा है सो दो हो जाती हैं। एक सूर्य रस प्रधान और दूसरा प्रधान। माता के गर्भ मे बालक दो भाव को ग्रहण करता है, अर्थात् माता के रस प्रधान है का जन्म होता है और पिता के रस प्रधान होने से पुत्र का होता है। इसी प्रकार आत्मा भी की हो जाया करती है। चिदात्मा और महान् आत्मा पृथक् अपनी संस्था न बनाकर उन्हीं दो मिल जाया करते है। इसी से पृथ्वी माता के रस से बनी हुई आत्मा भी चार आत्मा की बनी और सूर्य रूपी द्यौ पिता के रस वाली आत्मा भी चार आत्माओ की बनी हुई होती है। आत्मा के दो भेद जन्म के समय से ही बनते शुरू हो जाते हैं। किन्तु ये दोनो भी सूत्रात्मा मे कारण जीवन काल मे भिन्न नही होने पाते, किन्तु जुड़े रहने पर भी इन दोनो मे पृथ्वी मे और दूसरी सदा सूर्य से खिची हुई रहती है। इन दोनो मे सूर्य वाली

पृथ्वी वाली को मानुष्य आत्मा कहते हैं। इन दोनो को जोड़ने वाली सूत्र के टूटते ही प्राणी की मृत्यु होती है, उस समय ये दोनो आत्मा भिन्न-भिन्न रुख के दो मार्गों का अवलम्बन करते है। दैव आत्मा एकदम ऊपर की ओर अपना रूख करके चन्द्रमा मे होता हुआ सूर्य में जाने प्रयत्न करता है। किन्तु कर्मों के बोझ के दबाव से चन्द्रमा और सूर्य के भीतर कही-कही फिरता रहता है, किन्तु उस आत्मा की स्वाभाविक गति सर्वदा सूर्य की ही ओर दूसरा मानुष्य आत्मा ऊपर की ओर न जाकर चन्द्रमा के नीचे ही इस पृथ्वी पर कही न कहीं विचरता रहता है, उस अवस्था में उस मानुष्य आत्मा को गन्धर्व आत्मा या हंसआत्मा कहते हैं। यह गन्धर्व आत्मा वायु प्रधान और दैव आत्मा अग्नि प्रधान होता है। इस प्रकार इन दोनो आत्माओ का शरीर मे होना और मृत्यु काल मे इन दोनो का बिछुडना प्रकृति नियमानुसार सभी प्राणियो मे अवश्य होता है।

इन दोनो मे हसआत्मा के लिये हमें कोई प्रयत्न करने की आवश्यकता नही है। किन्तु दैवआत्मा के सम्बन्ध मे बहुत कुछ वक्तव्य है। वह दैवआत्मा अपने स्वभाव से सीधा सूर्य मे जाना चाहता है, कर्मों के सस्कार का भिन्न-भिन्न बल पाकर मार्गच्युत हो जाता है। सूर्य के मुख्यज्योति ... भिन्न-भिन्न स्थानो मे भ्रमण करता हुआ फिर पृथ्वी मे उलटकर आ जाता है। जब कि ... स्वाभाविक रुख सूर्य की ओर है किन्तु कर्मवश उसकी गति मे बाधा पडती है, इस से आ... होना अवश्य सभव है, इसी दुःख को मिटाने के लिए सूर्य विरोधी कर्मों के बल को घटाकर ... की शक्ति बढाने के लिए कितने ही कर्म चुने गये हैं। वही कर्म ये तीन प्रकार के है जिन... दान, कहते है।

(१-यज्ञ)

यज्ञ दो प्रकार का है। १-अग्नि मे अग्नि की पाच चिति करके हमारे शरीर की अग्नि... यज्ञ, तन जो शरीर परिच्छिन्न था, उसका आयतन सूर्य तक बढा दिया जाय इस अग्निचित्या यज्ञ से ... आत्मा सूर्य तक बढकर दैवआत्मा बन जाता हैं, जिससे उसकी गति सूर्य मे अवश्य ही हो जाती ... यज्ञ विद्वान् ब्राह्मण ही अपने लिये ही कर सकता है।

२-दूसरा यज्ञ अग्नि मे सोम की आहुति देना है। सोम की आहुति देने के लिये शरीर की ... अग्नि को याज्ञिक अग्नि बनानी पडती है। उसके लिये अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मा..., पशुबन्ध ये पाच पूर्व प्राक्सौमिक यज्ञ करने पडते है। ये पाचो क्रम से अग्नि सस्कार और दैनिक, मासिक, आर्तव, अयन, सस्कार रूप हैं। इनके अनन्तर 'साम्वत्सरिक सस्कार' रूप सोमयज्ञ करना होता है वह सात प्रकार का है। अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्यस्तोम, षोडशीस्तोम, अतिरात्रस्तोम, वाजपेयस्तोम, आप्तोर्यामस्तोम इन सब को ज्योतिष्टोम कहते हैं। इस सोमयाग से भी शरीर की वैश्वानर अग्नि पुष्ट होकर इतना प्रबल हो जाता है कि आत्मा की गति उन्ही पाचो मार्गों से अर्थात् दिन, मास, ऋतु, अयन, सम्वत्सर के द्वारा सूर्य मे पहुच जाती है। इस यज्ञ के द्वारा हमारा जन्मसिद्ध दैवआत्मा मे सस्कार करके आत्मा का आयतन बढ़ाकर एक नया (यज्ञ प्रभाव ग्रहण करने योग्य) ऐसा बल डाला जाता है जिससे,

आत्मा कर्मो के वेग मे न आकर अपने मार्ग मे निष्प्रतिबन्ध (बिना रुकावट) [illegible] प्रकार जन्मसिद्ध है। वह आत्मा मे सस्कार करके नया देवआत्मा बनाना ही [illegible]।

(२—तप)

इससे भिन्न कक्षा का कर्म तप है। तप उसको कहते हैं कि अपनी शरीर [illegible] दिव्य वा अन्तरिक्ष की अग्नि प्रवेश कर के क्षुब्ध करना और उन तीनों अग्नियों के [illegible] नया अग्नि ऐसा उत्पन्न किया जाय जो इस आत्मा के ऊपर आये हुए कर्म के [illegible] और आत्मा के धरातल को इस प्रकार पका दे कि जिससे उस पर फिर कर्मो के नये [illegible] पावें, इस प्रकार के कर्मो को ही तप कहते हैं। यज्ञ के अनुसार ये भी बहुत प्रकार के हैं, [illegible] ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण और अनशन (अन्न अशन) ये तीन मुख्य हैं।

(३—दान)

तीसरी कक्षा का दान है—तप और दान मे इतना ही अन्तर है कि तप मे आत्मा का [illegible] भाग व्यय होकर दूसरे की आत्मा मे सम्मिलित होता है और उस गये हुए अश की कमी की पूर्ति [illegible] एक महा बलवान् सत्यधर्म उस स्थान पर आ बैठता है। जैसे कच्चा ईंटा सुखाया जाने पर [illegible] स्थान पर बलवान् अग्नि (अन्तर्यामी) आ बैठता है, जिससे ईंटा पककर बलवान् हो जाता है। [illegible] व्यायाम करने वाला पुरुष अपने बल को इसलिए व्यय करता है कि जिससे उस [illegible] अधिक बल उत्पन्न हो ठीक यही उद्देश्य तप का है। किन्तु जो ऐसा नही कर सकता उनके लिए [illegible] है, इसमे आत्मा के बहिरङ्ग भागो का त्याग है। अर्थात् जो आत्मीय वस्तु हो उनमे भी जिनसे [illegible] आत्मा का अधिक उपकार होता हो और जो आत्मा के अधिक प्रिय हों उन वस्तुओं पर [illegible] अधिक अंश रहने के कारण उनका दान करना भी आत्मत्याग सदृश ही एक प्रकार का छोटा तप है। [illegible] अपनी आत्मा के भाग को समर्पण नही कर सकते उनको अपनी आत्मीय वस्तु का समर्पण करना उचित है। सर्वथा आत्मदान करने से आत्मा मे अधिक बल उत्पन्न होता है यही तप और दान का [illegible]।

२—विद्या निरपेक्ष कर्म

जिस प्रकार देवलौकिक कर्म के करने से देवलोक रूपी स्वर्ग मे जाने की शक्ति [illegible] उसी प्रकार पितृलोक रूपी स्वर्ग मे जाने की शक्ति जिनसे उत्पन्न होती है उन कर्मो को [illegible] विद्या निरपेक्ष कर्म कहते है। देवलौकिक के अनुसार पितृलौकिक भी तीन प्रकार [illegible] दत्त। इनमे इष्ट उन छोटे यज्ञो का नाम है, जिनमे एक अग्नि या स्मार्त अग्नि मे होम [illegible] यज्ञ मे खडे होकर वषट्कार से आहुति देनी पड़ती है। किन्तु इष्ट के होने मे [illegible] देनी पड़ती है और आपूर्त एक प्रकार का द्रव्य ही व्यय करना पड़ता है जैसे [illegible] आदि निःस्वार्थ स्थान बनाकर उत्सर्ग करना औषधालय, पाठालय, सदावर्त ([illegible] कन्या विवाह इत्यादि इत्यादि आपूर्त कर्म हैं और तीसरा दत्त यह दान है, जो [illegible]

संकल्पमात्र से किया जाता है। यज्ञ, तप और दान मे जो दान है वह शास्त्रीयदान है, जो भारतवर्ष के अतिरिक्त और देशो या समाजो मे नही है और इष्ट, आपूर्त, दत्त का जो दत्तदान है वह लौकिक दान है। इस प्रकार प्रायः सभी देश और समाजो मे है। देवलौकिक दान अर्थात् भूमिदान, अन्नदान, विद्यादान, अभयदान, जीवदान, गौदान, हिरण्यदान आदि दानो मे वेदमन्त्र से सकल्प पूर्वक जल के द्वारा दान करना पडता है। इनमे देश, काल, पात्र और श्रद्धा आदि की विशेष अपेक्षा है। मूर्ख, दरिद्री, अङ्गहीन आदि को देने से वह दान निष्फल होता है। किन्तु इसके विपरीत पितृलौकिक दत्त वह दान है, जिसमे भूमिदान, अन्नदान आदि ऊपर लिखे सब दान विना वेदमन्त्र के विना जल के दिया जाता है और उसमे देश, काल, पात्र की विशेप अपेक्षा नही होती वल्कि ऊपर लिखे हुए के विरुद्ध मूर्ख, दरिद्री, अङ्गहीन, असमर्थ, अनाथ को देने से अधिक पुण्य होता है। इस प्रकार इन तीनो इष्ट, आपूर्त, दत्त, कर्मों के करने से देवस्वर्ग मे न जाकर भी पितृस्वर्ग मे जाता है, इस कारण से ये कर्म भी अच्छे गिने जाते हैं। इन तीनो कर्मों के अतिरिक्त जितने कर्म हैं वे सब पाप गिने जाते हैं और वे ९ प्रकार के हैं।

(विकर्म अर्थात् विद्या विरोधी)

१—अतिपातक, २—महापातक, ३—अनुपातक, ४—पातक, ५—उपपातक, ६—जातिभ्रंशकर, ७—सकरीकरण, ८—मलिनीकरण, ९—अपात्रीकरण। इनमे पाच वे विद्याविरोधी सस्कार हैं, जिनका सम्बन्ध आत्मा की गति से है। आत्मा विद्यारूप है और वह विद्या अर्थात् विज्ञान या वुद्धि सूर्य रस से उत्पन्न होता है। इसलिये आत्मा मे विद्या की अधिकता से अथवा विद्या विरोधी सस्कारो के आत्मा मे न रहने से वह आत्मा स्वभावतः सूर्य की ओर गति करता है। अर्थात् उसकी गति पृथ्वी सूर्य के बीच मे होकर सूर्य मे खतम होती है, इससे ही अभ्युदय कहते हैं। किन्तु इसके विपरीत यदि आत्मा मे कर्मजन्य ऐसे सस्कार हो गये हो जिनसे विद्या के प्रकाश का आवरण होता हो तो वह आत्मा मे भार रूप होकर आत्मा को सूर्य की ओर न जाने देकर पृथ्वी और लोकालोक के बीच मे होती है और लोकालोक मे वह गति खतम होती है। ऐसे ही सस्कारो को पातक कहते हैं उससे आत्मा का पतन होता है, और उसे ही प्रत्यवाय कहते हैं।

इस प्रकार आत्मा का पतन जिन कर्मों से होता है, उन सब कर्मो को यद्यपि पातक ही कह सकते हैं किन्तु उनके वल के तारतम्य से पाच भेद किये गये हैं। सवसे अधिक गिराने वाले को अतिपातक, उससे कम गिराने वाले को महापातक इसी प्रकार क्रम से अनुपातक, पातक, उपपातक हैं। जैसे आत्मघात करना अतिपातक है, सुवर्ण चुराना महापातक, गुरुद्रोह करना अनुपातक, प्राणीमात्र का अनिष्ट करना पातक, ऐसा मिथ्याभापण करना जिससे किसी को हानि न पहुँचे वह 'उपपातक' है। शेष ४ सस्कार आत्मा के पृथ्वीलोक मे जन्म की विशेषता से सम्वन्ध रखते है। जिनसे आत्मा अपनी विद्यमान योनि से गिरकर छोटी योनि मे जन्म पावे। अर्थात् मनुष्य से पशु और पशु से कीट, क्रीमि आदि योनि परिवर्तन के कारण "जातिभ्रंशकर" कहते हैं। किन्तु यदि मनुष्य विद्यमान वर्ण मनुष्य मे ही छोटे वर्णो मे जन्म लेवे तो उसका कारण "सकरीकरण" है। व्राह्मण का व्राह्मण ही मे जन्म लेकर भी यदि उसका प्राचीन उदाराशय नष्ट होकर नीचता आ जाय तो उच्च दशा से नीच दशा मे हो जाय, दरिद्री,

दुःखी, हो जाय तो वह 'मलिनी कारण' है किन्तु ब्राह्मण या राजा अपनी ही जाति या कक्षा पर रहकर भी यदि प्रकृति का नीच दुष्ट हो जावे, समाज मे उसकी दुर्वृत्ति कुपात्रता की निन्दा हो तो वह "अपात्री करण" है। इस प्रकार आत्मा के किसी न किसी प्रकार का पतन जिनसे होता हो वे सब पातक या पाप हैं।

इन सब पापो के अधीन मन, वचन और काय है। मन से किये हुए पाप का 'काम' ही पर विश्राम होता है इसलिये उसका भोग मन की आधि के द्वारा अर्थात् काम, क्रोध आदि के द्वारा ही उत्पन्न होकर आत्मा को भोगना पडता है। इसी प्रकार वचन का सस्कार वचन मे ही रहकर गाली आदि वचनो द्वारा ही आत्मा भोगता है और काय का सस्कार शरीर मे नाना प्रकार के रोग, व्रण, घात आदि के द्वारा आत्मा भोगती है। तात्पर्य यह है कि जिनके द्वारा आत्मा किसी प्रकार की अवनति पावे वह सब विकर्म हैं।

(अकर्म)

अकर्म वह है कि जिससे आत्मा के उन्नति करने का समय या साधन आत्मा मे न आ सकते हो ऐसे साधनो का आत्मा के साथ सयोग होने मे जो कर्म विघ्न डाले वह सब अकर्म है। इनके द्वारा आत्मा की अवनति है, इसलिये ऐसे कर्मों को अकर्म कहते हैं। काम जन्य कर्म से आत्मा मे जो सस्कार उत्पन्न होता है उसे शुक्र कहते है। यह शुक्र दो प्रकार का है एक सृष्टि की इच्छा से उत्पन्न और दूसरा भोग की इच्छा से उत्पन्न होने वाला। पहले शुक्र को माया कहते हैं, जो ईश्वर मे पाया जाता है। किन्तु भोग की इच्छा से उत्पन्न शुक्र को अविद्या कहते हैं, यह ईश्वर मे नही है। इसीलिये ईश्वर का भोगने के लिये परवश जन्म मृत्यु नही होते, किन्तु जीव मे माया और अविद्या दोनो ही पाये जाते है। माया के कारण स्वतन्त्र जीव आत्मा, शोणित, मास, अस्थि आदि को उत्पन्न करता है, किन्तु अविद्या के कारण परतन्त्र होकर नाना योनि धारण करके या नाना लोको में जाकर के सुख दुःख भोगता है। इस प्रकार जीव मे सृष्टि काम के शुक्र, भोग काम के शुक्र (शुक्र काम से जो कर्म उत्पन्न हो) दो प्रकार के शुक्र सिद्ध होते हैं, किन्तु इनमे दूसरा शुक्र फिर दो प्रकार का है। एक बन्धनरूप, दूसरा भोग-नाश्य। इनमे पहला क्लेश बीज कहलाता है और वह भोग पञ्चपर्वा अविद्या है। उसके अविद्या, अस्मिता राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पाच पर्व है। इसके कारण ही यह जीव आत्मा जीवात्मा है अर्थात् यह बन्धन-रूप क्लेश अनेक जन्म तक ज्यो का त्यो बना रहता है और इसी के कारण जीवआत्मा को सहस्रो बार जन्म मृत्यु के सिलसिले मे परिभ्रमण करना पडता है। इस बन्धन या हृदग्रन्थि के छूटते ही जीवआत्मा जीवपने से मुक्त होकर तत्काल परमात्मा हो जाता है। किन्तु दूसरा शुक्र भोगनाश्य है। एक एक जन्म जीवन मे अथवा सम्पराय मे भोगने के कारण वे सस्कार नष्ट होते हैं। इस प्रकार इस जीव आत्मा मे तीन प्रकार के शुक्र सिद्ध हुए। एक मायाशुक्र, दूसरा पञ्चपर्वा अविद्या, क्लेश, तीसरा भोगनाश्य शुक्र। इनमे अन्त के दोनो शुक्रो को भी कर्म कहते हैं। तात्पर्य यह है कि कर्म दो प्रकार का है। एक कर्म जो कि शुक्र के पहले हो गया है वह प्रारब्ध कर्म है किन्तु ये दोनो शुक्र (पञ्चपर्वा और भोगनाश्य) सञ्चित-कर्म है यह तत्काल भोग देने के लिए प्रारब्ध नही है अर्थात् प्रारम्भ नही किया है इसलिये सञ्चित कर्म

कारण यही तीन शरीर थे। इन तीनों मर्त्य शरीरो के न रहने पर आत्मा पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य इन तीनो लोकों मे यातायात नही कर सकता यही मुक्ति का कारण है।

४—प्रेत्यस्थिति

(प्रेत्य = मरने के उत्तर याने पीछे। अनुशय के नाश का अभाव)

यहा पर यह प्रश्न हो सकता है कि हमारी आत्मा चार आत्माओ की बनी हुई है। सबसे बाहर भूतआत्मा उसके भीतर क्षेत्रज्ञआत्मा और उसके भीतर चिदात्मा है। इस चिदात्मा को छोडकर पीछे की तीन आत्माओ के अमृत और मृत्यु ये दो दो भाग हैं। भूतात्मा के भौतिकशरीर टूटने पर उसका अमृत-भाग कहा गया यह स्पष्ट ज्ञात नही होता क्योकि चन्द्रमा मे गए हुए आत्मा को महान्आत्मा कहा है जो कि भूतआत्मा के दोनो भागो से पृथक् है। इसी प्रकार महान् का भी सौमिकशरीर छूटने पर क्षेत्रज्ञआत्मा सूर्य मे गया, किन्तु महान् का अमृतआत्मा कहा गया यह स्पष्ट ज्ञात नही होता तो इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है कि इन पहले की तीनों आत्माओ मे मर्त्यभाग दो प्रकार के हैं। एक शरीररूप और दूसरा अनुशयरूप। इनमे केवल शरीर का ही त्याग होता है, किन्तु अनुशय का त्याग नही होता। कारण यह है है कि इन तीनो आत्माओ में भूतात्मा ही कर्म आत्मा है अर्थात् कर्मजन्य सस्कार इस भूतात्मा मे ही होते हैं और यही आत्मा सुख दुःख भोगता हैं। इसलिए जब तक मोक्ष की अवस्था न हो अर्थात् कर्म सस्कार के बने हुए सब मृत्यभागो से मुक्त होकर शुद्ध विद्यारूप न हो तब तक उस भूतात्मा मे कर्म सर्वथा निवृत्त नही होते इस से वह कर्म भोग उत्पन्न करने के लिये बीजरूप से अवश्य ही भूतात्मा मे रहता है, उसी बीज को अनुशय कहते हैं, तो ऐसी दशा मे पृथ्वी मे स्थूलशरीर छूटने पर भी उस शरीर का अनुशय रूप मर्त्यभाग आत्मा से नही छूटता। इसलिए अमृत, मृत्यु दोनो भागो का बना हुआ भूतात्मा ही रहता है इसी प्रकार चन्द्रमा का बना हुआ सौम्यशरीर चन्द्रमा से छूटने पर भी उसका अनुशय आत्मा से नही छूटता। इसी प्रकार क्षेत्रज्ञ का शरीर छूटने पर भी उसका अनुशय आत्मा से नही छूटता। तात्पर्य यह है कि जैसे यहा पृथ्वी में भूतआत्मा मे महान् और उसमे क्षेत्रज्ञ, इस प्रकार तीनो मिले हुए रूप मे हैं उस प्रकार चन्द्रमा मे और सूर्य मे भी उन तीनो आत्माओ का मिलाव है। यही कारण है कि जो आत्मा पृथ्वी पर था वही चन्द्रमा या सूर्य पर गया ऐसा कहा जा सकता है। यही भूतात्मा चन्द्रमा मे नही जाता और महान् भी सूर्य मे नही जाता तो एक ही आत्मा का तीनो लोको मे परिभ्रमण कहना अनुचित होगा। अलबत्ता एक ही आत्मा रहने पर भी उसका इन तीनो स्थानो मे तीनो आत्मा की बनी हुई शरीर की विशेषता अवश्य रहती है। तात्पर्य यह है कि मृत्यु के पश्चात् भी तीनो आत्माओ के अमृत और मृत्युभाग पृथ्वी मे जीवन के अनुसार ही बने रहते हैं और उसी मर्त्यभाग के स्त्री के उदर मे शुक्र, शोणितरूपी मर्त्य-भाग के साथ यह भूतआत्मा चन्द्रमा से आकर मिल जाता है।

किन्तु यह ऊपर की अनुशय की कथा उसी दशा मे जाननी चाहिए जब तक कर्मों की वासना नष्ट न होने से आत्मा भोग चक्र या जन्म मृत्यु के चक्र मे परिभ्रमण करता हो। कर्मो के सस्कार नष्ट हो हो कर आत्मा शुद्ध विद्यारूप हो जावे तो उस समय की यात्रा मे भूतात्मा का स्थूलशरीर छूटने पर

उसका अनुशय भी जाता रहता है। तो उसका अमृत भाग उपाधि निर्मुक्त होकर महान् के अमृत भाग मे लीन हो जाता है और विना भूतात्मा के महान्आत्मा चन्द्रमा मे जाता है। इसी प्रकार वहा भी सौमिक-शरीर छूटने पर उसका अनुशय भी छूट जाता है, और महान् का अमृतभाग क्षेत्रज्ञ के अमृत भाग मे लीन हो जाता है। महान् के विना ही एक क्षेत्रज्ञ रह जाता है, इसका भी शरीर और अनुशय दोनो नष्ट होने पर उसका अमृतआत्मा शुद्ध चिदात्मा रूप रह जाता है, यही मुक्ति है।

(भिन्न लोको में भिन्न शरीर)

जब तक अनुशय निवृत्त नही होता तब तक पृथ्वी मे आने पर भौतिक अनुशय ही पृथ्वी से पञ्च-भूतो को ग्रहण करके नया शरीर बनाता है और इस प्रकार शरीर सयुक्त होने को ही पृथ्वी मे जन्म कहते हैं। किन्तु पृथ्वी से दूसरे लोको मे जाने के समय पृथ्वी का भौतिक शरीर पृथ्वी पर ही रह जाता है। केवल अनुशय लेकर चन्द्रमा मे जाता है वहा भी सोम के अनुशय भाग मे चन्द्रमा का रस सम्मिलित होकर एक सौमिक शरीर बनाता है। उसी शरीर से चन्द्रमा मे कुछ समय तक जीवन निर्वाह करता है, वह शरीर भी चन्द्रमा से अन्यत्र नहीं जा सकता। इसी कारण चन्द्रमा दूसरे लोक जाते समय उस शरीर को छोड़कर केवल अनुशय को लेकर सूर्य या पृथ्वी मे आता है। सूर्य मे भी वहा के अनुशय के कारण सूर्य का मिश्रित होकर सौर शरीर बनाता है और उसी शरीर से कुछ समय तक सूर्य मे स्थिति रखता है किन्तु सूर्य से दूसरे लोक मे जाते समय उस और शरीर को वही छोडकर केवल वहा के अनुशय को लेकर जाता है। यही कर्म बन्धन चक्र मे परिभ्रमण का क्रम है, और ये ही भिन्न-भिन्न तीन शरीर इन तीनो लोको मे जीवन के लिये स्थिति के कारण हैं।

(लोकों मे बीच की स्थिति)

अब यहा प्रश्न यह होता है कि पृथ्वी से शरीर छूटने पर और चन्द्रमा मे नया शरीर धारण करने के पहले इस बीच की दशा मे इस आत्मा का कोई शरीर रहता है या नही। इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार होगा कि प्रथम भूतआत्मा मे ३ भाग है वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ इनमे वैश्वानर प्राण और प्राज्ञ ये दोनो ही साथ ही शरीर में प्रवेश करते है, साथ ही रहते हैं और साथ ही शरीर से बाहर जाते हैं ऐसा ही कौषितक ऋषि ने सिद्धान्त किया है। उसमे प्रज्ञा से चेतना बनी रहती है, और वैश्वानर-अग्नि के सम्बन्ध से पाचो भूतो का अनुशय साथ रहता है। इसी अनुशय के कारण से आकाश मे जाते समय वायु के द्वारा पाचो भूतो के कुछ-कुछ अश अपने आप उस अनुशय मे आ लगते हैं। जिस प्रकार वायु द्वारा वस्त्र पर या घर मे गर्द जम जाता है उसी प्रकार पञ्च भूतो का एक स्तर जम जाने से वही उस वैश्वानर या प्रज्ञात्मा का शरीर बन जाता है। इस शरीर को यातना (तकलीफ) शरीर या भोग शरीर कहते है। जब तक दूसरे लोक मे वहा के तत्वो को लेकर आत्मा नया शरीर ग्रहण न करें तब तक यह भोग शरीर नही मिटता किन्तु नरक लोक मे जाने पर यह नया शरीर नही छूटता इसी भोग शरीर से नरक का भोग पाता है, इसलिये इस शरीर को विशेष रूप से यातना शरीर कहते हैं। सूर्य आदि लोको से प्रत्यावर्तन के समय चन्द्रमा मे होकर जब यह आत्मा पृथ्वी की ओर आता है तो फिर वायु द्वारा

पूर्ववत् नया भोग शरीर उत्पन्न हो जाता है। कितनो ही का मत है कि यह वायु पृथ्वी से ऊपर बहुत ही थोड़ी दूर है, चन्द्रमा मे वायु सर्वथा नही है, परन्तु यह मत विशेष आदरणीय नही है प्रत्युत भ्रमपूर्ण है। यह विश्वास रखना चाहिये कि आकाश का तिलमात्र प्रदेश भी कही वायु से शून्य नही है अलवत्ता पृथ्वी चन्द्र सूर्य आदि घन पिण्डो के चारो ओर यह वायुस्तर कुछ स्थूल हो जाता है। किन्तु शेष स्थानो मे अति सूक्ष्म रूप से स्तब्ध (डटा हुआ) रहता है यही सूक्ष्म वायु होने का कारण है, कि आधुनिक यन्त्रो मे वायु का सञ्चार स्पष्ट रूप से न मालूम होता हो पर्वतो के उच्च शिखर पर जाने से श्वास मे बाधा पड़ती है वह आक्सीजन की कमी के कारण है न कि सर्वथा वायु के अभाव से चन्द्रमा मे भी वायु है और यहा भी जीव हैं, विष्णु पुराण मे लिखा है—

> अङ्गुलस्याष्ट भागोपि, न सोऽस्ति मुनि सत्तम ।
> न सन्ति प्राणिनो यत्र, कर्मबन्ध निबन्धना ॥१॥
> स्थूलैः सूक्ष्मैस्तथा सूक्ष्मैः सूक्ष्मैः सूक्ष्मतरैरपि ।
> स्थूलैः स्थूलतरैश्चैतत् सर्व प्राणिभिरावृतम् ॥२॥

इस सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी से चन्द्रमा तक जाने मे अथवा चन्द्रमा से पृथ्वी तक आने मे पञ्च-भूत के सयोग से एक कल्पित शरीर हो जाता है। किन्तु उस शरीर में विशेषता यह है कि पृथ्वी पर जन्म लेने के पश्चात् यह भौतिक शरीर जिस प्रकार जीवन काल मे बढता घटता रहता है, उस प्रकार वह भौतिक शरीर नही बढता है। पाषाण खण्ड के अनुसार १३ नक्षत्र मास तक समान भाव से रहता है, अर्थात् बाल्य, युवा आदि अवस्था का परिवर्तन नही होता। जिस अवस्था की आत्मा प्रेत होती है उसी अवस्था मे रहती है इसका कारण यह है कि इस भूतात्मा मे जिस प्रकार वैश्वानर और प्राज्ञ आत्मा बने रहते हैं, उस प्रकार तैजस आत्मा नही रहता। तैजस आत्मा सूर्य, चन्द्र और विद्युत् से बनी हुई है। तैजस आत्मा मे सूर्य चन्द्र का भाग अलग होकर केवल विद्युत् का भाग ही साथ रहता है। किन्तु बढने घटने की शक्ति वृक्ष या प्राणियो का ऊपर की ओर उठाना या शरीर का फैलाव इस विद्युत् मे सूर्य चन्द्र के रस के याज्ञिक सयोग से होती है। प्रेतात्मा मे सूर्य, चन्द्र के रस नष्ट होने से वह ऊपर जाने की शक्ति जाती रहती है। इस वास्ते यह यातना शरीर ज्यो का त्यो समान भाव से बना रहता है। इस सम्बन्ध मे यातना शरीर की उत्पत्ति या परिवर्तन का क्रम मनुस्मृति के १२ अध्याय मे १६ से २२ श्लोक तक विशदरूप से निरूपण किया है। इस प्रकार भूतात्मा की प्रेत अवस्था मे उसके साथ महान् आत्मा और क्षेत्रज्ञआत्मा भी अवश्य ही रहती है। किन्तु यदि वह आत्मा चन्द्रमा या पितृ स्वर्ग मे भोग को भोगकर यदि सूर्य मे जाती है, तो उसके साथ महान्‌आत्मा रहती है या नही यह विषय विचाराधीन है। किन्तु अधिक सम्भव यही है कि जब तक ब्रह्मपथ अर्थात् मुक्तिमार्ग मे यह भूतात्मा न जावे, तब तक इस भूता-त्मा का महान् और क्षेत्रज्ञ इन दोनो आत्माओ से सम्पर्क (मेल) नही छूटता ऐसा ही मनु ने कहा है—

> तौ धर्म पश्यतस्तस्य, या पञ्चातन्द्रितौ सह ।
> याभ्यां प्राप्नोति संपृक्तः प्रेत्येह च सुखाऽसुखम् ॥

तात्पर्य यह है कि महान् और क्षेत्रज्ञ ये दोनो आत्मा इस भूतात्मा के पाप और पुण्य को बड़ी सावधानी से साथ रहकर देखते रहते हैं। जिन दोनो के साथ मिलकर यह भूतात्मा मृत्यु के पश्चात् या पहले इस मनुष्य जीवन मे भी सुख दुःख भोगता है यह मनुका सिद्धान्त उचित भी प्रतीत होता है क्योंकि क्षेत्रज्ञ आत्मा सम्बन्धी विज्ञान के विचार से ही समझ बूझ कर यह भूत आत्मा पाप पुण्य करता है, इस-लिये पाप पुण्य का सस्कार उत्पन्न होने मे भी उस विज्ञान का सहयोग आवश्यक है। इसके अतिरिक्त यह पाप पुण्य सस्कार विशेपकर महान् आत्मा मे उत्पन्न होता है, क्योकि महान् आत्मा मे ही अहङ्कार ही इन सस्कारों को उत्पन्न करता है। 'मैंने किया' ऐसा अहङ्कार यदि विज्ञान आत्मा मे न हो तो संस्कार उत्पन्न ही नही हो सकता। तात्पर्य यह है कि विज्ञान, महान् और भूतात्मा इन तीनो के परस्पर सम्बन्ध से जो एक आत्मा का स्वरूप बनता है उसी मे परस्पर के कार्य कारण भाव से कर्मों के सस्कार उत्पन्न होते है यदि ये तीनो आत्मा पृथक्-पृथक् हो जायँ तो किसी कर्म का सस्कार उत्पन्न नहीं हो सकता इसलिये मानना होगा कि मनुष्य जीवन के अनुसार मृत्यु के पश्चात् भी चन्द्रलोक या सूर्य लोक मे भी ये तीनो आत्मा साथ रहते हैं, इसलिये उसे अपनी योनि का ज्ञान और अपने किये हुए पाप पुण्य का अभिमान भी बना रहता है।

५—गतिमार्ग

(१—शरीर के भीतर आत्मा का गतिमार्ग)

इस भूतात्मा मे प्रधान प्रज्ञात्मा विज्ञान आत्मा से सयुक्त होकर ही इस शरीर मे जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीन अवस्था धारण करके विहार करता है किन्तु जिस प्रकार कोई रथी किसी रथ पर सवार होकर विहार करता हुआ अन्त मे कभी उस रथ को छोड देता है। उसी प्रकार यह विज्ञान सहित प्रज्ञान इस शरीर रूपी रथ को छोडकर दूसरे रथ का अन्वेषण (तलाश) करता है। इस रथ के छोड़ने का कारण यह है कि इस शरीर मे अनुमान ३ ॥ करोड रोमकूप हैं इनके अतिरिक्त और भी शरीर मे बडे-बडे छिद्र है। इन्द्रियादि इन सूक्ष्म, स्थूल छिद्रो के द्वारा शरीर की अग्नि या शरीर के मैल पसीने इन मे प्रतिक्षण बाहर निकलते रहते है। जिसके घर्षण से ये छिद्र धीरे-धीरे चौडे होते जाते हैं जिसके कारण पूर्व अपेक्षा पश्चात् अधिक अग्नि का क्षय होता रहता है। तात्पर्य यह है कि २५ वर्ष तक अन्नादि के भोजन से जो अग्नि उत्पन्न होती है वह इन छिद्रो के द्वारा अग्नि क्षय की अपेक्षा अधिक होने के कारण बच रहती है, वह शरीर के अङ्गो की वृद्धि मे या पुष्टि मे काम आती है। २५ से ४० तक वृद्धि बन्द होकर पुष्टि होती रहती है। ४० से ७० तक आगम निगम (आमद खर्च) बराबर होने से शरीर की वृद्धि और पुष्टि बन्द हो जाती है। ७० के पश्चात् आगम की अपेक्षा निर्गम अधिक होता है जिससे शरीर मे मास की कमी के साथ-साथ अग्नि भी कम होती जाती है। अग्नि के कम होने से अन्न के पचाने की शक्ति भी कम होती जाती है। इस प्रकार अन्न की कमी और फिर उसकी भी पाचन की कमी से अग्नि मे अन्न की आहुति की न्यूनता के कारण आध्यात्मिक यज्ञ धीरे-धीरे नष्ट होने लगता है। यह यज्ञ ही प्रज्ञान की स्थिति का मुख्य कारण है। यज्ञ का वास्तव स्वरूप नष्ट होने पर इस शरीर के जितने भी अश सड़कर अनात्मिक हो जाते है। जिनके दबाव से व्याकुल होकर उन मे घृणा करके प्रज्ञान इस

इस शरीर रूपी रथ को छोड देता है और दूसरे नवीन दृढ़ रथ का अन्वेषण करता है। उस समय यह प्रज्ञान आत्मा शरीर के प्रत्येक अङ्ग को इस प्रकार छोड़ता है जैसे कोई फल पकने पर अपनी टहनी को छोड़कर नीचे पृथ्वी की ओर गिरता है। उसी प्रकार यह प्रज्ञान आत्मा शरीर को छोड़कर ऊपर आकाश की ओर उडता है। किन्तु प्रथम यह पाव की ओर हटता हुआ सर्वाङ्ग शरीर से धीरे-धीरे हृदय के अग्रभाग मे एक तिल मात्र ज्योति को लेकर प्रकाशित होता है, उस समय सर्वाङ्ग शरीर को स्पर्श करने पर कही भी ज्ञान उद्बोध न होते हुए भी केवल हृदय मे कुछ होश रहता है और नाड़ी की फड़कन बन्द होने पर भी हृदय की धडकन बनी रहती है। अन्त मे हृदय को छोडकर जाते समय ये सब इन्द्रिया और मुख्य प्राण और पञ्चभूतो का अनुशय, वैश्वानर और विद्युत् इन सब को साथ लिये हुए प्रज्ञान आत्मा हृदय को लात मार कर ऊपर जाता है। नित्य उसके साथ रहने वाला महान् और विज्ञान-आत्मा भी प्रज्ञान के साथ चला जाता है। प्रज्ञान आत्मा यदि पापी है तो पाप के बोझसे दबकर हृदय के नीचे किसी न किसी अङ्ग से निकलता है। पाप पुण्य समान होने पर हस्त आदि के द्वारा निकलता है, और उत्तम जीवो की आत्मा मुख, चक्षु, श्रोत्र या मस्तक के मार्ग से निकल जाता है। उसके निकलने के लिये हृदय से चारो ओर नीचे ऊपर फैले हुए जो हितानाम की नाडिया जो पहले कही जा चुकी हैं, उन्ही नाडियो के नीचे या ऊपर किसी ओर प्रज्ञात्मा निकलता है। यही हितानाडी शरीर से बाहर निकलने के लिये इस भूतात्मा का शरीर के भीतर सबसे प्रथम गति का मार्ग है।

(२—स्थूल शरीर छोड़ते समय आत्मा के सूक्ष्म शरीर का परमाणु)

इस भूतात्मा की सब मिलकर ७ अवस्थायें होती है—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मोह, मूर्छा, मृत्यु और मुक्ति इनमे मूर्छा, सुषुप्ति और मुक्ति इन तीनो दशा मे आत्मा—धूम, ज्योति, जल, वायु, मेघ आदि के अनुसार अशरीर होता है। क्योकि आत्मा के निजरूप मे कोई शरीर नही है। किन्तु जाग्रत् या मोह अवस्था में बाह्य स्थूलशरीर का अभिमान रखता हुआ आत्मा स्थूलशरीर परिच्छिन्न होता है, केवल नखाग्र और केशाग्र को छोडकर सर्वाङ्ग शरीर मे व्याप्त रहता है। इसलिये शरीर का परिमाण ही उस आत्मा का परिमाण है। अवशिष्ट दो अवस्था स्वप्न और मृत्यु-इन दोनो मे यह आत्मा अङ्गुष्ठ परिमित शरीर रखता है। यह आत्मा यद्यपि अङ्गुष्ठ परिमित ही इस शरीर मे सर्वदा रहता है, किन्तु वही इस विशाल शरीर मे सूक्ष्मरूप से पसर (फैल) कर अधिक देश व्यापी हो जाता है। किन्तु इस स्थूलशरीर का सम्बन्ध छूटने पर फिर वह अपने परिमाण मे आकर अङ्गुष्ठ परिमित हो जाता है। स्वप्न अवस्था में भी यह आत्मा इसी अङ्गुष्ठमात्र शरीर से विचरता है और मृत्युकल मे भी अङ्गुष्ठ-मात्र शरीर से ही इस स्थूलशरीर से बाहर होता है इसीलिये सावित्री सत्यवान् के उपाख्यान मे पुराणो में लिखा है—

अथ सत्यवतः कायात्, पाशबद्धं वशङ्गतम्।
अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं, निश्चकर्ष यमोबलात् ॥१॥

यद्यपि प्रज्ञात्मा अपने स्वरूप से अशरीर होने के कारण कुछ भी आयतन नही रखता तथापि भूतो का अनुशय, पञ्चदेवता, छन्द, स्तोम आदि दश अवयव का विराट् महान्‌आत्मा, क्षेत्रज्ञआत्मा आदि

कितने ही कर्म वासना सस्कार के सम्बन्ध से वह यज्ञात्मा अशरीर भी सशरीर बना हुआ निकलता है। इन्ही शरीर के अवयवो के कारण इस भूतात्मा मे गुरुता, लघुता भी देखी गई है। लघुता से ऊपर की ओर गुरुता से नीचे की ओर गति होती है। इसी शरीर का आयतन अङ्गुष्ठ मात्र कहा गया है।

प्रत्ययज्ञान

(मृत्यु के पश्चात् इन्द्रियजन्य ज्ञान)

भूत आत्मा शरीर से बाहर निकलते समय पाचो इन्द्रिय प्राणों को साथ ले जाता है। उस समय इन इन्द्रियो का अग्नि, वायु, सूर्य, दिक् चन्द्र—इन पाचो देवताओ के साथ जो चक्कर इन्द्रियों से देवताओ तक और देवताओ से इन्द्रियो तक❀प्रतिसन्धान सम्बन्ध जीवनकाल मे बना हुआ था वह टूट जाता है इसी कारण जिस प्रकार आख बन्द करने से सूर्य रश्मि का प्रतिसन्धान सम्बन्ध नष्ट होने के कारण दृष्टि नही होती, उसी प्रकार मृत्यु के पश्चात् पाचो देवताओ का सम्बन्ध टूटने के कारण किसी भी इन्द्रिय से ज्ञान उत्पन्न नही होना चाहिये था, तथापि पाचो इन्द्रिय प्राणो के साथ छठा मुख्य प्राण जिसे इन्द्र कहते है, जिससे पाचो इन्द्रियो का सम्बन्ध है वही उस समय पूर्वोक्त पञ्चभूतानुगत की मात्राओ को लेकर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धो का उद्बुद्ध करता है। जिससे स्मरणकालीन ज्ञान के अनुसार उस समय अर्थात् पृथ्वी को छोडने के पश्चात् चन्द्रमा मे पहुचने तक किञ्चित्-किञ्चित इन्द्रिय जन्य ज्ञान उत्पन्न होता रहता है। वैश्वानर के बने रहने से प्राज्ञात्मा का मुख्य प्राण के साथ सहयोग बना रहता है। किन्तु तैजस प्राण का सूर्य रस चन्द्र रस नष्ट होने के कारण केवल विद्युत् ही मन का सञ्चालन किया करता है। तात्पर्य यह है कि जिस समय इन्द्रियजन्य ज्ञान होते है, मन का भी व्यापार होता है जिससे मन पर उन पाचो विषयो का सस्कार उत्पन्न हो जाता है। मृत्यु के पश्चात् बाह्यजगत् मे शब्द, स्पर्श आदि विषयो का सयोग यथार्थ स्पष्ट न होने से केवल मन के उन सस्कारो को ही लेकर स्मरण मात्र ज्ञान होता है, पूर्ण ज्ञान नही होता इसलिये यथार्थ ज्ञान न होकर मलिन ज्ञान होता है।

शुक्ल, कृष्णमार्ग

आत्मा मन, प्राण, वाक् इन तीनो से त्रिधातु है। इनमे मन ज्योति स्वरूप है किन्तु शेष दो अज्योति हैं। यह सम्पूर्ण जगत् ज्ञान, क्रिया अर्थात् इन तीन स्वरूपो मे बटा हुआ है, और ये तीनों ही मन, प्राण, वाक् से उत्पन्न होते हैं इनमे ज्ञान का भाग प्रकाश स्वरूप होने से शुक्ल कहा जाता है और अर्थ अज्योति होने से कृष्ण कहलाता है। किन्तु प्राण दो प्रकार का है जो मन के भावो को पुष्ट करता है वह 'अच्छ' है वाक् की पुष्टि करने वाला 'अनच्छ' है इसी कारण प्राणजन्य कर्म भी दो प्रकार के हुये। ज्ञान को उत्पन्न करने वाला अथवा ज्ञान का सहकारी हो ऐसे कर्मो को पुण्य कहते हैं, और ज्ञान विरोधी धर्मो को उत्पन्न करने वाले अथवा ज्ञान का नाश करने वाले हो ऐसे कर्मो को पाप कहते हैं। पुण्य शुक्ल और पाप कृष्ण है। काम और शुक्र और भूतो के पाच गुण ये तीनो ही वाक् के विकार है।

❀ चक्कर इन्द्रियो से देवताओ तक और देवताओ से इन्द्रियो तक।

इसलिये पाप होने पर भी ज्ञान के सम्बन्ध होने न होने से इसमे भी तारतम्य है। अर्थात् काम 'अच्छ' हैं, भूतगण 'अनच्छ' है, किन्तु पुण्य कर्मो का शुक्र 'अच्छ' और पाप कर्मो का शुक्र 'अनच्छ है और इसी प्रकार अर्थ भी जो वाक् के विकार हैं वे तीन प्रकार के है। स्वत.प्रकाश, परप्रकाश, रूपप्रकाश या अ-प्रकाश। इनमे आदि के दो जो अच्छ हैं वे शुक्ल कहे जाते हैं और तीसरा अनच्छ होने से कृष्ण कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा से लेकर जगत् का प्रत्येक पदार्थ दो भागो मे बटा हुआ है। जो स्वय प्रकाशवान् है, या प्रकाशवान् से सम्बन्ध रखता है वे सब शुक्ल हैं और शेष जो प्रकाश विरोधी है वे सब कृष्ण हैं।

इस व्यवस्था के अनुसार गति के मार्ग भी दो प्रकार के होते हैं। देवयान, पितृयान—शुक्लमार्ग को देवयान, और कृष्णमार्ग को पितृयान कहते है। इन दोनो मार्गो का शरीर मे ही आत्मा के उत्क्रमणकाल से प्रारम्भ होता है।

इस आत्मा को उत्क्रमणकाल मे इन दोनो मार्गो मे से किसी एक मार्ग पर सवार होने के लिये कई कारण होते हैं, जिनमे दो मुख्य है, एक अवस्था, दूसरा कर्म। अवस्था जैसे स्वप्न की दशा मे अथवा सुषुप्ति की दशा मे जब कि प्रज्ञान आत्मा को साथ लेकर विज्ञानआत्मा पुरीतत नाडी मे चला जाता है तो यदि उसी समय प्राण का उत्क्रमण हो जाय तो कृष्णमार्ग होता है। क्योकि सोते से जागते समय जिस प्रकार प्रज्ञान, विज्ञान दोनो आत्मा एक बारगी भूतो मे दौड आते हैं उसी प्रकार उत्क्रमण या मृत्यु मे भी उन्ही भूतो मे अङ्ग २ मे पृथक् २ समा जाते हैं और भूतो मे ही ज्ञान या चेतना से भ्रष्ट होकर लीन हो जाते है। भूत के तम मे प्रवेश होने के कारण वह आत्मा कृष्ण मार्ग पर सवार हो जाता है, किन्तु उसकी गति नही होती। कृष्ण मार्ग पर आरूढ होकर भी इस भूतमय पृथ्वी के इर्द गिर्द भूवायु मे परिभ्रमण करता रहता है। यदि उस आत्मा मे जीवनकाल के पुण्य कर्मो का बल हो तो वे पुण्यकर्म धीरे २ उस आत्मा को अन्धकार से प्रकाश मे लाने की चेष्टा करते हैं, और अन्त मे किसी समय प्रकाश मे आकर गति वाली वह आत्मा हो जाती है। कर्मानुसार लोक लोकातरो मे कर्म भोग करके कदाचित् जन्म लेती है यह एक कृष्णमार्ग का उदाहरण है। इसी प्रकार कितनी और भी अवस्थायें हैं जिनमे भी ऊपर लिखे अनुसार आत्मा विह्वल होकर कृष्ण मार्ग पर सवार होता है, और उसकी भी गति नही होती। वे अव-स्थायें ये है—विषप्रयोग, भृगुपतन, अर्थात् ऊपर से गिर पड़े, तरुनिपातन, जलमज्जन (डूबना) अग्निदहन भयविह्वलता, पृष्ठेहत (अर्थात् लडाई मे खेत छोडकर भागता हुआ मारा जाय) इस प्रकार की और २ हालतो मे भी आत्मा की गति नही होती किन्तु इनमे आत्मघात की इच्छा न रहने से अगति कही गई है। किन्तु यदि आत्महत्या की इच्छा से मरे तो उसकी घोर नरक मे गति होती है, जैसा कि वेद मे लिखा है—

असूर्या नाम ये लोकाः, अन्धेन तमसा वृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति, येके चात्महतो जनाः॥

आकाश के अनुसार व्यापक चिदात्मा प्राणो के सम्बन्ध से इस योग्य हो जाता है, कि जिससे परिच्छिन्न होकर शरीर के साथ बद्ध रहता है। यह प्राण प्रधानरूप से २ प्रकार के हैं—देव और असुर।

इनमे देव दो प्रकार के हैं—अग्नि और सोम । इन दोनो को पृथक् २ समझने के लिए सोमवाले प्राण को पितर कहते हैं और अग्निवाले को देवता । तात्पर्य यह है कि प्राण ३ प्रकार के हैं—देव, पितर, असुर । जो प्राण सूर्य से निकलता है जो अनन्तरूपो मे आकर प्रकाशवान् हो जाता है उसे ही देवता कहते हैं । किन्तु जो प्राण देवता न होने पर भी अग्नि के साथ मिलकर अग्नि बन जाता है, और पहले जो अप्रकाशवान् था कृष्ण था पश्चात् जलकर शुक्ल अर्थात् प्रकाशवान् हो जाता है, जो प्राय. चन्द्रमा मे आया करता है उसे पितृप्राण कहते है इन दोनो के अतिरिक्त तीसरा असुरप्राण है जो कृष्ण रहता है और जलने पर भी कभी प्रकाशवान् नही होता, जैसा कि पृथ्वी का रात्रि के समय कृष्ण अन्धकार पृथ्वी का अपना रग है जो पृथ्वी के पृष्ठ से निकल कर रथन्तर साम तक चारो ओर व्याप्त है, वही असुर है । इसी प्रकार चन्द्रमा की भी कृष्ण छाया जो चन्द्रमा से निकल कर चारो ओर व्याप्त है, और जो अमावस्या की रात्रि जो कि हमारे सामने है वह भी असुरप्राण है । चन्द्रमा या पृथ्वी दोनो कृष्ण हैं और इनका प्राण असुर है । यद्यपि ये दोनो सूर्य के सन्मुख होकर प्रकाशमान् हो जाते हैं किन्तु विश्वास रखना चाहिये कि पृथ्वी या चन्द्रमा के काले किरण जलकर भी प्रकाशवान् नही होते । किन्तु वे दोनो किरणें निज के रूप मे ज्यो के त्यो सदा बने रहते हैं । किन्तु सूर्य के किरण उनके ऊपर फैलकर उनको ढकेलते है । इसीलिए वेद मे सोम की प्रशसा मे लिखा है कि—

"त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ" अर्थात् तुम प्रकाश से अन्धकार को ढकेलते हो । यह सोम के वास्ते है ।

तात्पर्य यह है कि सूर्य का प्रकाश हट जाने पर वहा पहले से विद्यमान ही, अन्धकार दीखने लगता है । वह अन्धकार प्रकाश से कदापि नही मिलता, इसलिये उस कृष्ण अन्धकार मय प्राणो को असुर कहते है । किन्तु उसके विरुद्ध सूर्य का प्रकाशमय प्राण दिव्यमान होने के कारण देवता कहा जाता है । यह देव प्राण अन्धकार मे कदापि नही रहता । इन दोनो प्राणो के अतिरिक्त तीसरा वह प्राण है जो कि असुर प्राण वाले पिण्डो के ऊपर प्रतिमूर्छित होकर देवता का प्राण उन असुर प्राणो को ढके रहता है जैसे चन्द्रमा की चाँदनी । खुलासा यह है कि गरम तापवाला प्रकाशवान् प्राण सब अग्नि है और देवता प्राण है, शीतल प्रकाशवान् सब सोम है, और पितर है और बिना प्रकाश के कृष्ण किरण जहा कही जगत् मे दीखे सब असुर प्राण है । इन तीनो मे पितृप्राण, देवता और असुर इन दोनो के मिलाव से बना हुआ है । इसलिये उसका सम्बन्ध देवता और असुर इन दोनो के साथ है, इसीलिये मनु भगवान् ने कहा है कि—
"पितृभ्यो देव दानवाः"

अर्थात् पितरो से देवता और असुर उत्पन्न होते हैं क्योकि पितरो मे ये दोनो प्राण शामिल है । इसलिए पितृप्राण को पृथक् न मानकर प्रधानरूप से दो ही प्राण माने जा सकते हैं देवता और असुर— इनमे देवता सदा शुक्ल है और असुर सदा कृष्ण है । जीवआत्मा मे दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति दोनो नियम से रहती है, किन्तु इनमे कर्मो के अनुसार मात्रायें घटती बढती है । यदि आत्मा मे दैवी प्राण मात्रा बढ जावे तो वह आत्मा शुक्ल है और मृत्यु के पश्चात् वह आत्मा शुक्लमार्ग से ही गमन करता है । किन्तु यदि उस आत्मा में आसुरी प्राण मात्रा अधिक हो गई है तो उसके प्रभाव से वह आत्मा कृष्ण है इसीलिये मृत्यु के पश्चात् वह आत्मा कृष्णमार्ग से ही गमन करता है ।

शुक्ल या कृष्ण मार्ग के ५ पर्व

शुक्लमार्ग या कृष्णमार्ग इन दोनो मे कई मजिल या पर्व हैं। १—कर्म, २—नाड़ी, ३—दिक् ४—आकाश और ५—काल।

१—कर्म

प्रत्येक जीव आत्मा अपने इन्द्रिय और शरीर के कारण कुछ न कुछ कर्म सदा करता ही रहता ही रहता है। प्रत्येक कर्म करने के पश्चात् उस कर्म से उस आत्मा पर कुछ-कुछ असर पहुचता है और उसी असर को सस्कार कहते हैं। यह सस्कार यदि दैव प्राणो का सग्रह करने वाला है तो उस कर्म को पुण्य कर्म कहेंगे। किन्तु यदि वह सस्कार आसुर प्राण से वना हुआ है तो उसे आत्मा कृष्ण हो जाता है जसलिये उस कर्म को पाप कर्म कहते हैं। पुण्य के वल से आत्मा हलका होता है और वह देवता की ओर ऊपर को जाना चाहता है। किन्तु पाप कर्म से आत्मा भारी होता है और वह उपर न जाकर पृथ्वी की ओर नीचे ही गिरना चाहता है, इसलिये पाप को पातक अर्थात् गिराने वाला कहते है। यदि आत्मा मे पुण्य कर्मो का सस्कार है तो वह शुल्क मार्ग से जायगा, और पाप कर्मो के सस्कार वाला कृष्ण मार्ग से जायगा।

इन कर्मो मे यज्ञ, तप, दान-यही तीन कर्म ऐसे हैं जिनसे आत्मा शुक्र मार्ग से चलकर देवलोक मे जाता है। किन्तु इष्ट, आपूर्त, दत्त-ये तीनो कर्म भी उत्तम कर्म माने जाते हैं, किन्तु इनके कृष्ण मार्ग मे जाकर भी आत्मा नरक न जाकर पितृलोक मे जाता है। इन दोनो प्रकार के कर्मो के अतिरिक्त जो कर्म हैं जिनको पाप कहते हैं वे पातक, अनुपातक, उपपातक, महापातक, अतिपातक्, मलिनीकरण, संकरीकरण, अपात्रीकरण, जातिभ्र शकर इस प्रकार पाप नौ जाति के हैं। इनके अपात्रीकरण करने से आत्मा मे आतुर प्राण का सस्कार होकर भारीपन आ जाता है, वह ऊपर सूर्य की ओर न जाकर पृथ्वी से नीचे गिरता है और ये ही अधोगति कहलाती है, यह मुख्य कृष्णमार्ग है। इस प्रकार कर्म से शुक्ल-मार्ग, कृष्ण मार्ग का भेद जानना चाहिये।

२—नाड़ी

ऊपर कहा जा चुका है कि आत्मा का निवास स्थान हृदय से चारो ओर हितानाडी नाम की शरीर मे व्याप्त है। उन नाडियो मे हृदय से ऊपर मस्तक तक नाडी की सव शाखायें शुक्ल मार्ग हैं और हृदय मे नीचे मूलाधार तक सव शाखायें कृष्ण मार्ग है। हृदय से उत्क्रमण करती हुई आत्मा यदि ऊपर की नाडियों से गमन करे तो वह शुक्ल मार्ग से जाता है, और नीचे की नाड़ी से उत्क्रमण करती हुई आत्मा कृष्ण मार्ग से जाती है।

३—दिक्

जो जीव आत्मा पृथ्वी पर वसते हैं—पृथ्वी से उत्क्रमण होने पर किसी ओर गति करते हैं। इस प्रश्न का विचार करने पर दो ही मार्ग स्थिर होते है, उत्तर और दक्षिण। तात्पर्य यह है कि पृथ्वी के

पूर्वापर वृत्त के द्वारा पाच भाग किये जाते हैं। १-विषुवत् वृत्त के दोनो ओर चौबीस-चौबीस अशपर जो कर्क (Cancer) और मकर(Capricorn) वृत्त (Tropic) हैं उन दोनो के बीच मे उष्णकटिबन्ध (Torridzone) है उसमे ग्रहो के सञ्चार होने के कारण सूर्य की किरणो का दवाव अधिक रहता है, इसलिये उसमार्ग मे होकर आत्मा को जाने मे वाधा होती है इसी प्रकार दोनो ध्रुवो (Poles) से चौबीस २ अश तक शीतकटिवन्ध (Frigidzone) है, वहा तक वक्रमार्ग होने के कारण आत्मा नहीं पहुँच सकता अगत्या (लाचार) ऊष्णकटिवन्ध औरशीत कटिवन्धके वीच मे अर्थात् मध्यकटिवन्ध (Temperatezone) मे होकर ही आत्मा जा सकता है वे मध्य कटिवन्ध दो हैं—उत्तर और दक्षिण जिनमे उत्तर को देवयान और दक्षिण को पितृयान कहते हैं शुक्ल मार्ग का आत्मा उत्तर मार्ग से अर्थात् देवयान से जाता है, और कृष्णमार्ग का आत्मा दक्षिणमार्ग अर्थात् पितृयान से जाता है यही दिक् का नियम है। इन दोनो मार्गों का निर्देश (बताना) पुराणो मे इस प्रकार है—

नाग वीथ्युत्तरं यच्च, सप्तर्षिभ्यश्च दक्षिणम् ।
उत्तरः सवितुः पन्था देवयान इति स्मृतः ॥१॥

उत्तरं यदगस्त्यस्य. अजवीथ्याश्च दक्षिणम् ।
पितृवानः सवैपन्था, वैश्वानर पथाद् वहिः ॥२॥

अर्थात् नागवीथी से उत्तर और सप्तर्षि से दक्षिण सूर्य का जो उत्तर की तरफ मार्ग है उसे देवयान कहते हैं ॥१॥ अगस्त्य के तारे से जो उत्तर और 'अजवीथी' दक्षिण है वो वैश्वानर मार्ग से बाहरपितृयान का मार्ग है ॥२॥

(नागवीथी और अजवीथी)

विषुवत्वृत्त (Equatar) के दोनो तरफ चौवीस-चौवीस अशतक जितना प्रकाश मण्डल है उसी मे सव नक्षत्र मण्डल या ग्रहमण्डल विद्यमान है। नक्षत्र २७ हैं—उनमे नौ-नौ नक्षत्र के हिसाब से ४८ अश का पूर्वोक्त आकाश मण्डल तीन भाग मे वट जाता है। उत्तर वाले तृतीयाश को "ऐरावतमार्ग" और मध्यवाले तृतीयाश को "जरद्गवमार्ग" और दक्षिण तृतीयाशको "वैश्वानरमार्ग" कहते हैं। इन तीनो मार्गों मे से हरएक तीन-तीन भाग मे वटा हुआ है, उन भागो को "वीथी" (गली) कहते हैं। इस प्रकार तीन मार्ग और नौ वीथीया हैं, जिनमे ऐरावत मार्ग मे उत्तर से दक्षिण ओर क्रम से "नागवीथी", "गजवीथी" "ऐरावतवीथी" हैं। और मध्य के अरद्गव मार्ग मे "ऋषभवीथी" "गोवीथी" जरद्गववीथी" हैं, और वैश्वानर मार्ग मे—अजवीथी है।

इस प्रकार सव से उत्तर नागवीथी है, जिससे उत्तर देवयान है, और मध्यमार्ग मे सब से दक्षिण वैशानरमार्ग अजवीथी है, उससे भी दक्षिण पितृयान है।
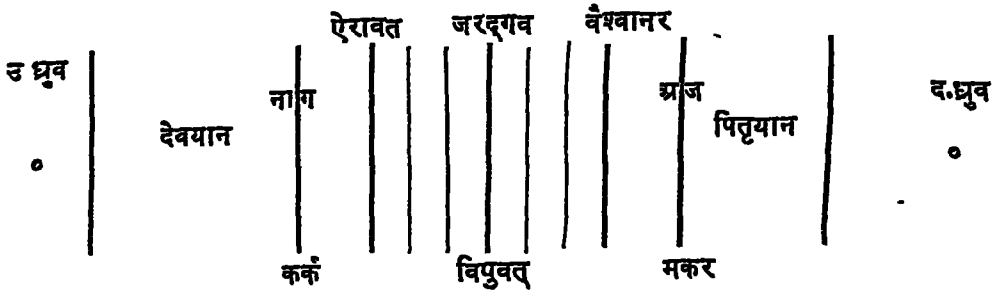
४—आकाश

आकाश मे सूर्य जहां स्थिर है वहां से वह चारो ओर किरणो को फैकता हुआ प्रकाश का एक महाविशाल मण्डल बनता है, पुराणो मे उसी को ब्रह्माण्ड कहते है। इस ब्रह्माण्ड का सिर सूर्य है, किन्तु यह प्रकाशमण्डल चारो ओर जहा समाप्त होता है उस सीमा को लोकालोक (प्रकाश अप्रकाश) कहते हैं—यही लोकालोक ब्रह्माण्ड का 'पाँव' है। सूर्य से लेकर लोकालोक तक जो आकाश है उसी के भीतर कही यह हमारी पृथ्वी है। इस पृथ्वी के कारण उस आकाश के दो भाग होते हैं। एक पृथ्वी से सूर्य तक जो कि सिर की ओर होने के कारण ऊँचा कहलाता है, और दूसरा पृथ्वी से लोकालोक तक जिसे पाँव की ओर होने के कारण नीचा कहते हैं। ऊँचा आकाश उत्तर मार्ग है वही देवयान है और नीचा आकाश दक्षिण मार्ग है वही पितृयान है। इस पृथ्वी से जब कोई आत्मा उत्क्रमण करेगा तो उसके लिये आकाश के दो ही मार्ग हो सकते हैं—उत्तर अर्थात् सूर्य की ओर अथवा दक्षिण अर्थात् लोकालोक की ओर। सूर्य की ओर जाने को उत्तम मार्ग और ऊर्ध्वगति कहते हैं, किन्तु उस के विरुद्ध जाने को अधम मार्ग या अधोगति कहते हैं इसीलिए वेद मे लिखा है—

द्वे सती अशृणवं, पितृणामहंदेवानामुत मर्त्यानाम् ।।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति, यदन्तरा पितरं मातरं च ।।१।।

अर्थात् जो सूर्य पिता और पृथ्वी माता के बीच मे जहा जो कुछ है वह सारा विश्व पृथ्वी को छोडकर यदि जावे तो उसके लिये मैंने दो ही मार्ग सुने हैं। एक पितरो का और दूसरा देवो का अर्थात् पितृयान और देवयान ये दो ही मार्ग मरणधर्मा जीवो के लिये निश्चित है।

५—काल

काल के सम्बन्ध से शुक्लमार्ग और कृष्णमार्ग पाच-पाच पर्व के नियत हैं। इन पर्वो मे जितने काल-वाचक शब्द हैं वे वास्तव मे कालवाचक न होकर उन-उन कालो मे रहते हुए अग्नि और सोम की स्थिति को करते हैं। शुक्लमार्ग के पाच पर्व ये हैं—अर्ची, अह, मासका शुक्लपक्ष, वर्ष का उत्तरायण, और देवलोक सवत्सर ये सब पर्व काल के अवयव हैं। काल के देवता सूर्य और चन्द्रमा हैं। काल के स्वरूप का निर्णय इन्ही दोनो की चालो से होता है। इनमे सूर्य की गति मुख्य है। तात्पर्य यह है कि सूर्य

का जो प्रकाशमण्डल चारो ओर व्याप्त है उसके चारों ओर फिर आने को देवलोक संवत्सर कहते है। उस सवत्सर मे ६ मास तक सूर्य से पृथ्वी ऊँची जाती है और ६ मास नीची, इसलिये विषुवत् वृत्त मे रहने के कारण सवत्सर के दो भाग हो जाते हैं। उन दोनो मे सोम की अधिकता और न्यूनता के कारण अग्नि की अवस्था भिन्न-भिन्न प्रकार की हो जाती है। पृथ्वी के नीचे जाने पर जो सूर्य का प्रकाश ६ मास तक पृथ्वी पर आता है, उसमे अग्नि की मात्रा अधिक रहती है और सोम की कम। इसी प्रकार जब पृथ्वी सूर्य से ऊची चढती है, तो उस पर जो सूर्य का प्रकाश आता है उसमें अग्नि की मात्रा कम और ऊपर से सोम की मात्रा अधिक आ जाती है इसलिए ये छ मास की दो अग्नि भिन्न प्रकार की होती है— अब इनमे भी ६ मास की प्रतिमास मे भी अधिमास मे चन्द्रमा का प्रकाश बढकर चन्द्रमा के द्वारा सूर्य का प्रकाश पृथ्वी पर बढता रहता है, किन्तु दूसरे पक्ष मे चन्द्रमा की कला क्षीण होने के कारण दिन दिन सूर्य का प्रकाश चन्द्रमा के द्वारा कम आता है। इसके कारण एक मास मे चन्द्रमा के द्वारा सूर्य प्रकाश की बढती घटती दो अवस्था होती है, इस मास मे भी ३० अहोरात्र के प्रत्येक अहोरात्र मे दो दो भाग होते हैं—दिन और रात्रि दिन मे, सूर्य का प्रकाश पृथ्वी पर समुख आता है, किन्तु रात्रि मे नही आता। इस अहोरात्र के दोनो भागो मे अर्थात् दिन और रात्रि मे भी दो दो अवस्थायें है। अर्ची और धूम। सूर्य का या अग्नि का या चन्द्रमा का या तारो का या बिजली का जो जहाँ कुछ प्रकाश का भाग पृथ्वी मे ऊपर जाता हुआ हो वह सब अर्ची है किन्तु प्रकाश का सम्बन्ध छोडकर जो निराकार वायु का रस (विना रोशनी का) धूम है, (gas) कहलाता है। तात्पर्य यह है कि एक वर्ष से लेकर एक क्षण तक यदि काल को बाटा जाय तो बड़े भाग मे छोटा भाग प्रविष्ट होते होते काल के पाच पर्व हो जाते हैं—

शुक्ल—१–अर्ची, २–दिन, ३–शुक्लपक्ष, ४–उत्तरायण, ५–सूर्य सम्वत्सर।

कृष्ण— १–धूम, २–रात्रि, ३–कृष्णपक्ष, ४–दक्षिणायन, ५–चन्द्र सम्वत्सर।

तात्पर्य यह है कि यह जीव आत्मा तीनो ही लोको मे सदा भ्रमण करता रहता है। मनुष्यलोक पितृलोक, देवलोक। पृथ्वीलोक को मनुष्यलोक कहते हैं। किन्तु पृथ्वीलोक से निकलकर पितृलोक मे अथवा देवलोक मे आत्मा जाया करता है, क्योकि इस आत्मा मे गति, निमित्त दो ही है जो पहले कहे जा चुके हैं कर्म और विद्या। जब कि आत्मा कर्म प्रधान होता है तो उसको पितृलोक मे ही जाना पडता है, किन्तु यदि आत्मा विद्याप्रधान हो तो वह देवलोक मे जाता है। परन्तु देखने में आता है कि प्राय आत्मा में कर्म और विद्या ये दोनो ही ओतप्रोत रहते है इसलिए आत्मा को प्राय देवलोक और पितृलोक दोनो मे ही परिभ्रमण करना पडता है। किन्तु पितृलोक या देवलोक ये दोनो ही लोको मे जाने वाली आत्मा पृथ्वी छोडने के पश्चात् सबसे प्रथम चन्द्रमा मे ही जाती है। यदि कर्मप्रधान आत्मा है तो दक्षिणसंहिता नाडी द्वारा शरीर से निकलकर दक्षिणमार्ग से धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन होती हुई चन्द्रलोक के काले भाग मे पहुचती है। किन्तु यदि आत्मा विद्याप्रधान है तो उर्ध्वसंहिता नाडी द्वारा शरीर से निकलकर उत्तरमार्ग से अर्ची, दिन शुक्लपक्ष, उत्तरायण होती हुई चन्द्रमा के उस भाग मे पहुचती है जो कि सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित है। चन्द्रमा के प्रकाश भाग मे हुई आत्मा को [illegible] सूर्य की ओर [illegible] इसलिए वहा से देवलोक मे जाती है किन्तु चन्द्रमा के तमोमय भाग मे गई हुई आत्मा की [illegible]

की ओर रहती है, इसलिए चन्द्रमा से वह आत्मा भी नीचे दक्षिण की ओर जाती हुई नीचे दक्षिण में लोकालोक तक जा सकती है। तात्पर्य यह है कि दोनो आत्माओ को चन्द्रमा तक अवश्य जाना पड़ता है, किन्तु चन्द्रमा से आगे पितृलोक या देवलोक के लिए आत्मा के मार्ग भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। यद्यपि शास्त्र में चन्द्रमा को स्वर्गद्वार कहा है, तथापि यह प्रशंसामात्र है। चन्द्रमा से जिस प्रकार स्वर्ग में जाते हैं, उसी प्रकार चन्द्रमा से नरक में भी जाते हैं।

गति का स्वरूप अच्छी तरह जानने के लिये ब्रह्माण्ड की स्वरूप संस्था जानना आवश्यक है और वह इस प्रकार है। ब्रह्माण्ड के मध्य मे सूर्य है उसका प्रकाश मण्डल जहां तक जाता है उसे ही लोका-लोक कहते है। लोकालोक उस अचल सीमा का नाम है, जिसके भीतर की ओर लोक अर्थात् आलोक प्रकाश है और बाहर की ओर अलोक अर्थात् अन्धकार है। इस सूर्य प्रकाश के भीतर सूर्य से लेकर लोकालोक तक करीब २ समानान्तर धरातल में कितने ही ग्रहो की सस्था उत्तरोत्तर बृहत्मण्डल बनाती हुई सूर्य की परिक्रमा करती है। उनमे यह हमारी पृथ्वी भी एक है, पृथ्वी और सूर्य के बीच में बुध, शुक्र आदि शतशः ग्रह हैं, उन सबको पुण्य लोक कहते है। ये सब लोक पृथ्वी की अपेक्षा सूर्य का प्रकाश अधिक रखते है और हमारी आत्मा भी सूर्य के प्रकाश से ही बनी हुई है। इसलिये उन लोको मे सूर्य का प्रकाश अधिक पाकर आनन्दित होता है, यही उनके पुण्यलोक होने का कारण है। उन सबसे अधिक आनन्द सूर्य मे है इसलिये सूर्य ही प्रधान स्वर्ग है।

ऐसी दशा मे पृथ्वी से लेकर सूर्य तक प्रकाशमय समधरातल को सुषुम्णा नाड़ी कहते है, इसी सुषुम्णा नाडी से बद्ध होकर हमारा जीव आत्मा पृथ्वी से सूर्य तक जा सकता है और इसको "देवपथ" कहते हैं। अथर्वणवेदसहिता मे "स्कम्भ" के नाम से एक देवता का वर्णन है। वह ठीक इस सुषुम्णा नाडी से तिर्यक् मार्ग मे जाता है। यह हमारी पृथ्वी प्रतिदिन ६० घड़ी मे परिक्रमण करती हुई अपने परिभ्रमण का पृष्ठीय केन्द्र आकाश मे जिस विन्दु को बनाती है उसे 'ध्रुवविन्दु' कहते हैं। इस ध्रुव से २४ अंश के अन्तर पर एक दूसरा विन्दु है जिसे 'कदम्ब' कहते हैं वह इस पृथ्वी की वार्षिक गति के मार्ग अर्थात् क्रान्तिवृत्त (Ecliptic) का पृष्ठीय केन्द्र है। इस कदम्ब विन्दु से ध्रुवविन्दु तक रखा को त्रिज्या (Radius) मानकर यदि वृत्त बनाया जाय तो वह ४८ अंश के विष्कम्भ या व्यास (Diameter) की व्याप्ति का रहेगा। इसी प्रकार दक्षिण ध्रुव और दक्षिण कदम्ब मे भी ४८ अंश का विष्कम्भवृत होगा। यह विष्कम्भ दक्षिण कदम्ब से उत्तर कदम्ब तक सर्वथा खडा माना जाता है इसको ही अथर्वण संहिता मे स्कम्भ कहा है।

पृथ्वी से सूर्य तक जिस प्रकार सुषुम्णा मार्ग है और जिसे देवपथ कहा है वैसे ही सूर्य से ऊपर की ओर कदम्ब का ऊपर वाला आधा भाग है वह देवयान मार्ग की दूसरी शाखा है और इसे ही 'ब्रह्म-पथ' कहते है। जिस प्रकार देवपथ में जाने वाली आत्मा सूर्य मे पहुचकर स्वर्ग के मार्ग को पूरा करती है, उसी प्रकार सूर्य से चलकर ब्रह्मपथ मे जाती हुई जीवआत्मा कार्य ब्रह्म तक पहुंच कर सगुण मुक्ति पाती है किन्तु उससे भी आगे चलकर कारणब्रह्म तक पहुचे तो निर्गुण मुक्ति पाता है। तात्पर्य यह है कि सूर्य से ब्रह्म तक मुक्ति का मार्ग है इसलिये ब्रह्मपथ कहलाता है। देवपथ में गया हुआ फिर उलटा

पृथ्वी में आता है किन्तु ब्रह्मपथ मे गया हुआ आत्मा प्रवल प्रकाश के आकर्षण के कारण उस लोक से पृथ्वी की ओर का अवसर नही पाता, इसीलिये इस मार्ग को "अपुनरावर्तन" भी कहते है। इस प्रकार देवयान मार्ग की दो शाखायें सिद्ध होती हैं। इसी प्रकार पितृयान मार्ग की भी दो शाखायें है। एक पितृ-स्वर्गपथ दूसरा नारकीपथ। चन्द्रमा के अप्रकाश भाग से आरम्भ करके यम (शनि) के प्रकाश भाग तक पितृ स्वर्ग पथ है और यम (शनि) अप्रकाश भाग से आरम्भ करके लोकालोक तक नारकीय पथ है यहां सूर्य का प्रकाश अत्यन्त मन्द होने से सूर्य प्राण से बनी हुई आत्मा को अत्यन्त क्लेश होता है क्योंकि उसको अपनी जीवनसत्ता के लिये पर्याप्त प्रकाश नही मिलता यही उसके दु:ख का कारण है। इस प्रकार
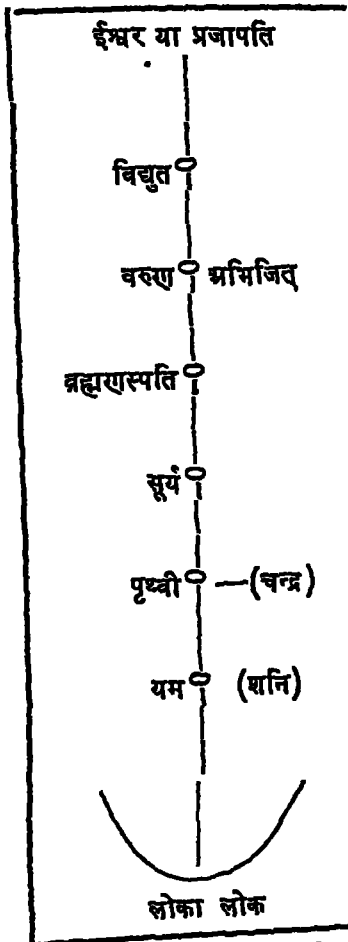
४ मार्ग सिद्ध होते हैं-जिनमे नरकमार्ग सबसे अधिक निकृष्ट है, उससे उत्कृष्ट पितृस्वर्ग है, उससे भी उत्कृष्ट देवस्वर्ग है, और इन सबसे उत्कृष्ट मुक्तिमार्ग है।

जिस प्रकार पृथ्वी के चारो ओर चन्द्रमा घूमता है, उसी प्रकार यह पृथ्वी भी चन्द्रमा को साथ लिये सूर्य के चारो ओर घूमती है। इसी प्रकार सूर्य भी चन्द्रमा पृथ्वी सबको साथ लिये वरुण रूपी सूर्य के चारो ओर घूमता है। सूर्य और वरुण के बीच में एक और ग्रह वरुण के चारो ओर फिरता है जिसको 'ब्रह्मणस्पति' कहते हैं और यह ब्रह्मणस्पति 'पवमान' सोम का बना हुआ है उसके आगे अभि-जित् वरुण है। जिस प्रकार सूर्य की किरण अग्नि प्रधान है, उसी प्रकार वरुण की किरण जल प्रधान है यह वरुण भी एक सच्चिदा-नन्द नाम का 'कार्यब्रह्म' जिसको प्रजापति ईश्वर कहते है और जिसकी किरण सत्ता, चेतना आनन्दमय है उसके चारो ओर फिरता है। उस ईश्वर और वरुण के बीच मे एक विद्युत् और ग्रह है। वरुण के पश्चात् विद्युत् और उसके पश्चात् ईश्वर रूपी कार्यब्रह्म मिलता है, इस ईश्वर को वेद मे प्रजापति कहते हैं। इस प्रकार पृथ्वी से लेकर ब्रह्म तक यदि मार्ग का लक्षण देखें तो इस प्रकार उसके पर्व सिद्ध होगे। १-अग्नि, वायु, आदित्य, २-सोम (ब्रह्मणस्पति) ३-वरुण, ४-विद्युत् (इन्द्र) और ५-ब्रह्म। इन पाचो पर्वो से (युक्त) मार्ग के पर्व इस प्रकार है पृथ्वी से चन्द्रमा तक गन्धर्व मार्ग है और चन्द्रमा से आगे सूर्य सम्वत्सर मे जीवात्मा का प्रवेश हो जाता है। सम्वत्सर जो कि लोकालोक से सूर्य तक सन्निविष्ट (बने हुए) हैं उसके चार पर्व हैं। लोकालोक से यम तक नारकीय लोगो के यातायात के लिये याम्यमार्ग, और यम से चन्द्र तक उत्तम कर्म वाले जीवो के यातायात के लिये सौम्यमार्ग है। चन्द्रमा से सूर्य तक विद्या प्रधान कर्म वालो के यातायात के लिये आग्ने-य मार्ग है और सूर्य से लेकर ब्रह्मणस्पति, वरुण, विद्युत् होता हुआ कार्य ब्रह्म तक मुक्त आत्मा के यातायात

के विद्युत् मार्ग है। इन चारों पर्वो से अतिरिक्त वह पाचवा पर्व है जो कि पृथ्वी से चन्द्रमा तक पहले कहा गया है। इन पाचो मार्गो के द्वारा जीव आत्मा जिन-जिन स्थानो मे जाकर अपने कर्म भोगो के लिये कुछ दिन विश्राम करता है, उनको लोक कहते है। ये लोक मुख्यतया यद्यपि तीन ही है। मनुष्य-लोक, पितृलोक, देवलोक-अर्थात् कई आत्माओ को साथ लेकर प्राज्ञात्मारूपी जीव इस पृथ्वी पर जन्म लेकर ३६००० प्राण मात्राओ को धारण करता हुआ पृथ्वी से बद्ध रहता है। प्रतिक्षण इसका विज्ञान आत्मा सूर्य की ओर जाने की चेष्टा करता हुआ भी पार्थिव शरीर से मनुष्यलोक मे रहने वाला कहा जाता है, किन्तु जब यह जीवआत्मा पृथ्वी से बन्धन के कारण इस पार्थिव शरीर से अपना सम्बन्ध तोड़-कर चन्द्रमा मे पहुच जाता है तब पितृलोक में रहने वाला कहा जाता है।

जिस प्रकार मनुष्य लोक मे रहने का कारण पार्थिव शरीर है, उसी प्रकार पितृलोक मे रहने का कारण प्राणी का श्रद्धामय सूक्ष्म शरीर है और मन प्रधान सोमरस से बना हुआ है। जब कि यह जीव आत्मा उस सूक्ष्म शरीर से भी अपना सम्बन्ध तोडकर अलग हो जाता है तब सूक्ष्म शरीर को चन्द्रमा मे ही छोडकर विज्ञानआत्मा के साथ लिये हुये सूर्य की ओर अग्रसर होता है। जब तक विज्ञानरूपी कारण शरीर इस प्राज्ञआत्मा मे बना रहता है, तब तक देवलोक मे निवास करता है। इससे सिद्ध हुआ कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये ही तीन शरीर अथवा वैश्वानर, महान् और विज्ञान ये तीनो आत्मा जो उन तीनो शरीरो के अभिमानी हैं, उनका प्राज्ञात्मा के साथ सम्बन्ध होना ही मनुष्यलोक, पितृलोक और देव-लोक मे जीवात्मा की स्थिति का मुख्य निमित्त है।

चन्द्रमा से यदि जीवआत्मा अपने श्रद्धामय शरीर को चन्द्रमा मे छोडकर वैज्ञानिक अर्थात् देवमय (आग्नेय) शरीर को लेकर सूर्य की ओर अगसर होता है तो वह सूर्य के सम्वत्सर मे पहुचता है। उस सम्वत्सर मे भिन्न-भिन्न देवताओ के रस रहने के कारण उस सम्वत्सर के ७ विभाग किये जाते है जिनके नाम ये है—

१–अपोदक	—	अग्निलोक
२–ऋतधाम	—	वायुलोक
३–अपराजित्	—	इन्द्रलोक
४–अधि द्यौः	—	वरुणलोक
५–प्रद्यौः	—	मृत्युलोक
६–रोचन	—	ब्रह्मलोक
७–नाक	—	नाकलोक—अर्थात् स्वर्ग

जिस प्रकार देव स्वर्ग के ये ७ भेद हैं—उसी प्रकार यह प्राज्ञात्मा यदि चन्द्रमा से पितृलोक की ओर अग्रसर होता है, तो चन्द्रमा की रश्मि मण्डल रूपी सम्वत्सर मे जाता है। उस सम्वत्सर रूपी पितृ-स्वर्ग मे तीन भाग हैं और उनके ये नाम हैं—

१–उदन्वती	—	जलीय प्रदेश	—	आदिका
२–पीलुमति	—	आरण्य प्रदेश	—	अन्त का
३–प्रद्यौ.	—	सुन्दर भूमि	—	वीच का

पहले कहा जा चुका है कि गति मे विद्या और कर्म ये दो निमित हैं। परन्तु उनमे विद्या आत्मा का स्वरूप है और कर्म अनात्मिक होकर आत्मा मे उत्पन्न विनष्ट होता रहता है। इसलिये कर्म के सम्बन्ध से विद्या की ८ अवस्थाऐं होती हैं—१–व्यापन्ना, २–ग्रस्ता या निगृहीता, ३–सवलिता ४–कर्म पूर्वान्तरिता, ५–विद्या पूर्वान्तरिता, ६–अनुकूल कर्मा, ७–मलिना, ८–विशुद्धा।

१–व्यापन्ना—वह अवस्था है जिसमे विद्या विरोधी कर्मों के प्रवल आघात मे विद्या सर्वथा प्रच्छन्न या विलीन (गायव) हो जाती है। जिससे विद्या के स्वरूप ज्ञान की कुछ भी मात्रा नहीं दीखती जैसा प्रस्थरादि मे।

२–ग्रस्ता या निगृहीता—वह अवस्था है जिसमे कर्म की मात्रा अधिक होने से विद्या दवी रहती और उसका वहुत ही स्वप्न के अनुसार अन्तर्गत होता है। जैसा कि स्थावर वृक्षादिको की जीवित दशा मे आत्मा के सोते हुए रहने पर भी हर्ष विस्मय, निद्रा, क्षुधा, पिपासा, रोक, शोक, रोदन, मृत्यु आदि बहुत से प्राणियो के धर्म उनमे पाये जाते है। जिनसे वृक्षो मे विद्या या ज्ञान का कुछ आभास स्वप्नवत् माना जाता है।

३–सवलित—वह अवस्था है जिसमे विद्या और कर्म दोनो समान भाव से मिश्रित होकर परस्पर के वलो के दवने पर भी दोनो के वल समान भाव से वने रहते है। जैसे कि न वोलने वाले कृमि कीट आदि क्षुद्रजीवो मे रहने पर भी वह ज्ञान इतना मलिन है कि जिससे प्रज्ञान के अतिरिक्त विज्ञान का उनमे न होना ही माना जाता है।

४–कर्म और ५–विद्या पूर्वान्तरिता—वे अवस्थाये है जिनमे कर्म और विद्या के परस्पर विरुद्ध होने के कारण दोनो के प्रवलवेग के कारण परस्पर एक से एक दवते नही, भिन्न-भिन्न सत्था मे पृथक्-पृथक् वने रहते है मिलते नही उन दोनो मे अन्तर रहता है इसलिये उनको अन्तरिता कहते है। किन्तु उनमे यदि कर्म का वल पहले और विद्या का वल पीछे भोग मे आवे तो उसे कर्म पूर्वान्तरिता कहेंगे, किन्तु इसके विपरीत यदि विद्या का वल पहले और कर्मकाल वल पीछे आवे तो विद्या पूर्वान्तरिता कहेंगे। जैसे कोई मनुष्य की योनि पाकर पश्चात् पशु, पक्षी, कृमि, कीट आदि क्षुद्र योनि मे जन्म लेवे अथवा मनुष्य मे भी जीवन की पूर्व अवस्था मे सुखी रहकर पश्चात् आजीवन दुःख भोग करे तो उन सब मे विद्या पूर्वान्तिरिता कहेगे और इसके विपरीत जो प्रथम कृमि, कीट आदि क्षुद्र जीवो मे जन्म लेकर पश्चात् मनुष्य योनि मे आवे अथवा मनुष्यो मे भी पहले दु ख पाकर पश्चात् सुख पावै तो उसे कर्म पूर्वान्तरिता कहेंगे।

६–अनुकूल कर्म्मा—वह अवस्था है जिसमे विद्याके साथ कर्म रहने पर भी विद्याका प्रभाव कम नही होता, क्योकि वह कर्म विद्या के अनुकूल होने से मलिन कर्मो को ही नाश करता है न कि विद्या का

आवरण करता है। वह अनुकूल कर्म दो प्रकार का है—१-स्वच्छ, २-कर्मनाशक। इनमे स्वच्छ कर्म काच के अनुसार आवरण होने पर भी विद्या के ज्ञान प्रकाश का निरोध नही करता जैसे कि प्राणी के विषय ज्ञान मे विषय रूपी कर्म का प्रवेश रूपी कर्म होते हुए भी ज्ञान का प्रकाश ज्यो का त्यो बना रहता है, विषय से ज्ञान का आवरण नही होता। किन्तु दूसरा कर्म अन्यान्य कर्मों की निवृत्ति करके उसके उसके साथ ही 'कतक रज' (निर्मली) के अनुसार स्वय भी निवृत्त हो जाता है। जैसा कि वानप्रस्थ हो जाते है जिससे मुक्ति प्राप्त होती है।

७-मलिना—वह विद्या है जिसमे कर्मो का प्रभाव अत्यन्त स्वल्प होने के कारण उससे विद्या का सामर्थ्य नष्ट नही हो पाता। जैसे कि विदेहमुक्तो के सचित और आगामी इन दोनो प्रकार के कर्मों के सर्वथा नाश होने पर भी प्रारब्ध कर्मो का नाश नही होता। आत्मा के मुक्त हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्म के अनुसार जीवन पर्य्यन्त सुख दुःख भोग होते रहते है। परन्तु उन भोगो से आत्मा व्याकुल नही होता इसलिये उस आत्मा की विद्या को मलिना कहते है।

८—विशुद्ध—वह विद्या है जो कि मुक्त आत्माओ की अवस्था है। इस प्रकार विद्या की ७ अवस्थाओ मे ५ अवस्था तक कर्म इस विद्या का विरोध करते हैं, किन्तु आगे उनका प्रभाव विद्यापर अधिक नही होता। इसलिये उन पाचो अवस्थाओ मे आत्मा का जाति भ्रंश होता है अर्थात् मनुष्य योनि से गिरकर पशु, पक्षी, कृमि, कीट आदि अधम योनियो मे कर्म के प्रभाव से परवश आत्मा को जाना पडता है। किन्तु ६ ठी, ७ वी, ८ वी अवस्था मे जाति भ्रश न होकर एक ही योनि मे अपात्रीकरण या पात्रीकरण आदि प्रकृति का वैषम्य ही कर्म के प्रभाव से होता रहता है। इसी प्रकार इन ८ अवस्थाओ मे ७ अवस्था कर्म वाली हैं, किन्तु आठवी अवस्था नैष्कर्म्यवाली है।

इन आठो अवस्थाओ मे से आरम्भ की पाच अवस्थाओ मे कर्म दो प्रकार के होते है। शुभ और अशुभ अर्थात् पुण्य या पाप या अशुभ उन कर्मो को कहते हैं, जो किसी न किसीआत्मा से द्रोह रखता हो। उसमे दु ख पहुचाने की चेष्टा करता हो या पञ्चक्लेश, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश की वृत्तियो को बढाता हो अथवा उसका वध करके उसे घोर अन्धकार में डालता हो बस इतना ही पाप का लक्षण है। इसके अतिरिक्त सब कर्म शुभ या पुण्य हैं। इन दोनो के के भेद ये पाच अवस्था दस अवस्था मे परिणत होती हैं शेष जो दो अवस्था है उनमे विद्या का योग होने के कारण कोई कर्म अशुभ नही होता। किन्तु आत्मा की वास्तविक स्वरूप सिद्धि जिस प्रकार अशुभ कर्मो से नही होती, उसी प्रकार शुभ कर्मो मे भी नही हो सकती। इसलिये मुक्तावस्था अर्थात् कैवल्य के लिये पारमार्थिक दशा मे पुण्य और पाप दोनो ही कर्म अशुभ माने जाते हैं। किन्तु व्यावहारिक दशा के अनुसार कर्म के सम्बन्ध से विद्या की २३ अवस्थायें सिद्ध होती हैं। इस प्रकार गति के निमित्त विद्या और कर्म इन दोनो के सयोग से आत्मा की तेरह अवस्था होती है। जिनमें कर्म के कारण आत्मा में अविद्या अर्थात् कर्म, काम और शुक्र ये तीनों तारतम्य से रहकर आत्मा की गति मे वैचित्र्य (भिन्न-भिन्नपना) उत्पन्न करते रहते है। जिनके कारण स्थूल रीति से गति का भेद इस प्रकार होता है।

यहा प्रश्न होता है कि कर्म, काम और शुक्र ये तीनो ही आत्मा स्वरूप विद्या से भिन्न होने के कारण अविद्या कहे जा सकते हैं। अथवा यो कहिये कि काम और शुक्र ये दोनो ही अविद्या रूप कर्म से भिन्न नही हो सकते। यदि भिन्न माने जावें तो विद्या और कर्म ये दो ही तत्व मानने का सिद्धान्त विरुद्ध होगा अथवा विचार करने से यह सिद्ध भी होता है कि शुक्र और काम ये दोनों ही कर्म्म हैं। क्योंकि जैसे कागज के दबाने से उसमें मोड़ उत्पन्न हो जाता है, मृतिका में मुट्ठी दबाने से चिन्ह हो जाता है, उसी प्रकार सर्वत्र ही क्रिया द्वारा कुछ न कुछ विशेषता अवश्य हो जाती है, उसी कर्म जन्य अतिशय को शुक्र कहते हैं। काम भी एक प्रकार का शुक्र है। कर्म के द्वारा न होने के कारण काम और शुक्र ये दोनों भी कर्म ही कहे जा सकते हैं। इसलिये अविद्या से या कर्म से पृथक् रूप में काम शुक्र को गति का निमित्त कहना अनुचित है।

इसके उत्तर मे कहा जा सकता है कि अवश्य ही अविद्यारूप कर्म से अतिरिक्त काम और शुक्र नही है, तथापि किसी विशेष वैचित्र्य के कारण पृथक् पृथक् तीनो को गति का निमित्त कहना अनुचित नही है। तात्पर्य यह है कि मन, प्राण, वाक् ये तीन हमारी आत्मा के स्वरूप हैं। इनमें मन अगम्य और निर्विकार है, और प्राण भी लगभग उसी के सदृश है इसलिये सृष्टि के सारे विकार केवल वाक् में ही होते हैं। यह वाक् दो प्रकार का है-मन प्रधान और प्राण प्रधान। जबकि मनोमय वाक् में कर्म के द्वारा कुछ अतिशय उत्पन्न होता है तो उसे काम कहते हैं, और वह काम किसी विषय के रूप में जमी हुई इच्छा है, वही इच्छा आत्मा को उसी विषय की ओर ले जाती है। इसके अतिरिक्त जबकि प्राणमय वाक् मे कर्म के द्वारा कोई अतिशय उत्पन्न होता है तो उसे शुक्र कहते हैं। जिस प्रकार काम में प्रकाश है वैसा शुक्र मे प्रकाश नही है। अर्थात् जैसे काम को हम देखते पहचानते हैं, वैसे प्राण के विकार शुक्र को हम स्पष्ट नही समझते, इसलिये उन दोनो का भेद कहना अनुचित नही है। किन्तु ये दोनों इच्छा-पूर्वक क्रिया करने से उत्पन्न होते हैं, अर्थात् इन्द्रियरूप मन के योग से और बुद्धि के विचार से जो कर्म किया जाय उससे ही काम या शुक्र उत्पन्न होते हैं। किन्तु विना बुद्धि के विना मन के जो जहां जितनी क्रिया चेतन प्राणी मे या जड पदार्थों मे होती रहती है उनसे उत्पन्न सब अतिशयो को काम और शुक्र न कहकर केवल कर्म शब्द से ही निर्देश किया जाता है (बताया जाता है) इसलिये क्लेशों में अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश इन पाचो मे राग, द्वेष, आदि से पृथक् अविद्या कही गई है। यद्यपि सभी क्लेश अविद्या ही है तथापि इनके अवान्तर भेदो का पृथक् दिखाने के तात्पर्य से भिन्न-भिन्न पाँच क्लेश कहना अथवा कर्म, काम, शुक्र इन तीनो को पृथक् पृथक् गति का निमित्त कहना अनुचित नही। अब इन तीनो निमित्तो से गति मे जैसे जैसे भेद उत्पन्न होते हैं, वे सब भिन्न भिन्न करके यहाँ दिखाये जाते हैं।

यहा इतना और भी जानना आवश्यक है कि कर्म, शुक्र, काम इन तीनो को कर्म कहते हुए भी जो काम, शुक्र से पृथक् कर्म कहा गया है, वह विना इच्छा और विना यत्न के प्रकृति नियमानुसार अपने आप होने वाले कर्मों से तात्पर्य है। इसलिये ऐसे कर्म जड या चेतन दोनो मे सामान्यरूप से सर्वत्र पाये जाते है। किन्तु दूसरा शुक्र प्राण मे होने के कारण दूसरे की इच्छा से स्थावर वृक्षों में पाये जाते हैं। और अब तीसरा काम मनोधर्म होने के कारण चेतन प्राणी मे ही पाये जाते हैं। तात्पर्य यह है कि

असज्ञ, अन्तःसज्ञ और ससज्ञ इन तीनो मे कर्म है, किन्तु अन्त सज्ञ और ससज्ञ इन दोनो मे शुक्र है, और केवल ससज्ञ मे काम है। अथवा यो कहिये कि ससज्ञ जीवो मे कर्म, शुक्र, काम तीनो है, और अन्तःसज्ञो मे कर्म शुक्र दो है, और काम नही है ऐसे ही असज्ञ पदार्थो मे केवल कर्म है शुक्र या काम दोनो ही नही यद्यपि असज्ञ, अन्त.सज्ञ और समंज्ञ ये तीनो ही जीव के भेद है, इसलिये तीनो ही का गति से सम्बन्ध है, तथापि यहा पर केवल चेतन के ही विषय मे गति का विचार होने के कारण जड़ या वृक्षादि अर्धजड़ो को छोडकर केवल चेतन के सम्बन्ध मे कर्म, शुक्र, और काम इन तीनो से गति के भेद दिखाये जाते हैं।

प्रत्येक प्राणी के शरीर मे ७ आत्मा है तथापि उनमे प्रधान तीन हैं। १–क्षेत्रज्ञ जिसका सम्बन्ध सूर्य से है, २–महान् जिसका सम्बन्ध चन्द्रमा से है, ३–भूतात्मा जिसका सम्बन्ध पृथ्वी से है। ये तीनो ही आपस मे अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध से मिले रहने के कारण सहसा ही पृथक् नही होते–जिस प्रकार पृथ्वी पर जीवन दशा मिले जुले रूप से रहते हैं, उसी प्रकार प्राणोत्क्रमण काल मे भी साथ ही मिले हुये रूपो मे तीनो जाते हैं। पृथ्वी छोडने के उपरान्त पीछे महान्आत्मा और क्षेत्रज्ञआत्मा का प्रभाव भूतात्मा पर अधिक पडता है। उन दोनो मे भी महान् की अपेक्षा विज्ञान आत्मा का प्रभाव अधिक रहता है। इसीलिये यह भूतात्मा सबसे समीप चन्द्रमा मे जाकर भी सूर्य की ओर जाने का प्रबल वेग से उत्क्रान्त होता है। यदि विज्ञान का विरोधी कोई पातक विशेष भूतात्मा पर आ जाने से सूर्य रस रूपी विज्ञान का प्रभाव कम हो जाने से वह आत्मा सूर्य के विरुद्ध मार्ग मे नरक की ओर चला जावे तब तो परवश भूतात्मा की गति सूर्य के विरुद्ध दिशा मे हो जाती है। परन्तु जब कोई ऐसा पातक भूतात्मा मे न हो तो वह भूतात्मा अवश्य ही विज्ञानआत्मा का सहयोग के कारण चन्द्र के परे सूर्य के ओर जाने को अग्रसर होता है और सूर्य के सम्वत्सर मे अपने विज्ञान का सम्वत्सर मिलाकर एक हो जाता है, इसी को देव स्वर्ग प्राप्ति कहते है। इस देव स्वर्ग प्राप्ति मे अपने किये हुये कर्मो के द्वारा जो उस सम्वत्सर मे भिन्न-भिन्न सात स्थानो की प्राप्ति होती है, वही सात देवलोक कहे जाते है। जिनका वर्णन पृथक् हो चुका है। किन्तु इस भूतात्मा का पृथ्वी पर १०० वर्ष का जो जीवन काल है उस १०० वर्ष मे न्यूनाधिकता से उस सम्वत्सर के सम्बन्ध मे जो विशेषता आ जाती है वह काम, शुक्र से सम्बन्ध रखता हुआ केवल प्राकृतिक कर्मो से ही सम्बन्ध रखता है। इसलिये प्रथम गति भेद यहाँ पर दिखाया जाता है।

कर्म

गति भेद दिखाने से प्रथम कुछ सूर्य सम्वत्सर के भेदो का दिखाना यहा पर आवश्यक है और वह इस प्रकार है जो सूर्य के प्रकाश का विशाल मण्डल है उसी चक्र को सम्वत्सर कहते हैं। उस सम्वत्सर मे किसी नियतस्थान पर हमारी यह पृथ्वी चन्द्र सहित घूमती है। ये दोनो ही स्वय अप्रकाश रहते हुये भी सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। किन्तु इन दोनो के स्वतः अप्रकाश होने के कारण इनका वह तमो भाग उस सम्वत्सर मे नियतरूप से भ्रमण करता है जिसके कारण सम्वत्सर के ५ भेद होते हैं। १–अर्चि और धूम, २–अह. और रात्रि, ३–शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष, ४–उत्तरायण और दक्षिणायन, ५–पूर्ण सम्वत्सर। तात्पर्य यह है कि इस पृथ्वी पर कितने ही भौतिक पदार्थ या कितने ही प्रकार के वायु दिन मे या रात्रि मे चमकते हुए प्रकाश से प्रकाशित होने का स्वभाव रखते हैं जैसे अग्नि, विद्युत्

सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त आदि। इन सबके प्रकाश को ही अर्चि कहते हैं और ये सब अत्यन्त क्षुद्र होते है, पृथ्वी के अत्यन्त स्वल्प प्रदेश मे कही कही प्रकाशित होते है किन्तु उनकी सीमा से बाहर अथवा उनके दग्ध हो जाने पर अन्धकार व्याप्त हो जाता है। उस समय पृथ्वी से उठकर जो रस वाष्प के रूप में ऊपर जाता है उसे प्रकाशमय न होने के कारण धूम कहते है। अथवा यो समझिये कि प्रत्येक वस्तु जो रूपवान् दीखती है उस पर सूर्य के किरण पडते ही प्रत्याघात से उल्टे प्रतिफलित होकर सूर्य की ओर कुछ दूर तक प्रकाश मण्डल बनाते हैं। किन्तु उसके विपरीत दशा मे अर्थात् सूर्य के विरुद्ध दिशा मे उस वस्तु की छाया मण्डल कुछ दूर तक रहता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु मे सूर्य की ओर प्रकाश और दूसरी ओर अन्धकार देखने मे आता है, इसी प्रकाश को अर्चि और अन्धकार को धूम कहते हैं। प्रत्येक वस्तु के लगाव से सूर्य प्रकाश रूपी सम्वत्सर मे इस प्रकार अर्चि और धूम ये दोनो शुक्ल और कृष्ण भाग विद्यमान रहते हैं। सम्भवतः मेरे शरीर के भी दोनो ओर ये दोनों भाग दिन मे या दीपक के प्रकाश मे अवश्य होगे। अब यदि आत्मा शरीर से उत्क्रमण करे तो वह किस ओर जायगा। इस प्रश्न का यही उत्तर है कि यदि आत्मा विज्ञान प्रधान है तो शुक्ल भाग मे से निकलेगा और यदि कर्म प्रधान है तो मेरे शरीर के कृष्णभाग मे से निकलेगा। आत्मा का यही प्रथम उपक्रम है।

यह शुक्ल या कृष्ण भाग पृथ्वी पर के प्रत्येक वस्तु मे होने के कारण बहुत छोटे छोटे है, किन्तु इनसे बडा भाग पृथ्वी का है क्योंकि जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु मे एक ओर प्रकाश और दूसरी ओर अन्धकार रहता है। उसी प्रकार इस पृथ्वी के भी एक ओर प्रकाश और दूसरी ओर अन्धकार रहता है, इन्हीं दोनो को अह या रात्रि कहते हैं। ये दोनो भाग अर्ची, धूम की अपेक्षा बडे होते है। उत्क्रमण करता हुआ आत्मा चलते चलते अर्चि या धूम से सम्बन्ध तोड़कर अहः या रात्रि सम्बन्ध कर लेता है। अर्थात् छोटे भाग से बडे भाग मे आ जाता है। आत्मा की यात्रा मे यह दूसरा प्रक्रम है।

अब इसके अनन्तर आगे बढती हुई आत्मा अह वा रात्रि के भाग से भी बडे भागो मे जा पहुंचती है वे भाग चन्द्रमा के सम्बन्ध से पृथ्वी पर उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार पृथ्वी एक दिन मे सम्पूर्ण भू-मण्डल भोगती है, उसी प्रकार चन्द्रमा एक मास मे भोगता है। इसलिए चन्द्रमा मे एक मास का दिन-रात होता है। उसमें शुक्लपक्ष को दिन और कृष्णपक्ष को रात्रि कहते हैं। कृष्णपक्ष मे चन्द्रमा का काला भाग पृथ्वी की ओर रहता है, और शुक्लपक्ष में प्रकाश भाग पृथ्वी की ओर जाता है। धूम मार्ग से जाता हुआ आत्मा रात्रि भाग में आकर कृष्णपक्ष के अन्धकार भाग में चला जाता है और अर्चि मार्ग से जाता हुआ अह. प्रकाश में आकर शुक्लपक्ष के प्रकाश मे चला जाता है। आत्मा की यात्रा में यह तीसरा प्रक्रम है।

इसी प्रकार और उसी क्रम से जाता हुआ आत्मा कृष्णमार्ग में कृष्णपक्ष से सम्बन्ध तोड़कर दक्षिणायन से सम्बन्ध करता है, क्योंकि कृष्णमार्ग सबसे सबसे बडा वही भाग है और अर्चि मार्ग से जाता हुआ आत्मा शुक्लपक्ष से सम्बन्ध तोडकर उत्तरायण भाग के बडे भाग मे चला जाता है। यह आत्मा की यात्रा में चतुर्थ प्रक्रम है।

इसके अनन्तर यात्रा के अन्तिमस्थान पृथ्वी के दोनो छोर पर दो होते है। अर्थात् सूर्य की ओर शुक्लमार्ग से जाती हुई आत्मा के लिए सूर्य ही अन्तिम स्थान है, अथवा सूर्य के सम्वत्सर का वह पूर्ण प्रकाशभाग है। जिसमे किसी पर प्रकाशपिण्ड न होने से कुछ भी कृष्णभाग का संसर्ग नही। इसी प्रकार कृष्णमार्ग से जाती हुई आत्मा के लिए अन्तिम स्थान घोर अन्धकारमय है, जहा पर सूर्य सूक्ष्मतारा के तुल्य दीखने के कारण अपना प्रकाश भली प्रकार नही देता यही आत्मा के लिये पञ्चम या अन्तिम प्रक्रम है।

पृथ्वी को छोडने के अनन्तर आत्मा के लिये अन्त से अन्तिम विश्राम स्थान यही पञ्चम प्रक्रम है क्योकि आत्मा दो ही ओर जा सकती है। शुक्लमार्ग से या कृष्णमार्ग से—इन दो को छोड तीसरा कोई मार्ग ही नही हो सकता। इनमे शुक्लमार्ग से जाती हुई यदि कर्मानुसार वीच के लोको मे रुक न जावे तो अन्त को सूर्य मे ही जाकर विश्राम करेगा और सूर्य के रस से बनी हुई आत्मा अपने कारण ज्योतिर्घन मे लवलीन हो जाती है, और इसी को ज्योति से ज्योति का मिलना अथवा मुक्तिपाना कहते है इसके विरुद्ध यदि आत्मा कृष्णमार्ग से जावे तो यह यदि कर्मानुसार वीच के किसी प्रक्रम मे न रुक जावे तो जाते-जाते अन्त मे किसी घोर अन्धकार मे प्रवेश करती है और उसी अन्धकार को नरक कहते हैं। वह नरक इस आत्मा के लिए घोर भयङ्कर दुःखस्थान है, क्योकि यह आत्मा सूर्य के रस से बनी हुई है, उसको उस अन्धकार नरक मे ज्योति का रस नही मिलता, इसलिए उसकी विकलता होना सम्भव है उसी को दुःख कहते हैं। इसलिए कृष्णमार्ग अन्त मे दुःख और शुक्लमार्ग से अन्त में परमानन्द मोक्ष मिलता है, वह यही आत्मगति में दोनों मार्गो का रहस्य है।

इस प्रक्रिया से जो सूर्य सम्वत्सर के ५ विभाग सिद्ध हुए हैं उनमें पूर्व भाग की अपेक्षा उत्तर भाग बडा है, और उनमें क्रम से जाती हुई अन्त को सूर्य में प्राप्त हो जाती है यही वात यहां कही गई है। अब इनमें हम वह विशेषता दिखाते है जो कि प्राणी के शरीर धारण करने पर जीवन की अवस्था से सम्वन्ध रखती है और वह इस प्रकार है।

चेतन प्राणी की आत्मा, मन, प्राण, वाक् से वनी हुई है ये तीनो ही किसी न किसी परिमित मात्रा में ही आकर शरीर धारण करते है। यह सम्भव नही है कि कृमि, कीट, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि सभी की आत्मा समान मात्रा की हो, ऐसी स्थिति में मनुष्य की आत्मा के लिये परीक्षा से सिद्ध हुआ है कि मन, प्राण, वाक् ये तीनो ही उसमें छत्तीस-छत्तीस हजार मात्रा की होती है और वह ३६००० हजार दिन तक ही शरीर धारण कर सकता है। किसी नियम के अनुसार आहार विहार में फरक पडने से उसी ३६००० हजार मात्रा को कुछ कम या अधिक दिन में खर्च करने से कम आयु या अधिक आयु भी हो सकती है। परन्तु उनका प्रधान परिमाण ३६००० दिन का ही है। इसीलिए वेद में सिद्धान्त किया है कि—"शतायुर्वैपुरुषः" अर्थात् मनुष्य की आयु १०० वर्ष की या ३६००० दिन की होती है। अब इस १०० वर्ष के यदि ५ भाग किये जावें तो प्रत्येक भाग २० वर्ष का होगा। इस प्रकार एक एक वीसी ही में आत्मा में सूर्य संवत्सर के उन पाच भागो में जाने के लिए वल उत्पन्न होता है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि वाल्यावस्था के बल की अपेक्षा उत्तरोत्तर वल की वृद्धि होती है। यद्यपि वृद्धावस्था में शरीर का

बल फिर घट जाता है, परन्तु इसका कारण आत्मा के शरीर से बन्धन की स्थिरता है अर्थात् बाल्यावस्था मे आत्मा दुर्बल होने के कारण शरीर के भौतिक भाग को अधिक प्रयत्न से पकडती है, इसीलिए आत्मा की मधुरता से (प्रिय होने से) बालक का शरीर सुन्दर प्रतीत होता है। किन्तु ज्यो-ज्यो आत्मा बल पाकर स्वतन्त्र होती जाती है त्यो-त्यो शरीर का सहारा लेने मे विमुख [वे पश्चात्] होती जाती है, यहा तक कि जब आत्मा मे पूर्ण बल आ जाता है तो वह इस भौतिक शरीर को छोडकर ज्योतिर्मय जगत् में जाने के लिए उत्सुक हो जाती है और इसी को मृत्यु कहते हैं। इसी बल से निश्चित रूप से जानना चाहिए कि प्रत्येक बीसी से आत्मा का बल बढता हुआ भिन्न-भिन्न प्रकार का हो जाता है और उन्ही बलो के अनुसार आत्मा का ऊचा बढ़ना सभव होता है।

प्राचीन महर्षियो ने परीक्षा करके निश्चय किया है कि २० वर्ष के पहले मरने मे दुर्बल आत्मा अर्चि धूम मे ही पहुचकर रह सकती है। किन्तु उससे ऊपर अहोरात्र भाग में उत्क्रमण नही कर सकती, बीस से ऊपर चालीस के भीतर अहोरात्र तक चढ सकती है उससे ऊपर नहीं। किन्तु चालीस और साठ के भीतर शुक्ल, कृष्णपक्ष तक ही जा सकती है और साठ-अस्सी के भीतर उत्तरायण या दक्षिणायन तक ही जा सकती है। अस्सी से १०० वर्ष तक पूर्ण सम्वत्सर मे जाने का बल पाती है। किन्तु सौ (१००) वर्ष से अधिक जीने पर सम्वत्सर के सप्तम् "नाकलोक" से भी ऊपर "काम प्रलोक" मे जाने की शक्ति पाती है। यह विषय भगवान् याज्ञवल्क्य महर्षि ने अग्नि रहस्य काण्ड मे निर्णय किया है, किन्तु यह प्रकृति नियम के अनुसार साधारण परिस्थिति मात्र है। जब कि विद्या का या कर्म का पूर्ण बल उपर्युक्त नियम के विरुद्ध आ जाता है, तो उसके अनुसार व्यभिचार होता है। अर्थात् शुकदेव जैसे ज्ञानी पुरुष की आत्मा प्रबल होने के कारण बाल्यावस्था मे ही पूर्ण सवत्सर मे जा सकती है, और १०० वर्ष से अधिक जीने पर भी घोर पापी देवस्वर्गलोक मे नही जा सकता। किन्तु ये दोनो कर्म इन काम और शुक्र इन दोनो से सम्बन्ध रखते है। इन दोनो के अलावा केवल स्वभाविक कर्म के अनुसार आत्मा की गति का नियम उपरोक्त ५ अवस्थाओ के नियमानुसार ही निश्चित है।

काम

स्वाभाविक कर्म के अतिरिक्त अब हम उन प्रधान कर्मों की चर्चा करेंगे, जिन्हे काम या शुक्र कहते हैं। काम उन कर्मो को कहते है जिनका करना प्राणी की इच्छा पर निर्भर है, और जिन कर्मो के लिये करने वाला ही उत्तरदायी समझा जाता है। प्राय. जगत् भर के प्राणी ऐसे ही कर्मों को करते हुए नेकनाम या बदनाम होते हैं, यश प्रतिष्ठा या राजदण्ड पाते हैं।

ऐसे कर्म तीन प्रकार के होते हैं—सुकर्म, विकर्म और अकर्म। इनमे अकर्म वह है जिसके करने न करने मे हानि लाभ कुछ नही। किन्तु समय का व्यर्थ जाना और शरीर के बल का व्यर्थ व्यय होना अवश्य सभव है। इसलिये ऐसे कर्मों से भी प्राणी का अनिष्ट ही होता है इसी से यह भी पाप से गिना जाता है। इसके अतिरिक्त जिन कर्मो से अपनी या दूसरे की हानि होती है वही विकर्म अथवा पाप कर्म है ऐसे कर्मो के लिए शास्त्र मे निषेध और समाज के विरुद्ध है। यह विकर्म भी दो प्रकार का है। एक

वह है कि जिससे इसी जन्म मे या इसी समाज मे अपना या दूसरे का अनिष्ट होता हुआ प्रत्यक्ष दिखाई देता हो जैसे कूप मे पड़कर मरना या दूसरे की चोरी या हत्या करना इत्यादि २। दूसरा वह विकर्म है जिसका परिणाम इस जन्म या इस समाज मे भलि-भाति न दीखता हो किन्तु काल पाकर इसी जन्म मे या दूसरे जन्म मे अनिष्ट होता हो जैसे मिथ्या भाषण करना, दूसरे का अपमान करना, बहुत से वर्जित पदार्थो को खाना इत्यादि २। इनके अतिरिक्त सुकर्म वे हैं जिनके करने से अपनी या समाज की सुख-शाति होती हो, अपनी आत्मा को या दूसरे की आत्मा को सन्तोष या प्रसन्नता होती हो। बस ये ही तीन कर्म हैं। इनमे देश, काल, पात्र के विचार से ये तीनो ही परिवर्तित हो जाते हैं, अर्थात् जो अत्यन्त सुकर्म है वही कभी विकर्म और विकर्म भी कभी सुकर्म हो सकता है। जैसा कि सत्य बोलना, दान करना सुकर्म है, किन्तु यदि सत्य भाषण से किसी उत्तम या श्रेष्ठ प्राणी की प्राण हानि होती हो तो उस सत्य से पाप होता है। शूद्र को वेद प्रदान, चोर को अभय दान, ब्रह्मचारी को पान [ताम्बूल] देना पाप है। इसी प्रकार किसी प्राणी का वध करना महापाप है। किन्तु वही किसी हत्यारे पापी की हत्या करना पुण्य है इत्यादि २। ऐसी स्थिति सुकर्म और विकर्म आदि का निश्चय करके सेवन करना या वर्जन करना प्राणी के अपने विचार पर निर्भर है। उसके विचार के लिये विद्या या विज्ञान की आवश्यकता है। बिना विद्या के ज्ञान या अन्यथा ज्ञान के सयोग से प्राणी पुण्य करता हुआ कभी पाप कर बैठता है। इसे ही शास्त्र मे 'प्रज्ञापराध' कहते है। बस इससे यह सिद्धात निकला कि सम्यक्ज्ञान, अन्यथा ज्ञान और अज्ञान इसी प्रकार सत् कर्म, विकर्म और अकर्म ये ६ ही व्यवहार के निमित्त (कारण) हैं। इनमे सम्यग्ज्ञान से सत्कर्म होकर उससे आत्मा को सुख शाति मिलती है किन्तु अज्ञान या अन्यथा ज्ञान से विकर्म और अकर्म होते है और उनमे आत्मा को दुःख मिलता है। सुख का कारण केवल एक ही है और दुःख के कारण दो हैं, इसी से आजन्म सुख की इच्छा या सुख के लिये प्रयत्न भरपूर करते रहने पर भी जगत् के सभी प्राणी अधिकतर दु खी दीखते हैं, जिन कर्मो से दुःख मिलता है, वही पाप है।

इस प्रकार सम्यक्ज्ञान से उत्पन्न हुए सत्कर्म से जो अतिशय उत्पन्न होता है उससे आत्मा की गति उत्तम होती है। ऐसे सत्कर्म प्राणी की व्यक्तिगत कामना या देश, काल पात्र के अनुरोध से अनन्त प्रकार के होने पर भी उनकी जाति मुख्यतः तीन ही होती हैं। इष्ट, आपूर्त और दत्त—इष्ट एक प्रकार का लघु [पाक] यज्ञ है जैसे किसी अनाथ कन्या, वालक का विवाह और यज्ञोपवीत आदि सस्कार करना। आपूर्त वह कर्म है जो सकल साधारण जनता के सुख के लिये कोई शाश्वतिक कर्म किया जाय जैसे कूप, वापी [वावडी] सरोवर, उपवन, पन्था [राजमार्ग] वृक्ष लगाना, देवालय वनवाना, सदावर्त, धर्मशाला, चिकित्सालय [औपधालय] पाठशाला, पुस्तकालय इत्यादि। दत्त वह दान है जिस मे अङ्ग हीन, रोगी दुःखी या कोई जाति को दिया जावे। इस प्रकार तीन जाति के कर्म प्रायः जगत् भर शास्त्र विरुद्ध सम्पूर्ण जगत् के प्राणी अपनी प्रकृति के अनुसार कुछ न कुछ पाप कर्म भी किया ही करते हैं। पाप उसी कर्म को कहते हैं जो पराई आत्मा को या पराये प्राण, शरीर, धन सम्पदा का हरण करके दु ख पहुनाता हो और अकर्म भी यद्यपि दूसरी आत्मा को दुःख न देकर होता है, तथापि समय नष्ट होने से अपनी आत्मा का वल व्यर्थ नष्ट होता है, इसीलिये पाप ही है। इसीलिये सत्कर्म, विकर्म, अकर्म के भेद से तीन प्रकार के कर्म होने पर भी विचार से दो ही कर्म सिद्ध होते है। पुण्य और पाप और इन से आत्म

गति भी दो ही प्रकार की होती है। आत्मा को सुख देने वाला पितृ स्वर्गलोक और आत्मा को दुःख देने वाला नरकलोक—ये दोनो ही लोक एक मार्ग मे मिलते है, जिसको पितृयान कहते हैं। यह मार्ग चन्द्रमा से लोकालोक तक फैला हुआ है। जिसमे चन्द्र से यम तक जितने लोक हैं वे नव पितृस्वर्ग कहे जाते है और उनमे सर्वत्र आत्मा को सुख शाति मिलती है। यदि इस पितृयान को मनुष्य देखना चाहे तो उसकी दिशा की आज्ञा बिना भी प्रत्येक प्राणी अपनी प्रकृति के अनुसार कुछ न कुछ किया ही करता है। किन्तु इनके यही बताई जा सकती है, कि आकाश मे वैश्वानर मार्ग अथवा अजवीथी अथवा मकरवृत्त से दक्षिण और अगस्त्य के तारे से उत्तर ४२ अक्षाश से परिच्छिन्न प्रदेश की ओर है इसी मे सत्कर्म करने से पितृस्वर्ग मे या कुकर्म, अकर्म करने से नरकलोक मे जाती है। इनमे पितृस्वर्ग तीन प्रकार का है—उदन्वती, पीलुमती और प्रद्यौ। इनमे प्रद्यौ सबसे उत्तम है और नरकलोक मुख्यत सात माने जाते हैं इनमे प्रत्येक चार २ प्रकार के होने से २८ कहे गये है उनमे भी प्रत्येक तीन २ शाखा होने से ८४ नरक कहे जाते है। सात लोको के (नरको) के नाम—१–रौरव, २–महारौरव, ३–कुम्भीपाक, ४–कालसूत्र, ५–सघात, ६–तपन ७–अवीचि और २८ नरक भागवत् के पञ्चमस्कन्ध के २६ वें अध्याय मे है।

१ तामिस्र	२ अन्धतामिस्र	३ रौरव	४ महारौरव
५ कुम्भीपाक	६ कालसूत्र	७ आसिपत्रवन	८ सूकर मुख
९ अन्धकूप	१० कृमिभोजन	११ सदश	१२ तप्तसूर्मि
१३ वज्रकण्टक	१४ वैतरणी	१५ पूयोद	१६ प्राणरोध
१७ विशसन	१८ लालाभक्ष	१९ सारमेयादन	२० अवीचि
२१ अयःपान	२२ क्षारकर्दम	२३ रक्षोगण भोजन	२४ शूलप्रोत
२५ दन्दशूक	२६ वट निरोधन	२७ पर्य्यावर्तन	२८ सूचीमुख

इस प्रकार पितृयान मार्ग के दो प्रधान विभाग है—१–तीन पितृ स्वर्गलोक और दूसरा ८४ यम यातना (कष्ट) के नरक लोक। इन की अनेक शाखा प्रशाखा होने पर भी उनमे सुख दुःख भोगों के तारतम्य अवश्य है। उस तारतम्य का कारण मुख्यकर कर्मों का बोलबाला है। किन्तु उन कर्मों के बला-बल का कारण कामना ही है। कामना विशेष से वह एक ही कर्म प्रबल पाप या कम पाप अथवा निष्पाप, इसी प्रकार प्रबल पुण्य या कम पुण्य या अपुण्य हो सकता है। तात्पर्य यह है कि कोई भी कर्म स्वतन्त्ररूप से पाप या पुण्य नही हो सकता, केवल उनके पाप पुण्य होने का कारण उन करने वाले के श्रद्धा, विचार और कामना पर निर्भर है। इसलिये कामना ही गति का मुख्य निमित्त है इसीलिये वेद मे कहा है—

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते यत्र तत्र।
पर्याप्त कामस्य कृतात् मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः॥

अर्थात् जो समझ बूझकर नाना प्रकार की कामनाओं की इच्छा रखता है, वह उन्हीं कामनाओं के बल से जहा तहा जन्म लिया करता है और जिसकी कामनाये आत्म शक्ति पहचानने से समाप्त हो गई हैं, उसकी सब कामनाये अपनी आत्मा में ही पूरी हो जाने के कारण आत्मा मे ही विलीन हो जाती है। इसीलिए उसकी कही भी अन्यत्र गति न होकर यहा ही समवलय मुक्ति हो जाती है।

यहा पर यह प्रश्न उठता है कि यदि कामना को गति मे निमित्त माना जाता है तो पितृयान मार्ग से जाने वाले को सर्वदा स्वर्ग ही मिलना चाहिए, नरकलोक मे गति होना असभव है। क्योकि आबाल वृद्ध, आपामर विद्वान् कोई भी प्राणी नरक मे दुःख भोगने के लिये कामना नही रखता और कहा गया है कि कामना ही से खिंचा हुआ प्राणी नीचे ऊँचे लोको मे जहां तहा भटकता है। तो जब कि नरक के लिये कामना नही तो वह प्राणी नरक मे किस निमित्त से जा सकेगा। इसका उत्तर यह है कि कामना किसी लोक मे जाने की नही हुआ करती, क्योकि यह कामना प्रायः सम्पूर्ण जगत् के प्राणियो मे उनके व्यवहारो मे देखी जाती है। बिना काम के कोई भी व्यवहार जगत् का नही चलता, परन्तु इन प्राणियो मे बहुत ही कम ऐसे हैं जो स्वर्ग, नरक जानते हो, या जानकर भी उनमे विश्वास रखते हो, तो ऐसी स्थिति मे स्वर्ग, नरक की कामना के विचार का यहां प्रस्ताव नही है। कामना से तात्पर्य यह है कि जो कुछ कोई कर्म करता है वह कुछ न कुछ अवश्य ही उस कर्म का उद्देश्य या प्रयोजन रखता है। निष्काम कोई भी प्रवृत्ति नही होती, तो ऐसी स्थिति मे जिस काम से या जिस विचार से वह किसी कर्म को करता है, वह काम या विचार यदि समाज का या दूसरी आत्मा का विद्रोह या हानि को उद्देश्य रखकर किया जाता है तो पाप है और उस पाप के अनुसार जैसा दुःख प्राप्त होना प्रकृति मे नियत है वह दुःख उस आत्मा को न्यून या अधिक परवश अवश्य ही मिलेगा यही नरक का तात्पर्य है। इसीलिये काम के द्वारा सुख या दुःख पाने योग्य स्थान मे आत्मा का जाना अवश्यमेव है।

शुक्र

शुक्र उस अतिशय का नाम है जो कर्म के द्वारा आत्मा मे उत्पन्न हुआ करता है। परन्तु कर्म यदि किसी कामना से इच्छानुसार किया जाय तो उस कर्म से जो शुक्र उत्पन्न होता है उसे काम कहते हैं और उसका वर्णन पहले हो चुका है। परन्तु अब शुक्र उस कर्मजन्य अतिशय के लिये विवक्षित (कथनीय) है कि जो कर्म अपनी इच्छा पर निर्भर न करके पुराने ऋषि आचार्य आदि महानुभावो की आज्ञा के अनुसार अपना कर्तव्य समझकर किया जाता हो, जैसे सन्ध्यावन्दन या साग्नि द्विजातियो के लिये यज्ञ विधि कही गई हैं इसी प्रकार तप और दान की भी आज्ञा है जिनकी कर्तव्यता अपना इच्छानुसार न होकर आचार्यो की आज्ञानुसार ही किसी विशेष नियम के रूप मे किये जाते है। अपनी इच्छानुसार मनमानी कार्यवाही न होने के कारण इनको काम तो कदापि नही कह सकते, इसलिये इनको शुक्र कहते हैं।

यज्ञ

ऐसे कर्म तीन जाति के है। यज्ञ, तप, दान—इनमे अग्निचयन यज्ञ के अतिरिक्त और किसी भी यज्ञ से मुक्ति नही होती, किन्तु केवल स्वर्ग होता है जैसा कि वेद का सिद्धान्त है—

"यज्ञेषु नामृतत्वस्याशास्ति, ऋते चयनयज्ञात्"

अर्थात् यज्ञो में मोक्ष की आशा नही है सिवाय अग्निचयन यज्ञ के।

यज्ञ ४ प्रकार के हैं। + पाकयज्ञ, हुविर्यज्ञ, महायज्ञ, अतियज्ञ (बडा) इनमे पाकयज्ञ बिना अग्नि के या एक अग्नि से भी होता है। शेष सब यज्ञ तीन-तीन अग्नि से होते हैं और वे अग्नि ये हैं-आह्वनीय गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि (एक प्रकार की चन्द्रमा की अग्नि) इन तीनो मे हुविर्यज्ञ होता है। किन्तु महायज्ञ और अतियज्ञ मे आह्वनीय, गार्हपत्य और धिष्ण्याग्नि, इन तीनों अग्नियो से यज्ञ होता है इन यज्ञो से एक नवीन आत्मा देवलोक या सूर्य सम्वत्सर मे उत्पन्न की जाती है। अर्थात् जो विज्ञानमय आत्मा सूर्य रस से अपने आप प्राकृतिक नियमानुसार सभी प्राणियो मे उत्पन्न होती रहती है। यह वृक्ष और कृमि आदि क्षुद्र जीवो से लेकर मनुष्य पर्यन्त क्रम २ से बढती हुई मात्रा मे उत्पन्न होती है किन्तु मनुष्य में भी साधारण मनुष्य की अपेक्षा विद्वान्, तपस्वी, सम्राट आदि मे विशेषमात्रा मे रहती है। तथापि वह विज्ञानमय आत्मा ❀प्रज्ञानमय आत्मा के प्रबल पातक कर्मो से दब जाता है। जिसके कारण अपने स्वभावानुसार सूर्य रूपी स्वर्ग मे जाने की इच्छा रखती हुई भी उधर न जाकर दक्षिणामार्ग मे चली जाती है इसी दुर्बलता को मिटाने के लिये यज्ञ का विधा है, इन यज्ञो से उस मानुषी विज्ञानमय आत्मा मे प्रत्येक देवता का सस्कार करके उसी विज्ञानमय मानुषी आत्मा पर दैवी आत्मा उत्पन्न करनी जाती है, जिसके कारण वह आत्मा देवताओ का घनरूप सूर्य सम्वत्सर मे जाने के लिये अधिक बलवान् हो जाती है, और अवश्य ही चन्द्रमा से उसकी गति सूर्य की ओर जाने की स्वभाविक हो जाती है यही यज्ञो का रहस्य है। यज्ञ करने से विज्ञानमय मानुषीआत्मा मे जो भिन्न-भिन्न देवताओ के रगो का सस्कार उत्पन्न होता है उसे ही शुक्र कहते हैं और वही शुक्र उस आत्मा को प्रबल वेग से सूर्य की ओर आकृष्ट करके ले जाता है।

इन यज्ञो मे हुविर्यज्ञ ही मुख्य है। यद्यपि महायज्ञ अर्थात् सोमयज्ञ ही मुख्य यज्ञ है, अथवा यों कहिये कि अग्नि मे सोम की आहुति देना इसी का नाम यज्ञ है। यह आहुति महायज्ञ और अतियज्ञ मे ही दी जाती है, इसलिये उन्ही को यज्ञ कहना चाहिये। हुविर्यज्ञ मे ×पुरोडास के साथ घृत की आहुति दी

+ पाकयज्ञ स्मार्तयज्ञ है और शेष श्रौतयज्ञ है। (पाक=छोटा) ऐहिलौकिक कामनाओ को सिद्ध करने के लिये है।

❀ प्रज्ञात्मा जिन-जिन विषयो से सयोग करता है उनमे उसका योग ४ प्रकार का होता है। सुयोग, हीनयोग, अतियोग, मिथ्यायोग। इनमे विज्ञान के सम्बन्ध से प्रज्ञान सुयोग करता है, किन्तु विज्ञान के सहयोग की अपेक्षा न रखकर स्वतन्त्र रूप से यदि प्रज्ञान योग करें तो हीनयोग, अतियोग, मिथ्यायोग होंगे। यही तीन कुयोग त्रिविध दु खो का मूल कारण है। इसीलिये प्रज्ञापराध से ही सब दु खो का होना माना गया है प्रज्ञापराध से होते हुए तीनो कुयोग ही पाप के मुख्य लक्षण हैं। यदि विज्ञानात्मा को यज्ञ सस्कार करके अत्यन्त प्रबल बनाई जाय तो वह प्रज्ञापराध से उत्पन्न प्रज्ञान के सब दोषो को अर्थात् पापो को नाश करके उस प्रज्ञान को अपनी योनि अर्थात् सूर्य की ओर बलात्कार से ले जाती है यही यज्ञ मे रहस्य है।

× जौ के आटे का लुगद (पुरो=आगे और डास=देना)-आगे याने घृत के पहले।

जाती है न कि सोम की, इसलिये इसको यज्ञ नही कहना चाहिये तथापि विना हविर्यज्ञ के सोमयज्ञ नही किया जा सकता क्योकि देव चक्र रूपी सूर्य सम्वत्सर के ५ विभाग किये जाते है—

१–अहोरात्र, २–शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष, ३ऋतु (ग्रीष्म, वर्षा, शीत) ४–दोनो अयन और ५–सम्वत्सर। इनमे अहोरात्र आदि सम्वत्सर के अवयवो का संस्कार किये विना पूर्ण सम्वत्सर का सस्कार नही हो सकता और सम्वत्सर सस्कार विना सम्वत्सर मे व्याप्त हुए देवताओ का मानुषी विज्ञानआत्मा मे सस्कार नही हो सकता इसलिये अग्निहोत्र से आरम्भ करके पाच प्रकार के हविर्यज्ञो से सम्वत्सर के अवयवो का प्रथम सस्कार करके पूर्ण सम्वत्सर का सस्कार करना सोम यज्ञ रूपी महायज्ञ कहलाता है। इसलिये महायज्ञ की सिद्धि का कारण होने से हविर्यज्ञ भी यज्ञ कहा जाता है।

यह हविर्यज्ञ ५ प्रकार के हैं—१–अभ्याधान, २–अग्निहोत्र, ३–दर्शपूर्णमास, ४–चातुर्मास, ५–पशुबन्ध। इनमे अभ्याधान से केवल अग्नि का सस्कार होता है अर्थात् लौकिक अग्नि के अतिरिक्त एक नया वैध अग्नि उत्पन्न की जाती है जिसमे देवता के ग्रहण करने की शक्ति है। इसी अग्नि पर शेष पाच हविर्यज्ञ किये जाते हैं, जिनसे सम्वत्सर के पाच अवयवो का क्रम से सस्कार होता है। जैसे साय प्रातः अग्निहोत्र करने से अहोरात्र का सस्कार होता है, और दर्शपूर्णमास से शुक्ल कृष्णपक्ष का संस्कार होता है और तीन चातुर्मास यज्ञ से ऋतु के तीन चातुर्मास का सस्कार होता है और पशुबन्ध से दोनो अयनो का सस्कार होता है। इसके पश्चात् यह विज्ञानआत्मा महाविशाल होकर पूर्ण सम्वत्सर मे पहुंचता है, तब सोमयज्ञ से उस सम्वत्सर को सस्कार करने से मानुषी विज्ञानआत्मा मे सब देवताओ का समावेश हो जाता है। जिसमे विज्ञानमय मानुषी आत्मा मे ३३ देवताओ से ६ वषट्कारो के द्वारा यज्ञमय दैवी आत्मा उत्पन्न हो जाती है। वही दैवआत्मा अपने साथ श्लिष्ट (सयुक्त) प्रज्ञानआत्मा को सूर्य सम्वत्सर मे ले जाती है और वह सूर्य सम्वत्सर आनन्द घन है, इसलिये उसे देवस्वर्ग कहते हैं। उसमे जाना ही यज्ञ का फल है।

इन यज्ञो से हमारी विज्ञानआत्मा मे एक प्रकार का वल उत्पन्न होता है, जिसको यज्ञ का 'ऊर्क' कहते हैं। यह ऊर्क आहुति के अनुसार उत्पन्न होता है। अर्थात् सवसे प्रथम अभ्यादान सस्कार से ब्राह्मण साग्निक वनता है अर्थात् ब्राह्मण के शरीर मे प्राकृत नियमानुसार जो वैश्वानर अग्नि है, उसमे एक नये प्रकार का अग्नि संस्कार किया जाता है जिसके द्वारा ब्राह्मण की भूतात्मा विज्ञान मे आये हुये देवताओ को धारण करने मे समर्थ होता है। एक देवता को दूसरे देवता के साथ एक प्रकार का याज्ञिक सम्वन्ध होता है, जिस सम्वन्ध को आजकल पाश्चात्यविद्या (Science) के विद्वान्‌लोग रासायनिक संयोग के नाम मे व्यवहार करते हैं। इस सम्वन्ध या सयोग से मिलने वाले दोनो पदार्थो के निज का स्वरूप सर्वथा नष्ट होकर एक नई वस्तु उत्पन्न होती है जिसमे कर्म, रूप, नाम तीनो वदल जाते हैं। इसी को सम्वन्ध उत्पन्न करने के लिये प्रत्येक सस्कार मे अग्नि की आवश्यकता होती है। परन्तु यह सामर्थ्य प्रत्येक अग्नि मे नही होती, इसके लिये कोई विशेष अग्नि उत्पन्न करनी पडती है उसी को वैध अग्नि कहते है। वैश्वानर अग्नि प्रत्येक प्राणी के शरीर मे स्वभाव से उत्पन्न होता है, किन्तु उसमे याज्ञिक सस्कार करने का वल किसी किसी समय अपने आप उत्पन्न हो जाने पर भी प्रतिक्षण वह वल नही

रहता, परीक्षा से स्थिर हुआ है कि भोजन, जलपान, भाषण, शयन, मूत्र, पुरीषोत्सर्ग, मैथुन, सूर्य चन्द्र-ग्रहण, तीर्थ विशेष ससर्ग, किसी तपस्वी योगी का दृष्टि प्रभाव, किसी मन्त्रशास्त्र के मन्त्र का प्रभाव, भूतावेश इत्यादि निमित्त के समय प्रत्येक प्राणी के शारीरक वैश्वानर अग्नि मे एक प्रकार का क्षोभ अवश्य उत्पन्न होता है। जिससे शारीरक विद्युत् प्रवाह एक दूसरे को मिलाकर याज्ञिक या सम्बन्ध उत्पन्न कर देता है, परन्तु यह शक्ति नैमित्तिक होने से सर्वदा बनी रहती। इसलिये अग्न्याधान संस्कार से इस वैश्वानर अग्नि मे सदा के लिये दूसरा अग्नि उत्पन्न कर दिया जाता है जिसके कारण हमारे विज्ञानमय आत्मा के देवताओ मे सूर्य सम्वत्सर के देवताओ का सयोग याज्ञिक सम्बन्ध से होकर विज्ञान-मय आत्मा मे विशेष बलाधान किया जाता है यही बलाधान अग्न्याधान आदि हविर्यज्ञो का फल है।

वैश्वानर अग्नि मे इस प्रकार याज्ञिक अग्नि उत्पन्न होने पर उस अग्नि की रक्षा के लिये अन्न की आहुति की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार प्राकृत शरीर की वैश्वानर अग्नि की रक्षा के लिये सायं प्रातः भोजन किया जाता है, और उसमे अग्नि नष्ट नही होने पाती उसी प्रकार इन नये याज्ञिक अग्नि की रक्षा के लिये भोजन दिया जाता है उसी को आहुति कहते हैं जिस प्रकार प्राणी के भोजन में दिन-भर अग्नि को स्थिर रखने का ही सामर्थ्य है। इसलिये रात्रि मे फिर भोजन करना पड़ता है। अर्थात् भोजन की शक्ति के अनुसार अग्नि की तृप्ति होकर पश्चात् फिर भूख लगती है। इस प्रकार साय प्रातः आहुति का भी ऊर्क (बल) अहोरात्र के आधे काल तक ही बना रहता है अर्थात् अग्निहोत्र की प्रात आहुति का बल सायकाल तक, और साय आहुति का बल प्रात.काल तक बना रहता है। यही अग्नि-होत्र मे सायं प्रातः आहुति का फल है। प्राणोत्क्रमण के पश्चात् भी जन्म भर अग्निहोत्र करने को याज्ञिक ऊर्क सूर्य सम्वत्सर के अहोरात्र भाग मे ही पर्याप्त होकर कार्यकारी हो सकता है। अर्थात् वह आत्मा सम्वत्सर के अहोरात्र के अहोभाग मे ही रहकर उसका आनन्द भोग करता है। किन्तु अग्निहोत्र के बल से अहोरात्र की अपेक्षा बडा भाग शुक्ल कृष्ण पक्ष का सुख नही ले सकता, इसलिये अग्निहोत्र करने वाले को इष्टि अर्थात् दर्श पूर्णमास की आवश्यकता है। इस इष्टि से हमारे विज्ञानमय आत्मा में जो याज्ञिक अग्नि है उसकी रक्षा होकर प्राणोत्क्रमण के पश्चात् उस याज्ञिक ऊर्क के प्रभाव से शुक्ल, कृष्णपक्ष रूपी विभाग मे जा सकती है। किन्तु उससे विस्तृत विभाग अर्थात् ऋतु विभाग मे नहीं जा सकती, परन्तु दर्श पूर्णमास करता हुआ यदि चातुर्मास याज्ञिक यज्ञ करे तो उस आत्मा मे चार मास तक अग्निस्थिति का ऊर्क उत्पन्न होकर सूर्य सम्वत्सर के ऋतु भाग मे जाने के योग्य हो जाता है इसी प्रकार पशु बन्ध करने से आत्मा की याज्ञिक अग्नि मे षाण्मासिक ऊर्क उत्पन्न होकर सम्वत्सर के आधे भाग मे अर्थात् उत्तरायण मे व्याप्त होकर उसका आनन्द पाने के योग्य हो जाता है। इसके अनन्तर ज्योतिष्टोम आदि सोम यज्ञ करने से शरीर की याज्ञिक अग्नि मे पूर्ण सम्वत्सर का बल उत्पन्न होकर सूर्य के बिना अन्धकार वाले नित्य प्रकाश भाग में आत्मा प्रविष्ट होकर परमानन्दरूपी स्वर्ग सुख भोगता है, यही यज्ञ का फल है।
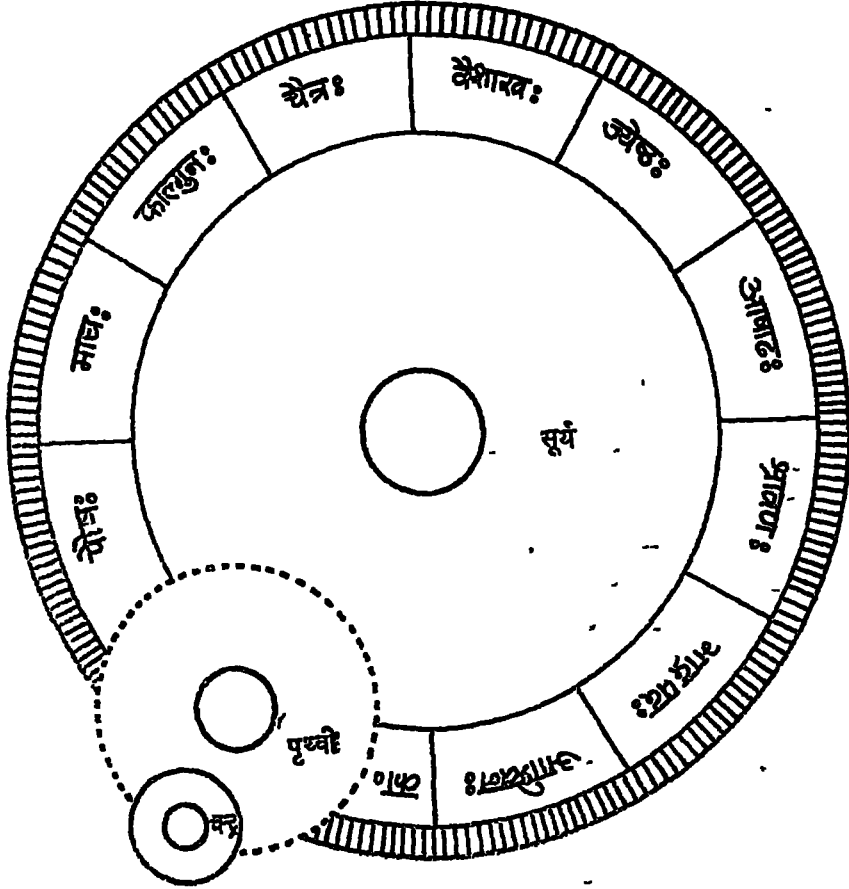
पृथिवी परिभ्रमण परिलेख:-

यदि सोमयज्ञ न भी किया जाय तो भी यदि ३० वर्ष तक लगातार दर्शपूर्ण मास करे तो ३६० दर्श (अमावस्या) या पूर्णमास का सस्कार होने से सम्पूर्ण सम्वत्सर का चारो ओर सस्कार हो जाता है जिसे केवल ३० वर्ष की पूर्णमासेष्टि से ही सोमयज्ञ का काम पूर्ण हो जाता है।

इसके अतिरिक्त यदि कोई निरग्निक ब्राह्मण हो तो वह ८० वर्ष से ऊपर जीवन पाने से पूर्ण सम्वत्सर मे जा सकता है। यही तीन उपाय अर्थात् सोम यज्ञ और ३० वर्ष की अनवच्छिन्न इष्टि और ८० वर्ष मे अधिक जीवन प्राणी को समानरूप से सम्वत्सर मे पहुचा सकते है। किन्तु अग्नि चयन मे सप्तविद्या अग्नि की विद्या को जानकर उसके चयन करने से अथवा बिना विद्या के भी एक शतविद्य-

अग्नि के चयन से अथवा १०० वर्ष से अधिक आयु पाने से आत्मा सम्वत्सर के आगे देवलोक को पार करके नाकलोक से भी परे काम प्रलोक मे जाकर अवर मुक्ति पाती है। इस अवर मुक्ति के [illegible] उपाय बराबर हैं।

यहा यह प्रश्न होता है कि सोमयज्ञ से मुक्ति न होकर अग्नि चयन से ही मुक्ति क्यों होती है। इसका उत्तर इस प्रकार है कि सोमयज्ञ महावेदी पर किया जाता है इसके पश्चिम भाग मे [illegible] वेदी होती है, जिसके पश्चिम भाग मे गार्हपत्यायतन होता है। जिसका तात्पर्य पृथ्वी की अग्नि से है, और उस वेदी के पूर्व भाग मे आहवनीय यतन होता है जिसका तात्पर्य सूर्य की अग्नि से है। [illegible] पूर्णमास आदि इष्टियो मे इसी आहवनीय अग्नि मे आहुतियाँ दी जाती है। किन्तु सोमयज्ञ मे यही आहवनीयाग्नि सूर्य से नही होने पर भी पृथ्वी मे होने के कारण गार्हपत्यअग्नि माना जाता है और महावेदी के पूर्व भाग मे यूप के सन्निहित पश्चिम मे उत्तर वेदी बनाई जाती है, उस पर असली आहवनीय यतन होता है [illegible] सोम की आहुति दी जाती है। यह विधान मनुष्य की आत्मा से सवन्ध रखता है। अर्थात् मनुष्य का शरीर ऐष्टिक वेदी है, उसके पश्चिम भाग मे अर्थात् नाभिकुण्ड मे गार्हपत्या यतन है [illegible] पृथ्वी का रसरूपी अग्नि प्रज्वलित रहता है, और उस वेदी के पूर्वभाग अर्थात् शिर मे देवाग्नि का आहवनीया यतन है। इसी मे हमारे विज्ञानमय आत्मा सूर्य रस से उत्पन्न होकर प्रज्वलित रहती है, इन्द्रिय रूपी [illegible] स्रुवा से घी की उसमे नित्य प्रति आहुतियाँ होती रहती है। अब इस मनुष्य शरीर से आरम्भ करके सूर्य तक त्रैलोक्यरूपी महावेदी समझनी चाहिए। जिसके पूर्व के छोर मे सूर्य मण्डल ही यूप है, उसके सन्निहित पश्चिम मे उत्तरवेदी निर्धारित करके उसमे पूर्ण सम्वत्सर रूपी सूर्याग्निमय आहवनीया यतन स्थिर किया जाता है। जो कोई यजमान सोमयज्ञ करता हुआ उत्तर वेदी मे सोम की आहुति देता है उससे इस यजमान की आत्मा से आरम्भ करके सूर्य तक जो महावेदी है उसके आहवनीया यतन मे सोम की आहुति होकर उससे अग्नि उत्पन्न होता है जिस अग्नि से यजमान का ज्योतिर्मय नवीन शरीर सूर्य के समीप उत्पन्न होता है जिसको यजमान की दैवआत्मा सदा उस आहवनीया यतन मे ही स्थिर रहती है उस आहवनीया यतन को वेद मे बार बार स्वर्ग नाम दिया है। उस दैवआत्मा मे यजमान की मानुष-आत्मा याज्ञिक सम्बन्ध से सवद्ध रहती है। अर्थात् त्रिवृत्त, पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश, त्रिणव, त्रयस्त्रिंश, इस प्रकार वषट्कार ही याज्ञिक सवन्ध है। किन्तु इसमे एकविंशस्तोम पर ही सूर्य का [illegible] उसके आगे दो स्तोम के हैं, उसको छोडकर एकविंशस्तोम ही स्वर्ग माना जाता है। मनुष्य [illegible] से उस एक विंशस्तोम पर विद्यमान दैवआत्मा तक वेद के मन्त्रो मे उत्पन्न हुई वाक् व्याप्त होती है। उसमे यज्ञ की क्रिया से प्राण का सचार होता है और यजमान या ऋत्विजो का विज्ञान, श्रद्धा, [illegible] आदि मनोयोग के द्वारा मन का प्रवेश होता है इस प्रकार मनुष्य आत्मा से दैवी आत्मा तक मन, प्राण, वाक् से सुदृढ मार्ग उत्पन्न हो जाता है। जिस मार्ग मे मानुषआत्मा से दैवआत्मा तक और दैवआत्मा से मनुष्यआत्मा तक विद्युतरूपी इन्द्र के प्रवल वेग से सञ्चार होता रहता है और प्राणोत्क्रमण के पश्चात् उसी विज्ञानमय आत्मा मे मिली हुई प्रज्ञानमय आत्मा उस ही मार्ग से जाती हुई दैवआत्मा मे पहुँच जाती है और वह मार्ग भी टूट जाता है और यह मानुषआत्मा दैवआत्मा से एक होकर जब तक [illegible] बल रहता है तब तक वहा पर स्वर्ग सुख भोगती रहती है। यज्ञ बल नष्ट होने पर वह आत्मा [illegible]
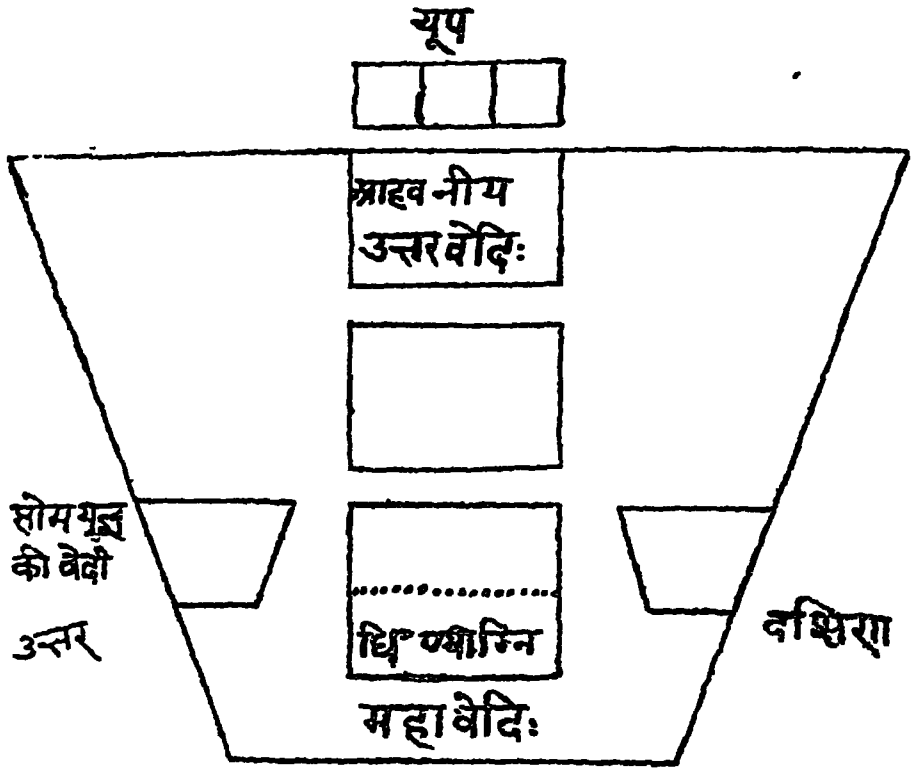
यूप
आहवनीय उत्तरवेदिः
होमयज्ञ की वेदी
उत्तर
धिष्ण्याग्नि
दक्षिण
महावेदिः
आहवनीय अग्नि
हविर्यज्ञ कीवेदी
इष्टिकवेदी
यकृत
दक्षिणाग्नि
गार्हपत्यअग्नि
पश्चिम
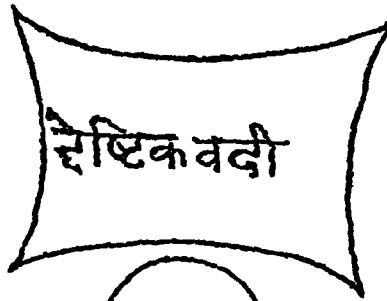
पृथ्वी की ओर भूतानुशय के द्वारा अवतीर्ण होकर पुनर्वार जन्म लेती है, यही सोमयज्ञ का रहस्य है। इससे सिद्ध हुआ कि सोमयज्ञ के द्वारा सूर्य के समीप यज्ञ तक ही जा सकता है, उससे ऊपर ले जाने का यज्ञ मे बल नही है। इसी आत्मा के लिए वेद मे लिखा है कि—

"एष दैवे यजमानस्यामुष्मिन् लोके आत्मा भवति, यद् यज्ञ:"

और भी लिखा है कि—

"तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः"

पहली श्रुति का परिच्छेद—एष-द वै-यजमानस्य-अमुष्मिन् लोके-आत्मा-भवति-यत् यज्ञः।

दूसरी का—तं नयन्ति-एताः सूर्यस्य-रश्मयः-यत्र देवानाम् पति -एक -अधिवासः।

पहली श्रुति का अर्थ यह है—यही यजमान की परलोक मे आत्मा बनती है जोकि यज्ञ किया जाता है।

दूसरी श्रुति का अर्थ है कि—उसको ले जाते हैं ये सूर्य की किरणें जहा पर कि देवताओ का स्वामी है और जहां देवताओ का एक प्रधान निवास स्थान है।

चयनयज्ञ

इस प्रकार सोमयज्ञ के करने से प्राण के शरीर मे वैश्वानर नाम के मनुष्याग्नि का तो सस्कार नही होता है, उसके सम्बन्धी विज्ञान आत्मा के द्वारा सूर्य के पास जहा पृथ्वी का अग्नि मण्डल समाप्त होता है और सूर्य का अग्नि उससे मिलता है उस स्थान पर दिव्याग्नि या सूर्याग्नि का ही इस सोम का से सस्कार होता है। उस स्वर्गीय दिव्याग्नि को आहवनीय बनकर उसमे हमारे भूतात्मा से मिले हुए हमारे विज्ञानमय क्षेत्रज्ञात्मा को साम के द्वारा बाध देना ही उसका सस्कार हैं। जिससे मेरी आत्मा उत्क्रमण के पश्चात् उसी दिव्याग्नि मे जाकर जिरकाल तक ठहर सके। यज्ञ के ऊर्क के अनुसार ही वह दैव आत्मा कुछ समय तक विद्यमान रह सकती है और उसके ससर्ग से हमारे विज्ञान आत्मा के द्वारा भूतात्मा भी उसी स्थान मे (१७ स्तोम से २१ स्तोम तक जो स्वर्ग है) रहकर सुख पा सकती है। किन्तु यज्ञ का ऊर्क समाप्त होनेपर दैव आत्मा नष्ट हो जाती है। आलम्बन के नष्ट हो जाने पर भूतात्मा को फिर पृथ्वी पर आना पड़ता है, इसी न्यूनता की पूर्ति के लिये अग्नि चयन का विधान है। अग्नि चयन मे दो प्रकार का यज्ञ होता है। १—अध्वर (जिससे डावाडोल नही) २—चित्य—इनमे अध्वर सोम का है और चित्य अग्नियज्ञ है। सोमयज्ञ के कारण दैव आत्मा रूपी विज्ञान आत्मा का सस्कार होता है किन्तु हमारी मानुष आत्मा की विज्ञान आत्मा और उसके साथी वैश्वानर आत्मा का सस्कार न होने से कारण भूतात्मा को पृथ्वी पर लौटना पड़ता है। इसलिये इस चयनयज्ञ से हमारी भूतात्मा का वैश्वानर आत्मा की साथ लेकर हमारी आत्मा का सस्कार यहा तक किया जाता है कि उसका भूतात्मापना सर्वदा नष्ट कर दिया जाता है जिससे भूतात्मा का भौतिक भाग परिपक्व होकर शुद्ध विज्ञानमय बनकर सूर्य से भी आगे "काम प्रलोक" से जाने की शक्ति उत्पन्न कर लेती है।

मनुष्य के शरीर मे मनुष्य के जन्मने पर पृथ्वी के केन्द्र से अङ्गिरा अग्नि प्रपद के द्वारा प्रवेश करता है और द्यौ लोक से आदित्य अग्नि ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा प्रवेश करता है। ये दोनो अग्नि विरुद्ध दिशा मे आकर परस्पर मे घर्षण करते हैं जिससे शरीर मे उत्ताप (गर्मी) उत्पन्न होती है और इसी उत्ताप को वैश्वानर अग्नि कहते हैं। वैश्वानर कहने का तात्पर्य यह है कि लोक को विश्व कहते हैं और उसके नायक अर्थात् अधिष्ठाता शासक को नर कहते है, अर्थात् चलाने वाला। तीन लोक होने से उन तीनो का लोकपति विश्वानर कहा जाता है। विश्व तीन होने से विश्वानर भी तीन हैं—पृथ्वी मे अङ्गिराअग्नि, अन्तरिक्ष मे यम या वायु अग्नि, और द्यौ लोक मे आदित्याग्नि इन तीनो के मेल से जो नया शारीरक अग्नि उत्पन होता है, वह विश्वानरो से उत्पन्न होने के कारण वैश्वानर कहा जाता है इस वैश्वानर मे तीन अग्नि के मेल होने के कारण इस शरीर के वैश्वानर से तीन प्रकार का प्राण शरीर मे सञ्चार करता है। आदित्याग्नि के भाग को प्राण और पार्थिव, अग्नि के भाग को अपान और अन्तरिक्षाग्नि को को व्यान कहते हैं। आता हुआ प्राण व्यान के प्रत्याघात से प्रतिफलित होकर जब उलटा ऊपर को जाता है तब उसको उदान कहते हैं इसलिये प्राण और उदान एक ही अग्नि है। इसी प्रकार पार्थिव प्राण वायु भी व्यान से प्रत्याघात पाकर जब नाडियो मे विश्राम पाता है तो उसे समान कहते हे और जब कभी शरीर से बाहर पृथ्वी की ओर निकलता है तो उसे अपान कहते हैं। इसलिये समान और अपना एक अग्नि है। अभिप्राय यह कि तीनो ही अग्नियो के मेल से ॐ पाच प्राणो का भाव शरीर ये दीखता है किन्तु उन तीनो अग्नियो के मेल से उत्पन्न हुआ वैश्वानर अग्नि एक ही प्रकार का है यह वैश्वानर अग्नि तब तक ही जीवित रह सकता है, जब तक प्राकृत नियमानुसार तीनो अग्नियो का मिश्रण समान मात्रा मे हो, किन्तु यदि किसी की मात्रा भी अधिक हो जायगी तो वैश्वानर का उत्पन्न होना स्वभावतः बन्द हो जाता है। देखा गया है भस्मान्तक रोग मे पार्थिव अग्नि इस प्रकार प्रबल वेग से क्षुब्ध हो जाता है कि कितना ही अधिक भोजन करने से भी तृप्ति नही होती किन्तु वह मनुष्य थोडे ही काल मे मर जाता है। इसी प्रकार इस चयन प्रक्रिया से पार्थिव अग्नि पर प्राकृत नियमानुसार जितना दिव्याग्नि आता था उससे अधिक मात्रा मे अग्नि लाकर उस पार्थिव अग्नि पर केवल आघात प्रत्याघात न करके याज्ञिक प्रक्रिया से चिति की जाती है। जिससे प्रत्याघात नष्ट होकर दोनो एक जीव हो जाते हैं और दिव्य अग्नि की मात्रा बढजाती है। अर्थात् इसका क्रम इस प्रकार है कि इस शरीर मे वैश्वानर अग्निका आधारभूत जो पार्थिव अग्नि है उसके ऊपर पाच चिति पाच प्रकार के अग्नियो का होता है। यद्यपि यह अग्नि एक ही जाति की है, तथापि लोक तीन होने के कारण इसका स्वभाव, इसकी अवस्था, इसके कर्म ये सब बदल जाते है। इसलिये यह एक ही अग्नि तीन रूप मे परिणत होकर अग्नि के तीन भेद कहे जाते हैं। अग्नि जो ऊपर जाने का स्वभाव रखता है उसे पार्थिव अग्नि कहते हैं और जो ऊपर

———

☞
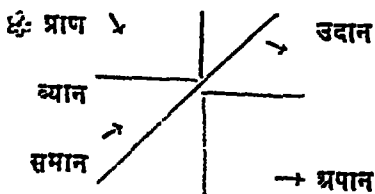
से नीचे आता है वह आदित्य अग्नि कहाता है, किन्तु जो अग्नि तिरछा चलता है उसे अन्तरिक्ष अग्नि कहते हैं। इस प्रकार तीन अग्नि मुख्य हैं किन्तु पृथ्वी और अन्तरिक्ष की सन्धि और अन्तरिक्ष और द्यौ-लोक की सन्धि मे दो-दो अग्नि के मिलाव से स्वभाव मे परिवर्तन होकर एक भिन्न प्रकार का अग्नि बन जाता है जिससे कुल पाच प्रकार की अग्नि सिद्ध होती है। इन पाचो अग्नियो की दो-दो अवस्थायें हैं विरलावस्था और संहतावस्था। इन दोनो मे विरल अवस्था से ये पाचो अग्नि आकाश मे भिन्न-भिन्न पाचो स्थानो मे व्याप्त रहते है अर्थात् तीनो लोक और दो सन्धि इनमे वायु रूप से फैले हुए हैं, उनका सग्रह करना कठिन है। इसलिये इस पृथ्वी पर उन पाचो अग्नियो के सम्बन्ध से जो भिन्न पदार्थ उत्पन्न हुए हैं उनको अग्नि मे डालकर विशकलन (भिन्न करना=Analyis) करके उन अग्नियो का ग्रहण करना ही सम्भव है।

परीक्षा करके देखने से सिद्ध हुआ है कि पार्थिव अग्नि के सम्बन्ध से ९८ प्रकार के पदार्थ सिद्ध होते है। अर्थात् इन ९८ जैसे—डाम, ढेला, पुष्करपर्ण, रुक्म, मोरिडा, दूव, काछना इत्यादि द्रव्यो के विशकलन से पार्थिव अग्नि के भिन्न-भिन्न सब विकार नष्ट होकर उन सब विकारो की शक्तियो का सकलन (इकठ्ठा) करना है पृथ्वी मे यद्यपि पार्थिव अग्नि के बने हुए अनन्त द्रव्य हैं किन्तु उनमें से एक-एक जाति लेने पर कुल ९८ द्रव्यो के द्वारा पार्थिव अग्नि की सब वैकारिक शक्तिया सकलित (जमा) हो जाती हैं। उन सब द्रव्यो का चयन करना कुल पार्थिव अग्नि का आधान करना यही प्रथम चयन कहलाता है।

पृथ्वी और अन्तरिक्ष की सन्धिगत अग्नि के कुल विकार पृथ्वी मे ४१ हैं, इसलिये ४१ जाति के द्रव्यो के आधान (रखने) करने मे सन्धिगत अग्नि का चयन सिद्ध होता है, यह दूसरा चयन है।

इसी प्रकार अन्तरिक्ष की अग्नि के कुल ७१ विकार हैं जिनके आधार से तीसरा चयन होता है।

अन्तरिक्ष द्यौलोक के सन्धिगत अग्नि के विकार ४७ है जिनके आधान से चतुर्थ चयन सिद्ध होता है

सूर्याग्नि के कुल विकार १३८ है जिनके आधार से पञ्चमचिति सिद्ध होती हैं।

इस प्रकार इन पाच चितियो मे कुल ३९५ यजुष्मति 'इष्ट का' उपधन (स्थापन) होता है। तात्पर्य यह है कि चिति अर्थात् चयन इष्टकाओ से ही होता है। ये इष्टकायें दो प्रकार की होती है—१ लोकपृणा अर्थात् मिटट्ी पानी का ईंट २—कल्पित ईट जिसे यजुष्मती कहते हैं। इनमे प्रथम यजुष्मती नाम की ईटो को अर्थात् जो भिन्न-भिन्न द्रव्यरूप है उनका उपधान करके उनके ऊपर लोकपृणाओं का उपधान किया जाता है जिससे पृथ्वी से लेकर सूर्य तक की पाच प्रकार की अग्नियो का चयन होने से इन पाचो का रूप नष्ट होकर एक ही प्रकार का विलक्षण अग्नि सिद्ध हो जाता। जिससे वैश्वानर अग्नि या पार्थिव अग्नि और सूर्याग्नि आदि अग्नियो का भेद भाव नष्ट हो जाता है और देवयात्मा के स्थान मे एक विलक्षण अग्नि उत्पन्न होकर आत्मा वन जाता है। वह अग्निरूपी आत्मा पार्थिव न होने से पृथ्वी पर लौटकर नही आती और सूर्याग्नि न होने से दैवलोक सवत्सर मे भी नहीं रह सकती। इसलिये

पृथ्वी पर शरीर का सम्बन्ध छूटते ही आत्मा का उत्क्रमण होकर सूर्य के नाकलोक से भी परे स्कम्भ मे जाता है। वहा पहले विद्युत् फिर वरुण फिर इन्द्र फिर प्रजापति और अन्त मे ब्रह्म ये जो सब कामप्रलोकों के भेद हैं, उनमे यथेच्छ विहार करता हुआ परमानन्द को प्राप्त होता है यही चयनयज्ञ से मुक्ति की प्राप्ति है।
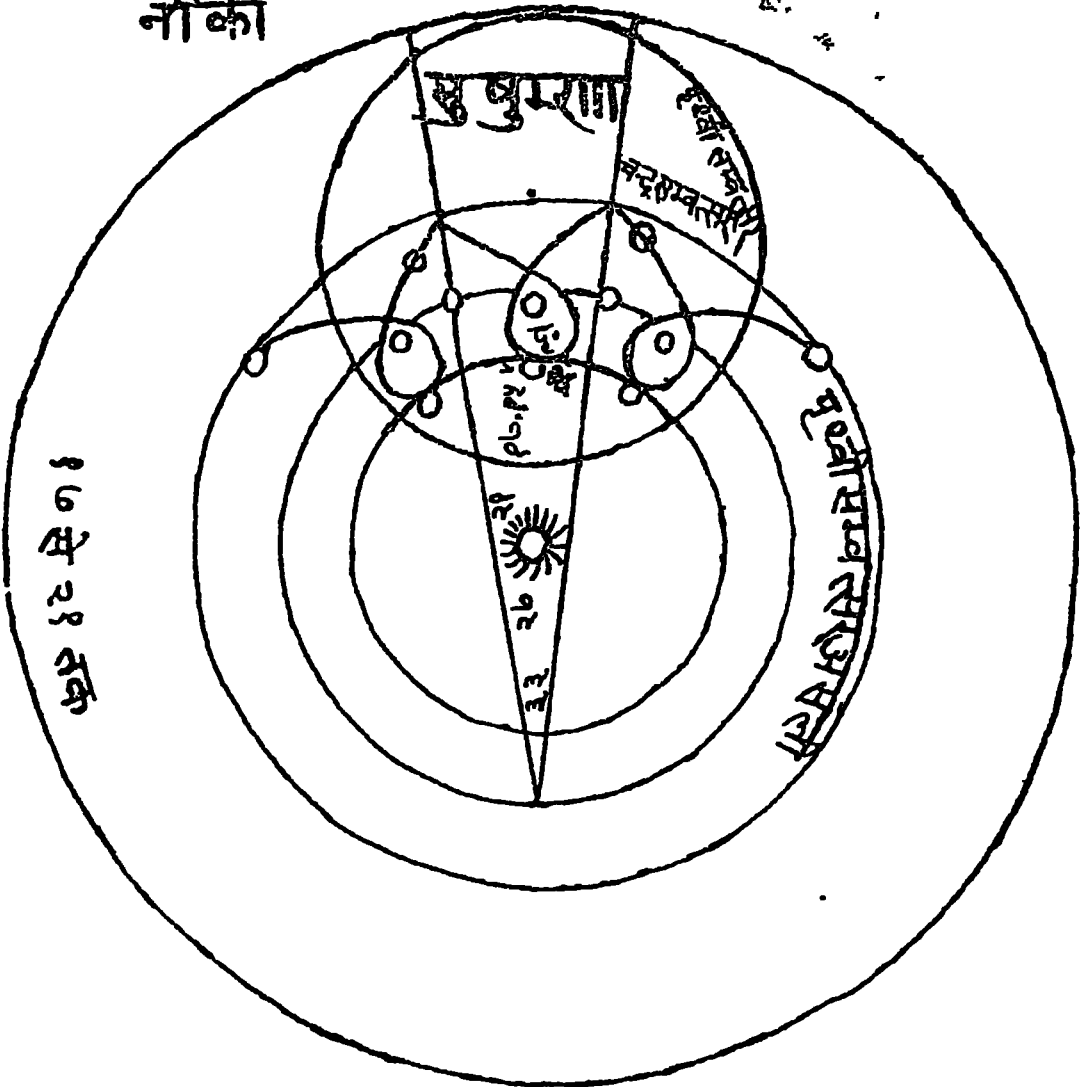
जो कि पृथ्वी पर देवयजन अर्थात् यज्ञ करने के लिये कल्पित भूमि में एष्टिक वेदी या महावेदी नियत की जाती है, उस पर इष्ट या सोमयज्ञ करने से जिस प्रकार यजमान के शरीर की आध्यात्मिक वेदी में संस्कार का प्रभाव पडता है, अथवा जिस प्रकार त्रैलोक्य रूपी आधिदैविक महावेदी में सोम आदि की आहुति होकर सूर्य के समीप दैवआत्मा बनता है वह इस पृथ्वी पर यज्ञ करने से इतनी दूर आकाश मे सूर्य के पास उसका कैसे और कैसा प्रभाव पडा यह सब सिद्धान्त जानने के योग्य होने पर भी अधिक विस्तृत और अधिक गम्भीर विषय होने के कारण यहा पर गति के प्रसङ्ग मे उसका उल्लेख करना अप्रासङ्गिक होगा अतएव ये विषय यज्ञमधुसूदन ग्रन्थ के आध्यात्मिक और आधिदैविक अध्यायो में देखना चाहिये वहा विस्तार से वर्णन है।

गति दो प्रकार की हैं—पितृयान, देवयान। इनमे पितृयान दो प्रकार का है– नारकी गति और पितृस्वर्ग। देवयान दो प्रकार का है–देवपथ और ब्रह्मपथ। देवपथ दो प्रकार का है–निरग्नियों के लिये सुषुम्णा मार्ग है और साग्निक अर्थात् याज्ञिको के लिये यज्ञ मार्ग अर्थात् सुतर्मा मार्ग है। ब्रह्मपथ भी दो प्रकार का है—अग्नि चयन याज्ञिको के लिये अग्नि मार्ग है यह कर्म मार्ग है, किन्तु आत्मज्ञानियों के लिये विद्या मार्ग है। दोनो देवपथो से स्वर्ग लोक और दोनो ब्रह्मपथो से मुक्तिलोक होता है। इस प्रकार दो देवपथ दो ब्रह्मपथ इन चारो को देवयान मार्ग कहते हैं। चार देवयान और दो पितृयान इस प्रकार गति छ प्रकार की हुई।

इन छओ के अतिरिक्त दो अगति हैं—जिनमे कितने ही महापापो से ऊर्ध्वगति और अधोगति कुछ न होकर दुर्गति होती है। अर्थात् पृथ्वी के भू वायु मे ही विचरता है, यह अगति निकृष्ट पक्ष की है किन्तु जिसकी आत्मा से क्लेश, कर्म, विपाक इन सबके आशय और नि.शेष कश्मल दूर होने पर जब कि आत्मा सर्वथा विशुद्ध हो जाता है तो उसके पुनर्जन्म के लिये कर्म शेष न रहने मे वह आत्मा मुक्त हो जाता है। किन्तु आत्मज्ञान होने पर भी अन्य सब कर्मो के नाश होने पर भी ज्ञान से प्रारब्ध कर्म का नाश नही होता, किन्तु भोगने से ही नाश होता है। इसलिये मुक्ति होने पर भी प्रारब्ध कर्म भोगने के लिये शरीर या जीवन बना रहता है। ऐसी ही आत्मा को जीवनमुक्त कहते हैं उसकी मृत्यु से शरीर छूटते ही वह आत्मा व्यापक परमब्रह्म मे लीन होकर एक हो जाती है। जैसे घट फूटने पर घटाकाश भी महाकाश हो जाता है। उसी प्रकार यह आत्मा उपाधि रहित होने के कारण शरीर छूटते ही ब्रह्म हो जाता है, इसी को समवलय मुक्ति कहते हैं। उसके प्राण ऊपर नीचे कही भी नही जाते, इसलिये अगति होने पर भी इसको परमगति या अतिगति कहते है। इस प्रकार इन दोनो अगतियो के मिलने से गति मूल ८ प्रकार की सिद्ध होती है—

दक्षिणमार्ग

१–पितृयान—

१–स्वर्ग=(पितृस्वर्ग) १

२–नरक २

उत्तरमार्ग

२–देवयान–

१–देवपथ—

१–सुषुम्णामार्ग ३=देव स्वर्गमार्ग ।

२–सुतर्मामार्ग ४= ,,

२–ब्रह्मपथ—

१–चितिमार्ग ५=मुक्तिमार्ग ।

२–विद्यामार्ग ६= ,,

३–अगति–

१–दुर्गति ७

२–परमगति ८

(समवलय.)

पितृयान में पृथ्वी से चन्द्रमा तक नारकीय गति के लिये धूममार्ग नियत है। अर्थात् शरीर में हृदय से नीचे वाली हितानाड़ी के द्वारा प्राण निकलकर धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष होता हुआ चन्द्रमा के काले भाग मे दक्षिण की ओर शनि तक जाकर उससे परे लोकालोक तक जा सकता है। इस प्रकार नारकीय गति मे गति की ४ भूमिका है।

१–हृदय से नाभि तक। २–नाभि से चन्द्रमा के कृष्ण भाग तक। ३–चन्द्रमा के कृष्णभाग से शनि तक। ४–शनि से लोकालोक तक। यह चौथी भूमिका ही नरकलोक है–जिसके सात भेद पहले कहे जा चुके हैं, उन सातो का अधिष्ठाता यम है। यह यम घोर अग्नि है जो सोम की अग्नि में आहुति का विच्छेद (अलग) करता है। अमृत सोम के न मिलने से हमारा वैश्वानर अग्नि बुभुक्षित (भूखा) होकर सोमरूपी अन्न न पाने से दुःखी रहता है यह निकृष्ट गति कहलाती है।

किन्तु पितृस्वर्ग जो पितृया न की दूसरी शाखा है उसमे भी ऊपर की तीन भूमिका समान है। किन्तु चौथी भूमिका नही होती किन्तु समान होने पर भी सर्वथा समानता नही है। पितृस्वर्ग जाने वालों की नाड़ी सीधी नीचे न जाकर दक्षिण उत्तर पार्श्व मे तिर्यक् जाती है। दूसरी भूमिका भी सूर्य के प्रकाश मे न जाकर चन्द्रमा के मन्द प्रकाश मे होकर चन्द्रमा मे जाती है और चन्द्रमा से शनि तक जो वास्तव मे पितृलोक है वह भी चन्द्रमा का अथवा और किसी पिण्ड का प्रकाश भाग है। यह पितृलोक तीन प्रकार का है। उदन्वती (जलवाली) २–पीलुमती (औषधि अर्थात् शुष्क सोमवाली) ३–प्रद्यौ (प्रकाशवाली) यद्यपि इन पितृस्वर्गों का भी अधिष्ठाता यम है तथापि सोम की अधिकता होने के कारण यहां का यम (धर्मराज) दु.खदाई नही है। इस प्रकार यम की अध्यक्षता मे नरक और दक्ष पितृस्वर्ग ये दोनो पितृयान अर्थात् दक्षिण मार्ग के लोक सिद्ध होते हैं।

अब देवयान जो ४ प्रकार के हैं उनका रुख पितृयान से सर्वथा विरुद्ध है अर्थात् पितृयान दक्षिण-मार्ग है। जो पृथ्वी से लोकालोक की ओर जाता है। किन्तु देवयान के ४ मार्ग पृथ्वी से सूर्य की ओर
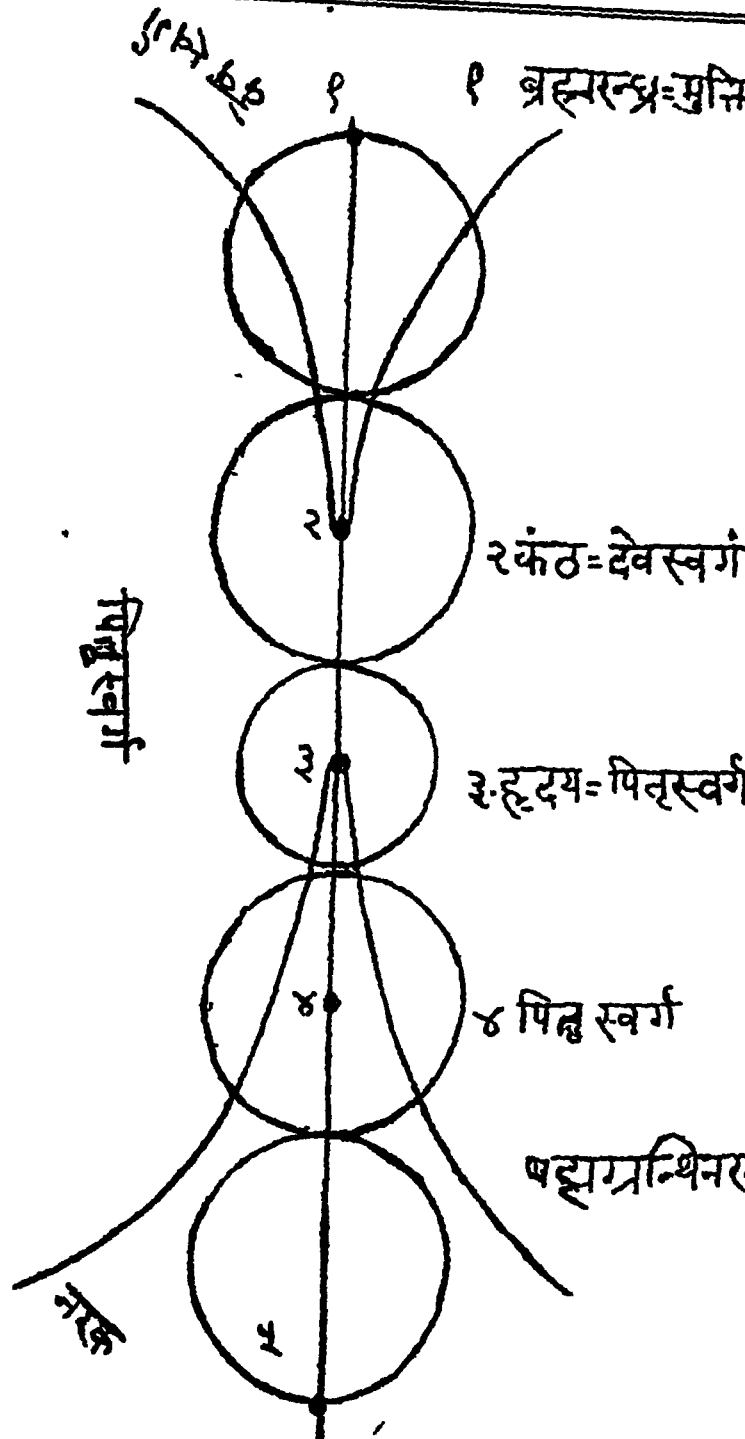
१ ब्रह्मरन्ध्र=मुक्ति

२ कंठ=देवस्वर्ग

३ हृदय=पितृस्वर्ग

४ पितृ स्वर्ग

ब्रह्मग्रन्थिनर

पितृस्वर्ग

नरक

१

२

३

४

५

जाते हैं। इस प्रकार रुख एक होने पर भी देवयान के चारो मार्ग हृदय से ही भिन्न भिन्न अपना रुख रखते हैं। हृदय से सीधे ब्रह्मरन्ध्र की ओर जो एक नाड़ी गई है वही ब्रह्मपथ के विद्यामार्ग का प्रथम पर्व है। ब्रह्मरन्ध्र से अर्चि, अहः, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, पूर्ण सम्वत्सर इन सबका असङ्ग रूप से स्पर्श करता हुआ चन्द्रमा मे होकर एकदम एक निमिपकाल के भी अत्यन्त सूक्ष्मकाल मे सूर्य मे जाता है। किन्तु चिति मार्ग वाले ब्रह्मपथ मे अर्चि आदि सब स्थानो मे कुछ विहार करता हुआ विलम्ब से सूर्य मे जाता है। शरीर में उसके ब्रह्मरन्ध्र वाली मुख्य नाड़ी न होकर मस्तक की ओर जाने वाली और नाडिया हैं। इसलिये हृदय से मस्तक तक प्रथम पर्व, मस्तक से चन्द्रमा तक दूसरा पर्व, चन्द्रमा से सूर्य की आहव-नीया यतन अर्थात् २१ वें स्तोम तक तीसरा पर्व और एकविंश से ३३ वें स्तोम तक काम प्रलोक है, यह चौथा पर्व है। यही चौथा पर्व इस चितिमार्ग का वास्तविक गन्तव्य लोक है। इस प्रकार ब्रह्मपथ दोनो दिखाये गये अब इनसे नीचे दो देवपथ हैं। इनमे यज्ञमार्ग की भूमिका तीन है—हृदय से चक्षु तक, चक्षु से चन्द्रमा तक, चन्द्रमा से एकविंस्तोम तक। इस मार्ग मे तीसरा पर्व ही गन्तव्य लोक है, यह मार्ग यहाँ ही पूर्ण होता है। एकविंशस्तोम से आगे नही जाता और निरग्निको के पुण्यमार्ग की भी तीन ही भूमिका हो सकती है हृदय से ऊपर की नाडी और वहा से चन्द्रमा तक दूसरा पर्व और चन्द्रमा से पूर्ण सम्वत्सर तक तीसरा पर्व। इस प्रकार कुछ कुछ भेद रखते हुए चारो देवयानो की मार्ग प्रणाली सूर्य की ओर ही जाती हुई सिद्ध होती है। पृथ्वी से सूर्य की ओर जाते हुए देवयानमार्ग का अनुक्रम सूर्य के आगे बदल जाता है। अर्थात् सूर्य से ध्रुव की ओर जाकर काम प्रलोक मे जाता है। इस प्रकार चारो देवयान मार्गों के हृदय से गन्तव्य स्थान तक भिन्न-भिन्न चार शाखा जाननी चाहिये।

अगति मे नरक गति के अनुसार प्राणोत्क्रमण हृदय से नीचे वाली नाडियो से होकर प्रथम पर्व पूरा करता है और शरीर से भूवायु के १२ योजन ऊपर तक दूसरा पर्व पूरा करता है, यही दूसरा पर्व उसका गन्तव्यस्थान है। वह आत्मा भूवायु मे ही इतस्ततः चक्कर लगाया करता है। अब सबसे उत्तम परमगति अर्थात् समवलय गति मे मार्ग के एक भी पर्व नही है और न कोई मार्ग है और न मार्ग मे गति है। जहा आत्मा इस समय विद्यमान है वहा पर ही जो प्रथम परिच्छिन्न होकर हृदय मे रहने वाला कहा जाता था, वही अपने हृदय की सीमा या शरीर की सीमा या अविद्या कर्मो का आवरण इत्यादि सभी परिच्छेदो को निर्मूल तोडकर कही भी गति न करके अपने स्थान पर ही व्यापक चिदात्मारूप हो जाता है। जो पूर्व मे हृदय मात्र व्यापी था वही अब असीम होकर सर्व जगत् व्यापी हो जाता है यही आठो गतियो का सार है।

तप

मुक्तिया पाच प्रकार की हैं—१—प्राकाम्य, २—सम्पत्तिकैवल्य (कार्य का अपने रूप मे आना) ३—अपवर्गकैवल्य, ४—निर्वाण (ब्रह्मनिर्वाण), ५—समवलय।

(१—प्राकाम्य)

प्राकाम्यमुक्ति मे कामनायें होकर पूरी होती रहती हैं और सूर्य से आरम्भ करके विद्युत, ब्रह्मण-स्पति, वरुण, इन्द्र और सच्चिदानन्द (प्रजापति) तक सब "कामप्रलोक" कहलाते हैं। इनमें जाकर वहा

के भोगो को प्राप्त करना ही प्राकाम्यमुक्ति है। इस मुक्ति मे लोको की स्थिति पिण्डमय है। पृथ्वी चन्द्र के अनुसार सूर्य, वरुण आदि लोक भी पिण्डरूप हैं। उनमे भी सुख दुःख भोगने पडते हैं और भोगने वाली आत्मा मे जिस प्रकार यहा पुद्गल (शरीर) का सम्बन्ध है, उसी प्रकार वहा भी है। विशेषता यह है कि पृथ्वी का रस नही रहता और पृथ्वी पर किये हुए कर्मों के बन्धन नष्ट हो जाते हैं किन्तु उस आत्मा का शरीर परिच्छिन्न बना रहता है, हृदय और इन्द्रिया बनी रहती है, सुख दुःख की वासनायें बनी रहती है और स्वाभाविक कर्मों की स्थिति बनी रहती हैं। इतना होने पर भी उसको मुक्ति इसलिये कहते हैं कि सूर्य के स्कम्भ मे जाने पर पृथ्वी का रस आत्मा मे शेष नही रहता। इसलिये कामप्रलोक में गयी हुई आत्मा लौटकर पुनर्वार पृथ्वी मे नही आती।

यहा प्रश्न होता है कि—आत्मा की दो अवस्थायें हैं भुक्ति और मुक्ति—भुक्ति मे आत्मा अपने बाहर से आये हुए धर्मो के प्रभाव से जो कुछ परिवर्तन होता है उसको अपने मे अनुकूल या प्रतिकूल रूप से अनुभव करती है। इसी अनुभव करने को भोग या भुक्ति कहते है। किन्तु मुक्ति मे इसके विपरीत होता है अर्थात् बाहर से किसी धर्म को अपने मे न लेकर अपने धर्म को भी छोडता है। धर्म का सम्बन्ध या अन्तरङ्ग या बहिरङ्ग जितने धर्म आत्मा मे सलग्न (आसक्त) हो गये हो उनके छोडने को ही मोक्ष या मुक्ति कहते हैं ऐसी स्थिति मे प्राकाम्य मुक्त को मुक्ति नही कहना चाहिये।

उत्तर यह है कि प्राकाम्य मुक्ति मे यद्यपि सभी अन्तरङ्ग बहिरङ्ग कर्म और उनकी वासनाओं का निर्मूलत्याग नही है, न अविद्या का त्याग है। तथापि पृथ्वीलोक मे किए हुए कर्मों का संस्कार निर्मूल नष्ट हो जाता है, इसलिए मुक्ति कह सकते है। केवल इसमे विशेता यह है कि इस मुक्ति मे सुख की भुक्ति भी सयुक्त है, और कामप्रलोक से नीचे के सब लोको मे जितनी भुक्तिया होती है वे देश और काल से परिच्छिन्न होने से सान्त है अर्थात् मात्रा परिच्छिन्न है और कभी न कभी समाप्त हो जाती हैं। परन्तु काम प्रलोक की भुक्ति नियमानुसार न होकर यथेच्छ होती हे और अनन्त काल तक रहती है इसी से इस भुक्ति को मुक्ति कहते है।

यज्ञ, तप, दान इन तीनो से ये दोनो अवस्थायें उत्पन्न हुआ करती है, अर्थात् उन तीनों से ही भुक्ति और मुक्ति दोनो हुआ करती हैं। किन्तु भुक्ति और मुक्ति के लिये वे तीनो भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं अर्थात् जिन यज्ञो से भुक्ति होती है उनसे मुक्ति नही और मुक्ति देने वाले यज्ञ से भुक्ति नहीं। यह कामप्रलोक की मुक्ति जिसे प्राकाम्य मुक्ति कहते हैं, वह चयनयज्ञ से ही होती है और किसी यज्ञ से नहीं। इस प्रकार यज्ञ से होने वाली भुक्ति या मुक्ति कही गई है।

अब तप के द्वारा भुक्ति या मुक्ति जिस प्रकार होती है वह कही जाती है। तप का अर्थ शरीर-अग्नि से वैश्वानरअग्नि के मूल कारण गार्हपत्य और आहवनीय अग्नि से तात्पर्य है अर्थात् शरीर अग्नि का क्षोभ है। पूर्व प्रकरण मे कहा जा चुका है कि आत्मा के तीन अवयव है। मन, प्राण, वाक् इनमें मन के क्षोभ को इच्छा, प्राण के क्षोभ को तप और वाक् के क्षोभ को श्रम कहते हैं। इनमें प्राण के क्षोभ से तात्पर्य यह है कि शरीर मे जो स्थिर आत्मा है उसकी गति उत्पन्न होकर शरीर से निकल जाना और उसके स्थान पर किसी विशिष्ट प्राण का समावेश होना इसे ही तप कहते हैं। तप में प्राण का व्यय

अवश्य होता है। किन्तु यह प्राण का व्यय तीन प्रकार से होता है, इसीलिए तप भी तीन ही प्रकार का है। कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग। इनमे कर्मयोग से अभ्युदय अर्थात् स्वर्ग मुक्ति और भक्ति योग से अवरमुक्ति और ज्ञानयोग मे परामुक्ति, इस प्रकार यज्ञ के अनुसार तप से मुक्ति और मुक्ति ये दोनो अवस्थायें आत्मा की होती हैं। विशेषता यह है कि यज्ञ से स्वर्गमुक्ति ही हुआ करती है, नरकमुक्ति नही होती। किन्तु तप मे कर्म के दोष से कभी-कभी आत्मा का पतन भी हो जाता है। तात्पर्य यह है कि कर्म दो प्रकार का है शुभ और अशुभ-यद्यपि विज्ञान मे शुभ अशुभ कोई शब्द नही है, सब कर्मों को शुभ या अशुभ कह सकते हैं, तथापि आपेक्षिक भावनाओ को लेकर इन दोनो शब्दो का व्यवहार होता हैं। हम आगे चलकर भूतआत्मा के स्वरूप का वर्णन करेंगे, उसमे पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य आदि कितने ही आकाश मे दीखते हुए पिण्डो के भिन्न-भिन्न प्रकार के रस न्यूनाधिक रूप से इस आत्मा मे प्रवेश निर्गम करते हैं। उन रसो मे परस्पर विरोधी भी है और मैत्री भी है, इसलिए जो रस सूर्य रस के विरोधी है उनको अशुभ और जो सूर्य रस के मित्र हैं उनको शुभ कहते है। इस प्रकार के रस जिन-जिन कर्मों से आत्मा मे आते हैं उनको भी शुभ अशुभ कहते हैं। इनमे सूर्य रस के मित्र रसो को शुभ और विरोधी को अशुभ इसलिये कहते हैं कि हमारी आत्मा मे सूर्य रस की वृद्धि से आत्मा सूर्य की ओर जाती है, किन्तु उसके विरोधी रस आने से सूर्य के विरुद्ध दक्षिण दिशा मे आत्मा जाती है। यद्यपि आत्मा मे दोनो प्रकार के रस आये हैं, तथापि जिन रसो की अधिकता होती है उधर ही आत्मा का झुकाव हो जाता है। परन्तु मेरी आत्मा का मूल भाग सूर्य के रस से उत्पन्न है। इसलिए सूर्य की ओर जाने से उसे अधिक आनन्द मिलता है इसी से उसे शुभ कहते है और सूर्य के विरुद्ध दिशा मे जाने से अन्धकार के कारण दुःख होता है इसलिए उसको अशुभ कहते हैं। यही शुभ अशुभ की परिभाषा है। अशुभ कर्मों को × प्रत्यवाय या पतनीय पातक कहते हैं और शुभ कर्मों को * अभ्युदय या पुण्य कहते हैं।

यदि आत्मा कर्मयोग करता हुआ प्रज्ञापराध से प्रत्यवाय कर्मों से योग करें तो आत्मा बन्धन मे आ जाता है तो उससे उसका पतन होता है किन्तु शुभ कर्मों के योग से अभ्युदय या स्वर्ग होता है परन्तु यज्ञ मे अनिष्ट या पतन नही होता। यद्यपि यहा प्रश्न होता है कि यज्ञ भी एक प्रकार का कर्म है और कर्म शुभ, अशुभ दोनो होते हैं। तो सम्भव है कि किसी अशुभ यज्ञ से प्रत्यवाय हो जैसा + अभिचारिकश्येन यज्ञ मे प्रत्यवाय होना साख्यवालो ने माना है और यज्ञ के विधान ठीक न होने से भी अनिष्ट होने की विधि ठीक न होने से यज्ञ निष्फल जाता है, किन्तु कोई अनिष्ट नही होना है और अभिचारक

× प्रत्यवाय=प्रति,	अव,	अय	}
	पीछे	नीचे	जाना
* अभ्युदय=अभि,	उत्,	अय।	}
	सामने	ऊपर	जाना

+ अभिचार= (दूसरे का नुकसान)

श्येनयज्ञ यद्यपि पाप कर्म अवश्य है तथापि उससे आत्मा का बन्धन नही होता। यह भी [illegible] परीक्षा करके प्राचीन आचार्यों ने ऐसा ही माना है, जैसा कि भगवान् ने गीता मे कहा है—

"यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोयं कर्म बन्धनः"

अर्थात् यज्ञ के कर्मों से अन्यत्र (और कर्मों मे) कर्म का बन्धन आत्मा मे होता है, यज्ञ मे नही। इसी से यज्ञ वेद मे श्रेष्ठ कर्म और तप को द्वितीय कक्षा का कर्म कहा है।

पाच प्रकार की मुक्तियो मे से चयन यज्ञ के द्वारा सिद्ध होने वाली मुक्ति तो एक ही है जिसे प्राकाम्य मुक्ति कहते है। इस मुक्ति मे चार मुक्ति सम्मिलित हैं। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। चयनयज्ञ की न्यूनाधिकता से अर्थात् सप्तविध चिति या एक शतविध चिति इत्यादि क्रम से न्यूनाधिकता के कारण वे सब भिन्न २ मुक्तियां होती हैं। किन्तु ये ही मुक्तिया तप से भी हो सकती हैं। तप तीन प्रकार का कहा गया है। कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग।

(१—कर्मयोग, २—भक्तियोग)

इनमे कर्म होने से केवल भुक्ति ही होती हैं मुक्ति नही होती। किन्तु भुक्ति दो प्रकार की है—स्वर्ग अर्थात् सुख भुक्ति और नरक अर्थात् दुःख भुक्ति। इसके पश्चात् भक्तियोग का कर्म है यह भी एक प्रकार का कर्मयोग है परन्तु उसमे ज्ञानयोग मिश्रित है। भक्तियोग का मुख्यतः तात्पर्य यह है कि यह जीवआत्मा ईश्वर का एक अङ्ग है, ईश्वर जो बहुत ही विस्तृत आकाश मे व्याप्त होकर विराजमान है उसी के प्रत्यङ्ग भाग से क्षुद्र दो आत्मायें उत्पन्न होकर पृथक् शरीर धारण करती है, किन्तु उनकी स्थिति ईश्वर की नासिका, कर्ण, चक्षु, हस्त, पाद आदि अङ्गो के अनुसार न होकर भ्रूण आदि कीटों के अनुसार होती है। इसलिये जीवो के जन्म मृत्यु, रोग शोक आदि विकार होने के कारण भी ईश्वर के शरीर मे किसी प्रकार का विकार नही होता, तो ऐसी स्थिति मे कहना होगा कि ईश्वर के शरीर मे जीवआत्मा की स्थिति के लिये कोई स्थान विशेष नही है, क्योंकि जीवआत्मा ईश्वर से उत्पन्न होने पर भी रस, रूप न होकर कीट (जन्तु) रूप है, नियत रूप न होकर आगन्तुक विकार है। इसलिये ईश्वर के शरीर मे रहने पर भी ईश्वर के शरीर के साथ सम्बन्ध रखते हुए भी उसका विशेष सम्बन्ध नही है। विशेष सम्बन्ध न होने के कारण ही इस जीव आत्मा मे अविद्या, क्लेश, राग, द्वेष, पाप, पुण्य आदि कर्म, सुख दुःख आदि भोग इत्यादि नाना दोष उत्पन्न हो जाते है। ये सब दोष ईश्वर की आत्मा मे कदापि नही है इसलिये जीव-आत्मा को उचित है, कि इन दोषो को अपने मे उत्पन्न न होने दे। इसका मुख्य उपाय यह ही है कि यह जीव अपने को मलरूप न होकर अपने को रस रूप बनावें, इसका भी उपाय ईश्वर शरीर के साथ विशेष सम्बन्ध नियत करना। वह सम्बन्ध आगन्तुक रूप न होकर नित्यरूप से ईश्वर का अङ्ग बनना है। यह सम्बन्ध ईश्वर मे मनोयोग से सम्भव है, किन्तु ईश्वर का शरीर बहुत विस्तृत और जीव का शरीर अति क्षुद्र होने के कारण सर्वात्मना व्याप्ति नही हो सकती। इसलिये ईश्वर के शरीर मे किसी न किसी [illegible] प्रत्यङ्ग भाग मे हो मनोयोग करके अपने को उस ईश्वर अङ्ग की भक्ति बनाना होगा। इस प्रकार [illegible]

करने मे यह जीवआत्मा ईश्वर के अङ्ग का मुख्य भाग होकर उस ईश्वर शरीर का रस भागी बनता है और पृथक् आत्मा होकर भी ईश्वर का एक अङ्ग आत्मा बन जाता है, जिससे ईश्वर के आठ गुण जो रस रूप मे ईश्वर के शरीर मे व्याप्त हैं, वह इस भक्त जीव आत्मा मे भी सञ्चार करने लगता है। जिससे इस जीवआत्मा की ईश्वर के साथ सायुज्य सिद्ध होती है। जिसको एक प्रकार की मुक्ति कहते हैं, यही मुक्ति इस भक्ति क्रिया का फल है। इस मुक्ति के भी पूर्वरूप से वे ही तीन मुक्तिया सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य सिद्ध होती हैं। इस सायुज्य मुक्ति मे इस जीवआत्मा के स्वर्ग या नरक भोग होने के साधन पुण्य या पाप कर्मों के संस्कार सब मुक्त हो जाते हैं, इसलिये भी उसको मुक्ति कहते हैं जैसा कि उपनिषद् मे कहा है—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्य पापे विधूयनिरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥

अर्थात् जब कि देखनेवाला देखता है सुनहरी रङ्ग को जिसने सम्पूर्ण ससार उत्पन्न किया जो ब्रह्म से उत्पन्न होने वाला ईश्वर है। अथवा जिसकी प्राप्ति से ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है, उसका जब साक्षात्कार करता है तब पुण्य पापो को झाड़कर निर्मल होकर परम समानता को पा जाता है अर्थात् ईश्वर तुल्य हो जाता है।

यद्यपि इस दिशा मे आत्मा अपने पुण्य पापो से मुक्त हो जाता है, तथापि कितने ही प्राकृत कर्मों से मुक्त नही होता, इसलिये इसको कैवल्य मुक्ति नही कहते। इस समय आत्मा मे जो कर्म विद्यमान हैं वे सब इस आत्मा के निज के किये हुए भोग साधन कर्म नही है, किन्तु अनादि वासना से और अनादि काल से इस आत्मा मे ससृष्ट हैं जो अपने आप इस आत्मा मे लिङ्ग शरीर रूप से संयुक्त हैं, वह कैवल्यमुक्ति बिना मुक्त नही होता। इस कर्म के योग से यह आत्मा नाना कामनाओ को इच्छानुसार भोगता है अर्थात् सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य की कक्षा तक न्यूनातिशय का भाव बना रहता है इसलिये उन तीनो मे लोको नियत है और कामनाओ की पूर्ति की भी सीमा नियत है। कर्म की शक्ति के अनुसार ही लोको में गति या कामनाओ की सिद्धि होती है। किन्तु सायुज्यमुक्ति होने पर वे सब कक्षायें या सीमायें टूटकर सच्चा प्राकाम्य हो जाता है अर्थात् फिर कामनाओ की अव्याहत (बेरोक) सिद्धिया होती है इसी को उपनिषद् मे कहा है—

ये यं लोकं मनसा संविभाति, विशुद्ध सत्वः कामयते यांश्च कामान् ।
तं तं लोकं जायते तांश्च कामान्, तस्मात् आत्मज्ञं ह्यर्चयेत भूतिकामः ॥

अर्थात् जिन-जिन लोको को मनसे खयाल करता है और रजोगुण, तमोगुण के न रहने से केवल सत्वगुण वाला वह आत्मा जिन-जिन कामनाओ को चाहता है उस-उस लोक मे और उन कामनाओ को प्राप्त करता है। इसलिये आत्मज्ञान की अर्चा (पूजा) करनी चाहिये यदि अपना अभ्युदय चाहे।

इस प्रकार प्राकाम्य मुक्ति भक्ति योग तप से सिद्ध होती है यद्यपि सुगमता से समझने के लिये कर्म योग, भक्तियोग, ज्ञानयोग इस प्रकार तप के तीन भेद कहे गये हैं, किन्तु वास्तव मे कर्म योग और

ज्ञानयोग ये दो ही तप के भेद जानने चाहिये क्योंकि भक्ति भी ऊँचे दर्जे का एक कर्म ही है। ऐसा हि यज्ञ रूपी कर्म दो प्रकार का है, एक मुक्ति साधन जिसे चयन यज्ञ कहते है और दूसरे कर्म जो मुक्ति साधन न होकर मुक्ति साधन हैं। इसी प्रकार तप मे भी दो विभाग है एक ऐसा कर्म योग जिससे मुक्ति न होकर भुक्ति होती है उसे कर्म योग कहते हैं, किन्तु जिस कर्म से मुक्ति सिद्ध होती है उसे भक्ति योग कहते हैं। मुक्ति होने के कारण ही इस भक्ति को कर्म से पृथक् माना है।

(३—ज्ञानयोग)

अब तप का तीसरा भेद ज्ञानयोग कहा जाता है, यह प्रथम कहा जा चुका है कि आत्मा स्वयं विद्या रूप है। उसमे स्वय उत्पन्न हुए बलकी चिति से अविद्या क्लेश, कर्म आदि कषाय उत्पन्न होते हैं, इन्ही के आवरण को कर्म कहते हैं। इस कर्म के द्वारा मुक्ति को आत्मा की सिद्धि कही गई है, किन्तु अब विद्या के द्वारा आत्मा की स्थिति कही जाती है, किन्तु विद्या स्वय आत्मा का स्वरूप है उसकी प्राप्ति ही को मुक्ति कहते हैं। इसलिये यह विद्या मुक्ति का द्वार नही हो सकती है, इसलिये गीता में कहा है कि—

"न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते"

अर्थात् बिना कर्म किये आत्मा इन कर्मो से मुक्ति नही पा सकता है।

इसलिये मुक्ति भी कर्म योग से ही सिद्ध होगी। तात्पर्य यह है कि कर्म दो प्रकार का है—एक विद्या रूपी आत्मा का आवरण करने वाला, उसको प्रवृत्तिकर्म कहते हैं और दूसरा कर्म आवरणों को दूर करने वाला होता है। जैसे जल मे निर्मली डालने से जल का मैल दूर होता है, उसी प्रकार जिन कर्मों से विद्या रूपी आत्मा के सब आवरण या सब कर्म दूर हो जावें उस कर्म को ही ज्ञान योग कहते हैं। यह कर्म निवृत्तिकर्म कहलाता है, और ये दो प्रकार का है—१—भूमोदर्क, २—क्षीणोदर्क।

(२—संपत्तिकैवल्य)

(भूमोदर्क मुक्ति)

प्रत्येक प्राणी का शरीर तीन मात्राओ से बना हुआ पाया जाता है। प्रज्ञामात्रा, प्राणमात्रा, भूतमात्रा। हड्डी, मास इत्यादि जो कुछ स्थूल पदार्थ इस शरीर मे दृष्टि गोचर होते है, वे सब भूतमात्रा हैं, इन सबका परस्पर जोडनेवाला या धारण करने वाला सब भूतो मे अदृष्ट रूप से व्याप्त हो रहा प्रतीत होता है वही प्राण मात्रा है। ये दोनो मात्रायें जड और चेतन दोनो मे समान रूप से पायी जाती है, किन्तु जिससे जड की अपेक्षा चेतन मे भिन्नता प्रतीत होती है, जिससे चेतन प्राणी अपने व्यापार का जगत् का अनुभव करता है वही भाग इस शरीर मे प्रज्ञा मात्रा है। ये तीनो मात्रायें जीवित प्राणी में मे नित्य नई उत्पन्न हुई प्रतीत होती हैं, इसमे इन तीनो मात्राओ का आत्मा मे ही उत्पन्न होना पाया जाता है। पहले कहा जा चुका है कि आत्मा के नित्य तीन धर्म हैं मन, प्राण और वाक्—इनमें मन से

प्रज्ञा मात्रा, प्राण से प्राण मात्रा और वाक् से भूतमात्रा उत्पन्न हुआ करती हैं। ये तीनो भी एक ही किसी सूत्र मे बंधे हुए है उसी सूत्र को अव्यय या पर कहते हैं, अथवा यो समझिये कि मन, प्राण, वाक् ये तीनो अक्षर एक ही किसी अव्यय आत्मा के विकास स्वरूप हैं और उन तीनो मन, प्राण, वाक् के विकास स्वरूप ये तीनो मात्रायें हैं। ये प्रत्येक मात्रायें अनन्त रूप होने पर भी स्थूल रूप से प्रत्येक पांच प्रकार के कहे जाते हैं, जिनको पाच ज्ञानेन्द्रिय या पाच कर्मेन्द्रिय या पाच भूत कहते हैं। इनमे यदि भूत का ही विचार करें तो पृथ्वी जल से, जल तेज से, तेज वायु से और वायु आकाश से अर्थात् शब्द घन से उत्पन्न होते हुए दीखते हैं। ऐसी स्थिति मे पृथ्वी से पैदा होते हुए जगत् मे जितने भूत भौतिक सङ्घ (ढेर) हैं उन सबको एक शब्द से मिट्टी कह सकते हैं यह भी विज्ञान का नियम है कि कारण की सत्ता को लेकर कार्य मे सत्ता आती है जैसा कि पगडी की सत्ता कपडे से और उसकी सूत से और सूत की रुई मे और रुई की मिट्टी से सत्ता मिलती है। अथवा यो कहिये कि मिट्टी की सत्ता ही पगड़ी तक जाकर विद्यमान है। इसलिये यदि इस पगडी की मिट्टी नष्ट कर दी जावे तो उसके साथ-साथ ही उसका रुई, सूत, कपडा और पगड़ी सब नष्ट हो जायेंगे। यदि इन सब मे सत्ता जुदी-जुदी होती तो ऐसा नही होता। इसी प्रकार साक्षात् या परम्परा से जितनी वस्तुये मिट्टी से बनी है उन सब की सत्ता मिट्टी की ही सत्ता है इसलिये सब मिट्टी है। इसी प्रकार पानी के विकार सब पानी है, और तेज के विकार सब तेज, वायु के विकार वायु और आकाश के विकार आकाश सिद्ध हुये। इस प्रकार जगत् में कुल पाच ही सत्ता सिद्ध होती है। अब यदि इन पाचो पर विचार करें तो सिद्ध होगा कि मिट्टी पानी से, पानी तेज से, तेज वायु से, वायु आकाश से उत्पन्न है। इसलिये आकाश की सत्ता ही इन पाचो की सत्ता है। इस प्रकार अन्त मे समस्त जगत् की एक ही मूल सत्ता सिद्ध होती है, और इसी सत्ताघन को वाक् कहते हैं। इस प्रकार वाक् सत्ता की शाखा सिद्ध हुई। इसी प्रकार जगत् की कुल चेष्टा या क्रियाओ को लेकर प्राण की शाखा सिद्ध है, तथा समस्त ज्ञान (एकता का ज्ञान) विज्ञान (विविध ज्ञान विभेद) की एकता सिद्ध होने से मन की शाखा सिद्ध होती है। तात्पर्य यह है कि जगत् भर मे तीन ही सत्ता सिद्ध होती हैं, किन्तु जब इन तीनो पर भी विचार करते हैं तो ये तीनो भी किसी एक ही अव्यय तत्व के विकास हैं, इस अन्त मे एक ही आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है। यही "एकता" की विद्या है—इस विद्या पर अभ्यास करने से भिन्न-भिन्न वस्तुयें जो मेरे शरीर मे दीखती है या शरीर से बाहर जगत् मे दृष्टि गोचर होते हैं उन सब की एक ही सत्ता सिद्ध होती हैं। अथवा यो कहिये कि ये सब एक ही आत्मा सिद्ध होते है या आत्मैकत्व विज्ञान ही आत्मज्ञान कहा जाता है। यदि यह गुरु का उपदेश रूप केवल शब्द ज्ञान मात्र ही न रहकर आत्मा मे पूरा निश्चय अनुभव होने लगे तो यह आत्मा अपने कुल परिकर (लवाजमा) परिग्रह वित परिवारो (Family) को आत्मा मे ही परिणत कर लेता है। जिससे भिन्न-भिन्न वस्तुओ का भाव न रहकर केवल एक ही आत्मा परिशेष रह जाता है यही आत्मा का ❀ सम्पत्ति ×कैवल्य है या भूमोदर्क है। इस मुक्ति मे आत्मा का कोई अश छोडा नही जाता प्रत्युत जितने विकार इस समय आत्मा के साथ हैं वे सब ज्यो के त्यो बने रहते हैं। किन्तु उनमे आत्मा से भिन्नता का भाव

❀ कार्यों का कारण रूप मे होना अथवा कामरूप नाश होना।

× सम्पत्ति के द्वारा एकता।

नष्ट होकर सब एक ही आत्मा सम्पन्न हो जाती है और आत्मा का परिणाम जो पहले छोटा [illegible]
गया था वह बहुत विस्तृत होकर सर्व जगत् व्यापक होकर केवल एक ही असीम आत्मा [illegible]
हैं, दूसरे का भाव नष्ट हो जाता है। भय या दुःख दूसरे से होता है जब कि आत्मा ही सब हो गया
तब स्वतन्त्र होकर वह नित्य परमानन्द रूप हो जाता है, यही उसका मुक्तिपना है। अर्थात् [illegible]
मुक्त होना मुक्ति है यही वेद मे लिखा है—

"द्वितीयाद्वैभयं भवति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत् केन कं पश्येत्"

अर्थात् दूसरे से भय होता है जब कि सब आत्मा ही हो गया तब कौन किसको देखें।

(३—अपवर्गकैवल्य)

(२—क्षीणोदर्क मुक्ति)

क्षीणोदर्क—छोटे से छोटा परिणाम है जिसका यज्ञ आत्मा मन, प्राण, वाक् इन तीनो तत्त्वो [illegible]
बना हुआ है। इन तीनो से पृथक्-पृथक् प्रज्ञामात्रा, भूतमात्रायें उत्पन्न होती है। आत्मा [illegible]
इन ही तीनो मात्राओ के समष्टि रूप आवरण को ही शरीर कहते है। यह शरीर उसी आत्मा [illegible]
या विधरण (पकड) से स्थिर रहता है, किन्तु यह शरीर क्षुद्र होने के कारण बाहर वायु, [illegible]
वान अन्नाद् पदार्थ प्रतिक्षण इस शरीर के अंशो को आकृष्ट करते हुए घूमते रहते है, [illegible]
शरीर की प्रत्येक मात्रायें बाहर निकलते रहने के प्रवाह से क्षीण होती रहती है। उनकी [illegible] के
कारण आत्मा बुभुक्षित (भूखा) हो जाता है और उन तीनो के घन जहा कही बाहर मिलते है उनको
आकृष्ट (खीच) करके अपने आहार को ले लेते हैं ये उस कमी को पूरा करते है। इस प्रकार [illegible]
यह आत्मा न खावे तो उसका शरीर स्थिर नही रह सकता।

प्राण की चार जाति हैं—आप्यप्राण, सौम्यप्राण, आग्नेयप्राण और परोरजाप्राण। प्राण [illegible]
अन्नाद (अन्न खाने वाला) कहते हैं किन्तु वह प्राण आत्मा के प्राण भाग मे रहता हुआ मनो भाग और
वाक् भाग मे भी कमी की पूर्ति के लिये प्रवेश करके अन्न खाता रहता है, इसलिये आत्मा तीनो भागो मे
अपने प्राण के द्वारा बाहर से प्रज्ञात्मा, प्राणमात्रा या वाक्मात्राओ को प्रतिक्षण लेता रहता है। प्राण
की चार जातियो मे आप्यप्राण से पृथ्वी बनी हुई है, यह पृथ्वी पिण्ड या पाचो भूत (भौतिक [illegible]) [illegible]
आप्यप्राण है। उसको आत्मा अपने वाक् रूपी मुख के द्वारा पृथ्वी से प्रतिक्षण लेता रहता है, [illegible]
भूतमात्रा की कमी की पूर्ति होती रहती है। इसी प्रकार आत्मा अपने प्राण रूपी मुख [illegible]
चन्द्रमा से और आग्नेयप्राण को सूर्य से लेता हुआ अपनी प्राणमात्रा की कमी को पूरा करता है। [illegible]
अपने मन रूपी मुख से परोरजाप्राण को त्रिलोकी बहिर्भूत ईश्वर चिदात्मा से लेता हुआ अपनी [illegible]—
आत्मा की कमी को पूरा करता है। इस प्रकार यह आत्मा प्रतिक्षण ४ भिन्न-भिन्न [illegible] ४ भिन्न-
भिन्न स्थानो से भोजन करता है जिससे वह क्षीण नही होने पाता, यह लोकस्थिति (जगत् [illegible]) है।

ऐसी स्थिति मे यदि आत्मा अपने इन प्रज्ञामात्रा, प्राणमात्रा, भूतमात्रा इन तीनो [illegible]
जिनसे कि वह बद्ध है या जिससे वह परतन्त्र होकर उन मात्राओ के संयोग से सुख दुःख [illegible] भोग [illegible]

पाना है और इन मात्राओं के संयोग को त्याग करने की इच्छा करें तो तीन काम करने पडेंगें। अनशन-व्रत, अमनस्कयोग और विद्या की प्राप्ति अनशन व्रत से स्थूल शरीर का वल कम हो जाता हैं जिससे पृथ्वी का रस लेने का सामर्थ्य कम हो जाता है। पहले कहा जा चुका है कि प्रत्येक प्राणी सात प्रकार का अन्न खाता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, शब्द, वल, ज्ञान और अनशन व्रत का तात्पर्य इन सातों की न्यूनता करने से है। ज्यो ज्यो इनकी मात्रायें कम होगी उससे आत्मयज्ञ कम होगा। वेद के अनुसार अन्न, ऊर्क, प्राण इन तीनो के अन्योन्य (आपस के) परिग्रह (पकड़) को ही यज्ञ कहते हैं। अन्न से प्रथम ऊर्क होकर वही ऊर्क प्राण वनता है और वह प्राण फिर अन्न का ग्रहण करता है। प्राणरूपी अग्नि में रूपी मोम की आहुति पड़ने से ऊर्क रूपी ज्वाला उत्पन्न होना ही यज्ञ कहने से तात्पर्य है। इन तीनों का यह चक्र (चक्कर-दौरा) उस अनशन क्रिया से वन्द हो जाता है, और प्राण की न्यूनता आ जाती है। प्राण की न्यूनता से वाक् और मन ये दोनो भी न्यून हो जाते हैं, जिससे आत्मा के आवरण के लिये फिर आवरणो का उत्पत्ति क्रम निवृत्त हो जाता है और प्राण की बुभुक्षा भी धीरे-धीरे कम हो जाती है यही एक उपाय है। इस प्रकार स्थूल शरीर की क्षीणता हो जाती है और इस क्षीणता से सूक्ष्म और कारण शरीर में भी क्षीणता आ जाती है। इसके साथ-साथ यदि * अमनस्कयोग (लययोग) किया जाय तो मन का आत्मा मे क्रम-क्रम से लय हो जाता है। मन की प्रेरणा से ही प्राण वाक् से सृष्टि उत्पन्न करता है, अतएव मन के लय होने से प्राण की क्रिया भी वन्द हो जाती है यह दूसरा उपाय है। इससे सूक्ष्म शरीर भी क्षीण हो जाता है। अव कारण शरीर को भी क्षीण करने के लिये तीसरा उपाय विद्या लाभ है। ज्यो-ज्यो आत्मज्ञान की वृद्धि की जाय त्यो-त्यो कर्म का वल आत्मा मे नष्ट होता जाता है और आत्मा शुद्ध ज्ञान स्वरूप होता जाता है। इसका फल यह होता है कि प्राण मृत्युकाल मे जिस प्रकार पार्थिव शरीर को छोडकर उत्क्रमण करता है तो प्रथम चन्द्रमा मे जाकर वहा से भी उसी प्रकार उत्क्रमण करता हुआ श्रद्धामय सौम्य शरीर को भी चन्द्रमा में ही छोड़ जाता है। सूर्य में जाने के पश्चात् विद्या के वल मे वह विद्युत् लोक के लिये उत्क्रमण करता हुआ आग्नेय शरीर को भी वही छोड देता है, जिसमे आप्य प्राण, सौम्य प्राण, आग्नेय प्राण इन तीनो के हटने से प्राणी की आत्मा केवल परोरजा प्राण रूप कही जाती है, यही उसका कैवल्य है। किन्तु इस कैवल्य मे इस परोरजा आत्मा से भूतमात्रा, प्राणमात्रा, प्रज्ञामात्रा इन तीनों मात्राओं की निवृत्ति होकर इन तीनो का उक्थ (जड कारण) मन, प्राण, वाक् भी निवृत्त हो जाते हैं। परोरजा प्राण को चिति कहते हैं, इसलिये उस समय वह आत्मा शुद्ध चिदात्मा हो जाता है और सव उसके आवरण क्षीण हो जाते हैं। इसलिये इस प्रक्रिया को क्षीणोदर्क कहते हैं और इसमें चिदात्मा आवरणो से छूटता है इसलिये इस चिदात्मा के केवल्य को अपवर्ग (छुटकारा) कैवल्य मुक्ति कहते हैं।

इस प्रकार दो कैवल्य मुक्ति कही गई है। ये दोनो ही निवृत्ति पक्ष के तप से सिद्ध होती हैं क्योकि प्राचीन देवताओं के एक मत मे अमृत और मृत्यु इन दोनो से ही सृष्टि मानी गई है। इन दोनों को ब्रह्म कर्म अथवा ज्ञान क्रिया कहते है। इन दो से अतिरिक्त जगत् का कुछ भी रूप नही है, अथवा यो कहिये कि मृत्यु अर्थात् कर्म ही जगत् का रूप है वह "अवार" है। और अमृत अथवा ब्रह्म जगत् का

* अमनस्क=वेमन का

"पार" है । ऐसा होने पर भी ब्रह्म व्यापक होने से अवार मे भी सर्वत्र व्याप्त है, किन्तु [illegible] व्याप्त नही इसलिते अवार मे ब्रह्म वर्जित नही होता, किन्तु पार मे मृत्यु अर्थात् कर्म [illegible] जाती है । यह कर्म दो प्रकार का है–प्रवृत्तिरूप और निवृत्ति । पहला कर्म संसार के लिये और [illegible] कर्म निस्तार के लिये होता है । पहले कर्म मे ब्रह्म से मन, प्राण, वाक् भूत और भौतिक ये पाच [illegible] उत्तरोत्तर कर्म की ग्रन्थि पर ग्रन्थि होने को कहते हैं । यह घोर मार्ग है इसमे ब्रह्म का भाव अर्थात् [illegible] ज्ञान और आनन्द का भाव उत्तरोत्तर घट जाता है और कर्म का भाव अर्थात् इच्छा, क्रिया, [illegible] भाव बढता जाता है इसलिये इसको घोर मार्ग कहते हैं । आत्मा के लिये इस मार्ग मे [illegible] होना भयङ्कर है । किन्तु इसके विरुद्ध निवृत्ति कर्म मे भौतिक भूत, वाक्, प्राण, मन होकर [illegible] होता है अर्थात् एक ग्रन्थि के उघडने से धीरे-धीरे सब ग्रन्थियें खुल कर सब विकार नष्ट हो जाते हैं । जिससे भौतिक, भूत वाक् प्राण, मन ये सब भी असली दशा मे आकर निर्विकार ब्रह्म बन जाते है । [illegible] भूमोदर्क मुक्ति है यह श्रेष्ठ मार्ग है, क्योकि आत्मा के सब रोग नष्ट होकर स्वास्थ्य अर्थात् अपनी [illegible] दशा उत्पन्न होती है । इसी प्रकार ब्रह्म मे कर्म के द्वारा उत्पन्न हुए सब विकारो को अर्थात् मन, प्राण, वाक्, भूत भौतिक को लोह के कीट के अनुसार मल समझकर तपो बल के द्वारा निर्विकार [illegible] परिमार्जित (छूटना) कर दिया जाय । फेन को छोडकर शुद्ध जल के अनुसार शुद्ध आत्मा रूप रह [illegible] से भी कैवल्य मुक्ति होती है परन्तु यह क्षीणोदर्क मुक्ति है और यह भी श्रेयोमार्ग है क्योकि [illegible] अश छूटकर इसमे भी आत्मा शुद्ध सच्चिदानन्द रह जाता है । इसलिये निवृत्ति मार्ग को ही श्रेयो मार्ग कहते हैं, क्योकि ये दोनो कैवल्य मुक्ति निवृत्ति कर्म से ही सिद्ध होती हैं । इन दोनो मे भेद इतना [illegible] कि भूमोदक मे विकारो का कर्म के द्वारा वैकारिक भाव ही निवृत्त होता है किन्तु उसमे बैठा हुआ [illegible] रस निवृत्त न होकर ज्यो का त्यो बना रहता है किन्तु क्षीणोदर्क मे विकारो का विकार भाव नष्ट नही होता किन्तु आत्मा सहित सब निवृत्त हो जाते हैं । किन्तु इतना भेद रहने पर भी निवृत्ति [illegible] दोनो मे विद्यमान है, इसलिये ये दोनो कैवल्य मुक्ति निवृत्ति रूप से ही मानी जाती है ।

(४ निर्वाण)

इन उपरोक्त कैवल्य मुक्तियो मे "श्रमणक" या वैनाशिक विद्वानो का पूर्व पक्ष है । [illegible] कि कैवल्य मुक्ति श्रेयो मार्ग माननानितान्त भूल है, क्योकि कैवल्य मुक्ति से ब्राह्मणो ने परमानन्द प्राप्ति मानी है, परन्तु वह सभव नही क्योकि आनन्द का अनुभव होना बुद्धि की विचार शक्ति से होता है । प्रथम इन्द्रियो के द्वारा आये हुए विषयो की पर्यालोचन (गौर) करके मन उनको बुद्धि मे [illegible] है, बुद्धि उसको आत्मा मे समर्पित करती है, उसी को आत्मा का भोग कहते है, सुख या दुःख ये ही दो भाग हैं तो इससे सिद्ध हुआ कि आनन्द का अनुभव करने के लिये आत्मा के पास बुद्धि मन और इन्द्रियो की भी आवश्यकता है । जड पदार्थो मे आत्मा के रहते भी बुद्धि मन इन्द्रियो के न रहने से जैसे आनन्द का अनुभव नही होता, उसी के सदृश कैवल्य मुक्ति मे भी आत्मा को आनन्द का अनुभव नही हो सकता इसलिये कैवल्य मुक्ति मे आनन्द नही है । दूसरी बात यह है कि कैवल्य को मुक्ति मानना [illegible] क्योकि जिस प्रकार ब्रह्म से मन, प्राण, वाक् आदि की सृष्टि कर्म के द्वारा मानी गई है इसी प्रकार [illegible] का स्वरूप भी कर्म से ही बना हुआ है ब्रह्म से अतिरिक्त विकारो को कर्म से मानना और [illegible]

मानना ऐसा भेद करने मे कोई प्रमाण नही है क्योकि ब्रह्म भी ज्ञान या आनन्द के अतिरिक्त कुछ नही माना गया है वह ज्ञान अवश्य ही क्रिया रूप है। अन्यान्य पदार्थों के अनुसार ज्ञान भी एक पदार्थ है और उनका भी उत्पति, स्थिति और नाश होता है। इसी प्रकार आनन्द का भी उत्पति स्थिति नाश है, और जैसे अन्यान्य पदार्थ परस्पर विभिन्न हैं वैसे ही ज्ञान और आनन्द भी परस्पर भिन्न हैं, तो फिर क्या कारण है कि ब्रह्म को कर्म न माना जाय। बहुत सभव है कि कर्म दो प्रकार का होकर कभी प्रवृत्ति वाक् भी निवृत्ति रूप हो, उसकी निवृत्ति का क्रम भौतिक, भूत, वाक्, प्राण मन पर ही समाप्त न होकर ब्रह्म तक जाता है। ब्रह्म की निवृत्ति पर शेष कुछ नही बचता है, जिस प्रकार केले का थम्भ उधेडने से परिशेष मे कुछ नहीं बचता, छकडे के प्रत्येक अङ्ग उधेड़ने से अन्त मे शकट (छकडे) की आत्मा कुछ नही बचती। दीपक को गुल कर देने पर ज्योति का कुछ भी अश परिशेष नही बचता। ऐसे ही उल्का जलते-जलते नि शेष हो जाती है। उसी प्रकार आत्मा भी एक दीपक है, यह भी निवृत्ति क्रिया के क्रम से अन्त में गुल हो जाता है परिशेष मे कुछ नही बचता इसे ही निर्वाणमुक्ति कहते है। (निर्वाण का अर्थ दीपक का गुल करना है)

यदि कोई प्रश्न करे कि इस मत मे मुक्ति घोर अन्धकार स्वरूप है। इससे मुक्ति के लिये आत्मा का प्रयत्न करना अनुचित होगा क्योकि अपने सर्व नाश का कोई भी विद्वान् अनुमोदन नही कर सकता, तो इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सपूर्ण जगद् दुःख ही दुःख है, सम्पूर्ण दुःख रूप है। आत्मा को उत्पन्न करके उसको चक्र मे डालकर सर्वदा भ्रमण कराते हुए दुःख मय बनाते हैं। उस दुःख से शान्ति तभी सभव है जब कि आत्मा को उत्पन्न करने वाली कर्म ग्रन्थि सर्वथा विलुप्त हो जाय और आत्मा का भी कोई अस्तित्व न रहे। जगद् मे जितने आनन्द अनुभव होते हैं वे सब किसी न किसी दुःख की ही निवृत्ति है। धन, पुत्र आदि के अभाव से जो दुःख हुआ है वह उनके मिलने से नष्ट होकर आनन्द होता है। रोग से जो दुःख हुआ है वह आरोग्य से नष्ट होकर सुख होता है। तात्पर्य यह कि सर्वत्र ही दुःख की मात्रा का नष्ट होना ही सुख की मात्रा है, वास्तव मे सुख कोई वस्तु नही। ऐसी अवस्था मे जबकि सपूर्ण ससार का दुःख हमारा निर्वाण मुक्ति से नष्ट हो जाता है तो उस मुक्ति को हम अवश्य ही परमानन्द रूप श्रेयस्कर मानेंगे, इसलिये निर्वाण मुक्ति के लिये भी प्रवृत्ति करना इस मत मे अच्छा है। इस मत के खण्डन मे ब्राह्मणो का मत यह है कि श्रमणक या वैनाशिको की दो विषयो पर विप्रतिपत्ति (नाइत्तफाकी) है। एक यह है कि आत्मा भी कर्म मय होने से विनश्वर है। दूसरी यह है कि सम्पूर्ण जगद् दुःखमय है जगद् रूप होने से आत्मा भी दुःखमय है इसलिये सब कुछ दुःख ही दुःख है। इस दुःख के क्षणिक अभाव को ही सुखनाम दिया गया है वास्तव मे सुख कहकर कोई वस्तु नही है। इस पर दूसरा सिद्धात मत है कि आत्मा कर्ममय न होकर ज्ञानमय है, और विनश्वर न होकर अविनाशी है जैसा कि ऋषियो ने कहा है—

"अविनाशी वा अरे अयमात्मा अनुच्छित्तिधर्म्मा"

अर्थात् यह आत्मा अविनाशी है और इसका मूल से उच्छेद (उखडना) नही होता।

इसका कारण यह है कि यदि यह कर्ममय होता तो मानो कि जिस समय यह कुछ न था तो एक दम आत्मा की उत्पत्ति की क्रिया का उद्भूत होना असभव होगा। क्रिया जो स्वय असत्रूप है त्रिक्षण

स्थायी है उसकी उत्पत्ति और अनेक क्रियाओ का सन्तान (सिलसिला) और उन [illegible] सन्तान और उन अनेक क्रियाओं का परस्पर सम्बन्ध जो दीखता है वह [illegible] सकता । इसलिये एक एक क्षण मे बदलती हुई अनन्तानन्त क्रियाओ का आधार [illegible] वस्तु अवश्य ही माननी होगी वह क्रिया से भिन्न है । इसलिये क्रिया की अपेक्षा [illegible] क्रिया अनेक हैं वह एक है, क्रिया विनश्वर है वह अविनाशी है, क्रिया मे सत्ता नही [illegible] क्रिया दु खमय हैं वह आनन्द स्वरूप है, क्रिया क्षणिक है वह शाश्वतिक है, वह [illegible] भेदो के कारण जगत् मे स्थिति और परिवर्तन दोनो प्रत्येक वस्तु मे साथ प्रतीत होते हैं । यदि [illegible] भिन्न धर्म वाली कोई वस्तु सर्वथा न होती तो जगत् की प्रत्येक वस्तु मे स्थिति और गति ये [illegible] कदापि प्रतीत न होते इसलिये आत्मा क्रिया से भिन्न होने के कारण अक्रिय ज्ञान रूप है और [illegible] रूप है, इसलिये वह आत्मा आनन्दरूप है ।

इसलिये आत्मा का निर्वाण हो नही सकता । आत्मा परम कल्याण रूप [illegible] भी निर्वाण न होकर केवल उसी अविनाशी आत्मा मे ही लय हो जाता है । लय हो जाने पर [illegible] का केवल एक आत्मा ही शेष रह जाता है, इसलिये उस मुक्ति अवस्था को नैष्कर्म्य या कैवल्य [illegible] से ही व्यवहार करना चाहिए न कि निर्वाणपद से और वह कैवल्य दो ही प्रकार का है, [illegible] और अपवर्ग कैवल्य, इस मुक्ति के निमित्त यज्ञ करना भी आवश्यक है । कैवल्यआत्मा ज्ञानानन्द [illegible] इसलिये इसी एक ब्रह्म मे सब कर्मो का निर्वाण होता है इसलिये इस कैवल्य को ब्रह्म निर्वाण भी [illegible] सकते हैं ।

(५--समवलय)

पहले तप तीन प्रकार से कहा गया है--कर्मयोग से, भक्ति योग से और ज्ञानयोग से । [illegible] योग से नरक और स्वर्ग इन दोनो भोगो के अतिरिक्त अग्निचयन यज्ञ आदि विशिष्ट [illegible] भी मिलती है, इस मुक्ति को प्राकाम्य मुक्ति कहते हैं और भक्तियोग से केवल [illegible] करके मिलती है और किसी प्रकार की मुक्ति इससे नही मिलती, किन्तु तीसरे ज्ञानयोग से [illegible] की मुक्तिया प्राप्त होती है । जिनमे ब्राह्मणो के मतानुसार २ प्रकार की तो कैवल्य मुक्ति [illegible] क्षीणोदर्क और तीसरी समवलय मुक्ति है । श्रमणको के मतानुसार चौथी मुक्ति निर्वाण है [illegible] ४ तरह की मुक्ति सिद्ध है, जिनमे चार का तो वर्णन हो चुका है अब पाचवा [illegible] प्रकार है—

इस शरीराभिमानी प्राण को ही आत्मा कहते हैं । यह आत्मा [illegible] हुआ है । चिदात्मा, विज्ञानआत्मा, महान्आत्मा और भूतात्मा—इनमे [illegible] आत्माओ से है । चिदात्मा और भूतात्मा से क्योकि ऊपर की तीन आत्माये भूतात्मा [illegible] कारण जब भूतात्मा पृथ्वी से सम्बन्ध रखता है, तब तीनो आत्माये पृथ्वी से [illegible] द्वारा पृथ्वी का बन्धन टूटने पर चिदात्मा के ही आकर्षण से उसी की ओर [illegible] आकृष्ट हो जाती है । इनमे भूतात्मा का उन तीनो आत्माओ के स्थान मे [illegible]

किन्तु भूतात्मा महान् के सम्बन्ध से सूर्य में जा सकता है, किन्तु जब तक यह भूतात्मा पृथ्वी का भूतरस, चन्द्रमा का सोमरस और सूर्य का अग्निरस, इन तीनो प्राणो से मुक्त न होवें तब तक यह भूतात्मा चिदात्मा के लोक में नहीं जा सकता। उन तीनो रसो की मुक्ति का प्रतिबन्धक अथवा उन तीनो रसो से बन्धन लगाने वाला अथवा यों कहिये कि भूतात्मा को भूतात्मा बनानेवाला या कायम रखने वाला जो इसमे धर्म है वह "काम" के नाम से कहा जाता है। काममय होना ही इस आत्मा में भूतात्मापना है अथवा यो समझना चाहिए कि चिदात्मा ही असंख्य कामनाओ के आवरण से ढका हुआ होकर भूतात्मा कहलाता है कामनाओ ही के आकर्षण से पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य आदि अनेकानेक लोको की ओर खिचाव होने के कारण यह शुद्ध चिदात्मा के लोक में नहीं जा सकता, इसलिए जब तक यह आत्मा सकाम रहेगा तब तक इसकी परामुक्ति नहीं हो सकती, परन्तु इस कामना की निवृत्ति केवल विद्या से ही हो सकती है। यह विद्या लोकान्तर में आत्मा की गति होने पर धीरे-धीरे कर्म भोगो के द्वारा क्षीण होने पर हो सकती है, अथवा अनेक जन्मो के सदाचार के द्वारा अन्तःकरण धीरे-धीरे शुद्ध होते-होते इस पृथ्वी पर केवल प्रारब्ध कर्म के द्वारा जन्म लेने पर उस कर्म के भोग के अन्त में आत्मा नैष्कर्म्य होकर ज्ञानस्वरूप बन जाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि विद्या की प्राप्ति एकाएक नही हो सकती धीरे-२ कर्मों की निवृत्ति होते-होते किसी समय नैष्कर्म्य प्राप्ति कदाचित् सूर्यादि लोकान्तर में गति होने पर वहां भी हो सकती है और कदाचित् पृथ्वीपर भी हो सकती है। इन दोनो अवस्थाओ मे यदि स्वर्ग भोग के अन्त मे अथवा प्राकाम्य मुक्ति का समय यदि नैष्कर्म्य के द्वारा ज्ञानोदय होकर आत्मा निष्काम हो जावें तो उसे सद्योमुक्ति कहते हैं। इसी सद्योमुक्ति को * समवलय मुक्ति कहते हैं। यह मुक्ति जीवन मुक्तो की होती है। इस मुक्ति में प्राणी का शरीर छोड़ने के अनन्तर लोकान्तर मे जाने के लिए प्राण का उत्क्रमण नही होता। सर्वत्र व्यापक चिदात्मा मे भूतात्मा वाली चिदात्मा लीन होकर एक हो जाती है। उत्क्रमण अर्थात् गति का निमित्त आत्मा मे काम, शुक्र और अविद्या हैं। व्यापक चिदात्मा ही काम, शुक्र, अविद्या के द्वारा परि-च्छिन्न होकर गति के योग्य होता है। किन्तु इन कामादि तीनो के नाश होने पर वह चिदात्मा पूर्ववत् अपने रूप में आ जाता है, और अपरिच्छिन्न व्यापक रूप मे आने से उसकी गति नही होती। यह गति न होना या निरावरण निरञ्जन होना यही आत्मा के समवलय मुक्ति का लक्षण है। ऐसा ही उपनिषद् में कहा है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते, कामा येऽस्य हृदिस्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृत्यो भवति, अत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

अर्थात् जब सब कामनायें दूर हो जाती है जो कि इस प्राणी के हृदय मे जमी हुई हैं तो उस दशा में यह मर्त्य अर्थात् मरण-धर्मा जीव अमृत अर्थात् जन्म, मृत्यु बन्धन से रहित हो जाता है और यहां ही ब्रह्ममय व्याप्त हो जाता है।

---

* समवलय=सम-एक, अव-धरा, लय-होना।

दान

आत्मा अपनी व्याप्ति के द्वारा अपनी संस्था को पञ्चपर्वा बनाता है। आत्मा, जाया, प्रजा, पशु, वित्त। इनमें जाया और प्रजा तो अन्तरङ्ग हैं और पशु, वित्त, बहिरङ्ग हैं। इन दोनों अङ्गों के बिना अङ्गहीन आत्मा अपूर्ण रहता है, इसीलिए इन चारों अङ्गों को आत्मीय (आत्मा सम्बन्धी) भी कहते हैं और आत्मा भी कहते हैं। मुख्य आत्मा की इन चारों पर ममता रहती है, इसमें ये चारों आत्मीय हैं। किन्तु इन चारों के बिना आत्मा भी अपूर्ण रहती है इसलिए ये पांचों एक साथ रहकर एवं आत्मा की संस्था बनती है। आत्मा की तीन संस्थायें होती हैं—अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग, साधारण, प्रत्येक संस्था पञ्चाग है—ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, अग्नि, सोम ये पांच दैवत्व अन्तरङ्ग संस्था हैं आत्मा, जाया, प्रजा, पशु, वित्त ये पञ्चपर्वा बहिरङ्ग संस्था है और आत्मा, कुटुम्ब, समाज, जाति और विश्व ये साधारण संस्था हैं।

मुख्य आत्मा का इन चारों आत्मीयों पर एक सम्बन्ध सूत्र नियत रहता है और वह प्राणमय है—यह तीन प्रकार का है। भर्ग, मह और यश हमारी आत्मा में जितना आग्नेय भाग है वह सब भर्गप्राण है और सब वायव्य मह प्राण है और सब सौम्य यशः प्राण है। चौथा आदित्य प्राण भी आग्नेय प्राण में अन्तर्गत है इसलिए हमारे शरीर में क्षर जाति के सब प्राण तीन ही प्रकार के हैं। इन सब प्राणों को दैवप्राण कहते हैं। ज्योतिष शास्त्रानुसार सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहों के या नक्षत्र राशियों के सम्बन्ध से जो आत्मा पर कुछ विशेषता होती है वह इन्हीं तीनों प्राणों के रूप में परिणत होती है।

इनके अतिरिक्त जो कुछ हम ज्ञान पूर्वक अथवा अज्ञानता से शुभ अशुभ कर्म करते हैं उससे भी शुभ अशुभ अतिशय आत्मा में उत्पन्न हुआ करता है वह भी हमारी आत्मा का धर्म है इस प्रकार दैव और कर्म इन दोनों धर्मों को लिए हुए हमारा महा प्राण जो वायु रूप है नाना प्रकार का हो जाता है दैव अतिशय और कर्म अतिशय के परिवर्तन के अनुसार जैसे कर्पूर, कस्तूरी, केसर और चन्दन, बकुल, चम्पक आदि गन्धों के सम्बन्ध से वायु भिन्न-भिन्न प्रकार का अनुभूत होता है, इसी भांति दैव संस्कार या कर्म संस्कार के सम्बन्ध से महर्वायु भी भिन्न-भिन्न होकर मुख्य आत्मा के शरीर में निकलता है और उन चारों अङ्गों में जिनमें आत्मा का ममत्व रूप स्वत्व है, चाहे उन्हें आत्मा जानता हो या न जानता हो केवल स्वत्वमात्र से उन पर महर्वायु का संसर्ग होता है और इसी प्राण सूत्र के द्वारा आत्मा से साथ वे चारों अङ्ग सबद्ध रहते हैं ऐसी स्थिति में यदि आत्मा का दैव संस्कार या कर्म संस्कार उत्तम है तो, उस आत्मा के चारों अङ्ग उसके उत्तम प्राण में व्याप्त होंगे अथवा निकृष्ट है तो वे चारों अङ्ग भी निकृष्ट होंगे जैसा कि महाभारत के राजनीति प्रसंग में कहा है—

> राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः ।
> राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः ॥

अर्थात् राजा के धर्मात्मा होने से धर्मात्मा, पापी होने से पापात्मा, और समान होने से प्रजा भी सम होती है। प्रजा राजा का अनुकरण करती है जैसा राजा होता है वैसी प्रजा होती है।

जिस प्रकार सूर्य बिम्ब पर मेघ का आवरण होने से पृथ्वी पर सूर्य प्रकाश मे भी छाया का आवरण हो जाता है उसी प्रकार मुख्य आत्मा मे भी शुभ या अशुभ जैसा संस्कार उत्तम होता है उसका असर इन सब अङ्गो पर जिनमे आत्मा की किरण पडती है तत्काल ही अवश्य सक्रान्त (व्याप्त) हो जाता है क्योंकि पाचो मिलकर एक आत्मा का स्वरूप सिद्ध है, इसलिये मुख्य आत्मा पर उत्पन्न हुआ सस्कार इन पाचो पर एक साथ ही व्याप्त होकर स्थिर रहता है।

आत्मा के इन पाचो पर्वो मे से दो वहिरङ्ग अङ्गो का दान किया जा सकता है, क्योंकि वे दोनो विचाली है, परिवर्तनशील हैं। इनकी न्यूनाधिकता से आत्मा की अधिक क्षति नही होती, किन्तु दोनो अन्तरङ्ग अङ्गो का या मुख्य आत्मा का दान करना निषिद्ध है ये तीनो अदेय (नही देने योग्य) माने जाते हैं। इनका देना धर्म नही किन्तु आपत्तिकाल मे इन तीनो को भी दे सकते हैं, किन्तु वह आपद धर्म कहकर धर्म का पृथग् विभाग है। सहसा इन तीनो को कदापि नही देना चाहिये किन्तु दोनो बहिरङ्गो मे से जितना अधिक दान किया जाय उतना अच्छा है।

इन दोनो बहिरङ्गो के दान से देने वाले और लेने वाले इन दोनो की आत्माओ मे अर्थात् प्राण मे परिवर्तन होता है। देने वाले का धर्म जितना उन वहिरङ्गो मे व्याप्त रहता है वह दान के द्वारा लेने वाले मे सक्रान्त हो जाता है और देनेवाले का उतना धर्म कम हो जाता है। उसको यो समझना चाहिये कि किसी स्थान पर गदला पानी गिर पडा हो और उसको साफ करना हो तो एक कपडे का टुकड़ा लेकर गदले पानी मे भिगो भिगो कर एक वार या अनेकवार बाहर निचोडा जावे तो वह स्थान शुद्ध हो सकता है। इसी प्रकार किसी दान पात्र से अपने द्रव्यो का सम्बन्ध कराकर अपने धर्मो की निवृत्ति करके अपनी आत्मा को शुद्ध कर सकते हैं।

इस दान से तीन विषयो का सक्रमण या परिवर्तन होता है। १ प्रकृति, २ अदृष्ट या दैव, ३ कर्म यदि कोई व्यक्ति शान्त प्रकृति होने पर भी किसी क्रोधी, तामसी, दुराचारीप्रकृति के घर का अन्न नियम से भोजन करे तो क्रम क्रम कुछ कुछ परिवर्तन होते-होते उस भोजन करने वाले की प्रकृति अन्न देने वाले की प्रकृति से मिल जायगी याने सदृश हो जायगी।

इसी प्रकार शान्त आत्मा का अन्न खाने से क्रोध प्रकृति का मनुष्य भी कुछ काल मे शान्त प्रकृति हो सकता है। यह प्रकृति परिवर्तन हुआ। इसी प्रकार यदि किसी का दिन चक्र (जीवनदशा) या दुर्दैव या दुरदृष्ट के कारण अधम हो, दुःखदाई हो तो उसके दान करने से उसका दुर्दैव या दुरदृष्ट लेने वाले मे अवश्य सक्रान्त होगा और उससे दाता मे उस दुर्दैव की कमी होगी। जितनी मात्रा मे दुर्दैव ज्योतिष शास्त्र के द्वारा निश्चित हो, न्यूनाधिक उतनी ही मात्रा का दान करने से सब दुर्दैव निवृत्त हो सकता है। किन्तु दुर्दैव की मात्रा से कम दान करने पर सब दुर्दैव की निवृत्ति न होने पर भी दान मात्रा के अनुसार निवृत्ति अवश्य होगी, यह प्राकृत नियम है। इसी प्रकार पाप या पुण्य करने वाली आत्मा का कर्म जन्य अतिशय दान लेनेवाले मे जाता है। पापी का दान लेने से लेने वाला पाप का भागी होगा किन्तु दाता के पाप की निवृत्ति होगी।

यह वस्तु भी जाननी चाहिये कि यदि प्रति उपकार बदले मे कुछ मिलने की [illegible] पहचान के आदमी को दान दिया जाय तो दाता के आत्मा मे से दैव या कर्म की निवृत्ति नहीं [illegible]। जिस वस्तु के पाने के अभिप्राय से दान दिया गया हो तो दिये हुये द्रव्य के बदले मे उसी [illegible] (इच्छित) वस्तु पर दाता का दुरदृष्ट या कर्म अवलम्बित होकर रह जाता है। इसी [illegible] के अभिप्राय से दान देना भी निष्फल होता है गुप्तदान की महिमा इसीलिये अधिक है, क्योंकि [illegible] बदले मे कोई चीज नही चाही जाती।

एक बात और जाननी चाहिये कि दाता अपने अदृष्ट या धर्म जिसकी निवृत्ति के लिये दान देना चाहता है, उस पाप की कमी लेनेवाले मे अवश्य ही होनी चाहिये। क्योंकि यह प्रकृति का नियम है कि पानी भरे हुए खड्ढे मे पानी नही जा सकता खाली खड्ढे मे जाता है। इसलिये यदि दाता अपनी पाप निवृत्ति के लिये दान करे तो उसको पवित्र, सदाचारी, पुण्यात्मा विद्वान् ब्राह्मण जो अग्नि स्वरूप है या जो आये हुए पाप को अग्नि के सदृश्य दाह करने मे समर्थ है ऐसा सर्वाङ्ग सम्पन्न दान पात्र [illegible] चाहिये क्योकि उस आत्मा मे उसके शरीर का निर्माण (बनावट) और विद्या आदि सद्गुणों के द्वारा पुण्यात्मा होना या पाप की कमी होना निश्चित् है। इसलिये उसमे दान देने मे उसमे पाप [illegible] सक्रान्त हो सकता है। किन्तु अङ्गहीन मूर्ख, दुराचारी आदि निकृष्ट पात्र जिनमे पहले ही से पाप भरा है उसको दान देना निष्फल होगा। इसलिये इस दान के द्वारा जहा तक सम्भव हो यदि पापो को नि-शेष निवृत्त कर सकें तो उससे नरक भोग की निवृत्ति हो सकती है यही दान का [illegible] है, और यदि पाप न रहने पर भी हम दान करें तो उसमे लेने वाले का पुण्य दाता मे आकर सञ्चित होता है। इससे उसके पुण्य को लेकर स्वर्ग भोग भी प्राप्त कर सकते हैं और यदि निरन्तर सब प्रकार के दान करते रहें तो हम अपने पुण्य पाप दोनो को निःशेप निवृत्त करदें केवल प्राकृत कर्म ही हम मे शेष रह जावे तो सम्भव है कि इस दान से ब्रह्मलोक की प्राकाम्य मुक्ति भी मिल सकती है। यहा प्रश्न हो सकता है कि—

न कर्मणा न प्रजया धनेन, त्यागे नैके अमृतत्व मानपुः।
परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद् यतयो विशन्ति॥

अर्थात् न कर्म से, न सन्तान से, न धन से, न दान से अमृतत्व याने मोक्ष मिल सकता है [illegible] देवस्वर्ग जो नाक कहलाता है उससे भी परे छिपी हुई जगह मे जो ज्योतिः स्वरूप [illegible] यति (आत्मदर्शी) लोग ही प्रवेश करते हैं।

इस वेद वचन के अनुसार दान से मुक्ति का न मिलना कहा गया है, फिर यहा दान से [illegible] प्राप्ति कहना अनुचित है। तो इसका समाधान यह होगा कि यह वेद वाक्य साक्षात् दान से [illegible] का निषेध करता है। किन्तु विशेष प्रकार के दान से आत्मा और अन्तःकरण विशुद्ध [illegible] हो जाता है। इसलिये परम्परा से दान के द्वारा भी अवर मुक्ति मिल सकती है।

इसके अतिरिक्त यहा यह भी जानना चाहिये कि दान अनन्त प्रकार के होते हुए भी [illegible] तीन प्रकार का है। द्रव्यदान, अभयदान और विद्या दान—इनमे द्रव्यदान का [illegible] चुका है। उसमे भूमिदान, अन्न–वस्त्र दान, पशु दान, स्वर्णादि धन दान के सब [illegible]

मात्रा मे दान होने पर ऊपर कहे अनुसार परम्परा से कदाचित् ज्ञान उत्पन्न हो जावे तो अवर मुक्ति मिल सकती है किन्तु इन सब द्रव्यदानो की अपेक्षा ऊँची कक्षा का दान अभय दान है, जिसको प्राण दान भी कहते है। जिसका वध होना उपस्थित हो या शत्रु सङ्कट से मृत्यु के समान कष्ट उपस्थित हो या किसी प्रकार का आतङ्क प्राण बाधा का भय हो तो उस समय प्राण विह्वल हो उठता है और विह्वलित होकर अपना स्थान छोडने लगता है तो उस समय अभयदान देना जीवन दान है इस के द्वारा भी दाता की आत्मा का बल बहुत बढ़ जाता है, इसका अर्थ यह है कि दाता की आत्मा मे इन्द्र की सत्ता अधिक-मात्रा मे आ जाती है जिसके प्रभाव से दाता का आत्मा यज्ञ बल के अनुसार नियमतः स्वर्ग लोक मे जाता है। इसी प्रकार इस प्राण दान की अपेक्षा भी उँची कक्षा का विद्यादान है, जिससे आत्मा के मूल स्वरूप विद्या की वृद्धि होती है, इससे आत्मा बनती है क्योकि आत्मा ज्ञान मय है। ज्ञान की वृद्धि के द्वारा आत्मा की वृद्धि होती जाती है और सब अन्य दान आत्मा के अङ्गो का दान है। किन्तु विद्या से मुख्य अङ्गी का दान होता है इससे दाता की आत्मा विशुद्ध होकर मुक्ति के योग्य अवश्य हो जाती है। ऐसे दाता आत्मा को भी यति कह सकते हैं। इसलिये उस आत्मा को भी नाक लोक से परे विराज मान ज्योतिः स्वरूप श्री भगवान् सच्चिदानन्द ईश्वर अवश्य प्राप्त हो सकता है। विद्या दान, कन्यादान, शालिग्राम का दान, गोदान, भूमि दान ये पाच दान दाता और दान पात्र दोनो का कल्याण करते हैं।

(उपसंहार)

इस प्रकार सिद्ध हो गया कि यज्ञ तप और दान देवआत्मा की शक्ति बढाकर उसे सूर्य मण्डल मे जाने का अवसर देते हैं इससे उसे अपने कारण मे पहुंचकर लीन हो जाने का सौभाग्य मिलता है।

यो भिन्न-भिन्न आत्मा और उनकी भिन्न गतियो का सक्षिप्त निरूपण किया गया। वस्तुतः आत्मा के पृथक् भाव रूप बन्धन मुक्त होकर अपना परम भाव प्राप्त करने मे मन ही मुख्य कारण है इसलिये शास्त्र मे स्पष्ट कहा गया है कि—

न देहो न च जीवात्मा, नेन्द्रियाणि परन्तप।
मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्ध मोक्षयोः ॥

अर्थात् बन्धन और मोक्ष का कारण न केवल देह है (क्योकि वह तो पीछे बनता है) न शुद्ध जीव आत्मा है (क्योकि बिना आगन्तुक सम्बन्ध के शुद्ध आत्मा मे विकार ही क्यो होता) न इन्द्रिया ही स्वतन्त्र रूपमे बन्धन मोक्ष का कारण हो सकती है (क्योकि देहकी तरह वे भी पीछे उत्पन्न होने वाली है इसलिये मनुष्यो के बन्धन और मोक्ष का मुख्य कारण मन ही है। जैसा कि पूर्व निरूपण प्रक्रिया मे स्पष्ट हो चुका है।

समाप्तम्